श्रीकृष्णाय नमः

श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्

(चतुर्थाध्यायः)



शुद्धाद्वैतब्रह्मवादनिर्गुणभक्तिमार्गप्रवर्तकाचार्य-
चक्रचूडामणिश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रणीतम्



दशदिगन्तविजयिश्रीमद्गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीत-
भाष्यप्रकाशसंपूर्णवेत्तृश्रीमद्गोस्वामिश्रीगोपेश्वर-
जिच्चरणप्रणीतभाष्यप्रकाशरश्मिपरिबृंहितम्



पञ्चमो भागः

प्रकाशक :
श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविठ्ठलेशप्रभुचरणाश्रम ट्रस्ट
वैभव कॉओपरेटिव सोसायटी
पुना बेंगलोर रोड, कोल्हापूर,
महाराष्ट्र

प्रथम संस्करण : वि. सं. १९८४
द्वितीय संस्करण : वि. सं. २०४१
श्रीवल्लभाब्द : ५०७

मुद्रक :
प्र० पु० भागवत
मौज प्रिंटिंग ब्यूरो
खटाववाडी, मुंबई
४०० ००४

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

भूमिका

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विठ्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान्।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति॥

गोस्वामी श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरणद्वारा प्रपूरित अणुभाष्यके अंतिम डेढ़ अध्यायकी शैलीसे असन्तुष्ट वाल्लभ सम्प्रदायके कतिपय आधुनिक अनुगामिओंमें श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभुके विलुप्त भाष्यको खोज निकालनेकी; और वह न मिल पाये तो महाप्रभुकी शैलीके अनुकरणद्वारा भाष्यपूर्तिका पुनः एक नवीन प्रयास कर लेनेकी महत्त्वाकांक्षा अंगड़ाई सी लेती रहती है! वह जब तक उठकर हमारे सम्मुख आकर खड़ी नहीं हो पाती तब तक उसके रूपकी विवेचना तो अप्रसंगिक ही होगी. फिर भी प्रभुचरणकृत भागवतमूलक लेखनपर वाल्लभ सम्प्रदायके प्राचीन किसी भी विद्वान्–व्याख्याताके हृदयमें कभी भी ऐसा भेदभाव जग नहीं पाया उसके कारणोंकी मीमांसा; तथा इस प्रभुचरण-पूरित अंशपर किये जाते आक्षेपोंका समाधान हम यथामति करना चाहेंगे.

एतदर्थ हम इन ब्रह्मसूत्रोंके उपजीव्य प्रमाणोंका स्वरूप, सूत्रप्रामाण्यका स्वरूप, सिद्धान्तजिज्ञासाकाल तथा सिद्धान्तनिश्चयोत्तरकालमें व्यवस्थाभेद, अणुभाष्यके उपजीव्य प्रमाणोंका स्वरूप, भागवतप्रामाण्यपर आधुनिक आपत्तिका समाधान, श्रुति तथा भागवत का स्वरूप, गीता एवम् भागवत का स्वरूप, सूत्र और भागवत का स्वरूप, भागवतकी सर्वसन्देहवारकताका स्वरूप, दशम सुबोधिनी तथा अणुभाष्य, षोडशग्रंथ तथा अणुभाष्य और 'अर्थोयं ब्रह्मसूत्राणां'के संदर्भमें भागवतोक्त साधन–फलका स्वरूप इत्यादि विषयोंकी विवेचना प्रथमतया महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके लेखनके आधारपर देनेका प्रयास करेंगे. तत्पश्चात् आधुनिकोंके आक्षेपोंका समाधान.

सूत्रोंके उपजीव्य प्रमाणका स्वरूप

"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" सूत्रद्वारा समारब्ध ब्रह्मजिज्ञासामें जिज्ञास्य ब्रह्मके लक्षण तथा प्रमाण "जन्माद्यस्य यतः" तथा "शास्त्रयोनित्वाद्" अंशोंद्वारा दिये गये हैं. यहां यह उल्लेखनीय है कि औपनिषद ब्रह्म-तत्त्वकेलिए, उसे "उपनिषद्योनित्वात्" न कह कर, "शास्त्रयोनित्वाद्" पदप्रयोग करना सूत्रकारकी एक विशिष्ट मनोवृत्तिका द्योतक है; और सूत्रकारकी इस मनोवृत्तिका अनुवर्तन सभी भाष्यकारोंने, अन्यथा अनेकविध मतभेदोंके बावजूद, यहां एकमत हो कर किया है.

श्रीशंकराचार्य कहते हैं "महान् ऋग्वेद आदि शास्त्र जो अनेक विद्यास्थानोंद्वारा उपबृंहित है....अथवा यथोक्त ऋग्वेद आदि शास्त्र ब्रह्मके यथावत् स्वरूपको अधिगत करना हो तो प्रमाण बनते हैं" (शा. भा. १।१।३) यहां "अनेकविद्यास्थानोंद्वारा उपबृंहित" की व्याख्या करते हुए भामतीकार कहते हैं कि पुराण न्याय मीमांसा आदि दशविध विद्यास्थान मान्य हैं तथा ये वेदके वास्तविक अर्थको समझनेमें उपकारक बनते हैं (वहीं).

श्रीभास्कराचार्य भी देवताओंकी विग्रहवत्ताकी सिद्धिकेलिए केवल उपनिषद्वचनोंपर अवलम्बित रहनेके बजाय समग्र शास्त्रोंका अवलम्बन लेते हुए कहते हैं कि मन्त्र अर्थवाद इतिहास पुराणों द्वारा भी अनेक गुण तथा ऐश्वर्यों से युक्त देवता होते हैं, ऐसा समझमें आता है (भा. भा. १।३।३२).

श्रीरामानुजाचार्य भी कहते हैं कि परम वेद्य तो परब्रह्म ही है, ऐसे ब्रह्मके साक्षात्कारकी क्षमता रखनेवाले भगवद्द्वैपायन पराशर वाल्मिकी मनु याज्ञवल्क्य गोतम आपस्तम्ब प्रभृति मुनिगणद्वारा प्रणीत तथा विधि-अर्थवाद–मन्त्र-रूप–वेदमूलक, जो इतिहास पुराण तथा धर्मशास्त्र हैं, उनसे उपबृंहित परमार्थभूत अनादिनिधन-अविच्छिन्नपाठसम्प्रदायानुसार ऋक् यजु साम अथर्व रूप तत्तत् शाखावाले वेदको हम जब स्वीकारते हैं तो कहो कि क्या सिद्ध नहीं होगा!.... वेद तो अनन्त तथा दुरवगाह हैं. अतः परमेश्वरद्वारा नियुक्त परमर्षि तत्तत् कल्पोंमें निखिल जगत्के उद्धारकेलिए वेदार्थका स्मरण कर विधि-अर्थवाद-मन्त्रमूलक धर्मशास्त्र तथा इतिहास-पुराणोंको प्रकट करते हैं (वेदार्थसंग्रह).

श्रीमध्वाचार्य भी वेदान्तसम्प्रदायमें मान्य प्रमाणोंकी परिगणना करते हुए कहते हैं कि ऋग् यजु साम और अथर्व इन चारोंकी तरह पञ्चरात्र, भारत,

रामायण तथा ब्रह्मसूत्र भी स्वतःप्रमाण शास्त्र हैं. इनसे अविरुद्ध होनेपर अन्य भी कोई शास्त्र प्रमाण हो सकते हैं अन्यथा नहीं. इसी तरह जो वैष्णव पुराण हैं वे भी पञ्चरात्रात्मक होनेसे प्रमाण ही हैं. मन्वादि स्मृतियां इन उल्लिखित शास्त्रोंसे अनुकूलतथा प्रमाण हैं (महाभा. ता. नि. १।३०–३२).

"शास्त्रयोनित्वाद्" अंशकी व्याख्या करते हुए यद्यपि महाप्रभु केवल इतना ही कहते हैं कि "शास्त्रोंमें ब्रह्मका जगत्कारण होना कहा गया है; और 'शास्त्र' यानि वेद. यहां 'वेद' या 'उपनिषद' न कहकर जो सामान्य पद 'शास्त्र' प्रयुक्त हुआ है उसका हेतु यह है कि पूर्वकाण्डोक्त सृष्टिनिरूपक वाक्योंका भी संग्रह हो पाये (अणुभा. १।१।२)." इस अधिकरणमें इससे अधिक कुछ भी नहीं कहा गया किन्तु तत्त्वदीपनिबन्धान्तर्गत सर्वनिर्णयप्रकरणमें यह स्पष्टीकरण दिया गया है कि वेदकी तरह पुराण भी पूर्वसिद्ध ही ऋषियोंद्वारा प्रकट हुए हैं. अतः वेदत्व पुराणोंमें भी अतिदिष्ट है. अतएव पुराणोक्त धर्मार्थकाममोक्ष और भक्ति नित्य भी हैं और वैदिक काम्यकर्मोंकी तरह विकृत भी....पुराणोंके अर्थोंको न समझनेपर सर्वथा मूढता ही वैदिक ज्ञानके बारेमें रहती है. अतएव श्रुति–स्मृतिको नेत्रद्वयी और पुराणको हृदय माना जाता है. वेदमें जो यज्ञ आदिका निरूपण हुआ है उसका अभिप्राय भी पुराणोंके कारण ही समझमें आ सकता है. इसी तरह इस सृष्टिमें जो पदार्थ प्रकट हुए हैं उनका भी वास्तविक स्वरूप पुराणोंके कारण ही समझमें आ पाता है (त. नि. स. ४५–५०).

इन सभी उद्धरणोंके विमर्शसे यह सिद्ध होता है कि शब्दशः 'वेद' पदवाच्य न होनेपर भी वेदों और पुराणों में अर्थशः कोई भेद परम्परातः मान्य नहीं है. अतः 'शास्त्र' पदका वेद अर्थ लेनेपर भी, पुराण भी स्वतएव परिग्रहीत हो जाते हैं.

यह मान लेना एक बड़ी भ्रांति होगी कि पुराणोंके बारेमें यह धारणा महाप्रभुकी कोई निजी धारणा है. क्योंकि इन ब्रह्मसूत्रोंके उपजीव्य उपनिषदोंमें भी "नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थः इतिहासपुराणं पञ्चमो वेदानां वेदः (छान्दो. ७।७।४)" जैसे वचनोंद्वारा पुराणोंके बारेमें ये वेदोंमें भी वेद हैं ऐसी प्रशंसा उपलब्ध होती है.

यद्यपि आधुनिक लेखक इस 'इतिहासपुराण' पदको अन्य किन्हीं ग्रन्थोंका

वाचक मानते हैं. परंतु प्राचीनतम कृतियोंमें ऐसे किसी ग्रंथका नामोल्लेख भी न मिलनेके कारण तथा परम्परया इन्हीं ग्रंथोंकी 'पुराण' संज्ञा प्रसिद्ध होनेसे अन्य पुराणोंकी कल्पना ही हमें तो अप्रामाणिक लगती है.

इसके अलावा यत्रतत्र स्मृतेश्च (ब्र. सू. १।२।६) स्मरन्ति च (३।१।१४) स्मर्यते च (४।२।१४) जैसे ब्रह्मसूत्रोंमें सूत्रकार भी महाभारत–गीता–पुराण–स्मृतियोंके अनेक वचनोंका प्रमाणत्वेन अवलम्बन लेते ही हैं. इससे सिद्ध होता है कि पुराणके बारेमें आधुनिक लेखकोंकी धारणा तथा प्राचीन वेदान्त-विदों की धारणा के बीच बहुत बड़ा अंतराल है. अतएव इस ब्रह्ममीमांसामें जिज्ञास्य ब्रह्मके यथार्थ बोधकेलिए ग्राह्य प्रमाण 'शास्त्र' पदवाच्य है, न कि केवल उपनिषद् या केवल दशोपनिषद् ही, जिनपर आद्य श्रीशंकराचार्यके भाष्य उपलब्ध होते हैं. क्योंकि पूर्वोदाहृत वचनके आधारपर स्वयमेव श्रीशंकराचार्य भी ऐसी आधुनिक धारणाके पोषक नहीं हैं. अतः पूर्वपरिगणित अनेक या सभी शिष्टादृत शास्त्र इस ब्रह्मजिज्ञासार्थ प्रवृत्त ब्रह्मसूत्रोंके उपजीव्य प्रमाणतया मान्य किये गये थे. अतएव ब्रह्मजिज्ञासामें पुराणोंसे परहेज रखनेकी आधुनिक वृत्ति शास्त्रयोनि ब्रह्मके बारेमें नितान्त अशास्त्रीय अर्थात् अप्रामाणिक मनोवृत्ति है यह सिद्ध होता है.

सूत्रप्रामाण्याक स्वरूप

इससे सिद्ध होता है कि जैसे ब्रह्मजिज्ञासा केवल ब्रह्मकी जिज्ञासा न होकर सपरिकर ब्रह्मकी जिज्ञासा है (द्रष्टव्य अणुभा. १।१।१), वैसे ही ब्रह्मजिज्ञासार्थ अवलम्बनीय प्रमाण भी केवल उपनिषद्रूप न होकर सपरिकर उपनिषद् हैं.

यथा

(१) श्रुति जिसमें मंत्रब्राह्मणात्मक वेद तथा उपनिषद्रूप वेदान्तका ग्रहण किया जाता है.

(२) स्मृति जिसमें मनुयाज्ञवल्क्यादि-विरचित धर्मशास्त्र, वाल्मिकीविरचित रामायण तथा वेदव्यासविरचित महाभारत-पुराणोंका ग्रहण अभिप्रेत है.

(३) स्वयं भगवज्ज्ञानावतार सूत्रकार भगवान् वेदव्यासका दिव्य आर्ष ज्ञान भी जो इन सूत्रोंमें प्रकट हुआ है.

(४) पाञ्चरात्र आगम, यदि वैष्णव वेदान्त-सम्प्रदायकी दृष्टिसे विचारें तो, अन्यथा शैवागम भी अवैष्णव शैव वेदान्त-सम्प्रदायकी दृष्टिसे, तत्त्वनिर्णयार्थ परिकर बन सकते है.

सिद्ध इससे यही होता है कि ब्रह्मरूप प्रमेयकी सिद्धि शास्त्ररूप प्रमाणसे अभिलषित है, केवल उपनिषदोंसे नहीं. सूत्रकारको निज आर्ष ज्ञानके बारेमें भी उसके शास्त्रवत् प्रमाण होनेका जो आत्मविश्वास न होता तो अनेक ऋषियोंके मतोल्लेखके बाद निष्कर्षतया स्वनामोल्लेखपूर्वक स्वाभिप्रायको सूत्रित करनेकी शैली सूत्रकारने न अपनायी होती. अतः स्वयं सूत्रकारके अनुसार ही प्रस्तुत ब्रह्मजिज्ञासामें शास्त्रके अन्तर्गत शास्त्रत्वेन निज दिव्य ज्ञान भी प्रमाणतया अभिमत है.

यहां एक गूढ रहस्य नितान्त अवधेय यह है कि महाप्रभुके मतके अनुसार श्रुतिसे अतिरिक्त अन्य किसी भी शास्त्रका ब्रह्मविषयक प्रमाजननरूप व्यापार-में प्राथम्य या स्वातंत्र्य नहीं है. क्योंकि वे सभी श्रुतिवचनोंद्वारा प्रारब्ध प्रमाजनन-व्यापारमें सन्देहवारकत्वेन सहायक अंग ही बनते हैं और यही बात इन ब्रह्मसूत्रोंपर भी लागू होती है (द्रष्टव्य अणुभा. १।१।२).

सिद्धान्तजिज्ञासाकाल तथा सिद्धान्तनिश्चयोत्तरकाल में व्यवस्थाभेद

एक और रहस्य यह भी है कि सिद्धान्तजिज्ञासाकाल अथवा सिद्धान्तोप-देशकाल में जो प्रमाणव्यवस्था महाप्रभुको मान्य है उससे सिद्धान्तनिश्चयोत्तर-काल या वादकाल की प्रमाणव्यवस्थामें थोड़ा सा तारतम्य है.

जिज्ञासा या उपदेश कालमें महाप्रभु इस प्रमाण व्यवस्थामें कुछ संकोच बोध सौकर्यार्थ प्रस्तुत करते हैं : "वेद श्रीकृष्णके वाक्य (गीता) मीमांसासूत्र तथा भागवतकी समाधिभाषा ये चारों मिलकर एक प्रमाण बनते हैं. इनमें उत्तरोत्तर शास्त्रको पूर्वपूर्व शास्त्रोंका सन्देहवारकत्वेन सहायक बनाना चाहिये. इस प्रमाणचतुष्टयीकी एकवाक्यतापन्न शब्दराशिसे अविरुद्ध जो भी वचन हों वे प्रमाणतया मान्य किये जा सकते हैं, परन्तु विरुद्ध वचन कथमपि मान्य नहीं हो सकते. अलौकिकवस्तु-ज्ञापक शब्द ही स्वतःप्रमाण होते हैं. अलौकिक वस्तुके बारेमें इन वेदादि चारों शास्त्रोंकी एकवाक्यतापन्न शब्दराशि प्रमाण होती है. यद्यपि चारोंमेंसे एक भी कोई शास्त्र प्रमाणतया मान्य हो सकता

था, परन्तु पूर्व-पूर्व शास्त्रोंमें उठते सन्देहोंका वारण उत्तरोत्तर शास्त्रोंद्वारा ही होता है.

पूर्ण ज्ञान जब तक प्रकट न हो पाता हो तब तकको प्रमाण-व्यवस्था यह है.

पूर्ण ज्ञानोदयके बाद व्यवस्था इस तरह समझनी चाहिये : जगत्‌के सभी नाम-रूपोंको धारण करके एकमात्र स्वयम् भगवान् ही तो क्रीड़ा कर रहे हैं. अतः अनेकविध विरुद्ध धर्मोंके एक अविरुद्ध आश्रय ऐसे ब्रह्मके विलक्षण स्वरूपका विचार करनेपर प्रमाणचतुष्टयकी एकवाक्यतापन्न शब्दराशिसे विरुद्धतया प्रतीत होते वचनका भी विरोधाभास परिहृत हो जाता है. भगवान्‌में सर्वभवनसामर्थ्य है तथा एकमात्र भगवान् ही अनेकविध विरुद्ध नाम-रूपोंको धारण कर क्रीड़ा करते हैं. ऐसी स्थितिमें किसी भी वचनको विरुद्धतया अप्रमाण माननेकी कोई आवश्यकता रह नहीं जाती है (त. नि. शा. ७-९)."

इस विस्तृत उद्धरणसे यह सिद्ध होता है कि पूर्ण ज्ञानोदयसे पूर्व तथा पश्चात् प्रमाणव्यवस्था भिन्न-भिन्न है. जिज्ञासाकाल या उपदेशकाल में यच्चयावत् शास्त्रवचनोंके आधारपर उपदेश या बोध शक्य ही नहीं. जैसे एक शिशुको उपदेशकालमें " 'क' कमल का" रटानेसे जैसी सुगमता निभती है, वैसी 'क' कमल, कागज, कपड़ा, कौआ, काजल, कचरा, कोठी आदि सभीका रटवानेपर निभ नहीं पायेगी! अतएव प्रमाणव्यवस्थामें संकोच प्रस्तावित करना पड़ा है कि "एतच्चतुष्टयम् एकवाक्यतापन्नं (सत्) प्रमाजनकम्." यहाँ एकवाक्यताके आग्रहके पीछे भी यही हेतु छिपा हुआ है. संस्कृतभाषा में कहें तो "प्रमाणानि तानि चत्वारि" कहनेपर सिद्धान्तावगमार्थ वचनोंके तात्पर्यके उट्टंकनका उत्तरदायित्व स्वयम् जिज्ञासु अध्येतापर आ पड़ेगा-और यहीं दिग्भ्रमकी पूर्ण सम्भावना छिपी रहती है. अतः एक बार एक. वाक्यताकी दिशा निर्धारित हो जानेपर जिज्ञासा कभी पथभ्रष्ट नहीं हो पायेगी. चारों शास्त्रोंके परस्परसमन्वित वचन ब्रह्मसम्बन्धी सभी जिज्ञासाओं का उपशम स्वतःप्रामाण्यके बलपर करते हैं.

यह संकुचित प्रमाणव्यवस्था प्रतिवादीके बारेमें पूर्णज्ञानोदयकी अस्वीकृतिके बावजूद महाप्रभु प्रस्तावित करना नहीं चाहते. अतएव श्रीमध्वाचार्यकी प्रतिज्ञाको दोहराते है :

अर्थोऽयमेव निखिलैरपि वेदवाक्यैः
रामायणैः सहित भारत पञ्चरात्रैः ।
अन्यैश्च शास्त्रवचनैः सहतत्त्वसूत्रैः
निर्णीयते सहृदयं हरिणा सदैव ॥

(म. भा. ता. नि १।२२ तथा त. नि. शा. १०४)

सर्वेषां प्रमाणानामत्र एकवाक्यता (त. नि. शा. १०४)

भावार्थ : निखिल वेदवाक्यों रामायणों महाभारत पञ्चरात्रों तत्त्वसूत्रों तथा अन्य भी सभी शास्त्रवचनोंका अर्थ यही है जो हमने दिखलाया है. सभी प्रमाणोंकी हमारे मतमें एकवाक्यता सिद्ध होजाती है.

सुस्पष्ट है कि शास्त्रीय तत्त्वनिश्चयार्थ किये जाते वादकालकी यह प्रमाणव्यवस्था "प्रमाणं तच्चतुष्टयम्" से तो व्यापक है, परन्तु पूर्णज्ञानोदयोत्तरकालकी प्रमाणव्यवस्थासे तो कुछ संकुचित ही है. क्योंकि केवल सकल शास्त्रवचनोंको ही यहां प्रमाणतया मान्य किया गया है. जबकि इससे भी व्यापकतर व्यवस्था महाप्रभु प्रस्तुत करते हैं—"अथवा सर्वरूपत्वात् नाम-लीलाविभेदतः....वाङ्मात्रमेव प्रमाणम् अर्थस्य भगवद्रूपत्वात् (त. नि. शा. ९)" कह कर. भावार्थ : प्रत्येक वचन प्रमाण बन सकता है, क्योंकि वाक्यघटक प्रत्येक शब्दका अर्थ अन्ततः तो ब्रह्म ही होता है. पूर्णज्ञानोदयोत्तरकालका यह महाप्रभुका ब्रह्मवादी डिण्डिमघोष है!

अणुभाष्यके उपजीव्य प्रमाणोंका स्वरूप

वेदान्तके अन्य आचार्योंकी तुलनामें महाप्रभुकी पृथक्ता एक यह दिखलाई जाती है कि अन्य सभी प्रस्थानत्रयप्रामाण्यवादी हैं तथा महाप्रभु प्रस्थानचतुष्टयप्रामाण्यवादी! यह विधान महाप्रभुकी निन्दा या प्रशंसा दोनों ही अभिप्रायोंमें नितान्त निर्मूल है. और यह निन्दा-स्तुति न केवल महाप्रभु-के अपितु अन्य भी सभी आचार्योंकी मौलिक धारणाओंसे सर्वथा अपरिचयका द्योतन है. वेदान्तके सभी आचार्य शास्त्रप्रामाण्यवादी हैं, कोई भी केवल प्रस्थानत्रयप्रामाण्यवादी अथवा केवल प्रस्थानचतुष्टयप्रामाण्यवादी नहीं है. प्रत्युत् श्रीमध्वाचार्यके अधुनाप्रकाशित संग्रहका तो श्रुतिप्रस्थान स्मृतिप्रस्थान सूत्रप्रस्थान पुराणप्रस्थान एवम् इतिहासप्रस्थान यों चारसे भी अधिक पांच

प्रस्थानोंमें वर्गीकरण किया गया है. यद्यपि इनमें तन्त्रप्रस्थानका पृथगुल्लेख नहीं हो पाया है; किन्तु उसे भी जोड़ दिया जाय तो श्रीमध्वाचार्य निश्चित ही आपत्तिजनक नहीं मानते, तन्त्रप्रामाण्यवादी होनेके कारण ही.

महाप्रभु भी चार प्रस्थानोंका पृथक्-पृथक् प्रामाण्य नहीं मानते हैं, किन्तु प्रस्थानचतुष्टयकी एकवाक्यतापन्न शब्दराशिका एक समन्वित प्रामाण्य ही स्वीकारते हैं. वह भी केवल जिज्ञासाकाल या उपदेशकाल में ही, यह हम दिखला चुके हैं. इन चारों प्रस्थानोंमेंसे किसी भी एक प्रस्थानका इतरनिरपेक्ष-प्रामाण्य नहीं हैं. अतएव महाप्रभु यह कहते हैं कि "ब्रह्म तो केवल उपनिषद्वेद्य ही है अतः ब्रह्मसूत्रोंद्वारा की जाती मीमांसा यदि उपनिषदोंसे स्वतन्त्र हो तो इससे उत्पन्न होता ज्ञान 'ब्रह्मज्ञान' नहीं कहलायेगा (अणुभा. : १।१।१)." अतः स्वीकारना पडता है कि (क) ब्रह्मविषयक प्रमाके जननका आद्यप्रवृत्तिरूप व्यापार श्रुतिके शब्दोंद्वारा प्रकट होता है (ख) उस व्यापारमें सन्देहनिरसनद्वारा गीता सूत्र तथा भागवत के शब्द सहकारी बनते हैं (ग) इन तीन सहकारी प्रस्थानोंद्वारा उपकृत श्रुतिके शब्द अथवा प्रमाणचतुष्टयकी एकवाक्यतापन्न शब्दराशि असम्भावना-विपरीतभावनारहित ब्रह्मप्रमाको प्रकट करती है.

उदाहरणतया घटविषयक चाक्षुषप्रमामें सर्वप्रथम मनःसंयुक्त चक्षुका प्रकाश-संयुक्त घटके साथ संयोग सम्पन्न होनेपर ही प्रत्यक्षज्ञान शक्य बनता है. इसमें मन चक्षु तथा प्रकाश इतरनिरपेक्षतया घटप्रमाके जनक नहीं हो सकते. महाप्रभुके शब्दोंके वजनपर जोडना चाहें तो "एतत्त्रयं परस्परसहकारितया घटसंयुक्तं सत् प्रमाजनकम्" वाक्य घड़ा जा सकता है.

सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य इस सन्दर्भमें यह समझ रखना चाहिये कि 'प्रस्थान' और 'प्रमाण' पर्यायवाची शब्द नहीं हैं. अतएव प्रस्थानसे अधिक भी प्रमाण किसी वेदान्तसम्प्रदायमें सहज ही सम्भव हैं. 'प्रस्थान' का अर्थ विचारयात्राका आरम्भबिन्दु होता है. वैसे स्वयं महाप्रभुकेद्वारा प्रयुक्त शब्दोंपर दृष्टिपात करते हैं तो "प्रस्थानं तच्चतुष्टयम्" नहीं, प्रत्युत् "प्रमाणं तच्चतुष्टयम्" शब्द ही हमें उपलब्ध होते हैं. और फिर न तो उपनिषद् या गीता पर महाप्रभुका कोई स्वतन्त्र भाष्य है और न अन्य श्रीशंकराचार्य प्रभृति वेदान्तव्याख्याकारोंके भी स्वयं उन्हें प्रमाणतया अभिमत सकल शास्त्रोंपर ही कोई भाष्य उपलब्ध होते हैं. इसके बावजूद आधुनिक वेदान्तलेखनमें प्रस्थान और प्रमाण को पर्यायवाची जैसा अनजाने माना जाने लगा है!

भागवतप्रामाण्यपर आधुनिक आपत्तिका समाधान

कुछ आधुनिक लेखक (द्रष्टव्य : एम. आई. मारफतिया लिखित 'द फिलोसोफी ऑफ वल्लभाचार्य') प्रस्थानत्रयीकी कोटीमें चतुर्थप्रस्थानतया भागवतकी प्रस्थापनाके विरोधमें प्रबल वितण्डा खड़ा करना चाहते हैं. यह किन्तु वेदान्त-शास्त्रीय मौलिक धारणाओंके साथ स्वयम् उनके अपरिचयका ही द्योतक है. क्योंकि ब्रह्मसूत्र भी तो स्वयम् स्मृतिके रूपमें सर्वदा गीताप्रस्थानका ही अवलम्बन करते हों ऐसा कोई भी भाष्यकार स्वीकारता नहीं है. एतदर्थ शांकर आदि भाष्योंके अनुसार ये सूत्र द्रष्टव्य हैं :

शांकरभाष्यमें : २।३।४७, ३।१।१४, ३।१।१९ तथा ४।२।१४.
भास्करभाष्यमें : २।३।४७, ३।१।१५, ३।१।१९ तथा ४।२।१४.
रामानुजभाष्यमें : २।३।४६, ३।१।१५, ४।२।१३ तथा ४।३।१०.

इन सभी सूत्रोंमें तत्तद् भाष्योंके अनुसार गीतेतर तत्तद् पुराणादिवाक्योंका ही विमर्श हुआ है. तब प्रस्थानत्रयीका सिद्धान्त कहां रहा? यह बचाव थोथा ही है कि कभी-कभाक इतरवचनोंका अवलम्बन दोषावह नहीं, जबकी निरन्तर पुराणवचनोंका अवलम्बन दोषावह ही है, क्योंकि ऐसा निकष इन पूर्वोक्त भाष्यकारोंने तो कहीं शब्दशः मान्य किया नहीं है. विचारशैलीमें कभी-कभाक पुराणवाक्योंका विमर्श या निरन्तर विमर्श केवल विचारके शैलीगत भेदका परिचायक हो सकता है, आधारगत भेदका नहीं. क्योंकि पुराणवाक्य भी प्रमाणतया ही उभयत्र उपन्यस्त हुए हैं.

श्रीमध्वाचार्य तो सर्वत्र श्रुति-स्मृति-पुराणवचनोंका अविशेषेण प्रमाणतया उपन्यास करते ही हैं. एक भाष्यकार आचार्यकी विचारशैली अन्य आचार्य-केलीए बन्धनकारी नहीं होती. अन्यथा जो पुराणवचनोंका अधिक अवलम्बन नहीं करते उनकी विचारशैलीमें यह दोष मानना पड़ेगा कि उनके विचारोंकी पुराणोंद्वारा पुष्टि नहीं की गई है.

महाप्रभु या प्रभुचरण ऐसी स्थितिमें ब्रह्ममीमांसामें भागवतका अवलम्बन अधिकतया करते हों तो वेदान्तके किसी भी प्राचीन विद्वानकेलिए तो वह आपत्तिजनक नहीं हो सकता है. श्रीमध्वाचार्य तो स्वयम् ही यह स्वीकारते हैं :

"ब्रह्मसूत्र-महाभारत-गायत्री-वेदसम्बन्धश्चायं ग्रन्थः उक्तं गारुडे—
अर्थोयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः ।
गायत्रीभाष्यरूपोसौ वेदार्थपरिबृंहितः ॥
पुराणानां साररूपः साक्षाद्भगवतोदितः ।
द्वादशस्कन्धसंयुक्तः शतविच्छेदसंयुतः ॥
ग्रन्थोष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः
(श्रीमद्भागवततात्पर्यनिर्णय १।१)

ऐसी स्थितिमें स्वयमेव सूत्रोंको स्मृतित्वेन मान्य, उपनिषदोंको भी वेदोंके वेद अर्थात् पंचमवेदतया मान्य, इतर पुराणोंको ब्रह्मसूत्रार्थत्वेन–भारतार्थनिर्णयरूपत्वेन–सकलपुराणसारत्वेन–गायत्रीभाष्यत्वेन – वेदार्थपरिबृंहितत्वेन – साक्षाद्भगवतोदितत्वेन मान्य भागवतकी चतुर्थ प्रस्थानताकी मान्यताके विरुद्ध उठाये गये सारे बवण्डर वेदान्तगोष्ठीमें नितान्त प्रभावहीन ही लगते हैं. आधुनिक रिसर्चगोष्ठीकी गवेषणा अशास्त्रीय कल्पनाओंसे प्रभावित होनेके कारण वेदान्तशास्त्रीय मौलिक धारणाओंसे सर्वथा अपरिचित ही सिद्ध होती है.

महाप्रभुने सर्वनिर्णयप्रकरणके प्रमाणप्रकरणमें, अतएव, भागवतकी असाधारण महत्ता, उसके प्राकट्यका प्रयोजन, उसका सर्वोद्धारक स्वरूप, उसका सर्वसन्देहवारक प्रामाण्य तथा प्रमाणतः–प्रमेयतः–साधनतः–फलतः उत्कर्ष स्वीकारा है.[1]

श्रुति तथा भागवत

वेदादिशास्त्रोंके आपाततः विमर्श करनेपर केवल सुसाधन जीवात्माओंका ही उद्धार सम्भव लगता है. कृष्णावतारलीलाका, परन्तु, भलीभांति अध्ययन करनेपर कुछ और ही चित्र सामने आता है. इस रूपमें भगवान् सुसाधन निःसाधन तथा दुष्टसाधन यों सभी तरहकी जीवात्माओंका उद्धार करना चाहते हैं. काम-क्रोध-भय-स्नेह-ऐक्य-सौहृदादि किसी भी निन्दित-अनिन्दित-प्रशस्त मनोवृत्तिवश जीवात्माका चित्त परमात्मामें एकाग्रतया तन्मय होनेपर पारमात्मिक आनन्दकी उपलब्धि सम्भव है.[1] "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं स आत्मा तत्त्वमसि" श्रुतिमें वर्णित ज्ञानमार्गीय श्रौत प्रक्रियाद्वारा जड़-जीवरूप वस्तुमात्रका ब्रह्मसे तादात्म्यानुभव न कर पानेवालेको भी इन मनोवृत्तियोंके कारण भी अन्तमें सर्वात्मभावकी सिद्धि सम्भव है. ऐसा उल्लेख भागवतसे पूर्व इतने स्पष्टतम शब्दोंमें तथा लीलावर्णनकी मुहरके साथ उपलब्ध नहीं होता.

महाप्रभु कहते हैं "कर्मज्ञानकाण्डादिष्वपि भक्तिशेषत्वकथनात् सर्वश्रुतितात्पर्यविषयभगवत्प्रतिपादनाच्च श्रुतिसाररूपत्वं (भागवतस्य)" अर्थात् श्रुतिवर्णित कर्मसाधना तथा ज्ञानसाधना भागवतद्वारा भक्तिकी अंगभूत बनायी गयी है. भगवान् तो प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलनिरूपिका सभी तरहकी श्रुतिओंके परम-तात्पर्य-विषयीभूत हैं, अतः ऐसे भगवत्स्वरूपकी प्रतिपादक होनेसे भी भागवतको श्रुतिसार समझना चाहिये (द्रष्टव्य : सुबो. ३।२।२४).

ऐसी अवस्थामें ब्रह्मसूत्रके साधनफलाध्यायोंमें यदि जीवके उद्धारके एक अन्यतम किन्तु प्रमुख साधनके रूपमें; तथा इसी तरह जीवात्माको अनुभूत होते एक अन्यतम फिरभी प्रमुखतम फलके रूपमें भागवतोक्त भगवल्लीलाका वर्णन नहीं हो पाया ऐसा स्वीकारते हैं, तो साधनाध्याय तथा फलाध्याय में ही यह न्यूनता स्वीकारनी पड़ेगी. श्रुतिसारभूत साधन एवम् फलके वर्णनसे ब्रह्मसूत्रोंको वञ्चित मानना पड़ेगा.

सम्भव है कि पुष्प या फल के बीजोंमें पुष्पकी सुगन्ध या फलका सुस्वाद न भी अनुभूत होता हो. फिर भी वह सामर्थ्य तो बीजमें गूढतया निहित स्वीकारना ही पड़ता है. कहनेकी आवश्यकता नहीं कि "निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्" भागवतवर्णित भगवल्लीलाकी उद्धारसाधनता तथा फलरूपताकी सुगन्ध तथा सुस्वाद भी बीज-शाखा-पल्लवरूप श्रुति-स्मृति-सूत्रवचनोंमें स्पष्टतया

---

१. ननु कृष्णः सर्वमुक्त्यर्थमवतीर्णः तस्य स्वरूपकथनार्थं भागवतं प्रवृत्तं...सर्वगोप्यो हि धर्मस्तु वेदे मुख्यतयोदितः ब्रह्ममात्रप्रकाशस्तु कृपया सनकादिगः...भगवदिच्छया यदा पुनः सर्वोद्धारार्थं प्रयत्नं कृतवान् तदा परम्पराया अभावात् नान्यैः व्यासैः वक्तुं शक्यते इति व्यासावतारः अभिप्रायज्ञानार्थं गीतायां स एव प्रकटीकृतः... स इदानीं तु गीतायां प्रकटो भगवत्कृतः तदन्यासत्वाद् भागवतं पूर्वं भगवतोदितं... कालादिधर्म हेतूनामभावात् साम्प्रतं कलौ वेदस्मृतिपुराणानामर्था सर्वे हि बाधिताः. कालदिसाधनापेक्षारहितः सर्वतोधिकः फलतः सुगमश्चैव सर्वथा फलसाधकः (त. नि. स. ५९–६९).

१. कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव वा ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥ (भाग. १०।२९।१५)

अनुभूत न भी होते हों परन्तु विवक्षामें तो निहित स्वीकारने ही पड़ेंगे.

अणुभाष्य उसी फलावस्थाका वर्णन बीज-शाखा-पल्लवोंकी पहचानमें भी देना चाहता है.

गीता और भागवत

जो रहस्य भागवतमें प्रकटतया वर्णित है उसे भागवतपूर्व शास्त्रोंमें गुप्ततया अवस्थित स्वीकारना पड़ेगा. भगवदवतारकालमें मुक्ति या भक्तिके दानमें भगवान्‌के साधननिरपेक्ष निरंकुश सामर्थ्यको प्रकट करनेवाली अनेक लीलायें वर्णित हुई हैं.

यद्यपि गीतामें "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच (गीता १८।६६)" जैसे भगवत्प्रदत्त आश्वासनोंमें भी भगवान्‌के साधननिरपेक्ष निरंकुश उद्धारसामर्थ्यका सिद्धान्त ध्वनित होता है. फिर भी साधनाभिमानसे जड़ीभूत हृदयमें इसकी प्रतिध्वनि सहसा नहीं गूंज पाती. परिणामतः व्याख्याकारोंको भय लगता है कि "सर्वधर्मत्याग" को यथाश्रुत लेनेपर जगतमें पाषण्ड बढ़ जायेगा. अतः 'धर्म' पदके विविध अर्थ वे प्रस्तुत करने लग जाते है. यथा : यह धर्म मनुष्यत्व-पुरुषत्व-स्त्रीत्वादि रूप दैहिक धर्म है, या ब्राह्मणत्व-शूद्रत्वादिरूप वर्णधर्म है, या ब्रह्मचारित्व-संन्यासित्वादिरूप आश्रमधर्म है; यों देहादिके अध्यासमूलक मिथ्या धर्मोंके त्यागका उपदेश यहां पारमार्थिक ब्रह्मात्मैक्यकी अनुभूतिकेलिए दिया गया है. कुछ अन्य व्याख्याकार कहते हैं कि 'धर्म' पदसे धर्मानुष्ठानमें कर्तृत्वभोक्तृत्वरूपा अहन्ताममता विवक्षित हैं जिनके त्यागका यहां उपदेश दिया जा रहा है. इत्यादि इत्यादि.

मूलतः जबकि अर्जुनको भगवान् यह समझाना चाहते हैं कि उसे युद्ध करना चाहिये तथा कर्म–ज्ञान–भक्ति आदि मार्गसम्बन्धी विधिनिषेधोंके अनुसार प्रवृत्ति–निवृत्तिद्वारा आत्मोद्धारकी चिन्ता छोड़ देनी चाहिये. क्योंकि सर्वप्रथम तो इस लड़े जा रहे युद्धमें अर्जुनका सारथित्व भगवान् स्वीकार चुके हैं. पश्चात् श्रीमुखतः युद्धकी अनुज्ञा भी प्रदान कर चुके हैं. भगवान्‌ने विधि-निषेधमूलक प्रवृत्ति-निवृत्तिसे जन्य पुण्य-पापोंके चक्रसे अर्जुनको मुक्त रखनेका आश्वासन दिया ही है. फिर भी कर्म ज्ञान अथवा भक्ति आदि मार्गोके कारण अर्जुनको सताती आत्मोद्धारकीचिन्ताका निवारण भगवान् इस चरमोपदेशद्वारा देना चाहते हैं.

क्योंकि निष्काम कर्म यदि जीवात्माका उद्धार करनेमें समर्थ है तो वह किसी कर्ममार्गीय जीवात्माके कर्मसामर्थ्यके कारण नहीं, किन्तु कर्मके शास्त्रविहित होनेके कारण ही. ज्ञानाग्नि यदि सभी अच्छे-बुरे कर्मोंको भस्मसात् करनेमें समर्थ है तो वह भी किसी ज्ञानमार्गीय साधककी बुद्धिके सामर्थ्यके कारण नहीं, किन्तु ज्ञानके ब्रह्मज्ञान होनेके कारण ही. इसी तरह भक्ति भी किसी सुदुराचारीके उद्धारमें समर्थ है तो वह साधकके भक्तिमार्गीय साधनाडम्बरोंके कारण नहीं, किन्तु भक्तिके हृदयतः भगवद्विषयिणी होने के कारण ही. अतः भगवत्प्रेरित या भगवद्विषयक होनेके कारण, असमर्थ क्षुद्र जीवात्माके कर्म-ज्ञान-भक्तिके भीतर भी यदि सुकृत-दुष्कृतके चक्रको प्रभावहीन बनाने की सामर्थ्य आ जाती हो, तो क्या स्वयम् उस सर्वसमर्थ परमात्मामें अपने शरणागतको पुण्य-पापोंके चक्रसे छुड़ानेकी सामर्थ्य नहीं हो सकती?

भगवान् इस आशयसे चरमोपदेश कर रहे हैं. व्याख्याकार जबकि पूर्वोपदिष्ट कर्म-ज्ञान-भक्तिमेंसे ही किसी एक उपदेशके साथ पुनः इस चरमोपदेशको भी अपनी-अपनी रुचिके अनुसार जोड़ देना चाहते हैं! और इस तरह चरमोपदेशको केवल एक पिष्टपेषण बनाकर रख देते हैं!!

कर्मज्ञानभक्ति–आदि साधनाओंमें आत्मोद्धारकी सामर्थ्य परमात्मनिरपेक्ष नहीं हो सकती है. यह "फलमत उपपत्ते" (ब्र. सू. ३।२।३८) वचनद्वारा सिद्ध होता है. तथा परमात्मामें जीवात्माके उद्धारहेतु, इन कर्म–ज्ञान–भक्तिरूप साधनोंसे निरपेक्ष सामर्थ्य भी हो सकती है, यह गीताके चरमोपदेशद्वारा सिद्ध हो रहा है. भागवत इसे सोदाहरण भगवल्लीलाके वर्णनद्वारा समझाती है :

अहन्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेण।
लोकं विकुण्ठमुपनेष्यति गोकुलं स्वम्॥

(भाग २।७।३१)

गोप्यः कामाद् भयात् कंसः द्वेषाच्चैद्य अधीरघी।
सम्बन्धाद्वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विमोः॥

(भाग. ७।१।३०)

सुसाधन जीवात्माका तो उद्धार शास्त्रीय साधनोंके माहात्म्य अथवा परमात्माके माहात्म्य मेंसे किसके कारण हुआ यह इदमित्थतया निश्चित कर पाना दुष्कर है. परंतु "अहन्यापृतं...." में निःसाधन जीवात्माके तथा "गोप्यः कामाद्...." में दुष्टसाधन जीवात्माके भी उद्धारकी चर्चा "फलमत उपपत्तेः" तथा "सर्वधर्मान् परित्यज्य...." वचनोंका ही भागवतमें लिखा गया लीलोदाहरणके सहित सुरुचिर भाष्य है.

ऐसा नहीं कि यह सिद्धान्त उपनिषदोंमें सर्वथा उपलब्ध ही न होता हो क्योंकि "एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति एष उ एवैनम् असाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषति (कौ. उ. ३।९)" तथा "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन. लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् (कठो. २।२३)" वचनोंमें इन्हीं सिद्धान्तोंका संकेत मिल तो अवश्य जाता है. क्योंकि किसी भी कर्मका साधुत्वासाधुत्व उत्कर्षापकर्षप्रदत्व तथा कारयितृत्व भगवन्निर्धारित तथा भगवन्निहित हो तो परमात्मामें साधननिरपेक्ष निरंकुश उद्धारसामर्थ्य अर्थात् सिद्ध हो ही जाता है. प्रवचन–मेधा–श्रवणादि साधनोंसे उसे अलभ्य बताकर अनुग्रहापरपर्याय वरणसे लभ्य बताना भी उसी निरंकुश सामर्थ्यका द्योतन है. परन्तु श्रुति-स्मृति-सूत्र-भागवतकी एकवाक्यता साधे बिना यह रहस्य पूर्णतया उजागर नहीं हो पाता है.

अतएव महाप्रभु भागवतको गीता का विस्तार मानते हैं.

सूत्र और भागवत

सर्वशास्त्रसमर्थित भगवान्के निरंकुश साधनफलरूप सामर्थ्यको अणुभाष्यकार "सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र" अधिकारके अनुसार अथवा "स्वपदानि च वर्ण्यन्ते" अधिकारके अनुसार भी सूत्रारूढ करते हों (द्रष्टव्य : सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः) तो वह भाष्यकारकी हैसियतमें कथमपि अनुचित नहीं माना जा सकता है. क्योंकि फलोपम सूत्रवचनोंकी शब्दत्वचामें वह अर्थ प्रकट न भी होता हो तो न सही, परन्तु निगूढ विवक्षारूप गूदेमें तो वह छिपा हुआ है ही.

अन्यथा भाष्यद्वारा भागवतको सूत्रारूढ करनेकी प्रक्रियाका निषेध

करनेवालोंको कृष्णावतारलीलाका भी निषेध करना पडेगा और गीताके सर्वगुह्यतम चरमोपदेशका भी.

विचित्र बात तो यह है कि शास्त्रोक्त साधनोंके यथाविधि अनुष्ठानमें समर्थ साधक तो भागवतके प्रस्थानान्तर्भावपर आपत्ति उठायें तो वह समझमें आ सके ऐसी बात है. देश-काल-द्रव्य-कर्तृ-मन्त्र-कर्मादिकी शास्त्रापेक्षित शुद्धि आज जब कालवशात् सर्वथा उद्ध्वस्त हो गई है, ऐसी स्थितिमें समग्र साधन-व्यवस्थाका निर्मूल-स्वच्छन्द व्याख्यान तथा अनुष्ठान करनेवाले असमर्थ साधक सर्वसमर्थ भगवान्के निरंकुश सामर्थ्यपर आशंका प्रकट करते हैं! सूत्रकार जबकि शब्दशः जैमिनीसे अपना मतभेद कर्मके बजाय परमात्माको फलदाता माननेनेके रूपमें घोषित कर चुके हैं.

मध्यमाधिकारीकेलिए सर्वसन्देहवारक भागवतकी मनननिदिध्यासनोपयोगिता

श्रुतिमें आत्मदर्शनार्थ श्रवण-मनन-निदिध्यासनरूप उपाय दिखलाये गये हैं (द्र. : बृ. उ. ४।५।६). इन उपायोंके स्वरूपको स्पष्ट करते हुए महाप्रभु कहते हैं कि उपनिषदोंके वचनोंको केवल सुन लेना पर्याप्त नहीं है, किन्तु इस चतुर्लक्षणी ब्रह्ममीमांसाद्वारा उन उपनिषद्वचनोंकी ब्रह्मपरता समझनी आवश्यक है. अर्थात् ये उपनिषद्वचन ब्रह्मतत्त्वके ही निरूपक हैं, यह भलीभांति समझमें आ जाये तो मानना चाहिये कि श्रवण सम्पन्न हुआ. इस तरह श्रुत वचनोंके अर्थोके बारेमें कभी असम्भावना या विपरीतभावना मनमें न उठे, एतदर्थ मनन अपेक्षित होता है. इस मननकी प्रक्रियामें वेदोपनिषद् गीता ब्रह्सूत्र तथा भागवत के वचन उत्तरोत्तर सन्देहवारक अंग बनकर तथा परस्परसमन्वित होकर मननोपाय बनते हैं. पूर्व-पूर्व शास्त्रका कोई भी वचन या शब्द यदि स्वयम्की ब्रह्मपरताके बोधजननमें स्वतःसफल न भी हो पाता हो तो जिज्ञासाकालमें उसका आहार्यविस्मरण करना पड़ेगा, जब तक उत्तरोत्तर आते वचनोंमें निर्दिष्ट किसी प्रक्रियाद्वारा ऐसे वचन या शब्द की ब्रह्मपरताको परखनेकी दृष्टि हमारे भीतर पनप नहीं जाती. ऐसी दृष्टिके लाभ होनेपर मनन सम्पन्न हुआ समझना चाहिये.

महाप्रभुके मतमें अतएव केवल "युक्तिभिः अनुचिन्तनं मननम्" परिभाषा

अपर्याप्त है, जबतक 'युक्ति' पदके अर्थतया 'प्रमाणचतुष्टयकी एकवाक्यतापादिका युक्ति' को विवक्षित न माना जाये. मननके बाद आता है निदिध्यासन. यथावगत ब्रह्मस्वरूपकी यथाधिकार ज्ञानमार्गीय मर्यादोपासनामार्गीय या पुष्टिभक्तिमार्गीय रीतिके अनुसार ध्यान-धारणा समाधि या तत्स्थानीय चित्तकी किसी अवस्थाका लाभ होना निदिध्यासन है. यह सिद्ध होनेपर अन्यव्यापारसे निर्मुक्त साधकको स्वस्वमार्गीय रीतिसे ब्रह्मानुभव फलित हो जाता है. महाप्रभु कहते हैं—"इदमेव ब्रह्मज्ञानम्."[1]

उत्तमाधिकारीकेलिए सर्वसन्देहवारक भागवतकी मनननिदिध्यासनोपयोगिता

मध्यमाधिकारीकेलिए उपदिष्ट मनननिदिध्यासनकी रीति ही, महाप्रभु, उत्तमाधिकारीकेलिए भी स्थूणाखननन्यायेन उपयोगी मानते हैं. क्योंकि महाप्रभुकी धारणा है कि श्रीकृष्णवाक्य अर्थात् गीताके अनुसार जो वेदोपनिषदोंका अर्थ करते हैं वे ही सच्चे भागवत और ब्रह्मवादी हैं (त. नि. शा. २१). अतः वेदार्थमें सन्देह न हो तब भी वेदार्थ व्यासोक्त ब्रह्ममीमांसाके अनुसार ही करना चाहिये (अणुभा. १।१।१). महाप्रभु यह भी समझाते हैं कि ब्रह्मके स्वरूपको समझनेकेलिए तीन पक्षोंको समझना पड़ेगा: (१) पूर्वकाण्डोक्त ब्रह्मका क्रियारूप सामर्थ्य, (२) उत्तरकाण्डोक्त ज्ञानरूप सामर्थ्य (अर्थात् प्रत्येक कर्म या क्रिया में वह सामर्थ्य नहीं, किन्तु शास्त्रविहित क्रियामें फलजननसामर्थ्य है. इसी तरह ब्रह्मविषयक ज्ञानमें मोक्षप्रापकता है, घटविषयक ज्ञानमें नहीं) और (३) गीताभागवतोक्त क्रियाज्ञानविशिष्ट सर्वसमर्थ हरिका स्वयम्का स्वरूप (द्र. : त. नि. शा. ८९–९०) महाप्रभु यह भी स्वीकारते हैं कि विशिष्ट वेदार्थ (अर्थात् क्रियाज्ञानशक्तियुक्त परमात्मा स्वयम्) फल है. उसे पानेका साधन भगवत्प्रेम है. भगवत्प्रेमका साधन नवधा भक्ति है. जिसका संक्षेपमें प्रतिपादन स्वयमेव

---

१. अधीतानां ब्रह्मवाक्यानां चतुर्लक्षण्या ब्रह्मपरत्वे सिद्ध श्रवणं भवति, श्रुतस्य कालान्तरेपि असंभावनाविपरीतभावनानिवृत्त्यै पूर्वस्थितानामंगानामनपेक्षितानामुद्वापो अन्येषामपेक्षितानामावापेन तस्यैवार्थस्य निर्धारणे मननं भवति, ततोप्येवं ध्यानादिसमाध्यन्तरूपं निदिध्यानरूपं मनसि सर्वतो निवृत्तव्यापारे स्वयमुपलब्धनिजसुखानुभवरूपं ब्रह्म इदमेव ब्रह्मज्ञानम्. (अणुभा. १।२।१)

भगवान्ने श्रीमुखसे गीतामें किया है तथा जिसका विस्तार सर्वनिर्णयपूर्वक समाधिद्वारा श्रीव्यासने भागवतमें किया है (द्र. : त. नि. शा. २२०–२२१).

अतः उत्तमाधिकारीकेलिए भी स्वतः अर्थोंकी उट्टंकना करनेके बजाय भागवतके अनुसार श्रुति-स्मृति-सूत्रका अर्थ करना अधिक उचित होता है.

दशमसुबोधिनी तथा अणुभाष्य

इसी पृष्ठभूमिको लक्ष्यमें रखकर महाप्रभुने भागवतके दशमस्कंधमें वर्णित व्रज मथुरा द्वारिका या वैकुण्ठ की भगवल्लीलाओंमें स्थित तामस राजस सात्त्विक या निर्गुण भक्तोंके भावोंका तथा भगवल्लीलाओंका विवेचन ब्रह्मसूत्रकी शैलीमें ही अर्थात् प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलरूपेण ही किया है. न केवल इतना ही अपितु लीलामें विघ्नकारी असुरोंके स्वरूपकी भी विवेचना अविद्याके पांच देहाध्यास इन्द्रियाध्यास प्राणाध्यास अन्तःकरणाध्यास एवं स्वरूपविस्मृति तथा अन्य भी इन अध्यासोंके वश प्रकट होते काम-क्रोधादि दोषोंके रूपमें प्रस्तुत की है.

इसी तरह इन विघ्नोंके निराकरणार्थ भगवान्द्वारा अनुष्ठित उपायोंके स्वरूपोंकी विवेचना भी विद्याके पांच वैराग्य सांख्य योग तप तथा भक्ति नामक पर्वोंके रूपमें की है.

उदाहरणार्थ पूतनावधकी लीलाको व्रजवासिओंके बीचमें प्रकट हुए भगवान्द्वारा अनुष्ठित व्रजवासिओंकी अविद्याका निवर्तन माना गया है. भागवतके अनुसार पूतनावध वास्तवमें तो भगवान्द्वारा उसे प्रदान की गई धात्र्युचित श्लाघ्य गति ही है. भक्तोंके बीच भगवान् प्रकट होते हैं उनकी भक्तिके कारण. 'भक्ति' का अर्थ होता है "माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ सर्वतोधिक स्नेह." ऐसी भक्ति भगवत्प्राकट्यकारिणी होनेके कारण प्रकट स्वरूपकी माताके समान होती है. अविद्या यद्यपि माहात्म्यज्ञानवाले भक्तिके अंशसे विपरीत है, फिर भी पूतनाके रूपमें अविद्या भी माता यशोदाकी तरह परमात्माको स्तनपान कराने आयी. अतः उस पूतनाको वैसी गति दी गई, हिंसाभावके अनुरूप नरकादि नहीं. इसी तरह व्रजभक्तोंकी अविद्याको श्रीभगवज्जननी भक्तिकी तरह भगवद्भावानुकूल देहाध्यासादिकी पोषिका बना लिया गया. पुष्टिभक्तिमार्गमें देहाध्यासादिरूप अज्ञान भी यदि भगवद्भावपोषक बन पाता हो तो

अभिनन्दनीय है. यह है पुष्टिमार्गीय श्रवणके बाद भगवल्लीलाके मनन-निदिध्यासनका स्वरूप !

जैसे फलाध्यायमें—"जीवतो म्रियमाणस्य गच्छतः सफलस्य च" के चातुर्विध्यद्वारा ब्रह्मसूत्रोंमें फलावस्थाका वर्णन हुआ है, वही क्रम भागवतमें भी दशमस्कन्धके अन्तर्गत जीवद्भक्त तथा म्रियमाणभक्त के मुख्यतया वर्णनार्थ है. एकादश स्कन्धको मुक्तिप्रकरण माना गया है जो गच्छतोभक्त वर्णनार्थ है. इसी तरह द्वादश स्कन्ध आश्रय प्रकरण है और वहां आश्रयभावापन्न 'सफलस्य' का वर्णन अभिप्रेत है.

उक्त चतुर्विध ब्रह्मज्ञानिता केवल ज्ञानमार्गीय साधकका एकाधिकार नहीं. अतएव तृतीय स्कन्ध (३।२५।३२-४०) की सुबोधिनीमें बहुत विस्तारपूर्वक भक्तिमार्गीय साधककी भी ऐसी ही चतुर्विध अवस्था सम्भव है, यह दिखलाया गया है.

षोडशग्रन्थ तथा अणुभाष्य

इस चतुर्विध फलनिरूपणके सन्दर्भमें यह ज्ञातव्य है कि षोडशग्रन्थार्गत सेवाफलमें जिस अलौकिक-सामर्थ्यरूप फलका वर्णन है वह "जीवतो म्रियमाणस्य" स्थानीय ही है. इसी तरह एकादशस्कन्धीय मुक्तिप्रकरणके अनुरूप सेवाफल ग्रन्थमें सायुज्यफलका वर्णन है. द्वादशस्कन्धीय आश्रयाभावापत्ति स्थानीय "सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु" फल सेवाफलमें वर्णित हुआ है.

"अलौकिक सामर्थ्य" पदवाच्य आद्यफलका ही स्वरूप निरोधलक्षण ग्रन्थमें चित्रित हुआ है तथा चतुश्लोकीके अन्तिम श्लोकमें भी.

इस तरह अनवतारकालमें पुष्टिभक्तिप्रणालीमें किसी तरहकी असौत्रता नहीं है, यह समझनेकेलिए पर्याप्त है. विस्तारभयसे इस विषयकी अधिक चर्चा यहां सम्भव नहीं.

कुछ अप्रासंगिक होनेपर भी इस विषयको इसलिए यहां छेड़ा गया कि साधन-फलाध्यायमें भागवतोपजीवनपर जैसे कुछ आधुनिक लेखक आपत्ति प्रकट करते हैं, वैसे ही उनसे प्रभावित तथाकथित वल्लभपन्थी भी महाप्रभु और प्रभुचरण के बीच कुछ पृथक् दृष्टिकोणकी उद्भावना करते रहते हैं. इन वल्लभपन्थिओंका आग्रह व्याख्यारहित महाप्रभुके वचनोंको केवल कण्ठस्थ करनेका होता है, अर्थविचाररहित. अतः विचारको अवकाश ही नहीं !

'अर्थोयं ब्रह्मसूत्राणां'के सन्दर्भमें भागवतोक्त साधनफलका स्वरूप

इस तरह हम देख सकते हैं कि प्राचीन सभी आचार्योंको सर्वथा मान्य शास्त्रप्रामाण्य (केवल उपनिषत्प्रामाण्य नहीं) की धारणाके अनुरूप ही महाप्रभु-प्रभुचरणने अणुभाष्यादि ग्रन्थोंमें प्रमाणचतुष्टयीकी एकवाक्यता कितनी सूझ-बूझसे निभायी है ! अन्यथा भगवदवतारकालमें शास्त्रविहित साधनोंसे असम्पन्न जीवात्माओंको भी ब्रह्मानुभूति या ब्रह्मप्राप्ति के असंख्य उल्लेखोंकी कोई संगति ही नहीं रह जायेगी. एतदर्थ भागवतके ये श्लोक मननीय हैं :

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च ।
न स्वाध्यायतपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा ॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः ।
यथावरुन्धे सत्संगः सर्वसंगापहो हि माम् ॥

व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे ॥
तेनाधीतश्रुतिगणाः नोपासीतमहत्तमाः ।
अव्रतातप्ततपसः सत्संगान्मामुपागताः ॥
केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगाः मृगाः ।
येन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा ॥
यं न योगेन सांख्येन दानव्रततपोध्वरैः ।
व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि ॥

तानाविदन्मय्यनुषङ्गबद्धधियस्वमात्मानमदस्तथेदम् ।
यथा समाधौ मुनयोब्धितोये नद्या प्रविष्टा इव नामरूपे ॥
मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबलाः ।
ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रशः ॥
तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम् ।
प्रवृत्तञ्च निवृत्तञ्च श्रोतव्यं श्रुतमेव च ॥
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
याहि सर्वात्मभावेन मयास्या ह्यकुतोभयम् ॥

(भाग. ११।१२।१-२५)

इस विस्तृत उद्धरणके सम्यक् विमर्शसे भगवदवतारकालीन लीलामें स्वयम् उस लीलाद्वारा प्रस्तुत होते पुष्टिभक्ति तथा पुष्टिप्रपत्ति के निगूढ सिद्धान्त और

साधनफलव्यवस्थाके प्रकारको या तो अपसिद्धान्त मानना पड़ेगा; या इनकी संगति ब्रह्मसूत्रोंमें कहीं खोजनी पड़ेगी. या तो इतने महत्त्वपूर्ण विषयके अविमर्शका दोष ब्रह्मसूत्रोंमें स्वीकारना पड़ेगा या शब्दशः अनुल्लेखका बतंगड़ बनाये विना, सूत्रोंके तात्पर्यपर्यंत अनुधावन करना पड़ेगा. यदि भागवतका ब्रह्मसूत्रार्थ होना "अर्थोयं ब्रह्मसूत्राणाम्" वचनसे प्रामाणिक माना जाता है तो ब्रह्मसूत्रमें भी कुछ न कुछ शब्द तो ऐसे खोजने ही पड़ेंगे जो भागवतोक्त प्रमाण–प्रमेय–साधन–फलके स्वरूपके अभिधया या तात्पर्यवृत्त्या वाचक हों. भागवतके उल्लिखित वचनमें वर्णित अनेक व्यक्ति तथा प्रसंग भागवतेतर ग्रन्थोंमें भी वर्णित तो हैं ही. अतः केवल भागवतके बलिदान कर देनेपर भी काम चलेगा नहीं. रामायण और महाभारत, जिसका एक भाग होनेसे गीता ब्रह्मसूत्रोंका उपजीव्य है, भी ऐसी साधननिरपेक्ष-भगवत्सामर्थ्यमूलक उद्धारकथाओंसे भरे पड़े हैं. कितने शास्त्रोंकी उपेक्षा शास्त्रयोनि ब्रह्मके विचारमें ब्रह्मसूत्र कर सकते है!

मूल प्रश्न यही है कि भगवदवतारका सिद्धान्त शास्त्रीय है या नहीं? यदि शास्त्रीय है तो अवतारकालमें सभी निःसाधन दुष्टसाधन एवं सुसाधन जीवात्माओं को भगवत्साक्षात्कार हुआ था कि नही? यदि वह हुआ था तो ऐसे साधननिरपेक्ष साक्षात्कारद्वारा उन-उन जीवात्माओंको यथायथ भक्तिलाभ या मुक्तिलाभ हुआ कि नहीं? यदि आसुरभाववाले एवम् अज्ञानी जीवोंको भी मुक्ति या भक्ति का लाभ हुआ तो शास्त्रविहित साधनफलव्यवस्थाके उत्सर्गका अपवाद भी कुछ सिद्ध होता है कि नहीं? यदि सिद्ध होता है तो उसे भगवत्सामर्थ्यमूलक या भगवदिच्छामूलक मानना चाहिये कि आकस्मिक ही? यदि भगवत्सामर्थ्य-इच्छामूलक साधननिरपेक्ष फलदानकी धारणा भी इस तरह शास्त्रीय ही हो तो या तो ब्रह्मसूत्रोंके साधन-फलाध्यायमें उसकी चर्चा होनी चाहिये थी अथवा एकाद कोई सूत्र ऐसा होना चाहिये था कि "साधनफलनिर्धारेत्ववतारकथा ह्यविचार्या अपुरुषार्थत्वाद् गप्पत्वाद् वा" (!).

इससे अधिक किसी तरहकी जिज्ञासा इस विषयमें हो तो सर्वनिर्णयकी कारिका ३०२–३१६ का अवलोकन समाधानकारी हो सकता है.

"मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं...." (भाग. ५।१९।५) और "तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनां भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः" (भाग. १।८।२०) वचनोंके विमर्श करनेपर भी परमेश्वरके दिव्य

शब्दोंकी जैसे 'शास्त्र' संज्ञा "शास्तीति शास्त्रम्" व्युत्पत्तिद्वारा स्वीकारी जाती है, उसी तरह परमेश्वरकी दिव्य लीला भी मर्त्यशिक्षणरूप एवम् भक्तियोग विधानरूप होनेसे शास्त्ररूप है, यह स्वीकारना पड़ता है. अतः अवतार-कथाद्वारा सिद्ध साधनफलव्यवस्था भी शास्त्रीय व्यवस्था ही है जिसे शास्त्रयोनि ब्रह्मकी जिज्ञासामें स्थान देना ही पड़ेगा.

आधुनिक तथाकथित वल्लभपन्थियोंका वितण्डा

पूर्वोक्त पृष्ठभूमिको भलीभांति बुद्धिगत रखनेपर यह सहजतया समझमें आ सकता है कि प्राचीन किसी भी विद्वान्ने महाप्रभु और प्रभुचरण की भाषाशैली और विचारशैली में रही भिन्नताके बावजूद किसी भी प्रकारके मतभेदकी कल्पना क्यों नहीं की. क्योंकि साधन-फलके स्वरूपनिर्धारणकी जो रूपरेखा महाप्रभुने निबन्ध सुबोधिनी तथा षोडशग्रन्थों में प्रस्तुत की है, सर्वथा उसका ही अनुसरण करके प्रभुचरणने भी भाष्यपूर्ति की है.

फिर भी हालमें कुछ लोग केवल महाप्रभुके ग्रन्थोंको ही वाल्लभ मतके स्वरूपनिर्धारणार्थ मूलसाहित्य मानकर, प्रभुचरण प्रभृतिद्वारा विरचित साहित्यको व्याख्यासाहित्य मानकर, उसकी उपेक्षाका सुझाव देते है. कुछ अन्य लोग प्रभुचरणके चिन्तनको दामोदरदासकी विचारहीन भावुकतासे प्रभावित मान कर महाप्रभुके ज्येष्ठात्मज श्रीगोपीनाथजीकेद्वारा लिखित व्याख्या कैसी होती (!) अर्थात् वह महाप्रभुके मतके अधिक अनुरूप होती, ऐसा प्रभुचरण-विरोधी पन्थ वल्लभसम्प्रदायके अन्तर्गत प्रसारित करना चाहते हैं. इन वल्लभपन्थिओं तथा गोपीनाथपन्थिओ द्वारा उद्भावित आपत्तिओंके समाधानार्थ अब हमें प्रस्तुत होना है.

प्रथम आक्षेप तथा समाधान

(आ.) अणुभाष्य (१।१।२) में महाप्रभु ब्रह्मको केवलोपनिषद्वेद्य मानते हैं अतः चतुर्थाध्यायमें उपनिषद्वाक्योंकी उपेक्षापूर्वक प्रभुचरणद्वारा भागवतवाक्योंका अधिकरणांगतया उपन्यास स्वयम् महाप्रभुको अनभिप्रेत है.

(स.) उक्त स्थलपर आते "तत्तु तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि इति केवलोपनिषद्वेद्यत्वाद् उपेक्ष्यम्" वचनमें उपनिषदके अंगभूत न हों ऐसे अनुमानादि

प्रमाणोंका व्यावर्तन 'केवल' पद द्वारा किया गया है. क्योंकि अनुपद ही "अनधिगतार्थगन्तृत्वात् प्रमाणस्य मनननिदिध्यासनयोः श्रवणांगत्वम्. सन्देहवारकत्वात् शास्त्रस्यापि तदंगत्वमिति (वहीं)" वचनके आधारपर ब्रह्मसूत्र (या भागवत भी) सन्देहवारकतया उपनिषद्के अंगभूत हैं अर्थात् उपनिषत्से पृथक नहीं है, यह सिद्ध किया गया है.

एक और तथ्य इसमें अवलोकनीय यह है कि शास्त्रार्थप्रकरणकी कारिका (११-२०) का सावधानीसे विचार करनेपर वर्तमान कलियुगमें कर्मज्ञानादि साधना अशक्यप्राय बन गयी है. कृष्णभक्ति किन्तु सदा–सर्वदा समर्थ उपकारक रहती है. ऐसी कृष्णभक्तिकी भागवतमूलिका साधन–फलात्मना विवेचना महाप्रभुको कथमपि अनभिप्रेत हो नहीं सकती और इसके अलावा प्रभुचरणने कुछ किया नहीं है.

द्वितीय आक्षेप तथा समाधान

(आ.) सुबोधिनी आदि ग्रन्थोंमें साधन–फलाध्यायगत सूत्रोंकी जो व्याख्या स्वयम् महाप्रभुके शब्दोंमें मिलती है, वह प्रभुचरणविरचित भाष्यांशगत व्याख्यासे भिन्न है. अतः सम्पूर्ण अणुभाष्य स्वयम् महाप्रभुद्वारा लिखित मिलता होता तो प्रभुचरणद्वारा प्रपूरित अंशसे निश्चय ही विलक्षण होता.

(स.) सुबोधिनी आदिमें प्रदत्त सूत्रव्याख्या तथा प्रभुचरणकृत भाष्यपूर्तिवाले अंशके परस्पर भिन्नार्थक होनेकी बातको स्वीकार कर, साथ ही साथ, हम भी यह पूछना चाहेंगे कि स्वयम् महाप्रभुविरचित भाष्यगत तथा सुबोधिनीगत सूत्रव्याख्याओंमें यदि कहीं भिन्नार्थकता उपलब्ध हो जाये तो क्या गति होगी? उत्तररूपेण : वही गति महाप्रभु तथा प्रभुचरण द्वारा प्रदत्त भिन्न–भिन्न व्याख्याओंकी भी स्वीकारनी चाहिये.

उदाहरणतया "अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् (३।१।१४)" सूत्रके स्वयम् महाप्रभुविरचित अणुभाष्यांश तथा सुबोधिनी (१।३।३०) में प्रदत्त उक्त सूत्रकी व्याख्यामें सर्वथा एकरूपता तो नहीं है. "पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततोह्यस्य बन्धविपर्ययौ (३।२।५)" के अणुभाष्यमें 'पराभिध्यान' पदकी व्याख्या तथा इसी सूत्रका विमर्श करनेवाली भागवत (३।२६।६-७) की कारिकामें आते 'पराभिध्यान' पदका अर्थ महाप्रभु पृथक्-पृथक् देते हैं. भाष्यस्थ अर्थ "परस्य भगवतो अभितो ध्यानं स्वस्य एतस्य च सर्वतो भोगेच्छा तस्माद् ईश्वरेच्छया जीवस्य भगवद्धर्मतिरोभावः" उपलब्ध होता है जबकि सुबोधिनीस्थ अर्थ— "परा स्वतो भिन्ना या प्रकृति तस्या अभिध्यानेन तामेव आत्मत्वेन मन्यते. आत्मत्वेन ज्ञानम् अभिध्यानम्" उपलब्ध होता है.

कुछ भाष्यकार तो कभी-कभी स्वयमेव एक ही सूत्रके दो वर्णक लिख देते हैं तब जो समाधान स्वीकारना पडेगा, वही समाधान हम भी महाप्रभु तथा प्रभुचरण द्वारा प्रदत्त विभिन्न व्याख्यानोंका देना चाहेंगे.

तृतीय आक्षेप तथा समाधान

(आ.) अत्यधिक स्वरूपसेवापरायणताके कारण प्रभुचरणोंको महाप्रभुविरचित ग्रन्थोंके व्यासंगका अवसर मिलता नहीं होगा. अतः स्वाभाविकतया पिता-पुत्रोंकी व्याख्यामें अनवधानवश भेद आ गया होना चाहिये. बाल्यकालमें महाप्रभुके लीलासंवरणके बाद दामोदारदास हरसानी जैसे भावुक वैष्णवोंकी संगतिके कारण भी प्रभुचरणमें गम्भीर दार्शनिक प्रश्नोंके प्रति महाप्रभुकी जैसी रुचि पनप नहीं पाई होगी. परिणामतः वही भावुकता गम्भीर चिन्तनपर हावी हो गई होगी. और वही अणुभाष्यपूर्तिके समय भागवतपर अत्यधिक झोंकका हेतु बन गयी.

(स.) पिता तथा पुत्र के साहित्य तथा लेखनशैली की यह तुलना कोई स्वयम् साक्षात् महाप्रभुके समक्ष करे तो वे क्या प्रतिक्रिया व्यक्त करते इसका थोड़ा-बहुत सम्भावित संकेत हमें महाप्रभुके इन वचनोंमें मिलता है :

बुद्धावतारे त्वधुना हरौ तद्वशगाः सुराः।
नाना मतानि विप्रेषु भूत्वा कुर्वन्ति मोहनम्॥
यथाकथञ्चित्कृष्णस्य भजनं वारयन्ति हि।
अयमेव महामोहो हीदमेव प्रतारणम्॥
यत्कृष्णं न भजेत्प्राज्ञः शास्त्राभ्यासपरः कृती।
तेषां कर्मवशानां तु भव एव फलिष्यति॥
(त. नि. शा. १५-१६)

प्रेम्णोन्यत्साधनं लोके नास्ति मुख्यं परं महत्।
श्रीभागवतमेवात्र परं तस्य हि साधनम्॥
(त. नि. स. ३२६)

सचमुचमें यदि किसी आधुनिक गोपीनाथपन्थी या वल्लभपन्थी का महाप्रभुके साथ किसी 'हॉट-लाइन' पर कान्टेक्ट हो जाये तो उक्त श्लोकोंमें अपना उत्तर सुना कर शीघ्र ही महाप्रभु लाइनको डिस्कनेक्ट कर देंगे! इसमें दो राय हो नहीं सकती. महाप्रभु कृष्णसेवापरायणताको शास्त्राभ्यासका फल मानते हैं शास्त्राभ्यासमें व्यवधान नहीं. प्रभुचरण भी अपने पिताकी भावनाके अनुरूप भागवतको सर्वोपरि फलके प्रापक साधनका प्रतिपादक ग्रन्थ मानते हैं.

चतुर्थ आक्षेप तथा समाधान

(आ.) महाप्रभुके ज्येष्ठात्मज श्रीगोपीनाथजीके सभी ग्रन्थ आज यदि उपलब्ध होते अथवा यह भाष्यपूर्ति उनकी लेखनीसे हुई होती तो वह महाप्रभुको अभिप्रेत सैद्धान्तिक दिशाके अभिमुख अधिक होती.

(स.) कठिनाईकी बात यह है कि गोपीनाथपन्थी लोग महाप्रभुके ग्रन्थोंका तो समुचित स्वाध्याय तो करते नहीं तथा श्रीगोपीनाथजीविरचित उपलब्ध एकमात्र साधनदीपिकाका भी धैर्यपूर्वक अध्ययन नहीं करते हैं. अतः हम तो यह कहना चाहेंगे कि यदि श्रीगोपीनाथजीद्वारा की गयी भाष्यपूर्ति, उपलब्ध प्रभुचरणकृत भाष्यसे अतिशय भिन्न होती, तो निश्चयेन महाप्रभुके अन्य ग्रन्थोंसे उसकी संगति बिठा पाना बड़ी दुष्कर बात बन जाती.

जहाँ तक साधनदीपिकाकी प्रतिपादन शैलीका प्रश्न है तो वहाँ यह स्पष्ट किया ही गया है कि वेदान्तसूत्रव्याख्यान (अर्थात् भाष्य) सम्मत तथा भक्तिशास्त्र (?) के अनुसार साधनदीपिकाकी रचना श्रीगोपीनाथजीने की है. इससे प्रतीत होता है कि महाप्रभुविरचित सम्पूर्ण साधनाध्याय ग्रन्थकर्ताको उपलब्ध रहा होगा. रही बात भक्तिशास्त्रकी तो सम्भवतः वह भागवत, पञ्चरात्र, या निबन्ध अथवा षोडशग्रन्थ में से कोई एक या चारों भी हो सकते हैं. किसी भी स्थितिमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य यहां यह है कि श्रीगोपीनाथजी भागवतानुसरणद्वारा श्रवण-मनन-निदिध्यासनरूप अन्तरंग अंगोंका भक्तिरसात्मिका भगवदाराधनाके अंगत्वेन ही अनुष्ठान स्वीकारते हैं : "आत्मा वारे इति श्रुत्या दर्शनैकफलो विधिः श्रवणाद्यैः प्रतिज्ञातस्तं भजेत् तं रसेदिति, तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्, पुरुषयाविशेषेण संसारं प्रजिहासतः हरेराराधने मुक्तिस्तत्प्रकारो निरूप्यते, माहात्म्यज्ञानपूर्वो हि सुदृढ सर्वतोधिकः स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्नचान्यथा, माहात्म्यज्ञापनायैव श्रवणं गुणकर्मणाम्, शास्त्राणामुपयोगोऽत्र तत्राकांक्षा गुरोर्भवेत्, कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरं श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेद् जिज्ञासुरादरात् (सा. दी. ५–१०)."

ऐसी स्थितिमें गुरु तो स्वयम् श्रीभागवततत्त्वज्ञ तथा श्रीकृष्णकी पुष्टिमार्गीय सेवामें परायण होगा और शिष्यको वह क्या केवल उपनिषत्प्रोक्त मर्यादामार्गीय उपसनाओंका ही उपदेश देगा ? इससे अधिक "मनस्यन्यद् वचस्यन्यद्" और क्या हो सकता है ?

रही बात महाप्रभुको अभिप्रेत साधन-फलके स्वरूपकी तो वहां भाष्य न भी उपलब्ध होता हो न सही परन्तु अधोलिखित कारिकायें तो आपके साधन-फलसम्बन्धी हार्दको प्रकट करनेवाली पर्याप्त स्पष्ट शब्दोंमें मिलती है :

तस्मात्सर्वं परित्यज्य दृढविश्वासतो हरिम् ।
भजेत श्रवणादिभ्यो यद्विद्यातो विमुच्यते ॥
ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्मनैव सुखप्रमा ।
संघातस्य विलीनत्वाद् भक्तानां तु विशेषतः ॥
सर्वेन्द्रियैस्तथा चान्तःकरणैरात्मनापि हि ।
ब्रह्मभावात्तु भक्तानां गृह एव विशिष्यते ॥
मोहार्थशास्त्रकलिलं यदा बुद्धेर्विभिद्यते ।
तदा भागवते शास्त्रे विश्वासस्तेन सत्फलम् ॥
(त. नि. शा. ४९–५२)

प्रभुचरणकृत भाष्यपूर्ति महाप्रभुके इन्हीं वचनोंसे प्रेरित है.

सिद्धान्ततः उल्लेखनीय इसमें यही है कि कर्ममार्ग ज्ञानमार्ग मर्यादाभक्तिमार्ग पुष्टिभक्तिमार्ग या प्रपत्तिमार्ग मेंसे किसी भी एक मार्गके साधकको जब तक देहाभिमान रहता है, तब तक शास्त्रविहित निज वर्णाश्रमादिके कर्तव्योंके त्यागकी उसे अनुमति नहीं है. देहाभिमानके निवृत्त होनेपर वे यदि न भी निभ पायें तो कोई आपत्ति नहीं. शास्त्रविहित कर्तव्योंका यथाशक्ति निर्वाह करते हुए यथाधिकार निष्ठापूर्वक स्वस्वमार्गोंका अनुसरण सभीकेलिए आवश्यक है. फलरूपेण तत्तद् अधिकारिओंको यथामार्ग—आत्मसुख, जीवन्मुक्ति,

अक्षरब्रह्मसायुज्य, सालोक्यादि चतुर्विध मुक्ति, अलौकिकसामर्थ्य सेवोपयोगिदेह वैकुण्ठादिषु अथवा कृष्णसायुज्य रूप फलकी प्राप्ति होती है. यही साधनफलाध्यायका निष्कर्ष है. यह सभी कुछ महाप्रभुके अन्यान्य ग्रन्थोंमें सिद्ध सिद्धान्तको ही प्रभुचरणने भी भाष्यपूर्तिमें सूत्रारूढ किया है. तत्तत् मार्गोंमें श्रवण-मनन-निदिध्यासनके प्रकारोंमें मार्गभेदानुरोधवश भेद तो रहेगा ही.

पञ्चम आक्षेप तथा समाधान

(आ.) अणुभाष्य (१।१।३) के "तस्मान्न्यायोपबृंहितसर्ववेदान्तप्रतिपादित-सर्वधर्मवद्-ब्रह्म (१-२) तस्य श्रवणमनननिदिध्यासनैरन्तरंगैः शमदमादिभिश्च बहिरंगैः (३) शुद्धे चित्ते स्वयमेवाविर्भूतस्य स्वप्रकाशस्य सायुज्यं (४) परमपुरुषार्थः" इस वचनमें अणुभाष्यका एक प्रारूप जैसा कुछ महाप्रभु इंगित कर रहे हैं. यहां कोष्ठकमें दिये गये अंकोंसे उन-उन अध्यायार्थोंका निष्कृष्ट अर्थ सूचित हो रहा है. जहां तक प्रथम-द्वितीय अध्यायोंका प्रश्न है तो वहां स्वयम् महाप्रभुविरचित अंश उपलब्ध होता ही है. साधन-फल सम्बन्धी स्वरूपके निर्धारार्थ यह कहा जा सकता है कि इस प्रारूपके साथ प्रभुचरणपूरित अंशका स्पष्ट संवाद दृष्टिगत नहीं होता.

(स.) शमदमादिरूप बहिरंग उपाय श्रवणमननादि रूप अन्तरंग उपायोंका कोई विशिष्ट स्वरूप तो यहां दिखलाया गया नहीं है. अतः यथायथ सभी मार्गोंमें शमादि तथा श्रवणादि के स्वरूप भिन्न-भिन्न हो ही सकते हैं, अतएव नवधाभक्तिमें श्रवण-मनन-निदिध्यासनका अन्तर्भाव स्वीकारा गया है.

इसी तरह फलस्वरूप के विवेचनमें प्रयुक्त "शुद्धे चित्ते स्वयमेवाविर्भूतस्य स्वप्रकाशस्य सायुज्यं परमपुरुषार्थः" शब्दावलीके बारेमें भी यह अवधेय है कि महाप्रभुके मतमें अक्षरब्रह्मसायुज्य तथा पुरुषोत्तम (कृष्ण) सायुज्य में तारतम्य स्वीकारा गया है (द्रष्टव्य : त. नि. भा. ४।१५५) यहां कृष्णसायुज्यको उत्कृष्ट गिना गया है. सेवाफल तथा सुबोधिनी के अवलोकनसे कृष्णसायुज्यसे भी अलौकिकसामर्थ्य तथा सेवोपयोगिदेहवैकुण्ठादिषु अर्थात् तनुनवत्व और नवतनुत्व रूप फलोंको उत्कृष्ट माना गया है. ऐसी स्थितिमें या तो महाप्रभुको अभिमत इस मुक्तितारतम्यके सिद्धान्तका प्रत्याख्यान करना पड़ेगा, या अन्यत्र विवक्षित माननेपर भी यहां ब्रह्मसूत्रोंमें उसे अविवक्षित माननेपर, "एतच्चतुष्टयम् एकवाक्यतापन्नं प्रमाजनकम्" के सिद्धान्तको तिलाञ्जली देनी पड़ेगी.

प्रभुचरण-प्रपूरित भाष्य इन दोनों आपत्तिओंसे बचते हुवे सूत्रोंकी व्याख्या करनेका प्रयास है, यह निःसन्दिग्धतया कहा जा सकता है.

षष्ठ आक्षेप तथा समाधान

(आ.) एक आक्षेप यह भी किया जा सकता है कि प्रमाणचतुष्टयमें अन्तिम तथा सर्वसन्देहवारक होनेसे सूत्रगत सन्देहोंका निराकरण भागवतके आधारपर किया जाना चाहिये था जबकि प्रभुचरणकृत भाष्यपूर्तिमें भागवतवचनोंमें अथवा तन्मूलक धारणाओंमें उठते सन्देहोंका निवारण सूत्रके आधारपर किया गया है. यह महाप्रभुको अभिप्रेत क्रमसे विपरीत है. वैसे भी वेदशाखाविभाजनके बाद तथा महाभारत तथा इतरपुराणों के प्रणयनके बाद भागवतप्रणयनार्थ वेदव्यास प्रवृत्त हुवे थे. अतः सूत्राधिकरणांगतया भागवतके वचन या सिद्धान्त विषयवाक्य नहीं बन सकते.

(स.) सिद्धान्ताभिमत इतिहासके अनुसार भी सूत्रकारसे बहुत बादमें प्रकट होनेवाले बौद्धादि मतों तथा शांकर मत का निवारण भी जब सूत्रोंद्वारा किया जाना स्वीकारा जाता है; और स्वयम् महाप्रभु भी स्वीकारते हैं,[1] तब भागवत और सूत्र के कर्तामें भेद तो सिद्धान्ताभिमत है नहीं. "दर्शनाच्च (३।२।२१)" सूत्रके भाष्यमें स्वयम् महाप्रभु भी "चकाराद् उलुखलबन्धनादि प्रत्यक्षमेवोभय-साधकं दृष्टमिति" कहकर सूत्रघटक चकारद्वारा भागवतके उलुखलबन्धनप्रसंगको विवक्षित मानते हैं. उस स्थितिमें सर्वसन्देहवारक चतुर्थ भागवतको स्वयम् महाप्रभु भी तृतीय कोटीमें स्थापित कर रहे हैं.

सिद्धान्ततः प्राथम्य वैसे तो श्रौत वचनोंका है, जिसके सन्देहवारणार्थ उत्तरोत्तर गीता—सूत्र—भागवत प्रवृत्त हुवे हैं, इसका अर्थ यह नहीं कि पूर्वशास्त्रके किसी वचनमें उत्तरशास्त्रका कोई अर्थ विवक्षित नहीं हो सकता. गीतामें जैसे "ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिः विनिश्चितैः (गीता १३।४)" उपलब्ध होता है उसी तरह ब्रह्मसूत्रमें भी "अपिस्मर्यते (१।३।२३)" वचनद्वारा गीताकी भी पूर्वसिद्धता द्योतित होती है.

---

१. द्रष्टव्यःसर्वज्ञेन हि वेदव्यासेन भाविमिथ्यात्वनिराकरणेन इदम् आरब्धम्(अणुभा.१।३।१५)

महाप्रभुके अनुसार तो वेदोंकी शब्दराशिकी तरह पुराणोंकी भी शब्दराशि नित्य है, तथा 'वेदव्यासप्रणीत' कहनेका अर्थ भी, मन्त्रद्रष्टा ऋषिओंद्वारा समाधिमें दृष्ट उन वेदमन्त्रोंकी, उपलब्धिकी तरह ही समझना चाहिये. नूतन निर्माणके अर्थमें नहीं. अतएव महाप्रभु कहते हैं—"पुराणं वेदवत् पूर्वसिद्धं.... नित्यम् इति अर्थः (त. नि. स. ४८)."

अतः उपनिषदर्थनिर्धारणार्थ असम्भावना-विपरीतभावनारहित अधिकारिओंकेलिए तो स्थूणाखननन्यायेन "एतच्चतुष्टयम् एकवाक्यतापन्नं प्रमाजनकम्" आदर्श अपेक्षित है. जबकि असम्भावना-विपरीतभावना रूप सन्देहादिसे कलुषित चित्तवाले अधिकारिओंकेलिए "उत्तरं पूर्वसन्देहवारकम्" आदर्श समुचित होगा ऐसा भी कहा जा सकता है.

सप्तम आक्षेप तथा समाधान

(आ.) कुछ लोगोंका कहना है कि सिद्धान्ततः सुसंगत होनेपर भी प्रभुचरणकी लेखनशैलीमें महाप्रभुके जैसा दार्शनिक गाम्भीर्य नहीं झलकता है.

(स.) कुछ न कुछ दोष तो कहीं भी खोजे जा सकते हैं. महाप्रभुकी लेखनशैलीमें भी न्यूनपदता अस्पष्टता आदि दोष आलोचकोंने खोजे हैं. "भिन्नरुचिर्हि लोकः!"

अष्टम आक्षेप तथा समाधान

(आ.) एक महानुभाव वक्ताको एक बार निजी वार्तालापमें हमने यह कहते सुना कि हम पुष्टिमार्गके अनुयायी तो श्रद्धावश प्रभुचरणकी भागवतावलम्बिनी विचारशैलीको उचित मान लेंगे परन्तु आधुनिक विश्वविद्यालयोंके विद्वान् अन्वेषकों तथा प्राध्यापकों की गोष्ठीमें इसे मान्यता दिलवाना जरा कठिन काम है!

(स.) मुझे श्रीरामानुज मतके विद्वान् श्रीवेदान्तदेशिककी एक उक्ति याद आती है :

मीमांसायाः कबन्धं कतिचन जगृहुः राहुकल्पं शिरोन्ये
किन्तैरन्तर्विरोधप्रमुषितमतिभिः बाह्यकल्पैः भ्रमद्भिः।
स्वाध्यायाध्यायकार्त्स्न्ये स्वविधिपरविधिप्रेरणा तावदास्तां
कृत्स्नापातप्रतीतौ किमिति कृतधियः कृत्स्नचिन्तां न कुर्युः॥

अर्थात् कुछ लोग शास्त्रमीमांसाके केतुके जैसे धडकी उपासना करना चाहते हैं, जबकि दूसरे केवल राहूके जैसे मस्तककी उपासना करना चाहते हैं. ये दोनों ही अन्तर्विरोधग्रस्त विचारधाराओंमें फंसे अशास्त्रीय मतोंके कारण भ्रान्त हैं. क्योंकि "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" श्रुतिवचन यदि पूर्वोत्तर दोनों काण्डोंके अध्ययनका विधान करता है तो मीमांसा भी दोनों काण्डोंके अर्थोंकी करनी चाहिये.

यद्यपि श्रीवेदान्तदेशिकका तात्पर्य पूर्वोत्तरमीमांसाको एकशास्त्र सिद्ध करनेका है, फिर भी उसी बातको "प्रमाणं चतुष्टयम्" की एकशास्त्रताके रूपमें थोड़ी देरकेलिए ले लिया जाये तो हमारी बात समझनेमें कठिनाई नहीं होगी. अन्तर्विरोधग्रस्त बाह्य विचारधाराओंसे प्रभावित विश्वविद्यालयीय आधुनिक लेखकोंको हमारी प्राचीन परम्परावादी मान्यता स्वीकार्य न हो तो उनसे मनवानेके मोहसेवनकी क्या आवश्यकता है?

संविधानमें सौ बार संशोधन करनेपर भी उसका एक अखण्डित प्रामाण्य माना जाता है. बायबलप्रामाण्यवादी ईसाईओंकेलिए भी बायबलके पूर्वकाण्ड (ओल्ड टेस्टामेन्ट) तथा उत्तरकाण्ड (न्यू टेस्टामेन्ट) का प्रामाण्य अखण्डित माना जाता है. अद्यावधि पोप यदि अपने पदाधिरूढतया कोई घोषणा करते हैं तो पूर्वविरुद्ध होनेपर भी ईसामसीहके आदेशवत् ही उन्हें प्रमाणतया मान्य किया जाता है. ये सारे के सारे उत्तरोत्तर-सन्देहवारक प्रामाण्यवादकी धारणापर अवलम्बित प्रकार हैं.

यह तो ठीक है कि एक ईसाई या हिन्दू जैसे अपनी परम्पराका प्रामाण्य स्वीकारेगा वैसे अन्य धर्मकी परंपराका प्रामाण्य स्वीकार नहीं कर पायेगा. संविधानके उत्तरोत्तर संशोधनोंका प्रामाण्य हठात् स्वीकारने पर भी धार्मिक शास्त्रोंमें वैसा भाव किसी अधार्मिकका जग नहीं पायेगा. यह सब तो समझमें आनेवाली बात है. परन्तु प्रमाणचतुष्टयान्तर्गत प्रत्येक शास्त्रको प्रमाण मान कर प्रवचन करनेवाला वक्ता यदि चारोंकी एकवाक्यताके प्रयासमें सन्देह करने लग जाये तो बात फिर समझमें आनी बन्द हो जाती है.

रही बात आधुनिक विद्वानोंकी तो उन सभीका कोई एक मत तो है ही नहीं. किसीके अनुसार भागवत छठी शताब्दीमें वेदव्यासके नामसे दक्षिण भारतमें लिखा गया ग्रन्थ है. भागवतप्रतिपाद्य श्रीकृष्णावतार आजसे पांच हजार वर्ष पूर्व वस्तुतः हुवा था कि नहीं इसपर भी आधुनिक विद्वानोंमें एक राय नहीं है. अणुभाष्यके इस आद्य संस्करणके सम्पादकके आत्मज विश्वविख्यात इतिहास-

विद् द्वारकाके उत्खननद्वारा उपलब्ध सामग्रीके अध्ययनके बाद भी द्वारकाधीश श्रीकृष्णकी ऐतिहासिकताको सन्दिग्ध ही मानते हैं. बहुतसे इतिहासविद् भागवतकार तथा ब्रह्मसूत्रकार व्यास एक ही हैं ऐसा स्वीकारनेको उद्यत नहीं. वेदव्यास तथा बादरायण को श्रीशंकराचार्य कहीं एक व्यक्तिके रूपमें स्वीकारते नहीं हैं, अतः दोनोंको एक माननेकी धारणा शंकरोत्तरकालकी देन हैं, ऐसा भी कुछ विद्वान् कहते हैं. समग्र ब्रह्मसूत्र एक ही व्यक्तिकी रचना है, यह भी सन्दिग्ध माना जाता है. क्योंकि प्रारम्भमें केवल छान्दोग्योपनिषद्के ही सूत्र थे जिन्हें बढ़ा-चढ़ाकर समग्र उपनिषदोंके बारेमें बना दिया गया है. वस्तुतः तो विभिन्न उपनिषद् भी विभिन्न कालकी उपज होनेसे विभिन्न विचारधाराके प्रतीक हैं, जिनपर एक तरहकी मान्यता थोपना उनसे खिलवाड़ है ऐसा भी कई आधुनिक विद्वान् मानते हैं. गुजरातके प्रसिद्ध विद्वान श्री के. का. शास्त्री महाभारतमें गीताके मूल सौ श्लोकोंको प्रक्षिप्त मानते हैं तथा उन सौ श्लोकोंमें पुनः छह सौ श्लोकोंको प्रक्षिप्त मानते हैं. प्रसिद्ध संस्कृतभाषाविद् फादर एस्टेला ऋग्वेदके भीतर भी मूल मन्त्रकर्ता तथा संहिताकार ऋषियोंके बीच अन्तरालवश अविच्छिन्न शब्दानुपूर्वीके सिद्धान्तको स्वीकारते नहीं हैं जबकि इसी सिद्धान्तपर तो हमारा वेदप्रामाण्यवाद टिका हुआ है.

इन विद्वानोंकी सहमति प्रभुचरणकृत भागवतोपजीवनपर मिल भी गयी तो सर्वनाशी मूलोच्छेदके बाद फल कब तक प्राप्त हो पायेगा ? कहीं इनकी सहमति प्राप्त करनेके मोहमें स्वयम् हमारे मनके भीतर हम भी भागवतको अप्रमाण माननेकी कोई परत तो संजोये हुवे नहीं बैठे हैं ? यह हमें भी भीतर झांक कर एक बार देख लेना चाहिये !

महाप्रभु कहते हैं—

इदमेव विनिश्चित्य कृष्णो ह्यर्जुनमब्रवीत् ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥
एवकारेण सर्वेषामनुपायत्वमाह हि ।
ज्ञानादीनां हि सर्वेषां तदधीनत्वतः सदा ।
विश्वासं सर्वतस्त्यक्त्वा कृष्णमेव भजेद् बुधः ॥
आपाततस्तु सर्वेषामुपायत्वं मयोदितम् ।
विष्णोः कृपाविशिष्टानां तत्फलं नान्यथाभवेत् ॥

(त. नि. स. ३०४–३०७)

प्रभुचरण तो महाप्रभुके इस उपदेशसे सर्वथा प्रतिबद्ध है. परन्तु जब तक हम इस तरह प्रतिबद्ध न हो पायेंगे तब तक न महाप्रभु और न प्रभुचरण के ही लेखनकी पृष्ठभूमिमें रही भावनाओंसे हम परिचित हो पायेंगे. किमधिकम्....

प्रस्तुत संस्करण वि. सं. १९८४–८५ में श्रीमूलचन्द्र तेलीवालाके सहयोगिजनों श्रीधीरजलाल सांकलिया प्रभृतिने सम्पादित कर सेठ गोवर्धनदास सुन्दरदासद्वारा प्रकाशित करवाया था. प्रस्तुत द्वितीय संस्करण ऑफसेट प्रोसेस द्वारा उसका ही पुनर्मुद्रित रूप है. वह दो भागोंमें मुद्रित हुवा था तथा सम्पादकीय दोनोंके अन्तिम पृष्ठोंमें दिये गये थे. हमने उन्हें प्रारम्भमें समायोजित किया है. मध्यमें मुद्रित परिशिष्टको हमने ग्रन्थान्तमें योजित किया है. इस सामान्य परिवर्तनके अलावा सभी कुछ यथावत् है. अध्येताओंकी सुविधाके हेतु पूर्वप्रकाशित प्रथमाध्यायकी तरह हमने इस अध्यायमें भी अनुक्रमणिका नूतनतया योजित की है. प्रबल इच्छाके बावजूद प्रकाशनगतिमें अपेक्षित वेग नहीं आ पाता है. फिर भी द्वितीयाध्याय तथा तृतीयाध्याय का प्रकाशन भी इसी तरह महाप्रभु-प्रभुचरणकी कृपासे सत्वर हो, ऐसे मनोरथके साथ....

रामनवमी
वि. स. २०४१

गोस्वामी श्याममनोहर

श्रीकृष्णाय नमः

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः

॥ असौत्रताशंकानिरासवादः ॥

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विट्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान्।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति ॥ १ ॥

वागर्थाविव राजेते ग्रन्थकृष्णौ हि यन्मुखे।
यत्कारं तं विभुं वन्दे तद्वागर्थोपलब्धये ॥ २ ॥

श्रीवल्लभमताभ्यासे कृपया येन दीक्षितः।
दीक्षितं तमहं नौमि श्रीतातचरणं सदा ॥ ३ ॥

स्वेषु पुष्टिकरं कारादैत्यबुद्धितमस्करम्।
नमस्करोमि तं श्यामं सुन्दरं मलियङ्करम् ॥ ४ ॥

भुवि भागवतस्याविष्करणप्रेरणात्पुरा।
सूत्रेषु भगवद्भक्तेः भक्तानां फलसाधने ॥ १ ॥

विवक्षुरपि नावोचद् भगवान् बादरायणः।
शब्दशस्तेषु भाष्येस्मिंस्तद्धकारं नमाम्यहम् ॥ २ ॥

पुष्टिमर्यादयोर्भेदः फलसाधननिर्णये।
असौत्र इति केषाञ्चिन्मतिरल्पदृशामिह ॥ ३ ॥

श्रीमत्प्रभुकृते भाष्ये तदज्ञानं निवार्यते।
उभयाचार्यवन्मार्गे मा भूद् भ्रान्तो हि कश्चन ॥ ४ ॥

प्राक्सृष्टेर्हि यथाऽभेदो ब्रह्मणस्तत्त्वतः श्रुतः।
जडजीवौ ततो भिन्नावात्मन्येवात्मना कृतौ ॥ ५ ॥

फलसाधने तथा ज्ञानभक्त्योर्नोक्ते हि शब्दशः।
तारतम्येन सूत्रेषु प्राक्समाधेः विवक्षुणा ॥ ६ ॥

ज्ञानावतारव्यासेन प्रोक्ते भागवते ततः।
विवक्षैक्येपि हि तयोः शब्दभेदोवभासते ॥ ७ ॥

तत्राग्रहिलताज्ञस्य भेदे ब्रह्माविजानतः।
भेदं पश्यन्नप्यभेदं श्रुतिज्ञो मनुते यथा ॥ ८ ॥

तथा भागवतात्सूत्रं मूर्खो भिन्नं तु पश्यति।
वेदान्तकोविदो वेत्ति शब्दभेदेप्यभिन्नताम् ॥ ९ ॥

वक्तुर्व्यासस्य तात्पर्यं तूभयत्रावधार्य हि।
भक्तानां दशमोक्तानां साधनानि फलानि च ॥ १० ॥

अन्त्याध्यायद्वये भाष्यकृताप्याविष्कृतानि हि।
ननु सूत्रेष्वनुक्तानामर्थानां स्फोरणादिह ॥ ११ ॥

असौत्रं भाष्यमित्येषा ह्यापत्तिर्महती स्फुटा।
इति चेत्
तत् न वै युक्तं तथा लोकेपि दर्शनात् ॥ १२ ॥

कयाचित्कस्यचिद्वक्तुः स्वाभिप्रायप्रकाशने।
श्रोतावधार्याऽसामर्थ्ये तद्वाक्यं पूरयत्यपि ॥ १३ ॥

ऊहश्चैतादृशो नैव लोकेऽपार्थ उदीर्यते।
वक्त्रनुक्तत्वमात्रेण नायमूहो निरर्थकः ॥ १४ ॥

सोयमूहः स्वतन्त्रो नो किन्तु भागवताश्रितः।
न चाप्रामाणिकस्तस्माच्छास्त्रप्रामाण्यवादिने ॥ १५ ॥

"पराशर्य महाभाग भवतः कच्चिदात्मना।
परितुष्यति शारीर आत्मा मानस एव वा ॥

जिज्ञासितमधीतं च यत्तद् ब्रह्म सनातनम्।
तथापि शोचस्यात्मानमकृतार्थ इव प्रभो ॥" (भाग, १।५।२-४)

इत्येवं नारदेनात्र पृष्टः प्राह स्वयं मुनिः।

"अस्त्येव मे सर्वमिदं त्वयोक्तं
तथापि नात्मा परितुष्यते मे ।
तन्मूलमव्यक्तमगाधबोधं
पृच्छामहे त्वात्मभवात्मभूतम् ॥" (भाग. १।५।५)

तदा तत्र समाधानं नारदेनानुवर्णितम् ॥ १६ ॥

"अथो महाभाग भवानमोघदृक्
शुचिश्रवाः सत्यरतो धृतव्रतः ।
उरुक्रमस्याखिलबन्धमुक्तये
समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम् ॥

ततोऽन्यथा किञ्चन यद् विवक्षतः
पृथग्दृशस्तत्कृतनामरूपभिः ।
न कुत्रचित्क्वापि च दुःस्थिता
मतिर्लभेत वाताहतनौरिवास्पदम् ॥" (भाग. १।५।१३–१४)

तस्मादेतेषु सूत्रेषु चेदन्यद् वर्णितं यदि ।
तेनैव दुःस्थिता नूनं मतिस्स्यान्नात्र संशयः ॥ १७ ॥

अतस्तदनुसारित्वं फलसाधननिर्णये ।
विवक्षैक्यवशात्प्राह प्रभुः श्रीविट्ठलेश्वरः ॥ १८ ॥

उपलब्धं भवेद् भाष्यं श्रीमदाचार्यनिर्मितम् ।
श्रीमत्प्रभुकृतान्नूनं भिन्नं स्यादिति जल्पताम् ॥ १९ ॥

सिद्धान्तज्ञानशून्यानां स्वयं पण्डितमानिनाम् ।
दुर्बोधायाः सुबोधिन्याः शब्दमात्रविदामिह ॥ २० ॥

तत्रेदमेव पृष्टव्यमरूपेत्यादि (३।२।१४) सूत्रगम् ।
भाष्यं सुबोधिनीस्थेन (१।३।३०) पदार्थेन विरुध्यते ॥ २१ ॥

का गतिस्तत्र कर्त्रैक्ये कर्तृभेदेऽपि सा गतिः ।
अन्येषामपि भाष्येषु यथा वर्णकभेदतः ॥ २२ ॥

अर्थद्वयांगीकारेण सूत्रैक्येऽपि तथा भवेत् ।
भाष्ये यद् वर्णितं श्रीमत्प्रभुभिस्तन्न भिद्यते ॥ २३ ॥

दशमस्य सुबोधिन्यां श्रीमदाचार्यवर्णनाद् ।
फलसाधनसिद्धान्तादभीष्टादुभयोः सदा ॥ २४ ॥

नन्वस्मिन्विषये काश्चिच्छंकाः सन्त्यसमाहिताः ।
सूत्रानन्तरजातत्वात्[1] तद्व्याख्यानतयाऽपि[2] च ॥ २५ ॥

सूत्रेषु क्वापि हेतुत्वेनानुपन्यासतस्तथा[3] ।
स्मृतेरिव तथान्यैश्चाचार्यैरग्रहणादपि[4] ॥ २६ ॥

सूत्राधिकरणांगत्वेनानुक्तत्वादपि[5] स्फुटम् ।
पुरुषस्यौपनिषदस्य पृष्टव्यस्य च वर्णनात् ॥ २७ ॥

श्रुतौ पौराणिकस्यात्र कथं वर्णनमुच्यते[6] ।
वेदान्तसम्प्रदायानां प्रस्थानत्रयवादिनाम् ॥ २८ ॥

पौराणिकः प्रमेयश्चेत् पुराणे स्यात्प्रमाणता ।
कर्तृसन्देहतश्चापि तथा भागवतस्य च ॥ २९ ॥

प्रामाण्यमपि सन्दिग्धं[8] प्रोक्तैर्हेतुभिरष्टभिः ।
श्रीमत्प्रभुकृतं भाष्यं तस्मात्स्यादसमञ्जसम् ॥ ३० ॥

अत्र ब्रूमो वयं हेतुः प्रथमो दुष्ट एव हि ।
आनन्तर्यं त्वन्यथैव नेयं नित्यत्ववर्णनात् ॥ ३१ ॥

'अनुस्मरे' ति पदतः नारदोक्तौ सनातनम् ।
नूनमेतत्पुराणं तु सिद्धं कुर्विंत्यभावतः[1] ॥ ३२ ॥

व्याख्येयकोटौ व्याख्यानस्थापनं यदिहोदितम् ।
व्याख्याप्रामाण्यतो ह्येतद् व्याख्येयनयनं मतम् ॥ ३३ ॥

एककर्तृतया तत्र दोषो भाव्यो न कश्चन[2] ।
निखिलाचार्यभाष्येषु स्मृत्यादिपदतो वयम् ॥ ३४ ॥

पुराणोक्तिविवक्षां किं क्वचिन्नोपलभामहे ?
तेन नेह मतौ हेतू द्वितीयोत्तरभाविनौ[3-4] ॥ ३५ ॥

सूत्रमान्यश्रुतौ स्पष्टं पुराणं वेदवन्मतम्[५] ।
शेषमंगांगिभावेन शास्त्रयोनौ परे तु तत्[६] ॥ ३६ ॥

वेदान्तसम्प्रदायानां प्रस्थानत्रयवादिनाम् ।
प्रस्थानत्वञ्च प्रामाण्यं नैव चैकमिति स्थितिः ॥ ३७ ॥

नोचेच्छास्त्रेषु भूयान् हि भागो वैयर्थ्यमाप्नुयात् ।
श्रीमद्भागवतस्यात्र प्रामाण्यादिकृते पुरा ॥ ३८ ॥

नरोत्तमैः बहूपक्रान्तत्वान्नेह वितन्यते[८] ।
सर्वं समञ्जसं तस्मात् श्रीमत्प्रभुकृताविह ॥ ३९ ॥

असमञ्जसैका बुद्धिः सा याऽसमञ्जसमीक्षते ।
उभयाचार्यवन्मार्गे मा भूद् भ्रान्तो हि कश्चन ॥ ४० ॥

इत्येवं साधनाध्याये फलाध्याये च शंकिता ।
असौत्रता स्वमार्गीयैरपि सा खण्डिता मया ॥ ४१ ॥

गोस्वामिना श्याममनोहरेण
श्रीविठ्ठलेशांघ्रिरजोधनेन ।
तोषं कुबोधं विलयाय नीतं
भाष्ये तदीयैककृपाबलेन ॥ ४२ ॥

॥ इति श्रीगोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचितः साधनफलाध्याययोः असौत्रताशंकानिरासवादः ॥

INTRODUCTION.

By the Grace of God we are able to put before the public the third and the fourth pādas of the Fourth Adhyâya, together with the charming रश्मिपरिशिष्ट of भक्तिमार्गीय रूपसन्निधान and फलदानादि on 3. 3. 16, revealing how God (रसो वै सः) becomes manifest before His भक्त in पुष्टिमार्ग, and what sort of फल the भक्त gets. Unfortunately seven pages of the manuscript are missing, and hence we have lost the description of some of the subjects mentioned in the contents.

The delay in the publication of this Volume is chiefly due to the extreme difficulty of deciphering the परिशिष्ट, in which additions and interlineations have been made by the author on almost all the pages and on all the sides of the margin so closely, that it is almost impossible to read them and to put them in their proper places; and in spite of our devoting as much labour as we could, we had unavoidably to leave out some words which could not be deciphered.

Shastri Kalyanji Kanji has rendered us very valuable assistance in carrying this edition through the press and has often solved knotty points for which our hearty thanks are due to him. We have also to thank Prof. Maganlal Ganpatiram Shastri, M. A., of the Deccan College, Poona for the willing co-operation and help in the solution of difficulties.

Both the साधन and the फल अध्याय's are now before the public, and in order that the reader may get a clear view of both, he must acquaint himself with some of the षोडश ग्रन्थाः of श्रीवल्लभाचार्य, such as सिद्धान्तमुक्तावली, भक्तिवर्धिनी, निरोधलक्षण, सेवाफल, and पुष्टिप्रवाहमर्यादा. He will get very valuable help in understanding the subject by a clear grasp of these small works. As श्रीपुरुषोत्तमजी's अधिकरणमाला gives a beautiful summary of all the अधिकरण's, we refrain from repeating the same.

Attention of the reader has already been drawn in our note to the previous volume (४ अ. १. २. पा.) to the difference in the interpretation of some सूत्र's as between श्रीमद्वल्लभाचार्य and श्रीविठ्ठलेश्वर. This difference will be found in विद्वन्मण्डन also, where the interpretation of the सूत्र's quoted differs from that of श्रीवल्लभाचार्य. This may perhaps be due to the आधिभौतिक standpoint taken up by श्रीवल्लभाचार्य following वेदव्यास, and आधिदैविक standpoint taken up by श्रीविठ्ठलेश्वर. This idea is suggested to us by the very lengthy and beautiful addition to the आनन्दमयाधिकरण made by श्रीविठ्ठलेश्वर, giving the आधिदैविक interpretation. The रश्मिकार श्रीगोपेश्वरजी states in 2-3-50 as under:—

अत्र श्रुतेर्यं यत् प्रतीयेतेति भागवतोक्तमायापक्षो नास्ति, तस्य लक्ष्मणभट्टात्मजवल्लभविरचितत्वेन आधिदैविकमतत्वात् । अस्य वेदव्यासमतवर्तिवल्लभाचार्यमतत्वेन आधिभौतिकत्वात् । एतेन अपरितोषे श्रीभागवतकरणात् । निबन्धे आध्यात्मिकमतम्, विष्णुस्वामिमतवर्तिवल्लभाचार्यविरचितत्वात् । यमुनाष्टकादि तु स्वमतम्, निर्गुणम्, मुख्या परमार्थः तत्प्रतिपादकम्, मुख्यं च । स्वनाम्ना तु मुख्यत्वमित्यभियुक्तोक्तेः । 'इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितं यमुनाष्टकं सम्पूर्णमिति'इति श्रीकथनात् । रश्मि २-३-५०.

We invite the scholars of the सम्प्रदाय as well as others to study these works with devotion, and with a view to approach the Presence of God, for which they have been intended. The generality of people go in the wrong direction because पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः, तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्, and because मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये. It is only in this भारतवर्ष that people were engrossed so much in religion, for which men like Emerson, Carlyle, Max Muller and many others have lavished praises over it; but here also काल has been rapidly doing its work, and the contact with materialism and आसुरत्व of the West has hastened this change. We have therefore to be very careful, and in all our religious studies we should never miss the goal viz. the Presence of God. We are thankful to many Western Oriental Scholars for the vast amount of labour devoted by them to the study of Sanskrit literature, Vedic and modern. They have approached the subject also very sympathetically, but partly on account of their being strangers unacquainted with our manners and customs with their roots buried in the hoary past, partly on account of partiality for their own Christian religion, partly due to the Doctrine of Evolution which looks upon ancient things in quite a different light, partly on account of want of श्रद्धा, and finally on account of a difference in the idea of civilisation,—the west being generally engrossed in finding fresh means of material comforts and gratification of the senses, and not caring for the vision of God, Who lies deeply buried in the heart,—we have to be very cautious in accepting their premises and their conclusions. Even a sympathetic man like Prof. Max Muller, after his lifelong study of Sanskrit literature opined that writing was unknown to Vedic ऋषिs. Again वेद means knowledge from विद् to know and ऋषि means a seer, from ऋष् to see. Do they implicitly believe that वेद contains true knowledge and that ऋषिs were Seers? If not, it can well be questioned whether the true meaning underlying these writings will ever be revealed to them. They only see the worship of the Sun and the Moon and elements such as Fire, Water etc. in these writings, and they imagine terror to be the root cause of this worship. We are inclined to ask them as to how many Saints and Sages of भारतवर्ष they believe to have got a vision of God, from Vedic Revelation up to the modern times.

One writer after another has written about श्रीवल्लभाचार्य and his System, and has condemned outright the sect of Maharajas. But both श्रीवल्लभाचार्य and श्रीविट्ठलेश्वर were so holy and learned that they were worshipped, as gods upon the Earth. At that very time another divine personage श्रीकृष्णचैतन्य was similarly worshipped in Bengal. They were all called महाप्रभुs, because they had साक्षात्कार of God, their mind was in tune with the Infinite and they were able to lead their followers into the Presence of God. Millions of men in Gujarat, Kathiawar, Sind, Rajputana, Muttra and Madras, including several princes, are followers of श्रीवल्लभाचार्य, and millions in Bengal and elsewhere are followers of श्रीकृष्णचैतन्य. Many of the descendents of श्रीवल्लभाचार्य have been great devotees and inspired authors, who have kept the torch of Hinduism burning for these four dark centuries. The latest of them पंडित गट्टूलाल—

blind from infancy, was the greatest scholar in वेदान्त of his age, had a wonderful mastery over मीमांसा, न्याय, व्याकरण, अलंकार and all kindred important subjects, was an extempore poet, a शतावधानी, and was the recipient of the title of भारतमार्तण्ड in the holy city of Benares, only about 40 years ago. The reader of these volumes can easily find out for himself the vastness and depth of learning of योगी श्रीगोपेश्वरजी who lived about a hundred years ago, in all branches of learning—वेद, वेदान्त, पूर्वमीमांसा, व्याकरण, न्याय, अलंकार, etc., who was deeply reverential to his ancestors, and calls himself पूर्णेश, कृतकृत्य and हरीश्वरक. None of the critics of the सम्प्रदाय ever read सुबोधिनी or निबन्ध, अणुभाष्य or विद्वन्मण्डन; भाष्यप्रकाश—that balanced criticism of all the available भाष्यs—they never heard of; and of the wonderful रश्मि they never dreamt. They never cared to inquire as to how the best among these महाराजs spent their lives in निरोध (प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्ति i. e. forgetfulness of the world and devotion to God only), and what their divine experiences were. They denounced one and all in the same strain, attributing to them all concievable vices and no virtue.

Now what is the फल in श्रीवल्लभाचार्य's doctrine? It is in a nutshell भगवत्प्राकट्य. In पुष्टिप्रवाहमर्यादा he says "भगवानेव हि फलं, स यथाविर्भवेद्भुवि." In निरोधलक्षण he says "क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत्, तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः". In सन्यासनिर्णय he says "बहिश्चेत् प्रकटः स्वात्मा वह्निवत् प्रविशेद्यदि, तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा." His son श्रीविट्ठलेश्वर says

श्रीवल्लभाचार्यमते फलं तत्प्राकट्यं, अव्यभिचारिहेतुः।
प्रेमैव तस्मिन् नवधोक्तभक्तिः, तत्रोपयोगोऽखिलसाधनानाम् ॥

Not to talk of सूक्तs which are prayers to various manifestations of God, the उपनिषद्s also clearly speak about दर्शन of God in आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानं ऐक्षत्, यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम् परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता. ब्रह्मसूत्रs also are very clear on this point. In आसीनः संभवात् (4-1-7) it is stated उत्कटस्नेहात्मकसाधनस्य संभवात् तत्पोषः संस्तवमे आसीनो भगवान् भवति. In ध्यानाच्च (4-1-8)...ध्यानादपि हृदि प्रकटः सन्नासीनो भवति. प्रदीपवदावेशाधिकरणे (4-4-4) 'भगवानपि स्वदत्ते मुक्तदेहे जीवेन सह प्रविश्य देहं सम्भोगरूपकार्यक्षमं करोति यतो ...र्तां सक्षिति महैसूत्रकारम्ममवे भगवतः क्रीडार्थं बहु... ...वा उक्तः। तेन एवं ज्ञायते क्रीडोपयोगिभगवद्देह एव फलानुभवोपकरणमिति (अधिकरणमाला). गीता also clearly mentions भगवत्प्राकट्यं, e. g., संभवामि युगे युगे, दर्शयामास परमं रूपं, आत्मानं सृजाम्यहम्. And भागवत is the invaluable treasure-house of भगवदवतारs. In this holy land of भरत, there have been so many भक्तs at various times and places with varied experiences about प्रभुप्राकट्य, that for a genuine seeker after truth, the evidence is simply overwhelming. नृसिंहमेहता and मीराबाई in the West, ज्ञानदेव, तुकाराम and रामदास in the South, कृष्णचैतन्य in the East and many others had all experienced प्रभुप्राकट्य in one form or another. The reader may refer to भक्तमाल and such other works in this respect. There are many anecdotes in this पुष्टिसम्प्रदाय about भगवत्साक्षात्कार, and the large mass of कीर्तन literature, yet unpublished, and the lives of भक्तs like सूरदास, कुंभनदास, चतुर्भुजदास, परमानन्ददास and others leave no doubt about भगवत्प्राकट्य right up to the modern times.

That this प्राकट्य is of रसो वै सः and it is not simply an emotion of the mind is clear from the following :—

श्रुतौ हि 'असद्वा इदमग्र आसीत्, ततो वै सदजायत, तदात्मानं स्वयमकुरुत, तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति यद्वै तत्सुकृतम्, रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवती'त्येवं पूर्वसृष्टेरसाधुत्वं, ततः सृष्ट्यन्तरस्य साधुत्वम्, साधुत्वे स्वात्मरूपत्वरूपं हेतुः, तस्य सुकृतत्वं, सुकृतस्य रसत्वं, रसस्यानन्दरूपता च बोधिता। तत्र यद्युद्बोधकादिप्रनाडी न विवक्षिता स्यात्, आत्मकरणं न वदेत्, यदि वा सर्वसामान्या स्यात्, पूर्वसृष्टेरसाधुत्वमनेकरूपतां च न वदेत्। यदि च रसस्य मनोविकारत्वं लौकिकत्वं वा विवक्षितं स्यात्, तदाप्यात्मकरणं आनन्दरूपत्वं च न वदेत्। अत उद्बोधकादिवैशिष्ट्यं श्रुतिसिद्धम्। तदेतदुक्तं तत्स्वरूपस्यैव तथात्वादित्यन्तेन। तथा च प्रनाड्यङ्गीकारेपि न भगवद्रूपत्वहानिरित्यर्थः। किञ्च, अनुकृत्यधिकरणे सर्वस्य भगवदनुकारित्वं 'तमेव भान्तमनु भाति विश्व'मिति विषयवाक्येन प्रतिपादितम्, अतः प्रकृतेपि यदि लौकिको रसः प्रतिपाद्यते, तदापि मूलरसानुकारितयैव तत्स्वरूपं सिध्यतीत्येतदृष्टान्तेन सोपि रसोनुमीयताम्। अयं लौकिकः परिच्छिन्नो, मात्रोपजीवनश्रुतेः, स त्वपरिच्छिन्नो, भूमत्वात्। तथा च लोकेऽनुकरणमात्रेण तदाभासस्यैव प्राकट्यम्, न तु तस्येति न जीवस्य तत्करणेपि न तद्रससम्बन्धलेशः। शास्त्रप्रणयनं तु दूरतस्तस्यैव परिचायनायेति तत्रैव स्फुटम्। वस्तुतस्तु पाद्मे पातालखण्डे रामाश्वमेधे शेषवात्स्यायनसंवादाद्भरतस्यैव वैष्णवत्वमवगम्यते। एवं भरतस्यापि, नाट्यशास्त्रज्ञातुर्मोक्षकथनात्। किञ्च, आञ्जनेयोपि प्रणेता नाट्यशास्त्रस्य। स च परमभक्तो जनकतनयाप्राणनाथस्य। अतस्तादृशां य एतावान् प्रयासः स न त्रिवर्गोपयोगितया जीवार्थः, अपि तूक्तरीत्या मोक्षसाधनतापर्यन्ततया। किञ्च, वात्स्यायनेन सांप्रयोगिकाधिकरणे 'ऋचां दशतयीनां चतुःषष्टिसंज्ञितत्वादिहापि तदर्थसम्बन्धात्पाञ्चालसम्बन्धाच्च बह्वृचैरेषा पूजार्थं संज्ञा प्रवर्तितेत्येक' इति सूत्रयता संप्रयोगाङ्गचुम्बनादीनामृगर्थत्वं प्रदर्शितम्। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य' इति श्रुतिस्मृतिभ्यां वेदस्य भगवत्परत्वं सिद्धम्। एवं सत्यस्य शास्त्रस्य तत्सामानाधिकरण्ये वेदवत् परोक्षवादेन लीलासहितभगवत्प्रतिपादकत्वं युक्तमेव। गान्धर्वस्य सामवेदोपवेदतया च। अत एवमर्थाज्ञातॄणां जीवानां भ्रान्तिरित्येतदाद्यभिसन्धायोक्तं तथेत्यादि, युद्धयस्वेत्यन्तम्। तस्मान्न कोपि शङ्कालेश इति दिक्।

(प्रकाश on भा. १०. ३०.१)

That this प्राकट्य is of परब्रह्म in पुष्टिमार्ग is clear from the three लीलाs, viz, जृम्भालीला, मृद्भक्षणलीला and दामोदरलीला. We may study various systems of religions from a historical point of view, we may try to fix exact dates of the various teachers and their systems, we may try to penetrate into the mysteries of various rites and ceremonies of differant religions, but what is the use of all these things if they do not lead us into the Presence of God! भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः, क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे. (मुण्डक.)

What are the साधनs for this भगवत्प्राकट्य? It is clear from पराञ्चि खानि that इन्द्रियs are of no use; on the contrary they are a hindrance. Giving up the world and concentration–कीटभ्रमरन्याय–has been generally considered the best method. But it too lacks प्रेम. In सन्न्यासनिर्णय श्रीवल्लभाचार्य says भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते; in शिक्षाश्लोकs he says भावस्तत्राप्यस्मदीयः सर्वस्वं चैहिकश्च सः, परलोकश्च. In भक्तिवर्धिनी he mentions प्रेम, आसक्ति

and व्यसन. In सिद्धान्तमुक्तावली he says कृष्णसेवा सदा कार्या. सेवा is defined as चेतस्तत्प्रवणं सेवा. This reminds us of मन्मना भव मद्भक्तः in गीता. In Anu-Bhâshya तृतीयाध्याय तृतीयपाद, this question is discussed 'यथा साक्षात्कारो भवति, तथा साधनमुपासनारूपं वक्तव्यम्। उपासनायां च क्रियमाणायां धारणासिद्धौ मानसी मूर्तिरभिव्यक्ता भवति। तत उपासनापरिपाके साक्षात्कारः.' In this connection प्रदानवदधिकरण 3.3.16–17, and लिङ्गभूयस्त्वाधिकरण 3.3.43-47, will be specially useful to understand श्रीवल्लभाचार्य's and श्रीविट्ठलेश्वर's view. When once God does become प्रकट, all the इन्द्रियs also get their highest फल, as is clear from अक्षण्वतां फलमिदम् etc. (वेणुगीतसु.)

That ब्रह्म and कृष्ण are not different is clear from the derivation of the word कृष्णः—'कृषिर्भूवाचकः शब्दः णश्च निर्वृतिवाचकः, तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते.' ब्रह्म comes from बृंह् to grow or increase, and the whole जगत् which has grown out of ब्रह्म is nothing but ब्रह्म itself, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म.' It is also called आत्मा from अत् to spread, अहिकुण्डलवत्. ब्रह्म is निःप्रकारकम्, while आत्मा signifies प्रकार. In either sense it is रस, रसो वै सः, and when रस becomes प्रकट, it is फलरूपकृष्ण. All the three words bear the same meaning from different points of view. All the three words ब्रह्म, आत्मा and रस etymologically imply परिणाम and that too in स्वरूप and not of शक्ति or शरीर or माया; therefore it cannot but be अविकृतपरिणाम. परिणाम can only be of something which is साकार, and this आकार is आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि. How this आकार becomes manifest is mentioned in रसनिष्पत्तिप्रकार in वेणुगीत (भागवत १०. १८. ८). That the reader may be able to connect it with the परिशिष्ट of श्रीगोपेश्वरजी, and have a faint vision of his meaning, this is quoted here in full.

चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्जमालानुपृक्तपरिधानविचित्रवेषौ।
मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां रङ्गे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ ॥८॥

केवलं रसरूपमाह चूतेति।

सु०—चूतानामाम्राणां प्रवालाः कर्णयोः, बर्हस्तबकाः बर्हगुच्छानि शिरसि, उत्पलाब्जानां माला कण्ठे, तैरनुपृक्तं मिलितं परिधानं पीताम्बरादिवस्त्राणि तैर्विचित्रो वेषो ययोः। एतादृशावुभावपि पशुपालगोष्ठ्यां मध्ये विरेजतुः। रसाभिनयेवतारवदेवावेशस्याप्युपयोगाद् द्विवचनम्।

गुणा माया च वेषार्थमुपयुक्ता भवन्ति हि। अतो रसस्याभिनये चत्वारोर्था निरूपिताः ॥ १ ॥
रसरूपसुगन्धानां प्रतिष्ठा त्रिषु निश्चिता। धर्म्याच्छादनबोधाय मायाप्यत्र निरूप्यते ॥ २ ॥
वस्तुनिर्देशमात्रेण श्रोतॄणां काव्यवद् रसः। रसवत्फलबोधाय प्रथमं पल्लवो मतः ॥ ३ ॥
शास्त्रार्थस्य परिज्ञानाद् भावस्य कलिका भवेत्। ततस्तस्य च वैचित्र्यं पुष्पस्थानमिहोच्यते ॥ ४ ॥
अहोरात्रं त्वासना स्यात् तत आच्छादनं स्मृतम्। रसोत्पत्त्यर्थमेतावन्निरूपितमितिस्थितिः ॥ ५ ॥
आविर्भावे रसास्वादान् नृत्यं शोभा ततो भवेत्। अतोतिगुप्तो भगवान् रसत्वं प्रतिपद्यते ॥ ६ ॥

विचित्रवेषाविति सर्वरसाभिनिवेशनार्थम्। त्रयाणामन्योन्यगुणप्रधानभावे नव रसा भवन्ति। एवं रसरूपं भगवन्तं निरूप्य तद्रसपोषकौ समाजे वाद्यगीतविशेषौ निरूपयति

मध्ये विरेजतुरिति । पशुपालानां गोष्ठी नात्यन्तं गूढा । तेन रसस्य सुलभत्वं निरूपितम् । मध्ये गीतवाद्ययोः । त्रयाणां समानतैव सर्वोत्तमा । नृत्यस्य तु विशेषः प्रायिक एवेति तदेवोक्तम् । कादाचित्कनिषेधार्थमलमिति । शास्त्रमत्र नियामकं न भविष्यतीत्याशङ्क्याह दृष्टान्तं रङ्गे यथा नटवराविति । रङ्गः शास्त्राधारभूतं स्थानम् । रङ्गमण्डपे यथा नटौ शास्त्रार्थानुसारिणौ भवतः । अलौकिकनाट्यार्थं वरपदम् । एवं राजसभावनृत्यमुक्त्वा सात्त्विकभावनृत्यमाह क्व च गायमानाविति । देशविशेषे हस्ताभिनयमात्रपूर्वकं श्रमरहितं गानं कुरुतः । एतदपि लोकप्रसिद्धम् ॥८॥

टि०—चूतप्रवालेत्यत्र—त्रयाणामन्योन्यगुणप्रधानभाव इति । स्थायिभावव्यभिचारिभावविगाढभावानामित्यर्थः ॥ ८ ॥

प्र०—चूतप्रवालेत्यत्र—वरपदातिरिक्तं पूर्वार्धमनेन विभिवत इत्याशयेनाहुश्चूतानामित्यादि । तेन कर्णिकारोपरि पल्लवा अपि स्थापिताः सन्तीति बोध्यम् । वैजयन्ती च वनमाला बोध्या । ननु केवले रसे निरूपणीये 'बर्हापीडं नटवरवपु'रितिश्लोकोक्तवरपदातिरिक्तलौकिकानुभवबोधकश्लिष्टवचनस्य किं प्रयोजनमित्यत आह रसाभिनय इत्यादि । अवतारवदिति । यथावतारे भूभारहरणादिना भगवत्प्रियकर्तृत्वेनोपयोगस्तथा रसाभिनये सहस्थितिप्रशंसादिभिः प्रियकर्तृत्वानुपयोग इति तथेत्यर्थः । पल्लवादिनिरूपणप्रयोजनं कारिकाभिराहुर्गुणा माया चेत्यादि । अत्रेदं ज्ञेयम् । 'नाट्यशब्दो रसे मुख्यो रसाभिव्यक्तिकारणम् । चतुर्धाभिनयोपेतं लक्षणावृत्तितो बुधैः । नर्तनं नाट्यमित्युक्त'मिति सङ्गीतरत्नाकरे नाट्यशब्दार्थकथनात् तन्मूलभूतार्थग्रन्थेष्वप्ययमेवार्थ इति ज्ञायते । अत्र रसे योगोप्यस्ति नटितुमभिनेतुं योग्यं नाट्यमिति । अर्हे कृत्यस्य यतो भवनात् । तेन योगरूढः । एवञ्च 'व्यायश्चानेकशब्दत्व'मिति जैमिनीयस्त्रैकस्यार्थस्यैकशब्दवाच्यत्वनियमावधारणात् धर्मविशेषपर्यवसानस्यैव न्याय्यत्वेन नर्तनाभिव्यङ्ग्यचतुर्धाभिनयविशिष्टरसवाचकत्वमिति सिध्यति । नर्तनेनापि यदा नटस्य भावः कर्म वा नाट्यमिति योगो विचार्यते तदापि ष्यञो भावे कर्मणि च विधानाद् योगतौल्यं तथापि रससत्तां विना तथा कर्मणः प्रयोक्तुमयुक्तत्वात् तत्प्रयोजको भाव एव मुख्यः । कर्मणि तु सामान्यतः प्रवृत्तः प्रत्ययो योगविशेषवत्तया रसाभिव्यञ्जके तस्मिन् कर्मणि सङ्कोच्यत इति नर्तनेऽपि नाट्यशब्दो लक्षणागर्भ एव । एवमुभयथापि नाट्यशब्दविचारे रसस्य मुख्याभिव्यङ्ग्यत्वं सिद्धम् । किञ्च 'नटकथितवाक्यार्थपदार्थाभिनयात्मकं नाट्य'माङ्गिकाभिनयैरेव भावानेव व्यनक्ति यत् तत् नृत्यं मार्गशब्देन प्रसिद्धं नृत्यवेदिनां 'गात्रविक्षेपमात्रं तु सर्वाभिनयवर्जितम् । आङ्गिकोक्तप्रकारेण नृत्तं नृत्तविदो विदु'रिति नर्तनस्य त्रैविध्यं तत्रोक्तं तथा 'स स्वताभिनयो भवे'दित्युपक्रम्य 'काव्यवद् विभावादि व्यञ्जन् योऽसौ नटे स्थितः । सामाजिकानां जनयन् निर्विघ्नरससंविद'मित्यभिनयं लक्षयित्वा'ङ्गिको वाचिकस्तद्वदाहार्यः सात्त्विकोपरः चतुर्धाभिनयस्तत्राङ्गिकोङ्गैः समर्पितः । वाचा विरचितः काव्यनाटकादिषु वाचिकः । आहार्यो हारकेयूरकटकादिविभूषणम् । सात्त्विकः सात्त्विकैर्भावैर्भावज्ञेन विभावित' इति च तत्रोक्तम् । एवं चतुर्धाभिनयमध्ये य आहार्याभिनयो वेषात्मा तदर्थं गुणा रसरूपगुणाभ्या माया परिधानरूपा 'कनककपिशता' च हि यतो हेतोरुपयुक्ता भवन्त्यतो हेतो रसस्याहार्येऽभिनये निरूपणीये चत्वारः पल्लवाद्याः परिधानान्ताः पदार्था निरूपिताः । यत एवम्प्रयोगे रसस्याभिव्यक्तिः । रसश्च विभावादिभिः प्रकृष्यमाणः स्थायिभावात्मा मूर्तो नालम्बनविभावमन्तरेणाभिव्यक्तुमर्हति । एवं सति तस्मिन् धर्माविर्भावेणैव कैवल्यं व्यञ्जन् नाट्यरूपतां जहातीत्युभयसामञ्जस्याय नटवेषात्मकैराहार्याभिनयैरालम्बनत्वारोपणे नाङ्गिकादिभिस्त्रिभिः सामाजिकानां रससंविज्जननम् । यत्र पुनरालम्बनस्यैव नटत्वं तत्रापि नाट्यदशायां मुख्यानां रसधर्माणामनाविष्कारेण व्यग्भूतैवालम्बनता । तादृशत्वमजानतः प्रत्यारोपिता च । एवं प्रकृते भक्त्यात्मकस्य रसस्य पूर्वोक्तरीत्या स्वप्रतिष्ठत्वालम्बनत्वयोरविरोधेपि यथा रसत्वं व्यग्भाव्यालम्बनताया एव कथिप्रकटनं तथात्र तां व्यग्भाव्य तामप्रकटीकृत्य नटत्वं प्रकटीकृत्य "रसो वै स" इतिश्रुत्युक्तं हि स्वस्वरूपात्मकं रसं सङ्गीतशास्त्रोक्तप्रणाल्याभिनयतीति तत्र गुणाद्युपयोगस्तेनैते पल्लवादयोर्थाः उक्ता इत्यर्थः । तर्हि गुणा एव निरूप्या न गुणिन इत्यत आहुः रसेत्यादि धर्म्याच्छादनबोधायेति । धर्मी रसस्तस्य गुप्ततावोधनाय । तथा च पल्लवादिषु तेषां प्रतिष्ठा निश्चितेति ते निरूपिताः । केवलगुणनिरूपणे तेषामागन्तुकता स्यादिति तथा । उक्तार्थबोधनाय मायापि निरूप्यत इत्यर्थः । ननु रसप्रतिष्ठा चूतस्य फले न तु पल्लव इति नास्योपयोगः कथञ्चिदुपयोगे वा हस्तकेन पल्लवादिरप्यभिनेयो न तु वेषेपि स्थाप्य इत्यत आहुर्वस्तुनिर्देशेत्यादि । नाट्ये हि न रासन आस्वादः किन्तु काव्येन शब्दद्वारैवात्र पल्लवादिवस्तूनां हस्तकनिर्देशेन चाक्षुषद्वारा मानस आस्वादो न तु तदभिव्यञ्जनस्यार्थस्य बोधनमतस्तेन रसवत्फलबोधार्थं प्रथमं पल्लवो मतो विचारितः । तथा च चूतपल्लवेन रसवत्फलं भावीति स्वद्वारा बोध्यत इति तेन मानसिकास्वादसिद्धिरिति रसप्रतिष्ठा तत्रापि न दुर्घटेति पल्लव उचित

एव । तस्य हस्तेनाभिनय उक्तरीत्या मानसमात्रं न तु रसवत्फलपर्यवसायित्वबोधनमपीत्यतस्तस्थापनमित्यर्थः । भगवान् हि स्वरूपात्मकमेव हि रसमभिनयादिना यत्र स्थापयति, ततः कदापि न गच्छति, किन्तु बीजत्वात् फलं प्रयच्छतीति वस्तुस्थितिः । तथा च भाववतां नाट्यप्रणाल्या प्राप्तरसानामग्रे फलप्राप्तेरवश्यंभावाय प्रथमं पल्लवस्थापनोक्तिरितिभावः । ननु भवत्वेतदेवं तथापि रसशास्त्र इष्टदर्शनादिभिस्तत्तद्धेतुभिर्जनितः प्रमोदात्मा स स्थायिभावस्तत्तद्रसानुकूलदेशकालकलावेषभोगादिसेवनप्रभृतिभिस्तत्तद्धेतुभिः प्रकृष्यमाणः स रस इत्युच्यते, स च मनोविकार एवान्तरश्चानेकरूपश्चानित्यश्च, भगवांस्तु न तथा, किञ्च पूर्वश्लोके वरत्वमुपपादितमत्र च नटदृष्टान्तेनाभिनेतृत्वं तथैव विधियमाणश्लोकेपि । एवं चालम्बनत्वमभिनेतृत्वं च स्फुटति न तु सर्वरसत्वमतः कथं प्रतिज्ञापूर्तिरित्याकाङ्क्षायामाहुः कारिकायां शास्त्रार्थस्येत्यादि । अयमर्थः । 'रसो वै स' इतिश्रुत्या 'असद्वा इदमग्र आसीदि'त्यादिनोपक्रान्तस्य ब्रह्मण एव रसत्वं बोध्यते । रसशब्दश्च रसनामात्रे गुणे द्रवद्रव्ये सारभूतेर्थे आस्वाद्यानन्दजनके च तत्र तत्र प्रसिद्धः । तेषु प्रकृते कोर्थो विवक्षित इत्याकाङ्क्षायां 'रस ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति, को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यादेष ह्येवानन्दयाती'त्यनेन रसस्यानन्दत्वं प्राणधारणप्रयोजकत्वं हृदयाकाशस्थस्यानन्दजनकत्वं च तस्यैवोच्यते । तेन हृदयस्थः प्राणिनामानन्दजनको य आनन्दः स रस इति सिध्यति । तत्र यद्यप्यानन्दोत्पत्तिरूपस्य कार्यस्य तत्तद्वयवेष्वनुभूयमानत्वेनानन्दस्य सर्वशरीरव्यापित्वं तथाप्युक्तश्रुत्या 'स मानसीन आत्मा जनाना' मितिश्रुत्यन्तरेण च मनस्येव तस्य विशेषतः स्थितिरिति निर्णीयते । एवं सति रसशास्त्रप्रणाल्या जायमानो यो मानसो विकारः प्रमोदात्मा स रसात्मनो भगवत एव कार्यभूत 'एष ह्येवानन्दयाती'तिसावधारणश्रुतेस्तथा तदंशभूतैश्च 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्तीतिश्रुतेः । अत एव च प्रकृष्यमाणे तस्मिन् रसप्रतीतिर्लोकानां तथाप्रयोगश्च गङ्गादिषु पुरुषपदप्रयोगवद् भाक्तः । न चैवं सत्यानन्दमात्रस्यैव तथात्वात् प्रणाल्यामेव कुतो विशेष इति शङ्क्यम् । रसस्वरूपस्यैव तथात्वात् । न च मानाभावः । लौकिकस्य प्रणाल्यभिव्यङ्ग्यत्वे सिद्धे तद्दृष्टान्तेनालौकिकेपि तथानुमातुं शक्यत्वात् । कारणगुणानामेव कार्येभिव्यक्तेः सन्देहनिरासाच्च । न चानित्यत्वापत्तिः । अक्षरत्वादेव तन्निरासात् । अत एव न मनोविकारत्वमपि । नाप्यनेकरूपत्वं दोषाय । तस्य प्रणालीकृतत्वेन वास्तविकरूपाबाधकत्वा'दनन्तरूप'मितिश्रुत्या वास्तविकत्वाच्च । तेनेदं सिद्धम् । परं ब्रह्मैव रसशास्त्रोक्तप्रणाल्या हृद्याविर्भूतं सत् स रस इति । तत्र च चिदंशो व्यग्भूत एव । अत एव 'हरिर्भूखाचक' इतिश्रुतौ सदानन्दत्वमेवोक्तम् । न च भूशब्दस्य सत्तावाचकत्वात् सत्तानन्द इति भवति न तु सदानन्द इति शङ्क्यम् । तत्सत्ताया आत्मरूपत्वेन धर्मत्वाभावस्य व्याकरणमते सिद्धत्वात् सत एव सिद्धेः । अतः परब्रह्मणस्तथात्वेन प्रणाल्याविर्भूतेपि तथात्वमेव ।

नन्वस्त्वेवं तथाप्युक्तश्रुतौ ब्रह्मणो रसत्वमुच्यते न तु रसस्य ब्रह्मत्वं, तथा सति बहिराविर्भूतस्य भगवतो रसत्वाभावात् कथं प्रतिज्ञायाः पूर्तिरिति चेदित्थम् । यत्रेदं वर्ण्यते न तत्र भगवान् बहिःप्रकटः किन्तु हृद्येवेत्युपपादितं 'बर्हापीडे'त्यस्य स्वतन्त्रे । यद्यपि बहिस्तदाप्यासक्तिभ्रमन्यायेन 'मानसीन' एवेति तत्पूर्तेः । नन्वेवं सति वृत्तिविशेषरूपत्वान्न भगवानिति चेन्न । लोके वृत्त्या ग्राह्यस्य देशकालपरिच्छिन्नत्वेन तत्र तदभावेपि विरहादौ संस्कारमात्रव्यादिना वृत्तिनिर्गमात् व्याप्तिः स्वीक्रियते न तथा प्रकृते । देशकालापरिच्छिन्नत्वात् । किन्त्वनन्यलौकिकत्वात् यादृशी सा तथा तत्राविर्भवति । सा च मनोधर्म इति तदभिव्यङ्ग्यत्वेन बहिराविर्भूतस्य मानसीनत्वेन वृत्तित्वाभावान्न्यायादिमते पुरुषवच्छिन्नविषयावच्छिन्नयोश्चैतन्ययोरेकत्वाभावे बहिःस्थस्य पुरुषवच्छिन्नत्वेपि वृत्तित्वाभाववत् । नन्वस्त्वेवं तथापि प्रकृतानुरोधाच्छृङ्गारात्मकत्वमेवात्र वक्तव्यं तस्य च परस्परसाकाङ्क्षस्त्रीपुंव्यक्त्यात्मकालम्बनद्वयाधीनस्थितिकत्वात्तत्रापि तथात्वमङ्गीकर्तव्यं तच्च भगवतो रसत्वे विरुध्येतैकालम्बनकत्वेन रसाभासत्वप्रसञ्जकत्वादिति चेन्न । आलम्बनत्वस्यापि रसत्वात् । 'कामिनां दर्शयन् दैन्य'मित्यस्य टिप्पण्यां 'रसात्मको रसवांश्च भगवा'निति कण्ठरवेणोक्तत्वात् । न च विरोधः । स्वप्रतिष्ठत्वस्य श्रौतत्वेन सर्वसम्मतत्वात् । यथान्येषां कामेन कामवत्त्वं कामस्य तु स्वत एव तथान्येषां रसेन रसवत्त्वं रसस्य तु स्वत इत्यस्यापि सुवचत्वाच्च तदप्रसङ्गात् । तस्माद् बहिराविर्भूतस्यापि भगवतो रसत्वमबाध्यमेव । तथा चैवम्प्रकारस्य शास्त्रार्थस्य श्रुत्यर्थस्य परिज्ञानाद् विचारपूर्वकाश्रियाद् भावस्य कलिका स्थायिभावात्मिका स्थिरतरा भवेत् । बीजाङ्कुरादिकं तु पूर्वमनुग्रहात्मकं सिद्धमेवास्तीतिभावः । ततस्तस्य स्थायिभावस्य वैचित्र्यं भावादि–व्यभिचारिभावादि–कृतं भवेत् । तदिहास्मिन् श्लोके पुष्पस्थानमुच्यते । 'विचित्रवेषा'-वित्यनेन कथ्यते । ततोहोरात्रं वासना तत्स्मरणरूपा स्यात् । तथा सति प्रसिद्धस्य रसत्वाद्धीयेतेत्याश्च्छादनं विवरणे । अन्यथा प्रयोजनाभावात् परिकरं न स्मरेयुः । इममर्थं संगृह्य साधकशिक्षार्थमाहू रसेत्यादि । एतावदर्धश्लोकोक्तम् । सिद्धदशायां फलानुभवप्रकारमुत्तरार्धेन बोधयन्तीत्याशयेनाहुरास्विरित्यादि । तथा च तदा मानसीनस्य बहिराविर्भावे स्वधर्मप्राकट्यं करोतीत्यर्थः । सिन्धुभाङुरत इत्यादि । तथा चोक्तप्रणाल्यान्तराविर्भूतो रसो बहिराविर्भू-

तस्य धर्मसाहित्यात् तदुद्बोधकत्वाच्च साधनमतः स्थानभेदेनोभयमप्यविरुद्धमितिभावः । त्रयाणामित्यादेरर्थश्छिप्य-व्यामाहुः स्थायीत्यादि । तदेवोक्तमिति गोष्ठीमध्ये विराजनमेवोक्तमित्यर्थः ॥ ८ ॥

This will also explain the meaning of 'स्त्रीभावो गूढः पुष्टिमार्गे तत्त्वमिति कृष्णपदार्थः कश्चिद्विवृतः'. In order to realise कृष्णरस, स्त्रीभाव is thus essential and hence the remark of मीरा to जीवगोस्वामी that he was to be congratulated (!) in remembering his पुंभाव in वृन्दावन.

It will also help the reader in understanding the significance of the following श्लोक of श्रीविट्ठलेशः—

भावैरङ्कुरितं महीमृगदृशामाकल्पमासिञ्चितैः
प्रेम्णा पल्लवितं मनोरथमयैः शाखाशतैः संभृतम् ।
लौल्यैः पल्लवितं मुदा कुसुमितं प्रत्याशया पुष्पितं
लीलाभिः फलितं भजे व्रजवनीशृङ्गारकल्पद्रुमम् ॥

A person does not become fit to experience these various stages of love emanating from रसो वै सः (बद्धोधकं तु हरिणा), unless the mind is free of all burden and the heart is open to these higher Influences. He thus gets कल्पयोग्यता, but even then the pouring in of the Influences depends only on वरण, as is stated in यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः । Mental repose is ब्राह्मीस्थिति, described in the second अध्याय of गीता, on attainment of which a man has simply to work as an instrument of परमात्मन्, or a servant of God, and the best servants are those who never forget their Master and His commands for a single moment (मन्मना भव). These गोपीजनs were always गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः, and hence their दास्य was best, and therefore they were परं तनुभृतः । This also answers the question as to who are the best of human beings.

श्रीमद्वेदव्यास puts into the mouth of श्रीउद्धव the following verse as regards व्रजवनिताः ।

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः ।
वाञ्छन्ति यं भवभियो मुनयो वयं च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ॥ भा. १०-४७-५९.

श्रीमद्वल्लभाचार्य's comments on it are as under:—

तनुभृतश्चैता एव, नापि ज्ञानिनो नापि लौकिका नापि भक्ताः, तत्र लौकिकास्तु व्यर्थजीवना एव । न रज्ज्वा बद्धः पाशी भवति, स्वाधीनपाश एव तथा । एवं तनुभृतोपि येषां स्वाधीना तनुः । ज्ञानिनां तु ज्ञानप्राप्तिपर्यन्तमेव साधनत्वेन शरीरोपयोगादग्रे व्यर्थ एव देहः, अनपेक्षितं भारवद् गृह्णन्तीति । भक्ता अपि मौढ्याद्देहमेवात्मानं मन्यमानाः तत्रैव पर्यवसितमतयो बहिर्मुखत्वात्तनुरूपा एव न तु तनुभृतः । कालान्तरे परं सत्फलम्, अस्मदादयस्तु भक्ता अपि प्राप्तज्ञाना अपि भन्दभावं प्राप्ता नोत्कर्षेण तनुभृतः । अतः परमुत्कर्षेण एता एव तनुभृतः । नन्वेतादृश्यः सन्ति तनुभृतः लक्ष्मीप्रभृतयः । तत्राह भुवीति । ननु भुव्यप्युत्कटभक्ताः प्रह्लादादयः सन्त्येव तत्राह गोपवध्व

इति । एतादृशीमवस्थां प्राप्य न कोप्येवंविधो जात इत्याश्चर्यम् । किञ्च । गोविन्दे स्वकीयत्वेन ज्ञाते वस्तुतः अखिलात्मनि एवं रूढभावः, अतो देहस्य स्वाधीनस्यैतदेव फलमिति सर्वात्मत्वेन ज्ञात्वापि निर्दोषपूर्णभावनिष्ठा एव । ननु ज्ञानावस्थोत्तरेति, 'आत्मलाभान्न परं विद्यत' इति, एता भगवता ज्ञाननिष्ठा कृता इति च, वस्तुत एवाग्रे देहस्यानुपयोगात्कथमेषा स्तुतिरिति चेत्तत्राह वाञ्छन्ति यमिति, यं भावं भवाद् भीः येषां ते मुमुक्षवः मुनयो मुक्ताः वयं भक्ताः चकारात्सर्वे एव धर्ममार्गपरा अपि । अवश्यं हि विदेहकैवल्यपर्यन्तं सर्वेषां बहिःसंवेदनास्त्येव, जीवन्मुक्तानां तथा श्रवणात् । तत्र लौकिक एव भावः सर्वेषां जायत इति कालावच्छेदेन जन्म-वैयर्थ्यमेव । अन्येषां तु वैयर्थ्यं सिद्धमेव । नारदादीनामपि कदाचित् प्राकृतवद् व्यवस्था । अन्यथा लौकिकसमानकार्यं न स्यात्, प्रह्लादस्यापि राज्यादिकरणात् तथावसीयते । बहिःसंवेदने तु एवैवा-वस्था सर्वशास्त्रपर्यवसिता नातोन्या काचिदप्यस्तीति अवस्थायां विचार्यमाणायामेता एव तनुभृतः । नन्वेतदपेक्षया ये श्रोत्रिया ब्रह्मविदो ब्राह्मणाः वसिष्ठादयः ते महान्तो भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह किं ब्रह्मजन्मभिरिति । ब्रह्मभावापन्नानां जन्मभिः शौक्लसावित्रयाज्ञिकैः किं, न किञ्चित् । यद्यपि बहिःसंवेदने तेषां वेदार्थानुष्ठातृत्वं दीर्घसत्रित्वादि[illegible]रन्तर्निष्ठतायां तु ब्रह्मपरत्वमिति, तथापि कर्मापेक्षया भक्तिरधिका, कर्म हि प्रपञ्चे स्वास्थ्यं सम्पादयति न तु भक्तिः, यो हि दुष्टं मन्यते स दुष्ट इति निर्धारः । तत्तत्प्रकरणे तत्तत्प्रशंसा तु प्रकरणानुरोधिनी, अतः अनन्तकथायामरसस्य ब्रह्मजन्मभिः कर्मोपयोगिभिरपि न किञ्चित् । ननु तथाप्युत्कर्षहेतुः लोके तद्भवतीति श्रुत्या भावेऽपि प्रसिद्ध्यैव उत्तमफलत्वं पर्यवसानविषया कल्प्यत इति चेत्तत्राह अनन्तकथायां रसयुक्तस्य पूर्वोक्त-ब्रह्मजन्मभिः न कोपि पुरुषार्थः साधनीयः । ततोप्युत्कृष्टस्यैव साधनदशायां च फलस्य सिद्धत्वात् कर्मापेक्षयापि भक्त्यैव ज्ञाने अधिकोपकारकरणाच्च ॥ ५९ ॥

We praise कालिदास, Shakespeare and other poets, for being able to understand and vividly describe the various fine subtle emotions of the human heart, but so long as these emotions emanate from the senses, they are opposed to the मोक्षमार्ग, because all attachment is to be cut asunder by असङ्गशस्त्र.* But when we learn from उपनिषत्s that God is रस as opposed to लौकिकइन्द्रियजन्यविषय, that रस is अलौकिक and नित्य as opposed to विषय which is अनित्य, क्षणिक, अल्प and घातक, we begin to have a glimpse of "नित्य नौतन नित्यलीला श्रुति न पामे पार" "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः ।" We can then and then only appreciate रासलीला of श्रीमद्भागवत, जयदेव's गीतगोविन्द, नृसिंहमेहेता's बाललीला, सुरत संग्राम, चातुरी षोडशी, दानलीला, रासंसहस्रपदी, शृङ्गारमाला, and हींडोलपद, श्रीविट्ठलेश्वर's शृङ्गाररसमण्डन, and poems and कीर्तनs of सूरदास, परमानन्ददास and other अष्टसखाs. Mere imagination and passion-play have no deeper foundation, and hence Plato as well as श्रीमद्वल्लभाचार्य have rightly discarded poetry from their philosophy.

तैत्तिरीय is one of the most important उपनिषत्s as it narrates फल. The reader must carefully study it.† From the four पुरुषs—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय and विज्ञानमय, it leads us finally to the आनन्दमयपरमात्मन्, and the enjoyment of सर्वान् कामान् with this विपश्चित् ब्रह्मन् is the crowning glory of the soul. This रसरूपता is again described in the तामसप्रमेयप्रकरण, viz., 12 to 18 अध्यायs of श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध. This रसरूपता is

*Cf. वेदाभ्यासरतः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलः । &c.

† तैत्तिरीयोपनिषद् with भाष्य by जयगोपालभट्ट is published by Mr. Teliwala. आनन्दमयाधिकरणभाष्य may also be read with advantage.

again clearly described in the verse मल्लानामशनिः (१०. ४०. १७.) where all the ten रस including the भक्तिरस are mentioned. That कृष्ण Himself is this रसरूपफल and परब्रह्म is clear from the three distinguishing characteristics given in श्रीमद्भागवत viz; जृम्भालीला, मृत्तामक्षणलीला and दामोदरलीला. In the first two, He shows all the ब्रह्माण्डs in His mouth, including the sun, the moon, stars etc., which is shown by no other अवतार, it being peculiar to ब्रह्म only, and in the third, He, in the form of a child, could not be bound by any length of ropes, because they were all within Him, He alone being Immeasurable. Here श्रीवल्लभाचार्य says:—(भागवत १०-९. १३-१९)

न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम् ।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः ॥ १३ ॥
तं मत्वात्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम् ।
गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा ॥ १४ ॥
तद् दाम बध्यमानस्य स्वार्भकस्य कृतागसः ।
द्व्यङ्गुलोनमभूत् तेन सन्दधेऽन्यच्च गोपिका ॥ १५ ॥
यदासीत् तदपि न्यूनं तेनान्यदपि सन्दधे ।
तदपि द्व्यङ्गुलं न्यूनं यद्यदादत्त बन्धनम् ॥ १६ ॥
एवं स्वगेहदामानि यशोदा सन्दधत्यपि ।
गोपीनां सुस्मयन्तीनां स्मयन्ती विस्मिताभवत् ॥ १७ ॥
स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकबरस्रजः ।
दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयासीत् स्वबन्धने ॥ १८ ॥
एवं प्रदर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भक्तवश्यता ।
स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे ॥ १९ ॥

शुकोपि तां दूषयन्निव बन्धाभावे परमार्थतो युक्तिं प्रदर्शयति न चान्तरिति, भगवति बन्धाभावो द्वेधापि भवति, भगवत्स्वरूपविचारेण बन्धनसाधनस्वरूपविचारेण च, तत्रादौ स्वरूपं विचारयति । बन्धनं हि कार्यद्वयं सम्पादयति बहिर्निरोधमन्तस्तापं च, तत् तस्यैव भवति यस्यान्तर्बहिर्भावो भवति, भगवांस्तु पूर्णः सर्वं व्याप्य तिष्ठतीति न कस्मादपि भगवानन्तर्भवति, निरवयवत्वाच्च न कोपि तस्य परिच्छेदकः, चकारादन्तःशब्दव्यवहार्यं आकाशोतः स शब्दोपि भगवति न प्रवर्तेत इत्युक्तम् । अन्तर्यामिब्राह्मणे सर्वान्तरो भगवानुक्तो न तु भगवतोन्तरं कश्चित् । सर्वान्तरः केनान्तर्भावमापद्येत ? आधारत्वे तु नान्तरभावना, रूपादिषु तथोपलब्धेः । न हि फलस्यान्तःस्वरूपं तिष्ठति बीजवत्, तथा सत्यदृश्यः स्यात्, अतो न केनाप्यंशेन भगवतोन्तरमस्ति, नापि बहिः, व्यापकत्वात्, बहिःस्थित एवाकाशोन्तस्तिष्ठतीति नाकाशाद् बहिरस्ति किञ्चित् । अनेनान्तःकरणे खेदो बहिरावरणं वा नास्तीत्युक्तं । किञ्च बन्धनं हि वेष्टनात्मकं, तद् दिग्विभागे सति भवति, निरवयवस्यानिरूप्यस्य स्वत एव भासमानस्य ज्ञातृज्ञेयभावतिरोधायकस्य केनाप्यंशेन पूर्वभावोपरभावो वा न सम्भवति । अनेनैव दक्षिणोत्तरभावा अपि परिहृताः । सर्वत्र स्थितः पूर्वापरभावमेव न मन्यते, अतः स्वरूपकृता वा दिक्कृता वान्तरादिधर्मा भगवति न सन्तीति न बन्धसम्भावना । साधनस्वरूपविचारेणापि न भवतीत्याह पूर्वापरमिति रज्ज्वादीनां पूर्वभावे परभावे चायमेव वर्तते, तत्र यशोदैव प्रमाणं, भगवति सर्वं दृष्टवती यतः,

सर्वस्यापि भगवान् बहिरपि भवति व्यापकत्वात्, अन्तरपि भवति सर्वान्तरत्वात्, चकारात् स्वरूपमपि । किञ्च जगतो य एतावान्, यतो जायते गच्छति चेति जगत्, यदि भगवानेतावन्न स्यात् कथं जगद् भवेत् ? पूर्वभावाभावे न भवेत् परभावाभावे न गच्छेत्, जगतश्चेद् भगवान् बहिर्न भवेद् जगति गच्छति गच्छेद्, यदि सर्वान्तरो न भवेज् जगदिति विशिष्टं सर्वप्रतीतिसिद्धं न भवेत्, अन्तःस्थितभगवद्धर्मैरेव जगतो विवक्षितधर्मवत्त्वात् । किञ्च यो जगत्, न हि स्वात्मना स्वयं बद्धो भवति, तथा सति बन्धकानां वैयर्थ्यापत्तेः । किञ्च जगन्मयोयं सर्वमेव जगद् व्याप्य तिष्ठति, एतदाज्ञयैव जगत् कार्यं करोति, ततः कथमयं स्वबन्धने जगत् प्रेरयेत् ? अतो न केनापि प्रकारेण भगवतो बन्धनमस्तीति निश्चिन्ता भक्ताः ॥ १३ ॥ तादृशं योन्यथा विचारयति स निष्फलप्रयासो भवतीति तां दूषयन्निव तस्याप्यज्ञानमाह तमिति, तं पुराणपुरुषोत्तममात्मजं स्वशरीराज्जातं मत्वा दाम्ना बबन्धेतिसम्बन्धः । देहस्तु प्राकृतस्तस्या इति तज्जातः सुतरां प्राकृतो भवति । ननु कश्चिन् महान्तोपि पुत्रा जायन्ते देवादयोपि ततो लोके कारणवैलक्षण्यस्यापि दृष्टत्वात् कथमात्मजत्वे तथा कर्तुं शक्यत इति चेत् तत्राहाव्यक्तमिति, न केनाप्यंशेन व्यक्तं, ये हि महान्तो भवन्ति ते स्वधर्मान् प्रकटीकुर्वन्ति यथा भरतादयः, भगवांस्तु तथा न करोतीति प्राकृतबुद्धिस्तेषां दृढा, मध्यमावस्थानामेव तथा करणं न तु परमकाष्ठां गतस्य । किञ्च यदि शुद्ध एव संस्तूष्णीं तिष्ठेत् तथापि सन्देहः स्यादन्यवाक्येन वा माहात्म्यं जानीयुः, प्रत्युत भगवान् विपरीतधर्मान् बोधयत्यतः कथं प्रतीतिरित्याह मर्त्यलिङ्गमिति, मर्त्यस्यात्यन्तप्राकृतस्य लिङ्गानि यस्मिन्निति, तथैव स्वरूपं गुणांश्चेष्टां च प्रदर्शयतीत्यर्थः । ननु तथाप्यत्यन्ताभिज्ञा यथा नटं परिचिन्वन्ति तथा सर्वविलक्षणानन्तगुणवत्त्वादानन्दमयत्वाच्च कथं न ज्ञायत इत्याशङ्क्याहाधोक्षजमिति, अधोक्षजं ज्ञानं यस्मादिति, न हि भगवान् गुणा वा कस्यचिदपि चक्षुर्गोचरा भवन्ति, इच्छा तु नास्तीत्यवगम्यते विरुद्धप्रदर्शनात् । किञ्चेयं च यशोदा गोपिकातिप्राकृतरूपा, अतोनभिज्ञा कथं जानीयात् ? उलूखलोपरि पादं दत्त्वा भगवान् क्रीडति, अभेश्च नाभिर्भवति, अतो भगवान् गोकुलस्थितमुलूखलं स्वाश्रयत्वेन ज्ञापयितुमत्र बन्धनं कारितवान् गोपिकायास्तु बुद्धिर्यथान्यत्र न गच्छतीति । दाम पशूनां बन्धकं, ननूलूखलदामहस्ताधिष्ठितदेवानां कथं तूष्णीम्भावः ? तत्राह प्राकृतं यथेति, तेषामपि बुद्धिर्भगवता तथा सम्पादितेति ॥ १४ ॥ अयं देहाकारेण भासमान एव भगवान् सच्चिदानन्दरूप इति गुणोपसंहारन्यायेन "न चान्तर्न बहिर्यस्ये"त्यादिधर्मा अस्यैवेति ज्ञापयितुं बन्धनेप्युपायं वदन् भगवान् स्वाभिबद्धो जात इत्याह तद्दामेति, भगवता स्वस्मिन् दोषद्वयं प्रदर्शितं तत्पुत्रत्वमपराधश्च, तदा रज्जुरन्तर्बहिःस्थितं भगवन्तं तिरोहितं मत्वा वेष्टनं कृतवती स्वयं बहिःस्थितान्तःस्थितस्य भगवतः, तदाह तद्दाम बध्यमानस्येति, अन्यथा बहिरपि रज्जुर्न भवेद् वेष्टकमपि न भवेत् । तथापि परितो वेष्टनरूपा न जाता, पूर्वापरयोर्भगवत एव सत्त्वात्, अतो द्व्यङ्गुलं न्यूना जाता । लोकपरिमाणे प्रथमपरिमाणमङ्गुलिः, तत्र प्रथमातिक्रमे कारणाभावादल्पवैलक्षण्ये महतो योजनायामाश्चर्यमपि भवतीति द्व्यङ्गुलोनमेवाभूत् । रज्ज्वाद्यन्तयोर्यो भगवान् स एवायं क्रोडीकृतः, न तु ततः केनापि धर्मेण भिन्न इति ज्ञापयितुमेवमाह व्यापकत्वस्य दर्शनार्थमेव तिरोभावाद् रज्जुस्थूलतायामपि नोदरस्थौल्यं, प्रतिबिम्बादौ तथोपलब्धेः, अतो वैलक्षण्याज्ञानात् तेनान्यदपि दाम तावत्प्रमाणकं सन्दधे योजितवती । चकाराद् विसदृशमपि ततोपि स्थूलम् । नन्वङ्गुलद्वये न्यूने किमित्येतावद् योजितवती?

तत्राह **गोपिकेति**, मौढ्यं तस्या अनुवर्तत इति ॥ १५ ॥ तत किमभूदित्याशङ्कायामाह **यदासीदिति**, उभयोः सम्बन्धे पुनः सैकैव रज्जुर्जाता, तदाह **यदासीदिति**, उभयोः सम्बन्धे यदेकमासीदित्यर्थः, **तदपि** पूर्वोक्तन्यायेनैव **न्यूनमासीद् द्व्यङ्गुलं तेनापि** विशिष्टेन **पुनरन्यत् सन्दधे** तत् तृतीयं, **तदपि** द्व्यङ्गुलमेव न्यूनं, "त्रिवृत्त्या हि देवा" इति, **भगवतो जगदाद्यन्तःस्थितिर्वारत्रयं प्रदर्शिता**। मानुषभावं ततोपि बहुवारं कृतवतीत्यनुवदति **यद्यदादत्त बन्धनमिति**, यद्यदेव योजनार्थं गृहीतवती तत्तदेव द्व्यङ्गुलोनमभूत् ॥ १६ ॥ सर्वा एव गोप्योङ्गणमध्ये तथा करणाद् द्रष्टुमागताः, ता अद्यापि तथा न निरुद्धा इति तदा **स्मयन्त्यो** जाता गर्विष्ठाः सन्मुखा वा स्वस्यापि भुजबन्धनादिकं भावयिष्यन्त्यः **सुस्मयन्त्यो** जाताः। गृहस्थसर्वदामन्वयीकरणेपि न बन्धनं निवृत्तमित्याहैवमिति पूर्वोक्तन्यायेन सर्वाण्येव **दामानि** योजितवती, यतो **यशोदा यशो ददाति** धति वा, **सन्दधत्यपि** द्व्यङ्गुलन्यूनभावाद् **विस्मिताभवदिति** सम्बन्धः। **यशोदागृह एव** भगवता पुत्रस्यमपराधश्च दर्शित इति तद्गेहदामान्येवान्तर्बहिर्भगवत्तिरोभावात् **सम्बद्धानि न तु गेहान्तरस्थितानि**, **अन्यासां तु तदर्थप्रवृत्तिरेव नास्ति**, **अन्तर्बहिस्तिरोधानाभावात्**, **रज्जूनामानयनं यशोदाकर्तृकमेव**, **न हि तादृश्या अन्यः सहायं कर्तुमर्हति**। पूर्वं तु वारद्वयत्रययोजनायां रोषे गते **स्मयन्ती** जाता, ततोपि बहुवारयोजनायां **विस्मिता चाभवत्**, आश्चर्यं प्राप्तवती, ततो रज्जूनामन्वेषणार्थं निर्बन्धेन यत्नं कृतवती ॥ १७ ॥ ततः सामर्थ्याभावे गोपिकानां समक्षं परमलज्जां प्राप्य भग्नमानसङ्कल्पा **मृतप्रायासीत्**। **तदा भगवान् परमकृपालुस्तादृशदुष्टेष्वपि सद् बुद्ध्यायुक्तमपि कृतवानित्याह स्वमातुरिति**, ततो भगवान् **कृपया स्वबन्धन आसीदिति** सम्बन्धः। तत्र कारणत्रयमाह **स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकबरस्रज इति**। मातुर्हि परितोषः कर्तव्यः, "मातृदेवो भव" "एभ्यो माता गरीयसी"ति वाक्यात्। नापि तस्या अपत्यान्तरमस्ति यो ह्युपस्थितं दुःखं निवारयेत् यत इयं स्वस्यैव माताऽतो मातृत्वं ख्यापयित्वा तस्या दुःखमसहमानेन तथा कृतम्। किञ्च गोकुलवासिनां खेददूरीकरणार्थमागतो भगवान् स कथं **स्विन्नगात्रायाः** सर्वाङ्गे जातखेदाया न **परिश्रमं** दूरीकुर्यात्? किञ्च गोकुलवासिनां सर्वसौभाग्यदानार्थमागतः स कथं **विस्रस्ताः कबरात्** केशपाशात् स्रजो यस्यास्तादृशीं पश्येत्? अनेन सर्वाभरणानामेव तिरोभावः सूचितः। एवमेतादृश्याः **परिश्रमं दृष्ट्वेत**- ततः पर्यटनं खेदः प्रस्वेदो मुखशोषो महती च ग्लानिरित्यादिः **परिशब्दार्थः**। तत्रापि भगवान् **कृष्णः** सदानन्दोननुभूतदुःखो दुःखितानामसमक्षः परदुःखमपि न पश्यति तदपूर्वं यशोदादुःखं दृष्ट्वा **कृपया** व्याप्तो मात्रर्थं स्विन्नगात्रार्थं स्रगभावार्थं च **स्वस्यैव स्वयं बन्धकरूपगुणाङ्गुलत्रयभूतो जातः**। **द्वाभ्यां पूरितमङ्गुलमात्रं च बन्धनं जातं, तदा स्वस्यैव स्वयमेव बन्धने जात आसीत्**, प्रकरणाद् गृहीत इत्यवक्तव्यत्वान्नोक्तम् ॥ १८ ॥ ननु किमर्थं भगवानेतावत् कृत्वा बन्धनरूपो जात इति चेत् तत्राहैवमिति, **एवमपकारिणि लोके स्वकीयत्वमात्राभिमानेनाप्येतावतीमभूतपूर्वां कृपां करोतीति स्वस्य भक्तवश्यता प्रदर्शिता**। प्रदर्शनस्यापि प्रयोजनमाह **हरिणेति**, स हि सर्वदुःखहर्ता तत्तत्सिद्ध्यर्थमसम्बन्धेन दुःखहन्तृत्वेतिप्रसङ्गात् संसारविलयः स्यादिति सम्बन्धार्थं कृपालुतां प्रदर्शयति, **कृपा च सर्वधर्मधर्मिभ्यो बलिष्ठेति वक्तुं भक्तवश्यता शब्देनैवोक्ता**। ननु भक्त्या चेद् धर्मधर्मिणामुपमर्दः क्रियते तदा स्वरूपस्य प्रच्युतत्वात् फलाभावात् प्रदर्शनमपि व्यर्थं स्यादित्याशङ्क्याह **स्ववशेनापीति**, स हि **स्ववश एव न केनाप्युपमर्दः**, अनेन फलसाधकत्वमुक्तम्। फलरूपत्वमाह **कृष्णेनेति**, नन्वेवं कृतेन्यो

महान् ब्रह्मादिर्न मंस्यते ततो माहात्म्यस्य न्यूनभावान्न तथा फलत्वमित्याशङ्क्याह यस्येदं सेश्वरं वश इति, तत्तदधिष्ठातृदेवतासहितं सर्वं जगद् यस्य वशे, अतो नान्यथाभावनं केनचिदपि कर्तुं शक्यमिति भावः ॥ १९ ॥

Thus the aim of श्रीवल्लभाचार्य is to take the soul into the Presence of God, and to bring back the आनन्द which is तिरोभूत in जीव. For this, जीव has to forget the जगत् in which he is placed and remember his source ब्रह्म or कृष्ण—प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्ति. This can be achieved by कृष्णसेवा which must be मानसी, the steps leading to मानसी being तनुजा and वित्तजा सेवा. This he has to do अव्यावृत्त, because his body is supported by कृष्ण, who has promised 'योगक्षेमं वहाम्यहम्'. In order that he may get the true फल of his सेवा, he must be free from उद्वेग, प्रतिबन्ध and लौकिकभोग. It is thus that सेवा becomes आधिदैविकी, and he realises कृष्णसाक्षात्कार. He realises also that मोक्षोपि सर्गः, the whole लीलासृष्टि he gets in directcommunion with, and following in the footsteps of 'एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः' he becomes a part and parcel of the रसरूपपरब्रह्म and eternally enjoys indescribable bliss with Him.

Let us hope these stray notes will guide the reader in understanding to a certain extent पुष्टिमार्ग, in which भगवान् Himself is both साधन and फल, and will lead him to an appreciation of the परिशिष्ट. According to the विस्फुलिंग श्रुति, जीव is the अंश of ब्रह्मन्, and it is clear that यो यदंशः स तं भजेत्. This भजनानन्द begins after उद्धार from ब्रह्मानन्द and is the Eternal Sport of the मुक्त soul with परब्रह्मन्, which is आनन्दमय. These souls also are specially elected for His सेवा:—

> तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशयः।
> भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत् ॥ १२ ॥
> स्वरूपेणावतारेण लिङ्गेन च गुणेन च।
> तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत् क्रियासु वा ॥ १३ ॥
> तथापि यावता कार्यं तावत्तस्य करोति हि। (पुष्टिप्रवाहमर्यादा).

In this सेवा he gets अलौकिकसामर्थ्य. He becomes भोक्ता, while परब्रह्म becomes गौण—सोऽश्नुते सह ब्रह्मणा, which idea itself is so very enchanting, and in संयोग and विप्रयोग, in one of the ten stages of रसशास्त्र, going through various अनुभाव and संचारिभाव, he is always in रससमुद्र, सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता.

Though we have given hero very long quotations, we are aware that they are quite inadequate to give a clear idea of पुष्टिमार्ग, but if the reader is able to get a glimpse of what these great religious teachers mean to say, and if he is inclined to think and inquire and work on these lines, we have given him an idea of almost all the sources, and in course of time, we may except to see a complete treatise published on the subject.

We again express our gratefulness to God for giving us strength to complete this volume, and with feelings of joy, we offer this fruit of our labour of love at the Lotus Feet of Lord Shri Krishna.

ज्येष्ठाभिषेक
१९८५.

Dhirajlal Vrajdas Sanklia.
Jamnadas Kanji Morparia.
Hiralal Mooljee.
G. P. Merchant.
Purshottam Kanji Morparia.

Editors' Note.

We are glad to be able to put before the public this fifth volume of भाष्य-प्रकाश-रश्मि containing the प्रथम and द्वितीय पाद of चतुर्थाध्याय. श्रीपुरुषोत्तमजी states in प्रकाश on ३. २. ३४ 'इत आरभ्य प्रभूणामिति प्रतिभाति.' The internal evidence of the difference in language is sufficient by itself to convince the reader that the author of this portion is different from the author of the previous portion. Again, the interpretation of जगद्व्यापारवर्जम् (४. ४. १७) given here is different from the one suggested in सुबोधिनी on ३. ४. १२. which is as follows:—'उत्सृजन्तमित्यनेन सृजन्तमूर्ध्वं सृजन्तं चेत्यर्थद्वयं विवक्षितम्। तेन यागप्रयोजनं भक्ताश्च एकरूपो भवति। भक्तानेप्येतद् द्वयं कर्तव्यम्, गुप्ततया स्थित्वा विश्वजननं सर्वलोकपरित्यागश्च। स्वजन्मनश्चरमत्वादेव परित्यागः सिद्धः। भक्तावेन जगज्जननमवशिष्यते। तत्र मत्सायुज्ये जगज्जननमन्यथासिद्धं भवति, एकीभावश्रुतेः। यथा सर्वासामपां समुद्र एकायनम्, इति। भिन्नतया ब्रह्मभावे जगद्व्यापारवर्जमितिन्यायात् जगत्कर्तृत्वम्। अतः सर्वाविरोधेन भक्तावेन जगज्जननं यथा सिध्यति तथा वक्ष्यामि।'. Here जगद्व्यापार is clearly used in the sense of जगत्कर्तृत्व. In भाष्य ४. ४. १७. we find as under:—ब्रह्मणा सह भोगकरणं लौकिकव्यापारयुतमुत नेतिसंशये तद्युतमिति पूर्वः पक्षः। तथा सति मुक्तित्वभङ्गात् पूर्वोक्तमनुपपन्नम्, इति प्राप्ते, आह जगदित्यादि। पूर्वोक्तस्य जगत्सम्बन्धी लौकिको यो व्यापारः कायवाङ्मनसां तद्वर्जं तद्रहितं भोगकरणम्। तत्र हेतुं आह प्रकरणादसन्निहितत्वाच्चेति। ब्रह्मविदाप्नोति परमित्युपक्रमेण मुक्तिप्रकरणात् तत्र लौकिकव्यापारोऽसम्भावितः। लीलायाः कालमायाद्यतीतत्वेन प्राकृतं जगद्दूरतरम्, इतोपि हेतोर्न तत्संभवः। Here the question discussed is whether the भोगकरण mentioned in the श्रुति 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' is लौकिक, and प्राकृत, or जगद्व्यापारवर्जम्, *viz.* अलौकिक. If the author were one and the same, he would have at least given both the meanings.

If there is any doubt still left in the mind of any one, it is set at rest by the हस्ताक्षर copy of the भाष्य of श्रीविट्ठलेश्वर now at श्रीनाथद्वार. It contains a few pages of तृतीय अध्याय, and the whole of चतुर्थाध्याय with some breaks. When our late Editor Mr. Mulchandra went to श्रीनाथद्वार, he compared a copy of the Calcutta Edition of the अणुभाष्य with it, and brought the corrected copy with him to Bombay. But at the time of printing, we compared it with five old copies of भाष्य, and many doubts were raised, and hence we requested तिलकायित श्रीगोवर्धनलालजी and श्रीदामोदरलालजी, and they were kind enough to arrange to send the हस्ताक्षर copy to Bombay for a fresh comparison. Thus we got one more opportunity of comparison and some more corrections were made. We have thus got an unique opportunity of publishing all the three works भाष्य, प्रकाश and रश्मि with the help of original manuscripts, and we have done our work with utmost delight, as well as greatest care and devotion

The हस्ताक्षर copy had to be returned, but we find that it is necessary to have it here for ready reference. We have again requested श्रीदामोदरलालजी, and he has promised to send it.

Now, what are the facts found on a careful examination of the हस्ताक्षर copy? We find that the leaves of the manuscript are divided into separate groups. A slip of paper is attached round each group, and on each of these slips are mentioned the portions of भाष्य which they contain. The hand-writing on these slips we find to be of श्रीपुरुषोत्तमजी, and we immediately perceive that 'इत आरभ्य प्रभूणां' was written by him after a careful ex^mination of the हस्ताक्षर manuscript itself, and our soul does homage to his genius, faculty for research, his carefulness and service to साम्प्रदायिक literature. We know that besides this भाष्य, he has also found and preserved the पाण्डुलेख of श्रीटिप्पणी, and he has traced one leaf of पत्रावलम्बन in श्रीवल्लभाचार्य's हस्ताक्षर. Let us now remove the slips of paper, and turn to चतुर्थाध्याय. The first page is written on both the sides as usual, and let us put it aside for a moment and take the second page. It is peculiar and immediately draws our attention. It was originally numbered १, which is subsequently changed into २. On one side only a few lines are written as under:—

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः॥ आवृत्तिरसकृदुपदेशात्॥ श्रुतिर्हि कर्मज्ञानभक्तीः हीनमध्यमोत्तमाधिकारिणः प्रति क्रमेण कर्तव्यत्वेन निरूपितवती। तत्राद्यस्या (चित्तशोधकत्वेन ज्ञानस्य पुरुषोत्तमप्राप्तौ सकलयोग्यतासंपादकत्वेन भक्तेः) (साक्षात् पुरुषोत्तमप्रापकत्वेन साधनत्वमिति तृतीयेऽध्याये बादरायणेन तत्तात्पर्यं निर्णीतं। अथ तुरीयेऽध्याये तत्तत्फलस्वरूपं निर्णीय) (ते। तत्र कर्मसामान्यं चित्तशोधकमुत तद्विशेष इति संशये विहितत्वाविशेषात्सामान्यं त) द्वौ फलमुच्यते। आवृत्तिरसकृदिति। जन्मप्रवाहः कर्ममार्गस्य फलं। तत्र हेतुरसकृदुपदेशादिति। आवृत्त्याऽसकृत्त्वद्युभयत्रापि संबध्यते।

This is the beginning of the चतुर्थाध्याय, and we find that the author's thoughts were not quite settled, so he made changes again and again and then left it, and he turned over to the other side of the page and began writing and he wrote as under:—

आवृत्तिरसकृदुपदेशात्। श्रुतिर्हि कर्मज्ञानभक्तीः साक्षात्परंपरामैवेन पुरुषार्थसाधनत्वेन हीनमध्यमोत्तमाधिकारिणः प्रति कर्तव्यत्वेन प्रतिपादयति। तत्र &c. The reader will find that this is from the beginning of the second interpretation of the first two सूत्रs of चतुर्थाध्याय. He began here and went on till the end. So, what is second interpretation (प्रकारान्तरेण सूत्रार्थं उच्यते) was the only interpretation when first written.

Now let us look at the first page. It begins as under:—'श्रीकृष्णाय नमः॥ समन्वयेनाविरोधात् साधनैर्ब्रह्मविदृदि। तस्यामिमव्यवस्था या' &c. All the कारिकाs are written in running lines. After the कारिकाs are over, we find 'अस्य फलप्रकरणत्वेपि साधनरूपस्यापि श्रवणस्यांतरंगत्वं ज्ञापयितुं तन्निर्धारमप्याह॥ ॥आवृत्तिरसकृदुपदेशात्॥ आत्मा वारे' &c. The last lines

on the first page are as under:—'तथापि शाब्दक्रमादार्थक्रमो बलीयानिति न्यायाश्रयस्य इति पदस्य पश्चात्संबंधे तूक्तरीतिर्नावसरं प्राप्नोतीति प्रकृतविचारस्य फलप्रकरणासंगतत्वमापतश्चीति प्रकारान्तरेण सूत्रार्थ उच्यते ॥' Here ends the first page. The reader will find that all this is exactly as we find in the present manuscripts, and we cannot but come to the conclusion that the whole of the first page containing the कारिकाs and the first interpretation of the two सूत्रs is subsequently added.

This leads us to the further question as to whose these कारिकाs are? Whether they were composed by श्रीवल्लभाचार्य, and श्रीविठ्ठलेश्वर having found them subsequently, incorporated them in his own work, or whether they are the composition of श्रीविठ्ठलेश्वर himself? In सुबोधिनी on १. १५. ३३, we find as under:—पञ्चात्मिविद्यायां ज्ञानोपयिकदेहसिद्धिर्निरूपिता, तस्मिन् देहे ज्ञाने जाते मुक्तिर्भवतीति तस्य च ब्रह्मविदो 'जीवतो म्रियमाणस्य गच्छतः सङ्गतस्य च' व्यापारा निरूपिताः। सद्योमुक्तावपि सायुज्यं निरूपितम्। The words जीवतो म्रियमाणस्य गच्छतः च are repeated in the second कारिका, and hence the doubt. Our opinion is that the words as well as the thought expressed therein are both very common, and at the most, they may have acted as मार्गदर्शक, but the language of the कारिकाs is quite different from that of the कारिकाs of श्रीवल्लभाचार्य, which are very concise. We therefore think that the whole is the composition of श्रीविठ्ठलेश्वर himself. In श्रीटिप्पणी also we have seen that the मङ्गलाचरण is added subsequently.

This is फलाध्याय, and the फल that is realised by ब्रह्मवित्, while he is living, is described in प्रथमपाद, his state while dying is described in द्वितीयपाद, his state in the journey is described in तृतीयपाद, and the final condition is described in चतुर्थपाद. The फल varies in मर्यादामार्ग and पुष्टिमार्ग, as well as in कर्म, ज्ञान and भक्तिमार्ग. A very lucid analysis of the whole is given by श्रीपुरुषोत्तमजी in वेदान्ताधिकरणमाला, and hence we refrain from repeating the same here.

We tender our heart-felt thanks to all those who have helped us in our work, and with feelings of joy we offer this fruit of our labour of love at the Lotus Feet of Lord S'rī Krishna.

Dhirajlal Varajdas Sankalia.
Jamnadas Kanji Morparia.
Hiralal Mulji.
Govardhandas Pragji.
Purshottam Kanji Morparia.

विषयानुक्रमणिका

(चतुर्थाध्यायस्य)

---

* इह मुद्रणाशुद्ध्या निशिनेत्यधिकरणस्य अतोन्याधिकरणत्वेन उल्लेखः प्रामादिकः पाठः

* प्रकाशवेदान्ताधिकरणमालयोः एतत्सूत्रत्रयम् अर्चिराद्यधिकरणान्तर्गतं भावप्रकाशिकायां तु श्रीपुरुषोत्तमाः अत्र भिन्नाधिकरणत्वम् इच्छन्ति.

* भावप्रकाशिकायाम् एतेषां सूत्राणां भिन्नाधिकरणत्वेपि "तेनेदं पूर्वोत्तरपक्षभेदेन एकमेव अधिकरणम्" इति प्रतिपादनम्.

परिशिष्टविषयानुक्रमः

इति श्रीमदणुभाष्य-चतुर्थाध्यायस्य
विषयानुक्रमणिका / परिशिष्टविषयानुक्रमः
सम्पूर्णा

श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्

पञ्चमो भागः

श्री प्रभुचरणके हस्ताक्षर

अणुभाष्य (३।२।३४) यह प्रथम मातृकाका पृष्ठ है. ठीक इसी अंशसे प्रभुचरणपूरित भाष्यांशका प्रारम्भ हो रहा है.

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम् ।

भाष्यप्रकाश-रश्मि-परिबृंहितम् ।



अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

प्रथमः पादः ।

समन्वयेनाविरोधात् साधनैर्ब्रह्मविद् यदि ।
तस्याग्रिमव्यवस्था या सा चतुर्थे विविच्यते ॥ १ ॥
जीवतो म्रियमाणस्य गच्छतः सफलस्य च ।

भाष्यप्रकाशः ।

अथ चतुर्थाध्यायं विवरिषवो यथा पूर्वाध्यायारम्भे कारिकाभिरध्यायार्थः पादार्थश्च सङ्गृहीतः, तथात्राध्यायार्थं पादार्थांश्च सङ्कलनाः पूर्वाध्यायसङ्गतिं निरूपणप्रकारं च बोधयितुं पूर्वाध्यायार्थान् स्मारयन्तः प्रस्तुताध्यायार्थं सार्धेनाहुः समन्वयेनेत्यादि। श्रुतीनां परस्पराविरोधाद् यो ब्रह्मणि सम्यगबाधितोऽन्वयः सम्यग्बोधनरूपस्तेनानुष्ठितैः साधनैर्यदि ब्रह्मविद् विरुद्धसर्वधर्माधारभूतब्रह्मविषयकनिर्विचिकित्सशाब्दज्ञानवान् भवति, तस्य जीवतो म्रियमाणस्य गच्छतः सफलस्य च याग्रिमव्यवस्था ज्ञानानुकूलप्रकारेण फलपर्यन्ता स्थितिः सा चतुर्थे फलाध्याये विविच्यते फलस्वरूपप्रकारबलानां निष्कर्षेणासङ्कीर्णतया

रश्मिः ।

निःसाधनजनोद्धारः ससाधनजनप्रियः ।
फलात्मा कृष्णपरमानन्दान् प्रादुश्चकार ह ॥ १ ॥

'आत्मा वा अर' इति श्रुत्युक्तदर्शनमत्र ज्ञेयम्। भक्तिमार्गीयभाष्यत्वात्। फलाध्यायं व्याकरिष्यमाणा मङ्गलमाचरन्ति स्म अथेत्यादिना। श्रवणमात्रेण मङ्गलसिद्धेः साधनाध्यायानन्तरमित्यर्थः। सङ्कलना इति। उभयपदी क्यादिस्तेन स्वाधिकारः सूचितः। सङ्गतिमिति। हेतुतारूपाम्। निरूपणेति। जीवत इत्यादिना निरूपणप्रकारम्। सम्यगिति। 'यतो वाचो निवर्तन्त' इति श्रुतिप्राप्ताशब्दत्वनिराकरणपूर्वकबोधनरूपो बोध्यतेनेन शब्देनेति बोधनः शब्दः। बोध्यत इति बोधनं ज्ञानम्। ताभ्यां रूप्यते व्यवह्रियते यः सम्बन्धः स सम्यग्बोधनरूपः। केचिद्वाक्यार्थमन्वयमाहुः। तेनेति। सम्बन्धेन वाक्यार्थैर्वानुष्ठितैः पूर्वं सर्वोत्तममार्गेणानुष्ठानं कर्ममार्गस्य। 'यथानुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणां भवे'दित्येकादशस्कन्धात्। तदनु नवधाभक्तिरेकादशकोनविंशाध्यायोक्ता। तदनुष्ठानम्। पश्चाद् गीतोक्ता ज्ञानयज्ञादीनां विधानमनुष्ठानं तथानुष्ठितैः साधनैः। सफलस्येति। मुक्त्या सह वर्तमानस्य। ज्ञानेति। सफलस्य पुरुषोत्तमज्ञानानुकूलप्रकारेण पुरुषोत्तमलीलानुभवः फलपर्यन्ता स्थितिः। विशेषात् पूर्वाधिकरणोक्तं स्मारितम्। फलेति। पूर्वपादे जीवतः फलादिकानां निष्कर्षेण, द्वितीये

अतो ब्रह्मविदा कार्यमेवमेव, न चान्यथा ॥ २ ॥
तामसीं बुद्धिमाश्रित्य ये मूढाः सर्वविप्लवम् ।
वदन्ति शास्त्रनाशाय सद्भिः शोच्याश्च येऽनु तान् ॥ ३ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

प्रकाश्यते । तथा च यथा समन्वयाविरोधाभ्यामुपनिषद्वाक्यानामाभासत्वनिराकरणेन तेषां ब्रह्मण्येव प्रमाणत्वम्, तेषु च ब्रह्मण एव प्रमेयत्वं व्यक्तीकृतम्, यथा च श्रुतीनां बोधकताप्रकारनिरूपणेनोपासनात्मकसाधनप्रकारनिर्णयाद् ब्रह्मविस्वं व्यक्तीकृतम्, तथात्रोपासनादिसाधनवतो ब्रह्मविदोवस्थानिरूपणात् क्रमेण साक्षाच्च प्राप्यस्य ब्रह्मणः फलत्वमुपपत्तिपूर्वकं निरूप्यत इत्ययं निरूपणप्रकारः, कार्यकारणभावोवसरश्च सङ्गतिरित्यर्थः ॥ १½ ॥

पूर्वाध्याये यावज्जीवं ज्ञानानुकूलसाधनानुष्ठानरूपं जीवतो ब्रह्मविदः कार्यं निरूपितमिति पुनरत्र तत्कथनस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाहुः अत इत्यादि । यतोयं सिद्धसाधनः, न तु प्राप्तफलः, अत ईदृशेन प्रथमपादोक्तरीत्यैव कार्यम्, न तु तूष्णीं स्थेयम् । 'तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्ये'ति प्रतिबन्धबोधकश्रुतेः । अतः सिद्धज्ञानस्याप्येतत्कर्तव्यताबोधनमेव प्रयोजनमित्यर्थः ॥ २ ॥

नन्वत्रान्ये 'किं प्रजया करिष्याम' इति श्रुत्या 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः । आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यत' इति गीतास्मृत्या च ब्रह्मविदः कार्यमात्रनिषेधमङ्गीकुर्वन्ति, तत्कथमत्र ब्रह्मविदः कार्यकरणशिक्षेत्याशङ्कायां तन्मतं दूषयितुमाहुः तामसीमित्यादि । 'अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता । सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी' इति गीतोक्तलक्षणका सर्वार्थवैपरीत्यबोधिका भ्रान्ता बुद्धिस्तामसी । तामाश्रित्य ये मूढा वैयासशास्त्रनाशाय सर्वविप्लवं सगुणब्रह्मविद्याविषयस्य ब्रह्मस्वरूपस्य वेदोक्तसाधनगुरूपदेशप्रभृतीनां मायिकत्वादिरूपं वदन्ति, ये च ताननु तदनुसारिणस्ते सद्भिः शोच्याः पूर्वोक्तश्रुतिस्मृत्युक्तस्य कार्यकरणनिषेधस्य बहिरङ्गसाधनविषयतयान्तरङ्गतद्विषयत्वाभावादबोध-

रश्मिः ।

म्रियमाणस्य फलादिकानाम्, तृतीये क्रममुक्तिः फलं तदादिकानाम्, तुरीये पुष्टिमर्यादाभेदेन फलं तदादिकानां निष्कर्षेणेत्यर्थः । **समन्वयेति** । प्रथमाध्यायार्थः समन्वयः, अविरोधो द्वितीयाध्यायार्थः ताभ्याम् । **अत्रेति** । तुरीयेध्याये । तृतीयाध्यायो**क्तोपासनादिसाधनवतः** । **अवसर** इति । शाब्दापरोक्षे भूयसामुपनिषद्भागानां तृतीयाध्यायसङ्गृहीतानां सन्दिग्धाङ्गानां च साधननिरूपकाणां वैय्यर्थ्यप्रसङ्गात् प्रतिबन्धकीभूतसाधनजिज्ञासानिवृत्तौ सत्यामवश्यवक्तव्यत्वमग्रिमावस्थाया इति पूर्वपादयोरस्य **चावसर** इत्यर्थः । साधनफलयोः कार्यकारणभावः **सङ्गतिः** स्पष्टा ॥ १ ॥ **निरूपित**मिति । सफलोपासनानां सफलभक्तीनां च निरूपणा**न्निरूपितम्** । **अय**मिति । ब्रह्मवित् । **तत्त्वेवे**ति । तत् वा इव विदुषोऽमन्वानस्य भयमित्युक्तया युक्तिभिरनुचिन्तनस्य मननत्वेन यदि साधनाध्यायेन ब्रह्मविदेव फली स्यात् फलाध्यायं न वदेदित्यादियुक्तिभिरनुचिन्तनस्य तत्वादेव मन्वानस्य भयं प्रतिबन्धकम् । 'उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधक'मिति भयरूपप्रतिबन्धकश्रुतेः । **सिद्धज्ञानस्य साधकस्यैतत्कर्तव्यताबोधनं** फलाध्यायोक्तकर्तव्यताबोधनम् ॥ २ ॥ **मायिकत्वादी**ति । **आदि**ना सगुणं कार्यं स्वतन्त्रत्वानि । शोच्यत्वमाहुः **पूर्वोक्ते**ति । अव्यवहितपूर्वाशङ्काग्रन्थोक्त**श्रुतिस्मृत्युक्तस्ये**त्यर्थः । **कार्यकरणे**ति । **कार्यकृतिनिषेधस्य** । अन्तरङ्गसाधनविषयत्वाभावाय 'यस्त्वात्मरति' श्लोकोत्तरश्लोकमाहुः

ब्रह्मविद्गमनाभावः शतांशेनापि चेद् भवेत् ।
शास्त्रमेतद् वृथा जातं सर्वसूत्रविनाशतः ॥ ४ ॥
स्वाप्ययस्य च सम्पत्तेरत्र ब्रह्मगतिश्रुती ।

भाष्यप्रकाशः ।

भ्रान्ता इत्यतः शोकविषयीकार्या एव, न तूपादेयवाक्याः । गीतायां 'यस्त्वात्मरति'रित्यादिवाक्यानन्तरं, 'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर । असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुष' इति तथा कर्मकरणावश्यकत्वकथनात् । अतः शिक्षाकथनमेवात्र युक्तम्, न तु साधननिरूपणस्य प्रासङ्गिकत्वकथनम् । साधनसिद्ध्यनन्तरमपि कर्तव्यतया फलविषयकपरोक्षानुभवरूपतया चावान्तरफलरूपत्वादित्यर्थः ॥ ३ ॥

नन्विदमप्रयोजकम्, 'तस्य तावदेव चिर'मिति श्रुतेर्ब्रह्मज्ञानोत्तरं सद्योमुक्तेरेव श्रावणात्, अतो ब्रह्मविदो न किञ्चित् कार्यम्, यत्पुनरत्रोक्तम्, तत्तु जघन्याधिकारिणां सगुणविद्यावतां फलसिद्ध्यर्थम्, अत एवाग्रे द्वितीयतृतीययोरुत्क्रान्तिगमनादिविचारोपि युज्यते, तस्मान्नोक्तं साधीय इत्यत आहुः ब्रह्मविदित्यादि । परब्रह्मविदो गमनाभावोर्चिरादिना क्रममुक्तिमार्गेण गमनस्य राहित्यं चेत्, शतांशेनापि प्रकारेण भवेत्, तदा एतत् तृतीयपादरूपं शास्त्रम्, सर्वेषां 'अर्चिरादि'सूत्रमारभ्य, 'विशेषं च दर्शयती'त्यन्तानां सूत्राणां विनाशतोऽब्रह्मप्राप्तिपरतया वैयर्थ्याद् वृथा जातम्, कार्यात्यये परप्राप्तेः साधनं विनापि सम्भवादिति॥४॥

नन्वत्र कोपपत्तिर्ययैतेषां सूत्रार्थानां परब्रह्मपरत्वं स्थाप्यत इत्यत आहुः स्वाप्ययस्येत्यादि । अत्र दहरविद्यारूपे ब्रह्मविद्गतिप्रकरणे स्वाप्ययस्य सुषुप्तेः सम्पत्तेर्ब्रह्मप्राप्तेश्च सम्बन्धिन्यौ ब्रह्मगतिश्रुती, 'अथ या एता हृदयस्य नाड्य' इत्यारभ्य, 'तेजसा हि तदा सम्पन्नो भवती'त्यन्ता, 'अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामती'त्यारभ्य, 'शतं चैका च पुरुषस्य नाड्य' इति श्लोकान्ता च ब्रह्मणि गमनबोधिके श्रुती पूर्वे वर्तेते । अतो भगवदुपन्यस्ते प्रजापतिवाक्येपि ते आदर्तव्ये ।

रश्मिः ।

गीतायामिति । **शिक्षे**ति । कार्यकरण**शिक्षाकथनम्** । **साधने**ति । तृतीयाध्याये । **प्रासङ्गिकत्वं** शाब्दापरोक्षोपपादने साधनानां स्मृतत्वाम् । **कर्तव्यतये**ति । 'साधनानामसिद्धवदावृत्तिः कर्तव्ये'ति सुबोधिन्याम् । **फले**ति । **परोक्षानुभवः** शाब्दानुभवः । **अवान्तरे**ति । शाब्दापरोक्षं परमफलम् ॥३॥ **अत्रोक्त**मिति । पूर्वकारिकयोरुक्तम् । **द्वितीये**ति । अध्याययोः । 'उत्क्रान्तिगत्यागती'त्यादिसूत्रै**र्द्वितीये** । 'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहती'त्यादिभि**स्तृतीये च विचारोपि युज्यते** । **परे**ति । गौणमुख्यन्यायेनोक्तम् । ब्रह्मविदोपि बोध्यम् ॥ ४ ॥ **एतेषा**मिति । तृतीयपादस्थानाम् । **परब्रह्मे**ति । अधोक्षज**परब्रह्मरूपफलपरत्वम्** । **अत्रे**ति । व्याख्येयम् । फलाध्याये **दहरविद्यारूपे ब्रह्मविद्गतिप्रकरणे** इति व्याख्यानम् । **ब्रह्मवि**दिति । 'यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहित'मिति श्रुतौ नास्ति यत्तस्यापि समाहित्युक्तेः कतिपयगुणैरधोक्षजपरब्रह्मविदपि । **प्रजापती**ति । प्रजापतेर्वाक्यं **प्रजापतिवाक्यम्** । 'एतद्ध स्म वैतत्पूर्वे ब्राह्मणा अनूचाना विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्याम' इत्यादिशारीरब्राह्मणे तस्मिन् । अत्र ब्राह्मणा इत्यत्र ब्राह्मणः प्रजापतिः । गोपालतापनीये 'तꣳहोवाच ब्राह्मण' इति श्रुतौ पर्यायतादर्शनात् ।

अन्यथा न श्रुतेरर्थः स्याच्चेद् व्यासो वदेन्न किम् ॥ ५ ॥
तामसीं बुद्धिमाश्रित्य या मुक्तिः कैश्चिदुच्यते ।
सा सुषुप्तिश्रुतेरर्थो मोहादेवान्यथामतिः ॥ ६ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

ज्ञेयस्यात्मन उभयत्राप्यैक्यात् । यतः प्रजापतिवाक्यरूपश्रुतेरर्थः अन्यथा न, पूर्ववाक्यविरुद्धो न । यदि स्यात्, तदा व्यासः सर्वस्य ब्राह्मपदार्थस्य निर्णयार्थं प्रवृत्तः फलविवेचनावसरे तमर्थं किं न वदेत्, अपि तु वदेदेव । तथा चानयोपपत्त्या तेषां ब्रह्मपरत्वं स्थाप्यत इत्यर्थः ॥५॥

ननु, 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते, अविनाशित्वान्न तु द्वितीयमस्ति, ततोन्यद्विभक्तं यत् पश्ये'दित्यादिना मुक्तौ भेददर्शनाभावश्रावणात्तत्र कथं ब्रह्मविदो गत्युपपत्तिरित्यत आहुः तामसीमित्यादि । पूर्वोक्तां बुद्धिमाश्रित्यास्यां श्रुतौ या निःसम्बोधा मुक्तिः साङ्ख्यमतवदिष्यते, सा निःसम्बोधा मुक्तिः सुषुप्तिश्रुतेरर्थः, शारीरब्राह्मणे तत्सजातीयवाक्यैस्तथा सिद्धत्वात् । अतः प्रजापतिवाक्यसिद्धायां मुक्तौ या तथा मतिः सा मोहादेव । तस्मात्

रश्मिः ।

शिष्याभिप्रायेण बहुवचनम् । उभयत्रेति । दहरविद्यायां शारीरब्राह्मणे च । पञ्चम्या उत्तरार्धं विवृण्वन्ति स्म यत इति । पूर्ववाक्येति । पूर्वं पूर्वत्वेनाङ्गीकृते वाक्ये दहरोक्ते । ताभ्यां विरुद्धो न । तदित्थम्, पूर्ववाक्ययोर्दहरविद्याख्ययोः प्रथमे सुषुप्तेः प्रतिपादनादकामो भगवान् सुषुप्तिरूप उक्तः, स गीतोक्ते कर्तर्यसक्ते प्रपञ्चाऽसक्तेऽवस्थारूपः, स एव 'किं प्रजया करिष्यामो येषां नायमात्मा नायं लोक'इति पूर्वं भवदुपन्यस्ते प्रजापतिवाक्येप्यसक्तः गीतोक्तः कर्ता, तत्राकामरूपो भगवान् सुषुप्त्यभिन्नः, अनुगमात् । द्वितीये सम्पत्तेः प्रतिपादनादोङ्काररूपजीवो मनःक्षेपं कुर्यात्, तदन्वादित्यद्वारा विदुषः प्रपदनं निरोधो नाशोन्येषां जीवानाम् । निरोधपदतात्पर्यार्थः प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूपः, स भगवद्दत्तो जीवधर्मः । सोप्यन्येषामविदुषां विद्वद्भिन्नानां भक्तानाम्, अन्यथा न्यूनताख्यनिग्रहस्थानापत्तेः । भूमत्वेन रूपेण निरोधस्य सम्पत्तित्वम् । 'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तमे'तिवाक्यात् । एषोक्ता सम्पत्तिरूपब्रह्मप्राप्तिः । सैव भवदुपन्यस्तप्रजापतिवाक्याग्रे 'स एष नेति नेत्यात्मे'ति श्रुतिः । अस्या 'अथात आदेशो नेति नेती'तिवदर्थः । अत्र पूर्वोक्तसम्पत्तेः ब्रह्मप्राप्तिरूपायाः स्वीकारः । अग्रे 'तस्यैव स्यात्पदवि'द्विति पादसेवनभक्तिमुक्त्वा 'ब्राह्मणो भवती'त्युक्तम् ततोपि 'ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयꣳहि वै ब्रह्म भवति य एवं वेदे'ति पठ्यते । एवं पूर्ववाक्याभ्यां विरुद्धो न । विरुद्धस्तु 'किं प्रजया करिष्याम' इत्यादेः । 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः । आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते' इतिवाक्यमात्रविषयो ब्रह्मविदः कार्यमात्रनिषेधपरोर्थः । तमर्थमिति । ब्रह्मविदः कार्यमात्रनिषेधपरमर्थं सूत्रैः किं न वदेत् । अनयेति । अर्थो विरुद्धः स्यात्तं सूत्रैर्वदेदेवेत्यनया तृतीयपादस्थानां सूत्रार्थानां परब्रह्मपरत्वं 'यस्त्वात्मरति'रितिवाक्याग्रेतने 'तस्मादसक्त' इति वाक्ये 'परमाप्नोति पूरुष' इति कथनात् स्थाप्यत इत्यर्थः ॥ ५ ॥ गत्युपपत्तिरिति । द्वितीयस्मिन् गत्युपपत्तिः । पूर्वोक्तामिति । द्वितीयकारिकाव्याख्यानोक्ताम् । निःसम्बोधेति । 'किं प्रजया करिष्याम' इत्यस्या अग्रे सम्पत्तिबोधिका 'स एष नेति नेत्यात्मे'ति श्रुतिः तया निःसम्बोधा मुक्तिरुच्यते । 'स एष नेति नेती'त्यस्याः तामसीं बुद्धिमाश्रित्य स्वमतरीत्या निःसम्बोधेति । सम्यग् बोधः सम्बोधः सविषयस्तस्मान्निर्गता निःसम्बोधा । 'देवस्तुर्यो विभुः स्मृत' इति मण्डूकोपनिषदि श्रावणात् तुर्यः तुरीयः विभुत्वमपि स्मृतम्, न तु वस्तुत इति निःसम्बोधा । प्रजापतीति । 'किं प्रजया करिष्याम' इति

अतो ब्रह्मविदः कार्यं जीवतः पूर्वमुच्यते ।
आवृत्तिः श्रवणादीनां नवकृत्वोपदेशतः ॥ ७ ॥
दर्शनार्थत्वतो लिङ्गादपि व्रीह्यवघातवत् ।
आवृत्तौ श्रवणादीनामात्मेति स्याद् दृढा मतिः ॥ ८ ॥
आपाततो दर्शनं तद्भेदेनापि बोध्यते ।
प्रतीकोपासनादीनां [1]नैवं भावो हि जायते ॥ ९ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

प्रथमे पादे यदुक्तम्, तत् ब्रह्मविदः शिक्षार्थमेव न तु साधनशेषतयेत्येव मन्तव्यम् । 'तत्त्वेव भय'मिति श्रुतेर्ज्ञानोत्तरमपि मननस्यावश्यकत्वादित्यर्थः ॥ ६ ॥

एवं पादप्रयोजनं निश्चित्य तदर्थमाहुः अत इत्यादि । यस्माद् ब्रह्मविदोपि जीवद्दशायां फलानुकूलं कार्यमावश्यकम्, अतः पूर्वं प्रथमपादे तदुच्यते । किं तदित्याकाङ्क्षायामाहुः आवृत्तिः श्रवणादीनामिति । तत्र गमकं हेतुत्रयम् । नवकृत्वोपदेशतः नवसङ्ख्यां कृत्वा य उपदेशः, नवकृत्वउपदेश इति यावत् । तस्मात् ॥ ७ ॥ लिङ्गात् स्मृतिरूपात् । व्रीह्यवघातवच्छ्रवणादीनां दर्शनार्थत्वतोपीति । सा आवृत्तिः प्रथमेधिकरणे उच्यते । तत्फलं द्वितीयमाहुः आवृत्तावित्यादि । आत्मेति । भगवानात्मा । तथा चेदं तस्यावान्तरफलमित्यर्थः ॥८॥ अवान्तरत्वं साधयन्ति आपातत इत्यादि । भगवतः सर्वात्मकत्वात् सर्वरूपत्वादात्मारसत्वाच्च तस्य यद् आत्मसूत्रप्रथमवर्णकोक्तरीत्या आत्माभेदेन दर्शनम्, तद् आपाततो दर्शनमिति बोध्यते । अपिशब्दाद्यथाधिकारमात्मोपदेशरूपं द्वितीयं ब्रह्मविदः कार्यं च । प्रतीकमुपासनं येषां ते प्रतीकोपासनाः । आदिपदात् कर्ममार्गीयाश्च । तेषां हि यतो हेतोर्भावो ज्ञानित्वं भक्तिर्वा नैव जायते ॥९॥ अत आलम्बनार्थं ध्यानविषयतया ग्रहणार्थम्, तत्रापि अन्यैः प्रतीक-

रश्मिः ।

वाक्यसिद्धायां ससम्बोधायां मुक्तौ तथा निःसम्बोधत्वेव मतिः सा मोहात् ज्ञानावरकतमोधर्मात् । ससम्बोधत्वं तु मण्डूके 'स्मृत' इत्यनेन स्मृतिविषयः, स्मृतौ तु श्रीभागवतरूपायामधोक्षजस्यैपि 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इति तुरीय इत्युक्त्वा व्रजे क्रीडितोक्तः । विद्वन्मण्डनेपि बृहद्वामनपुराणवचनैर्वृन्दावनादिस्थगोपीजनवल्लभ उक्तः । एवं च कतिपयगुणैः स्मार्तैरधोक्षजः स्मृतः ससम्बोध इति । तुरीयः ससम्बोधमोक्षरूप इति । साङ्ख्यमते विशेषतो वदिष्यते । साधनशेषेति । ब्रह्मविदः कार्यमात्रनिषेधशेषतया 'तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्येति' श्रुतिः । तदुच्यत इति । जीवतः कार्यमुच्यते । यतो द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यां जीवतो म्रियमाणस्य च 'तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः । श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्' इतिवाक्येन कार्यकर्मसमाचरणमुक्तम् । तद् द्वयमत्र गृहीतम् । तद्दितीति । कार्यं कर्म । द्वितीय इति । आत्माधिकरणे । दृढमिति । दृढं मननम् । तच्च वस्तुविशेषविषयकम् । तस्येति । श्रवणाद्यावर्तनस्येत्यर्थः । यथाधिकारमिति । भेदाधिकारे भेदोपदेशोपि । प्रतीकमङ्गमुपासनकरणमुपासनविषयं येषामुपासकानाम् । नैवेति । कर्मसु देशादिषण्णामशुद्ध्योपासनासु श्रद्धाभावादिप्रतिबन्धकेन चित्तशुद्ध्यभावान्नैव जायते । कर्मोपासनाभ्यां स्नेहवतामदर्शनादेवकारः ॥९॥ ग्रहणार्थमिति । आत्मनो ग्रहणार्थम् । तत्रापीति । व्याख्येयम् ।

१. नैवेति प्रकाशः ।

आलम्बनार्थं तत्रापि ब्रह्मदृष्टिर्विशिष्यते।
आदित्यादिब्रह्मदृष्टेरङ्गत्वं न स्वतन्त्रता ॥ १० ॥
मनने च निदिध्यासे विशेषश्चोच्यतेधुना।
आसनादिषडङ्गैस्तु चित्तं श्रौतार्थ एव हि ॥ ११ ॥

भाष्यप्रकाशः।

त्वेनोच्यमाने विषयेपि, ब्रह्मदृष्टिर्विशिष्यते विशेषबोधिका भवति। सापि तदीयं कार्यम् ॥९½॥

तृतीयाधिकरणस्यार्थमाहुः आदित्येत्यादि। स्पष्टम्। मनने चेत्यादि। अधुना आदित्यादिमत्या आदित्याद्युपासनेन आदित्यादिभिः फलदानद्वारा माहात्म्यप्रतिपादनेन भक्तिद्वारा मनने, निदिध्यासे, भावे घञ्, निदिध्यासने च विशेषो भगवतो बहिरन्तःप्राकट्यरूपश्चोच्यते। तेन फलस्यापाततोनुभवप्रकारो मनननिदिध्यासनरूपं तृतीयं कार्यम्। तेन फलमाहुः आसनादीति। आसनं भगवतो बहिःप्रकटस्य उपवेशनम्। आदिपदेनान्तरुपवेशनं लीलाप्राकट्यं च, तेषां यानि षडङ्गानि श्रवणाद्यावृत्तिः, आत्माभेददृष्टिः, तथा ग्रहणम्, अप्रतीकोपासनम्, सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिः, आदित्यादिष्वङ्गबुद्धिश्च, तैश्चित्तं श्रौतार्थे भगवति

रश्मिः।

अन्यैरिति व्याख्यानम्। विशेषेति। ब्रह्मेत्युपास्ते सर्वत्रब्रह्मदृष्टिरधिकारिणि विशेषस्योत्कर्षस्य बोधिका भवति। सापीति। ब्रह्मदृष्टिरपि। तदीयं विद्वज्जीवीयम्। स्पष्टमिति। मधुब्राह्मणे 'य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्त' इति श्रुत्युक्ताया आदित्यादिषु ब्रह्मदृष्टेः। अङ्गत्वमिति। नत्वादित्यो ब्रह्माङ्गमिति न ब्रह्मेति। स्वतन्त्रतेति। ब्रह्मवत् स्वराश्रता। कर्तृत्वम्। एवं स्पष्टमित्यर्थः। अधुनेति। व्याख्येयं पूर्वार्थानुसन्धाने। श्रवणानुसन्धानेन मनननिदिध्यासयोर्वक्तव्ययोः सतोः। आदित्याद्युपासनेन चित्तशुद्धिः। इदं श्रवणादिकमुपासनाङ्गम्। अतो भक्तौ कारणं माहात्म्यमाहुः। आदित्यादिभिरिति। माहात्म्येति। यतो यदङ्गं फलं ददातीति देवनं माहात्म्यम्, तस्य भक्तिकारणस्य प्रतिपादनेन कारणरूपेण। भक्तीति। उक्तचित्तशुद्धिसाधिदैविकीति भक्तिः, सा प्रेमलक्षणा, तद्द्वारा। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' इति मैत्रेयीब्राह्मणश्रुत्या मनने इत्यर्थः। भावे घञिति। निदिध्यास्यते निदिध्यासः, इति निदिध्यासनं समाधिस्तस्मिन्। भगवतो बहिरिति। तेन मनने ध्यानमेकैकाङ्गमनोनिवेशनरूपं बहिरन्तःप्राकट्यकारणं बोध्यम्। फलस्येति। अध्यायार्थस्याव्याप्तिः परिहृता। तैत्तिरिशाखारूपस्य द्वादशस्कन्धोक्तस्य आदित्यादिभिर्दत्तफलस्य यथाकथञ्चित् फलस्यात्राध्याये सत्त्वात्। आपाततः आत्माभेदेन दर्शनात्। तेनेति। उक्तसाधनेन। सूत्रैरधुनोच्यत इति पूर्वकारिकायां करणोपलब्धेराहुः आसनं भगवत इति। यद्यपि 'भक्त्या प्रसन्ने तु हरौ तं योगेनैव योजये'-दितितृतीयस्कन्धकारिकया श्रौतः षडङ्गयोगः प्राकट्यानन्तरं वक्तुमुचितः, 'ततः सिद्धिमवाप्स्यती'त्यपि सम्भवः। एकादशे सेवानन्तरं सिद्धिनिरूपणात्। किञ्च मनने ध्याननिवेशाद्धारणोपस्थितिर्भवति। अधिकारस्कन्धानन्तरं साधनस्कन्धे ध्यानधारणयोर्निरूपणात्। तथापि यावत् पर्यन्तमासीनसूत्रस्य धर्मिपरत्वं सम्भवति, तावत्पर्यन्तं न दैशिकत्वम्, सूत्राणां सारवद्विश्वतोमुखत्वेप्यत आहुः, आसनं भगवत इति। प्रकटस्येति। अव्यवहितपूर्वोक्तप्राकट्यवत इत्यर्थः। आसीनसूत्रे। अन्तरुपेति। ध्यानाच्चेतिसूत्रे उक्तम्। लीलाप्राकट्यमिति। अचलत्वं चेति सूत्रे। श्रवणाद्यावृत्तिरिति। लिङ्गाच्चेति सूत्रे श्रवणाद्यावृत्त्यङ्गम्, अतः आत्मेतिसूत्रार्थमाहुः आत्माभेददृष्टिः। तथा ग्राहणमिति। न प्रतीकेनेति सूत्रार्थमाहुः 'अप्रतीके'ति। ब्रह्मदृष्टिसूत्रार्थमाहुः सर्वत्रेति। आदित्यादिमतिसूत्रार्थमाहुः

धारयेदामतेरेवं ततः सिद्धिमवाप्स्यति।
धर्माधर्मभयं तस्य नास्त्येवेति विनिश्चयः ॥ १२ ॥
अग्निहोत्रादिकं कार्यं सन्न्यासः फल एव हि।
षोढा चेत् पुरुषो व्यक्तः प्रारब्धान्ते फलं भवेत् ॥ १३ ॥
एतावान् प्रथमे पादे निर्णयः सूत्रकृत्कृतः।
द्वितीये म्रियमाणस्य सर्वेन्द्रियलयः पुरा ॥ १४ ॥
लिङ्गस्यापि शरीरस्य नाड्योत्क्रान्तिरिहोच्यते।
दिनायनकृतो नास्य विशेषोस्तीति चोच्यते ॥ १५ ॥
तृतीये क्रममुक्तौ यो मार्गो यस्य श्रुतेर्मतः।
तन्निर्द्धारोन्यमार्गीयाणामप्राप्यत्वं च वर्ण्यते ॥ १६ ॥
गन्तव्यं च परं ब्रह्म कार्यो लोकस्तु नेति च।
तुरीये पुष्टिमर्यादाभेदेन फलमुच्यते ॥ १७ ॥
प्रभोरेव फलत्वं तन्निर्दोषत्वं च वर्ण्यते।
लीलानित्यत्वतः पूर्णगुणत्वं च ततोखिलम् ॥ १८ ॥

भाष्यप्रकाशः।

धारयेत्। तदपि, आमतेः, मननमारभ्य, एवं उक्तप्रकारेण, ततः तदुत्तरम्, सिद्धिं भगवदासनादिसम्पादकोत्कटस्नेहसम्भवरूपामवाप्स्यति। एवं आप्रायणसूत्रान्तस्यार्थ उक्तः।

तदधिगमादिसूत्रार्थमाहुः धर्मेत्यादि। अग्निहोत्रादिसूत्रार्थमाहुः अग्निहोत्रेत्यादि। फल इति। फलनान्तरीयकदशायाम्। तदावश्यकत्वाय फलप्राप्तिप्रकारमाहुः षोढेत्यादि। प्रथमपादार्थमुक्त्वोपसंहरन्ति एतावानित्यादि ॥ १३½ ॥

द्वितीयस्याहुः द्वितीय इत्यादि। सर्वेन्द्रियलय इति। पुष्टिमार्गीयस्य भगवति, मर्यादामार्गीयस्य भूतेषु। इहेति। जघन्याधिकारिणि उत्क्रान्तिरित्यर्थः। तृतीयस्याहुः। तृतीय इत्यादि। यस्येति। अधिकारिणः। अन्यमार्गाणामिति[1]। अन्ये मार्गा उपाया येषां ते तथा, तेषाम् ॥ १६½ ॥

रश्मिः।

आदित्यादिष्विति। उक्तप्रकारेणेति। षडङ्गैः। भगवदासनादीति। आदिना ध्यानाच्चेत्यादिसूत्रोक्तम्। अनेन 'स्मरन्ति चे'ति सूत्रार्थ उक्तः। यत्रैकाग्रतासूत्रार्थः पूर्वशेषः। अनुव्यवसायनिर्णायकाप्रायणसूत्रार्थोपि पूर्वशेषः। आप्रायणेति। भाष्यस्य। धर्मेत्यादीति। तत्रैव स्पष्टम्। अग्निहोत्रादीति। ननु इतरस्याप्येवमित्यादिसूत्रद्वयस्य कावर्थाविति चेत्। न। सूत्रद्वयार्थयोः पूर्वशेषत्वेन तदधिगमादिसूत्रार्थमित्यत्रादिपदार्थत्वात् तदधिगमादिसूत्राणामर्थमिति षष्ठीतत्पुरुषात्। फलनान्तरीयकेति। फलदशायामित्युक्ते भोगेन त्वितरे इति सूत्रे सन्न्यासः फलायाक्षेप्यः तद्वदात्मेति तूपगच्छन्तीत्यत्रामुख्येपि स्यादतो नान्तरीयकेति दशाविशेषणम्। न अन्तरीयके मध्ये भवा दशा नान्तरीयकदशा, फलस्य नान्तरीयकदशा फलनान्तरीयकदशा तस्याम्। तदावश्यकेति। सन्न्यासावश्यकत्वाय। षोढेत्यादीति। उक्तैः षडङ्गैः। प्रारब्धान्त इति। भोगेन त्वितरे इति सूत्रे स्फुटम् ॥ १३ ॥

द्वितीयस्येति। पादस्यार्थमाहुः। जघन्याधिकारिणीति। जघन्यानामधिकारोस्यास्तीत्य-

[1] मार्गाणामिति प्रकाशकाराभिमतः पाठः।

अस्य फलप्रकरणत्वेपि साधनरूपस्यापि श्रवणस्यान्तरङ्गत्वं ज्ञापयितुं तन्निर्धारमप्याह।

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ १ ॥ (४-१-१)

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' इत्यादिवाक्यैर्विहितं श्रवणादिकं किं सकृदेव कर्तव्यम्, उतासकृदिति भवति संशयः। किं तावत् प्राप्तम्, सकृदेवेति। तावतैव शास्त्रार्थस्य सम्पत्तेः। न च तण्डुलनिष्पत्तिफलकावघातस्येव दर्शनफलकानां श्रवणादीनां तत्सिद्धिपर्यन्तमावृत्तिर्न्यायप्राप्तेति वाच्यम्। अवघातस्य वितुषीकरणात्मकदृष्टद्वारकत्वेन तथात्वमस्तु नाम, प्रकृते त्वदृष्टद्वारकत्वात् सकृत्कृतेनैवादृष्टद्वारा फलसम्पादनसम्भवादावृत्तिरप्रयोजिकेति प्राप्ते, उच्यते। आवृत्तिरेव श्रवणादीनां श्रुत्यभिमता। कुतः? असकृदुपदेशात्। छान्दोग्ये श्वेतकेतूपाख्याने 'ऐतदात्म्यमिदꣳ सर्वम्,

भाष्यप्रकाशः।

तुरीयार्थमाहुः तुरीय इत्यादि। सामान्यत उक्त्वा तत्र विशेषमाहुः प्रभोरित्यादि। अत्र प्रभोः फलत्वं 'आत्मा प्रकरणा'दित्यादिसूत्रद्वये, तन्निर्दोषत्वं च 'तत्त्वभावे संध्यव'दित्यादिसूत्रद्वये, शेषं 'जगद्व्यापारवर्जा'दिसूत्रेषु। ततोखिलमिति। ततः तादृशनिरूपणाद्धेतोः। अखिलं लीलाविशिष्टं स्वरूपं फलमित्यर्थः ॥ १८ ॥

एवं पादार्थनिरूपणमुखेनाध्यायार्थं निरूप्य सूत्राणि व्याचिकीर्षन्तोत्र फलप्रकरणे साधननिरूपणस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां तत्प्रयोजनं वक्तुं सूत्रमवतारयन्ति अस्येत्यादि। अन्तरङ्गत्वमिति। फलपूर्वकक्षारूपतया फलमध्यपातित्वेन तदुपकारकत्वम् ॥

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ १ ॥ अस्याधिकरणस्याथ विषयादिकमाहुः आत्मेत्यादि। इति प्राप्त इति। द्वारविचारेणावृत्त्यानर्थक्ये प्राप्ते। हेतुं व्याकुर्वन्ति छान्दोग्य इत्यादि।

रश्मिः।

धिकारि योनिशरीरादि तस्मिन्। भाष्ये। लिङ्गस्येति। नाक्येति। तदोकोग्रज्वलनसूत्रादिषु। अस्येति। विदुषः। तथेति। अन्यमार्गीस्तेषाम्। शेषमिति। भोगे लौकिकव्यापारयुतत्वाभावादि। अध्यायार्थमिति। अनावृत्तिःफलमध्यायार्थः उपक्रमापेक्षयोपसंहारस्य 'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दा'दितिसूत्रीयस्यासञ्जातविरोधित्वात्। अनावृत्तत्वेन फलं गृह्यते। तच्च सपरिकरं बोध्यम्। तेन साधनादिनिरूपणे नाव्याप्तिः ॥ १८ ॥

फलप्रकरण इति। देशकालौ प्रकरणम्, निबन्धे स्पष्टम्। तथा च देशकालयोरित्यर्थः। तत्प्रयोजनमिति। साधननिरूपणस्य प्रयोजनं फलसाधनयोरेकीकारः तस्यापि प्रयोजनं 'स्वयमेवात्मनात्मान'मिति वाक्यानुकूलत्वम्। फलपूर्वेति। स्वरूपस्य साधनत्वेनाङ्गीकारात् तथा। अत्र भूमत्वेनैक्येपि सर्वात्मभावस्य दानसाध्यत्वाद्विलम्बोपस्थितिकत्वादप्रसिद्धत्वाच्च, ज्ञानमात्रं परं ब्रह्मोक्तज्ञानशक्तिरूपं साधनं तदनतिरिक्तत्वेन श्रवणं गृहीतम्, तच्च न श्रोत्रेण शब्दसाक्षात्काररूपम्। जगत्साधारणत्वात्। किन्तु भगवद्वाचकपदवाक्यानां भगवति शक्तितात्पर्यनिर्धारणरूपम्। भक्तिरत्नटीकायां स्पष्टीकृतम्। फलमध्येति। यद्यपि सर्वात्मभावः फलमध्यपाती भूमत्वात्तथापि ज्ञानकाण्डे श्रवणरूपं ज्ञानं फलमध्यपाति। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्य' इति श्रुतौ दर्शनरूपज्ञानसाधनज्ञानत्वेन ज्ञानत्वेनैक्यात्, ज्ञानं फलं साधनं च। तदुपकारकत्वं फलाविर्भावकत्वम्।

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ १ ॥ द्वारेति। दृष्टादृष्टद्वारविचारेण। स्यादिति। पुरुषार्थ-

तत्सत्यम्, स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इतिवाक्येन जडजीवयोर्ब्रह्मात्मत्वं नवकृत्व उपदिष्टवान्। तथा च सकृदुपदेशेनैव चेदर्थसिद्धिः स्यात्, तदैकमेवार्थमेकस्मा एकदैवासकृन्नोपदिशेत्। प्रयोजनाभावात्। एतेनावघातवदन्तःकरणदोषनिवर्तनं दृष्टं द्वारमन्येषामुपदेशानाम्, चरमस्य तस्य ज्ञानसाधकत्वमिति मन्तव्यम् ॥ १ ॥

अत्रैव हेत्वन्तरमाह।

लिङ्गाच्च ॥ २ ॥

श्रुत्यनुमापकत्वेन स्मृतिर्लिङ्गमित्युच्यते। सा च, "यथा यथात्मा परिमृज्यतेसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः। तथा तथा पश्यति तत्त्वसूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम्' इत्यादिरूपा, तदावृत्तिमेव फलसाधकत्वेनाह। अत्र दृष्टान्तेनापि दृष्टद्वारकत्वं श्रवणादीनां सूच्यते। 'आत्मा वाअरे द्रष्टव्य' इतिपदेन

भाष्यप्रकाशः।

अर्थसिद्धिः स्यादिति। अदृष्टद्वारा स्यात्। अवघातवदिति। सप्तम्यर्थे वतिः। तेन तत्र यथा वैतुष्यमेवमत्रान्तःकरणदोषनिवर्तनम्, अतो नादृष्टमत्र द्वारम्, किन्तु दृष्टमेवात आवृत्तिरावश्यकी। तत्र यथान्येषामवघातानां वैतुष्यजनकत्वम्, चरमावघातस्य तण्डुलनिष्पादकत्वम्, एवमत्रान्येषामुपदेशानामन्तःकरणदोषनिवर्तनम्, चरमस्योपदेशस्य तु मनसा साक्षात्कारे जनयितव्ये तत्सहकारितया ज्ञानसाधकत्वम्। शब्दादपरोक्षमितिवादस्य प्रागेव निरस्तत्वात्। न च चरमोपदेशस्य करणत्वमेवास्त्विति शङ्क्यम्। तथा सति प्रत्यक्षसामग्रीनैर्बल्येपि तत् स्यात्। तथा सत्यसकृदुपदेशो मननादिविधयश्च मुधैव स्युः। सामग्रीप्राबल्यार्थमेव तदुपयोगात्। प्रबलायां च तस्यां शब्दस्य सहकारित्वमेव। लोके तथा दर्शनादिति। तस्मादावृत्तिरावश्यक्येवेत्यर्थः ॥ १ ॥

लिङ्गाच्च ॥ २ ॥ सूत्रमवतारयन्ति अत्रैवेत्यादि। अत्रैवेति। आवृत्तावेव। किं लिङ्गमित्यपेक्षायां व्याकुर्वन्ति श्रुतीत्यादि। स्मृतावात्मपदमन्तःकरणपरम्। दृष्टान्तेनेति।

रश्मिः।

सिद्धिः स्यात्। भाष्ये। अर्थमुपदेशरूपम्। एकस्मै श्वेतकेतवे। एकदा एककाले। प्रकृते। तत्रेति। अवघाते। अत्रेति। श्रवणे। प्रागेवेति।..........। तत्स्यादिति। शाब्दापरोक्षं स्यात्। मननादीति। आदिना निदिध्यासनं 'मनसैवानुद्रष्टव्य'मिति च। तदुपेति। तेषामसकृदुपदेशादीनामुपयोगात्। तस्यामिति। प्रत्यक्षसामग्र्याम्। शब्दस्य उपदेशस्य। लोक इति। 'दशमस्त्वमसी'त्यादौ।

लिङ्गाच्च ॥ २ ॥ श्रुतीत्यादीति। आहेति। व्यञ्जनयाहेत्यर्थः। यथा यथेत्यत्र वीप्सा। अत्र व्यञ्जना, तयार्थः आवृत्तिरूपः प्रतीयते। दृष्टान्तेनेति। अत्र चक्षुषोञ्जनपरिमृष्टता दृष्टं द्वारम्। दृष्टद्वारकत्वमिति। आत्मपरिमृष्टता दृष्टं द्वारम्। एतावत्पर्यन्तमयमशुद्धान्तःकरणः, अधुना श्रवणाभिधानैः शुद्धान्तःकरण इति प्रतीतेः। एवं च दृष्टं द्वारमनुमितं द्वारम्। यद्वा। योगिभिर्दृष्टं 'अनागत-

१ अत्राक्षररहितपङ्क्तिदर्शनाल्लेख्यमवशिष्टं दृश्यते तेन तृतीयाध्यायचतुर्थपादस्य द्वादशे सूत्रे शाब्दपरोक्षज्ञानस्य ब्रह्मज्ञानत्वाभावादित्यादिभावोत्रापि ग्रन्थकृदभिमतो भवेदिति ध्येयम्।

२ ब्र० सू० ८०

श्रवणादीनां फलात्मकं दर्शनं पूर्वमुक्त्वा, 'श्रोतव्यो मन्तव्य' इत्यादिना तत्साधनानि पश्चाद्यदाह तेनात्मनः परोक्षमपि ज्ञानमवान्तरफलरूपमिति भक्तिमार्गे परमफलरूपतत्सजातीयत्वेन च फलमध्यपात्येवेति श्रुत्यभिमतमिति ज्ञायते । तेन सूत्रकृदपि फलप्रकरणेपि साधनविचारं चकारेति निगूढाशयः ।

भाष्यप्रकाशः ।

चक्षुर्दृष्टान्तेन । एवञ्च पूर्वाध्याये कर्मोपसंहारे 'सर्वथापि त एवोभयलिङ्गा'दित्यनेन श्रवणादीनां भगवद्धर्माणां यदवश्यकर्तव्यत्वमुक्तम्, तस्यावान्तरफलत्वाय तत्प्रकारोत्र फलाध्याये प्रथमत एव सूत्रद्वयेन दर्शितः । तेषां कथमवान्तरफलत्वमित्याकांक्षायां श्रवणादीनामवान्तरफलत्वे बीजमाहुः **'आत्मा वाअर'** इत्यादि । **तत्सजातीयत्वेनेति** । एकविषयतया साक्षात्कारसजातीयत्वेन । तथा च भक्तिमार्गेपि 'सतामयं सारभृतां निसर्गो यदर्थवाणीश्रुतिचेतसामपि । प्रतिक्षणं नव्यवदच्युतस्य यत् स्त्रिया विटानामिव साधुवार्ता' इति न्यायेनाभीष्टरूपत्वादवान्तरफलत्वं बोध्यम् । 'या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी । त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पत्वि'ति वैष्णवे प्रह्लादवाक्यादपि तथेत्यर्थः । अत्र गमकमाहुः तेनेत्यादि ॥ २ ॥

एवमेकेन प्रकारेण सूत्रं व्याख्याय तत्र दोषाभावेपि श्रुतौ कर्मज्ञानभक्तीनां मार्गोणामुक्तत्वेपि ज्ञानभक्त्योरेव फलत उत्कृष्टत्वम्, न तु कर्ममार्गस्यापीति श्रुत्याशयं स्फुटीकर्तुमत्र कर्ममार्गस्य फलजाघन्यमपि बोधयतीति हृदिकृत्वा प्रकारान्तरेण व्याख्यातुं तद्बीजमाहुः तथापीत्यादि । अस्मिन् दर्शने शब्दस्यैव प्राधान्याद् यद्यपि शाब्द एव क्रमो मुख्यः, तथापि तत्र-

रश्मिः ।

मतीतं चे'ति वाक्यात् । **अवान्तरफलस्य** इति । तदित्थम् । श्रवणस्य शब्दपरोक्षज्ञानत्वम् । उक्तलक्षणाभ्याम् । **आदिना** कीर्तनस्मरणे । परोक्षज्ञानरूपे । कीर्तनं **शब्दोच्चारणं** तच्छाब्दज्ञानपर्यन्तमिति परोक्षज्ञानरूपम् । एकविषयकतयावान्तरफलत्वम् । तत्र बीजमाहुः **बीजमिति** । **'द्रष्टव्य'** इति फलोत्तरोक्तिरूपम् । **'आत्मा वाअर' इत्यादीति** । 'भक्त्या जानाति चाव्यय'मिति श्रुतिः, 'भक्त्या मामभिजानाती'ति स्मृतिः । **फलात्मकमिति** । भक्तिफलात्मकम् । **परोक्षमिति** । शाब्दं ज्ञानम् । **अवान्तरेति** । भगवद्विषयकज्ञानस्य फलत्ववदर्थाभेदात्तद्वाचकशब्दजन्यतज्ज्ञानस्यापि फलत्वमिति अवान्तरफलरूपमित्यर्थः । शब्दार्थयोरौत्पत्तिकसम्बन्धात् । **एकविषयतयेति** । परमफलेन रूप्यते व्यवह्रियत इति **परमफलरूपं** ज्ञानम्, विषयेण व्यवहारात् । परमफलरूपं च शब्दार्थयोरौत्पत्तिकसम्बन्धात् । तत्तत्सजातीयं परमफलरूपतत्सजातीयम् । तस्य भावः परमफलरूपतत्सजातीयत्वं तेनेत्यर्थः । **ज्ञायत** इति । एकस्यैव पाठार्थक्रमभेदेन श्रवणादिभ्यः पूर्वमार्थक्रमेणोत्तरं च द्रष्टव्य इत्यस्यान्वयात् । तथा चैको भगवान् विषयो ययोः शाब्दापरोक्षयोर्ज्ञानयोः ते एकविषये तयोर्भावः एकविषयता तया । इयं परोक्षज्ञानस्य । **नव्यवदिति** । प्रथमान्ताद्वतिः । विटानां स्त्रियाः साधुवार्तेव । **बोध्यमिति** । शाब्दपरोक्षस्य बोध्यम् । **वैष्णव** इति । विष्णुपुराणे । **तथेति** । अवान्तरफलत्वम् । **अत्रेति** । साधनरूपेऽवान्तरफले । **गमकं** प्रमाणं व्याससूत्रात्मकम् । **निगूढेति** । निगूढश्चासावाशयो निगूढाशयः, आशयोभिप्रायः स निगूढोशब्दार्थः । किन्तु तात्पर्यार्थः । **न तु कर्मेति** । ज्ञानकाण्डत्वात् 'तमेतं वेदानुवचनेने'ति श्रुतिप्रवृत्त्या तथा । **तद्बीजमिति** । व्याख्यानबीजं फलप्रकरणासङ्गतत्वापातरूपम् । **अस्मिन्निति** ।

तथापि 'शाब्दक्रमादार्थक्रमो बलीया'निति न्यायात् 'द्रष्टव्य' इति पदस्य पश्चात्सम्बन्धे तूक्तरीतिर्नावसरं प्राप्नोतीति प्रकृतविचारस्य फलप्रकरणासङ्गतत्वमापततीति प्रकारान्तरेण सूत्रार्थ उच्यते आवृत्तिरसकृदुपदेशात् । श्रुतिर्हि कर्मज्ञानभक्तीः साक्षात्परम्पराभेदेन पुरुषार्थसाधनत्वेन हीनमध्यमोत्तमाधिकारिणः प्रति कर्तव्यत्वेन प्रतिपादयति । तत्र तेषां स्वरूपं तृतीयेध्याये बादरायणेन प्रतिपादितम् । अथ तुरीयेध्याये तेषां फलं चिन्त्यते । तत्रादौ कर्ममार्गस्य फलमुच्यते । ज्ञानभक्त्योरेव क्रमेणोत्तमात्युत्तमफलकत्वम्, अतस्तत्साधनत्वेनैव तत् कर्तव्यम्, न तु स्वातन्त्र्येणेति ज्ञापयितुम् । आवृत्तिरिति । कर्ममार्गस्या-

---

भाष्यप्रकाशः ।

द्वयस्यैकशाख्यात् पूर्वतन्त्रस्याप्यादरणीयत्वम् । तत्र च क्रमलक्षणे 'क्रमकोपोर्थशब्दाभ्यां श्रुतिविशेषादर्थपरत्वाच्चे'त्यत्र 'अग्निहोत्रं जुहोति यवागूं पचती'त्यादौ शाब्दक्रमादरे यवाग्वाः पाकस्य च वैयर्थ्यप्रसङ्गाददृष्टार्थत्वादरे च गौरवात्तमनादृत्य यवाग्वा होमसम्भवेन पूर्वोक्तदोषासम्भवादर्थक्रम एव युक्त इति निर्णीतम् । तन्न्यायाद् द्रष्टव्यादिवाक्येपि दर्शनानन्तरं श्रवणादीनां वैयर्थ्यप्रसङ्गः फलसिद्ध्या मोक्षस्यैव सम्भवेनादृष्टस्यापि कल्पनायोग इति शाब्दं तमनादृत्य तेषां साधनतया पूर्वमेव सम्बन्धो युक्त इति कश्चिदुद्भावयेत्, तदोक्तरीतिरनवसरपराहता स्यादतस्तथोच्यत इत्यर्थः । एवं प्रकारान्तरं प्रतिज्ञाय तस्मिन् पूर्वाध्यायसङ्गतिं वदन्तः प्रस्तुतार्थमाहुः श्रुतिर्हीत्यादि । तत्र तेषां स्वरूपमिति । तत्र साधनविचारे तेषां कर्मज्ञानभक्तिरूपाणां पुरुषार्थसाधनानां स्वरूपं स्वं प्रति नियतं फलोपयोगि रूपम् । अध्यायार्थमुक्त्वा सूत्रमवतारयन्ति तत्रादावित्यादि । तत्कर्तव्यमिति । कर्म कर्तव्यम् । तथा च मार्गान्तरप्रवेश एव कर्मण उत्तमफलत्वम्, स्वतो मार्गत्वे तु जघन्यफलत्वमिति ज्ञापनाय कर्ममार्गफलमुच्यत इत्यर्थः । व्याकुर्वन्ति कर्ममार्गस्येत्यादि । फलमिति । साध्यान्तरसाधनव्यापारोपरमजनकं कार्यम् ।

रश्मिः ।

मैयासे । बादरिमतेर्थस्य । **क्रमलक्षण** इति । पञ्चमाध्याये । **उक्तदोषेति** । गौरववैयर्थ्यप्रसङ्गयोरसम्भवात् । **तमिति** । क्रमम् । **तेषामिति** । श्रवणादीनाम् । **पूर्वं** 'द्रष्टव्य' इत्यस्मात्पूर्वम्, **उक्तरीतिरिति** । शाब्दक्रमरीतिः । **तथेति** । प्रकारान्तरेण श्रुत्यर्थ उच्यत इत्यर्थः । **पूर्वाध्यायेति** । हेतुतासङ्गतिं **वदन्तः** । **प्रस्तुतेति** । प्रस्तुतं फलं तद्रूपमर्थमाहुरित्यर्थः । **श्रुतिर्हीत्यादीति** । **हीनमध्यमेति** । उत्तरकाण्डे साधनत्वं हीनत्वम् । **तेषामिति** । ज्ञानभक्तिकर्मणामिति सुवचम् । 'बहुष्वनियम' इति सूत्रात्तथापि त्यदादीनामुत्सर्गतः पूर्वपरामर्शकत्वान्न कर्मान्तपरामर्श इति **कर्मज्ञानभक्तिरूपाणा**मितिरूपपर्यन्तमनुधावनम् । **अध्यायार्थमिति** । सपरिकरं फलरूपम् । **भाष्ये** । **तत्साधनत्वेनेति** । ज्ञानभक्त्योः साधनत्वेन । आधिदैविक्याध्यात्मिकचित्तशुद्ध्या । **प्रकृते** । **जघन्येति** । तदुक्तं 'न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनं कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे । न चार्पितं कर्म यदप्यकारण'मित्यनेन । **कर्ममार्गफल** इति । कर्ममार्गफलनिमित्तमुच्यते । कर्ममार्गफलस्मारणमत्राचार्याणां कृपालुत्वं द्योतयति । आचार्यश्चाचार्याश्चाचार्यास्तेषाम् । **साध्यान्तरेति** । साध्यं स्वर्गादि तदन्यद्ब्रह्म तस्य **साधनं** ज्ञानं तस्य **व्यापारः** स्नेहः तस्योपरमस्तस्य **जनकं स्वर्गादिकार्यम्** ।

---

१. प्रधानपरामर्शकत्वादित्यर्थः. २. सूत्रकारः । ३. भाष्यकाराः ।

वृत्तिः पुनर्जन्म फलं तदपि असकृत् । इदं पदमावृत्त्योभयत्रापि सम्बध्यते । तथा चात्र प्रमाणापेक्षायां तदाह हेतुत्वेन असकृदुपदेशादिति । श्रुतौ कर्ममार्गे पुनर्जन्मासकृदुपदिश्यते यतः । अन्यथा सकृदुपदेशेनैव तदवगमेप्यसकृदुपदेशो व्यर्थः स्यात्, अतस्तथेत्यर्थः । वाजसनेयिशाखायां पठ्यते, 'एवमेवाय५ शारीर आत्मैभ्योऽङ्गेभ्यः सम्प्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति प्राणायैवे'ति तत्रैव पुन'स्तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामती'त्युपक्रम्य, पठ्यते 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चे'ति । तत्रैवैतदनुपदमेव 'तद्यथा तृणजलायुके'त्युपक्रम्य, पठ्यते 'एवमेवायं पुरुष इद५ शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वान्यन्नवतरं कल्याणतर५ रूपं तनुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा ब्राह्मं वा प्राजापत्यं वा दैवं वा मानुषं वान्येभ्यो वा भूतेभ्य' इति । तत्रैवाग्रे पठ्यते, 'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम् । तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मण' इति ।

भाष्यप्रकाशः ।

उभयत्रेति । साध्ये हेतौ च । उभयत्र सम्बन्धस्य प्रयोजनमुच्यते । तथा चेत्यादिना । तथेत्यर्थ इति । पुनर्जन्मैव फलमित्यर्थः । तेन कर्मवाक्येषु यत् स्वर्गादिरूपं फलमुच्यते, तत् प्रतिपत्तिरूपमेवेति श्रुतितात्पर्यं बोधितम् । वाजसनेयिशाखायामिति । बृहदारण्यके शारीरब्राह्मणे । तथा चास्यां श्रुतावावृत्तावुपसंहार आवृत्तावेव पूर्वकर्मव्यापारोपरमश्रावणात् कर्ममार्गस्य तदेव फलमित्यर्थः ।

रश्मिः ।

भगवदिच्छापर्यन्तं भोगः स्वर्गादौ पश्चादावृत्तिः, स्नेहे त्वनावृत्तिरतस्तस्योपरम उक्तः । हिरण्यगर्भमोक्षे तु स्वर्ग आत्मसुखम् । तस्य कर्ममात्रं साधनम् । नन्वेतदेव हि देवा गायन्ति । 'अहो अमीषां किमकारी'ति वाक्ये देवानां स्नेहः स्मर्यते इति चेत् । सत्यम् । परन्तु चित्तशुद्धौ तु कर्मणा स्नेहद्वारा मोक्षः, 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्त्वि'तिवाक्याच्छ्रीभागवतवाक्याच्च । अत्र तु स्वर्गस्तेषां स्वर्गिणां स्नेहस्तु भोगशेषः, न तु निरुपधिरिति स्पृहायाः सोपधित्वम्, न तु निरुपधित्वमिति । अत्र कर्ममार्गस्येति पूर्वाध्यायसङ्गत्या लभ्यते । फलं ब्रह्मेत्यनुवृत्त्या । भोगेन त्वितरे इति सूत्रस्थः सम्पद्यत इत्युपसंहारेण ब्रह्मसम्पत्तिरूपफलोक्तेरावृत्तमानन्दविशिष्टमिति ज्ञाप्यतेऽतः फललाभः । उपक्रमस्य सजातविरोधित्वान्न निर्णायकत्वम् । साध्ये हेतौ चेति । साध्ये त्वावृत्तिरसकृदिति । हेतौ त्वसकृदुपदेशादिति । तथा चेत्यादिनेति । अत्र साध्येप्यन्वये हेतुत्वेन तत्प्रमाणमाहेत्यर्थः । यत इत्यन्तभाष्येण साध्येन्वय उक्तः । अन्यथेत्यादिभाष्येण हेतावन्वय उक्तः । कर्मवाक्येष्विति । 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'त्यादिषु । प्रतिपत्तिरूपमिति । भक्तिहंसोक्तरीत्या स्वर्गलोकमध्यपातादावृत्तिरपि लोक इति प्रतिपत्तिस्तद्रूपमेव । भाष्यविरोधादेवकारः । तथा च विश्वः 'प्रतिपत्तिः पदप्राप्तौ प्रवृत्तौ गौरवेपि च, प्रागल्भ्ये च प्रबोधे च प्रतिपत्तिः प्रयुज्यते' इति । प्रागल्भ्येत्र । श्रुतीति । कर्मवाक्यरूपा । तथा चेति । आवृत्तिपर्यन्तश्रुत्युपन्यासे च । पूर्वकर्मव्यापारेति । देहारम्भात्पूर्वस्य कर्मणो व्यापारः सुकृतदुःकृतभोगजनकः तस्योपरमः 'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्ये'तिश्रुत्या श्रावणात् । तदेवेति । स्वर्गरूपमावृत्त्यादिसहितम् । भाष्यविरोधापत्तेरेवकारः ।

अत्र हेत्वन्तरमाह लिङ्गाच्च । वेदानुमापकत्वेन स्मृतिर्लिङ्गमित्युच्यते । सा च भगवद्गीतासु 'त्रैविद्या मा'मित्युपक्रम्य पठ्यते 'एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्त' इति । 'आब्रह्मभवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुने'ति च ।

अथवा 'यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेने'ति श्रुतिर्वर्तमानजन्मकर्मणोः पूर्वजन्मसम्बन्धिकर्मानुमापकत्वं वदतीति कर्मिणः पुनर्जन्मावश्यकमिति ज्ञायते । एवं सति लिङ्गत्वेन निरूपणादित्यर्थः सम्पद्यते । निवृत्तिमार्गीयस्यापि तस्य ज्ञानोपकर्तृत्वमात्रम्, न तु जन्मनिवर्तकत्वम्, मानाभावात् ॥ २ ॥

इति चतुर्थाध्याये प्रथमपादे प्रथममावृत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥

एवं कर्मफलं विचार्य ज्ञानफलं विचारयति ।

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥ ३ ॥ (४।१।२)

पूर्वार्थनिरूपणव्यवच्छेदाय तुशब्दः । ज्ञानिनो हि भगवन्तमात्मत्वेनै-

भाष्यप्रकाशः ।

लिङ्गाच्च ॥ २ ॥ लिङ्गपदस्य स्मृतौ प्रयोगप्राचुर्याभावान्नेदं युक्तमित्यतः पक्षान्तरेण व्याकुर्वन्ति अथवेत्यादि । 'यथाकारी'त्यारभ्य 'पापो भवती'त्यन्तेन पूर्वकृतकर्मणः फलमुक्त्वा 'पुण्यः पुण्येने'त्यादि यद् वदति, तदेतज्जन्मीनकर्मणः पूर्वकर्मानुमापकत्वायैव वदति । अन्यथा पुनरुक्तं स्यादतस्तथेत्यर्थः । सूत्रार्थमाहुः एवं सतीत्यादि । ननु तर्हि निवृत्तस्य कर्मणोपि तथात्वापातो 'निवृत्तं कर्म सेवेते'त्याद्यनुज्ञावैयर्थ्यं च स्यादित्यत आहुः निवृत्तीत्यादि । तथा चाङ्गत्वदशायां तस्य प्रधानोपकारातिरिक्तफलाभावात् प्रधानेन ज्ञानेनैव जन्मनिवृत्तेर्न तद्वैयर्थ्यमित्यर्थः । अस्मिन् पक्ष इदं सूत्रद्वयं नाधिकरणरूपमिति बोध्यम् । अन्ये त्वत्र पूर्ववर्णकोक्तरीत्या जघन्याधिकारिणः श्रवणादिप्रत्ययावृत्तिमात्रं साधयन्ति । अस्य साधनाश्रयविचारस्यात्र प्रवर्तने बीजं तु न किञ्चिदपि वदन्तीति तच्चिन्त्यम् ॥२॥ इति प्रथममावृत्त्यधिकरणम् ॥१॥

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥ ३ ॥ सूत्रमवतार्य व्याकुर्वन्ति पूर्वेत्यादि । नन्वात्मशब्दः सन्मात्रादिप्रत्यग्रसान्तद्वादशलक्षणविशिष्टवस्तुबोधकः । इतिशब्दः प्रकारवाची । तस्य च विस्मृतकण्ठमणिज्ञानवज्ज्ञानं मोक्षसाधनमित्येवार्थोऽत्राङ्गीकार्यः । यत उपगच्छतीत्यस्य ज्ञानार्थतैव प्रसिद्धेति साधनाश्रय एवात्र विचारः प्रतीयते इति कथमस्य फलाश्रयत्वमित्यतस्तदुपपादयन्ति ज्ञानिनो हीत्यादि । ज्ञानिनो ज्ञानमार्गीयाः, ते हि 'आत्मेत्येवोपासीत' 'स

रश्मिः ।

लिङ्गाच्च ॥२॥ नेदमिति । 'लिङ्गं स्मृति'रितिव्याख्यानं न । तथेति । कर्मिणः पुनर्जन्मावश्यकमिति ज्ञायत इत्यर्थः । एवं सतीत्यादीति । एवं सति पुनरुक्त्यभावाय एतज्जन्मीनकर्मणः पूर्वकर्मानुमापकत्वे सिद्धे सति । आवृत्तौ श्रुतेर्लिङ्गत्वेन हेतुत्वेन प्रमाणत्वेन निरूपणात् । अत्रावृत्तौ श्रुतिलिङ्गादिति हेतुः । भाष्ये तु सूत्रार्थ उक्तः । एतज्जन्मीनकर्मणः पूर्वकर्मानुमापकत्वं वैद्यके तु कर्मविपाके स्पष्टम् । तथात्वेति । आवृत्तिसाधकत्वापातः । निवृत्तं कर्म मोक्षसाधकं हिरण्यगर्भस्य । इत्यादीति । आदिना 'किं प्रजया करिष्यामः' इति श्रुतिः । तस्येति । कर्मणः । तद्वैयर्थ्यमिति । प्रधानाङ्गं कर्म निवृत्तं तस्य वैयर्थ्यम् । नाधीति । संशयाद्यभावात्तथा । श्र--गादीति । प्रत्ययो ज्ञानम् । साधनेति । साधनं श्रवणाद्याश्रयतीति एरच् साधनाश्रयः । तस्य ॥२॥ इति प्रथममावृत्त्यधिकरणम् ॥१॥

चोपासते। तस्या नैरन्तर्येणानेकजन्मभिस्तथैव तेषां हृदि भगवान् स्फुरति। तदा स्वानन्दांशस्याप्याविर्भावात् 'ब्रह्मभूतः' सन्नात्मत्वेनैव ब्रह्म स्फुरितमिति तदानन्दात्मकः संस्तमनुभवति। एवं स्थितः प्रारब्धसमाप्तौ देहापगमे तत्रैव प्रविष्टो भवति। एतादृशः सर्वोपकारीति परार्थमपि तस्मै भगवता ज्ञानं दत्तमिति प्रवचनमपि तस्य फलान्तःपातीत्यधिकारिण्युपस्थिते तथैवोपदिशति च। एतदेवाह आत्मेत्यादिना। उप समीपे गमनं प्रवेश इति यावत्।

भाष्यप्रकाशः

म आत्मेति विद्या'दित्यादिवाक्येभ्य आत्मत्वेनैव भगवन्तमुपासते। तस्या उपासनाया नैरन्तर्ये, 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते' इति स्मृतेरनेकजन्मभिरात्मत्वेनैव भगवान् हृदि स्फुरतीति 'त्वं वै अहं भगवो देवते अहं वै त्वं भगवो देवते' इति व्यतिहारादवसीयते। तदा बह्वभ्यासे जीवानन्दस्याप्याविर्भावात् सच्चिदानन्दानां त्रयाणां प्राकट्ये 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'ति श्रुतेर्ब्रह्मभूतः सन्, आत्मत्वेनैवेत्याद्युक्तरीत्या ब्रह्मानन्दात्मकः सन्नात्मानं साक्षात्करोति। ततः प्रारब्धसमाप्तौ ब्रह्मण्येव प्रविष्टो भवतीति मुख्यं ज्ञानिनः फलमुपगच्छन्तीत्यनेनोक्तम्। ग्राहयन्तीत्यनेनावान्तरं तदुच्यत इत्याशयेन तदुपपादयन्ति एतादृश इत्यादि। फलान्तःपातीति। भगवत्कृपाकार्यत्वात् फलान्तःपाति। तथा चायं सूत्रार्थः। इतिशब्दः प्रकारे। पूर्वसूत्रद्वये श्रवणाद्यावृत्तेरुक्तत्वाच्छ्रवणादौ च ब्रह्मण एव विषयत्वात्पत्रकृतं ब्रह्म आत्मा स्वात्मा इति एवंप्रकारेण उपगच्छन्त्यनुभवन्ति। तत्क्रतुन्यायेन तद् प्राप्नुवन्ति, अन्यानप्यधिकारिणो ग्राहयन्ति, उपदिशन्ति चेति बोध्यः। ननु भवत्विदमेवम्, तथापि आत्मत्वेन ग्राहणस्य तादृशग्रहणानन्तरभावित्वात् 'उपगच्छन्ती'त्यस्य ज्ञानमेवार्थत्वेन प्रतीयते, न तु प्रवेश इत्यत आहुः उपेत्यादि। तथा चोपगच्छन्तीत्यत्र कर्त्रपेक्षायां साधक-

रश्मिः।

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥ ३ ॥ पूर्वेत्यादीति। कर्ममार्गफलरूपार्थनिरूपणव्यवच्छेदाय। **सन्मात्रादीति।** आदिना........। इत्येवेत्यत्रैवकारः पुरुषोत्तमज्ञानव्यवच्छेदकः। **तदुपपादयन्तीति।** फलाश्रयत्वमुपपादयन्ति। **उक्तमिति।** उपोपसर्गविशिष्टत्वादिति भावः। **तदुच्यत इति।** फलमुच्यते। तदिति। अवान्तरत्वं, शाब्दरूपं ग्रहणमवान्तरम्। तथा च **'ग्राहयन्ती'**त्यस्य ग्राहणमुपदेशं करोतीत्यर्थः। **भगवदिति।** स भगवान् शुक इव तदानीं गुरुत्वमिति तल्लक्षणं कृपालुत्वमिति **कृपोपस्थितिः।** तन्मुख्यं कार्यं 'आत्मेति तूपगच्छन्ती'त्युक्तम्। तद्वदुपदेशः प्रवचनं पूर्वकक्षारूपत्वादवान्तरं भगवत्कृपाकार्यं तत्त्वात्। **फलेति।** नवधाभक्त्यन्तःपात्यर्चनवत्। **ज्ञानमेवेति।** ग्रहणरूपं ज्ञानम्, 'यो गच्छति, तं गमयती'त्यत्र णिचस्स्थले तथा दर्शनादेवकारः। **न तु प्रवेश इति।** वादी 'अनुभवती'त्यत्र सूत्रांशसमाप्तिं मन्यत इति भावः। धातूनामनेकार्थत्वात्। **तथा चोपेति।** **उपगच्छन्ती**त्यस्योपासते प्रविशन्तीत्यर्थद्वयम्। यद्वा। उपासते नाम प्रविशन्तीत्यर्थः। **मनोमात्रमिदं** ज्ञात्वेतिपक्षे मनोनिवेशनरूपव्यापारस्य देहापगमे 'तत्रैव प्रविष्टो भवती'त्यत्र **प्रवेशरूपत्वेपि** बाधकाभावात्। नन्वाकाशशरीरस्याणोर्जीवस्य प्रवेश इति नोपासनेनैकवाक्यतेति **चेत्।** न। तर्ह्युपासनमुप समीपे स्थित्वा यथायोग्यकरणमस्तु इति। तथा चोपासन उपविशन्तीत्येकार्थके **क्रियापदे।** एकादशस्कन्धोक्तलक्षणात्। ज्ञानिन **उप** समीपे स्थित्वा यथायोग्यं कुर्वन्ति

अथवा। ननु ज्ञानभक्त्योरनावृत्तिः फलम्, अत उत्तमे ते, न तु कर्मेत्याशयेन कर्मणः फलमावृत्तिरिति यन्निरूपितम्, तत्रेदं चिन्त्यते। 'न स पुनरावर्तते' इतिश्रुतिः सर्वथानावृत्तिमाह, उत सावधिकींताममरशब्देन तन्निवृत्तिमिव। किमत्र युक्तम्। सावधिकीमेवेति। तथाहि। पूर्वं कर्मनैयत्यस्य त्वयाप्यङ्गीकार्यत्वात् तस्य प्ररोहैकस्वभावत्वात्तस्य दुरतिक्रमत्वात्तत्फलानुभवस्यावश्यकत्वात्। अपि च, 'य एनं विदु'रिति श्रुतेः सति ज्ञाने हि सा। 'यतो वाचः,' 'अगृह्यो न

भाष्यप्रकाशः।

मात्रस्य ग्रहीतुमशक्यत्वाज्ज्ञानिन एव कर्तृत्वेन वाच्याः। तथा सति कर्तृविशेषणत्वेनैव तत्प्राप्त्यास्यार्थद्वयसङ्ग्राहकत्वाद्योगान्तरेण तस्य फलबोधकत्वं नायुक्तम्। अत्र फलस्यैव प्रकरणादिति। तथा चात्मनि प्राप्ते पुनरावृत्त्यभावाज्ज्ञानस्यानावृत्तिरेव फलमित्यर्थः। अस्मिन् पक्ष एतस्यापि सूत्रस्य नाधिकरणत्वम्। पूर्वशेषत्वात्।

एवमत्र ज्ञानफलस्य कथनात् कैमुतिकेन भक्तिफलस्य सूचितत्वेप्यविवेचितत्वात् तद्विवेचनाय पूर्वसूत्रयोर्द्वितीयवर्णके यदुक्तम्, तदुपष्टम्भाय चेदमप्यधिकरणान्तरमेवेत्याशयेनाहुः अथवेत्यादि। तत्रेति। अनावृत्तौ। विषयमुक्त्वा संशयमाहुः न स इत्यादि। उक्तवाक्येन 'गृहिणोपसंहार'स्थले कर्मकरणमुक्तम्। सन्न्यासिनो ज्ञाने स्वरूपोपकाराय कर्मकरणं सर्वापेक्षासूत्रेपि स्थापितम्। कर्मणां प्ररोहैकस्वभावत्वं च संयमनाधिकरणे पूर्वसूत्रयोर्द्वितीयवर्णके च व्यवस्थापितम्। एवञ्च ज्ञानवता कर्मकरणेऽपुनरावृत्तिश्रुत्यावृत्तिश्रुत्योर्विरोध आपततीति तत्सन्देहबीजं बोध्यम्। पूर्वपक्षमुपपादयन्ति तथाहीत्यादि। अनावृत्तिश्रुतेः पूर्वं 'यावदायुषमेवं वर्तय'न्निति श्रावणादनावृत्तेः पूर्वं जीवद्दशायां कर्मनैयत्यस्य त्वया सिद्धान्तिनाप्यङ्गीकार्यत्वात् कर्मणां च प्ररोहैकस्वभावत्वात् स्वभावस्य च दुरतिक्रमत्वाज्जन्मान्तरे पूर्वकर्मफलानुभवस्यावश्यकत्वादनावृत्तिश्रुतिः पूर्वानुरोधेन सावधिकीमेव तां वदतीत्यर्थः। एवमावृत्तौ साधकमुक्त्वानावृत्तौ बाधकमाह। अपि

रश्मिः।

नाम देहापगमे तत्रैव प्रविष्टा भवन्ति यथायोग्यं सत्तां कुर्वन्तीत्यर्थः। **तत्प्राप्त्येति। ज्ञानिन इति** विशेषणाज्ज्ञानप्राप्त्या। **अस्येत्यादि।** कर्तृवाचकपदस्यार्थद्वयं ज्ञानस्वरूपं तस्य **सङ्ग्राहकत्वात्।** ज्ञानिकर्तृपदे **योगः** करणव्युत्पन्नज्ञानयुक्तः परतन्त्रत्वेन करोतीति कर्ता। तदन्यो योगः भावव्युत्पन्नज्ञानरूपफलयुक्तः स्वतन्त्रत्वेन करोतीति कर्तेति। **तस्येति।** अर्थद्वयवाचकजातिकर्तृपदस्य। **ज्ञानस्येति।** करणव्युत्पन्नसाधनस्य। **एवेति।** अप्यर्थे। ज्ञानफलान्तःपातिन्य**नावृत्तिरपि** फलमित्यर्थः। **नाधीति।** विशयाद्यभावात् तथा। **अथवेत्यादीति। न तु कर्मेति।** न तु कर्मोत्तममित्यर्थः। **यन्निरूपितमिति।** पूर्वसङ्गत्यर्थम्। **अनावृत्ताविति।** तत्रोभयोरावृत्त्यनावृत्त्योरावृत्तेर्निरूपणादवशिष्टायामनावृत्तावित्यर्थः। **विषयमुक्त्वेति।** 'आत्मेत्येवोपासीत स म आत्मेति-विद्या'दित्यादि**विषय**मपुनरावृत्तिवाक्यघटितम्। अनधिकरणत्वपक्ष एवोक्तार्थः। **अपुनरावृत्तिघटित-**वाक्यार्थाधिकारिणो गृहस्थाः सन्न्यासिनश्चेत्युक्तेन विषयवाक्येनाधिकारिद्वयमाहुः। **न स इत्यादीति।** **तामिति।** अनावृत्तिम्। **तन्निवृत्तिमिति।** सावधिकीं मरनिवृत्तिम्। **उक्तवाक्येनेति।** **गृहिणेति।** कृत्स्नभावसूत्रेत्यर्थः। **कर्मकरणमिति।** 'आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्ये'ति **श्रुत्या।** **ज्ञानवतेति।** जनकेन। **तत्सन्देहेति।** तदिति विधेयलिङ्गम्, विरोध इत्यर्थः। **श्रावणादिति।** छान्दोग्येऽन्ते श्रावणात्। **पूर्वेति।** अमरदृष्टान्तानुरोधेन। **तामिति।** अनावृत्तिम्। **साधकमिति।**

हि गृह्यत' इत्यादिश्रुतिभ्यो ब्रह्मज्ञानासम्भवात् । इत एव भक्तिरपि प्रत्युक्ता वेदितव्या । ज्ञानाविषये स्नेहासम्भवात् । किञ्च । 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशान' इत्यादिश्रुतिभ्यो 'यस्यावतारकर्माणि गायन्ति ह्यस्मदादयः, न यं विदन्ति तत्त्वेने'त्यादिस्मृतिभ्यश्च का प्रत्याशा जीवस्यातिहीनस्य तत्प्राप्तौ । अत एवोपदेशासम्भवोऽपीति प्राप्ते प्रत्याह आत्मेतीत्यादिना । तुशब्दः पूर्वपक्षनिरासकः ।

अत्रायमाशयः । सत्यमुक्तं भवता । तत्रोच्यते । यथाऽगृह्यत्वातिमहत्त्वादिधर्मा भगवति सन्ति, तथा सर्वात्मत्वमपि । 'य आत्मनि तिष्ठ'न्नित्यादिश्रुतिभ्य आत्मत्वेनैवोक्तेः । सर्वधर्माश्रयत्वेपि यदा यं धर्मं पुरस्कृत्य लीलां करोति, तत्कार्यमेव तदा सम्पद्यते । हितकारित्वस्वभावत्वात् तस्य । एवं सति यस्मिन् पुरुषे यदात्मत्वेन लीलां करोति, तदा स्वप्राप्त्यनुकूलप्रयत्नवन्तं विधायात्मानं प्रापयति । नन्वुक्तं दुरतिक्रमः कर्मस्वभाव इति । नैष दोषः । न ह्यन्नरसपाकाय जग्धमौषधमपि गौरवाय भवति, तेन न तन्निवृत्तिर्वा । व्यापादनैकस्वभावमपि विषमाशीविषं तदपगमपटुतरनिगमसङ्गमो नापगमयति वा । तथा भगवदर्पितं तदर्थं च कृतं कर्म न कर्मनाशाय भवतीति न वक्तुं शक्यम् । 'कर्ममोक्षाय

भाष्यप्रकाशः ।

चेत्यादि । सेति । अनावृत्तिः । तथा च ज्ञानाभावे तत्कार्यभूता अनावृत्तिरपि न वक्तुं शक्या । न च भक्त्या सेत्यत आह इत इत्यादि । तथा च भक्तेर्माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहरूपत्वात् स्नेहस्य च ज्ञानोत्तरमेव सम्भवेन तदविषये स्नेहस्याशक्यवचनत्वेन भक्तेरप्यसम्भवादित्यर्थः । एवं प्रमाणबलेन साधनदौर्घट्यरूपं बाधकमुक्त्वा फलविचारेणापि तदाह किञ्चेत्यादि । अत्र श्रुत्या प्राप्तिदौर्घट्यं स्मृत्या च तत्साधनभूतज्ञानदौर्घट्यमुक्तम् । न च केवलकरणबलेन ज्ञानासम्भवेपि शब्दसहकृतेन ज्ञानसम्भवमाशङ्क्य निराचष्टे अत एवेत्यादि । शब्दो हि श्रुतः सहकरोति । श्रवणं चोपदेशादुपदेशश्च ज्ञानादतो गुरुरेव, ज्ञानदौर्घट्यादुपदेशस्याप्यसम्भव इत्यर्थः । तथा च सर्वथानावृत्तौ साधकस्याभावाद् बाधकानां च बहूनां सत्त्वादनावृत्तिः सावधिक्येवाङ्गीकार्येति कर्मज्ञानभक्तीनां फलतो न कश्चिद्विशेषः । वस्तुतस्तु तयोः सम्भव एव दुर्घट इति कर्मफलमेव फलम्, नान्यदिति पूर्वः पक्ष इत्यर्थः । सिद्धान्तं वक्तुं सूत्रं व्याकुर्वन्तः पूर्वं ज्ञानदौर्घट्यमप्राप्यत्वं च परिहरन्ति ।

रश्मिः ।

कर्म । आवृत्तित्वेन कर्मत्वेन कार्यकारणभावात् । न च हिरण्यगर्भमोक्षे कर्मणामनावृत्तिरिति अन्वयव्यभिचार इति वाच्यम् । सृष्टीच्छयावृत्तिरित्यङ्गीकारात् । बाधकमिति । ज्ञानाभावम् । यत इत्यारभ्य असम्भवादित्यन्तभाष्यार्थमाहुः न च भक्त्येत्यादिना । प्रमाणेति । 'यतो वाच' इत्याद्युक्तप्रमाणबलेनेत्यर्थः । साधनेति । ज्ञानदौर्घट्यरूपम् । तदाहेति । बाधकमाह । केवलेति । केवलशाब्दज्ञानबलेनानुभवात्मकज्ञानासम्भवेपि । श्रुत इति । न तु तूष्णीम् । श्रवणमिति । श्रुत इत्यत्र विशेषणं यत्तत् । गुरुरेव । उपदेशो गौरवग्रस्त एव । भाष्यविवरणं ज्ञानदौर्घट्यादित्यादि । ज्ञानदौर्घट्यादेवोपदेशस्यासम्भवोपीति योजना । भाष्यात् । साधकस्येति । ज्ञानस्य । बहूनामिति । कर्मादृष्टाज्ञानानाममरदृष्टान्तानाम् । फलत इति । अनावृत्तितः । दुर्घट इति । 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवा'निति वाक्यात्, 'मुक्तानामपि सिद्धाना'मिति वाक्यात् । कर्मफलं स्वर्गादि । भाष्ये । सन्तीति । 'न यं विदन्ती'त्यत्र ज्ञानाभावसाधकाः । सर्वात्मत्वमिति । ब्रह्मत्वेन ज्ञानसाधकम् । 'अयमात्मा ब्रह्मे'ति श्रुतेः । आत्मत्वेनैवेति । एवकारेण ब्रह्मत्वेनात्मज्ञानयोगो व्यवच्छिद्यते । तत्कार्यमिति । यथा गोवर्द्धनोद्धरणत्वलीलां भक्तमनोरथपूरकत्वधर्मं पुरस्कृत्य करोति, तत्कार्यं भक्तरक्षैव सम्पद्यते । प्रकृते । कर्मस्वभावेति । षष्ठ्यन्ताद्वृतिः । कर्मस्वभावो नावृत्तिप्रतिबन्धको

भाष्यप्रकाशः ।

तुशब्द इत्यादि । प्रापयतीत्यन्तम् । सत्यमुक्तमिति । 'यतो वाच' इत्यादिना, किञ्चेत्यादिना च यदुक्तम्, तत्सत्यमुक्तम् । आत्मत्वेनेति । शरीरभूतस्यात्मनो नियामकत्वेन । तस्येति । आत्मनः । तथा च कर्मस्वभाववदात्मस्वभावस्यापि तथात्वात् स्वयमेव भगवान् स्वलीलानुसारेण ज्ञानप्रणाड्या भक्तिप्रणाड्या वा यथाधिकार स्वात्मानं प्रापयतीति न ज्ञानभक्त्यात्मप्राप्तीनां दौर्घट्यमित्यर्थः । अत्र शङ्कते नन्वित्यादि । तथा चात्मकर्मणोरुभयोरपि स्वभावस्य तथात्वादनावृत्तिसावधिकत्वानवधिकत्वयोः संशय एव पर्यवस्यतीत्यर्थः । एतत् समाधातुं कर्मस्वभावातिक्रमप्रकारं व्युत्पादयन्ति । न हीत्यादि । तथा च यथान्नौषधयोर्द्रव्यत्वेन भक्ष्यत्वेन च तौल्येपि तयोर्नैकस्वभावत्वम्, अपि तु स्वभावभेदः, यथा च निगमस्य विषादिस्वभावनाशकत्वेपि तत्कार्यप्रतिबन्धकत्वम्, तथात्र 'आत्मनि सर्वेन्द्रियाणी'त्यादिबोधितस्य भगवदर्पितस्य तदर्थं कृतस्य च कर्मणः कर्मत्वे तुल्येपि स्वभावभेदो वा, भगवदर्पणादेस्तत्स्वभावनिवर्तकत्वं वेत्यदोषः । उक्तं च मार्कण्डेये रौच्यमन्वन्तरे 'अविद्याप्युपकाराय विषवज्जायते नृणाम् । अनुष्ठिताभ्युपायेन बन्धायान्या यतो हि सा' इति । अविद्येति विद्याभिन्नं कर्म, भावरूपमज्ञानं चेत्युभयमपि सङ्गृह्यते । एतदेव श्रुतितात्पर्यमित्यत्र गमकमाहुः कर्मनाशायेत्यादि । एतदेकादशस्कन्धे योगेश्वरवाक्यं 'परोक्षवादो वेदोयं बालानामनुशासनम् । कर्मनाशाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथे'ति । क्वचित्तु कर्ममोक्षायेतिपाठः, तदाप्यर्थतौल्यम् । आत्मस्वभावस्य तु न नाशादिशङ्का । 'अनुच्छित्तिधर्मे'ति श्रुतेः, 'सर्वस्य वशी'त्यादिश्रुतेश्च । ततोधिकबलस्यान्यस्याभावात् ।

रश्मिः ।

ह्यावृत्तिपरिणामकः । आत्मस्वभावः आवृत्तिप्रतिबन्धकोनावृत्तिपरिणामकः । तथात्वादनावृत्तिपरिणामकत्वात् । प्रमेयबलमाहुः स्वयमेवेति । कर्मादीनामप्रतिबन्धकत्वायायमेव मार्गः । तथा चेति । उक्तपदं भावव्युत्पन्नं केन प्रकारेणेत्यत्र आहुः । दुरत्नीति । इतिप्रकारेण तत्रात्मप्रवेश उत्तरे सति चेत्यर्थः । तथात्वादिति । दुरतिक्रमत्वात् । संशय एवेति । अनावृत्तिसावधिकत्वे कर्मस्वभावो बीजम् । अनावृत्त्यनवधिकत्वे आत्मस्वभावो बीजमित्येवकारः । नैकेति । रसपरिणामहेतुत्वम् । स्वभावभेद इति । अन्नस्यापटुतरजग्धस्य रसपरिणामहेतुत्वम् । औषधस्य रसनिवृत्तिपरिणामहेतुत्वमिति स्वभावभेदः । निगमस्येति । वणिजस्यौषधिदानद्वारा । यद्वा । निगमस्याभ्यस्तवेदस्य । तदुक्तं 'अनभ्यासाच्च वेदानां मृत्युर्विप्रान् जिघांसती'ति निबन्धे । तत्कार्येति । मरणप्रतिबन्धकत्वम् । अत्रेति । दार्ष्टान्तिके । 'आत्मनी'ति श्रुतिश्छान्दोग्यसमाप्तौ । तुल्य इति । अन्यकर्मणा तुल्ये । स्वभावभेद इति । भगवदर्पितस्येत्यादिकर्मणः कर्मनाशपरिणामहेतुत्वमन्यस्य कर्मण आवृत्तिपरिणामहेतुत्वं स्वभाव इति स्वभावभेदः । तत्स्वभावेति । कर्मस्वभावनिवर्तकत्वम् । इत्यदोष इति । एवं कर्मस्वभावातिरिक्तप्रकारेण दुरतिक्रमकर्मस्वभावरूपो दोषो न । संगृह्यत इति । अन्यापि योजना । उपकाराय नाशे प्रतियोगित्वेनोपकाराय । विषवदिति । प्रथमान्ताद्वतिः । अनुष्ठितेनाभ्युपायेन कर्मनाशकज्ञानकर्मभ्याम् । अन्यानुष्ठिताभ्युपाययुक्तान्यावधिका बन्धाय मता यतः साऽविद्येत्यर्थः । अनुच्छित्तीति । न उच्छित्तिर्येषां ते अनुच्छित्तयः ते धर्मा यस्येत्यनुच्छित्तिधर्मा

कर्माणि विधत्ते युगपद् यथे'ति वाक्यात् । अगृह्यत्वगृह्यत्वविरोधापहारस्तु जीवसामर्थ्येश्वरेच्छाभ्यां पुरैव कृत इति नाधिकमत्र निरूप्यम् । इतिशब्दो हेत्वर्थे । तथा च भगवानात्मा भवति सर्वेषां जीवानामतो हेतोरुक्तरीत्या तदनुग्रहेण तमुपगच्छन्ति । ज्ञानमार्गेङ्गीकृतास्त्वात्मत्वेनैव ज्ञानादुप समीप एव गच्छन्ति, उक्तरीत्याक्षरात्मके तत्रैव प्रविष्टा भवन्तीत्यर्थः । भक्तिमार्गेङ्गीकृतास्तु साक्षात् प्रकटे पुरुषोत्तमे सति तद्भजनार्थमुप समीपं गच्छन्तीत्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

ननु विरुद्धधर्माधारत्वाद्धर्मा एव स्वभावबाधका भवन्त्वित्याशङ्क्य तेषामप्यबाधकत्वमाहुः अग्राह्येत्यादि । एतेन ज्ञानादिदौर्घट्यमपि परिहृतम् । एवं बाधकं परिहृत्य सूत्रं व्याकुर्वन्ति । इतिशब्द इत्यादि । आत्मशब्दार्थस्तु सर्वान्तर्यामित्वादिरूपः पूर्वोक्त एव । एतावान् परं विशेषो यज्ज्ञानिनां प्रत्यग्रसत्वप्राधान्येन तत्स्फूर्तिर्भक्तानां तु सर्वात्मत्वपरमप्रियत्वानन्दप्राधान्येनेति । अत उक्तरीत्या यस्य मार्गस्य या रीतिः क्रमाक्रमाभ्यां व्युत्पादिता, तया रीत्या तं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । उपगमनं विभजन्ते । ज्ञानमार्ग इत्यादि । भजनार्थमुप समीपे गच्छन्तीति ।

रश्मिः ।

इति व्युत्पत्तिः । एतेनेति । विरुद्धधर्माधारत्वेन । परिहृतमिति । ईक्षतेर्नाशब्दमित्यत्र यावद्धर्मवत्त्वेन ज्ञानस्नेहदौर्घट्यम् । बाधकमिति । आत्मोपगमने आत्मग्राहणे च बाधकमगृह्यत्वादिकम् । भाष्ये । पुरैवेति । उभयव्यपदेशाधिकरणे । प्रकृते । सर्वान्तरिति । सर्वान्तर्यामित्वमादिर्यस्या व्यक्तेः सा सर्वान्तर्यामित्वादिः, जातिव्यक्तिभ्यां रूप्यत इति तथा । पूर्वोक्त इति । अत्रैव पूर्वमन्तर्यामिब्राह्मणोपन्यासे 'नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः । ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिहे'त्यनेनोक्तं तारतम्यं सर्वेषां जीवानामिति भाष्य आहुः एतावानिति । प्रत्यग्रसत्वं यद्यपि प्रतिदेहमात्मा तत्त्वं तथापि ज्ञानिनां ज्ञानकृते विशेषे प्रतीचो रसत्वं कारणदृष्ट्या शान्तरसत्वं तत्प्राधान्येनेत्युक्तम् । न तु प्रत्यगात्मत्वेन, 'मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थिति'रितिवाक्यात् । प्रत्यग्रस एवात्मपोतः । संसारसागरे प्रत्यग्रसत्वे तरणमिति 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षु'रित्युक्त्वा 'त्मन्येवात्मानं पश्ये'दिति श्रुतेः । 'ज्ञानी चेद्भजते कृष्णं तस्मान्नास्त्यधिकः परः,' 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते' इति वाक्याभ्यां सर्वात्मत्वं ज्ञानिविषयः । भक्तत्वेऽमेदस्य प्रतिबन्धकत्वेन परमप्रियत्वेन स्फूर्तौ कर्मकर्तृव्यपदेशादत एव फलत्वेन सच्चिदानन्देष्वानन्दप्राधान्येनेति । एतावत्पर्यन्तं ज्ञानमार्गे ज्ञानादित्यन्तं भक्तिमार्गे सत्यन्तं भाष्यमपि विवृतम् । उभयोः फक्किकयोरग्रेतनभाष्यार्थमपि वदन्तः प्रकृतस्यातो हेतोरिति भाष्यस्यार्थमाहुः अत उक्तरीत्येति । व्याख्येये इमे, यस्येति व्याख्यानम् । क्रमाक्रमेति । क्रमः पापाभावानन्तरं मर्यादाभक्तिरक्रमः पापसत्त्वेपि पुष्टिभक्तिरिति । व्युत्पादितेति । तत्रोच्यत इत्यादिभाष्येण । यं धर्मं पुरस्कृत्येत्यस्यानुग्रहं पुरस्कृत्य भक्तिमार्गं उभयविधे ज्ञानमार्गे तु प्रतिजीवं विचारितफलसाधनेच्छां पुरस्कृत्येत्यर्थात् । विभजन्त इति । भक्तिज्ञानभेदेनेत्यर्थः । ज्ञानमार्ग इत्यादीति । अर्थौ तूभयोः फक्किकयोरुक्तौ पूर्वफक्किकार्थकथनावसरे । उप समीप एवेति भाष्यार्थो नोक्तः स उच्यते । ज्ञानेन स्वरूपस्थित्या वास्तविकाणवः महत्त्वार्थमुपसमीप एव गच्छन्ति, यतोक्षरात्मके स्वमहद्रूपे विभूत्यात्मके प्रतिमादावेव प्रविष्टा भवन्ति, 'अणोरणीयान् महतो महीया'निति श्रुतेः । उक्तरीत्यात्रैव ज्ञानमार्गे त्वित्याद्युक्तरीत्या ।

एवं श्लेषोक्तिरियमिति ज्ञायते । सम्प्रदायानुवृत्तिरपि भगवदिङ्गितेत्येतादृशाः स्वयं येन मार्गेण फलं प्राप्ताः, तं मार्गमन्यानपि ग्राहयन्त्युपदेशैः, अत्रोभयत्राप्यात्मत्वमेव हेतुः, अन्यथा आत्मारामस्य सर्वनिरपेक्षस्यैवंकरणासम्भवेन मोक्षमार्गाप्रसिद्धिरेव स्यात् । तस्मात् सर्वथानावृत्तिरेव श्रुत्यभिमतेति ज्ञेयम् ॥ ३ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

मुक्तोपसृप्यत्वस्य पूर्वमुक्तत्वात् 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्युक्तायाः परप्राप्तेः, 'सोश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'त्यत्र ब्रह्मसाहित्येन श्रावणाद्ब्रह्मविद्यायामात्ममिथुनत्वस्य श्रावणाच्च तथेत्यर्थः ।

अत्रेदं सम्पद्यते । भक्ता हि 'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेन अमृतत्वमेती'ति श्वेताश्वतरश्रुत्या, 'आत्मेत्येवोपासीते'त्युक्त्वाग्रे, 'आत्मानं प्रियमुपासीत ईश्वरो हि तथा स्यात्, आत्मानं लोकमुपासीत'इत्येकस्मिन् प्रकरणे त्रिधोपासनश्रावणात् 'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते, एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुख'मिति गीतास्मृतेश्च स्वात्मतया स्वात्मास्मतया च प्रियतया देहमारभ्य यावन्तो भजनीयाः प्रियास्तदात्मत्वेन चोपासत इति तत्क्रतुन्यायात् पृथगेव समीपे तिष्ठन्ति । ज्ञानमार्गीयास्तु 'त्वं वै अहं भगवो देवते अहं वै त्वं भगवो देवते' इति व्यतिहारेण स्वात्मतयैवोपासते इति तत्क्रतुन्यायात्तत्रैव प्रविशन्ति । अतो ज्ञानिभक्तयोरुभयोरप्यात्मत्वेनोपासनस्य तुल्यत्वेपि उपासनाप्रकारभेदादेवं फलभेद इति । उभयसङ्ग्रहस्य सूत्राभिप्रेतत्वं स्फुटीकुर्वन्ति एवमिति । एतादृशशब्दप्रयोगेण । अन्यथा चेदभिप्रेयात्, गृह्णन्तीत्येवं ब्रूयादतस्तथेत्यर्थः । एवं मार्गद्वयस्य मुख्यं फलं निरूपितम् । अवान्तरफलं वक्तुं शेषं व्याकुर्वन्ति । सम्प्रदायेत्यादि । इतिशब्दो हेतौ व्याख्यातस्तत्रात्मत्वस्य प्राप्तौ हेतुत्वं युक्तम्, तस्या भगवत्सम्बन्धित्वात् । ग्राहणं तु ज्ञानिधर्मः । तत्रात्मत्वस्य कथं हेतुत्वमित्याशङ्कायां तत्रापि तस्य हेतुत्वं व्युत्पादयितुं मार्गद्वयग्राहणेपि तस्य हेतुत्वं व्यक्तीकुर्वन्ति उभयत्रेत्यादि । उभयत्रेति । मार्गद्वयोपदेशे । सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । यस्माद्भगवतः सर्ववशित्वं सर्वेशानत्वं चेति न तत्स्वभावस्य पर्यावृत्तिः, किन्तु कर्मण एव स्वभावपर्यावृत्तिरतस्तथेति तात्पर्यभ्रमेण

रश्मिः ।

भाष्यार्थत्वात् । पूर्वमिति । प्रथमाध्याये तृतीयपादे । तथेत्यर्थ इति । तद्भजनार्थमुप समीपे गच्छन्तीत्यर्थः । उभयेति । भक्तिज्ञानसम्बन्धिनोः सङ्ग्रहस्य । एतादृशेति । उपगच्छन्तीति श्लिष्टशब्दप्रयोगेण । तथेति । श्लेषोयमिति ज्ञायते इत्यर्थः । शेषमिति । ग्राहयन्ति चेति सूत्रशेषम् । सम्प्रदायेत्यादीति । सम्प्रदायाश्चत्वारः श्रीविष्णुस्वामिरामानुजमाध्वनिम्बार्कनामानः । इङ्गिता ज्ञापिता । 'इङ्गितं गतिचेष्टयो'रिति विश्वः । एतादृशा इति । सम्प्रदायिनां ज्ञानिन आचार्याः । प्राप्ताविति । उपगच्छन्तीत्यस्य प्राप्नुवन्तीत्यर्थ उक्तः । तत्र प्राप्तौ । तस्या इति । प्राप्तेः । भगवत्प्राप्तिरित्येवं भगवत्सम्बन्धित्वात् । शेषं व्याकुर्वन्ति स्म । ग्राहणमिति । ज्ञानीति एतादृश इत्यादिभाष्ये ज्ञानं दत्तमित्युक्तेः । अत्र ज्ञानिधर्मः । तत्रापीति । ज्ञानिधर्मेपि । तस्यात्मत्वस्य । तस्येत्यात्मत्वस्य । अतस्तथेतीति । तस्मात्सर्वथानावृत्तिरेव श्रुत्यभिमतेति ज्ञेयमित्यर्थः । तात्पर्येति । कर्ममोक्षाय कर्मणः स्वर्गादिफलसाधकत्वे तात्पर्यभ्रमस्तेन । तात्पर्यं तु आत्मसुखे, कर्ममोक्षे च । एतद्विषयक-

१. एतेन 'अर्चायामेव हरये' इति भागवतपदं व्याख्यातम्, 'मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति स' इति च । एवं च पृथक्त्वेनापि विधानात् ।

नन्वात्मत्वेनोक्तिरुपासनार्थेति नोक्तं साधीय इत्यत उत्तरं पठति ।

न प्रतीकेन हि सः ॥ ४ ॥

अतद्रूपे तत्त्वेनोपासनं हि प्रतीकमित्युच्यते । तथा च तादृशेन तेन स मोक्षो न भवतीत्यर्थः । श्रुतिसिद्धत्वान्नास्ति मोक्ष इति न वक्तुं शक्यमिति भावः ।

भाष्यप्रकाशः ।

क्रियमाणकर्ममार्ग एवावृत्तिः, फलम्, न तु तात्पर्यज्ञानपूर्वकं भक्तिमार्गीयत्वेन ज्ञानमार्गीयत्वेन वा क्रियमाणे निवृत्तिरूपे कर्मणीत्यनावृत्तिफलकत्वाज्ज्ञानभक्ती उत्तमे इत्यर्थः ॥ ३ ॥

न प्रतीकेन हि सः ॥ ४ ॥ सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि । अयमर्थः । आत्मत्वेन ज्ञानस्याभेदे तादात्म्ये वा पर्यवसन्नत्वात्तत्तन्मार्गरीत्या आत्मत्वेन ज्ञानात्तत्तन्मार्गीयो मोक्षोनावृत्तिरूपः फलमित्युक्तम् । तदयुक्तम् । 'पादोस्य विश्वा भूतानि', 'ममैवांशो जीवलोक' इत्यादिभ्यात्मा ब्रह्मांशत्वेन सिद्धः । 'अहमात्मा गुडाकेशे'त्यत्र विभूतिरूपत्वेन च । एवं सति यथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'त्यादौ सर्वादिर्ब्रह्मत्वेनोपासनार्थं स्तूयते, तथा 'आत्मेत्येवोपासीते'त्यादौ स्वात्मा परमात्मत्वेनोपासनार्थं स्तूयते । एवं सति तत्र यथा ब्रह्मत्वेनोक्तिरुपासनार्था, तथा स्वात्मन्यपि परमात्मोक्तिरिति न पूर्वोक्तं साधीय इत्यर्थः ।

व्याकुर्वन्ति । अतद्रूप इत्यादि । सत्यमात्मत्वेनोक्तिरुपासनार्था, परन्तु तया श्रुत्या आत्मत्वमवगत्योपासितव्यमिति बोध्यते, न त्वात्मत्वज्ञानस्य फलं निषिध्यते । तस्या अकृत्स्नत्ववारणार्थत्वात् । पूर्वं 'प्राणन्नेव प्राणो भवती'त्याद्युक्त्वा 'तान्येतान्यस्य कर्मनामान्येव स योत एकैकमुपास्ते न स वेदाकृत्स्नो ह्येषोन्त एकैकेन भवती'त्युक्त्वा अकृत्स्नत्ववारणार्थम्, 'आत्मेत्येवोपासीते'ति वदन्नग्रे, 'अत्र ह्येते सर्वं एकं भवन्ती'त्याह । तेनात्मत्वात् सर्वरूपस्य प्राणादिनैकदेशरूपेण यदुपासनं तत्प्रतीकरूपम्, तादृशेन तेन मोक्षो न भवतीति सिध्यति, न त्वात्मत्वेन ज्ञानान्मोक्षो न भवतीति । 'अत्र ह्येते सर्वं एकं भवन्ती'त्यनेन कृत्स्नत्वरूपस्य फलस्यात्मोपासने बोधितत्वात् । कृत्स्नत्वं सर्वभावपूर्वकक्षा, सर्वभावश्च मोक्षपूर्वकक्षेति तत्रैव पुरुषविधब्राह्मणे 'तद्धैतत् पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपदे' इत्यत्र सिद्धम् । अतो मोक्षपूर्वकक्षाया अत्र बोधनादात्मनः परमात्मत्वेनोपासनायां मोक्ष एव फलमिति सिध्यति । तथा च फलस्यापि वाक्यतात्पर्यनिर्णायकत्वान्मोक्षरूपेण फलेनात्मोपासनबोधकश्रुतितात्पर्यं निर्णीयते । अतः श्रुतिसिद्धत्वान्न मोक्ष इति न वक्तुं शक्यमिति भावोनेन सूत्रेण बोध्यते । अत आत्मनः परमात्मत्वेनोपासनं प्रतीकोपासनमिति तवाभिमतमसङ्गतमित्यर्थः ।

रश्मिः ।

तात्पर्यज्ञानपूर्वकं भक्तिमार्गीयत्वेनाधिदैविकचित्तशुद्ध्यर्थम् । ज्ञानमार्गीयत्वेनाध्यात्मिकचित्तशुद्ध्यर्थं वा क्रियमाण इत्यर्थः । इत्यर्थ इति । इतिभाव इत्यर्थः । अत्रार्थशब्दो भाववाचकः ॥ ३ ॥

न प्रतीकेन हि सः ॥ ४ ॥ अभेद इति । अज्ञानोपाधिनिवृत्तिद्वाराऽभेदे पर्यवसन्नत्वम् । स्वमते तु 'तत्त्वमसी'त्यत्र तस्य भावस्तत्त्वमसीतिपक्षे **तादात्म्ये** तदात्मनो भावस्तादात्म्यं तस्मिन्पर्यवसन्नत्वं तस्मात् । 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं स आत्मा तत्त्वमसी'त्यत्र पूर्वं ऐतदात्म्यपदात् । **तत्तन्मार्गरीत्येति** । मायावादिमार्गब्रह्मवादिमार्गरीत्या । **मोक्ष इति** । निःसम्बोधो मोक्षः ससम्बोधो मोक्षः । **अहमित्यादि** । व्यापकात्मवादिमतयोरिमौ प्रकारौ । अण्वात्मवादिमते प्रकारोंशत्वं तदुक्तम् । अहमस्मत्प्रत्ययगोचरः **स्वात्मा** शङ्कराचार्यमते । स्वात्मत्वेन जीवब्रह्मवादेन । भास्कराचार्यमते विभूतिरूपत्वेन, जीवानामपि व्यापकत्वात् । **कार्यरूपत्वेनेति** । सर्वमिदं ब्रह्मेति न प्रयोगः, सर्वमिदं तज्जलानिति प्रयोगोत आहुः । **सर्वं कार्यरूपत्वेनेति** । घटः पृथिवीत्यत्र यथा पृथिवीत्वेन घटस्य बोधः, न तु घटत्वेन । **स्तूयत इति** । शङ्कराचार्यमते सोपाधिकः स्तूयते । **फलार्थताया इति** । अनावृत्त्यर्थतायाः । **नन्वित्यादीति** । **नोक्तमिति** । स्तुतेरनावृत्तिफलमित्युक्तं न । षोढा सृष्टिषु मायिकीमाद्यत्याहुः । **सत्यमित्यादिना** । फलमनावृत्तिः । **तस्या इति** । अनावृत्तेः । आवृत्तौ तु फलाकृत्स्नता स्यात् । 'न स पुनरावर्तत' इति श्रुतौ फलं भगवान् । **पूर्वमिति** । आत्मेत्येवोपासीतेत्यस्याः पूर्वम् । **इत्यादीति** । आदिना 'वदन् वाक् पश्यन् चक्षु'रित्यादि । **अस्येति** । अव्याकृतस्याकृत्स्नस्य । **कर्मनामानीति** । प्राणनादिकर्मकृतानि । **न** इत्यस्माकं वागादीनां मध्ये । **योत इति** पाठे यः अतः कृत्स्नतापादकत्वात् । वागादीनां मध्ये एकैकमुपास्ते । एकैके कृत्स्नो न भवति प्रविष्टोपि । यद्वा । **एकैकेनेति** तृतीयान्तम् । एकैकेन प्रतीकेन वेदनं न भवतीत्यर्थः । **सर्वभावेति** । कृत्स्नत्वे सर्वभावः सर्वत्वमात्मोपासने भवतीति कृत्स्नत्वं सर्वभावस्य पूर्वकक्षा । भावपदेन सर्वत्वेन भावो भक्तिर्भवतीत्युक्तम् । **पूर्वकक्षेति** । सर्वात्मकब्रह्मभवनस्य पूर्वकक्षा । 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणा'मिति श्रुतेः । **तत्** तस्मात् **प्रत्यबुध्यत** आत्मानं यथावत् प्रबोधितवान् । **तदभवत्** सर्वात्मकं ब्रह्माभवत् । अग्रे 'तद्धै तत्पश्यन्नि'ति श्रुतिः बृहदारण्यके पुरुषविधब्राह्मणे । **शाण्डिल्येति** । छान्दोग्ये 'असौ वा आदित्यो देवमध्वि'त्यारम्भके प्रपाठकेस्ति । **ब्रह्मभावरूपमिति** । एतमित इति श्रुतावेतमात्मानं इतः प्रपञ्चात् प्रेत्य सृत्वेत्यभिसम्भवितास्मीति श्रुत्यर्थात् । अभिसम्भविता प्राप्ता । अभितः सम्बन्धानवगाहि ज्ञानं ब्रह्म तदपि प्राप्ता । समिति सम्यक्त्वं सर्वरूपत्वेन, विपरीतं वा । अत उक्तं **ब्रह्मभावरूपमिति** । ब्रह्मात्मनोर्ब्रह्मणो मुख्यत्वप्रसिद्धेः । **श्रुतिसिद्धत्वादिति** भाष्यं विवृण्वन्तिस्म । **अत इति** । आरोपितत्वात् मिथ्यात्वेन मोक्षासाधकत्वात् । **परमात्मत्वेनेति** । आरोपितेन । **असङ्गतं** मोक्षाजनकत्वात् । न च 'सत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहत' इति मोक्षोपपत्तिरिति शङ्क्यम् । 'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थे'ति स्मृतिविरोधात् । अतोसत्ये वर्त्मनीत्यप्येकः पक्षो न सर्वथा । **अप्रतीकोपासनयेति** । चित्तशुद्धिद्वारेति ज्ञेयम् । षष्ठ्यन्तपाठे तु ज्ञानविशेषणम् । **फलं चेति** भाष्यं विवृण्वन्ति स्म । **उपासनस्येति** । 'ब्रह्मैव स'न्निति श्रुतिः शारीरब्राह्मणेऽस्ति । **त्वयापीति** । आवरणभङ्गातिरिक्तमनङ्गीकुर्वद्भ्योऽभिन्नेन । यद्वा । त्वयाप्यस्मदाग्रहेण वाच्यम् । **उपासनेति** । अर्थवादत्वेपि उक्तयुक्तियुक्तवेदाः प्रमाणमिति । उपपत्तिमिति पाठो व्याकृतः । अनुपपत्तिमितिपाठे तु इति शेष इति भाष्ये

अथवा आत्मत्वेनोक्तिरुपासनार्थेति वदन् वादी वक्तव्यः । फलार्थमेव तत् । फलं च श्रुत्युक्तस्तत्प्रवेश एवेति त्वयापि वाच्यम् । एवं सत्यादौ ज्ञानमार्गेनुप-

अस्मिन् पक्षे आत्मत्वेनोपासनस्याप्रतीकोपासनत्वाज्ज्ञानभक्त्योः फलवत्ता यद्यप्यायाति, तथापि न हीति पदद्वयं सूत्रे व्यर्थं स्यादित्यतः प्रकारान्तरेण सूत्रं व्याकुर्वन्तोवतारयन्ति । **अथवे**त्यादि । तदिति । उपासनम् । उपासनस्य फलं च 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'ति श्रुत्युक्तस्तस्मिन् ब्रह्मण्युपासकस्य जीवस्य प्रवेश इति त्वयापि वाच्यम् । अन्यथा उपासनविधानस्य वैय-

पत्तिमाह । न प्रतीकेनात्मभूते ज्ञानिन उपगमः पूर्वोक्तः प्रवेशः सम्भवतीति शेषः । भक्तिमार्गेपि तामाह न हि स इति । न हि प्रतीकोपासने स लोकवेदप्रसिद्धः पुरुषोत्तमोस्त्युपास्यत्वेन, येन तत्प्राकट्यं स्यात्, तदुपगमनं चेत्यर्थः । एवं ज्ञानभक्त्योः फलसत्ता साधिता ॥ ४ ॥

ननु 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म,' 'आत्मैवेद५ सर्व'मित्यादिश्रुतयः सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिं मुक्तिसाधनत्वेनोपदिशन्ति, सा च प्रतीकात्मिकैवेति कथं प्रतीकोपासनस्य न मोक्षसाधकत्वमिति प्राप्त उत्तरमाह ।

भाष्यप्रकाशः ।

ध्र्यापत्तेः । एवमात्मोपासनस्य फलवत्त्वे सति आदौ पूर्वं ज्ञानमार्गेनुपपत्तिम्, एकदेशोपासनेन फलाभावबोधिकां युक्तिमाहेत्यर्थः । उपगच्छन्तीति पूर्वसूत्रादनुवृत्य न प्रतीक इति सूत्रभागस्यार्थमाहुः । न प्रतीक इत्यादि । प्रतीक इति । अनात्मभूते मनआदौ ब्रह्मत्वेनोपासिते प्रतीकत्वान्न ब्रह्मणि प्रवेशः फलम्, किन्तु मनआद्युपासनाद्युक्तमेव । अत्र तु ब्रह्मणि प्रवेशस्योपपादितत्वान्न प्रतीकत्वमित्यर्थः । शेषमवतार्य व्याकुर्वन्ति भक्तीत्यादि । तथा च यदीदं प्रतीकोपासनं न स्यात्, अत्रोपास्यः पुरुषोत्तमो न स्यात् । यतोत्र पुरुषोत्तम एवात्मत्वेनोपास्यः, न त्वात्मा पुरुषोत्तमत्वेन । उपक्रमे सृष्टिकर्तृत्वरूपब्रह्मलिङ्गेन, अग्रे च 'आत्मानं प्रियमुपासीते'ति विशेषकथनेन, ईश्वरत्वकथनादिना च तथा निश्चयात् । अतो नेदं प्रतीकोपासनमित्यर्थः । सिद्धमाहुः एवमित्यादि । तथा च मोक्षफलकं ज्ञानिनामात्मत्वेनोपासनं न प्रतीकम् । अकृत्स्नत्ववारणार्थत्वात् । भक्तानां चात्मत्वेनोपासनं पुरुषोत्तमपर्यवसायीत्यतोपि न प्रतीकम् ।

अतः पूर्वोक्तं तवाभिमतमसङ्गतमित्यर्थः । एवमप्रतीकोपासनेन ज्ञानभक्त्योः फलवत्त्वे सिद्धे तयोरनावृत्तिफलकत्वेन तदङ्गभूतकर्मणोप्यनावृत्तावेव पर्यवसानमित्यपि बोध्यम् ॥ ४ ॥

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥ ५ ॥ सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि । मुक्तिसाधनत्वेनेति । परम्परया साक्षाच्च तत्साधनत्वेन । सा च प्रतीकात्मिकैवेति । ब्रह्मकार्ये ब्रह्मांशे च ब्रह्मदृष्टिरूपत्वात्तथा । तथा चेदं वाक्यद्वयं छान्दोग्यस्थम् । तत्र प्रथमं शाण्डिल्यविद्यास्थम् । तेन शुद्धान्तःकरणस्याग्रे 'यस्य स्यादद्धे'त्यनेन भगवत्प्राप्तिरूपं फलमुक्तम् । द्वितीयं सनत्कुमारनारदसंवादस्थम् । तत्रापि, 'न पश्यो मृत्युं पश्यती'त्यादिना 'तमसस्पारं दर्शयती'त्यन्तेन मुक्ति-

रश्मिः ।

अपि तु न सम्भवतीति काकुर्बोध्या । अनुवृत्त्येति । अत्र क्त्वो ल्यपः स्थानिवद्भावेन कित्त्वं स्वीकृतम्, अतो न गुणः । न प्रतीक इत्यादीति । न प्रतीक इत्येकं पदमित्याशयेनाहुः । अनात्मभूत इति । शेषमिति । न हि स इति तत्र शेषम् । भक्तीत्यादीति । तामित्युपपत्तिं, अनुपपत्तिं च पाठान्तरे । न हीति । भक्तिहंसे स्पष्टम् । पुरुषोत्तमस्य भक्त्येकविषयत्वेनोपास्यत्वाभावात् । उपगमनं पूर्वसूत्रादनुवृत्तोपगच्छन्तिपदप्रकृत्यर्थः । पर्यवसानमिति । उद्देश्यभेदेन चित्तशुद्ध्यर्थं कृतेन कर्मणा ज्ञानभक्तिद्वारानावृत्तिरिति तथा ॥ ४ ॥

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥ ५ ॥ तेनेत्यादीति । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'त्युपासनेन ब्रह्मदृष्टिरूपेण । अग्रे श्रुत्यग्रे । भक्तिफलं 'यस्य स्यादद्धा प्रत्यक्ष'मितिवाक्येन प्रत्यक्षे लयनियमात्, भगवत्प्राप्तिरूपमित्यर्थः । अतिमुक्तिः मुक्तिरूपमिति । सर्वात्मभावप्रकरणादतिमुक्तिरूपम् । आत्मबोधोपनि-

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥ ५ ॥

सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिर्न प्रतीकात्मिका । सर्वस्य वस्तुतो ब्रह्मात्मकत्वात् । सा च नोपदेशसाध्या, अतो नोपदिश्यते, किन्त्वनूद्यते । सा त्वधिकारोत्कर्षात्

भाष्यप्रकाशः ।

रूपमेव फलमुक्तम् । तच्चोपासनद्वयमपि प्रतीकरूपम् । सर्वरूप आत्मनि प्राणाद्येकदेशदृष्टिवद् ब्रह्मकार्यरूपे जगति ब्रह्मांश आत्मनि च ब्रह्मदृष्टिरूपतयातद्रूपे तत्त्वेनोपासनरूपत्वात् । तस्माच्च मुक्तिरुक्तेति प्रतीकेनापि मुक्तिसिद्धौ फलेन विषयेण च निर्णयाभावादात्मत्वेनोक्तेर्मोक्षफलकत्वोक्तेश्च तादृशप्रतीकनिवारकत्वकथनं न साधीय इत्याशङ्कायामुत्तरमाहेत्यर्थः । सूत्रं व्याकुर्वन्ति सर्वत्रेत्यादि । सर्वस्मिन् प्रपञ्चे या ब्रह्मदृष्टिः, सा न प्रतीकात्मिका । कार्यस्य कारणात्मकत्वेन प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकतया वस्तुतो ब्रह्मात्मकत्वस्य श्रुत्यभिप्रेतत्वात् । अन्यथा 'सर्वं खल्वि'ति वाक्ये 'तज्जला'निति सर्वविशेषणमुपासनाहेतुत्वेन न वदेत् । 'खल्वि'त्यव्ययं च न वदेत् । तद्विनापि प्रतीकोपासनाया वाचो धेनुत्वोपासनवत्सुखेन सिद्धेः । अत इयं मननात्मिका । अत एवाग्रिमवाक्ये, 'स क्रतुं कुर्वीते'ति शब्दान्तरेण मननमुपदिश्यते, भेददृष्टिजनितभयाभावार्थम् । अन्यथा 'तत्त्वेव भयं विदुषोमन्वानस्ये'ति श्रुत्यन्तराकुयापत्तेः । श्वेतकेतुविद्यायामप्यावृत्त्या मननमेव बोध्यते । मैत्रेयीब्राह्मणसनत्कुमारविद्यादिषु त्वनूद्यते, यतः साधिकारोत्कर्षादेव सेत्स्य-

रश्मिः ।

षदि प्रसिद्धा । श्रुत्यर्थस्तु लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणेस्ति । प्राणादीति । प्रथमान्ताद्वतिः । आत्मत्वेनेति । उक्ते परमात्मत्वारोपेणोक्ते जीवे आत्मत्वेन तादृशप्रतीकोपासनस्य निवारकत्वकथनं पूर्वसूत्रे न साधीय इत्यर्थः । तज्जलानिति । तज्जायत इति जं, लीयत इति लं, अनितीत्यन्, उभयत्र तस्मिन्निति ज्ञेयम् । तज्जं च लं च अन् च तज्जलान्, तज्जलान् सर्वम् । अव्ययमिति । निश्चयार्थकम् । तद्विनेति । विशेषणान्वयद्वयं विना । वाच इति । 'वाचं धेनुमुपासीते'तिश्रुतिः । षष्ठ्यन्ताद्वतिः । आवृत्त्येति । नवकृत्व उपदेशाभ्यावृत्तिभिः । तथा च श्रीभागवते 'सर्वभूतेषु मन्मति'रित्युक्तसाधनेन प्रेम लभत इत्युपासनाव्यतिरेकः । मुक्तीनामनेकविधत्वात् । अतो न ब्रह्मदृष्टिं मुक्तिसाधनत्वेनोपदिशन्तीति भाष्यविरोधः । सा चेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म । मैत्रेयीति । आदिना प्राणविद्या । सा च छान्दोग्ये उपकोसलजाबालविद्या । जाबाल आचार्यः । सा च प्राणं च ह अस्मै तदाकाशं चोचुः । अस्मा उपकोसलाय । अनूद्यत इति । न तूपदिश्यते । भक्तिविद्यायाः पुराणादिष्वपि दर्शनात्, वेदेपि 'अभये जुष्टं निर्वपामी'ति भक्तिरुपदिश्यते इति । सिद्धस्य कथनमनुवाद इति । सा त्विति भाष्यविवरणम् । यतः सेति । अधिकारेति । दैव्यां सम्पदि जातस्य शरणगमने श्रुतात्मनिवेदित्वे च जिज्ञासुत्वामात्सर्यश्रवणादरवत्त्वं श्रोतुरधिकारः । श्रुतभागवतत्वचातुर्यगुह्यज्ञानवत्त्वं वक्तुरधिकारः । अयं हीनाधिकारः, अस्मादुत्कर्षः मध्यमेधिकारे, भगवत्कृपाभगवदीयत्वभगवदेकत्वरूपवक्तृश्रोतृगुणरूपे । ततोप्युत्कर्षः उत्तमेधिकारे, पारंपर्यकृतदोषाभावो भगवत्कृपया ॥ १ ॥ भगवत्कृपया स्त्रीपारंपर्यकृतदोषाभावः ॥ २ ॥ जीवाज्ञाननिवृत्त्या परमकृपा तया पोषकान्नशुद्धिः ॥ ३ ॥ सम्बन्धिनां भगवत्परतापुरःसरं सामान्यतः सुखप्राप्त्या भगवतः परमकृपा तया सांसर्गिकदोषाभावः ॥ ४ ॥ भगवतः कार्यसमाप्त्या सुखस्थित्यान्येष्वपि भगवत्सुखेन सुखप्राप्त्या आगन्तुकदोषाभावः ॥ ५ ॥ भगवद्रक्षितपुत्रादिसम्पत्त्या विशेषेण सुखप्राप्त्याधिकारिणि परमकृपा ॥ ६ ॥ बीजमुक्तिः ॥ ७ ॥ बीजमुक्तिकार्यभूतब-

स्वत एव भवतीति प्रतीकोपासनस्य न मुक्तिसाधनत्वमिति साधूक्तम् । एतदेवोक्तमनेन सूत्रेण ॥ ५ ॥ २ ॥

इति चतुर्थाध्याये प्रथमपादे द्वितीयमात्माधिकरणम् ॥ २ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

तीत्यभिप्रायेण । एवं 'मनो ब्रह्मेत्युपासीते'त्यादावपि मनो ब्रह्म इति हेतोस्तत्रोक्तफलार्थमुपासीतेत्येवमुपासनाहेतुत्वेनानूद्यते, न तु विषयत्वेनोपदिश्यते । सा त्वेवं ज्ञात्वोपासने क्रियमाणेधिकारोत्कर्षात् स्वत एव भवति । अतस्तत्र मुक्तिफलकथनेन त्वदुक्तेषु प्रतीकेषूपासनेषु न मुक्तिफलकत्वसिद्धिः, अतः पूर्वोक्तं साध्वेवेत्यर्थः । तथा चोपासनावाक्यगतस्यात्मशब्दस्य प्रतीकोपासननिवृत्त्यर्थत्वात् सर्वत्रात्मदृष्टेरप्रतीकत्वादात्मशब्दब्रह्मशब्दयोरैकार्थ्यात् सर्वत्र ब्रह्मदृष्टौ साक्षात्परम्परया च मोक्ष एव फलमिति ज्ञानभक्त्योरनावृत्तिफलकत्वमप्रत्यूहमिति सिद्धम् । न च यदि ब्रह्मदृष्टिर्न कुत्रापि प्रतीकात्मिका, तर्ह्यात्मनोप्यन्यतुल्यत्वात् पूर्वसूत्रे आत्मत्वेन ग्रहणमेव कुत उक्तम्, विशेषाभावादिति वाच्यम् । सर्वत्र जडे सदंशमात्रस्य प्राकट्येन जीवात्मनि चिदंशस्यापि प्राकट्येन, 'द्वा सुपर्णा', 'ऋतं पिबन्ता'विति श्रुतिभ्यां सखित्वैककार्यकारित्वयोः श्रावणेन, 'सरूपा' इति साजात्यश्रावणेन, 'त्वं वै अहं भगवो देवते अहं वै त्व'मिति व्यतिहारश्रावणेन च, 'अहं भवान्न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भोः । न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपी'ति छिद्राभावस्मरणेन च विशेषबाहुल्यात् । एतन्निगमयन्ति एतदेवेत्यादि । तथा च ब्रह्मदृष्ट्युपदेशबोधनार्थं नेदं सूत्रम्, किन्तु ब्रह्मत्वस्य फलदाने हेतुत्वेन बोधनार्थमित्यर्थः ।

अन्ये तु 'आत्मेती'त्यादिसूत्रत्रयं प्रत्येकमधिकरणत्वेनोपगच्छन्त आद्येधिकरणे शास्त्रोक्तलक्षणः परमात्माहमस्मीति ग्रहीतव्यः, किं वा मदन्य इति संशये मदन्य इति प्राप्तम् । परमात्मनोपहतपाप्मादिगुणकस्य तद्विपरीततया ग्रहणस्यायुक्तत्वात् । तथाग्रहणे चेश्वराभावप्रसङ्गात् । स्वस्येश्वरतया ग्रहणेन साधकाभावशास्त्रानर्थक्यप्रत्यक्षविरोधानां प्रसङ्गाच्चेति । अतः

रश्मिः ।

हिर्निगमनहेतुभूतवैराग्यम् ॥ ८ ॥ वैराग्यनिर्गमफलीभूतमुक्तिः, पूर्वजकृतप्रतिबन्धाभावाय पूर्वजमुक्तिः ॥ ९ ॥ लौकिकसामर्थ्यं परीक्षिद्वत् ॥ १० ॥ अलौकिकसामर्थ्यम् ॥ ११ ॥ त्यागकारणीभूतवैराग्यहेतुशापादिना धर्मोन्नतिः ॥ १२ ॥ त्यागसत्सङ्गौ ॥ १३ ॥ **एवं कामिके इति** । एवमधिकारोत्कर्षादित्यर्थः । एवमधिकारोत्कर्षं प्राप्य सा ब्रह्मदृष्टिः । **स्वत एवेति** सत्त्वाविर्भावोत्र द्रष्टव्यः । 'रजसा तु तमो हन्याद्रजः सत्त्वेन चैव हि,' 'सत्त्वं सत्त्वेन हन्या'दिति गीतायाम् । एवं ब्रह्मदृष्टिः 'श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यत' इति वाक्योक्तश्रेयस्सु निविष्टा 'सर्वभूतेषु मन्मति'रिति श्रीभागवतीया प्रेमलक्षणा भक्तिः कारणभूता । प्रेमद्वारा मुक्तिः । **ब्रह्मदृष्टाविति** । तस्यां सत्यां प्रेमद्वारा मोक्ष इत्यर्थः । **निगमयन्तीति** । तस्मात्तथेति पञ्चावयवेषु निगमनवत्परप्रतिपत्त्यर्थं सिद्धं निगमयन्ति । **अपहतपाप्मेति** । भावप्रधानः । अपहतपाप्मत्वादिगुणकस्य । अपहतपाप्मादिगुणविपरीततयास्मत्त्वेन ग्रहणस्य । **ईश्वरेति** । ईश्वरस्यास्मत्प्रत्ययगोचरत्वे जडत्वापत्त्येश्वराभावप्रसङ्गात् । **साधकेति** । ईश्वरस्याधिकारिरूपसाधकबोधकानां 'कर्मकर्तृव्यपदेशा'च्चेत्यादीनामभावस्य प्रसङ्गात् । तथाशास्त्रस्य प्रयोजनमुद्दिश्य प्रवृत्तस्यानर्थक्यस्य प्रसङ्गात् । प्रयोजनाभावात् । तथा प्रत्यक्षस्य मदन्यविषयकस्य विरोधस्य प्रसङ्गात् । स्वेति । जीवात्मनस्तस्य तदभिन्नस्य तस्यात्मनोभा-

भाष्यप्रकाशः ।

शास्त्रात् प्रतिमासु विष्णुदृष्टिवत् स्वात्मनस्तत्तादात्म्यदृष्टिः कर्तव्या, न तु संसारिणो मुख्य आत्मा परमेश्वर एवेति प्रापयितव्यम् । एवं प्राप्ते, उच्यते । आत्मेत्येव परमेश्वरः प्रतिपत्तव्यः । यतः परमेश्वरप्रक्रियायां जाबाला आत्मत्वेनैवैनमुपगच्छन्ति, 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि भगवो देवते' इति ।

तथा अन्येपि 'अहं ब्रह्मास्मी'त्येवमादाय आत्मत्वोपगमा द्रष्टव्याः । ग्राहयन्ति चात्मत्वेनैवेश्वरं वेदवाक्यानि । 'एष त आत्मा सर्वान्तरः', 'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः', 'तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसी'त्येवमादीनि । यदुक्तं प्रतिमान्यायेन प्रतीकं भविष्यतीति । तदयुक्तम् । गौणत्वप्रसङ्गात् । 'मनो ब्रह्मेत्यादित्यो ब्रह्मे'त्यादौ सकृदेव तद्वचनेन, इह चाहं त्वं त्वमहमित्यसकृद्वचनेन प्रतीकश्रुतिवैरूप्याच्च । 'अथ योन्यां देवतामुपास्तेन्योसावन्योहमिति न स वेद, मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यती'ति, 'सर्वं तं परादाद्योन्यत्रात्मनः सर्वं वेदे'त्यादिषु भेददर्शनापवादाच्च । न च विरुद्धगुणयोरन्योन्यात्मत्वासम्भवः शङ्क्यः । विरुद्धगुणत्वस्य मिथ्यात्वोपपत्तेः । नापीश्वराभावः शङ्क्यः । शास्त्रप्रामाण्येनास्माभिरीश्वरस्य संसारित्वाप्रतिपादनेन संसार्यात्मनः संसारित्वापोहेनेश्वरात्मत्वप्रतिपादनस्य क्रियमाणत्वेन तदभावात् । नाप्यधिकार्यभावः, प्रत्यक्षविरोधो वा । प्राक्प्रबोधाद् व्यवहारे संसारित्वस्य तद्विषयकप्रत्यक्षस्य चाङ्गीकारेण विरोधाभावात् । 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत् केन कं पश्ये'दित्यादिना प्रबोधदशायामेव श्रुत्या प्रत्यक्षाद्यभावबोधनात्तदानीं च श्रुत्यभावस्यापि, 'अत्र पिता अपिता भवती'त्युपक्रम्य, अग्रे 'वेदा अवेदा' इति वचनेन वेदाभावस्यापीष्टत्वात् । यदपि कैश्चिदविद्याया ब्रह्मणः सद्वितीयत्वादद्वैतानुपपत्तिरिति शङ्क्यते, तदप्येतेनैव प्रत्युक्तम् । तस्मादात्मेत्येवेश्वरे मनो दधीतेति शाङ्करा आहुः ।

तन्न रुचिरम् । परमात्मन्यहङ्ग्रहोपासने साध्ये प्रमाणत्वेनात्मत्वोपगमस्य वक्तुमयुक्तत्वात् । परमात्मनि मुख्यवृत्तस्यात्मपदस्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म,' 'इदं सर्वं यदयमात्मा आत्मैवेदं सर्व'मित्यादिश्रुतिभिः सर्वस्य ब्रह्मत्वे बोधिते सर्वसङ्ग्राहकतया स्वप्रत्यग्वित्तिवेद्यवाचकाहम्पदतो

रश्मिः ।

वस्तत्तादात्म्यं तस्य दृष्टिः । **मुख्य इति** । सोपाधिको गौणो मुख्यत्वनिरूपकः । **विरुद्धेति** । अहतपाप्मत्वापहतपाप्मत्वयोः । **तदभावादिति** । ईश्वराभावशङ्काभावात् । **प्रबोधाज्** ज्ञानात् । **तद्विषयकेति** । संसारिविषयकप्रत्यक्षस्य । **प्रत्यक्षादीति** । आदिनाधिकारी । **एतेनेति** । मिथ्यात्वोपपादनेन । **परमात्मनीति** । जीवे ब्रह्मोपासनानिषेधात् परमात्मनोधिष्ठानत्वमुक्तम् । परमते परमात्मविषयके, 'अहमस्मि ब्रह्माहमस्मि' इत्यादावर्थवादत्वानङ्गीकारादहङ्ग्रहोपासनं तस्मिन् । तत्रापि '**ब्रह्मा**हमस्मी'ति । ब्रह्मणः प्रसिद्धेः । 'अहं ब्रह्मास्मी'त्यत्र गवन्नये ब्रह्मज्ञानाधीनविद्यासम्बन्धाधीनत्वादस्मच्छब्दप्रयोगस्य 'ब्रह्माहमस्मी'ति प्रबोधे सुकरत्वात् । **प्रमाणत्वेनेति** । अहङ्ग्रहोपासनश्रुतौ अनधिगतार्थगन्तृत्वं प्रमाणम् । जीवस्यात्मत्वेनोपगमस्तयेति, आत्मोपगमस्य प्रमाणत्वं शब्दार्थयोरौत्पत्तिकसम्बन्धात् । **सर्वेति** । आत्मपदस्यात्मत्वेन सर्वसङ्ग्राहकतया । **स्वप्रत्यगिति** । स्वमात्मा प्रत्यक् जीवस्तस्य वित्तिर्ज्ञानं तद्वेद्यः प्रादेशिकः, 'अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः कामाहङ्कारसमन्वितो यः, बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोपि दृष्टः', इति श्रुतेर्बुद्ध्यादिगुणेषु प्रदेशेषु भवः प्रादेशिको जीवः ।

१. श्रुतौ पश्यतिपदादिति शेषः ।
४ अ० सू० १०

भाष्यप्रकाशः ।

भिन्नार्थत्वेऽहम्पदार्थमात्रत्वप्रमित्यजनकत्वात् । अथ 'आत्मैवेदमग्र आसी'दित्युपक्रम्य 'सोहमस्मी'त्यग्रे व्याहरत्ततोहंनामा अभव'दिति श्रुतेः पर्यायत्वान्न दोष इत्युच्यताम् । तथा सति तेन तदहंवित्तिवेद्यत्वगुणकोपासनं सेत्स्यति, न तु तस्य स्वाभेदपर्यवसायित्वाहंवित्तिवेद्यत्वगुणकम् । ततश्च किमहमिति ग्रहीतव्यः, किं वा मदन्य इति संशयाकारासङ्गतिः । तत्रास्मत्पदाभ्यां प्रतिशरीरं भिन्नस्य स्वाहंवित्तिवेद्यस्यैव बोध्यमानत्वात् । न चोपाधेर्मिथ्यात्वात् तदनादरेण घटाकाशमहाकाशन्यायात्तयोरभेदस्यैव सिद्धेर्न दोष इति वाच्यम् । मिथ्यात्वेपि यावद्व्यवहारं तत्सत्तायां भेदाभावस्योपगन्तुमशक्यत्वात् । न च जाबालवाक्यादभेदोपगमनं शक्यम् । तत्रापि 'देवते' इति द्विवचनेन देवतापदस्य सम्बुद्धित्वपक्षेपि स्वप्रत्यक्पराग्वित्तिवेद्यत्वाभ्यां च भेदस्यैव बोधनात् । न च व्यतिहारानुरोधादभेदः शक्यः । तस्य भेदविरुद्धस्वभावे तादात्म्यरूपे अभेदेप्युपपन्नत्वेनाभेदोपासनास्तुत्यर्थतया भेदाभावरूपतद्गमकत्वात् । 'त्वं तु भागवतेष्वहम्,' 'आयुधानामहं वज्र'मित्यादावहम्पदस्य विभूतावपि प्रयोगेण 'त्वं वाहमस्मी'त्यहम्पदस्य त्वद्विभूत्यात्मकोस्मीत्यर्थस्य, 'अहं वै त्वमसी'त्यत्र विभूत्यात्मनाभेदस्य शक्यवचनत्वाच्च । नापि 'अहं ब्रह्मास्मि,' 'तत्त्वमसी'त्यादिविरोधः । तत्रापि सुवर्णशकले सुवर्णबुद्धिवद् ब्रह्मांशे ब्रह्मबुद्धेरुपपन्नत्वेन तदविरोधात् । 'मामेव विजानीही'त्यादिवदाविष्टवाक्यादिरूपत्वेनाप्युपपत्तेश्च ।

रश्मिः ।

तस्य वाचकादहम्पदत एकात् सर्वसङ्ग्राहकात्मपदाद्भिन्नार्थत्वे अहम्पदार्थेति । आत्मत्वस्यापि सर्वान्तर्गतत्वात् प्राह । न दोष इति । 'सोह'मित्यनयोरात्माहमिति पर्यायत्वेनात्मपदवदहम्पदस्यापि सर्वसङ्ग्राहकतयाहम्पदस्याहंपदार्थमात्रत्वप्रकारिका, अहम्पदार्थमात्रविशेष्यिका प्रमितिस्तज्जनकत्वरूपो दोषो न । तेन तदहमिति । 'सोहमस्मी'त्युपासनेनात्माहंवित्त्या वेद्यत्वं गुणो यस्मिन्नुपासने तत् । तस्येति । 'सोहमस्मी'त्युपासनस्य स्वस्यात्मनो जीवेनाभेदपर्यवसायोस्यास्तीति स्वाभेदपर्यवसायि स्वं तेन सहाहंवित्तिवेद्यत्वं जीवनिष्ठं गुणो यस्मिन्नुपासने तत् । ग्रहीतव्य इति । तव्यस्याकित्त्वाच्च सम्प्रसारणं कृतम् । गृहीतव्यइति सम्प्रसारणं चिन्त्यम् । असङ्गतिरिति । अभेदान्वयासम्भवादसङ्गतिः । तत्रास्मदिति । 'सोहमस्मि' 'ब्रह्माहमस्मि' इत्यहंब्रह्मोपासनयोः । स्वाहंवित्तीति । स्वेनात्मना सहाहंवित्तिस्तया वेद्यस्य । तयोरिति । आत्मजीवयोः । न दोष इति । संशयाकारासङ्गतिदोषो न । मिथ्यात्व इति उपाधेर्मिथ्यात्वेपि खपुष्पवन् मिथ्यात्वाभावः यतो यावद्व्यवहारं सत्ता व्यावहारिकीति श्रीभागवतप्रसिद्धा तस्याम् । जाबालेति । 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि भगवो देवते' इतिवाक्यात् । भगवो भगवन् । स्वप्रत्यगिति । स्वमात्मा प्रत्यक् पूर्वं पराक् पश्चात्, एवं च स्वं च तौ प्रत्यक्पराञ्चौ स्वप्रत्यक्पराञ्चौ तयोर्वित्ती ताभ्यां वेद्यत्वे ताभ्यामित्यर्थः । पूर्ववाक्ये युष्मदर्थस्य प्रत्यग्वेद्यत्वम् । द्वितीये पराग्वेद्यत्वम् । भेदस्यैवेति । त्वमहं अहं त्वमितिप्रतीयमाननिराकार्यभेदस्य । एवकारोप्यर्थे । तथा च देवदत्तो ममात्मेतिप्रतीतौ निराकार्यभेदस्येव देवदत्तपदस्यात्मपरत्वम्, न तु देहपरत्वमिति । अत्रापि प्रतिदेहं गच्छतीति प्रत्यग्जीव इति व्युत्पत्तिः । पूर्वत्वं तस्य । व्यतिहारेति । 'त्वमहं अहं त्वमिति व्यतिहारः । तस्येति । व्यतिहारस्य । तादात्म्यरूपे स्वप्रतियोग्यसम्बन्धरूपे । स्वमभेदः । यथा घटानामभेदस्तादात्म्यरूपः । नाभेदेति । न अभेदेनोपासना नाभेदोपासना तत्स्तुत्यर्थताऽभेदारोपेण तयेत्यर्थः । भेदाभावरूपाभेदागमकत्वात् । त्वं त्विति । उद्धवः, मामेवेतीन्द्रप्रतर्दनसंवादे । अत्र भगवदाविष्ट इन्द्रः । आविष्टेति । भगवदाविष्टजीवश्वेत-

भाष्यप्रकाशः ।

अत एव, 'एष न आत्मे'त्यादिषु ब्राह्मणवाक्येष्वप्यात्मपदमेवोक्तम्, न तु, त्वम्पदमहम्पदं वेति युज्यते । किञ्च । आत्मनः स्वप्रत्यग्वित्तिवेद्यस्य च सर्वथा भेदाभावे, 'अथातोहङ्कारादेश' इत्यनन्तरं 'अथात आत्मादेश' इति पुनर्नोपदिश्येत । तस्मात् स्वात्मेश्वरयोर्भेदविरुद्धस्वभावाभेदेनैवोपासना युक्ता, न तु भेदाभावरूपेणाभेदेन । एवमेव श्रीभागवतेप्युच्यते । 'आत्मानं चिन्तयेदेकमभेदेन मया मुनि'रिति, न तु स्वाभेदेन मामिति । 'अथ योन्यां देवतामुपास्तेन्योसावन्योहमिति न स वेद यथा पशुरेवं हि स देवाना'मिति भेदोपासननिन्दापि, न हि निन्दान्यायेन पूर्वोक्ताभेदोपासनास्तुत्यर्थत्वादुपपन्ना । एवमन्यान्यपि वाक्यानि बोध्यानि । यच्च प्रतिमादौ विष्णुबुद्धेः प्रतीकत्वं यदुक्तम्, तदपि तथा । सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वेन तत्र विष्णुबुद्धेः प्रतीकत्वाभावात् । अतद्रूपे तत्त्वेनोपासनस्यैव भवद्भिः प्रतीकत्वोपगमात्, यदपि, वेदानामप्यभावः प्रबोधे इत्युक्तम् । तदपि तथा । 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभू'दित्यत्र सर्वस्य नाशाकथनेनात्मभावस्य च कथनेन, 'वेदा अवेदा' इत्यत्रापि ज्ञानाद्विकल्पबुद्धिमात्रबाधेन वस्तुस्वरूपाबाधात् स्वरूपतो वेदाभावस्य वक्तुमशक्यत्वादिति । यदपि, न प्रतीकवत्त्वे प्रतीकोपासने आत्म-

रश्मिः ।

केतुं प्रति वाक्यादिरूपत्वेन । आदिना 'श्रद्धत्स्व सौम्ये'तिश्रद्धावाक्यं श्वेतकेतुं प्रति । व्यतिहारवाक्यमन्यान् प्रति । तेनाविष्टानां वाक्यादि, आविष्टवाक्यादि तत्स्वरूपत्वम् । सम्बन्धश्च षष्ठ्यर्थो न कर्मसम्बन्धो विषयविषयिभावोऽतो न द्वितीयापत्तिः । अत्र इति । आविष्टवाक्यादिरूपत्वात् । आत्मपदमिति । असन्देहायात्मपदम् । एवकारार्थमाहुः न त्विति । आत्मानं चिन्तयेदिति । अभेदस्तादात्म्यरूपस्तेन । न तु स्वेति । स्वस्य जीवस्याभेदो भेदाभावरूपस्तेन । न हि निन्देति । 'न हि निन्दा निन्दितुं प्रवर्तते, अपि तु विधेयं स्तोतु'मितिन्यायेन । पूर्वोक्तेति । तादात्म्यरूपाभेदोपासना स्तुत्यर्थत्वात् । अन्यानीति । 'मद्भियाचेये'त्यादीनि । 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मत' इति गीतावाक्यात्तादात्म्यरूपाभेदः । एवं चेति । 'दृष्टमात्रा मत्प्रतिमाहमेवेति मन्तव्ये'ति विष्णुस्वामिनं प्रति भगवद्वाक्ये 'शिलाबुद्धिर्न कार्या च तत्र नारद कर्हिचित् । ज्ञानानन्दात्मको विष्णुर्यत्र तिष्ठत्यचिन्त्यकृत् । तीर्थक्षेत्रस्थिते विष्णौ शिलाबुद्धिं करोति यः । स याति नरकं घोरं पुनरावृत्तिवर्जितम् ॥ अत्र सामान्यतो मूढा हैतुकाः पापबुद्धयः । प्रतिमेति विकल्पन्ते दृष्ट्वानन्दात्मकं वपुरि'ति स्कान्दसह्याद्रिखण्डोत्तरसंहितास्थपाण्डुरङ्गमाहात्म्यवचने च । अत्र पूर्वत्र प्रतिमाहमिति प्रयोगः । प्रतिमा सती अस्मत्पदार्थः सच्चिदानन्दरूपः, एनयोरभेदस्तादात्म्यरूपः । घटयोरिव । यदि तु विष्णुस्वामी दैशिको भगवत्सान्निध्यं चेति प्रतिमा सच्चिदानन्दरूपा तदापि तादात्म्यरूपोऽभेदः, परन्तु 'आश्चर्यो वक्ता कुशलोस्य लब्धे'तिकाठकादाश्चर्याभिनिवेशिनां भेदाभावरूपोऽभेदोऽस्तु भेदप्रतीतावपि । तदुक्तं 'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः' इति । परत्र । प्रतिमायां शिलाबुद्धिनिषेधाच्छिलात्वेन बुद्धिः प्रतिमाविषयिणी । एवं च सच्चिदानन्दबुद्धिः शिलायां प्राप्ता । दृष्टशास्त्राभ्यामन्यस्या बुद्धेरभावात् । तत्रेत्यस्यानन्दात्मकवपुषि । उपलक्षणमेतत् सच्चितोः । यत्र त्वस्याप्ययमर्थः । तीर्थं सर्वात्मभावोपि । 'नातः परतरं स्तोत्रं नातः परतरः स्तवः, नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्पर'मिति निरोधलक्षणग्रन्थवाक्यात् । एतदेवोक्तं सर्वस्य ब्रह्मत्वेत्यादिप्रकाशेन । तथेति । अनुपपन्नम् । प्रबोध इति ज्ञाने । तथेत्यनुपपन्नम् । उपपादयन्ति स्म । यत्र त्वस्येत्यादिना । ज्ञानादिति । आत्मत्वप्रकारकसर्वविशेष्यकज्ञानात् । विकल्पेति । 'आत्मैवाभू'दित्यात्मरूपवेदा-

भाष्यप्रकाशः ।

दृष्टिर्न कार्येत्युक्तम् । तत्रापि मनआद्युपासनस्य प्रतीकत्वमेवायुक्तम् । 'सर्वं तं परादाद्योन्यत्रात्मनः सर्वं वेदे'ति सर्वत्राभेददृष्ट्यर्थं भेददृष्टिनिन्दाङ्गीकारेण भवतामपि सिद्धे सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वे मनआदीनामपि तथात्वात्पुरुषाङ्गे पुरुषबुद्धिवत् प्रतीकत्वाभावात् । अथ, 'अङ्गं प्रतीकोवयव' इति कोशादङ्गोपासनैव प्रतीकोपासनेतीष्यते, तदा तु ॐमिति ब्रूमः ।

रामानुजाचार्यास्तु, तुशब्दोवधारणे । उपासितुरात्मत्वेवोपास्यम् । उपासिता प्रत्यगात्मा स्वशरीरस्य स्वयं यथात्मा तथा स्वात्मनोपि परं ब्रह्मात्मेत्येवोपासीत । कुतः । एवं ह्युपगच्छन्त्युपासितारः । 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसी'ति । उपासितुरर्थान्तरभूतं ब्रह्म उपासितारः कथमित्युपगच्छतीत्यत्राह । ग्राहयन्ति चेति । इति इममर्थमविदूरोपासितॄन् ग्राहयन्ति । शास्त्राणि तान् प्रत्युपपादयन्ति । 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तरः' । 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः', 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जला'निति च सर्वस्य चिदचिद्वस्तुनस्तज्जत्वात्तल्लत्वात्तदन्त्वात्तन्नियम्यत्वात्तच्छरीरत्वाच्च सर्वस्यायमात्मा, अतः स त आत्मा । अतो यथा प्रत्यगात्मनः स्वशरीरं प्रत्यात्मत्वाद्देवोहं मनुष्योहमित्यनुसन्धानम्, तथा परमात्मनः प्रत्यगात्मनोप्यात्मत्वात्प्रत्यगात्मानं प्रत्यप्यहमित्यनुसन्धानं युक्तमित्युपपादनात् । सर्वबुद्धीनां ब्रह्मैकनिष्ठत्वेन सर्वशब्दानां ब्रह्मैकनिष्ठत्वमभ्युपगच्छत'स्त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसी'ति व्यतिहारेणोक्तवन्तः । एवं च 'अथ योन्यां देवतामुपास्तेन्योसावन्योहमिति, अकृत्स्नो ह्येषः, आत्मेत्येवोपासीत, सर्वं तं परादाद्योन्यत्रात्मनः सर्वं वेदे'ति आत्मत्वाननुसन्धाननिषेधः । तेन, 'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वे'ति पृथगात्मानुसन्धानं चाविरुद्धम् । अहमिति स्वात्मतयानुसन्धानादन्यत्वानुसन्धाननिषेधो रक्षितः । स्वशरीरात्स्वात्मनोधिकत्वानुसन्धानवत् स्वात्मनोपि परात्मनोधिकत्वानुसन्धानात् पृथक्त्वानुसन्धानविधानं च रक्षितम् । अधिकस्य ब्रह्मणस्तदात्मकत्वात् तस्य च ब्रह्मशरीरत्वान्निषेधवाक्येकृत्स्नो ह्येष इत्युक्तम् । अत उपासितुरात्मत्वेन ब्रह्मोपास्यमिति स्थितमित्याहुः । तदपि शाङ्करादिमतापेक्षयोपपन्नम् ॥ ५ ॥

इति द्वितीयमात्माधिकरणम् ॥ २ ॥

रश्मिः ।

त्मकत्वस्यापि सम्भवादकारो नञो वा विष्णुवाचको वेति विकल्पस्तद्विषयिणी बुद्धिस्तन्मात्रबाधेनेत्यर्थः । किन्तु अकारो विष्णुः चासौ वेद इतिसमासः । अत एव न वेदा इत्यस्य निरुक्ते कृतिनो न वेदा इत्यस्यार्थ उक्तः । **अभेदेति** । तादात्म्यादिरूपाभेददृष्ट्यर्थम् । **तथात्वात्** ब्रह्मात्मकत्वात् । **ॐमिति** । अग्रिमाधिकरणात्तथा । विशिष्टाद्वैतार्थं 'यस्यात्माशरीर'मित्यन्तर्यामिब्राह्मणेनाहुः **उपासितेति** । अत्र शरीरमचित्, आत्मा चित्, परमात्मा चिदचिद्विशिष्टः । 'अहमसी'ति जाबालश्रुतिः । **भगवो** भगवन् । त्वं विशिष्टः अहं चिदचित उपलक्षणम् । **उपासितुरिति** पञ्चम्यन्तम् । **इतीति** । आत्मैवेत्यवधारणेन । **तन्नियम्यत्वा**दित्याद्यन्तर्यामिब्राह्मणस्थम् । अद्वैतानुरोधेनाहुः **सर्वबुद्धीनामिति** । अन्योहं भिन्नोहम् । **अकृत्स्न** इति । अभेदे कृत्स्नत्वमिति भावः । **आत्मत्वानन्विति** । भिन्नेस्मच्छब्दवाच्ये । **तेनेति** । विशिष्टाद्वैतेन । **स्वात्मनोपीति** । पञ्चम्यन्तम् । **अकृत्स्न** इति । शरीरं विनाऽकृत्स्नः । उपपन्नमिति । भेदस्यैवार्थत्वमङ्गीकृतं गीतायामित्यस्मिन्मते विरोधाभावाच्छाङ्करादिमतापेक्षयोपपन्नम् ॥ ५ ॥ इति **द्वितीयमात्माधिकरणम् ॥ २ ॥**

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥ ६ ॥ (४-१-३.)

छान्दोग्ये 'अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिं प्राचीनयोग्य कं त्वमात्मानमुपास्स इति, आदित्यमेव भगवो राजन्निति होवाचे'ति। 'अथ होवाचेन्द्रद्युम्न'मित्युपक्रम्य, 'कं त्वमात्मानमुपास्स इति, वायुमेव भगवो राजन्निति होवाचे'ति । एवमेवाग्रे प्रश्नभेदेन वक्तृभेदेनाकाशापःप्रभृतय आत्मत्वेन उपासनाविषया उक्ताः । तत्रैव 'असौ वा आदित्यो देवमध्वि'त्युपक्रम्यान्ते पठ्यते 'य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्त' इति ।

अत्रेदं चिन्त्यते। अत्र प्रतीकोपासनत्वमस्ति, न वेति। अस्तीति पूर्वः पक्षः । तथाहि । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'ति श्रुतौ सर्वमनूद्य ब्रह्मत्वं तत्र बोध्यत इति न कश्चित् प्रतीकोपासनमस्तीति हि पूर्वं निरूपितम् । तथोक्तश्रुतिभिः प्रत्येकं तत्त्वेनोपास्यत्वेनोक्त्या नोपपद्यते । ब्रह्मण एकत्वादेकप्रकारकेणैवोपासनेन

भाष्यप्रकाशः ।

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥ ६ ॥ एवं प्रधानभूतानां ज्ञानभक्तिसम्बन्धिनीनामुपासनानां फलमुक्त्वा, अङ्गोपासनानां तदुक्तप्रतीकत्वं वारयितुमङ्गोपासनानां फलं विचारयतीत्याशयेनाधिकरणविषयमाहुः छान्दोग्य इत्यादि । छान्दोग्य इति । तत्र वैश्वानरविद्यायाम् । अत्र प्रश्नप्रत्युत्तरे 'चक्षुष्ट्वेतदात्मन' इत्यादिकथनात् आदित्यस्याङ्गत्वेपीतः पूर्वं प्रश्ने 'दिवमेव भगवो राज'न्नित्यादिना द्युमतेरुक्तत्वेनादित्यमतेरादित्वाभावात्पूर्वं द्युमतेरुक्तत्वेन तत्त्यागे बीजाभावादत्राङ्गोपासनाफलस्योत्कृष्टत्वाभावाद्भक्तिमार्गीयस्य नेदं युज्यत इत्यरुच्या विषयवाक्यमन्यदाहुः तत्रैवेति । छान्दोग्ये मधुविद्यायाम् । संशयमाहुः अत्रेत्यादि । अत्रात्माङ्गेष्वादित्यादिष्वात्मबुद्धित्वबोधनादतद्रूपे तद्बुद्धिरूपतया प्रतीकत्वस्य पुरुषैकदेशे पुरुषबुद्धिवदत्र ब्रह्माङ्गे ब्रह्मबुद्धेरपि मननसिद्धत्वादप्रतीकत्वस्य सम्भवः सन्देहबीजम् । पूर्वपक्षं व्युत्पादयन्ति तथाहीत्यादि । पूर्वं निरूपितमिति । पूर्वाधिकरणीयसूत्रद्वये व्युत्पादितम् । तत्त्वेनेति । ब्रह्मतया । एकप्रकारकेणेति । 'सर्वं खल्विद'मिति श्रुत्युक्तप्रकारकेण ।

रश्मिः ।

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥ ६ ॥ ज्ञानभक्तीत्यादि । ज्ञानफलं आत्मेति ज्ञानम् । 'उपगच्छन्ती'ति श्लिष्टप्रयोगेण भक्तिमार्गफलं पुरुषोत्तमसमीपगमनम् । ज्ञानभक्त्युपासनानां चित्तशुद्धिद्वारा जन्यजनकभावः । **फलमिति** । उपगच्छन्तीतिपदाभिहितम् । **तदुक्तेति** । न प्रतीकत्वश्रोक्तं प्रतीकत्वम् । तेन सायुज्यालौकिकसामर्थ्यभगवत्सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिष्विति फलत्रयं मुख्यत्वेन निरूप्यते । 'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्ये'त्याद्युक्तं यथायथमत्रैवान्तर्भूतम् । **फलमिति** । 'उपगच्छन्ती'तिपदेनोक्तं फलम् **विचारयतीति** । प्रतीकोपासनात्वनिवर्तनेन ज्ञानभक्तिद्वारा फलं विचारयति । **चक्षुष्ट्वेतदात्मन** इति। चक्षुः तु एतत् आत्मन इतिपदच्छेदः । इत्यादीति । आदिना 'प्राणस्त्वेष आत्मन' इत्यादि । इत्यरुच्येति । यद्यप्यादित्यस्यादिरग्न्यादिः, आदित्यः आदिर्यासां ता आदित्यादयः, आदित्यादिश्चादित्यादयश्चादित्यादयः तेषां मतयः आदित्यादिमतय इति समासः सम्भवति, तथापि भाष्यानादृतत्वादरुचिस्तया । **अत्रात्माङ्गेष्विति** । स्यान्तयोः सम्भवपदेनान्वयः । भाष्ये कप्रत्ययः स्वार्थ इत्याशयेनाहुः **सर्वं खल्विदमिति** । **प्रयोजनेति** । स्वोक्तप्रयोजनविशेषाभावे

सर्वेषां फलसिद्धेः, पृथक्पृथगुक्तौ गौरवात्, प्रयोजनविशेषाभावाच्च । तादृशाधिकाराभावात् पृथक् तदुक्तिरिति चेत् । न । सर्वत्र सदा तद्भावनायां तथानुभवस्यापि सम्भवात् । एवं सति वस्तुतः सर्वस्य ब्रह्मत्वं नाभिमतम्, किन्तु यथादित्यादीनां तत्तथा, तथा सर्वस्यापीति प्रतीकोपासनत्वमेव सर्वत्र । तेनैव फलमिति प्राप्ते प्रतिवदति ।

आदित्यादौ या ब्रह्मत्वमतय उच्यन्ते, तास्तु साकारस्यैव ब्रह्मणो व्यापकत्वात् तस्य प्रत्येकमप्यङ्गमुपासितं फलदमित्येकैकाङ्गविषयिण्यस्ता विधीयन्ते । उपपन्नं चैतत् । न हि साकारव्यापकब्रह्मणोऽङ्गं न ब्रह्म, अतो न प्रतीकोपासनत्वं तत्र ।

भाष्यप्रकाशः ।

प्रयोजनविशेषसत्तामाशङ्कते तादृशेत्यादि । तादृशाधिकाराभावादिति । उत्कृष्टाधिकाराभावात् । तथा च येषां न सर्वत्र ब्रह्मत्वेन स्फूर्तिः, तदर्थं पृथगादित्याद्युपासनोक्तिरित्यर्थः । समाधत्ते नेत्यादि । सर्वत्र तद्भावनायां तया उपनयेनोपनीतभानरूपस्य ब्रह्मानुभवस्यापि सम्भवात् । एवं सतीति । अधिकाराभावेऽप्युक्तरीत्या सर्वत्र ब्रह्मदर्शनसम्भवेऽप्येवं पृथगुपासनोपदेशे सति । वस्तुत इत्याद्युक्तरीत्या तत्तथा उपासनं प्रतीकम्, तथा सर्वस्यापि ब्रह्मत्वेनोपासनमपि प्रतीकम् । तेनैव चित्तशुद्धिद्वारा मुक्तिरूपं फलं सम्भवतीति पूर्वसूत्रद्वयोक्तमयुक्तमिति प्राप्ते प्रतिवदति । आदित्याद्युपासनानामङ्गोपासनत्वेन फलवत्त्वं वदन् तासु तदुक्तप्रतीकरूपत्वं परिहरतीत्यर्थः । सिद्धान्तं वक्तुं सूत्रं व्याचक्षते । आदित्येत्यादि । एकैकाङ्गविषयिण्य

रश्मिः ।

प्रतियोगिज्ञानरूपप्रयोजनविशेषसत्ताम् । उत्कृष्टेति । ब्रह्मत्वदृष्ट्यधिकारः ब्रह्मादित्यवायुघटपटप्रतिमादिषु तस्याभावादेकप्रकारेणोपासनस्य पृथगुक्तिः । तेन ब्रह्मादित्यवायुघटपटादिरूपौपमन्यवसत्ययज्ञेन्द्रद्युम्नकुलालकुविन्दफलानां तूष्णीकं विचारो ज्ञानमार्गोपयोगी । भक्तिमार्गे तु घटपटादिकार्यस्य ब्रह्मत्वमात्मकृत्स्नतासम्पादकम् । कृत्स्नोपासनया तादृशाधिकारे प्रेम, 'श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यत' इतिवाक्यात् । तदर्थमिति । औपमन्यवसत्ययज्ञेन्द्रद्युम्नाद्यर्थम्, न तु वामदेवाद्यर्थम् । उपनयेनेति । उपनयः समीपनयनं यथा शाब्दं ह्युपनीतं मन्तव्यमितिशङ्कायां श्रोत्रसमीपे शब्देनार्थनयनं श्रावणं प्रत्यक्षमिति । तेनेत्यर्थः । उपनीतस्य ब्रह्मणो भानं तद्रूपस्य । उक्तरीत्येति । उपनीतमानरूपत्वेन ब्रह्मदर्शनमिति रीत्या । आदित्यादीनां पृथक् तदनन्तर्गतत्वेनोपासनोपदेशे सति । तत्तथेति व्याख्येयम् । उपासनं प्रतीकम् । तथा सर्वस्येतिभाष्यार्थमाहुः तथा सर्वस्येति । पूर्वसूत्रेति । 'न प्रतीक' 'ब्रह्मदृष्टि'सूत्रद्वयोक्तं प्रतीकोपासनस्यामुक्तिजनकत्वम् । तास्विति । अङ्गोपासनासु । पूर्वपक्ष्युक्तप्रतीकरूपत्वम् । आदित्येत्यादीति । उच्यन्त इति । छान्दोग्ये उच्यन्ते इति । साकारस्येति । विराजः । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'ति विषयवाक्ये भाष्ये विराज उक्तेः 'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशा'दित्यत्र । ननु 'न हि स' इति भागे भक्तिमार्गे पुरुषोत्तमोक्तेः 'साकारब्रह्मवादैकस्थापक' इति श्रीसर्वोत्तमग्रन्थोक्तेर्विराट्स्रष्टुः साकारत्वं कथमिति चेत् । न । अधोक्षजत्वेपि 'यतो वाच' इतिश्रुत्येदमित्थतया यावद्धर्मैरप्रतिपाद्यत्वेपि परब्रह्मणो जगदभिन्ननिमित्तोपादानत्वेन साकारजगत्समवायिनः साकारत्वात् । साकाराद्देवदत्ताज्जायमानस्य तत्पुत्रस्य साकारत्वदर्शनात् ।

अपरञ्च । 'असौ वा आदित्यो देवमध्वि'त्युक्त्वा तस्य प्रतिदिक्करश्मीनां कृपावलोकनरूपाणां मधुत्वं निरूप्य, 'तद् यत् प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन, न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति । त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ती'ति पठ्यते । तथा च दर्शनमात्रेण

भाष्यप्रकाशः ।

इति । सूत्रेऽङ्ग इति सप्तम्या वैषयिकाधिकरणबोधनात्तथा । हेतुं व्याकुर्वन्ति उपपन्नमित्यादि । तथा च, 'अङ्गं प्रतीकोऽवयव'इति कोशादङ्गमेव प्रतीकं तदुपासनं चाङ्गोपासनमेव, न तु त्वदुक्तरीतिकप्रतीकोपासनम् । अतस्त्वदुक्तरीतिकात्तस्मान्न फलम् । अस्मदुक्तरीतिकात्तु तस्मात्फलम् । भगवदङ्गमाहात्म्यप्रतिपादने ज्ञानाङ्गभक्तिद्वारा भगवज्ज्ञाने ज्ञानमार्गीयस्योपकरोतीति भावः । अङ्गत्वेन प्रतीकत्वाच्च तावन्मात्रस्यात्मत्वेनोपासनेऽकृत्स्नत्वादन्धत्वदोषकथनमपि युज्यते । न च यद्येवम्, तदा 'अत्त्यन्नं पश्यति प्रिय'मित्यादिफलकथनमपि कथमिति शङ्क्यम् । भगवदङ्गस्याप्युपासितं फलायेति भगवन्माहात्म्यज्ञापनेन तत्र भक्तिसिद्ध्यर्थमिति जानीहि । एतासां भक्तिमार्गोपकारार्थम् । द्वितीयवाक्यस्यार्थं परोक्षवादेनाहुः । अपरं चेत्यादि । आदित्यो भगवच्चक्षूरूपः ।

रश्मिः ।

त्रिगुणतन्तुभिर्जायमानस्य पटस्य चित्रपटत्वदर्शनाच्च । वैषयिकेति । मोक्षे इच्छास्ति इत्यत्र यथा । तथेति । एकैकाङ्गविषयिण्यः । उपपन्नमिति । उपपत्तेरित्यत्र भावे क्तिन् । उपपन्नमित्यत्र कर्मणि क्तः इति प्रयोगशुद्धिः कथमितिचेदुच्यते । भावप्रत्ययान्तस्य हेतोः पक्षभिन्ने देवदत्तस्य चक्षुरित्यादौ निश्चितसाध्ये विशिष्टाभिधानं यत्र तत्र कर्मप्रत्ययान्तत्वमिति । तथा चादित्यादिमत्योऽङ्गविषयिण्य उपपत्तेर्दृष्टान्ते देवदत्तचक्षुरादिवदित्यनुमानं फलितम् । तत्रेति । औपमन्यवाद्युपासनेषु । त्वदुक्तेति । लक्षणपुरःसरप्रतीकोपासनम् । तस्मादिति । प्रतीकोपासनात् । अस्मदिति । कोशोक्तलक्षणकात् । अन्धत्वेति । कृत्स्नादर्शित्वादन्धत्वम् । 'अन्धो भविष्यत्यस्माद्यद्यामिष्य' इति श्रुतिः । श्रुतौ युज्यते । अत्तीति । 'अन्नमत्ति प्रियं पश्यती'ति एतत्फलकथनं 'य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्त' इति श्रुत्या वक्ष्यमाणोपासनायाः मुक्त्यतिरिक्तफलकथनम् । द्वितीयेति । द्वितीयविषयवाक्यस्य । परोक्षवादेनेति । 'परोक्षवादो वेदोय'मितिवाक्यात्तथा । अथवा । तत्तदुपासकानामादित्यादीनां फलत्वेन फलांशे परोक्षवादात्तथा । आदित्यस्य फलत्वात्तत्र परोक्षवादं वक्तुमादित्यस्वरूपमाहुः आदित्य इति । चक्षूरूप इति । विष्णोस्तृतीयरूपशरीरेषु चक्षुषामेव रूपत्वात् । मधुत्वमिति । 'मनेर्धश्छन्दसी'तिसूत्रेण ज्ञानार्थकस्य मनेर्धप्रत्यय औणादिकः । देवस्य 'अन्तस्तद्धर्मो'पिकरणोक्तस्यादित्यान्तःस्थस्य नारायणस्य मधु ज्ञानकर्तृ द्वादशस्कन्धप्रसिद्धम् । त्रयीरूपत्वाद्वा । अतो मधुनः नारायणस्य नाड्यादित्यः । नाडीछिद्रम् । अतो मधुशब्दे लक्षणा । लक्षणायां प्रमाणमाहुः प्राच्य इत्यादि । श्रुतौ लक्षणामाहुः तासामिति । नाडीनाम् । तेन कर्मधारयः । एतस्याः पूर्वश्रुत्यर्थस्तु, आदित्ये मधुनाडीत्वसम्पादनाय ज्ञात्रादिपदान्यपहाय मधुपददानेन प्रसिद्धमधुसाम्यं दर्शयितुमुपक्रमते तस्य द्यौरेति । तिरश्चीनवंशः सामान्यस्थानं मधुकृतः तद्वद्द्यौः । अत्र मधुकृत ऋच इत्यृचां सामान्यस्थानमवयव्यादित्यद्वारा । अवयव्यनङ्गीकारे साक्षादपि । 'अन्तरिक्षमपूप' इति । अपूपः पिष्टस्य विकारः आश्रयो मधुकृतस्तद्वदन्तरिक्षम् । अत्र मधुकृत ऋचः तासामाश्रयः । ननु मधुकृतामाश्रयः सरसा वृक्षाः, अपूपः कथमिति चेत् । न । अपूपेषु स्थित्वा तद्रसपातॄणां मधुकराणां

भाष्यप्रकाशः ।

मधुत्वं मधुनाडीत्वम् । 'प्राच्यो मधुनाड्य' इत्यादिश्रुतेः । तासां मधुप्रधानत्वान्मधुत्वम् । ऋचां मधुकृत्त्वम्, ऋग्वेदस्य पुष्पत्वम् । तासामेव ऋचाममृतता ब्रह्मरूपत्वम्, ताभिर्ऋग्वेदतापम्,

रश्मिः ।

विवक्षितत्वात् । पूञ्पवने, सम्पदादि क्विप्, अपुवं पाति पिबति वा । आतोनुपेति कः । पिष्टस्य विकारः । संज्ञायामिति कन् । 'पिष्टको घृतपूपादौ नेत्ररोगान्तरेपि चे'ति विश्वः । 'पिष्टको नेत्ररोगे स्याद्धान्यादिचमसेपि चे'ति पाठान्तरम् । धान्यादिपानपात्रं नानावृक्षा रसाश्रया अप्यपूपः । तेन 'यथा मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ती'त्यत्रोक्तनानावृक्षरसात्तृत्वं मधुकृतां न विरुद्धम् । तद्वदन्तरिक्षं तत्रादित्यस्त्रयीरूपोन्तरिक्षस्याध्यक्षे वायौ स्वसमवायिनि समवायेन स्थित्वा 'वायव्या वै पशव'इत्युक्तेः पशून् अश्वान् रथद्वारा भुङ्क्ते । ऋचोपि भुञ्जते आदित्यद्वारा । 'वायुः शब्दतामापद्यत' इति प्राचां प्रवादात् ।

अत्रेदं प्रतिभाति । अवयवा ऋगादयः न तूष्णीमादित्यमवयविनमारभन्तेपि तु मधुत्वम् । आदित्यस्य सिद्धत्वात् । मधुत्वान्तर्गतज्ञानं च किंविषयकमित्यपेक्षायामन्तरिक्षे ये वायव्याः पशवः राधाकृष्णवराहाः । पञ्चमाष्टके 'आदित्यः पशुरासीत्तेनायजन्त, अग्निः पशुरासीत्तेनायजन्त, वायुः पशुरासीत्तेनायजन्ते'ति श्रुतावुक्तेः । आदित्यः कृष्णः पशुः पश्यतीति पशुः द्रष्टा अग्निः, निरुक्ते देवपत्नीनामसु सूर्यपाठाद् राधा । वराहः वायुः । हिरण्यगर्भनस्तो 'वराहतोको निरगा'दिति श्रीभागवते । तथा च मधुत्वान्तर्गतज्ञानं पशुविषयकमिति भावोत्र । अधिकारस्कन्धानन्तरं ज्ञानस्कन्धः । तादृशज्ञानविषयत्वेन तृतीयस्कन्धे वराहपशुसर्गपुरःसरं सर्ग उक्तः । ततो राधाकृष्णपशुनिरोधपुरःसरं सामान्यतो निरोधः प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिलक्षणकनिरोधो व्याख्यात इति । स्कन्धचतुष्टयव्याख्याशयः । मरीचयः पुत्रा इति । मधुकृतां पुत्रा अपि मधुकृतस्तद्वन्मरीचयः किरणाः दीप्तयोपि आदित्यमधुकृतः । तथाहि । आदित्योपां पुष्पं तेजस्तु भगवदीयं पुत्रवत् किरणदीप्तिरूपम् । 'अजायमानो बहुधा विजायत' इति श्रुतेरधिकारिणं 'पुन्नाम्नो नरकात् त्रायत' इति पुत्रपदव्युत्पत्तेः पालकम् । अन्यथा बन्धप्राप्त्या नाधिकारं कुर्यात् । 'देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण' इति संहितोक्तम्, तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो मधुनाड्यः । अत्रत्यं प्रतीकमाहुः । प्राच्य इत्यादि । तस्यादित्यस्यावयवभूपरसाश्रयस्य सवितुर्ये प्राञ्चः पूर्वदिग्गता रश्मयः । ता एवास्यादित्यस्य प्राच्यो मधुनाड्यः । प्रसिद्धमधुरूपार्णवादित्यमधुरूपछिद्राणि । ऋचामिति । ऋच एव मधुकृत इति श्रुत्यर्थः । भ्रमरा इवर्चः समवायित्वं मधुनि भ्रमराणां आदित्ये ऋचाम् । 'एषा त्रय्येव विद्या तपती'तिश्रुतेः । 'ऋग्वेद एव पुष्प'मितिश्रुत्यर्थमाहुः ऋग्वेदस्येति । नारायणविशिष्टादित्यस्य पुष्टिद्वारोपासनफलत्वं सूचितमित्यादित्यमधुनर्भूपेण वेद ऋग्वेदः पुष्पं अर्थरूपफलसत्ताविशिष्टम् । वेदयति साधनफले अलौकिके इति वेदः । 'ता अमृता आप' इति श्रुत्यर्थमाहुः तासामेवेति । प्रसिद्धमधुनः द्रव्यभूयस्करत्वरूपापां लक्षणवत्त्वात् प्रकृते आप उक्ताः । ता इति विधेयलिङ्गम् । पुष्पं फलसत्ताकमिति । आदित्यमधुपीता आपः अमृताः अमृतपदवाच्या मुख्यफलजनकत्वात् । एव च तासामपामेव या रुचो दीप्तयः तासाममृता आपः इतीति शेषः । इति हेतोर्ब्रह्मरूपत्वम् । ऋग्वेदस्य शब्दस्यार्थरूपत्वम् । 'ब्रह्म वेद' इति शब्दरूपत्वं वा । 'ता वा एता ऋच एतमृग्वेदमभ्यतप'न्निति श्रुत्यर्थमाहुः ताभिरिति । ता वै मधुकृतः वै निश्चयेन एताः पुष्परूपाः कार्यकारणाभेदात् । ऋग्वेदं स्वं रूपं गहनार्थवत्त्वेन तापयुक्तमकरोत् । आधिदैविके तापः सम्भवति । 'मृदब्रवी'दितिवत् । 'तस्याभितप्तस्य यशस्तेज

भाष्यप्रकाशः ।

ताभिस्तप्तस्यर्ग्वेदस्य यशआदिरसजननं तत्क्षरणम्, तस्य रसस्यादित्यमभितः श्रयणम्, तस्यादित्यरोहितरूपत्वमित्येवं प्रतिदिक्करश्मीनां ये रसास्तेषाममृतत्वं च निरूप्य, तदग्रे 'तद्यत्प्रथमममृत'मित्यादि पठ्यते । अत्र कल्पनोपदेशात्परोक्षवादता । तेन यदत्र सिद्धं तद्विशदयन्ति ।

रश्मिः ।

इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यं रसोऽजायते'त्यस्यार्थमाहुः ताभिस्तप्तस्येति । अभितप्तस्यशब्दो लोकप्रसिद्धः । कः शब्दः इत्यपेक्षायामाहुः यश इत्यादि । यशः रसः, यशोजनकशब्दः 'रस शब्दे' इतिधातुपाठात् । स च शब्दः 'अलौकिको हि शब्दार्थो न युक्त्या प्रतिपद्यते, तपसा वेदयुक्त्या तु प्रसादात् परमात्मन' इति । 'आचार्यवान् पुरुषो वेदे'ति । तेजो रसः, आधिदैविके सन्तापस्तेजः तत्प्रतिपादकः शब्दः 'भद्भयाद्वाति वातोयं सूर्यस्तपति मद्भयाद्'इति । 'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेखिलम्, यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामक'मिति च । इन्द्रियं रसः, इन्द्रियप्रतिपादकः शब्दः 'इन्द्रियाणि जुहोती'तिगीतोक्त इन्द्रियहोमश्च । वीर्यं रसः, तत्प्रतिपादकः शब्दः, 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा वा तदेवास्य वीर्यवत्तरं भवती'ति । दशमस्कन्धे वीर्यवाक्यानि । अन्नाद्यं रसः, अन्नाद्यप्रतिपादकशब्दः । 'अग्नये जुष्टं निर्वपामी'ति । प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्ग्रन्थश्च । आद्यपदेन 'अस्या देवतायाः सालोक्यं सार्ष्टितां सायुज्यतामाप्नोती'ति । 'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत, दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना' इति फलप्रतिपादकः शब्दः । तदक्षरदित्यस्या अर्थमाहुः तत्क्षरणमिति । तस्य यशआदेरन्नाद्यान्तस्य क्षरणं विशेषेण तद्यशआद्यन्नाद्यान्तं विशेषेणोर्ध्वमक्षरदगमत् । 'तदादित्यमभितोश्रय'दित्यस्याः श्रुतेरर्थमाहुः तस्य रसस्येति । स्पष्टा । 'तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य रोहितं रूप'मित्यस्या अर्थमाहुः तस्यादित्येति । तदेतदेव पूर्वोक्तमेवैतत्प्रत्यक्षं मधु, किं तत्, यत् एतत् उद्यत आदित्यस्य रोहितं रक्तरूपमप्पुष्पादित्यशुक्लरूपातिरिक्तं दृश्यत इत्यर्थः । इत्येवमित्यादि । पूर्वोक्तप्रकारेण दिशं दिशं प्रतीति प्रतिदिक् येषां रश्मीनां ते इत्येवं प्रतिदिक्कास्ते च रश्मयः इत्येवं प्रतिदिक्करश्मयस्तेषाम् । ये रसाः पुष्पाणि तेषां वेदत्वेनात्मत्वादमृतत्वम्, ता अमृता आप इत्येतया निरूप्य । अत्र कल्पनेति । भक्तिरसपरोक्षस्य भाष्य उपदेशात् । अन्यः परमिति परोक्षं तस्य वादस्तत्ता । विशदयन्तीति । परोक्षार्थस्याधिकस्योक्त्या विशदं कुर्वन्तीत्यर्थः । तथा चेत्यादीति । तत् तस्मात् यत् प्रथमममृतमृग्वेदरूपं तद् वसवोष्टौ नन्दाद्याः उपजीवन्ति । समीपस्थादाचार्यादुपसमीपाय जीवन्ति कारणं कुर्वन्ति । अग्निस्त्वाचार्यः स्वयमुपजीवति । केनोपायेनेत्यत आहाग्निना मुखेनाग्न्याचार्येण । आचार्याः सर्वात्मभाववन्त इति सर्वात्मभाववन्तो नन्दाद्याष्टवसव उपजीवन्ति ब्रह्मज्ञानकारणं कुर्वन्ति । परोक्षार्थस्तु कृपावलोकनेन प्रथममसृतमृग्वेदरूपमग्न्याचार्यस्नेहेन तात्पर्यार्थं कृत्वा व्रजभक्तभावेन नित्यक्रीडाप्रवेशार्थं कारणं कुर्वन्तीति । एतस्य संक्षेपः दर्शनमात्रेण ऋग्वेददर्शनमात्रेण शाब्दज्ञानेन तात्पर्यार्थविषयेण । कारणान्तरव्यवच्छेदको मात्रच् । 'न वै देवा' इत्यस्याः परोक्षापरोक्षार्थयोः परोक्षार्थमाहुः प्राणादिति । 'धारयन्त्यतिकृच्छ्रेणे'तिवाक्ये प्राणधारणमुक्तम्, तस्माद्धेतोरिन्द्रियरूपाणां चक्षुरादीनां निवृत्तिवैकल्यमिति परोक्षार्थः । अपरोक्षस्तु 'न वै देवा' इत्यस्य स्पष्टः । ननु देवानां भोगो विग्रहवत्त्वात् सिद्धोपलभ्यते कुत इति चेत् । न । प्रमेयबलात् । वस्तुतस्तु परोक्षवाद इति । तत्रात्मेतराभावादात्मेतरन्नाश्नन्ति न पिबन्तीति

अन्यधर्मनिवृत्तिः, तस्यैव स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन ज्ञानमतिशयितस्नेहजविगाढभावेन तत्रैव लयः, पुनस्तद्दर्शनानन्दानुभवार्थं भगवानेव कृपया पुनः पूर्वभावं सम्पादयतीति तस्माद्रूपादुदयश्च । एतत्सर्वं भगवदङ्गत्वे एवोपपद्यत इत्यपि हेत्वभिप्रेतोर्थो ज्ञेयः । न हि प्रतीकत्व इदं सर्वं सम्भवति । भक्तिमार्गीयत्वादस्यार्थस्येति भावः । अङ्गानां भगवत्स्वरूपात्मकत्वेनैक्यमिति ज्ञापनायैकवचनम् । एतेन स्वरूपस्यैव फलत्वमुक्तं भवतीति मुख्यः सिद्धान्तः सूचितो भवति ॥ ६ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

तथा चेत्यादि । अन्यधर्मनिवृत्तिरिति । प्राणधर्मरूपक्षुदादिनिवृत्तिः । हेत्वभिप्रेतोर्थ इति । हेतुबोधके उपपत्तिपदेभिप्रायगोचरोर्थः । तदुपपादयन्ति न हीत्यादि । ज्ञानमार्गे एवान्धत्वादिदोषः, न भक्तिमार्ग इत्यपि सूचितम् । शेषं स्फुटम् । किञ्च, अस्मिन् सूत्र आदित्यादिमतीनामङ्गविषयकत्वकथनेन पूर्वं, 'अन्तस्तद्धर्मो'दिसूत्रेषूक्तानां हिरण्मयपुरुषाकाशप्राणादीनामप्यङ्गत्वं बोध्यते । तेन तदुपासना अपि तथेत्यपि बोधितमिति ज्ञेयम् ॥ ६ ॥

रश्मिः ।

सूपपन्नम् । भाष्ये । तस्यैवेत्यादि । तात्पर्यार्थस्यैव । ज्ञाते स्नेह इति नियमार्थमुक्तम् । तत्कार्यमाहुः । अतिशयितेति । विगाढत्वं शास्त्रार्थोत्थत्वम्, शास्त्रार्थसंवादित्वं वा । लयोभिसंवेशः परोक्षार्थः । कृपयेति । ब्रह्मानन्दात्समुद्धृत्य भजनानन्दयोजनं कृपाकार्यमिति । प्रकृते । हेत्विति । गोचरः प्रत्ययार्थः । न हीत्यादीति । प्रतीकत्वमत्र पूर्वोक्तमतद्रूपे तत्त्वेनोपासनत्वं तस्मिन् । भक्तीति । भक्तिमार्गीयार्थेऽतत्त्वे तत्त्वेनोपासनं नास्ति 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'तिश्रुतेर्जगन्नित्यत्वात् । 'सद्बुद्ध्या सर्वथा सद्भिर्न सेव्यमखिलं जगत्, भ्रान्त्या सद्बुद्धिरत्रेति सन्तं कृष्णं भजेद्बुध' इति तु ज्ञानमार्गीयार्थपरमिति सूच्यते । अस्ति समन्वितसत् कृष्णभजनपरं वा, समन्वयाधिकरणात् । ननु भगवदङ्गत्वे सकलाङ्गोपासना माभूत्, तत्रैवाङ्गे मनोव्यापाररूपोपासनासम्भवात्, तथापि सर्वाङ्गेषु मनोव्यापारस्यावर्जनीयत्वादेकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकमिति न्यायादन्तस्तद्धर्माधिकरणोक्तादित्यान्तःस्थनारायणस्मरणाच्च भक्तिमार्गे उप समीपे स्थित्वा यथायोग्यकरणरूपोपासनासत्त्वात्, 'चक्षुष्ट्वेतदात्मन इति होवाचान्धो भविष्यद्यन्मां नागमिष्य' इति श्रुतिविरोध इति चेत्, तत्राहुः ज्ञानमार्ग इति । उपासनयाध्यात्मिकचित्तशुद्धौ ज्ञानमित्यस्मिन्मार्गे एव, न भक्तिमार्गे इत्येवकारार्थो वक्ष्यते । अन्धत्वादिदोषस्याभिधेयार्थे सम्भवः । आदिपदेन 'मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य' इति द्युमतिकरणवाक्यं 'प्राणस्त उदक्रमिष्यद्यन्मां नागमिष्य' इति वायुमतिकरणादिवाक्यानि सङ्गृह्यन्ते । सूचितार्थे तु न । तथा च 'यथा एष द्युलोकाख्यः आत्मनो वैश्वानरस्य मूर्धा, नायं समग्रो वैश्वानरोऽतः समग्रबुद्ध्यास्योपासनाद् विपरीतग्राहिणस्ते मूर्धा पतितोऽभविष्यत्, यद्यदि मां प्रति नागमिष्य इत्यभिधेयार्थलङ्विचारेण तथा भक्तिमार्गे लङ्विचारेण क्रियाया अनिष्पत्तौ गम्यमानायां नान्धत्वादिदोषः । तथा च मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य' इत्यस्यामात्मन इत्यभेदे षष्ठी राहोः शिर इतिवत् । व्यतीतपतनयुक्तमभविष्यदिति व्यपतिष्यदित्यस्येति सूचितार्थः । एवं 'चक्षुष्ट्वेतदात्मन इति होवाचान्धो व्यभविष्यद्यन्मां नागमिष्य' इत्यादिषु । स्फुटमिति । एकवचनमिति । सूत्रेऽङ्ग इत्येकवचनम् । एतेनेति । गौणमुख्यन्यायोक्त्या चेति भाष्येणेत्यर्थः । सूचित इति । वाच्यस्तु प्रतीतोर्थः । एवं शेषं स्फुटमित्यर्थः ॥ ६ ॥

आसीनः सम्भवात् ॥ ७ ॥

पूर्वसूत्रेण धर्ममात्रस्य फलत्वमुक्त्वा, अधुना धर्मिणः फलत्वं तत्साधनं चाह सम्भवात् । उत्कटस्नेहात्मकसाधनस्य सम्भवात् तदधीनः सस्तदग्रे आसीनो भगवान् भवति । एतेन भक्तवश्यतोक्ता ॥ ७ ॥

एवं बहिःप्राकट्यमुक्त्वा आन्तरं तदाह ।

ध्यानाच्च ॥ ८ ॥

भावानौत्कट्यदशायां व्यभिचारिभावात्मकसततस्मृतिरूपध्यानादपि हृदि प्रकटः सन्नासीनो भवतीत्यर्थः । तेन स्थैर्यमुक्तं भवति ॥ ८ ॥

एवं भक्तेच्छयैव स्वरूपप्राकट्यमित्युक्त्वा लीलानाविष्करणमाविष्करणं चापि तदिच्छयैवेत्याह ।

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥ ९ ॥

भक्तेच्छामपेक्ष्याचलत्वम्, चकाराच्चलत्वमपीत्यर्थः ॥ ९ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

आसीनः सम्भवात् ॥ ७ ॥ सूत्रमवतारयन्ति पूर्वसूत्र इत्यादि । पूर्वसूत्रे चक्षुरादिरूपस्यादित्यादेर्धर्मस्य प्राप्यत्वेन फलत्वमुक्त्वास्मिन् सूत्रे धर्मिणो भगवत एव तदुपासनफलत्वं तत्प्राप्तिसाधनं चाहेत्यर्थः । व्याकुर्वन्ति सम्भवादित्यादि । भगवदङ्गत्वज्ञानपूर्विकयादित्याद्युपासनया उत्कटस्नेहसम्भवात् तथा, न तु तदभावपीत्यर्थः । एतेन ज्ञानमार्गिणामीदृशस्नेहाभावादासीनो भवति, किन्तु परोक्षज्ञानविषयो भवतीत्यपि बोधितम् । सिद्धमाहुरेतेनेत्यादि ॥ ७ ॥

ध्यानाच्च ॥ ८ ॥ सूत्रमवतारयन्ति एवमित्यादि । तदिति । प्राकट्यम् । व्याकुर्वन्ति भावेत्यादि । स्थैर्यमुक्तं भवतीति । एतेन ज्ञानमार्गे एतादृशस्यापि भावस्याभावादस्थैर्यमित्यपि बोधितम् ॥ ८ ॥

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥ ९ ॥ सूत्रमवतारयन्ति एवं भक्तेत्यादि । अस्मिन्नपि सूत्रे अपेक्ष्येति कथनाज्ज्ञानमार्गीयस्योपासनामपेक्ष्य वाऽचलत्वादिकं बोध्यम् ॥ ९ ॥

रश्मिः ।

आसीनः सम्भवात् ॥ ७ ॥ उक्त्वेति । अभिधयोक्त्वा, व्यञ्जनया तु धर्म्यप्युक्त एव । आहेति । अभिधयाहेत्यर्थः । परोक्षेति । 'भक्त्याहमेकया ग्राह्य' इतिवाक्यात् तथा ॥ ७ ॥

ध्यानाच्च ॥ ८ ॥ भावेत्यादीति । भावना न सन्न्यासनिर्णयोक्तत्वाद्विप्रयोग एव, संयोगव्यभिचारिभावसततस्मृतिरूपत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् । एकैकाङ्गे मनोनिवेशस्य ध्यानस्य साधनदशायां सत्त्वम् । फले त्वत्र निविष्टम् । अत एव सततपदम् । एतादृशस्येति । भक्तिरसे व्यभिचारिभावात्मकस्यान्तर्बहिःस्थित्या स्थैर्ययुक्तस्य । किन्त्वक्षरविषयकं ज्ञानं सोऽहमिति तस्य 'कृष्णोऽहं पश्यत गति'मित्यत्रोक्तसदृशस्य । अस्थैर्यमिति । तादृशे स्थैर्यमिन्नो धर्म उक्तः, आन्तरमात्रत्वात् ॥ ८ ॥

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥ ९ ॥ उपासनामपेक्ष्येति । यावदुपासनं तावदित्यर्थः । अचलत्वेति । आदिना चलत्वम् ॥ ९ ॥

स्मरन्ति च ॥ १० ॥

केचन भक्ताः स्वरूपनिरपेक्षास्तत्स्मरणजनितानन्देनैव विस्मृतापवर्गान्तफला भवन्ति । चकाराच्छ्रवणकीर्तनादयोपि समुच्चीयन्ते । तदुक्तं 'अथ ह वा व तव महिमामृतसमुद्रविप्रुषा सकृल्लीढया स्वमनसि निष्यन्दमानानवरतसुखेन विस्मारितदृष्टश्रुतसुखलेशाभासाः परमभागवता' इति । अथवा । 'अहं भक्तपराधीन' इत्यादिस्मृतिः पूर्वोक्ते प्रमाणत्वेनोक्ता ॥ १० ॥

इति चतुर्थाध्याये प्रथमपादे तृतीयमादित्याद्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

भाष्यप्रकाशः

स्मरन्ति च ॥ १० ॥ अनेन साधनान्तरमुक्तमित्याहुः केचनेत्यादि । अत्र भाष्यमतिरोहितार्थम् ।

एवञ्चात्रादित्यसूत्रोक्ते मनने आसीनसूत्रेण विशेष उक्तः, ध्यानसूत्रोक्तनिदिध्यासने चाचलत्वसूत्रेणेति ज्ञेयम् । अनेनाधिकरणेन आदित्याद्यङ्गविषयिणीनामुपासनानां जघन्याधिकारिषु फलदानद्वारा भगवन्माहात्म्यप्रतिपादनेन तत्र भक्तिजननद्वारा सर्वात्मभावरूपज्ञानाङ्गत्वमपि प्रतिपादितम् । तेन तासामपि परम्परया तदेव फलमिति सिद्धम् ।

अन्ये तु, आदित्यादिमतिसूत्रमधिकरणान्तरत्वेनोक्त्वा तत्र 'य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीते'त्यादिषु कर्माङ्गोपासनेषु किमादित्यादिषूद्गीथदृष्टिः कार्या, किं वोद्गीथादिष्वादित्यादिदृष्टिः, दृष्टेरनियमो वेति संशये, उद्गीथादिष्वङ्गेष्वेवादित्यादिदृष्टयः कार्या इति सिद्धान्तयन्ति । आसीन इत्यादिकं चतुःसूत्रमधिकरणान्तरमुक्त्वा तेष्वेवासननियमोस्ति न वेति संशये, आसीन एवोपासीतेति नियमं सिद्धान्तयन्ति । तत्रोदासीना वयम् ॥ १० ॥

इति तृतीयमादित्याद्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

रश्मिः ।

स्मरन्ति च ॥ १० ॥ अनेनेत्यादि सूत्रेण । साधनं भक्तेच्छालीलाविष्करणे तदन्यत् साधनं 'अहं भक्तपराधीन' इति भगवत्सङ्कल्पस्तद्रूपं साधनान्तरम् । आदित्येति । मतिपदेनादित्यसूत्रोक्ते । विशेष इति । आसीनत्वविषयकमनने विशेषः । निदिध्यासन इति । सततस्मृतिरूपे । ध्यानधारणयोः स्मृतौ सातत्याभावात् । अचलत्वेति । भक्तेच्छापेक्षत्वरूपो विशेषो भगवत्युक्तः । लीलाः पूर्वं नित्यलीलास्थानामनूदितास्तत्र प्रवेशस्तु व्रजभक्तभावेन भजने भवति, तत्र तु सर्वात्मभावोपीति तमाहुरनेनेनेति । फलदानेति । तत्तद्देवतासायुज्यफलदानद्वारा । तत्रेति । भगवति । सर्वात्मभावेति । प्रदानसिद्धसर्वात्मभावेत्यादि । ज्ञानत्वं तु । सर्वात्मभावरूपं ज्ञानमिति 'लिङ्गभूयस्त्वा'धिकरणग्रन्थात् । न च 'प्रदानवदेवे'तिसूत्रात् प्रदानमात्रसाध्यत्वं सर्वात्मभावस्येति शङ्क्यम् । पूर्वसाधनवते दानस्याविरुद्धत्वात् । तदेवेति । सर्वात्मभाव एव फलम् । तदिति विधेयलिङ्गात् । कर्माङ्गेति । 'यदेव विद्यया करोति' इतिश्रुतेर्विद्योपासनकृतिं करोति । कृतिः कर्म । तेषु कर्माङ्गोपासनेषु । अभिनियम[1] इति । अभितः पक्षद्वयेपि यमो नियमः । इति संशये त्रिकोटिकसंशये । अङ्गेष्वेवेति । उद्गीथाद्यङ्गिषु । 'रसानाꣳ रसतमः परमः परार्ध्योष्टमोयमुद्गीथ' इत्यादिष्वङ्गिनः । तेष्वेवेति । उपासनेष्वेव, एवकारेण योगयोगव्यवच्छेदः । उदासीना इति । योगं विनासनविचाराप्रसङ्गादसङ्गतो विचार इति तथेत्यर्थः ॥१०॥ इति तृतीयमादित्याद्यधिकरणम् ॥३॥

---

१. अभिमयम इति रश्मिपाठः ।

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ ११ ॥ (४-१-४.)

अथेदं विचार्यते । बहिराविर्भावो येभ्यो, येभ्यश्चान्तस्तेषां तेषां च मिथस्तारतम्यमस्ति, न वेति । तत्र निर्णयमाह । यत्र भक्तेषु एकाग्रता भगवत्स्वरूपे प्रकट एवैकस्मिन् ग्राहकचित्तधारा, न त्वन्तर्बहिर्विज्ञानम्, तत्रोभयोरन्तःपश्यतो बहिःपश्यतश्च भावे भगवत्स्वरूपे च विशेषाभावान्न तारतम्यमस्तीत्यर्थः ॥ ११ ॥

इति चतुर्थाध्याये प्रथमपादे चतुर्थं यत्रैकाग्रताधिकरणम् ॥ ४ ॥

आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥ १२ ॥ (४-१-५.)

उक्तेर्थ एवायं संशयः । अन्तःप्राकट्यवतो यदा बहिःसंवेदने सत्यपि पूर्वानुभूतभगवत्स्वरूपानुभवः, तदा पूर्वमन्तरन्वभूवम्, अधुना बहिरनुभवामीत्यनुव्यवसायो भवति, न वेति । तत्र वैलक्षण्यान्नभवितुमर्हतीति पूर्वः पक्षः । तत्र सिद्धान्तमाह आप्रायणादिति । श्रीभागवते, 'प्रायणं हि सतामह'मिति

भाष्यप्रकाशः ।

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ ११ ॥ एतस्य सूत्रस्याधिकरणत्वं बोधयन्तोवतारयन्ति अथेत्यादि । अथेति । पूर्वाधिकरण आदित्यादिरूपाणामङ्गानामुपासनाभिः साधनभूतभक्त्युत्कर्षात् पुरुषोत्तमस्य बहिरन्तःप्राकट्यविचारानन्तरम् । येभ्य इति । चतुर्थी तादर्थ्ये । तत्रेति । उक्तसंशयोत्तरं प्राकट्यप्रकारभेदाद् भक्तयोस्तारतम्यमिति प्राप्ते । न त्वन्तर्बहिर्विज्ञानमिति । करणभेदानुसन्धानकृतमन्तर्बहिर्विज्ञानम् । शेषः सिद्धान्तग्रन्थस्तु स्फुटः । तथा चैकाग्र्याभावे भावतारतम्यम् । तेन च तयोस्तारतम्यम्, न तु प्राकट्यप्रकारभेदादिति भावः ॥ ११ ॥

इति चतुर्थं यत्रैकाग्रताधिकरणम् ॥ ४ ॥

आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥ १२ ॥ एतस्याप्यधिकरणान्तरत्वं बोधयन्त आहुः । उक्तेऽर्थ इत्यादि । तेनानुप्रसङ्गः सङ्गतिरित्यर्थः । सत्यपीत्यपिशब्दानुभवशब्दानन्तरमन्वेति । पूर्वपक्षमाहुः तत्रेत्यादि । वैलक्षण्यादिति । भूतकालवर्तमानकालरूपविशेषणभेदकृताद्वैलक्षण्यात् । सिद्धान्तं वक्तुं सूत्रं विवृण्वन्ति श्रीभागवत इत्यादि । तत्रैकादशस्कन्ध एकादशा-

रश्मिः ।

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ ११ ॥ अथशब्दस्यानन्तर्यमर्थमाहुः पूर्वेति । साधनेति । पुरुषोत्तमप्राप्तिसाधनभूतप्रेमसर्वात्मभावरूपेण श्रवणाद्युत्कर्षात् । करणेति । करणं मनः तस्य भेदयोरनुसन्धानमन्तर्बहिर्विषयानुसन्धानकृतम् । तयोरिति । अधिकारिणोः । प्राकट्येति । अन्तर्बहिःप्रकारौ तयोर्भेदात् ॥ ११ ॥ इति चतुर्थं यत्रैकाग्रताधिकरणम् ॥ ४ ॥

आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम् ॥ १२ ॥ अनुप्रसङ्ग इति । पूर्वाधिकरणयोः प्रसङ्गः उक्तेनाधिकरणेनास्य पश्चात् प्रसङ्गोधिकरणयोः सङ्गतिरित्यर्थः । अन्वेतीति । तेनान्वेति । भाष्ये । अनुव्यवसाय इति । अयं घट इति ज्ञानानन्तरं घटमहं जानामीति ज्ञानवत् । तत्तेदन्ताप्रकारकज्ञानत्वाभावान्न प्रत्यभिज्ञा, सेयं दीपमालिकेतिवत् । प्रकृते । भूतेति । अन्वभूवमिति

भगवद्वाक्यात् प्रायणशब्देन स्वतःपुरुषार्थत्वेन प्राप्यं परमं पारलौकिकं फलमुच्यते । तथा च तन्मर्यादीकृत्य तस्य सैवावस्था सार्वदिकी, न तु बहिःप्राकट्येपि बहिष्ट्वानुसन्धानमित्यर्थः । ततस्तस्य तत्र सायुज्यं भवति, न वेति संशये निर्णयमाह । तत्रापि प्रायणेपि प्राप्ते तस्य पूर्ववत् प्रभुणा सममालापावलोकनश्रीचरणनलिनस्पर्शादिकं दृष्टमेव फलम्, न त्वदृष्टं सायुज्यमित्यर्थः । यतः शुद्धपुष्टिमार्गेङ्गीकृतः, अन्यथा पूर्वोक्तभावसम्पत्तिः कथं स्यादित्युपपत्तिर्हिशब्देन सूच्यते । एतच्च 'तद्भूतस्य तु नातद्भाव' इत्यत्र निरूपितम् ॥ १२ ॥

इति चतुर्थाध्याये प्रथमपादे पञ्चममाप्रायणाधिकरणम् ॥ ५ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

ध्यायोपान्ते ज्ञानमार्गाद् भक्तिमार्गोत्कर्षं वदता भगवतोक्तं 'प्रायेण भक्तियोगेन सत्सङ्गेन विनोद्धव । नोपायो विद्यते सम्यक् प्रायणं हि सतामह'मिति । प्रकृष्टमयनं प्रायणमिति योगात्तादृशं फलमुच्यते । तथा च तादृशं फलं मर्यादीकृत्य तस्य भक्तस्य सैवावस्थैकाग्रतारूपा सार्वदिक्यतस्तथेति नानुव्यवसायवैलक्षण्यमित्यर्थः । तर्हि प्रायणे तु फले वैलक्षण्यं भविष्यतीति शङ्कायां सूत्रशेषमवतारयन्ति ततस्तस्येत्यादि । निर्णयमाहेति । तत्क्रतुन्यायात्, 'यं यं वापी'ति स्मृतेश्च भवतीति प्राप्ते निर्णयमाहेत्यर्थः । व्याकुर्वन्ति । तत्रापीत्यादि । सूच्यत इति । हेतुतया सूच्यते । तथा च पूर्वपक्षोक्तन्यायादिरुपासने प्रवर्तते । अत्र तु साक्षात्कार इति तस्य भावस्य सार्वदिकत्वं निष्प्रत्यूहमित्यर्थः ।

रश्मिः ।

भूते लुङ्, अत्र भूतकालो व्यापारस्य विशेषणमस्मत्पदार्थनिष्ठ एकः भूतकालीनोनुभवानुकूलो व्यापार इतिबोधात् । तथानुभवामीत्यत्र वर्तमाने लट् । अत्र वर्तमानकालो व्यापारस्य विशेषणम् । अस्मत्पदार्थनिष्ठ एकः वर्तमानकालिकोनुभवानुकूलो व्यापार इति बोधात् । एवं विशेषणकृताद्भेदाद्व्यवसायानुव्यवसाययोर्ज्ञानयोर्वैलक्षण्यात् । तादृशमिति । अयनं प्राप्यं प्रकृष्टं परमं पारलौकिकं सर्वात्मभावलभ्यम् । भाष्ये । सैवेति । अन्तःप्रकटैकाग्रतारूपा । न त्विति । अत्र बहिष्ट्वमिदं पदार्थान्तर्गतं बोध्यम् । तथा च वाक्यं 'ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेद'मिति । तत्र दृष्टान्त उत्तरार्धेन । 'यथा समाधौ मुनयोब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे' इति । दृष्टान्तद्वयं ज्ञानभक्तिभेदेन । नामरूपे विहाय । प्रकृते । फलितमाहुः तथा चेति । अतस्तथेति । न तु बहिरित्यादिभाष्योक्तम् । भाष्यार्थस्तु स्फुटः । नान्येति । अनुव्यवसायादन्यस्य व्यवसायस्य वैलक्षण्यं नेत्यर्थः । बहिष्ट्वेनानुसन्धानाभावाद्विषयभेदाभावादिति भावः । वैलक्षण्यमिति । प्रायणे भगवति फले बहिष्ट्वेन व्यवसायस्य सद्योमुक्तये आवश्यकत्वादन्तर्व्यवसायाद्वैलक्षण्यम् । सूत्रशेषमिति । अधिकरणकत्वेन सूत्रशेषम् । ततस्तस्येत्यादीति । तत्रेति । बहिःप्रकटे । सायुज्यं सद्योमुक्तौ । तत्क्रतुन्यायादिति । अयं तृतीयचरणे 'अप्रतीकालम्बन'सूत्रशेष इति तत्रैव स्फुटिष्यति । 'भगवद्भजनलक्षणक्रतुश्च नीयत' इत्यर्थः । यमिति । 'यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्, तत्तदेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः' इति स्मृतेश्च । भवतीति । सायुज्यं भवति । तत्रापीत्यादीति तत्रापीति । व्याख्येयम् । प्रायणेपीति व्याख्या । प्राप्त इति, सायुज्ये प्राप्ते । हेतुतयेति । पुष्टिमार्गेङ्गीकारो हेतुः पूर्वोक्तभावसम्पत्तिः कार्यम् । हेतुताग्राहिकोपपत्तिस्तर्कौ हिशब्दार्थः तेन

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥ १३ ॥ (४-१-६.)

पुष्टिमार्गीयभक्तस्य फलं निरूप्य मर्यादामार्गीयस्य तस्य फलं चिन्त्यते । तत्र तु ज्ञानपूर्वकत्वं भक्तेरावश्यकम् । कर्ममर्यादाया अपि स्वकृतत्वात्तामनुल्लङ्घ्यैव भगवता फलं दीयते । तच्च, नाऽभुक्तं क्षीयते । तद्भोगानुकूलकर्मणा स्वसजातीयतत्सन्तानजननादनिर्मोक्ष एव सर्वस्य सम्पद्यते । न च प्रायश्चित्तवज्ज्ञानस्य कर्मनाशकत्वं वक्तुं शक्यम् । तद्वत्तस्य तदुद्देशेनाविहितत्वात् । तथा कथने चान्योन्याश्रयः । दुरितस्य चित्ताशुद्धिहेतुत्वेन तन्नाशो ज्ञानोदयो यतः, अतो मर्यादामार्गे मुक्तिरनुक्तिविषयेति प्राप्ते, उच्यते । तदधिगमे ब्रह्मज्ञाने सति तज्ज्ञानस्वभावादेवोत्तराघस्याश्लेषोऽसम्बन्धः, पूर्वस्य तस्य विनाशो भवतीत्यर्थः । अत्रोत्तरस्योत्पन्नस्याश्लेष इति नार्थः, तस्यात्मन्येवोत्पत्तेस्तदतिरिक्तस्य श्लेषस्या-

---

भाष्यप्रकाशः ।

अन्ये तु, पूर्वसूत्रे उपासनासु एकाग्रताप्रयोजकं यद्भवति, तदेव दिगादिकं नियतम्, न तु प्राच्यादिनियम इति सिद्धान्तयन्ति । अस्मिंस्त्वभ्युदयफलास्वप्युपासनासु प्रयाणकालपर्यन्तं प्रत्ययावृत्तिं सिद्धान्तयन्ति । प्रायणपदेन च प्रयाणकालं व्याकुर्वन्ति । तदा प्रायणशब्दो यौगिक एव । अयनपदस्य गमनवाचकत्वादिति । तत्राप्युदासीना वयम् ॥ १२ ॥

इति पञ्चममाप्रायणाधिकरणम् ॥ ५ ॥

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥ १३ ॥ अधिकरणप्रयोजनमाहुः पुष्टीत्यादि । पुष्टिमार्गीयभक्तस्य फलमिति । लौकिकदेहे भगवत्साक्षात्कारादिकं फलं 'आसीनः सम्भवा'दित्यादिभिर्निरूप्य प्रायणप्राप्तावलौकिकदेहेऽस्य भगवत्संसेवनरूपं फलं चिन्त्यत इति । कथं भवतीति विचार्यते । कुतश्चिन्त्यत इत्याकाङ्क्षायां संशयं तद्बीजं च सूचयन्तः पूर्वपक्षमाहुः तत्र त्वित्यादि । ज्ञानपूर्वकत्वं भक्तेरावश्यकमिति । 'तस्माज्ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वा स्वात्मानमुद्धव । ज्ञानविज्ञानसहितो भज मां भक्तिभावत' इति भगवद्वाक्यात् तथा । दीयत इति । मर्यादामार्गे दीयते । तच्चेति । कर्म च । तद्वदिति प्रायश्चित्तवत् । ज्ञानस्य पापनाशकत्वाङ्गीकारे दूषणान्तरमाह तथेत्यादि । अन्योन्याश्रयं व्युत्पादयति दुरितस्येत्यादि । तथा च ज्ञानोदये दुरितक्षयो, दुरितक्षये च ज्ञानोदय इत्यन्योन्याश्रय इत्यर्थः । अनुक्तिविषयेति । तूष्णीम्भावविषया, अशक्यवचनेति यावत् । तथा च मर्यादामार्गे सर्वमर्यादारक्षणाद्

रश्मिः ।

सूच्यते तात्पर्यवृत्त्योच्यते । अव्ययानां द्योतकत्वम् । भाष्ये । तद्भूतस्येति । गतपादेस्ति तत्र । प्रकृते । न्यायादिरिति । 'यं यं वापी'तिस्मृतिरादिना गृह्यते । अत्र त्विति । भक्तिमार्गे तु अन्तर्व्यवसायः साक्षात्कार इति न वैलक्षण्यमित्यर्थः । उपासनोक्तेः साधनाविष्करणात् सद्योमुक्त्यर्थं बहिःप्राकट्यं बहिष्ट्वानुसन्धानयोरभावात्, फलसम्बन्धित्वात् । अभ्युदयेति । षोडशकर्मफलमभ्युदयः । निःश्रेयसफलव्यतिरिक्तस्तत्तदुपासना फलं च । यौगिक इति । प्रकर्षेणायनं गमनं यत्र काल इति प्रायणम् । समासोयं न योग इति चेत्, तत्राहुः । अयनेति । अय्यत इत्ययनमितियोगाद्यौगिकः । उदासीना इति । फलविचाराभावात् फलाध्यायेऽसङ्गतो विचार इति तथा ॥१२॥ इति पञ्चममाप्रायणाधिकरणम् ॥ ५ ॥

भावात्। अतोनुत्पत्तिरेवार्थः। न चैवं मर्यादामार्गीयत्वभङ्गः। साधनं विना स्वस्वरूपबलेनैव कार्यकारणे हि पुष्टिः, इह तु नियतकर्मविरोधिस्वस्वभावेन ज्ञानेनैव तथा सम्पत्तेः। अत एव, 'तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य

भाष्यप्रकाशः।

कर्ममर्यादाया अपि रक्षणीयतयोक्तप्रकारेण ज्ञानानुदये भक्त्यभावान्मोक्षरूपफलाभावः, उत 'यतो वाचो निवर्तन्त' इति ज्ञानिनमुपक्रम्य, 'एतꣳ ह वा व न तपति किमहꣳ साधु नाकरवं किमहं पापमकरव'मिति ज्ञानस्य बलवत्ताश्रावणात्तेन तन्नाशे भक्त्युदयात् फलं भवतीति संशये उक्तरीत्या मर्यादारक्षणावश्यकतया तूष्णीम्भाव एव शरणमिति प्राप्त इत्यर्थः। सिद्धान्तं वदन्तः सूत्रं व्याचक्षते तदधिगम इत्यादि। अत्राश्लेषपदार्थोऽसम्बन्धपदेन विवृतः, तं निर्णेतुं व्युत्पादयन्ति अत्रेत्यादि। एतत्सूत्रार्थविचारेनुत्पन्नस्याश्लेष इति नार्थः। 'श्लिष आलिङ्गन' इति धातोः संयोगविशेषार्थकतया गुणरूपस्य पापस्यात्मनि समवेतत्वेन संयोगस्य मूलत एवाभावाद्नश्यति च पापे समवायाभावस्य वक्तुमशक्यत्वादुत्पन्नस्य पापस्याश्लेष इति नार्थः, किन्तु तस्य पापस्यात्मनि लिङ्गविशिष्टे जीव एवोत्पत्तेरुत्पन्नकार्यसमवायातिरिक्तस्य श्लेषस्याभावात्। अत उक्तानुपपत्तिरूपाद्धेतोरनुत्पत्तिरेवार्थः। 'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त' इति श्रुतावपि पापानुत्पत्तिरेवार्थ इत्यर्थः। न च श्रौतदृष्टान्तानुरोधाल्लिङ्गशरीरे उत्पन्नस्य जीवेऽसम्बन्ध इत्येवार्थो युक्तः, न पूर्वोक्त इति वाच्यम्। तेन 'भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष' इति श्रुतेस्तस्य सदैवासङ्ग-

रश्मिः।

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्॥ १३॥ **उक्त** इति। अन्योन्याश्रयप्रकारेण। **तेन तन्नाश** इति। ज्ञानेन पापनाशे। **उक्तरीत्येति**। आसूत्राद्युक्तरीत्या। **उत्पन्नस्येति**। सौत्रोत्तरपदार्थस्य भाष्ये विवृतस्य। **मूलत** इति। द्रव्ययोरेव संयोग इति नियमादेवाभावात्। **अश्यतीति**। न विश्यद्विश्यत् शता तस्मिन्। **नार्थ** इति। गुणगुणिनोः समवायेन श्लेषरूपसंयोगाभावादश्लेषाभावात्। **तस्यात्मन्येवेति** भाष्यं विवृण्वन्ति स्म, **किन्त्विति**। जीवे पापाभावोपहतपाप्मांशत्वात्, अतो विशेषणं लिङ्गविशिष्ट इति तदाहुः **लिङ्गविशिष्ट** इति। **श्लेषस्येति**। संयोगरूपस्य गुणगुणिनोरभावात्। **अत** इति। व्याख्येयम्। **उक्तेति**। किन्त्वित्यादिनाऽव्यवहितपूर्वोक्तानुपपत्तिरूपात् क्वचित्प्रत्यये रुशब्दस्य दीर्घाभावश्छान्दसः। **अर्थ** इति। अश्लेषपदार्थः। आद्यक्षणसम्बन्धः उत्पत्तिः सा संयोगसम्बन्धः न कालिकः, द्रव्यस्य कालस्यात्मनि द्रव्ये कालिकविशेषसंयोगस्य वक्तुं शक्यत्वात्। **यथा पुष्करेति**। श्रुत्यर्थः स्पष्टः। **श्रुताविति**। 'न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवती'त्यस्याम्। 'सर्वान्नानुमति'सूत्रे व्याकृता। एवंविदि ज्ञानिनि प्राणविघनन्नमप्रशस्तमन्नम्। जन्तुमात्रस्य जग्धं भक्ष्यं तत्सर्वमिहानन्नं भवति, अदनीयमित्यन्ये। भवतीत्यस्योत्पद्यत इत्यर्थे। अप्रशस्तं पापजनकम्। अत्र पापस्य समवाय इति पूर्वश्रुत्यैकवाक्यत्वे पापानुत्पत्तिरसंश्लेषः। **पूर्वोक्त** इति। जीव एवानुत्पत्तिरसंश्लेष इति। **श्रौतेति**। अम्भेरुत्पन्नास्तदाश्रया आपः तत्संयुक्ताः पुष्करपत्रे संयोगाभाववत इति श्रौतदृष्टान्तानुरोधात्। **तस्येति**। जीवस्येत्यर्थः। **लिङ्ग एवेति**। अभावप्रतियोगिनोरैकाधिकरण्यनियमादेवकारः। **असंबन्धेति**। अनुत्पत्ति-

१. रश्मौ अविश्यति इति सप्तम्यन्तपाठः।

सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्त' इति श्रुतिरग्निदृष्टान्तमाह। स्मृतिरपि 'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा' इति। 'सर्वं पाप्मानं तरति, तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजत' इत्यादिश्रुतिभ्यस्त्वयापि न तद्भोगनियमो वक्तुं शक्यः। एतेनाभुक्तस्याक्षयाद्भोगे च कर्मान्तरजननान्मोक्षासम्भव इति निरस्तं वेदितव्यम्। न चान्योन्याश्रयः। अनाद्यविद्याजनितसंसारवासनात्मिका हि सा। सा च गुरूपसत्तिश्रवणमननविष्णूपासनादिरूपया ज्ञानसामग्र्यैव नाश्यते। अविद्या परं ज्ञानेन नाश्यत इति

भाष्यप्रकाशः।

त्वेनैवंविदीतिविशेषणवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। न च लिङ्ग उत्पन्नं लिङ्गे एव न श्लिष्यत इत्यपि युक्तम्। दृष्टान्तवैषम्यस्यात्रापि तुल्यत्वात्। अतः पापस्यासम्बन्धमात्रमेव श्रुतौ विवक्षितम्, न तु तस्य पूर्वं सत्तापीति पूर्वोक्तमनवद्यम्। मर्यादाभङ्गमाशङ्क्य समादधते। न चैवमित्यादि। एवमिति। दुष्कर्मणो दुरदृष्टानुत्पादकत्वे। तथा सम्पत्तेरिति। कर्मासम्बन्धसम्पत्तेः। तथा चैवमपि मर्यादैवेति न तद्भङ्ग इत्यर्थः। अत एवेति। मर्यादाभङ्गाभावादेव। 'तद् यथेषीकातूल'मिति श्रुतिस्तु छान्दोग्ये वैश्वानरविद्यायां द्रष्टव्या। 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभ'मिति नियमवादे श्रुतिविरोधरूपं दूषणान्तरमाहुः सर्वमित्यादि। एतेनेति। अश्वमेधरूपनिर्वेशादभुक्तस्यापि दुष्कर्मणः क्षयश्रावणेन। अन्योन्याश्रयं परिहरन्ति न चान्येत्यादि। सेति। चित्ताशुद्धिः। क्व तत्प्रसङ्ग इति। अन्योन्याधीनोत्पत्तिकत्वे ह्यन्योन्याश्रयः। इह तु श्रवणादिरूपसामग्र्या ज्ञानोदयस्तयैव च चित्ताशुद्धिनाश इति नान्योन्याधीनोत्पत्तिकत्वम्। अतः क्वान्योन्याश्रयप्रसङ्गः। ननु तथा-

रश्मिः।

मात्रम्। **तस्येति**। पापस्याभावप्रतियोगिनी सत्तापीत्यर्थः। **पूर्वोक्तमिति**। अश्लेषोनुत्पत्तिरिति पूर्वोक्तम्। **एवमित्यादीति**। सम्भ्रमात्। **छान्दोग्य** इति सप्तमस्यार्धप्रपाठकानन्तरं 'प्राचीनशाल औपमन्यव' इत्यारम्भकेस्ति। श्रुत्यर्थस्तु 'यथा लोके इषीकायाः मुञ्जमध्यवर्तिनालस्य तूलमग्रं अग्नौ प्रोतं प्रक्षिप्तं प्रदूयेत दह्येत एवमेवेहास्य विदुषः सर्वे पाप्मानः धर्माधर्माख्याः प्रदूयन्ते दह्यन्ते दह्येरन्निति। प्रसिद्धार्थस्तु इषीका दुर्गमनस्थानम्, 'इषीकाटवीं निर्विविशु'रिति वाक्यात्। तूलं ब्रह्मदारु, 'तूलं वा रुई'इति लोके, प्रोतं तन्तुषु पट इव प्रोतम्। प्रदूयेत दुष्यते। अग्रे समानोर्थः। अत्र भोगाभावेपि ज्ञानिनो ज्ञानेन कर्मदूषणमुक्तम्। अग्रे भाष्ये ज्ञानेन कर्मनाश उक्तः। एवं भोगेन कर्मनाशे नियमभङ्गः, भोगेनैव कर्मनाश इति नियमभङ्गः। **दूषणान्तरमिति**। उक्तदूषणादन्यदूषणम्। **सर्वमित्यादीति**। अत्र तरणोक्त्या पाप्मनि जलदृष्टिः कर्तव्या। 'आगमापामपः सर्वा' इत्यारणेनाप्रूपत्वात्। एवं ब्रह्महत्यायामपि स्वकारणादृष्टिः कर्तव्या। **अश्वमेधेति**। 'निर्वेशो मूर्च्छने भोगे' इति विश्वादश्वमेधरूपाद्भोगात्। **अन्योन्याश्रयमिति**। ज्ञानोदये दुरितक्षयो दुरितक्षये ज्ञानोदयः इत्यन्योन्याश्रयम्। **न चान्योन्येत्यादीति**। **अनादीति**। अनादिर्याऽविद्या तया जनितो यः संसारोऽहंताममतात्मकः तेन वासना संस्काररूपा, पूर्वापरानुसन्धानरहितपदार्थादानं वा तदात्मिकेत्यर्थः। **चित्ताशुद्धिरिति**। दुरितजन्या। **अन्योन्येति**। ज्ञानोदयदुरितक्षययोस्तथा। **ज्ञानोदय** इति। ज्ञानाङ्गभक्तित्वादिति भावः। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्य' इति श्रुतेः, न तु दुरितक्षयेण। **तयैवेति**। श्रवणादिरूपसामग्र्या स्वव्यापाररूपचित्ताशुद्धिनाशः। तन्नस्त्वे सति

१. अश्वमेधेन यजते यः स ब्रह्महत्यां तरति।

६ अ० सू० २०

क तत्प्रसङ्गः । ज्ञानसामग्र्या बलिष्ठत्वात्कर्मणो दुर्बलत्वाच्च तत्प्रतिबन्धकत्वमिति ज्ञाननाश्यत्वबोधकश्रुतिस्मृतिमता त्वयाप्युरीकार्यम् । इममेव हेतुमाहाचार्यस्तद्व्यपदेशादिति ॥ १३ ॥

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥ १४ ॥

पापस्य शास्त्रविरोधित्वेन शास्त्रीयज्ञानेन समं विरोधो भवतु नाम,

भाष्यप्रकाशः ।

प्यभुक्तेन कर्मणा ज्ञानसामग्रीबन्धो भवत्विति चेत्, तत्राहुः ज्ञानसामग्र्या इत्यादि । यदि हि कर्ममात्रमभुक्तं न क्षीयेत, तदा प्रायश्चित्तविधिरनर्थकः स्यात् । यदि चाक्षीयमाणं स्वसजातीयसन्तानमुत्पादयेत्, तदा ज्ञानसाधने प्रवृत्त्यनुपपत्त्या ज्ञानसामग्रीविधिरानर्थक्यमापद्यते । अतस्तदभावाय प्रारब्धस्यैवाभुक्तस्याक्षयः, क्रियमाणसंचितयोस्तु प्रायश्चित्तादिना क्षय इत्यवश्यमङ्गीकार्यम् । एवं सति प्रारब्धं भुञ्जानस्यापि क्रियमाणसञ्चितयोः क्षये ज्ञानसामग्र्या बलिष्ठत्वात्तयैव चित्ताशुद्धिनिवृत्तौ तत्पोषकस्य कर्मणो निरालम्बनतया दुर्बलत्वाच्च सामग्रीप्रतिबन्धकत्वमिति त्वयापि श्रौतवादिनाङ्गीकार्यम् । इममेव हेतुं पूर्वपक्षिबोधनाय तद्व्यपदेशादिति पदेनाह । तस्मान्न कोपि दोष इत्यर्थः । अश्लेषश्रुतिस्तु, 'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत' इति छान्दोग्य उपकोसलविद्यास्था बोध्या । सात्र न लिखिता । सहकारित्वसूत्रे ज्ञानस्य कर्मस्वभावनाशकताया व्युत्पादिततया तत एव निर्वाहादिति ॥ १३ ॥

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥ १४ ॥ सूत्रमवतारयन्ति पापस्येत्यादि । इत्या-

रश्मिः ।

तज्जन्यजनको हि व्यापार इति व्यापारलक्षणात् । न तु ज्ञानोदयेन । चित्ताशुद्धिनाशस्य कर्मोपासनाजन्यत्वादित्येवकारः । कर्मणेति । दुष्कर्मणा । सूत्रेऽघपदेनाघत्वेनाघग्रहणादघविवेचनेनार्थमाहुः यदि हीत्यादि । कर्ममात्रमिति । प्रारब्धक्रियमाणसञ्चिताघमात्रम् । अनर्थक इति । प्रायश्चित्तस्य भोगातिरिक्तस्य भोगनाश्याघनाशेऽकारणत्वात् तथा । स्वसजातीयेति । अघत्वेन सजातीयत्वम् । स्वसजातीयसन्तानज्ञानप्रतिबन्धकम् । आनर्थक्यमिति । शमदमादीनां ज्ञानोत्पादे कौण्ठ्यात्तथा । तदभावायेति । द्वयोर्विध्योरानर्थक्याभावाय । अभुक्तस्येति । भोगेन क्षयः । प्रायश्चित्तादिनेति । आदिना ज्ञानेन । चित्ताशुद्धीति । ज्ञानसामग्रीव्यापारभूतायाम् । तत्पोषकस्येति । चित्ताशुद्धिहेतोर्दुष्कर्मणः । आलम्बनं दुष्कर्मणश्चित्ताशुद्धिः, तस्याः निष्क्रान्ततया । सामग्रीति । ज्ञानसामग्रीप्रतिबन्धकत्वम् । श्रौतेति । श्रुतिभिः श्रूयत इति श्रौतम् । शैषिकोण् । श्रुतिः श्रवणं तस्य वादिना श्रुतिश्रुतिमता श्रुतिश्रवणवतेति यावत् । इममेवेति भाष्यविवरणं इममेवेति । तद्व्यपदेशादिति । तस्य हेतोर्व्यपदेशात् । न लिखितेति । अघनाशविचारेऽभावप्रतियोगिनोर्व्यधिकरणयोरिति बोध्यमित्येवंबोधिका न लिखिता । कर्मस्वभावेति । व्यधिकरणज्ञानस्य कर्मस्वभावनाशकत्वम् । समानाधिकरणस्य कर्मनाशकत्वमिति बोधनाय स्वभावशब्दः । श्रुतौ व्यधिकरणयोर्जलतदभावयोः समानाधिकरणयोः जलसंयोगतदभावयोर्ग्रहणं बोध्यम् । तत इति । सहकारित्वसूत्रात् ॥ १३ ॥

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥ १४ ॥ पापस्येत्यादीति । विरोधः सहानव-

धर्मस्यातथात्वेनाविरोध एवेत्याशङ्कानिरासाय पूर्वन्यायातिदेशमाह । इतरस्य पुण्यस्याप्येवम्, पूर्वस्य नाश उत्तरस्याश्लेष इत्यर्थः । अतिदेशाद्धेतुरपि स एव ज्ञेयः । तथाहि । 'उभे उ हैवैष एते तरति', 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणी'ति सामान्यवचनाज् 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणी'ति स्मृतौ सर्वशब्दाच्च तथा ।

अथेदं शङ्क्यते । मर्यादामार्गीयत्वाज्ज्ञानानन्तरं भरतवत् सङ्गदोषेण भगवद्भावाच्युतौ सङ्गजदोषोत्पत्तिवदग्रे विहितनिषिद्धकर्मणोरप्युत्पत्तिर्वक्तुं शक्येति ज्ञानस्य न सर्वात्मना कर्मविरोधित्वमिति । तत्र निर्णयमाह । पाते । भक्तिमार्गे भगवद्भावाच्युतिः पात इत्युच्यते । तुरप्यर्थे । अपिशब्दे वाच्ये व्यवच्छेदार्थकतुशब्दोक्त्यास्मिन्मार्गे पातस्य व्यवच्छेद एव । 'न कर्हिचिन्मत्पराः' इति वाक्यात् । परन्तु मर्यादामार्गीयत्वात् प्रारब्धभोगार्थं प्रभुश्चेत्तथा करोति, तद्भावे पूर्णे सति तद्भोगोऽसम्भावित इति तदैवं भवतीति व्यासाभिप्रायो ज्ञायते । तथा च तस्मिन् सत्यप्युत्तरस्य कर्मणोऽसंश्लेष एवेत्यर्थः । पूर्वसूत्र एवमेवा-

भाष्यप्रकाशः ।

शङ्कानिरासायेति । इति हेतोः पूर्वपुण्यस्यानाश उत्तरस्य च संश्लेषो भवत्विति शङ्कानिरासाय । ननु हेतोरकथनात् कथं पुण्यस्य तथात्वं ज्ञेयमित्यत आहुः अतिदेशादित्यादि । 'उभे ह्येवैष' इति श्रुतिस्तु शारीरब्राह्मणस्था । 'उभे ह्येवैष एते तरत्यमृतः साध्वसाधुनी' इत्यादि । द्वितीया तु मुण्डकस्था । सूत्रशेषमवतारयन्ति । अथेदमित्यादि सङ्गजदोषोत्पत्तिवदिति । ज्ञानानन्तरं यथा सङ्गजदोषोत्पत्तिस्तथेत्यर्थः । अग्र इति । ज्ञानानन्तरम् । व्याकुर्वन्ति भक्तीत्यादि । वाक्यं तु तृतीयस्कन्धे कापिलेये 'न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे नङ्क्ष्यन्ति नोऽनिमिषो लेढि हेतिः । येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्ट'मिति । अत्र 'मत्परा न नङ्क्ष्यन्ती'ति कथनात् पातव्यवच्छेदलाभः । तथा करोतीति । भक्तिभावं प्रतिबध्नाति । तदर्थं प्रतिबन्धकरणे हेतुः तद्भाव इत्यादि । तदैवं भवतीति । यदा भक्तिभावप्रतिबन्धः, तदा भरतवदन्यासक्त्यादिर्भवति । असंश्लेष एवेति । तदुपाख्याने, 'स च तदा पितृसम्बन्धिबान्धवा-

रश्मिः ।

स्थानम् । अतथात्वेनेति । अशास्त्रविरोधित्वेन । सूत्रशेषमिति । पाते त्वितिसूत्रशेषम् । ज्ञानानन्तरमिति । हरिणशरीरे ज्ञानानन्तरं पञ्चमस्कन्धेऽस्ति । व्याकुर्वन्तीति । सूत्रशेषं व्याकुर्वन्ति भक्तीत्यादीति । अपिशब्दं विहाय तोरुपादाने तात्पर्यमाहुः अपिशब्द इति । पातस्येति । सुकृतदुष्कृताभ्यां कर्मभ्यां पातस्य व्यवच्छेद एव तोः प्रयोजनम्, न त्वन्यतात्पर्यप्रयोजनम् । न कर्हिचिदिति । शान्तरूपे हे मातः नङ्क्ष्यन्ति नाशं पातं वा प्राप्नुवन्ति । अनिमिषः हेतिः कालः । लेढि । 'लिह आस्वादने' तिपि तस्य रूपम् । अत्रेति । मत्पराः सुकृतदुःकृतकर्मनिर्हारकाः न नक्ष्यन्ति । 'प्राप्तिपूर्वको निषेध' इति नाशः पातः प्राप्तः । सोन्यनिष्ठसुकृतदुःकृतकर्मभ्यां भगवत्परनिष्ठः व्यवच्छेदयुक्तः । सुकृतदुःकृतकर्मणोर्भगवत्परभक्तेऽभावात् । एवं पातव्यवच्छेदलाभः । तद्भाव इत्यादीति । भगवद्भजने पूर्णे सति । तद्भोगः प्रारब्धभोगः । अन्यासक्त्यादिरिति । प्रारब्धभोजकः । तदुपाख्यान इति । भरतोपाख्याने । तादृशेति ।

श्लेषशब्दस्य व्युत्पत्तेः। अतिदेशस्यैवंपदेनैव प्राप्तेः सर्वं सूत्रं तत्परत्वेन न व्याख्येयम्। पातशब्दस्य देहपातं तुशब्दस्यावधारणमर्थमुक्त्वा देहपाते मुक्तेरावश्यकत्वावधारणं वाक्यार्थ इति चोक्तिर्न साधीयसी। मुक्तिप्रापकपदाभावात् 'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाथ सम्पद्यत' इत्यग्रे वक्तव्यत्वाच्च ॥ १४ ॥

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥ १५ ॥

ननु देहस्य कर्मजन्यत्वात्तन्नाशे तन्नाशस्यावश्यकत्वाद् ब्रह्मविदः प्रवचनानुपपत्तिः। एवं सति ब्रह्मजिज्ञासोर्गुरूपसत्त्यादिसाधनासम्भवः। 'आचार्यवान् पुरुषो वेदे'ति श्रुतेस्तदभावेन ज्ञानमार्गोच्छेदेन मुक्त्युच्छेदप्रसङ्ग इत्याशङ्क्य समाधत्ते। पूर्वे पूर्वसूत्राभ्यां ज्ञाननाश्यत्वेन ये प्रोक्ते पापपुण्ये ते नाशेषे,

भाष्यप्रकाशः।

सध्रीचीनमिव स करोती'तिवाक्येन तादृशकर्मबोधनादग्रे च जीवन्मुक्तत्वबोधनादसंश्लेषः। एवमेवेति। अनुत्पत्तिरूपतया। ननु सर्वस्य सूत्रस्यातिदेशपरत्वे को दोषः, येन एवं विभज्य व्याख्यायत इत्यत आहुः अतिदेशस्येत्यादि। तत्परत्वेनेति, अतिदेशपरत्वेन। तथा च शेषवैयर्थ्यमेव दोष इत्यर्थः। एवं मर्यादामार्गेपि ब्रह्मज्ञानोत्तरं भक्तौ यदा प्रतिबन्धः, तदापि प्रारब्धमात्रस्यैव भोगो, न तु क्रियमाणसञ्चिताभ्यां दुरदृष्टोत्पत्तिरित्यर्थः सिद्धः। अत्रान्येषां व्याख्यानं पातशब्दस्येत्यादिनानूद्य दूषयन्ति उक्तिर्न साधीयसीत्यादि। ननु सूत्रे मुक्तिप्रापकपदाभावेपि फलप्रकरणत्वात्तदनुरोधेन तथा कल्पने को दोष इत्यत आहुः भोगेनेत्यादि। तथा च तैः 'सम्पद्यत' इत्यस्य 'मुच्यत' इति व्याख्यानादस्या मुक्तेरत्र सिद्धौ तन्मतेग्रिमसूत्रान्तरे भोगेन कर्मक्षपणानन्तरं ब्रह्मसम्पत्तिरूपमुक्तेरेव व्याख्यानात्तद्वैयर्थ्यमेव दोष इत्यर्थः ॥ १४ ॥

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥ १५ ॥ सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि। तन्नाशे तन्नाशस्येति। कर्मनाशे देहनाशस्य। एवं सतीति, ब्रह्मविदो देहनाशे सति। तदभावेनेति। आचार्याभावेन। भक्त्युच्छेदप्रसङ्ग इति। निरुपधिस्नेहात्मिका हि भक्तिरात्मत्वेन ज्ञाने सति भवति। आत्मत्वेन ज्ञानं च परम्परया आचार्याधीनमतस्तदभावे तत्प्रसङ्ग इत्यर्थः। मुक्त्युच्छेदप्रसङ्ग इति वा पाठः। व्याकुर्वन्ति पूर्वेत्यादि। नाशेषे इति।

रश्मिः।

असंश्लिष्टकर्मबोधनात्। अग्रे चेति। नित्यनिवृत्तनिमित्तस्वसिद्धविशुद्धानुभवानन्दस्वात्मलाभाधिगम इत्यत्र। असंश्लेष इति अनुत्पत्तिः। एवं विभज्येति। इतरस्याप्येवमसंश्लेष इत्यस्यातिदेशकत्वं 'पाते त्वि'त्यस्य भिन्नप्रक्रमेण ज्ञानस्य न सर्वात्मना कर्मविरोधित्वमिति शङ्कानिवर्तकत्वमिति विभागं कृत्वा। शेषेति। 'पाते त्वि'तिसूत्रशेषस्य वैयर्थ्यम्। तैरिति। लीलोपयोगिपदार्थैः। तद्वैयर्थ्यमिति। 'भोगेने'ति सूत्रवैयर्थ्यम् ॥ १४ ॥

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥ १५ ॥ भक्त्युच्छेदेति। भाष्ये क्वचित्पुस्तके मुक्त्युच्छेदप्रसङ्ग इति। भक्त्युच्छेदप्रसङ्ग इति पाठं व्याकुर्वन्ति स्म निरुपधीति। अयमेव प्रेमा। सर्वात्मभावस्तु प्रदानसाध्य इति नोक्तः। भवतीति। तथा च भाष्यम्। ज्ञात एव स्नेह इति। परम्परयेति। आचार्याभावे तद्वत्ताभाव इत्याचार्याधीना तद्वत्ता तद्वत्ताधीनमधिकारद्वारात्मत्वेन ज्ञानमिति परम्परा तया। तदभाव इति। आचार्याभावे, आत्मत्वेन ज्ञानाभावप्रसङ्ग इत्यर्थः।

१. श्रीविठ्ठलेश्वरहस्ताक्षरलिखितादर्शे मुक्त्युच्छेद इति पाठः।

किन्त्वनारब्धं भोगायतनलक्षणं कार्यं याभ्यां ते एवेत्यर्थः। नन्वितरनिरपेक्षं हि ज्ञानं स्वशक्त्यैवाग्निरेध इव कर्माणि दहतीति पूर्वमुक्तम्, तथा सत्यशेषमेव तद्दहतीति वक्तुं युक्तम्, न तु सशेषम्। शक्तेरविशिष्टत्वात्। न च कर्मनाशेपि संस्कारवशात् कुलालचक्रभ्रमिवत्तद्वासनावशाद्देहादिसत्तया प्रवचनाद्युपपत्तिरिति वाच्यम्। ज्ञानस्य सर्वतो बलवत्त्वात् सवासनस्य तस्य नाशनात्। न हि महाशिलानिपाते चक्रभ्रमिरनुवर्तितुं शक्नोतीत्याशङ्क्यारब्धकार्यादहने हेतुमाह। तदवधेः। तज्ज्ञानेनारब्धकार्यादहनं यत् तदखिलकारणकारणत्वेनाखिलस्य पूर्वावधिरूपभगवदिच्छालक्षणाद्धेतोरित्यर्थः। यत्र तस्यापि दहनेच्छा तत्र तथैवेति निगूढाशयः। अत एवाग्रे तथा वक्ष्यते। अत एव श्रीभागवते 'मृगदारकाभासेन स्वारब्धकर्मणा योगारम्भणतो विभ्रंशित' इति, 'उपभोगेन कर्मारब्धं व्यपनय'न्निति च भरतं प्रति वचनं गीयते। एवं सति मणिमन्त्रादिप्रतिबद्धशक्तेरग्नेरिव ज्ञानस्याप्यदाहकत्वे न काचिद्धानिरिति सर्वमनवद्यम्। इच्छाप्रतिबद्धतादशायां न प्राचीना दशास्तीति तद्व्यवच्छेदज्ञापनाय तुशब्दः। एतेन भगवद्भावस्य सर्वतो बलवत्त्वात् कथं तस्य पात इति शङ्का निरस्ता। भगवदिच्छाया मूलकारणत्वेनोक्तेस्तस्याः सर्वतो बलिष्ठत्वात्। तथेच्छा च स्वकृतमर्यादापालनाय पुष्ट्यङ्गीकृते न तथेति सर्वमनवद्यम् ॥ १५ ॥

भाष्यप्रकाशः।

न यावत्तावच्छिन्ने नश्येते इति शेषः। ते एवेति। दह्येते इति शेषः। तथा चापरोक्षेणापि ज्ञानेनारब्धकार्यमेव कर्म दह्यत इति शरीरारम्भकस्य कर्मणः सत्त्वेन शरीरस्यापि सत्त्वाच्च प्रवचनाद्यनुपपत्तिरित्यर्थः। हेतुं व्याख्यातुं सूत्रशेषमवतारयन्ति नन्वित्यादि। न तु सशेषमिति। न तु प्रारब्धकर्मरूपं शेषं स्थापयित्वा। हेतुं व्याकुर्वन्ति तदित्यादि। तत्र तथैवेति। तादृशस्थले प्रारब्धकर्मणोपि दाह एव। अत्र गमकमाहुः अत एवाग्रे तथा वक्ष्यत इति। 'अतोन्यापी'ति सूत्रे वक्ष्यत इत्यर्थः। मर्यादामार्गे प्रारब्धकर्मसत्त्वायां मानमाहुः अत एवेत्यादि। भरतं प्रतीति। प्रतिर्लक्षणे। भरतं लक्षीकृत्य। अदाहकत्व इति भिन्नं पदम्। तथेच्छेति। प्रारब्धस्य भोगेनापनयनेच्छा। न तथेति। न तस्य भोगेनापनयेच्छा।

रश्मिः।

भाष्ये। शक्तेरिति। दृष्टान्ते दाहकशक्तेः। शेषशेषिणी प्रति कारणताया विशेषशून्यत्वात्। निर्विशेषाया एकस्या एव कारणत्वात्। महाशिलेति। तद्वत्प्रकृते ज्ञानप्राप्तिः। तदवधेरितिहेतोस्तत्स्य तच्छब्दार्थस्य ब्रह्मणः अवधेरिच्छाया इत्यर्थं हृदिकृत्याहुः तज्ज्ञानेनेति। ज्ञानेनेतिव्याख्यानं तदित्यन्तम्। अग्रे षष्ठीतत्पुरुषः। तस्याखिलकारणत्वेनाखिलस्यावधेर्नाम पूर्वावधिरूपाद्भगवदिच्छालक्षणात्। पूर्वत्वं कार्यापेक्षया। इच्छाशक्त्यधीनत्वात्सर्वशक्तीनामिति। गूढाशय इति। तात्पर्यैन्तःकरणम्। अदाहकत्व इति। सप्तम्यन्तम्। सौत्रतुशब्दार्थमाहुः इच्छेति। प्रारब्धकार्यादहने इच्छाप्रतिबद्धता या दशा, तस्याम्। प्राचीनेति। सर्वकर्मनाशिका दशा। तद्व्यवच्छेदेति। प्राचीनदशाव्यवच्छेदज्ञापनाय। तथा च तदवधेस्त्वित्यन्वयः। प्राचीनदशा-

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥ १६ ॥

ननु प्रारब्धं हि प्राचीनम् तन्नाशाय तद्भोग एव कर्तव्यो ब्रह्मविदा, न तु विहितमन्यदप्यग्निहोत्रादि, प्रयोजनाभावात्, दृश्यते च तादृशानां तत्करणम्, अत उत्तरस्य कर्मणः संश्लेष आवश्यक इत्याशङ्क्य तत्प्रयोजनमाह । तुशब्दः शङ्काव्युदासकः । अग्निहोत्रादिविहितकर्मकरणं तत्कार्यायैव, भोगकार्याय प्रारब्धनाशायैवेत्यर्थः । येषामग्निहोत्रादिकारकं प्रारब्धमस्ति, तैरेव तन्नाशाय भोगवत्तदपि क्रियते, न त्वतादृशैः, अत एव न सनकादीनां तथात्वम्। कुत एतत्। तद्दर्शनात् । 'यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेने'ति श्रुतिः पूर्वकर्मणोऽग्रिमकर्महेतुत्वं दर्शयतीति नानुपपत्तिः काचित् ।

केचित्तु ज्ञानस्य यत्कार्यं तदेवाग्निहोत्रादेरिति तत्कार्यायेति पदस्यार्थं वदन्ति । स न साधुः । तदधिगम इत्युपक्रमात् ब्रह्मविदः प्रारब्धात्मकप्रतिबन्धनाशे मोक्षस्य पूर्वज्ञानेनैव सम्पत्तेः कर्मणो वैयर्थ्यापातात् । 'तमेतं वेदानुवचनेने'त्यादिश्रुतिदर्शनं दर्शनपदार्थ इत्यपि पूर्वविरोधादुपेक्ष्यः ॥ १६ ॥

इति षष्ठं चतुर्थाध्याये प्रथमपादे तदधिगमाधिकरणम् ॥ ६ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

अन्ये तु, 'तदवधे'रित्यस्य, 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येथ सम्पत्स्य' इति प्रारब्धस्य शरीरपातावधिश्रुतेरित्यर्थमाहुः । तत्रापि प्रवृत्तफलस्य कर्मणोऽनाशे हेतुस्तु मृग्यः । सोऽत्र सिद्धान्ते विवृत इति तन्मतेऽपि नातो विशेष इति बोध्यम् ॥ १५ ॥

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥ १६ ॥ सूत्रमवतार्य विवृण्वन्ति तुशब्द इत्यादि । केचिदित्यादिना परमतमुपक्षिप्य दूषयन्ति स नेत्यादि । प्रारब्धात्मकप्रतिबन्धनाशे इति । 'तस्य तावदेव चिर'मिति श्रुतेस्तस्य नाशे । पूर्वविरोधादिति । एतस्माद्वाक्यात् पूर्वं 'मनसैवावाप्तव्यम्, मनसैवानुद्रष्टव्य'मित्यवधारणश्रावणेन सूत्रकृताऽपि तदधिगमसूत्रे ज्ञानादेव कर्मनिवृत्तिकथनेन उक्तश्रुतौ च यज्ञादेर्विविदिषाफलकत्वस्य ज्ञानपर्यन्तत्वस्य

रश्मिः ।

व्यवच्छेदादिति तोरर्थः । तुरिति । लुप्तपञ्चम्यन्तम् । तस्येति । भक्तस्य । तथेच्छेति । पातेच्छा । स्वकृतेति । एवं 'जीवेनैतदेतत्कर्म कारयित्वैतदेतत्फलं दास्यामी'ति विद्वन्मण्डनोक्तदिशा स्वकृता मर्यादा तस्याः पालनाय । न तथेति । न भक्तस्य पातेच्छा । मर्यादाकारणस्य पापाद्यभावस्य पुष्टौ कारणताभावात् । प्रवृत्ते । प्रवृत्तं प्रवृत्तिः फलं यस्येति विग्रहः, न तु निवृत्तं फलं तस्य, प्रारब्धकर्मण इत्यर्थः । अनाश इति । शरीरपातात्पूर्वमनाशे । स इति । भगवदिच्छारूपः ॥ १५ ॥

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥ १६ ॥ अवतार्येति । नन्वित्यादिनावतार्य । भाष्यार्थस्तु, प्राचीनमिति । ननु सञ्चितमपि प्राचीनमिति चेन्न । स्वतन्त्रेच्छस्य मुनेः पर्यनुयोगानर्हत्वात् । प्रारब्धं भोगेन नश्यति । क्रियमाणमकरणेन सञ्चितं देहमुत्पाद्य नश्यतीति । आवश्यक इति । कर्मणां प्ररोहैकस्वभावत्वात् तथा । तुशब्द इत्यादीति । अग्निहोत्रादीति ।

अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ॥ १७ ॥ (४-१-७.)

तदेवं पूर्वसूत्रचतुष्टयेन मर्यादामार्गीयभक्तस्य मर्यादयैव मुक्तिप्रतिबन्धसम्भवस्तयैव तन्नाशश्चेति निरूपितम् । अथ पुष्टिमार्गीयस्य विनैव भोगं प्रारब्धं नश्यति न वेति विचार्यते । तत्र भोगैकनाश्यस्वभावत्वात्तस्य न तं विनास्यापि तन्नश्यतीति प्राप्ते निर्णयमाह । एकेषां पुष्टिमार्गीयाणां भक्तानामुभयोः प्रारब्धाप्रारब्धयोर्भोगं विनैव नाशो भवति । कुत एतत् । तत्राह । अतः । श्रुतेः कर्मणो ज्ञाननाश्यत्वनिरूपिकायाः । ब्रह्मविद एव प्रवचनादिनिरूपणेन तद्नाश्यप्रारब्धाख्यकर्माक्षेपकश्रुतेश्च । अन्यापि श्रुतिः पठ्यते 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां, द्विषन्तः पापकृत्या'मिति । ज्ञानभोगाभ्यां कर्म-

---

भाष्यप्रकाशः ।

वा बोधनेन तद्विरोधात् । न च सहकारित्वसूत्रविरोधः । प्रारब्धनाशकत्वेनापि तदुपपत्तेरविरोधात् ॥ १६ ॥ इति षष्ठं तदधिगमाधिकरणम् ॥ ६ ॥

अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ॥ १७ ॥ एतस्याधिकरणस्य न पूर्वशेषत्वमिति बोधनाय पूर्वोक्तमनुवदन्त एतदवतारयन्ति तदेवमित्यादि । अथेत्यादि च । पूर्वपक्षमाहुः तत्रेत्यादि । तस्येति । प्रारब्धस्य । तं विनेति । भोगं विना । अस्यापीति । पुष्टिमार्गीयस्यापि । व्याकुर्वन्ति एकेषामित्यादि । तद्नाश्येति । ज्ञानानाश्येत्यर्थः । 'तस्य पुत्रा' इतिश्रुतिस्तु शाट्यायनिनामस्ति । ननु सूत्रे, एकेषामिति पदेन पुष्टिमार्गीया एव विवक्ष्यन्त इत्यत्र किं गमकमित्याकाङ्क्षायामन्यथानुपपत्तिं तथात्वेनोपपादयन्ति ज्ञानभोगाभ्यामित्यादि । अर्थस्तु प्रकटः ।

रश्मिः ।

अत्रादिना विहितकर्म तत्करणं च गृह्यते । अतादृशैरिति । अग्निहोत्रादिकारकप्रारब्धशून्यैः । अत एवेति । अतादृशत्वादेव । तथात्वं अग्निहोत्रादिकर्तृत्वम् । एतदिति । प्रारब्धतदभावाभ्यामग्निहोत्रादिकरणाकरणम् । सहकारित्वेति । तृतीयस्य चतुर्थचरणेऽस्ति । अत्राश्रमधर्माणां ज्ञानाय सहकारित्वमुक्तमिति तथा । तदुपपत्तेरिति । आश्रमधर्मोपपत्तेः ॥ १६ ॥ इति षष्ठं तदधिगमाधिकरणम् ॥ ६ ॥

अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ॥ १७ ॥ तदेवमित्यादीति । मर्यादयेति । एतस्मै जीवायैतदेतत्कर्म कारयित्वैतदेतत्फलं दास्यामीति सृष्ट्यादौ इच्छाविषया मर्यादा तस्याम् । मर्यादायामग्निहोत्रादिकारकं प्रारब्धं निवेश्य मुक्तिप्रतिबन्धसम्भवोऽस्ति । अग्निहोत्रादिनैव प्रारब्धनाशाय भोगवदग्निहोत्राद्यपि क्रियत इति कर्मणा मुक्तिप्रतिबन्धसम्भवः । तयैवेति । मर्यादयैव मुक्तेः प्रतिबन्धोत्पादस्तस्य नाशश्च सनकादीनामिव । मुक्तिप्रतिबन्धकं कर्मेत्युक्तम् । नश्यतीति । अग्निहोत्रादिना नश्यति । अत्र संशये पूर्वकोटौ 'कर्मणा कर्मनिर्हार' इतिवाक्यं बीजं, द्वितीयस्यां कोटौ, 'ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमा' इतिवाक्यं बीजम् । भाष्ये तन्नश्यति, प्रारब्धं नश्यति । ज्ञाननाश्यत्वेति । श्रुतिस्तूक्ता । हेत्वन्तरमाहुः ब्रह्मविद इति । श्रुतिस्तु 'धर्मान्न प्रमदितव्य'मिति शिक्षायाम् । 'आचार्यवान् पुरुषो वेदे'ति छान्दोग्ये । 'आचार्यः पूर्वरूपं अन्तेवास्युत्तररूपं विद्या सन्धिः प्रवचनꣳसंधान'मिति तैत्तिरीये । प्रवचनं प्रारब्धं विना नेति प्रारब्धाख्यकर्माक्षेपकं प्रवचनादि । 'येन विना यदनुपपन्नं तत्तेनाक्षिप्यत' इतिन्यायात् । तस्येति । पुष्टिमार्गीयस्येत्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

अन्ये तु, अतोऽग्निहोत्रादेर्नित्यात्मकर्मणोन्याप्यस्ति साधुकृत्या या फलमभिसन्धाय क्रियते । तस्या एष विनियोग उक्त इति व्याकुर्वन्ति । तथा सत्येवं नित्यकाम्यकर्मभेदेन श्रुत्यो-र्विषयभेदे सिद्धे विरोधाभावात् सूत्रे 'चैकेषा'मिति पदेन शाखिनां परामर्शादुभयोरित्यनेन जैमिनिबादरायणयोराचार्ययोः परामर्शाच्छ्रुतौ सूत्रे चानुपपत्त्यभावात् कथमधिकारिकृतविषय-भेदावगमः, कथं च प्रारब्धकर्मणोत्र विषयत्वावगम इत्याकाङ्क्षायां तद् दूषयितुमाहुः न चेत्यादि । तथा चैवं नित्याग्निहोत्रादेरस्या विषये भेदितेपि, 'तदधिगमा'दिसूत्राद्विषयो न भिद्यत इति, 'तद्यथेषीकातूलं' 'यथा पुष्करपलाश आपः', 'उभे ह्येवैष एते' इत्येताभ्यो विषयभेदा-भावात्तासां विरोधो दुष्परिहरः । न च येषामश्लेषो व्याख्यातः, तेषां विद्यमानत्वादयं तेषां विनियोग इति विषयभेदात् सुपरिहर इति वाच्यम् । विद्यमानाश्लेषस्य प्रागेव दूषितत्वात् । ज्ञानोत्तरं स्वर्गादिलौकिककामनोत्पत्त्यसम्भवेन काम्यायाः साधुकृत्याया उत्पत्तेर्वक्तुमशक्यत्वाच्च श्रुतौ पापकृत्याविनियोगस्याप्युक्तत्वेन तस्यां च फलाभिसन्धानासम्भवेन काम्यत्वासम्भवाच्च

रश्मिः ।

साधुकृत्यापापकृत्यासहितत्वात् । न ब्रह्मविद इत्यर्थे ज्ञाने न कृत्ययोर्नाशात् । मर्यादाभक्तस्येत्यर्थे भक्तेः पूर्वमेव तन्नाशात् । साधारणस्येत्यर्थे प्रायपाठविरोधः । अतः पुष्टिमार्गीयसम्बन्धिनीं साधुकृत्यां भगवदनुग्रहेण सुहृत्सु गच्छन्तीं ते गृह्णन्ति, तथा पापकृत्यां द्विषन्तो गृह्णन्तीत्यर्थः । **प्रकृते** । **अन्यथानुपपत्तिमिति** । विषयभेदकल्पनमन्तरोक्तरीत्या श्रुत्यर्थासम्भवे 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' इति, 'नाभुक्तं क्षीयते कर्मे'ति च श्रुत्यास्याः 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ती'त्यस्या विरोध इत्यर्थापत्तिः । अन्यथानुपपत्तिस्तु जीवन् देवदत्तो गृहे नास्तीत्यत्र जीवनसंसृष्टगृही-भावबहिर्भावयोः प्रमेययोः संसृष्टबुद्धिरूपप्रमेयं तस्याः कारणमित्यन्यथानुपपत्तिरत्र ताम्, तथा च ज्ञानभोगाभ्यामिति भाष्ये विरोधेत्यन्तभाष्येणान्यथानुपपत्तिनिरूपणं, परिहारायेत्यादिभाष्येणार्था-पत्तिनिरूपणमिति ज्ञेयम् । तथा च **प्रस्थानरत्नाकरे**ऽन्यथानुपपत्तिस्त्वर्थान्तरकल्पनया समाधे-यत्वेनोच्यमानप्रमाणसिद्धयोर्द्वयोरर्थयोः परस्परप्रतिघातः, तत्समाधानायार्थान्तरकल्पनमर्थापत्तिरिति । **तथात्वेनेति** । गमकत्वेन । **प्रकट इति** । **विषयभेद इति** । पुष्टिमार्गरूपविषयस्य भेदः । अन्यस्तु अन्यथानुपपत्तिसमर्थने प्रकट इत्यर्थः । **तस्या इति** । साधुकृत्यायाः काम्यकर्मरूपायाः । **व्याकुर्वन्तीति** । सूत्रं व्याकुर्वन्ति । **श्रुत्योरिति** । अग्निहोत्रादिनित्यकर्मप्रतिपादिका, 'तस्य पुत्रा' इत्यस्याः काम्यकर्मप्रतिपादिका, तयोः । **अधीति** । पौष्टिकमार्यादिकाभ्यामधिकारिभ्यां कृतो यो विषयस्य पुष्टिमार्गरूपस्य भेदावगमः । **अत्रेति** । सूत्रे । **तदिति** । मतं दूषयितुम् । **अस्या इति** । काम्यकर्मप्रतिपादिकायाः 'तस्य पुत्रा' इति श्रुतेः । नित्यत्वकाम्यत्वाभ्यां भेदिते । तदधिगम इत्यादि-भाष्यफलितार्थमाहुः । **तदधिगमादीति** । तदधिगमादिसूत्रं प्राप्य यः काम्यकर्मविषयः स न भिद्यत इत्यर्थः । **एताभ्य इति** । भाष्यतत्प्रकाशभेदेन तदधिगमसूत्रोक्ताभ्यां द्वाभ्यां 'इतरस्ये'ति-सूत्रोक्ता तृतीया एताभ्यः । **विरोध इति** । एताभिरेवैतस्य पुत्रा इति श्रुतेः सहावस्थानसम्भवेपि पृथक् चिन्तने तथा । **येषामिति** । पुण्यपापानां, अश्लेषो ब्रह्मविदि । **अयमिति** । तेभ्यः काम्य-कर्मभ्यः पृथगयं तस्य पुत्रा इति श्रुत्युक्तः । **तेषां** पुण्यपापानाम् । **प्रागेवेति** । तदधिगमसूत्र एव, 'अत्रोत्तरस्योत्पन्नस्याश्लेष इति नार्थ' इत्यादिभाष्येण दूषितत्वात् । पापकृत्यायामिति भाष्यं प्रपञ्चयन्ति स्म । **श्रुतौ पापेति** । **फलाभीति** । कृष्णेच्छाविषयस्य बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनताज्ञानस्य प्रवर्त-

नाशनिरूपकश्रुत्या अस्याः श्रुतेर्विरोधपरिहारायावश्यं विषयभेदो वाच्यः । न च काम्यकर्मविषयेयं श्रुतिरिति वाच्यम् । 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषवि-नाशौ'विति सूत्रेण 'इतरस्याप्येव'मितिसूत्रावयवेन चाविशेषेणारब्धातिरिक्तकर्म-णोरखिलयोर्नाशनिरूपणात् । पापकृत्यायां काम्यत्वासम्भवाच्च । तस्मादत्यनु-ग्रहभाजनस्य भक्तस्य स्वप्राप्तिविलम्बमसहिष्णुर्भगवान् अस्य प्रारब्धमेतत्सम्ब-न्धिगतं कृत्वा तस्य तेन भोगं कारयति । प्रारब्धं भोगैकनाश्यमिति स्वकृतमर्यादापालनाय न नाशयति । न च तयोरमूर्तत्वेनाकृताभ्यागमप्रसङ्गेन च नैवं वक्तुमुचितमिति वाच्यम् । ईश्वरत्वेनान्यथापि करणसम्भवात् । मर्यादा-विपरीतस्वरूपत्वात् पुष्टिमार्गस्य न काचनाऽनुपपत्तिर्भावनीया । तस्या अत्र भूषणत्वात् । अत एवैकेषामिति दुर्लभाधिकारः सूचितः ॥ १७ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

विषयश्रुतिविरोधोपि दुष्परिहरः । अतस्तदभावायावश्यमधिकारिभेदः प्रारब्धात्मककर्मविनियोग-श्चात्राभ्युपेयः । उभयपदे आचार्यद्वयग्रहणमप्यसङ्गतम् । सन्निधौ जैमिनेरश्रुतत्वात् । सामान्य-शब्दस्य चोपस्थितार्थकत्वनियमेन बाधकं विना तत्त्यागायोगात् । अत उक्तरीत्यैव मन्तव्यमित्यर्थः । तदेतच्चतुर्थस्कन्धीये तत्त्वदीपप्रकाशे सम्यग् व्युत्पादितमिति प्रभुचरणैर्नात्रोक्तम् । सिद्ध-माहुः तस्मादित्यादि । पुनः किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति न च तयोरित्यादि । तथा चेदं तथापि तुल्यमतः परिहारसाम्यान्न पर्यनुयोग उचित इत्यर्थः ॥ १७ ॥

रश्मिः ।

कत्वात् । बलवत् यदनिष्टं तस्याननुबन्ध्यजनकं यदिष्टसाधनताज्ञानं तस्येत्यर्थः । **विषयश्रुतिस्तस्य** पुत्रा इति । तस्या **निरोधः**[1] काम्यकर्मविषये सूत्रविषयश्रुतित्वप्रलयो नाशः । **विषयश्रुतिविरोध** इति पाठो वा । विषयश्रुतिसहानवस्थानं तस्य पुत्रा इत्यस्या इत्यर्थः । तथा च तदधिगम इत्यत्र सहावस्थानमित्यर्थः । **तदभावायेति** । तदधिगमाधिकरणे विषयत्वेन प्रवेशाभावाय । **अधिकारीति** । पुष्ट्यधिकारिभेदः । **अप्रारब्धेति**[2] । सञ्चितक्रियमाणकर्मविनियोगः पुष्टिमार्गीत्योक्तः । **सामान्येति** । **एकेषामिति** शाखिपरत्वेन **सामान्यशब्दस्य चोपस्थितार्थो** विशेषार्थः पुष्टिमार्गीयाणामिति, **तदर्थकत्वनियमेन** । **तत्त्यागेति** । पुष्टिमार्गीयाणामित्यर्थत्यागस्य योगाभावात् सामान्यतो विशेषो बलीयानिति । **मन्तव्यमिति** । मननं कर्तव्यम् । **तदेतदिति** । तदधिगम इत्यादिभाष्येणोक्तम् । **तस्मादित्यादीति** । **एतत्सम्बन्धीति** । यथा पूर्णभगवदीयानां शेषव्यासाभिमारुतानामाचार्याणां तत्सम्बन्धिगतकरणम् । **तस्य प्रारब्धस्य** । **तेन** सम्बन्धिना भोगं कारयति । यतः सम्बन्धिनो विरक्ता-नामग्रेसराः । तत्कार्याणि कुर्वन्तीति णिच् । **प्रारब्धमिति** । मर्यादास्वरूपं पुष्टिगतम् । **न च तयोरित्यादीति** । **तयोः** पुण्यपापयोः । **अकृतेति** । सुहृद्द्विषत्सु अकृतस्य कर्मणोऽभ्यागमस्तस्य **प्रसङ्गेन**, कृतनाशाभावात् कृतनाशो नोक्तः । **नैवं वक्तुमिति** । पुष्टिमार्गीयस्य साधुपापयोः सुहृदा-दिषु प्रापणं वक्तुं नोचितम् । **अन्यथापीति** । अमूर्तयोः प्रापणमकृताभ्यागमप्रसङ्गनाशनं च । **अत्रेति** । पुष्टिमार्गे इत्यर्थः । **तस्या इति** । मर्यादामार्गीयानुपपत्तेः । **दुर्लभेति** । 'मुक्तानामपि सर्वेषां नारायणपरायणः । सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने' इति वाक्यात् तथा । **सूचित** इति । वाच्यार्थस्तु पुष्टिमार्गीया इत्युक्तम् । **तथापीति** । तयोरमूर्तत्वेनेत्याद्याशङ्कितुरपि । **परि-**

१. विषयश्रुतिनिरोध इति रश्मिपाठः । २. अप्रारब्धेति रश्मिपाठः ।

यदेव विद्ययेति हि ॥ १८ ॥

ननु 'यदेव विद्यया करोती'ति श्रुत्या विद्यापूर्वकं कर्मकरणे वीर्यातिशयः फलं श्रूयते । अतो ब्रह्मविद्यावतोपि तथात्वस्योचितत्वा'दुत्तरस्याश्लेष' इति यदुक्तम्, तन्नोपपद्यत इति प्राप्ते, आह यदेवेति । हि यस्माद्धेतोस्त्वया 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदे'ति श्रुतिरेव ब्रह्मविदोपि कर्मोत्पत्तिप्रसञ्जिकात्वेनोदाहृता । सा तु न तत्समर्था । तथाहि । 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीते'त्युपक्रम्य तस्य रसतमत्वं मिथुनरूपत्वमनुज्ञाक्षरत्वं त्रयीप्रवृत्तिहेतुत्वं च निरूप्य, एतदग्रे 'यदेव विद्यये'त्याद्युक्त्वा, 'इति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवती'त्युपसंहारादुद्गीथोपासनाविषयमेव 'यदेव विद्यये'ति वाक्यमिति ज्ञायते । तेनोक्तरसतमत्वादिप्रकारकोपासनानां मध्ये यदेव विद्यया करोति, तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति तदर्थ इति न ब्रह्मविद्यागन्धोऽपीति न सा शङ्कात्र सम्भवतीत्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

यदेव विद्ययेति हि ॥ १८ ॥ सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि । तथात्वस्येति । कर्मणो वीर्यवत्त्वस्य । तथा च यदि ब्रह्मविद्यावतः कर्मसंसर्गो न स्यात्, तदेयं श्रुतिर्विद्यया वीर्यवत्तां कर्मणो न श्रावयेत् । अतस्तदन्यथानुपपत्त्याऽश्लेषादिवाक्यानां विद्यास्तावकत्वमेवाङ्गीकार्यमिति पूर्वोक्तं नोपपद्यत इत्यर्थः । परिहारं वक्तुं सूत्रं व्याकुर्वन्ति हीत्यादि । तेनेति । वाक्यस्य प्रकरणावरुद्धत्वेन । तथा चानुपपत्त्यभावान्नैतेषां स्तावकत्वं शक्यवचनमतः पूर्वोक्तं साध्वेवेत्यर्थः । अस्मिन् पक्षे सूत्रयोजना तु, यदेव विद्ययेति वाक्यं हि यतो हेतोः इति प्रकरणावरुद्धम्, तथा च न ब्रह्मविद्यावतः कर्मप्रसञ्जिकेत्यर्थः ।

रश्मिः ।

हारेति । इदं परिहारसाम्यं ग्रहिलतया पुष्टिमार्गानङ्गीकर्तारं प्रत्युक्तं बोध्यम् । स्वमार्गे पुष्टिमार्गाङ्गीकारेण परिहारस्य कृतत्वात् । **पर्यनुयोग** इति । नैवं वक्तुं युक्तमित्यनेनोक्तः पुष्टिमार्गीयस्य साधुपापयोः सुहृदादिषु प्रापणं वक्तुं नोचितमित्येवंरूपो नोचित इत्यर्थः । 'यत्रोभयोः समो दोषः परिहारश्च तत्समः, नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारण' इति वाक्यात् ॥ १७ ॥

यदेव विद्ययेति हि ॥ १८ ॥ तदन्यथेति । अन्यथानुपपत्तिः पूर्वसूत्र उक्ता । अत्रार्थान्तरस्य यदेवेतिवाक्यस्य प्रकरणावरुद्धत्वस्य कल्पना तया समाधेयत्वेनोच्यमानप्रमाणसिद्धयोर्द्वयोर्ब्रह्मविद्यावत्कर्मसंसर्गाभावविद्याकर्मवीर्यवत्तयोरर्थयोः परस्परप्रतिघातोन्यथानुपपत्तिः । **पूर्वोक्तमिति** । अश्लेषादिवाक्योक्तं ब्रह्मविद्यावतः कर्मसंसर्गाप्रसञ्जनम् । **नोपपद्यत** इति । परस्परप्रतिघातरूपान्यथानुपपत्तिरुक्ता । अग्रे **भाष्ये** । **इति प्राप्ते** नामान्यथानुपपत्तिप्राप्ते । **आह** अर्थापत्तिरूपं सूत्रमाहेत्यर्थः । अर्थापत्तिस्तूक्तपरस्परप्रतिघातसमाधानायार्थान्तरस्य यदेवेति वाक्यस्य प्रकरणावरुद्धत्वस्य कल्पना । **हीत्यादीति** । **त्वयेति** । कर्मवादिना । **तत्समर्थेति** । ब्रह्मविदः कर्मोत्पत्तिप्रसञ्जनसमर्था । विषयश्रुतेश्छान्दोग्यीयप्रथमप्रपाठकोपसंहारस्थत्वेन प्रकरणद्योतनार्थं प्रपाठकार्थं स्मारयन्ति स्म **तथाहीत्यादिना** । **तदर्थ** इति । विषयश्रुत्यर्थः । इत्यक्षरविद्यायाः कर्माङ्गत्वप्रतिपादकविषयवाक्ये न ब्रह्मविद्यागन्धोपीति, सा, अनया श्रुत्या ब्रह्मविद्यावतोपि कर्मणो वीर्यवत्त्वस्योचितत्व-

यद्वा । उक्ताशङ्कानिरासायैवाह यदेवेति । ब्रह्मविद्धि प्रारब्धक्षयायैव कर्म कुरुते, तत्त्वन्यकृतात् कर्मणः सकाशात् सवासनतन्नाशनाद् वीर्यवत्तरं भवत्येवेति नानुपपत्तिः काचिदित्यर्थः ।

यद्वा । ननु पुष्टिमार्गीयस्य प्रारब्धस्यापि भोगं विनैव नाश इति श्रुत्वाऽसम्भावनां कुर्वाणं प्रति कैमुतिकन्यायेन तत्परिहारमाह यदेवेत्यादि । जीवनिष्ठा विद्या हि भगवज्ज्ञानशक्तेरंशभूता । एवं सति यत्र धर्मसम्बन्धिसम्बन्धादन्येभ्योऽतिशयं कर्मणि वदति श्रुतिः, तत्र साक्षाद्धर्मिसम्बन्धेऽतिशयितकार्यसम्पत्तौ कथमसम्भावना कर्तुमुचितेति निगूढाशयः । अत एव हेतुवाची हिशब्दः ॥ १८ ॥

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाथ सम्पद्यते ॥ १९ ॥

पुष्टिमार्गीयफलप्राप्तौ प्रतिबन्धाभावं सोपपत्तिकमुक्त्वा तत्प्राप्तिप्रकारमाह ।

भाष्यप्रकाशः ।

श्रद्धोपनिषदोः साधारणत्वात् तत्समभिव्याहृताया विद्याया अपि साधारण्यमेवोचितम्, न तु सङ्कोचनमिति कश्चिच्छङ्केत, तदर्थं प्रकारान्तरेणार्थमाहुः । यद्वा । उक्ताशङ्केत्यादि । सवासनतन्नाशनादिति । सवासनप्रारब्धनाशनात् । तथा च सङ्कोचाभावेपि पूर्वोक्तार्थसिद्धिरप्रत्यूहेति न तेषां स्तावकत्वमित्यर्थः । एतेन जन्मादिसूत्रभाष्ये व्युत्पादितं पूर्वोत्तरकाण्डयोः परस्पराङ्गत्वमपि समर्थितं ज्ञेयम् ।

पूर्वोक्तमर्थं सगृह्णन्त एतत्सूत्रस्य तात्पर्यान्तरमाहुः । यद्वा नन्वित्यादि ॥ १८ ॥

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाथ सम्पद्यते ॥ १९ ॥ भाष्यमत्रातिरोहितार्थम् । अत्र

रश्मिः ।

रूपा शङ्केत्यर्थः । **एतेषामिति** । अश्लेषादिवाक्यानाम् । **पूर्वोक्तमिति** । पूर्ववत् । **श्रद्धेति** । 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा वे'ति श्रुतावुक्तयोः । **साधारणत्वादिति** । सकलविद्यासाधारणत्वात् । **तत्समभिव्येति** । श्रद्धोपनिषत्समभिव्याहृतायाः 'यदेव विद्यये'त्युक्ताया विद्याया अप्युद्गीथानुद्गीथसाधारण्यमेवेत्यर्थः । **सङ्कोचनमिति** । उद्गीथविद्यामात्रपरत्वेन सङ्कोचनम् । **तेषामिति** । अश्लेषादिवाक्यानाम् । **जन्मादीति** । जन्मपदादादिसूत्रं जिज्ञासासूत्रम् । तस्य भाष्ये इत्यर्थः कर्तव्यः । व्युत्पादितं जिज्ञासासूत्रभाष्य इति । **भाष्ये । नानुपपत्तिरिति** । अनुपपत्तिर्ब्रह्मविदः कर्मणो वीर्यवत्तरत्वस्य । **कुरुते** । **तात्पर्यान्तरमिति** । पूर्वार्थोभिधेयो द्वितीयार्थस्तात्पर्यरूपः, वक्ष्यमाणस्तृतीयोर्थस्तात्पर्यान्तररूपस्तमाहुरित्यर्थः । **यद्वा नन्वित्यादीति** । **तत्परीति** । असम्भावनापरिहारम् । **अंशभूतेति** । अस्तिभातिप्रियत्वेन समन्वयाधिकरणे समन्वयोक्तेस्तथा । कैमुतिकन्यायं विवृण्वन्ति स्म । **यत्र धर्मेति** । धर्मो ज्ञानं तस्य सम्बन्धोऽस्यास्तीति धर्मसम्बन्धिन आचार्यास्तत्सम्बन्धादित्यर्थः । **निगूढेति** । संवृततात्पर्यसम्बन्ध्यन्तःकरणम् । **अत एवेति** । उक्ताशङ्कानां सत्त्वादेव, तन्निरासक'यदेव विद्ययेतिही'तिहेतुप्रतिपादकं सूत्रम् ॥ १८ ॥

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाथ सम्पद्यते ॥ १९ ॥ अतिरोहितार्थमिति ।

इतरे अग्रे प्राप्यालौकिकदेहाद्भिन्ने स्थूललिङ्गशरीरे क्षपयित्वा दूरीकृत्य, अथ भगवल्लीलोपयोगिदेहप्राप्त्यनन्तरं भोगेन सम्पद्यते । 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति श्रुत्युक्तेन भोगेन सम्पद्यत इत्यर्थः । श्रुत्यर्थस्त्वानन्दमयाधिकरणे निरूपितः। अलौकिकत्वं विनोक्तदेहं विना चोक्तफलप्राप्तेर्व्यवच्छेदकस्तुशब्दः ॥ १९ ॥

इति सप्तममतोन्याधिकरणम् ॥ ७ ॥

इति श्रीवेदव्यासमतवर्तिश्रीवल्लभाचार्यविरचिते श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ ४ ॥ १ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

क्षपणं च कुरुक्षेत्रप्रसङ्गे व्रजभक्तानां जीवकोशध्वंसरूपम् । भोगश्च तदनन्तरदर्शनादिरूपो जीवद्दशायामेव भवतीत्यवान्तरफलपरिसमाप्तिरिति मम प्रतिभाति । अत्यन्तानुग्रहे तु स्थूलस्य लोकवत् क्षपणम्, सूक्ष्मस्य, 'वाङ्मनसी'ति वक्ष्यमाणरीत्या ततस्तद्व्यवहितमेवालौकिकदेहप्राप्त्या भोगसम्पत्तिरिति ज्ञेयम् ।

अत्र मतान्तरीयव्याख्यानस्यादूषणात् तदपि ज्ञानमार्गीयमर्यादाभक्तिमार्गीयपरतया सङ्ग्राह्यमिति सूचितं ज्ञेयम् ॥ १९ ॥

रश्मिः ।

प्रतीति । प्रारब्धनाशकमर्यादां पुष्टौ निवेश्य प्रारब्धादिप्रतिबन्धानामभावमुपपत्तिः कैमुतिकन्यायस्तया सहितम् । **इतरे इति** । भोगस्य पौष्टिकप्रारब्धाविनाशेऽकरणत्वात् । **सम्पद्यत इत्यत्र** करणत्वात् तेनान्वयः । **अलौकिकत्वमिति** । इतरे क्षपयित्वाऽलौकिकत्वम् । **अथ भगवल्लीलोपयोगिदेहप्राप्त्यनन्तरमित्यत्राथशब्दार्थघटकमुक्तदेहं प्राप्य तु भोगेन सम्पद्यते न तु तौ विनेत्येव** व्यवच्छेदकस्तुशब्द इत्यर्थः । **एवमतिरोहितार्थम्** ।

अत्रेदमुच्यते । अवसाने भोगेन सम्पद्यत इति फलोक्त्या प्रथमसूत्रादारभ्य 'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत, दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना' इत्यस्मिन् श्रुत्युक्तफलविस्तारके मुख्यफलमुक्तं सन्दिग्धत्वाद् अन्येषां फलानां प्रसङ्गं विना नोक्तिरतोसन्दिग्धफलप्रतिपादकानां न विषयवाक्यत्वम् । फलेभ्यः पातस्तु वर्तत इति, फलावृत्तिः सन्दिग्धोक्ता, अनावृत्तिश्च, न फलविचारः कृतः । फलानां सर्वत्रासन्दिग्धत्वात् । भोगेन सम्पत्तिर्भगवत्सेवनमिति ।

प्रकृतमनुसरामः । षष्ठाधिकरणे मतान्तरमविरुद्धतया नीतं, तत्रापि परेषामग्निहोत्राद्यधिकरणमेकसूत्रात्मकं प्रविष्टम् । तत्राग्निहोत्रादिकर्म नश्येन्नो वेति संशयेनुष्ठितं यदग्निहोत्रादिकर्म तस्यापि काम्यकर्मवदकर्त्रात्मबोधवस्तुमहिम्ना नाशोभ्युपेयत इति पूर्वपक्षे द्वावंशौ नित्यकर्मण एकोंशः प्राधान्येन चित्तशुद्धिप्रदोपरोंशोनुषङ्गेप्यस्वर्गादिफलप्रदस्तस्य नाशोस्तु नाम, चित्तशुद्धिप्रदस्य तु विद्यायामुपयुक्तत्वान्न नाशो वक्तुं शक्यः । न हि लोके भोगेनोपक्षीणं व्रीह्यादिकं नष्टं मन्यन्ते । यत्तु ज्ञानादूर्ध्वं नित्यं कर्म तस्य काम्यवदश्लेष इति **व्याख्यानस्य** । अत्राधिकरणे तु मतान्तरनामापि नास्तीत्यत्राहुः । **अत्रेत्यादि** । सप्तमाधिकरणे । **मतान्तरीयव्याख्यानस्येति** सूत्रत्रये प्रत्येकमधिकरणद्वयम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

इति सप्तममतोन्याधिकरणम् ॥ ७ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणनखचन्द्रनिरस्तहृद्यध्वान्तस्य श्रीपीताम्बरात्मजस्य पुरुषोत्तमस्य कृतौ भाष्यप्रकाशे चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ ४ ॥

समाप्तः प्रथमः पादः ॥ १ ॥

रश्मिः ।

तत्रातोन्यापीत्येकं सूत्रं विनियोगवाक्यं परेषां तद्विषये तत्रैव प्रकाशे किञ्चिदुक्तम् । 'यदेव विद्यये'त्यधिकरणे विद्यासाधनं नित्यं कर्म द्विविधम् । अङ्गावबोधोपास्तिसहितम्, तद्रहितं च । विद्यासाधनमङ्गावबोधोपास्तिसहितं तद्रहितं वेति संशये सोपासनस्य कर्मणः प्रशस्तत्वात् तदेव विद्यासाधनं न तूपास्तिरहितमिति पूर्वपक्षे, सोपासननिरुपासनयोस्तारतम्येन विद्यासाधनत्वं 'यदेव विद्यये'ति श्रुतेः सिद्धान्त इति **व्याख्यानस्य** । तथा 'भोगेने'त्यधिकरणे अधिकारिपुरुषाणां मुक्तिरस्ति न वेति सन्देहेधिकारिपुरुषाणां नास्ति मुक्तिः, प्रारब्धभोगाय बहुषु जन्मसु स्वीकृतेषु तत्र पूर्वार्जितविद्यायां तु लुप्तायां यत्कर्म क्रियते तस्य फलप्रदत्वे सत्युत्तरोत्तरजन्मपरम्परायाः अवश्यम्भावित्वादिति पूर्वपक्षे, आरब्धकर्म स्वफले सुखदुःखे भोजयेत्, तदर्थमेव प्रवृत्तत्वात् । न हि विद्याविलोपार्थं किञ्चित्कर्म पूर्वमनुष्ठितम्, येन कर्मवशाद्विद्यालोप आशङ्क्येत । न मरणव्यवधानमात्रेण विद्याविद्याविलोपः, सुषुप्तिव्यवधानेन तल्लोपादर्शनात् । अतो विद्यायामवस्थितायां बहुभिरपि क्रियमाणैः कर्मभिरश्लेषादस्त्यधिकारिणां मुक्तिः । यद्यप्येतद्गुणोपसंहारपादे निर्णीतं, तथापि तस्यैवाक्षेपसमाधाने इत्यनवद्यमिति **व्याख्यानस्येत्यर्थः** । शङ्कराचार्यमतेधिकरणानि चतुर्दश । 'अतोन्यापि ह्येकेषा'मित्यस्य विनियोगवाक्यत्वात् । **ज्ञानमार्गीयेति** । 'यदेव विद्यये'त्यत्रोक्तसिद्धान्तस्य स्वमते कर्मणाध्यात्मिकचित्तशुद्धौ ज्ञानमिति साधनकर्मपरतया सङ्ग्राह्यत्वम् । 'भोगेने'त्यत्रोक्तसिद्धान्तस्तु मर्यादाभक्तिमार्गीयाधिकारिमुक्तिपरतयेति बोध्यम् । **सूचितमिति** । सूत्रयोरधिकरणात्मकयोः सर्वतोमुखत्वाद् व्यञ्जनया वृत्त्यार्पितमित्यर्थः ॥ १९ ॥

इति सप्तममतोन्याधिकरणम् ॥ ७ ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरैश्वर्यनिरस्तसमस्तान्तरायेण श्रीगोविन्दरायजित्पौत्रेण सम्पूर्णवेश्मा विठ्ठलरायजिद्भ्रात्रीयगोकुलोत्सवात्मजगोपेश्वरजिता कृते भाष्यप्रकाशस्य रश्मौ चतुर्थाध्यायस्य प्रथमपादः सम्पूर्णतामगमत् ॥ ४ ॥

समाप्तः प्रथमः पादः ॥ १ ॥

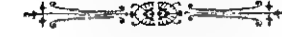
श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम् ।

भाष्यप्रकाश-रश्मि-परिबृंहितम् ।



अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

द्वितीयः पादः ।

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥ १ ॥ (४-२-१).

पूर्वपादे लौकिकशरीरे क्षपयित्वा अलौकिकं तत्प्राप्य फलेन सम्पद्यत इति निरूपितम् ।

अथात्रेदं चिन्त्यते भक्तस्य सूक्ष्मशरीरस्य क्षपणं नाम किं तत्स्वरूपनाशनम्, उत मणिस्पर्शादयसश्चामीकरत्वमिव तस्यैवालौकिकत्वसम्पादनं भगवदनुग्रहादिति ।

भाष्यप्रकाशः ।

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥ १ ॥ अथ द्वितीयपादं व्याचिख्यासवः पादार्थानां तत्सङ्गतेश्च पूर्वं कारिकाभिर्निरूपितत्वादिहाधिकरणसङ्गतिं वक्तुं अतीतपादान्ते यन्निरूपितं तदनुवदन्ति पूर्वपाद इत्यादि । अलौकिकं तत् प्राप्येति । अलौकिकं देहं लब्ध्वा । अलौकिकदेहस्वरूपं त्वग्रे वक्तव्यम्, 'ब्राह्मेण जैमिनि'रित्यादिभिः । प्रकृतं वक्तुमाहुः । अथेत्यादि । तदनन्तरमवसरसङ्गत्या एतत्पादारम्भे प्रकृतं वक्तुं तदुपोद्घाततया इदं वक्ष्यमाणं विचार्यत इत्यर्थः । तदाहुः भक्तेत्यादि । एवं संशयमुक्त्वा पूर्वपक्षमाहुः । अत्रेत्यादि । तथात्रापि वक्तुमुचितत्वादिति । सूक्ष्मलिङ्गशरीरात्मकं प्राणेन्द्रियादिष्वपि द्वितीयस्य चतुर्थपादे 'तथा प्राण' इत्यत्र

रश्मिः ।

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥ १ ॥ पादार्थानामिति । पादार्थस्तु म्रियमाणस्याग्रिमावस्थोक्ता । अनुवदन्तीति । सिद्धस्य कथनमनुवादः । भाष्ये । निरूपितमिति । सन्दिग्धत्वात् फलत्वात् फलप्रसङ्गायातत्वाच्च निरूपितम्, परमतनिराकरणेन स्वमतं स्थापितम् । प्रकृते । प्रकृतमिति । पादार्थम् । तदिति । वक्ष्यमाणम् । भक्तस्येत्यादीति । भक्तस्येत्यपि पाठः । अयस इति । लोहस्य सुवर्णत्वमिव । तेनाधिकरणसङ्गतिः सामान्यविशेषभावरूपोक्ता । क्षपणसामान्यविशेषयोरुभयोरधिकरणयोः सत्त्वात् । पादार्थसङ्गतिस्तु जीवतोऽग्रिमावस्थानिरूपणानन्तरं म्रियमाणस्यावस्थाया अधीतश्रीभागवतस्य स्मरणात् काग्रिमावस्था म्रियमाणस्येति जिज्ञासया पादनिरूपणा-

तत्रोत्तर एव पक्षः साधीयानिति भाति । तथाहि । यथा पूर्वं संसारिण एव जीवस्य तदनुग्रहात् पूर्वावस्थापगमो मुक्त्यवस्था चोच्यते, तथात्रापि वक्तुमुचितत्वात् । 'न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्त' इति श्रुतिस्तु जीवस्य सायुज्यमुक्तिकाले तत्प्राणादीनामपि तथैवाह, अत एवाग्रे 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'त्युच्यते । पुष्टिमार्गीयस्योक्तमुक्त्यभावान्नेयं तद्विषयिणीति प्राप्ते प्रतिवदामः । ब्रह्मांशत्वेन जीवस्यानन्दात्मकत्वान्निर्दोषस्वरूपत्वान्नित्यत्वाच्च दोषाणां चागन्तुकत्वात्तदपगमे तस्य तथात्वमुचितम् । प्राणादयस्तु न तादृशा इति तद्दृष्टान्तेनात्रापि तथात्वं न वक्तुं शक्यम् । 'देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठ-

भाष्यप्रकाशः ।

जीवातिदेशेन जीववन्नित्यत्वाद्यङ्गीकाराल्लौकिकावस्थापगमस्यालौकिकावस्थाप्राप्तेश्च वक्तुमुचितत्वात् । तथैवाहेति । कारणभूते सति लयमाह । तथा च पुष्टिमार्गे तेषामलौकिकत्वापादनपक्ष एव साधीयानित्यर्थः । सिद्धान्तमाहुः ब्रह्मांशत्वेनेत्यादि ।

अयमर्थः । श्रुतौ हि त्रिविधा सृष्टिरभिप्रेतेति ज्ञायते । ब्रह्मवित्प्रपाठके आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वपरिचायनार्थं 'तस्माद्वा एतस्मा'दित्यादिना 'सोकामयते'त्यादिना 'स आत्मान५ स्वयमकुरुते'ति वारत्रयं कथनात् । श्वेतकेतूपाख्याने च कार्यस्य कारणानन्यत्वं मृत्पिण्डनखनिकृन्तनलोहमण्यात्मकदृष्टान्तत्रयकथनाच्च । तासु विधासूच्चनीचभावोपि मृदपेक्षया अयसः, तदपेक्षया लोहस्योत्कृष्टतायाः सर्वजनीनत्वात् । ब्रह्मवित्प्रपाठकेपि 'सोऽकामयते'त्यादिना पूर्वमुक्तायाः सृष्टेः 'असद्वा इदमग्र आसी'दित्यनेनासत्त्वकथनपूर्वकं 'तदात्मान५ स्वयमकुरुते'ति सृष्टेः सुकृतत्वश्रावणाच्च । तदेतत्सृष्टित्रयं तदुत्कर्षादिकं च पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थे आचार्यचरणैः 'इच्छामात्रेण मनसे'त्यत्र सूचितम् । तत्प्रपञ्चोऽस्मत्पितृचरणकृतात्तद्विवरणादवगन्तव्यः । एवं सति यत पुष्टिमार्गीया जीवा मार्यादिकसृष्टिपातिनः, तत्र ब्रह्मांशत्वेन जीवस्यातिरोहितानन्दत्वं तत्र तस्यानन्दात्मकत्वान्निर्दोषस्वरूपत्वाच्च जीवस्य तथात्वं युक्तम् । प्राणादयस्तु सृष्ट्यन्तरस्थाः 'असद्वा इदमग्र आसीत्तदाहुः किं तदसदा-

रश्मिः ।

न्निर्वाहकसङ्गतिः । अत्रेत्यादीति । तत्रेत्यपि पाठः । सायुज्येति । सह युनक्तीति सयुक् सयुजो भावः सायुज्यम् । पूर्वपक्षे तु सायुज्यपदमैक्ये रूढम् । तथासौ मुक्तिः सायुज्यमुक्तिः तस्याः काले । सतीति । विशेष्यम् । न तु सप्तम्यर्थः । भाष्ये । अत एवाग्र इति । बृहदारण्यके शारीरब्राह्मणेऽग्रे । प्रकृते । तेषामिति । प्राणादीनाम् । भाष्ये । उक्तमुक्तीति । सायुज्यमुक्त्यभावात् । तद्विषयिणीति । पुष्टिमार्गविषयिणी । प्रकृते । त्रिविधेति परम्परात्वविधा, इच्छाद्वाराविधा, आत्मरूपाविधेति त्रिविधा । लोहस्येति । सुवर्णस्य । पुष्टिमार्गीया इति । जयविजयवत्पाते भगवद्भावाच्च्युतौ मार्यादिकसृष्टिपातिनः । जयविजययोः क्रोधादीश्वरे मन आवेशनं मानसी । अतिर इति । मर्यादामार्गीयस्य यदृच्छया प्राप्तस्याम्बरीषवत्तत्र सत्त्वात् । मार्यादिकसर्वात्मभावे तु तत्र फलं निरोधलक्षणग्रन्थोक्तं 'सच्चिदानन्दता तत' इतिवाक्योक्तमिति । तत्र मर्यादायाम् । तस्य जीवस्य । तथात्वमिति । पुष्टौ भगवदनुग्रहेण दोषाणामुद्वेगप्रतिबन्धभोगानामवैराग्यामुमुक्षुत्वाशमदमादीनां चापगमे तथात्वमानन्दात्मकत्वम् । प्राणादय इति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म प्राणादय इति । सृष्ट्यन्तरेति । पुष्टिसृष्टिरन्यस्यां सृष्टौ । श्रुताविति । अर्थस्तु स्पष्टः । न तादृशा इत्यस्य

पुरवासिना'मिति श्रीभागवतवाक्याच्च । न च लौकिकत्वविशिष्टदेहादिरत्र निषिध्यत इति वाच्यम् । सामान्यनिषेधे बाधकाभावात् । नच तदनुभव एव बाधक इति वाच्यम् । भगवत इव तदीयानामपि तेषां तथात्वे बाधकाभावात् । नन्वागन्तुकत्वमेव बाधकमिति चेत् । मैवम् । यथा व्यापिवैकुण्ठस्याक्षरात्मकत्वेनानागन्तुकत्वेन नैसर्गिकतद्गताखिलवस्तुरूपत्वेन सामीप्यादिमुक्तिं प्राप्नुवतां भक्तानां देहेन्द्रियादिरूपमप्यनागन्तुकमेव वैकुण्ठप्राप्तिमात्रेण शुद्धजीवानां सम्पद्यते, तदीयत्वेन तत् फलतीति यावत्, तथा पुरुषोत्तमलीलाया अपि पुरुषोत्तमात्मकत्वात्तत्राङ्गीकारमात्रेण प्राचीनाशेषप्रावाहिकधर्मनिवृत्तौ शुद्धजीवस्य पुरुषोत्तमलीलात्मकदेहादिरपि तदीयत्वेन सम्पद्यत इति नानुपपन्नं किञ्चिदित्यवहितोऽवेहि ।

अयमेवार्थो वाजसनेयिशाखायां 'अथाकामयमान' इत्युपक्रम्य, 'आत्मकाम

भाष्यप्रकाशः ।

सीदित्यृषयो वा व तेऽग्रे असदासीत्तदाहुः के ते ऋषय इति प्राणा वा ऋषय' इति वाजिनां श्रुतौ प्राणा असत्पदेनासाधुतया श्राविता इति पुष्टिसृष्टिस्थत्वाभावान्न तादृशाः । धर्मान्तरैर्जीवतौल्येपि स्वरूपतो न जीववन्निर्दुष्टा इति जीवदृष्टान्तेन प्राणादिरूपे सूक्ष्मशरीरे लौकिकत्वापगमेनालौकिकत्वं न वक्तुं शक्यम् । अयं च पक्षो, 'देहेन्द्रियासुहीनाना'मिति सप्तमस्कन्धवाक्येनोपष्टभ्यते । अतस्तत्त्यागपक्ष एव साधीयानित्यर्थः । उक्तवाक्य एव किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति न च लौकिकेत्यादि । अत्रेति । एतद्वाक्ये । तदनुभव इति । देहाद्यनुभवः । तथात्व इति । ब्रह्मात्मकत्वे । पुनः किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति नन्वित्यादि । मैवमित्याद्यवेहीत्यन्तं च । अनागन्तुकमेवेति । यथा लौकिकेषु देहादिषु प्रकृतिर्मूलकारणतयाऽनुसीव्यति, एवं जीवेऽक्षरमन्वेति । 'यथा प्रदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपा' इति, 'यदक्षरे परमे प्रजा' इति च श्रुतेः । तच्च सर्वत्र सर्वात्मकमिति जीवांशिभूतस्य तस्य आकारो जीवरूपेंऽशे नैसर्गिक एवेत्यनागन्तुकम् । तदीयत्वेन तत्फलतीति । अग्रे 'ब्राह्मेण जैमिनि'रित्यत्राङ्गीकरिष्यमाणत्वादावरणभूतलौकिकापगमे भगवद्भक्तस्तदीयत्वेन फलतीत्यर्थः । दार्ष्टान्तिके तु बादरायणसूत्रोक्तः पुरुषोत्तमात्मकस्तदीयत्वेन सम्पद्यत इति ज्ञेयम् । एतं पक्षं श्रुत्योपष्टभ्नन्ति । अयमेवेत्यादि । श्रुति

रश्मिः ।

विवरणं धर्मान्तरैरित्यादि । शरीरादिभिः । निर्दुष्टा इति । असत्पदेन श्रुतौ मृत्युत्वस्य नास्तिकत्वस्योक्त्या सर्वमारकत्ववेददूषकत्वदोषवन्त इति न निर्दुष्टाः । सूक्ष्मेति । प्राणर्षीणां सूक्ष्मशरीरे । तथात्वमित्यस्य व्याख्यानमलौकिकत्वमिति । देहेन्द्रियेति । भाष्यं विवृण्वन्तिस्म । अयं चेति । सूक्ष्मशरीरस्य क्षपणपक्षः । तत्त्यागेति । प्राणादीनां त्यागपक्षः । प्रकृतिरिति । पुराणमतमिदम् । मायाद्वारा सृष्टौ ब्रह्मकर्तृ माया समवायिकारणमिति । श्रुतेरिति । दृष्टान्तश्रुतेः । पूर्वश्रुत्येकवाक्यतया 'यदक्षर' इत्यत्रापि अक्षरे समवायिनीत्यर्थः । कपालयोर्घट इतिवत् । दार्ष्टान्तिकश्रुतिस्तु 'तथाक्षराद्विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्त' इति मुण्डकस्था । यद्वा, महानारायणस्थं 'यदक्षर'इतिदार्ष्टान्तिकम् । तच्चेत्यक्षरम् । 'द्विरूपं तद्धि सर्वं स्या'दिति सिद्धान्तमुक्तावलीवाक्यम् । आकार इति । निराकारस्याकारः सर्वात्मभाववतां नित्यलीलाप्रविष्टानां च । छान्दोग्ये नारदसनत्कुमारसंवादे 'तस्य वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानतः आत्मतः प्राण आत्मतः आशात्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्म-

आप्तकामो भवति, न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'त्यन्तेन वाक्येन निगद्यते। अत्र प्राणशब्देन प्राणाः सर्वेन्द्रियाणि चोच्यन्ते। आत्मकामशब्दे भगवद्वाचकात्मपदग्रहणेन भक्तस्य स्नेहातिशयजनितप्रभुदिदृक्षार्त्यतिशयस्तादृशो येन मरणमेव सम्पद्येत, यदि प्रभुप्राकट्ये क्षणमपि विलम्बः स्यात्। अतो भगवत्प्राकट्येनैवात्मस्थितिरिति ध्वन्यते। भक्तिमार्गे प्राकट्यस्यैव परमफलत्वेन तद्दर्शनेनाप्तकामो भवति। ततः साक्षादाश्लेषादिकामनायां प्राचीनदेहप्राणादेस्तदयोग्यत्वात्ते तत्रैव लीना भवन्ति।

भाष्यप्रकाशः।

व्याकुर्वन्ति अत्र प्राणेत्यादि। ध्वन्यत इति। तात्पर्यवृत्त्या बोध्यते। तात्पर्यवृत्तिस्तु मया प्रस्थानरत्नाकरे व्युत्पादिता ततो ज्ञेया। अत्रैव लीना भवन्तीति। अन्तःप्रकटे पुरुषोत्तमस्वरूप एव लीना भवन्ति। ननु पुरुषोत्तमात्मकलीलोपयोगिदेहप्राप्त्या ब्रह्मभाव एव श्रुत्य-

रश्मिः।

तस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावा'वित्यादि। अत्र तस्येति पूर्वं सर्वात्मभावनिरूपणात् सर्वात्मभाववत इत्यर्थात्। नलकूबरादेरिति, आदिर्गजेन्द्रः। 'सच्चिदानन्दता तत' इत्यानन्दस्य साकारत्वात्। नलकूबरमणिग्रीवगजेन्द्रादिमुक्तीनामौडुलोमिमतसिद्धत्वादानन्दाकारस्य श्यामत्वाद्यदि विभाव्येत तदा तु तदीयत्वेन तत्फलतीति प्रतीकसहितग्रन्थो हेयः। तत्रत्योग्रे आत्रेण जैमिनिरित्यत्राङ्गीकरिष्यमाणत्वाच्चेति चकारं पूरयित्वा हेतुर्ग्राह्यः। उपष्टभ्नन्तीति। श्यादिरयं प्रयुक्तः। स्वरवर्णानुक्रमहैमधातुपाठे तु ष्टभुङ् स्तम्भे, भ्वा. आ. सेट्, उदिदन्तमिति भ्वादिरयं तदनुसारेण शब्विकरणम्। अत्र प्राणेत्यादीति। भक्तस्येति। आत्मकामशब्दे काम इच्छा सा च 'अलमन्यविचारेण प्रेमेच्छेति स्थितं मत'मिति विश्वनाथः प्रेमरसायनकारः ततश्चात्मस्नेह इत्यर्थो भवति, अत उक्तं भक्तस्येति। मुख्यवाचकात्मशब्दग्रहणेन तत्र कामरूपप्रेम्णा गोपालतापिनीयोक्तरीत्यानाविष्कुर्वन् कामप्रेमविनियोगात्। स्नेहातिशयेत्यादिः परानुरक्तिभक्तिधर्मानाहुः स्नेहातिशयेति। आर्तिशब्दादार्तत्वं चतुर्ष्वधिकारेष्वासां व्रजस्त्रीप्रभृतीनामुक्तम्। भ्रमरगीते स्फुटं यत्तदाहुः। येन मरणमित्यादि। ननु वृत्तेर्द्वैविध्यमत आहुः भगवत्प्राकट्येनेति। इदं त्रिचत्वारिंशाध्याये 'आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेने'तिश्लोकव्याख्याने 'नन्दं द्रष्टुं समागत एव भगवा'निति सुबोधिन्योक्तम्। नन्दोद्धवसंवादसमये भगवतस्तिरोहितत्वेप्येवमुक्तेः। ननु वृत्तेर्द्वैविध्यमत आहुः तात्पर्यवृत्तिरिति। भाष्ये। प्राकट्यस्येति। निबन्धोक्तप्रणाड्या प्राकट्यं तस्य। 'भगवानेव हि फलं स यथाविर्भवेद्भुवी'ति निरोधलक्षणग्रन्थात्परमफलत्वं तेन। आप्ताः कामा येनेत्याप्तकामः। काम्यन्त इति कामा अनन्तकल्याणगुणास्तत्रात्मदर्शनस्यापि सत्त्वात्। 'एकदा हि व्रजस्त्रियः सकामाः शर्वरीमुषित्वा सर्वेश्वरं गोपालं कृष्णं हि ता ऊचिरे' इति गोपालतापिनीयारम्भः 'गान्धर्वी गच्छ त्वं स्वालयान्तिक'मित्युपसंहारस्ताभ्यामाप्तकामत्वं व्रजस्त्रीणाम्। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्य' इति श्रुतेश्च। पूर्वपादान्ते सूत्रोक्तरीत्या मननं प्रभुचरणैर्नात्रोक्तम्। चतुर्थस्कन्धीये तत्त्वदीपप्रकाशे सम्यग्व्युत्पादितत्वादित्युक्तमतः ऋषिरूपाणां स्वेषां चानुरोधेन सायुज्यकामनामाहुः ततः साक्षादिति। भ्रमरगीते लौकिकभाषया श्रुतिरूपाणामपि कामनिरूपणात् सायुज्यकामना बोध्या। सर्वदा तु भक्तौ तात्पर्याद्भक्ता एव व्रजस्त्रियः।

१. अत्रेति प्रकाशे। २. पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थादिति स्यात्।

बहिःप्रकटस्यैवान्तरपि प्राकट्यादुत्क्रमणाभाव उच्यते। आत्मातिरिक्तस्य गतिमुक्त्वा तस्य तामाह 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'त्यनेन। उक्तरीत्या पुरुषोत्तमात्मकतल्लीलोपयोगिदेहेन्द्रियादिसम्पत्त्या ब्रह्मैव सन्, न तु ब्रह्मातिरिक्तदेहादिमानपि, तादृशः सन्, ब्रह्म बृहत्त्वात् बृंहणवत्त्वात् पुरुषोत्तमस्वरूपं प्राप्तो भवतीत्यर्थः। अन्यथा जीवस्य ब्रह्मांशत्वेनानन्दांशाविर्भावेन च ब्रह्मत्वे प्राणादिलयोक्त्या तदितरव्यवच्छेदे चानुक्तसिद्धे सति 'ब्रह्मैव स'न्निति न वदेत्। अत एवैतदग्रे श्लोकोक्तिः 'अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत' इति। मृतिधर्मवच्छरीरं हि मर्त्यम्, तद्वत्त्वेन जीवोपि तथोच्यते। तथाचायं पूर्वं तादृश एव, अथ पुष्टिलीलाप्रवेशानन्तरममृत उक्तरूपशरीरवान् भवति, ततोत्र अस्मिन्नेव शरीरे ब्रह्म सम्यगश्नुते। भगवता क्रियमाणलीलारसमनुभवतीत्यर्थः।

भाष्यप्रकाशः।

भिप्रेत इत्यत्र किं गमकमित्यत आहुः अन्यथेत्यादि। तथाच 'ब्रह्मैव स'न्नित्यस्यान्यथावैयर्थ्यापत्तिरेव गमिकेत्यर्थः। उक्तोपष्टम्भाय गमकान्तरमाहुः अत एवेत्यादि। तथा चात्र 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मे'त्युक्तरीतिको ब्रह्मभावो यदि 'ब्रह्मैव स'न्नित्यत्राभिप्रेतः स्यात्, तदास्मिन् श्लोके 'अथ मर्त्योऽमृतो भवती'त्येतावदेव वदेत्, न तु तुरीयं पादम्। अतो यथोक्त एव श्रुत्यर्थ इत्यर्थः। एवमुपोद्घातेन पुष्टिमार्गीयस्य लौकिकदेहक्षपणं नाम प्राणादीनां ब्रह्मणि लय इति सिद्धम्। तदेतत्पूर्वपादान्तसूत्रे एव विचारणीयम्। तथाप्येतत्सूत्रप्रणयनं प्रति तस्य हेतुत्वं न स्फुटं भवेदिति तत्रानुक्त्वा अत्र विचारितमिति ज्ञेयम्। तदेतत् हृदि कृत्वाचार्यः प्रकृतं विचा-

रश्मिः।

बहिरिति। सद्योमुक्त्यर्थं, आत्मस्थित्यर्थं वा बहिःप्रकटस्य। उत्क्रमणेति। छान्दोग्यीयाष्टमोपदेशोक्तरीत्या प्राणेन्द्रियादीनां लयस्थानेन्तःप्रकटे लयादुत्क्रमणाभाव उच्यत इत्यर्थः। आत्मातिरिक्तस्येति। सूक्ष्मदेहस्य। तस्येति। भक्तस्य। तां गतिं, ननु विरहं विना पूर्णभक्त्यभावाद्विरहे च ब्रह्मणआन्तरत्वेन बहिःप्राकट्याभावात् कथं पुरुषोत्तमप्राप्तिरत आहुः। ब्रह्म बृहत्त्वादिति। अत एव बृहत्त्वात् बृंहणत्वाच्च ब्रह्मेति लक्षणमादृतं न स्वरूपलक्षणं नापि कार्यलक्षणमिति बोध्यम्। तदितरेति। ब्रह्मातिरिक्तयोगव्यवच्छेदे। तद्वत्त्वेनेति। मर्त्यशरीरवत्त्वेन। तथोच्यत इति। मर्त्यत्वेनोच्यते। तादृश इति। मर्त्यः। ब्रह्मसम्यगिति। सायुज्ये परमात्मन एव ब्रह्माशनम्। सन्दिग्धमुक्तौ तु निर्णीतायां सम्यगन्तरात्मबाह्यात्मनोरपि ब्रह्माशनमिति सम्यगश्नुत इत्यर्थः। अश्नुत इत्यस्य न व्याप्नोतीत्यर्थं आनन्दमयाधिकरणे दूषणात्, नाप्यश्नातीत्यर्थः। द्वितीयत्वाभावात्। अतो धातूनामनेकार्थत्वादर्थान्तरमाहुः भगवतेति। आविर्भूतभगवताष्टमोपदेशोक्तैनैक्यं गतेन। म्रियमाणस्याग्रिमावस्थानिरूपणे पादार्थसङ्गतेः। तेन नासम्भवः। अनुभवतीति। पूर्णा भगवदीयाः सदा, अन्ये तु कदाचिदितिविवेकः। प्रकृते। उपोद्घातेनेति। म्रियमाणस्यास्याग्रिमावस्थानिरूपणोपोद्घातेन। 'चिन्तां प्रकृतसिद्ध्यर्थामुपोद्घातं विदुर्बुधा' इत्युपोद्घातलक्षणम्। तदेतदिति। क्षपणम्। एवेति। 'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वे'ति क्षपणोक्तेरेवकारः। हेतुत्वार्थमिति। तथा च हेतुहेतुमद्भावः पूर्वोत्तरपादयोः सङ्गतिरिति

१. बृंहणत्वादितिरश्मौ। २. प्राप्नोतीति पाठः।

भगवान् बादरायण इमामेव श्रुतिं विषयीकृत्य तत्रोक्तप्राणानां लय एकदैव, उत क्रमनियमोऽस्तीति संशये निर्णयमाह वाङ्मनसीति । तत्र हेतु-र्दर्शनादिति ।

एतदुक्तं भवति । भक्तेः स्नेहात्मकत्वात्तस्य प्रभुप्राकट्यफलकत्वात्तदौत्कट्ये तस्यावश्यकत्वात् 'अयं मां पश्यत्वि'ति प्रभ्विच्छया तस्मिन् सम्पन्ने, चक्षुर्भ्यां मनसा च तद्रूपामृतमनुभवतः स कोप्युत्कटो भावः समजनि, येन प्रभुणा सह

भाष्यप्रकाशः ।

रयतीत्याशयेन सूत्रमवतारयन्ति भगवानित्यादि । **निर्णयमाहेति** । उक्तश्रुतौ सामान्यतो लयश्रावणाल्लयो युगपदेव युक्त इति पूर्वपक्षनिरासाय निर्णयमाहेत्यर्थः । सूत्रं व्याकुर्वन्तः क्रमनियमे दर्शनस्य कथं हेतुत्वमित्यतो व्युत्पादयन्ति एतदित्यादि । **तदौत्कण्ठ्य** इति । भक्तस्योत्कण्ठायाम् । **तदौत्कट्य** इति पाठे तु स्नेहौत्कट्य इत्यर्थो बोध्यः । **तत्रैव सङ्गता** इति । मनसैव सर्वे प्राणाः समागताः । शेषं स्फुटम् ॥ १ ॥

रश्मिः ।

न स्फुटं भवेदित्यपि बोध्यम् । **प्रकृतमिति** । म्रियमाणस्याग्रिमावस्थानम् । **क्रमनियम** इति । एतेन तत्रेतिभाष्यस्योक्तस्य क्रम इत्यर्थो बोधितः । **एतदित्यादीति** । अकामयमानप्रकरणाद् ब्रह्मसम-शनकथनाद्विषयवाक्ये एतद्वक्ष्यमाणमुक्तं भवति । न च प्रकरणानुरोधेपि 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः । आत्मनैव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते' इतिवाक्योक्ताकामयमानस्य छान्दोग्यीयाष्टमोप-देशोक्तब्रह्मसमशनस्य सर्वसाधारण्यस्य सम्भवः 'तद्यथा हि निर्ल्वयिनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैव मेवेद५शरीर५शेत' इति श्रुतेरत एव 'धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चने'ति वाक्याविषयत्वमिति वाच्यम् । गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्यय इति न्यायेन वक्ष्यमाणस्य निरुक्तेः । एतेनैव सर्वसाधारणब्रह्मसमशनस्यापि सिद्धेः । किञ्च 'तमेवैकं जानथात्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ धर्मस्यैष सेतु'रिति श्रुत्यन्तरोक्तो गुणः । अत उक्त**मेतदुक्तं भवतीति** । अत एव 'गूढं ब्रह्मणि वाङ्मय' इति तृतीयस्कन्धवाक्यम् । वाङ्मये वेदे गूढम् । गुह् संवरणे । संवरणं भक्ति-स्तद्विषय इत्यर्थः । स्वार्थे ष्यञमभिप्रेत्याहुः **उत्कण्ठायामिति** । **भाष्ये** । **तस्येति** । प्रभुप्राक-ट्यस्य । न विषयसन्निधिमात्रेण पुरुषोत्तमप्रत्यक्षमलौकिकत्वव्याहतेरत आहुः **अयं मामिति** । **तस्मिन्निति** । दर्शने । **चक्षुर्भ्यामिति** प्रभ्विच्छयेत्यन्वेति तया विशेषाधानं, एवमग्रेपि । स विशेषः क इति चेत् ? शृणु । सप्तान्नब्राह्मणे बृहदारण्यके आत्मने त्रीण्यकुरुतेति मनो वाचं प्राणं तान्यात्मने कुरुतेति व्याख्यायाग्र आह । 'विज्ञातं विजिज्ञास्यमविज्ञातमेत एव यत् किञ्च विज्ञातं वाचस्तद्रूपं, वाग्घि विज्ञाता वागेनं तद्भूत्वावती'त्युक्तम् । अत्रात्मने स्वस्मै । एत इति वाङ्मनःप्राणाः । एनमित्यादि । एनं वाग्विदं भगवदिच्छया कृतवाग्विशेषविदं तद्भूत्वा विज्ञातस्वरूपं भूत्वावतीति । अवार्था उक्ता अस्माभिर्ग्रन्थान्तरेतस्ततोवसेयाः । एवमग्रेपि, यत् किञ्च विजिज्ञास्यम् । मनसस्तद्रूपं मनो हि विजि-ज्ञास्यं मन एनं तद्भूत्वावति । यत् किञ्चाविज्ञातम् । प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञातः प्राण एनं तद्भू-त्वावतीत्यनयोरर्थो ज्ञेयः । अत उक्तं तद्रूपामृतमनुभवत इति । तद्रूपं चक्षुर्विषयं अमृतमानन्दरूपम् । 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाती'ति श्रुतेः । ननु विरहे सर्वोपमर्दे कथमानन्दानुभव इति चेत् ? न । विरहे ये भावा रसस्वभावादानन्दरूपास्तेषामनुभवे बाधकाभावात् । 'भवतीनां वियोगो मे नहि सर्वात्मना

१. 'स्फुटोक्ते संमत्या' इति हस्ताक्षरादर्शे; 'स्फुटोक्तेस्तंमत्या' इत्यन्यादर्शेषु; 'स्फुटोक्तेस्तं मत्वा' इति रश्मौ ।

सर्वेन्द्रियव्यापारकृतीच्छा समभूत् । तत्र तेषामसामर्थ्यात् भगवदानन्दसम्ब-न्धिमनःसम्बन्धेन तं प्राप्स्याम इति तत्रैव सङ्गताः तेनानन्देन सम्पन्ना जाताः । अयमेवार्थोऽनेन सूत्रेणाग्रिमेण च 'अत एव सर्वाण्यन्वि'ति सूत्रेण निरूप्यते । दर्शनानन्तरमादौ सह सम्भाषणेच्छैव जन्यत इति, 'वाङ्मनसि सम्पद्यत' इति छान्दोग्ये स्फुटोक्ते संमत्या चादौ सैवोक्ता । एवं सति वाङ्मनसि सङ्गता सती भगवदानन्देन सम्पद्यत इति सूत्रार्थः सम्पद्यते । 'दर्शनाभावेपि वेण्वादिशब्दा-दपि तथा सम्पद्यत इति हेत्वन्तरमाह शब्दाच्चेति ॥ १ ॥

अत एव सर्वाण्यनु ॥ २ ॥

अत एव दर्शनाच्छब्दाच्च हेतोः सर्वाणीन्द्रियाणि, अनु सान्निध्यात् वाचः पश्चात् मनसि सङ्गतानि भगवदानन्देन सम्पद्यन्त इत्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

अत एव सर्वाण्यनु ॥ २ ॥ एतेन श्रुतौ वाक्पदमिन्द्रियान्तराणामप्युपलक्षकमिति बोधितम् । भाष्यमत्र स्फुटार्थम् ।

रश्मिः ।

क्वचित्, आत्मत्वाद्भक्तवश्यत्वात् सत्यवाक्त्वात् स्वभावत'इति वाक्यं चेति । **सर्वेन्द्रियेति** । ऋषिरूपाणां सायुज्याद्दरात्तथान्येषां, श्रुतिरूपाणां भक्त्याद्दराद्विरोधलक्षणग्रन्थोक्तरीत्या सर्वात्मभावरूपसर्वेन्द्रिय-व्यापारकृतीच्छाभेदेन बोध्या । **तत्र तेषामिति** । पूर्णभगवदीयानां सामर्थ्यं तत्र पूर्णविरहानुभवे फलकेन्येषां तु अलौकिकसामर्थ्यरूपे सेवाफले जात एवेति तदभावेनासामर्थ्यात् । 'मन आनन्द'मिति श्रुतेराहुः । **भगवदानन्दसम्बन्धिमनःसम्बन्धेनेति** तमानन्दं प्राप्स्यामः । उपलक्षणमेतत् । **मनस** ओजः प्राप्स्याम इत्यलौकिकसामर्थ्यं प्राप्तम् । भगवत्सेवायाः सत्त्वात् । **तेनेति** । मानसी-नानन्देन वागादयः सामानाधिकरण्यं प्राप्यान**न्दसम्पन्ना जाता** इति तेपि जाताः । जानातीच्छति यतत इति कार्यकारणभावादाहुः **दर्शनानन्तरमिति** । **एवेति** । स्वानुभवादेवकारः । **छान्दोग्य** इति । श्वेतकेतूपाख्याने । **तं मत्वेति** । अर्थं मत्वार्थस्य मननं कृत्वा । **सैवेति** । वागेव । **भगव-दिति** । छान्दोग्येष्टमोपदेशेप्यधोक्षजानन्दो वर्तत इति तथा । 'मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरा-यणः, सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने' इति षष्ठस्कन्धादाहुः **दर्शनेति** । **विरहे वेण्वा-**दिसम्बन्धात् । आदिना सिद्धान्तरहस्यीयभगवत्सम्बन्धात् । **प्रकृते** । **समागता** इति । **सम्पद्यत** इति गत्यर्थकधातुप्रयोगात् ॥ १ ॥

अत एव सर्वाण्यनु ॥ २ ॥ सूत्रप्रयोजनं वाक्पदस्योपलक्षकत्वबोधनमित्याहुरे**तेनेति** । सूत्रेणेत्यर्थः । **स्फुटार्थमिति** । स्फुटोऽर्थो यस्येति स्फुटार्थम् । **भगवदानन्देनेति** । पूर्वसूत्र उक्तम् । **अभीति** । अभितः परमार्थत्वेन सम्यग्धितत्वम् । **तेषामिति** । दूषणत्रयेण विषयत्वं बोधयितुम् । **केचिदित्यादीति** । वाग्वृत्तीति, वाग्व्यापारो 'वृथालापक्रियाध्यानं सर्वथैव परित्यजे'दित्यत्र त्याग-विषयस्तत्परत्वम् । तन्नाशं वाग्वृत्तिनाशं वदन्तीत्यर्थः । **तन्नेत्यादीति** । **तत्सरूपमिति** । **वाग्वृत्तेः** समानं रूपं स्वभावसौन्दर्यं यस्य वाक्यस्य सूत्रस्य । वाग्घटितत्वेपि न वाग्वृत्तिसरूपं सूत्रम् । वाक्य-मित्यत्र वाक्पदमिति पाठो वा बाहुलकात् । **तन्निर्णयेति** । वाग्वृत्तिनिर्णयार्थम् । एवं वाग्वृत्तिर्म-नसि सम्पद्यत इति पाठभेदापत्तिरूप एको दोष उक्तः । दोषद्वयमन्यदाहुः **मुख्यार्थेति** । मुख्यार्थो

केचित्त्वत्र छान्दोग्यस्थं 'वाङ्मनसि सम्पद्यते, मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवताया'मिति वाक्यं विषयत्वेन उक्त्वा, सूत्रे वाक्पदस्य तद्वृत्तिपरत्वं वदन्ति, सम्पत्तिं तन्नाशं च ।

तन्न साधीयः । तथाहि । वाक्पदस्य वृत्तिपरत्वं चेत्सूत्रकृदभिमतं स्यात्, सूत्रकारस्तदा तथैव वदेत्, न तु तत्सरूपमेव वाक्यम् । तन्निर्णयार्थमेव प्रवृत्तेः मुख्यार्थत्यागो लक्षणापत्तिश्च । किञ्च, एवं 'मनसी'ति पदवैयर्थ्यं स्यात्, विषयवाक्योक्तक्रमत्यागानुपपत्तिश्चेति ॥ २ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

ननु या छान्दोग्यश्रुतिरत्र सम्मतित्वेन दर्शिता, सैवात्र सर्वादृतत्वाद्विषयवाक्यत्वेनादरणीया, ततश्च कथं भवदुक्तस्यार्थस्याभिसंहितत्वमित्याकाङ्क्षायामन्यमते तेषां बोधयितुं मतान्तरमनुवदन्ति केचिदित्यादि । ते हि हिरण्यगर्भादिविद्यास्वपरासु च विद्यासु फलप्राप्तये देवयानं पन्थानमवतारयिष्यन्तो यथाशास्त्रमुत्क्रान्तिक्रमकथनं विद्वदविदुषोरुत्क्रान्तौ प्रकारसाम्यं च व्यासाभिमतमङ्गीकुर्वन्त उक्तरीत्या वदन्तीत्यर्थः । तत्र तथेति बोधनाय दूषयन्ति तन्नेत्यादि । ननु सत्यमस्तीदं दूषणत्रयम्, तथाप्यग्रे 'अविभागो वचना'दित्यनेन तत्त्वप्रलयस्य वक्ष्यमाणत्वादत्र वृत्तिप्रलय आद्रियत इति व्यासाशयस्य तैर्बोधनाददोष इत्यत आहुः किञ्चेत्यादि । यद्यपि तत्सूत्रमन्यार्थम्, तथापि स्वोक्तसमर्थनाय तथार्थादरेपि सम्पत्तिपदस्य वृत्त्युपसंहारार्थकतया वृत्तिनाशनार्थत्वमेवाभिप्रेतम्, यथाङ्गिरस्ग्नेः । तथा सति निरन्वयो वृत्तिध्वंस इति ध्वंसकसंसर्गमात्रस्यैवापेक्षणेन ध्वंसकस्य तत्राधिकरणतानपेक्षणान्मनसीत्यधिकरणबोधकपदवैयर्थ्यम् । नन्वधिकरणत्वेऽनपेक्षितेऽप्यभेरप्सु प्रक्षेपे वृत्तिनाशस्य दर्शनान्न मनसीत्यस्य वैयर्थ्यमित्यतो दूषणान्तरमाहुः विषयेत्यादि । स्यादवैयर्थ्यम्, यदि विषयवाक्यत्वमस्य स्यात् । तदेव तु न । यत एतस्य विषयवाक्यत्वे सूत्रकृता तेजस्त्यागेन प्राणस्य करणाध्यक्षे जीवे लयकथनाद्यः क्रमत्यागस्तदनुपपत्तिश्चेत्यतो व्यासानभिप्रेतत्वावगमादनेकदोषग्रस्तं तथा व्याख्यानमयुक्तमित्यर्थः ।

यत्तु दर्शनादित्यस्य व्याख्यानम् । दृश्यते हि वाग्वृत्तेर्मनोवृत्ताववस्थितायां पूर्वोपसंहार इति । तदपि न युक्तम् । परमनोवृत्तेर्वाग्वृत्तिद्वारैव गोचरतायाः प्रत्यक्षसिद्धत्वेन वाग्वृत्त्यभावे तदवस्थित्यवगतेरशक्यवचनत्वात् । तथा विद्वदविदुषोरुत्क्रान्तिप्रकारसाम्याङ्गीकारेऽपीन्द्रियवृत्त्युपसंहारो न युक्तः । प्रश्नोपनिषदि 'इन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानै'रित्यत्रापि लक्षणापत्त्या सम्पत्तिपदस्य नाशार्थाङ्गीकारे च बृहदारण्यकीयशारीरकब्राह्मणस्थायां 'एकीभवति न पश्यतीत्या-

रश्मिः ।

वाक्पदस्य शब्दस्तस्य त्यागः लक्षणा वाचस्तद्वृत्तीनां च जन्यजनकभावः सम्बन्धः । तेन स्ववृत्तौ लक्षणा वाक्पदस्य । अनेनेति सूत्रेण । अत्रेत्यस्मिन् सूत्रद्वयके । वृत्तीति । वाग्वृत्तिप्रलयः । व्यासेति । व्यासाभिप्रायस्य । तैरिति । कैश्चित् । दूषणत्रयेप्यदोषः । तत्सूत्रमिति । अविभागसूत्रम् । निरन्वय इति । नास्तिकप्रसिद्धो द्वितीयाध्याये तन्मतखण्डनप्रसङ्ग उक्तार्थः । ध्वंसकेति । मनःसंसर्गमात्रस्य मनस्येवमागच्छति केनापि न सम्भाषणं कार्यं भगवन्नामैव ग्राह्यमिति लोके मनःसङ्कल्पवृत्तिः । ध्वंसकस्येति । मनसः । न मनसीति । वाग्वृत्तीनामुक्तरीत्या मनसि प्रक्षेपेधिकरणबोधकमनसीत्यस्य न वैयर्थ्यमित्यर्थः । मनोवृत्ताविति । सङ्कल्परूपायाम् । पूर्ववाचां मनस्युपसंहारः । तदवस्थितीति । मनोवृत्त्यवस्थित्यवगतेः । लक्षणेति । श्रुताविन्द्रियैरित्यस्येन्द्रियवृत्तिभिरित्यर्थाङ्ग-

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥ ३ ॥

पूर्वोक्तसर्वेन्द्रियवैशिष्ट्यवन्मनः प्राणे सम्पद्यते, न तु केवलम् । तत्र हेतुः । उत्तरादिति । 'स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयते, एवमेव खलु सौम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयत' इत्युक्त्वा, तत्र हेतुमुत्तरेण वाक्येनाह 'प्राणबन्धनं हि सौम्य मन' इति । तस्माद्धेतोस्तथेत्यर्थः ॥ ३ ॥

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥ ४ ॥

सर्वेन्द्रियविशिष्टमनोविशिष्टः प्राणोऽध्यक्षे पुरो हृदि वा प्रकटे भगवति

भाष्यप्रकाशः ।

दु'रित्यादिरूपायां च श्रुतौ लक्षणापत्त्या श्रुतिपीडाया दुर्वारत्वापत्तेः । अत एतेषु सूत्रेषूत्क्रमिष्यद्व्यवस्थामात्रकथनमयुक्तम्, किन्तु मुख्यतया सद्योमुच्यमानव्यवस्थायामिन्द्रियलयक्रमः, प्रासङ्गिकस्तूत्क्रमिष्यद्वृत्तान्तः । 'ओकोग्रज्वलन'सूत्रादिभिस्तस्यापि वक्ष्यमाणत्वादिति ।

यदपि भामतीनिबन्धे, वाचस्तूपसंहारमदृष्टं नागमोपि गमयितुमर्हति । आगमप्रभवयुक्तिविरोधात् । आगमो हि दृष्टानुसारतः प्रकृतौ विकाराणां लयमाहेत्युक्तम् ।

तदपि व्याख्येयग्रन्थपूजामात्रम् । आगमस्य सर्वत्र दृष्टानुसारित्वादर्शनेन युक्तेः शिथिलत्वादिति । तस्मादेतस्य विषयवाक्यत्वमयुक्तमेवेति पूर्वोक्तमेव विषयवाक्यम्, तथैवार्थश्चाभिप्रेत इति ध्येयम् ॥ २ ॥

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥ ३ ॥ अत्र भाष्यमुत्तानार्थम् । श्रुतिस्तु छान्दोग्ये श्वेतकेतूपाख्यानस्था ॥ ३ ॥

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥ ४ ॥ अत्रापि भाष्यमुत्तानार्थम् ।

अत्रेदमर्थात् सम्पद्यते । अत्यनुग्रहभाजनस्य पुष्टिमार्गीयस्योक्तप्रकारेण वागादिप्राणान्तानां

रश्मिः ।

न्यजनकभावरूपलक्षणापत्त्या । नाशार्थेति । निरन्वयध्वंसार्थाङ्गीकारे च । बृहदिति । 'न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्त' इत्यस्याम् । लक्षणेति । समवनयस्यैकीभावस्य च निरन्वयध्वंसत्वाभावेन सान्वयध्वंसवाचकयोर्निरन्वयध्वंसे लक्षणा विपरीतलक्षणा, तस्या आपत्त्या । तस्यापीति । उत्क्रमिष्यद्वृत्तान्तस्यापि । उपसंहारमिति । मनस्युपसंहारम् । आगमः पञ्चरात्रम् । इत्युक्तमिति । भामतीनिबन्ध इत्यनेनान्वेति ॥ २ ॥

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥ ३ ॥ उत्तानेति । पूर्वोक्तेति । मतुबन्तम् । तथेति । मनः प्राणे सम्पद्यते । एवमुत्तानार्थम् ॥ ३ ॥

सोध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥ ४ ॥ उत्तानेति । मुण्डकोपनिषदनुरोधेनाहुः । उपगम इति । मर्यादामार्गस्यासन्दिग्धत्वादाहुः । पुष्टीति । 'यमेवैष वृणुत' इति श्रुतेः । प्रवचनादिनिषेधा-

सम्पद्यत इत्यर्थः । अत्र हेतुः । उपगमादिभ्य इति । उपगमोऽभ्युपगमः पुष्टिमार्गेऽङ्गीकार इति यावत् । ततस्तथेत्यर्थः । आदिपदाद् भगवद्वशीकरणसमर्थः स्नेहः प्रभ्वनिङ्गितार्थत्यागस्तदनुरूपं भजनं च । अभ्युपगमे सिद्धे स्नेहादयोऽवश्यं भवन्त्येवेत्याशयेन, तदादित्वमुक्तम्, नोद्देशः कृतः । मर्यादामार्गेऽङ्गीकृतानां तु मुक्तिपर्यवसायित्वेन मुमुक्षुत्वादुत्कटस्नेहासम्भवेन प्रभुप्राकट्यासम्भवात् स्वस्वप्रकृतौ सङ्घातलये शुद्धजीवस्य भगवदनुग्रहेण श्रवणादिरूपया तथाविधस्नेहरूपया च भक्त्या मुक्तिः सम्पद्यत इति बहेव तारतम्यमिति निगू-

भाष्यप्रकाशः ।

लये तदानीमेव पुरुषोत्तमात्मकदेहप्राप्त्या लीलात्मकभोगसम्पत्तिः । ततो न्यूनस्य तस्य तु पुरुषोत्तमे लयः, ततः सम्पद्याविर्भावाधिकरणोक्तरीत्या भगवता तस्य स्वरूपाभिष्कासने पुरुषोत्तमात्मकदेहसम्पत्त्या लीलानुभव इति बोध्यम् ।

अन्ये तु, अध्यक्षपदे करणाध्यक्षं जीवम्, उपगमादिपदे च ज्योतिर्ब्राह्मणे 'एवमेवेममा-

रश्मिः ।

दस्याः पुष्टिमार्गीयित्वम् । तथेति । प्राणो भगवति सम्पद्यते । भगवद्वशीति । 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' इति श्रुतेः । बलं भक्तिरिति भाष्यम् । भक्तौ बलपदप्रयोगेन तात्पर्यार्थः वशीकरणसमर्थ इति विशेषणम् । प्रभ्विति । 'इङ्गितं गतिचेष्टयो'रिति विश्वात्, भगवतः सेवायामकालत्यागः, अर्थस्य त्यागो व्ययः । तनुवित्तजे उक्ते । 'न च प्रमादादि'ति श्रुतेः । उभयमप्यप्रमादरूपम् । तदनुरूपं भगवदनुरूपभजनं महाराजोपचारकरणरूपम् । 'एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वानि'तिश्रुतेः । नोद्देश इति । पुष्टिमार्गेऽङ्गीकारादीनामुद्देशो नाम्ना पदार्थसङ्कीर्तनम् । अत्र पुष्टिमार्गाङ्गीकारे बीजं वक्तुं मर्यादायां स्पष्टत्वं मुक्तिपर्यवसायिनीत्वं न तु नित्यलीलाभावे पर्यवसायिनीत्वम् । स तु मर्यादास्थेनात्यन्तानुग्रहवता लब्धपुष्टिना लभ्य इति तारतम्यमाहुः । मर्यादेति । मुक्तीति । 'मार्गास्त्रयो मया प्रोक्ता' इति 'भजतां भगवान् मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोग'मिति मुक्तिपर्यवसायित्वं भक्तेः । साधनचतुष्टयसम्पत्त्यन्तर्गतं मुमुक्षुत्वम् । तस्मात् । तथा च श्रुतिर्गोपालतापनीये 'मुमुक्षुर्वै शरणमनुव्रजे'दिति । तदुक्तं 'शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्याविशारदाः । भगवद्भजने योग्या नान्य इत्यर्थतः फल'मिति सुबोधिन्याम् । उत्कटेति । मर्यादामार्गाङ्गीकारस्वभावात्, स्नेहासम्भवो नास्त्यत उत्कटेति विशेषणम् । स्नेहत्वेन सायुज्यत्वेन कार्यकारणभावात् प्रभुप्राकट्यसम्भवाभावरूपफलाभाव उक्तः । न च भगवदाविर्भावाभावेन न सद्योमुक्तिः, किन्तु ज्ञानिविलक्षणचरणमुक्तिस्तु स्यादिति वाच्यम् । सङ्घातस्य प्रतिबन्धकत्वात् । अतस्तल्लयं विदुष आहुः । स्वप्रकृताविति । स्वयोनौ । श्रुतिस्तु, अग्रिमाधिकरणेऽस्ति । शुद्धेति । शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावनिराकारजीवस्य । 'मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थिति'रित्येकादशस्कन्धात् । ननु सङ्घातद्वयरहितस्य करणादिः कुत इत्यत आहुः । भगवदनुग्रहेणेति । तथा च भगवत्सन्निधानस्यावर्जनीयत्वान्मर्यादायां महापुरुषाङ्गीकाराच्च 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जित'मिति गीतायां ब्रह्मलक्षणनिविष्टवाक्याद् भगवदनुग्रहेण सर्वेन्द्रियासफलनात् । अत आहुः । श्रवणादिरूपयेति । नापि पुष्टिमार्गीयप्रमेयबलेन सर्वेन्द्रियगुणाभासत्वम् । भाष्ये भगवदनुग्रहेणेत्यत्रात्यन्तानुग्रहपदाभावात् । अत्यन्तानुग्रहत्वेन पुष्टित्वेन कार्यकारणभावात् । 'आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धे'ति काठकादाश्चर्यं च । तदुक्तं 'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्य'इति गीतायाम् । तथाविधेति । श्रवणादिजन्यस्नेहरूपया । भक्त्येति । मर्यादाभक्त्या ।

ढाशयेनेदमुक्तम् । अभ्युपगमादयस्तु मुण्डकोपनिषत्सु पठ्यन्ते । 'नायमात्मे'त्युपक्रम्य, 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम् । नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाथ लिङ्गात् । एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधामे'ति ॥ ४ ॥

इति चतुर्थाध्याये द्वितीयपादे प्रथमं वाङ्मनोधिकरणम् ॥ १ ॥

उक्तं निगूढमाशयं प्रकटयति ।

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥ ५ ॥ (४-२-२.)

ननु मर्यादामार्गीयाणामप्येवमेव वागादिलयः, उतान्यथेति संशये निर्णयमाह । तेषां ते भूतेषु लीयन्ते, न तूक्तरीत्या भगवति । अत्र प्रमाण-

भाष्यप्रकाशः ।

त्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ती'त्यनेनोक्तमुपगमनम्, शारीरब्राह्मणे 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामती'त्युक्तमनुगमनम्, 'सविज्ञानो भवती'त्यनेनोक्तमवस्थानं च व्याकुर्वन्ति । तदा छान्दोग्यस्थस्य कस्याप्यर्थस्यानङ्गीकारात् कथं तस्य विषयवाक्यत्वमित्यपि ध्येयम् ॥ ४ ॥

इति प्रथमं वाङ्मनोधिकरणम् ॥ १ ॥

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥५॥ अधिकरणमवतारयन्ति नन्वित्यादि । इति संशये निर्णयमाहेति । एवं संशये भगवन्मार्गत्वस्याविशिष्टत्वेनात्रापि पूर्ववदेव वागादिलय इति पूर्वपक्षावतारान्निर्णयमाहेत्यर्थः । सूत्रं व्याकुर्वन्ति तेषामित्यादि । हेतुबोधिकां श्रुतिमुदाहरन्ति

रश्मिः ।

तदुक्तं भक्तिहंसे 'भक्तिमार्गः श्रवणादिसरणिरूप' इति । स चैकादशैकोनविंशाध्यायोक्तो ग्राह्यः । 'पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं पर'मितिवाक्ये परपदात् परं फलाविसंवादि तेन शरणगमनानन्तरमात्मनिवेदनमपि श्रोतव्यं भगवत्सन्निधापन इति बोधितम् । सप्तदशाष्टादशाध्यायोक्ता भक्तिः सर्वोत्तममार्गीया, तथापि तया भक्त्यजननदर्शनान्न गृहीता । मुक्तिरिति । पुरुषोत्तमचरणसायुज्यम् । चरणस्य वैकुण्ठादिरूपत्वाद्विहगादिरूपत्वं बोध्यम् । 'प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मि'न्निति वाक्यात् । पुष्टिमार्गोऽप्ययमुच्यते 'तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमान' इति सन्ध्याश्रुतेः । अस्यां तदाशया प्रतिकृतिभजने फलसाधनविषययोर्भिन्नत्वेन व्यभिचारिणी भक्तिरिति । निगूढाशयेनेति । भक्तिविधयाभिप्रायेण । मुण्डकेति । बहुत्वमान्यत्वात् । तनुं स्वामिति । स्वीयतनुत्वेन वृणुते । अलिङ्गादिति । सर्वात्मभावलिङ्गशून्यात् । आत्मनोऽप्यात्मा । धाम अक्षरं अक्षरात्मकं हृदयम् । एवमुपानार्थमित्यर्थः । प्रकृतमुच्यते सविज्ञान इति । विज्ञायतेऽनेनेति विज्ञानम् । इन्द्रियजालं प्राणसहितं तेन सह वर्तमानो भवति । अवस्थानमिति । सप्राणस्येन्द्रियजालस्य प्राप्तव्यकर्मफलज्ञानवति जीवेऽवस्थानम् । तदेत्यादिविषयवाक्योक्तार्थस्य सौत्रसइतिपूर्वपरामर्शकतच्छब्दस्य छान्दोग्यीयार्थपरामर्शकस्य सत्त्वेऽपि कस्यार्थस्येत्यादिः । तस्येति । ज्योतिर्ब्राह्मणादेः । विषयेति । तृतीयमेकसूत्रमधिकरणमिदं परेषाम् । इत्यपीति । अपिना सन्दिग्धत्वविषयवाक्यस्य व्याख्यानेन । नन्वस्त्येवं परन्तु ग्रन्थान्तरेऽधिकरणमालायां प्राणश्छान्दोग्योक्तोऽत्रत्यविषयवाक्यैकवाक्यतया प्राणसहितो जीवस्तेजसि लीनो भवतीत्युक्तेः कथं छान्दोग्यस्थस्य कस्याप्यर्थस्यानङ्गीकार इति चेन्न । एतद्ग्रन्थमात्रविषयत्वेन दोषस्य ग्रन्थान्तरसम्मेलनेऽभावात् ॥ ४ ॥ इति प्रथमं वाङ्मनोधिकरणम् ॥ १ ॥

१. वाप्यलिङ्गादिति रश्मिपाठः ।
९ अ० सू० १०

माह । तच्छ्रुतेः । 'यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीꣳ शरीरमाकाशमात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयत' इति श्रुतेः ।

न चाविद्वद्विषयिणीयं श्रुतिरिति वाच्यम् । 'याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात् प्राणाः क्रामन्त्याहो नेति, नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवनीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेत' इति पूर्ववाक्यात् । न ह्यविदुषः प्राणानामनुत्क्रमः । 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामती'त्यादिश्रुतेः । ननु 'यत्रास्य पुरुषस्ये'त्युपक्रम्य 'रेतश्च निधीयत' इत्यन्ता श्रुतिरविद्वद्विषयिणीति मन्तव्यम् । यत एतदग्रे, 'क्वायं तदा पुरुषो भवती'ति प्रश्ने याज्ञवल्क्यार्तभागाभ्यां विचारितमुत्तरमुच्यते । 'तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ ह यत् प्रशशꣳसतुः कर्म हैव तत् प्रशशꣳसतुः पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेने'ति । एतेन कर्माश्रयस्तिष्ठतीति निर्णयः सम्पद्यते । एवं सति प्राणानुत्क्रमणोक्त्या सङ्घातलयोक्त्या च विद्वद्विषयत्वमत्रावसीयते, यतस्तस्यैवोक्तद्वयं सम्भवति । अग्रिमश्रुत्युक्तकर्माश्रयत्वं च तस्मिन् विरुद्धम्, अतः पूर्वोत्तरविरोधाद्विषयानिश्चये प्राप्ते प्रतिवदामः । मर्यादामार्गीयविद्वद्विषयिण्येवेयं श्रुतिरिति । अत एव प्रश्ने, 'क्व तदा पुरुषो भवती'त्येतावतैव चारितार्थ्येऽपि

भाष्यप्रकाशः ।

यत्रास्येत्यादि । एतेन सूत्रस्थं 'भूतेष्वि'ति पदं देवताया अप्युपलक्षकमिति बोधितम् । श्रुतिस्तु बृहदारण्यक आर्तभागब्राह्मणेऽस्ति । इयं श्रुतिरन्यैरविद्वद्विषयत्वेन व्याख्यातेति तन्निषेधन्ति न चेत्यादि । तथा चेतः पूर्वस्मिन् ग्रन्थे प्राणानुत्क्रमणरूपस्य मुक्तिलिङ्गश्रावणाद्विद्वद्विषयत्वं तस्या वक्तुं शक्यमित्यर्थः । एवमस्याः श्रुतेरविद्वद्विषयतायां बाधके दर्शिते पुनरविद्वद्विषयतां साधयितुं पूर्वोत्तरश्रुत्योर्विरोधेन सन्देहमुत्थापयन् विद्वद्विषयतां प्रतिक्षिपति नन्वित्यादि । एतेनेति । विचारितनिर्धारकवाक्येन । एवं सतीति । उक्तप्रकारके विरुद्धवाक्यद्वये एकस्मिन् प्रकरणे श्रूयमाणे सति । विरुद्धमिति । अवसीयत इति शेषः । एवं

रश्मिः ।

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥ ५ ॥ बोधितमिति । स्वदेवतासहितायां प्रकृतौ योनौ निधानकथनाद्बोधितम् । **न चेत्यादीति** । याज्ञवल्क्यो नेति होवाचेत्यन्वयः । उच्छ्वयतीति[1] । उच्छूनतां प्राप्नोति शोथेन । आध्मायतीतिवद्बहिष्ठेन वायुना पूर्यत इत्यर्थः । **मुक्तिलिङ्गस्येति** । वक्ष्यमाणादमुक्तलिङ्गाद्विपरीतं मुक्तिलिङ्गं तस्य । **बाधक इति** । प्राणानुत्क्रमणरूपे बाधके । **पूर्वोत्तरेति** । यत्रायं पुरुषो म्रियतेति पूर्वा, यत्रास्य पुरुषस्येत्युत्तरा, तयोः श्रुत्योः । **नन्वित्यादीति** । **उच्यत इति** । भगवतोच्यते श्रुत्या । **उक्तेति** । आर्तभागब्राह्मणप्रकारके । आर्तभागब्राह्मणे वाक्यद्वयमित्युक्तप्रकारकता । ऋतभागस्यापत्यमार्तभागः । **विरुद्धेति** । संघातलयप्राणानुक्रमणबोधकवाक्यद्वये । **एकस्मिन्निति** । एकविद्वन्मात्रविषये देशकालरूपे प्रकरणे । **विरुद्धमितीति** । विद्वन्निष्ठज्ञानविरुद्धं, सहानवस्थायित्वं

१. उच्छ्रूयतीति प्राचीनादर्शेषु, उच्छूयतीति रश्मौ ।

साधारणपुरुषव्यावृत्त्या मर्यादामार्गीयतत्प्रापकं 'अय'मिति पदम् । तस्यैवोपक्रान्तत्वात् तथा । अग्रिमविचारितोऽर्थोऽपि तद्विषयक एवेति बुध्यस्व । ननूक्तं बाधकमिति चेत् । हन्त श्रुतिशिरःसमाकलितमाकलय । मर्यादामार्गे हि विधिप्राधान्यम्, तथैव तन्निर्माणात् । तत्र ह्येवं कृत एवं फलं दास्ये, न त्वकृतेऽपीति भगवदिच्छा, अतः कर्म प्रधानम् ।

एवं सत्यार्तभागस्यायमाशयः । वागादिरेतोऽन्तालयेन प्रारब्धस्यापि तदा नाशाच्छुद्धं जीवं विध्यविषयं कदाचित् पुष्टौ प्रवेशयति, न वेति संशयेन तदायं क्व मर्यादामार्ग एवोत पुष्टावपि प्रवेशितो भवतीति प्रश्नः । तदास्यार्थ-

भाष्यप्रकाशः ।

पूर्वपक्षमुत्थाप्य समादधते प्रतिवदाम इत्यादि । तस्यैवोपक्रान्तत्वादिति । प्राणानुत्क्रमलिङ्गेन विषय एवोपक्रान्तत्वात् । तदग्रिमविचारितोऽर्थ इति । उपक्रमानुरोधिप्रश्नोत्तररूपत्वात् 'तौ ह यदूचतु'रित्यादिना विचारितोऽर्थः । अग्रिमविचारितार्थे पुनः शङ्कते नन्वित्यादि । उक्तं बाधकमिति । कर्माश्रयेणावस्थानरूपं विद्वत्ताबाधकम् । तथा च विद्वद्विषयत्वे बाधकस्य विद्यमानत्वादविद्वद्विषयैवेयं श्रुतिरित्यर्थः । अत्र समादधानाः पूर्वपक्षिणो भ्रान्तत्वं बोधयितुमुपालभन्ते हन्तेत्यादि । [illegible]तिशिरःसमाकलितमिति । वेदान्ततात्पर्यबोधितम् । एवं सतीत्यादि । उक्तरीत्या मर्यादामार्गे कर्मप्राधान्ये सति आर्तभागस्य वक्ष्यमाण आशयः । वक्ष्यमाणरीतिकसंशयेन तदा क्व शुद्धत्वदशायाम्, अयं विधिनियतो जीवः, क्व वैषयिकाधिकरणे सप्तमी । कस्मिन् मार्गे, किं मर्यादामार्ग एव तिष्ठत्युत पुष्टौ प्रविष्टो भवतीति

रश्मिः ।

निरोधः । **तदग्रिमे विचारितार्थ इतीति** । भाष्येऽग्रिमेत्याद्यपि पाठः । **भाष्ये** । **तद्विषयक इति** । मर्यादामार्गीयविषयकः । विद्वानित्यत्र विच्छब्देन ज्ञानमिव भक्तेरपि वक्तुं शक्यत्वात् । गीतायां 'भक्तिरव्यभिचारिणी'त्युक्त्वा 'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्त'मित्युक्तेः । **प्रकृते** । **कर्माश्रयेणेति** । ननु नेदमुक्तं बाधकं किन्तु प्राणानुत्क्रमणरूपं बाधकमिति चेन्न । पूर्वोक्तबाधकस्य तथाविधत्वेऽपि नास्य तथाविधत्वं कर्मावस्थानश्रुतेः पूर्वमुक्तत्वात् । तत्त्यागेन पूर्वमनुधावने दूरान्वयदोषात् । **वेदान्तेति** । श्रुतिशिरो वेदान्तम् । कल अव्यक्ते शब्दे तात्पर्येण बोधनेऽव्यक्तः शब्दो भवति । **आकलय** विचारय । **मर्यादामार्ग इति** । यद्यपि मर्यादामार्गः श्रवणादिसरणिरूपस्तथापि साधनत्वमिश्रफलरूपमिति विचारितत्वाच्च फलाध्याय इतिसमाख्यया वक्ष्यमाणेच्छाशरीरनिविष्टफलानि सर्वाण्येवोद्देष्टव्यानि । प्रथमसूत्रभाष्ये सामीप्यादिमुक्तिं प्राप्तवतां भक्तानामिति **भाष्ये**ऽसन्दिग्धानां सामीप्यादीनामुद्देशादित्याशयेनाहु**र्विधिप्रधान्यमिति** । विधेः प्राधान्यं विधिप्राधान्यम् । **कर्मप्रधानमिति** । विधिविषयं कर्मैव प्रधानं न तु विधिः साक्षात्फलकारणत्वाभावात् । **उक्तरीत्येति** । तथैव तन्निर्माणादित्याद्युक्तरीत्या । **कर्मप्राधान्य** इति । कर्मप्राधान्यमत्र न विद्यया कृते कर्मणि । अङ्गित्वात्, यदेव विद्ययेति हीत्यत्र व्याख्यातत्वाच्च । किन्तूक्तरीत्येति करणोक्तेः **मर्यादामार्गे** कर्मणः फलजनकत्वं कर्मप्राधान्यम् । यथा वाक्यं 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'त्यत्र प्राधान्यं फलसम्बन्धात्तथा । **विधिनियत इति** । 'आश्रमादाश्रमं गच्छेन्नान्यथा मत्परश्चरेत्' इति विधिनियतः । पूर्वसूत्रे शुद्धस्य जीवस्य भगवदनुग्रहेण श्रवणादिरूपयेत्युक्तेः । **कस्मिन्निति** । किंमार्गविषयो जीव इत्यर्थः । यद्वा । 'ज्ञाननिष्ठो विरक्तो

स्येश्वरेच्छारीतिमविदुषो दुर्ज्ञेयत्वं जानन्तौ स्वयमेव यदवधारितवन्तौ, तदपि रहस्यमिति स्फुटमनुक्त्वा, श्रुतिः पर्यवसितमर्थमुक्तवती 'तौ हे'त्यादिना । अत्र कर्मपदं मर्यादामार्गपरम् । तथा च मर्यादामार्ग एव तस्य स्थितिरित्यर्थः सम्पद्यते, मुक्त एव भवतीति यावत् । अत एव तत्प्रशंसापि । यत ईश्वरत्वेन सर्वकरणसमर्थोपि तद्दाने तदपेक्षते । अत्र हेतुत्वेन मर्यादामार्गस्वरूपमुक्तं 'पुण्यो वा' इत्यादिना ॥ ५ ॥

ननु मर्यादामार्गीयौ भक्तो ज्ञानी च भवतः, उक्तनिर्णयस्तु ज्ञानमार्गीयविषय एव, भक्तं तु तादृशमपि कदाचित् पुष्टावपि प्रवेशयतीत्याशङ्क्य तन्निर्णयमाह ।

भाष्यप्रकाशः ।

प्रश्न इत्यर्थः । एवं प्रश्नस्य विद्वद्विषयत्वं प्रतिपाद्योत्तरस्य प्रतिपादयन्ति तदेत्यादि । ईश्वरेच्छारीतिमविदुषः पुंसः प्रति अस्यार्थस्य दुर्ज्ञेयत्वमिति योजना । अत्रेत्यादि । श्रुतिवाक्ये कर्मपदं मत्वर्थलक्षणया तन्मार्गपरम् । ननु मर्यादामार्गस्य विद्वदविद्वत्साधारणत्वादत्र विद्वद्व्यवस्थैवोच्यत इत्यत्र किं गमकमित्यपेक्षायामाहुः अत एवेत्यादि । तथा च निवृत्तिमार्गीयकर्मणोपि तत्र विद्यमानत्वात्तदादाय तत्प्रशंसात्र मुख्यं विद्वद्विषयत्वगमकमित्यर्थः । प्रशंसायां बीजमाहुः यत इत्यादि । तद्दाने तदपेक्षत इति । मुक्तिदाने ज्ञानसमुच्चितं कर्मापेक्षते । ननु यद्यस्य विद्वद्विषयत्वं स्यात्, तदात्र 'पुण्यो वा पुण्येने'त्यादि न वदेदित्यत आहुः अत्रेत्यादि । अत्र हेतुत्वेनेति । फलदाने हेतुत्वेन । तथा च, 'एष उ वे'ति श्रुतेः फलदाने कर्मकारणमेव हेतुर्मर्यादामार्गे इति बोधनाय 'पुण्यो वाइ'त्यादिना तत्स्वरूपमुक्तम् । तावता न अविद्वद्विषयकत्वं वक्तुं शक्यमिति विद्वद्व्यवस्थैवात्रोच्यत इत्यर्थः ॥ ५ ॥

रश्मिः ।

वा मद्भक्तो वाऽनपेक्षकः, सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचर' इति नियतः । शुद्धं जीवं विध्यविषयमित्युक्तभाष्यात् । प्रविष्ट इति । भगवतात्यन्तानुग्रहेण प्रवेशितः प्रविष्टो भवतीत्यर्थः । विद्वदिति । विद्वन्तौ विषयौ भक्तज्ञानिनौ यस्य प्रश्नस्य तत्त्वम् । उत्तरस्येति । प्रश्नोत्तरस्य विद्वद्विषयत्वम् । ईश्वरेति । ईश्वरेच्छया मर्यादामार्गे प्रवेशितः तथैव पुष्टिमार्गे प्रवेशित इत्यत्र न विचार इत्युक्तरीतिम् । अविदुषः पुंस इति । द्वितीयाबहुवचनान्ते पदे । भाष्ये । यदवेति । ज्ञानकर्मभक्तिमार्गानवधारितवन्तौ निश्चितवन्तौ षट्शास्त्रैः । तदपि रहस्यं मार्गत्रयं षट्शास्त्ररहस्यरूपमित्यर्थः । रहस्यपदेन अत्रैव समनीयन्त इति पुष्टजीवपुरुषोत्तमसायुज्यम् । इन्द्रियसमर्पणेन साधनेन जीवोपि समन्वयनं प्राप्स्यतीति रहस्यम् । एवं अग्निं वागप्येतीत्यादिषु स्त्रीपुंनपुंसकमिथुनोक्ते रहस्यं बोध्यम् । पर्यवसितमिति । रहस्यं न वक्तव्यं खलत्वं च निवर्तनीयमिति उभयसामञ्जस्याय मार्गत्रयकथनपर्यवसितं मार्गत्रये कथिते तदीयं रहस्यमपि ज्ञास्यन्तीत्यभिप्रायेण ।

प्रकृते । तन्मार्गेति । मर्यादामार्गपरम् ॥ चित्तशुद्धिद्वारा कर्मवन्तौ भक्तिज्ञानमार्गौ । मर्यादामार्गस्येति । भाष्ये स्वीकृतस्य कर्मप्रधानरूपस्य । निवृत्तीति । ज्ञानभक्तिमार्गीयकर्मणोऽपि । ज्ञानसमुच्चितमिति । ज्ञानेन स्वकारणचित्तशुद्धिजनकत्वेन कर्मसमुच्चितमिति तथा । वीर्यवत्तरं फलमन्यथा तु न कर्मसमुच्चय इति ध्येयम् । न वदेदिति । विद्वानपुण्यः । अपुण्यवत्त्वज्ञानानन्तरमपुण्यनाशकज्ञानेतरकर्मसत्त्वे विद्वत्त्वं न स्यादिति । तथा चाविद्वानपुण्यः पुण्येन कर्मणा भवतीत्यर्थः । तत्स्वरूपमिति । हेतुस्वरूपम् ॥ ५ ॥

नैकस्मिन् दर्शयतो हि ॥ ६ ॥

एकस्मिन् ज्ञानिनि भक्ते वा मर्यादानियमो न, किन्तूभयोरपि । तत्र हेतुः दर्शयत इति । यतो याज्ञवल्क्यार्तभागौ ज्ञानिभक्तसाधारण्येन मर्यादानियमं दर्शयत उक्तरीत्या, 'तौ हे'त्यादिना । अन्यथा प्राक् कृताङ्गीकृतिरन्यथा भवेदित्युपपत्तिर्हिशब्देन सूच्यते । पूर्वोक्तपूर्वोत्तरश्रुतिविरोधपरिहारान्यथानुपपत्तिरत्र मूलमिति ज्ञेयम् ।

केचित्तूपसंहृतेषु वागादिषु शरीरान्तरप्रेप्सासामयिको जीवः 'क्वायं तदा पुरुष' इति प्रश्नविषय इति वदन्ति । तन्न साधीयः । 'तमुत्क्रामन्तं

भाष्यप्रकाशः ।

नैकस्मिन् दर्शयतो हि ॥ ६ ॥ सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि । भक्तं तु तादृशमपि कदाचित् पुष्टौ प्रवेशयतीति । तृतीयस्कन्धे, 'जीवाः श्रेष्ठा ह्यजीवाना'मित्यादिना शेषपूजायामुत्कृष्टबोधने, 'मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि सन्न्यस्तकर्मणः । न पश्यामि परं भूतमकर्तुः समदर्शना'दिति कपिलदेववाक्ये मर्यादाभक्ते उत्कर्षविश्रान्तेः कथनेन तादृशं पुष्टौ प्रवेशयतीत्येवं सम्भावयितुं शक्यत्वात्तं प्रवेशयति । व्याकुर्वन्ति एकस्मिन्नित्यादि । ज्ञानिभक्तसाधारण्येनेति । विशेषानिर्देशात्, 'अयं पुरुष' इति सामान्यनिर्देशात्, कर्मोक्तिकर्मप्रशंसाभ्यां मर्यादामार्गस्यैव विषयीकरणाच्च । तथा च यद्यवान्तरो ज्ञानभक्तिकृतो विशेषो विवक्षितः स्यात्, तदा सामान्येन न वदेताम्, अतस्तथेत्यर्थः । ननु पुष्टिमर्यादाभक्तयोर्भक्तिमत्त्वे तुल्येपि कुतोऽयं विशेषो यन्मर्यादामार्गीयवागादीनां भूतेष्वेव लयः, न भगवतीत्याकाङ्क्षायां गूढाभिसन्धिमाहुः अन्यथेत्यादि । यदि तद्वागादिलयो भगवत्यङ्गीक्रियेत, तदा अप्राकृतानां सर्वभावप्रपत्त्या प्रकृतिसम्बन्धरहितानां या अङ्गीकृतिः स्वीयत्वेन वरणम्, सा अन्यथा भवेत्, इतरतुल्यतां प्राप्नुवन्ती वरणश्रुत्युक्तमसाधारण्यं विरुन्ध्यादित्यर्थोपपत्तिर्हिशब्देन सूच्यते । तथा च ताभ्यां ज्ञानिभक्तसाधारण्येन यन्निरूपितं तत्रेदं बीजमित्यर्थः । नन्वस्याः श्रुतेरेवं तात्पर्यकल्पने किं बीजमत आहुः पूर्वोक्तेत्यादि । पूर्वोत्तरश्रुतिस्तु 'न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ती'त्यादिरूपा बोध्या । तथा चैतद् बीजमित्यर्थः ।

एतदेव दृढीकर्तुं, दूषणाय मतान्तरमुपक्षिपन्ति केचिदित्यादि । दूषयन्ति तन्नेत्यादि ।

रश्मिः ।

नैकस्मिन् दर्शयतो हि ॥ ६ ॥ अकर्तुरिति । वाक्योक्तान्यस्याकर्तुः । पञ्चम्यन्तम् । मर्यादाभक्तेरिति । मय्यर्पितात्मन अत्रात्मपदं मनःपरम् । पञ्चम्यन्तं पदम् । मानसीसेवा । संन्यस्तानि कर्माणि । 'कुर्यात्सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन्नि'त्युक्तानि । अतस्तथा । पुष्टाविति । कदाचिदिति बोध्यम् । अत्यन्तानुग्रहकाल इति तदर्थः । मर्यादामार्गस्येति । विधिविषयस्य कर्मणः । तथेति । ज्ञानिभक्तसाधारण्येनेत्यर्थः । गूढाभिसन्धिमिति । वरणश्रुत्युक्तासाधारण्यभङ्गरूपम् । ताभ्यामिति । याज्ञवल्क्यार्तभागाभ्याम् । एतदिति वरणश्रुत्युक्तासाधारण्यभञ्जनम् । अस्या इति । वरणश्रुतेः । पूर्वोक्तेत्यादीति । 'भूतेष्वि'ति । सूत्रभाष्योक्तस्य पूर्वा यत्रायं पुरुष इति, उत्तरा यत्रास्य पुरुषस्येति तयोः श्रुत्योर्विरोधस्य यः परिहारः परिहारान्तरं तस्यान्यथानुप-

प्राणोनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्त५सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ती'ति श्रुतिर्भावि-

भाष्यप्रकाशः ।

अत्रायमर्थः । 'अत्रैव समवनीयन्त' इति वाक्येन प्राणानुत्क्रमणमुभयत्रोक्तम् । तत्र शारीरब्राह्मणे 'अथाकामयमान' इति निष्कामं पुरुषमुपक्रम्योक्तम् । अन्ते च 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'ति तस्य ब्रह्मप्राप्तिरुक्ता । आर्तभागब्राह्मणे तु 'यत्रायं पुरुषो म्रियत' इति सामान्यतो म्रियमाणमुपक्रम्योक्तम् । अन्ते च 'स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेत' इत्येतावदुक्तम् । तत्र सामान्यस्य विशेषेण निर्णय इति ब्रह्माप्ययवाक्यस्यात्र निर्णायकत्वादस्य मुक्तिलिङ्गत्वमेवोचितम् । तथापि 'आध्मातो मृतः शेत' इत्यनेनोक्तावस्था ब्रह्मविच्छरीरस्यानुचिता । लौकिकस्य पुण्यंकृतोपि प्रायस्तादृशावस्थाया अदर्शनात् । अतः पुनः प्रश्नः 'यत्रास्य पुरुषस्ये'त्यारभ्य, 'क्वायं तदा पुरुषो भवती'त्यन्तः । अमुच्यमानस्य हि प्राणोत्क्रमः 'तमुत्क्रामन्त'मित्यादिश्रुत्योक्तः । अयं शरीरदुरवस्थावानुक्तस्तस्य चेत् 'अग्निं वागप्येती'त्युक्तप्रकारेणेन्द्रियाणामनुत्क्रान्तानां तत्तद्योग्येषु भूतेषु इन्द्रियाधिष्ठातृदेवतायां च लय'स्तदा तस्य साधनाभावान्न मुक्तिर्वक्तुं शक्या । इन्द्रियाणां लये मनसोपि चन्द्रे लयात् । 'तदेव स तत्सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्ये'ति श्रावितस्य जीवगमनस्यापि वक्तुमशक्यतया शरीरान्तरप्राप्त्यावश्यकत्वे वागादिलयवैयर्थ्यापत्त्या, देहस्य मृतत्वात्तत्र स्थितेर्वक्तुमशक्यतया तस्य जीवस्य कुत्र स्थितिरिति तत्राशयो भाति । एतदुत्तरे तु कर्माश्रयस्तिष्ठतीति । यथा बाणो वा पाषाणशकलो वा चेतनेन क्षिप्त आकाशे गच्छति, तस्य गमनक्रियैवाश्रयः, न त्वन्यः, तथा जीवोपि, 'एष उ' इति श्रुत्युक्तकर्माश्रयस्तिष्ठतीति सिध्यति । तत्र जीवस्य स्वतः क्रियाराहित्याल्लिङ्गस्य च लीनत्वान्नैयायिकादिमतवददृष्टस्यात्मधर्मताया अनङ्गीकाराज्जीवाधिष्ठानभूतं कर्म किमीयमिति शङ्का नायैति । तेन शरीरान्तरप्रेप्सासामयिको जीवः 'क्वायं तदे'ति प्रश्नविषय इत्यसङ्गतम् । लीनकरणग्रामस्य प्रेप्साया व्यापारस्य च वक्तुमशक्यत्वात् । प्रेप्साङ्गीकारे च 'तमुत्क्रामन्त'मिति श्रुत्या लिङ्गसाहित्यस्यावश्यकत्वाद्वागादिलयोऽप्यसम्भवदुक्तिकः । 'अत्रैवे'ति मुक्तिलिङ्गश्रुतिविरोधाच्च ।

रश्मिः ।

पत्तिरर्थापत्तिरूपा । द्वितीया त्वन्यथानुपपत्तिसमर्पितप्रमेयार्थापत्तिः । प्रस्थानरत्नाकरे स्पष्टा पूर्वमुक्ता च । **अत्रेति** । श्रुतौ पुष्टिकल्पने । **एतदिति** । अर्थापत्तिः । विधेयलिङ्गमेतदिति । **उभयत्रेति** । आर्तभागब्राह्मणे शारीरकब्राह्मणे च । **सामान्यस्येति** । 'मृतः शेत' इति सामान्यं, 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'ति विशेषः । **अस्येति** । मृतः शेत इत्यस्य । मनसश्चन्द्रे लये मुक्त्यभावं वदन्ति स्म । **तदेवेति** । यत्र गन्तव्ये **मनः** लिङ्गं निषक्तं निश्चयेन सक्तं भवति तत्र स आसक्तः सन् फलारम्भकीभूतकर्मणा सह तदेव गन्तव्यं फलमेति गच्छतीति श्रुत्यर्थः । **वक्तुमिति** । मनोसत्तायां मुक्तौ वक्तुम् । **वागादीति** । मुक्त्यभावे तथापत्त्या । **स्थितेरिति** । जीवस्य स्थितेः । **तत्रेति** । यत्रास्येत्यादि पुनः प्रश्नश्रुतौ । **भातीति** । भात्ययमर्थ इति पूर्वेण सम्बन्धः । **जीव इति** । बाणवद्वा पाषाणशकलवद्वा ऊर्ध्वगन्ताऽधोगन्ता वा । **किमीयमिति** अदृष्टधर्ममिश्रम् । **अपैतीति** । अप आ एतीति पदच्छेदः । पूर्वं वृद्धौ ऐतीति जाते एङि पररूपमित्यस्य अविषयत्वाद्वृद्धिरेचि । **प्रेप्सेति** । मनोधर्मः प्रेप्सा । 'कामः सङ्कल्प' इति श्रुतेः । व्यापारश्चक्षुरादेः । एवमुपोद्धातमुक्त्वा तमुत्क्रामन्तमिति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **प्रेप्साङ्गीकार** इति । तत्रासम्भवादित्यन्तभाष्यविवरणम् ।

देहान्तरजीवस्य प्राणानामिन्द्रियाणां च सहैवोत्क्रमणं वदतीति वागादिलयस्य तत्रासम्भवान्नोक्तस्य प्रश्नविषयत्वं वक्तुं शक्यम् । पूर्ववाक्ये 'अत्रैव समवनीयन्त' इत्युक्तत्वाच्च, अतोऽस्मदुक्त एव मार्गोऽनुसर्तव्यः । एतेन नायं परविद्यावान्

भाष्यप्रकाशः ।

अतो देहान्तरप्रेप्सावतः प्रश्नविषयताया वक्तुमशक्यत्वादस्मदुक्त एव मार्गः, सदसत्कर्मप्रधानो मर्यादामार्ग एव कर्मपद आदर्तव्यः । अन्यथा केवलकर्मणः संसारजनकत्वात् प्रशंसावैयर्थ्यापत्तेः । मार्गादरे तु तस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिकर्मात्मकत्वान्निवृत्तं कर्मादाय प्रशंसोपपत्तेः । दुष्टं कर्मादाय शरीराध्मानाद्युपपत्तेश्च । एतद्बोधनायैव 'पुण्यो वा पुण्येने'ति मार्गस्वरूपमुक्तम् ।

एवं सतीदमत्र सिध्यति । यः सद्यो मुच्यते, तस्य प्राणानामत्रैव समवनयनम् । यश्चान्धन्तमो विशति, तस्यापि प्राणानामत्रैव समवनयनम् । शरीरदुरवस्थालिङ्गात् । अन्यथा तदुक्तिवैयर्थ्यापत्तेः । ये पुनः क्रममुक्तिगामिनः, तत्प्राणानां सहोत्क्रमः । 'अणुः पन्था विततः पुराण' इत्यादिश्रुतेः । 'यदि प्रयास्यन्नृप पारमेष्ठ्य'मित्यादिस्मृतेश्च । ऊर्ध्वगामिनां च तथा । 'तदेव तत्सह कर्मणैती'त्यादिश्रुतेः, 'मनः कर्ममयं नृणा'मित्यादिस्मृतेश्च । सुबोधिन्यां तु धृतराष्ट्रं प्रत्यक्रूरवाक्ये 'अकृतार्थं प्रहिण्वन्ति प्राणाराय' इत्युक्त्वा, उपसंहारे 'मृतोऽन्धं

रश्मिः ।

तत्रेत्यस्य भाष्यस्य 'इहैव समवनीयन्त' इति श्रुत्युक्ताश्रये भगवतीत्यर्थः । **नोक्तस्येति** भाष्यविवरणम् । **अतो देहान्तरेति** । नोक्तस्येत्यत्र उक्तस्येत्यस्यार्थः देहान्तरप्रेप्सावत इति । प्रश्नविषयत्वं वक्तुं न शक्यमित्यत्र भाष्यान्वये इतिशब्दं हेत्वर्थकमध्याहृत्य विवरणं प्रश्नविषयतेत्यादि । **सदसदिति** । सन्मार्गद्वयरूपं कर्ममार्गरूपं चासत् तदतिरिक्तं सर्वम् । **कर्मपद** इति । औपश्लेषिकाधारे सप्तमी । **प्रशंसेति** । 'यत्प्रशश५सतुः कर्म हैव तत्प्रशश५सतु'रिति श्रुत्युक्तप्रशंसावैयर्थ्यापत्तेः । **यश्चेति** । पुष्टोपि । **समवनयनमिति** । अष्टमोपदेशस्य समत्वात् । तत्र समवनाश्रयस्य भगवत्त्वात् । तत्रायं विवेकः । भक्तिमार्गीया आनन्दे लीना भवन्ति अनुग्रहात्यन्तानुग्रहयोः पुष्टिमर्यादाकारणयोः सत्त्वात्, ये संभूत्यां रताः आसुरीसंपज्जाताश्च तेषामानन्दधर्मे तमसि लयः अनुग्रहाभावादिति । **तदुक्तीति** । शरीरदुरवस्थोक्तिवैयर्थ्यापत्तेः । **तत्प्राणानां** तेषां प्राणानाम् । **अणुः पन्था इति** । शारीरब्राह्मणेस्ति । मोक्षः । **अणुः** स्थूलादिसकलविशेषातीतत्वात् । **विततः** विस्तीर्णः सत्यायात्मावगाहित्वात् । **पुराणश्चिरंतनो** नित्यः श्रुतिप्रकाशितत्वात् । एवंभूतः पन्था अभेदान्वयः फलसाधनयोरतो भक्तिज्ञानमार्गः । मोक्षाभिन्नः 'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वा'दिति सूत्रेण धर्मधर्मिणोरभेदात् । **आदिना** 'मा५स्पृष्टोनुवित्तो मयैव । तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविद उत्क्रम्य स्वर्गं लोकमितो विमुक्ता' इति पादत्रयम् । अर्थस्तु **मां** याज्ञवल्क्यं **स्पृष्टः** शास्त्राचार्यादेर्मामनुप्राप्तः मया प्राप्त इति वा । किञ्च मयैवानुवित्त इत्यत्रैवकारोन्ययोगव्यवच्छेदको न भवतीत्यभिप्रेत्याह **तेनेति** । जीवन्त एव विमुक्ताः सन्त इतोस्माच्छरीरपाताऊर्ध्वमनन्तरमेव तेन ब्रह्मविद्यामार्गेण स्वर्गं परमानन्दलक्षणं प्रकरणाल्लोकं स्वप्रकाशं **यन्ति** गच्छन्तीति । **यदि प्रयास्यन्निति** । क्रममुक्तिप्रतिपादिका **द्वितीयस्कन्धस्मृतिः** तस्याः । **अकृतार्थमिति** । पूर्वार्धसमाप्तौ 'पुष्णाति यानधर्मेण स्वबुद्ध्या तमपण्डितम् । तेऽकृतार्थं प्रहिण्वन्ति प्राणारायः सुतादय' इति वाक्यम्, कृतः अर्थो येन स **कृतार्थः** । न कृतार्थोऽकृतार्थस्तम् । हि गतौ स्वादिः प्रपूर्वकः । प्राणा इन्द्रियाण्यपि ते आसमन्ताद्रायो येषां ते प्राणारायः । तेऽकृतार्थं प्रहिण्वन्ति त्यजन्ति । **मृत** इति । अत्र विशेष्यम् । स्वयं पिता ।

यतः, अमृतत्वमेव तत्फलमिति । तच्च देशान्तरानायत्तमित्युत्क्रमणापेक्षा कर्माश्रयत्वं च न स्यात्, किन्त्वपरविद्यावान् । तस्यास्तु ब्रह्मलोकावधि फलमिति कर्माश्रयत्वोत्क्रमणादिकं सम्भवतीत्यपि निरस्तं वेदितव्यम् ॥ ६ ॥

इति चतुर्थाध्याये द्वितीयपादे द्वितीयं भूताधिकरणम् ॥ २ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

विशते तम' इति कथनादन्धन्तम एव प्रकृतमिति श्रौतं मुक्तिलिङ्गं न विचारितम् । इह तु मुक्तेरेव फलत्वेन प्रकृतत्वात् तमोलिङ्गं न विचारितम् । अतोऽन्धतमसोऽप्यासुरमुक्तित्वाच्च भाष्यसुबोधिन्योर्विरोध इति ज्ञेयम् । उभयथापि शरीरान्तरप्रेप्साया अलाभान्मतान्तरदूषणं तूभयथापि निष्प्रत्यूहमिति च ।

एवं परोक्तं प्रश्नाशयं दूषयित्वा तदुक्तं सिद्धान्ताशयं दूषयन्ति एतेनेत्यादि । एतेनेति । जीवस्यात्र देहान्तरप्रेप्सासामयिकत्वासङ्गतिव्युत्पादनेन । इत्यपि निरस्तमिति । इति एवमर्थकं यद्, 'भूतेषु तच्छ्रुते'रित्यत्र, "भूतेष्वतः श्रुते'रिति पाठमङ्गीकृत्य स प्राणोऽध्यक्षस्तेजःसहचरितेषु देहबीजभूतेषु सूक्ष्मेष्ववतिष्ठते । कुतः । अतः श्रुतेः प्राणस्तेजसीत्यतः श्रुतेरिति व्याख्यानम्, 'नैकस्मि'न्निति सूत्रे च शरीरान्तरप्रेप्सावेलायां नैकस्मिन्नेव तेजसि जीवोऽवतिष्ठते । कार्यस्य 'शरीरस्य पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमय' इति श्रुतिः, 'अण्व्यो मात्राऽविनाशिन्य' इत्यादिस्मृतिश्चैतमर्थं दर्शयत इति व्याख्यानमुक्तम्, तदपि निरस्तम् । तद्रीत्योत्क्रमाङ्गीकारे पूर्वेन्द्रियलयप्राणानुत्क्रमणवैयर्थ्यप्रसङ्गेन अर्तभागब्राह्मणेऽनुक्तायाः शरीरान्तरप्रेप्साया नूतनेन्द्रियापेक्षायाश्च कल्पनापत्त्या लक्षणाप्रसङ्गेन श्रुतिसूत्रव्याकुलीभावापत्त्या च निरस्तमित्यर्थः ।

अत्रावसरगर्भः प्रसङ्गोऽधिकरणसङ्गतिः ॥ ६ ॥ इति द्वितीयं भूताधिकरणम् ॥ २ ॥

रश्मिः ।

प्रकृतमिति । 'असिद्धार्थो विशत्यन्धं स्वधर्मविमुखस्तम' इति वाक्यार्थेनोक्तेन प्रकृतं मुक्तिष्वेतत्स्वीकृतम् । **श्रौतमिति** । अत्रैव समवनीयन्त इति श्रुत्युक्तं **मुक्तिलिङ्गम्** । **इहत्विति** । **भाष्ये तु** । **मुक्तेरिति** । सद्योमुक्तेः । **तमोलिङ्गमिति** । शरीरदुरवस्थालिङ्गम् । **नेति** । पूर्वत्रैकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकमिति प्रवादाच्छ्रौतमुक्तिलिङ्गविचारः स्थानसाम्यात्पूर्वमीमांसोक्तादा । उत्तरत्र तत एव तमोलिङ्गमीमांसेत्यर्थभेदाभावाच्च विरोध इत्यन्वयः । **उभयथेति** । उभे भाष्यसुबोधिन्यौ अवयवौ प्रतिपादकौ यस्य मुक्तिरूपप्रकारस्य तेन प्रकारेण । **प्रश्नाशयं** प्रश्नाभिप्रायम् । **अत्रेति** । भाष्ये । **सूक्ष्मेष्विति** । रेतःकणेषु अण्वी मात्रारूपेषु वा । **व्याख्यानमिति** । अन्याचार्यव्याख्यानम् । **तद्रीत्येति** । अपरविद्यावतः उत्क्रमाङ्गीकारे । **पूर्वेन्द्रियेति** । अग्निं वागप्येतीत्याद्युक्तो लयः अत्रैव समवनीयन्त इति प्राणानुत्क्रमणं तयोः वैयर्थ्यम् । बुद्धेर्गुणैरङ्गुष्ठमात्रो जीव इति तल्लये परविद्यावतो या मुक्तिरावरणभङ्गरूपा सा स्यादिति **पूर्वेन्द्रियलयवैयर्थ्यम्** । परविद्यावतः फलं **देशान्तरानायत्तं** देशान्तरं बुद्धिगुणकृतजीवदेशादन्यद् देशान्तरं तस्यानायत्तमनधीनमिति प्राणानुत्क्रमणं प्राणोत्क्रमरूपप्रतियोगिकवैयर्थ्यं च तस्य प्रसङ्गेन । **लक्षणेति** । अत्रैव समवनीयन्त इति वाक्यं शरीरान्तरप्रेप्सा । नूतनेन्द्रियापेक्षावतोऽत्रैव समवनीयन्त इत्येवं कल्पयित्वा तदर्थे लक्षणाप्रसङ्गेनेत्यर्थः । शक्यार्थस्य षष्ठ्यर्थेन सम्बन्धो लक्षणा । **श्रुतीति** । पूर्वेन्द्रियलयप्राणानुत्क्रमणानङ्गीकारेण श्रुतिपीडापत्तिः, पाठान्तरेण सूत्रव्याकुलीभावापत्तिः तया ॥ ६ ॥ **इति द्वितीयं भूताधिकरणम्** ॥ २ ॥

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॥ ७ ॥ (४-२-३.)

मर्यादापुष्ट्योर्न कदाचिदन्यथाभाव इति यदुक्तम्, तत्र हेत्वपेक्षायां वस्तुस्वरूपमेव तथेति बोधयितुमाह समानेत्यादि ।

अत्रायमाशयः । साधनक्रमेण मोचनेच्छा हि मर्यादामार्गीया मर्यादा, विहितसाधनं विनैव मोचनेच्छा पुष्टिमार्गमर्यादा । तथा सति सदैकरूपत्वं तयोर्युक्तमिति ।

एतदेवाह । सृतिः संसृतिः । जीवानां स्वस्मात् पृथक्कृतानामविद्यया अहन्ताममतास्पदीकरणम् । तदुपक्रम आरम्भस्तं मर्यादीकृत्य मुक्तिपर्यन्तमुक्तरूपा मर्यादा समाना सदैकरूपा, मध्ये नान्यथा भवतीत्यर्थः । एवमेव अनुपोष्य, व्रतमकृत्वा, अमृतत्वमपि पुष्टिमार्गे समानमित्यर्थः । अत्रोपोषणपदमशेषमुक्तिसाधनोपलक्षकम् ॥ ७ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॥ ७ ॥ एवमधिकरणद्वयेन पुष्टिमर्यादास्थयोः क्रमेण वागादिलयं व्युत्पाद्य पुष्टिमर्यादास्थयोः कुत एवं विशेष इत्याकाङ्क्षायां मार्गस्वरूपविशेषादेव विशेष इति वक्तुम्, इत आरभ्य नवभिः सूत्रैरुपोद्घातेन तद्वाढ्यार्थं तास्ता आशङ्का निवारयतीत्याशयेन काश्चिदाशङ्कामनुवदन्तः सूत्रमवतारयन्ति मर्यादेत्यादि । व्याकुर्वन्ति साधनेत्यादि । अविद्यया अहन्ताममतास्पदीकरणमिति । 'विद्याऽविद्ये'तिश्लोकोक्तया स्वीयया मूलशक्त्या अहंममेत्यसद्ग्राहात्मकजीवाविद्याश्रयत्वसम्पादनम् । मुक्तिपर्यन्तमिति । इदमुत्तरावधिकथनमार्थिकं ज्ञेयम् । संसारस्य तदधीनत्वादिति । मध्ये नान्यथा भवतीति । 'एष उ वे'ति श्रुत्युक्ताया इच्छाया इव

रश्मिः ।

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॥ ७ ॥ **साधनेत्यादीति** । **मर्यादेति** ज्ञानभक्तिमर्यादा । **एतदेवाहासृतिरिति** भाष्यपाठः । **आसृतिरित्यस्य** संसृतिरिति विवरणम् । **विद्ययेति** । इदं दशमस्कन्धेऽक्रूरदर्शनेऽस्ति । 'विद्ययाऽविद्यया शक्त्या मायया च निषेवित'मिति । एतत्कथनं भक्तिमार्गे भक्तिसाधननाश्यसंसृतेरभावादत्यन्तानुग्रहे तेनैव तदभावाच्चायुक्तं संसृतिकथनं मत्वोक्तम् । तदुक्तं 'कृत्वाऽतरन्वत्सपदं स्म यत्प्लवा' इत्यस्य सुबोधिन्याम् । एवं च पुष्टिमार्गेऽत्यन्तानुग्रहनाश्यत्वेनाहन्ताममते तयोरास्पदीकरणम् । मर्यादाभक्तिमार्गे साधननाश्यत्वेन ते तयोरास्पदीकरणम् । ज्ञानमार्गे ज्ञाननाश्यत्वेन ते तयोरास्पदीकरणं बोध्यम् । विद्ययाऽविद्ययेति वाक्यात् । **भाष्ये** । **मुक्तीति** । सद्योमुक्तिक्रममुक्तिपर्यन्तम् । **उक्तरूपेति** । अहन्ताममतास्पदीकरणं ज्ञानेन न सम्भवति तथापि अन्तराभूतग्रामसूत्रादिवाऽर्थभेददाने भवतीति भक्तिमार्गेऽहन्ताममतास्पदीकरणारम्भे तया उक्ता श्रवणादिसरणिरूपा मर्यादा सा समाना । ज्ञानभक्तिभ्यामविद्योपमर्देऽपि भक्तिज्ञानरूपविद्याया अविद्योपमर्दादहन्ताममतास्पदीकरणं ज्ञानमार्गीयश्रवणादिसरणिरूपा मर्यादा, सा समाना । 'यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानै'रित्यत्र ज्ञानाङ्गभक्त्युक्तेः । ज्ञानमार्गीयश्रवणादिभिः सूक्ष्मवस्तुदर्शनम् । भक्तिमार्गीयश्रवणादिभिः प्रेमेति विवेकः । 'तथा तथा पश्यति वस्तुसूक्ष्म'मित्युत्तरार्धात्,

एवं प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतं परामृश्यते । 'सोऽध्यक्ष' इति सूत्रेण पुष्टिमार्गीयभक्तसङ्घातस्य भगवत्येव लय इत्युक्तम् । अग्रिमेण तेन मर्यादामार्गीयभक्तसङ्घातस्य भूतेषु लयमुक्त्वा, प्रश्नानन्तरं शुद्धजीवस्य तस्य मुक्तिरेव भवतीति वक्तव्ये सति, 'आहर सौम्य हस्त'मित्यादिना स्वाशयमन्येष्वप्रकटयन्तौ कर्म यन्निरूपितवन्तौ, तत्कुत इत्याशङ्क्य तयोराशयं निगूढं प्रकटयति ।

तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ॥ ८ ॥

तदा नित्यलीलान्तःपातलक्षणपुष्टिमार्गीयमुक्तिदशायां मर्यादामार्गीयाया अपीतेर्मुक्तेः संसारत्वाभावेपि पुरुषोत्तमभजनानन्दानुभवाभावात् संसार इत्येव पुष्टिमार्गे व्यपदेशो यतः क्रियते, अतस्तदभिसन्धाय तया रीत्या

भाष्यप्रकाशः ।

मुमोचयिषाया अप्यप्रतिहतविषयत्वस्य न्याय्यत्वात् तथा । पुष्टिमार्गे समानमिति । 'ते नाधीतश्रुतिगणा' इत्यादिभगवद्वाक्यात् तथा । सूत्रे तु प्रथमश्चकारोऽवधारणे, द्वितीयश्चोऽप्यर्थे बोध्यः । 'भूतेष्वि'त्यतीताधिकरणे मार्यादिकव्यवस्थाया उक्तत्वादव्यवधानेनात्र मर्यादास्मृतेर्मर्यादोल्लेखः । व्यवहितत्वेन पश्चात् पुष्टेरित्यपि ज्ञेयम् । तादृशतादृशेच्छायां लीलाया लोकतुल्यत्वस्यैव हेतुत्वादिति ॥ ७ ॥

तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ॥ ८ ॥ सूत्रमवतारयन्ति एवं प्रासङ्गिकमित्यादि । यथा एकनगरप्रापकयोर्मार्गयोस्तत्प्रापकत्वे मार्गत्वे च समानेपि कस्यचित्केवलपान्थप्रापकत्वम्, कस्यचित् सपरिकरपान्थप्रापकत्वमिति तन्मार्गस्वरूपकृत एव भेदः, तथा मर्यादापुष्ट्योरपीत्येतत्प्रासङ्गिकं तत्तन्मार्गस्वरूपबोधनायोक्त्वा, प्रकृतं आर्तभागब्राह्मणस्थं प्रमेयं परामृश्यते विचार्यत इत्यर्थः । ननु तत्र किमवशिष्टं येन पुनर्विचार्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः सोऽध्यक्ष इत्यादि । अग्रिमेणेति । 'भूतेषु तच्छ्रुते'रिति सूत्रेण ।

फक्किकायोजना तु एवं लयमुक्त्वा प्रश्नानन्तरमित्याद्युक्तरीत्या निरूपणं कुत इत्याशङ्क्य तथा प्रकटयतीति बोध्या । तथा च यदि न तत्तन्मार्गीयमुक्तौ तारतम्यम्, तदा वागादिलयस्य भिन्नप्रकारकत्वविचारः काकदन्तविचारतुल्यः स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थं तयोरेकान्तगमनाद्याशयं वक्तीत्यर्थः । सूत्रं व्याकुर्वन्ति तदेत्यादि । तया रीत्या निरूपणमिति ।

रश्मिः ।

'एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिना'मित्येकादशैकोनविंशाध्यायवाक्याच्च । तथेति । ज्ञानमार्गेण समानम् । ज्ञानमार्गेण श्रवणादीनां पुष्टिमार्गे समानत्वेपि उपोषणाद्यकरणमपि समानं ज्ञानमार्गेण । ज्ञानमार्गे उपोषणाद्यकरणजपापस्य ज्ञानेन नाशः । पुष्टिमार्गेऽत्यन्तानुग्रहेण पापस्य नाशः । एवं फलप्रकरणे सन्दिग्धे अहन्तास्पदत्वमसम्भवद्विचारितम् । अवधारण इति । तथा च समानैवेत्यर्थः । अप्यर्थ इति । अमृतत्वमपीति भाष्यात् ॥ ७ ॥

तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ॥ ८ ॥ केवलेति । पदातिमार्गत्वम् । सपरिकरेति । राजमार्गत्वम् । मर्यादेति । मर्यादापदेन भक्तिज्ञाने । एवमिति । पूर्वोक्तप्रकारम् । तदित्यस्यार्थमाहुः । निरूपणमिति । तथेति । तयोराशयं निगूढम् । 'गूढं ब्रह्मणि वाङ्मय' इति वाक्यात् । तयोरिति ।

निरूपणम् । अत एव श्रीभागवते श्रीशिववचनं गीयते । "नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति । स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन' इति । श्रीभगवद्गीतास्वपि । 'देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपी'ति वाक्येन मर्यादामार्गीयभक्तमुक्तेरितरसाधारण्यमुच्यते ॥ ८ ॥

ननु संसारवन्मुक्तेरपि हेयत्वं यत्र, तादृशं चेत् पुष्टिमार्गीयं तत्त्वम्, तदा मुक्तेः पुरुषार्थत्वबोधिकायाः श्रुतेः प्रतारकत्वमापततीति तद्बोधकप्रमाणानां तत्स्तुतिमात्रपरत्वमेवेति प्राप्त आह ।

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥ ९ ॥

पुष्टिमार्गीयं तत्त्वं सूक्ष्मं दुर्ज्ञेयमित्यर्थः ।

अत्रायमाशयः । पुष्टिमर्यादामप्यतिक्रम्य पुष्टिपुष्टौ प्रवेशो तत्तत्त्वमनुभवविषयो भवति, नान्यथा । तत्र प्रवेशस्त्वतिदुरापोऽतिशयितानुग्रहेतरासाध्यत्वात्, अत उक्तेतराज्ञेयमेव तद्भवति । तेषां तु मुक्तिरेव फलम् । तस्या एवेष्टत्वात् ।

भाष्यप्रकाशः

पुष्टिमार्गीयमुक्त्यपेक्षया मर्यादामार्गीयमुक्तेः साधनसाध्याया न्यूनत्वबोधनाय मुक्तिहेतुत्वेन प्रशंसनीयस्यापि मार्गरूपस्य कर्मण एकान्ते गत्वा जीवाश्रयत्वेन निरूपणम् । तथा च तस्य सद्योमुक्तिप्रकारत्वदृढीकरणार्थं पुष्टिमार्गीयापेक्षया न्यूनत्वज्ञापनार्थं च पुनर्विचार इत्यर्थः । इदं चोपबृंहणाभावे मनसि न विशतीत्यतस्तदाहुः अत एवेत्यादि । तथा चात्र मुक्तेरितरसाधारण्यकथनात्तथेत्यर्थः ॥ ८ ॥

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥ ९ ॥ सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि । तद्बोधकप्रमाणानामिति । भजनानन्दोत्कर्षप्रमाणानाम् । सूत्रं व्याकुर्वन्ति पुष्टीत्यादि । ननु पुष्टितत्त्वस्य दुर्ज्ञेयत्वे श्रुतेः प्रतारकत्वं कथं निवर्ततामित्यतस्तदाशयमाहुः अत्रायमित्यादि । तत्त्वमिति । पुष्टिमार्गीयतत्त्वम् । उक्तेतराज्ञेयमिति । अतिशयितानुग्रहभाजनातिरिक्ताज्ञेयम् ।

रश्मिः ।

याज्ञवल्क्यार्तभागयोः । एकान्तेति । आदिनाऽऽहर सौम्य हस्तम् । आर्तभागेति होवाच तौ होत्क्रम्य मन्त्रयांचक्रतुः तौ ह यदूचतुः कर्मैव तदूचतुरित्यत्रोत्क्रम्येत्युत्क्रम्य संतीयत् 'मुक्तोपसृप्यव्यपदेशादि'ति सूत्रात् । तथा च तावित्यस्य जीवावित्यर्थः । इत्युत्क्रम्यपदाशयः । तथेत्यादीति । नित्येति । भजभक्तसजातीयभावः कारणं पुष्टिमुक्तौ । एकान्त इति । एतस्य शरीरे संस्थाप्योत्क्रमणेनैकान्त इत्यप्यर्थो भगवन्माहात्म्यस्थापकः । जीवाश्रयत्वं जीवस्याश्रयत्वं प्राणस्याश्रयत्वं यथा कर्मणः । तेन । पुनरिति । फलत्वेन पुनर्विचारः । यथा एकनगरेत्याद्युक्तरीत्या मार्गत्वेन निरूपणाद्गतेरर्थवत्त्वसूत्रादिविचारितस्य पुनर्विचारः ॥ ८ ॥

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥ ९ ॥ श्रुतेरिति । मुक्तेः पुरुषार्थत्वबोधिकायाः 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत' इति श्रुतेः । पुष्टिमार्गीयतत्त्वमिति । ननु ज्ञानकाण्डत्वाज् ज्ञानमार्गीयं तत्त्वं तत्र तदुक्तं 'तथा तथा पश्यति

रागिणां स्वर्गादिवत् । इष्टफलाप्राप्तौ हि प्रतारकत्वम्, अन्यथा प्रवृत्तिमार्गीयफलबोधिकाया अपि श्रुतेः प्रतारकत्वं स्यात् । इच्छा चाधिकारानुसारिण्यीति नानुपपन्नं किञ्चिदिति ।

नन्वेवंविधार्थास्तित्वे किं मानमित्याकाङ्क्षायामाह प्रमाणत इत्यादि । प्रमाणं श्रुतिः । सा तु, 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चने'ति । 'एतꣳह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरव'मिति ।

अत्र पूर्वार्धेन दुर्ज्ञेयत्वम्, उत्तरार्धेन तत्सत्ता च बोध्यते । अन्यथा मनसोऽप्यप्राप्यस्य वेदनकथनं विरुद्धं स्यात्, अतो दुर्ज्ञेयत्वेनैव धर्मिग्राहकमानसिद्धं तदित्यर्थः । चकारात्तादृशानामनुभवः परिगृह्यते ॥ ९ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

तेषामिति । अतिशयितानुग्रहभाजनातिरिक्तानां भक्तानां शुष्कज्ञानिनां च । इच्छेति । स्वर्गादिविषयिणी मोक्षविषयिणी च । इति नानुपपन्नं किञ्चिदिति । इति हेतोः, यथा स्वर्गादिकामिनः प्रति निवृत्तिमार्गतत्त्वं दुर्ज्ञेयमधिकाररहित्यादेवं मोक्षकामिनः प्रति पुष्टिमार्गतत्त्वमपीति तत्तच्छ्रुतीनां तं तं प्रति फलबोधकत्वाच्च प्रतारकत्वमतो हेतोर्य उत्कृष्टाधिकारिणस्तान् प्रति भजनानन्दोत्कर्षबोधकतया न स्तुतिमात्रत्वमतः पूर्वोक्तं सूपपन्नमित्यर्थः । सूत्रशेषमवतारयन्ति नन्वेवमित्यादि । एवंविधार्थास्तित्व इति । अतादृशसर्वदुर्ज्ञेयार्थसद्भावे । शेषं स्फुटम् ॥ ९ ॥

रश्मिः ।

वस्तुसूक्ष्ममि'ति वाक्येनेति चेन्न । असन्दिग्धमिदं ज्ञानकाण्डेऽविचार्यमिति । पुष्टिप्राप्ये सूक्ष्मपदं गीतायां त्रयोदशे 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते । अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते । सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोक्षिशिरोमुखं । सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति । सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् । असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च । बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च । सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् । अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् । भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च । ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते । ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् । इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः । मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते' इत्यत्र । 'यतो वाच' इति श्रुत्या सह निर्णयः । तथाहि । गीतायाम् । अहं परो यस्येति मत्परः । अग्रे विरुद्धधर्माश्रयः । अग्रे सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयमुक्तम् । तत्र कर्ममार्गीयगीताया उपनिषत्त्वात् । नापि ज्ञानमार्गीयम् । ज्ञानगम्यत्वात् । नापि मर्यादाभक्तिमार्गीयम् । 'भक्त्या जानाति चाव्यय'मिति श्रुतेः । नापि पुष्टिमर्यादायाम् । मर्यादांशेन ज्ञेयत्वात् । अतः पुष्टिपुष्टावेव सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयम् । 'यतो वाच' इति श्रुतेः । तर्हि वस्त्वभावसिद्धिः । नेत्युच्यते । 'मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः । सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने' इति वाक्यात्, 'पूर्णा भगवदीयास्ते शेषव्यासाग्निमारुता' इति वाक्याच्च वस्तुसिद्धेरिति । अग्रे दूरस्थमित्यादिसमानम् । अग्रे भक्ते विशेषः 'मद्भक्त एतद्विज्ञाये'ति । अतिशयितेति । 'भगवान्भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोग'मिति वाक्यात् । न च भक्तियोगो मर्यादादिभक्तिरपि । भजतामित्यनेन तत्सङ्ग्रहात् । प्रवृत्तीति । अकामयमानस्य प्रवृत्तिर्बोध्या । अतादृशेति । अनधिकारिणः सर्वे तेषां दुर्ज्ञेयार्थसद्भावे ॥ ९ ॥

तर्हि ब्रह्मविदामिव तादृशानां भक्तानामपि स्वमार्गोपदेशनं कश्चिद्ब्रूयेत, न चैवम्, अतः पूर्वोक्तं न साधीय इति भातीत्युत्सूत्रमाशङ्क्य तत्र हेतुमाह ।

नोपमर्देनातः ॥ १० ॥

उपदेशनं तदा स्यात्, यदि ब्रह्मविदामिव तेषां स्वास्थ्यं स्यात्, यतस्तेषां विरहदशा प्रियसङ्गमदशा चेति दशाद्वयमेव भवति, नान्या । पूर्वस्यास्तस्यास्त्वतिदुःसहत्वेन सर्वेषां भावानामुपमर्देन तिरोधानेनोपदेशो न भवतीत्यर्थः । सङ्गमे तु, अतः, पुरःप्रकटपरमानन्दस्वरूपाद्भगवत एव हेतोरुपदेशोऽन्यस्मै न भवतीत्यर्थः । न हि भगवदग्रे स सम्भवतीति भावः ॥ १० ॥

ननु 'रसो वै सः रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवती'त्युपक्रम्य 'एष ह्येवानन्दयाती'ति श्रुतेरुक्तरूपानन्दप्राप्तौ दुःसहविरहतापोऽशक्यवचनः । आनन्दतिरोधान एव तत्सम्भवात् । तद्धेतोरसम्भवात्, सम्भवे तु तत्प्राप्तिरेव न स्यादिति प्राप्ते, उत्तरं पठति ।

अस्यैव चोपपत्तेरूष्मा ॥ ११ ॥

आनन्दात्मकरसात्मकस्यास्यैव भगवत एव धर्म ऊष्मा विरहताप इत्यर्थः । विरोधपरिहारायाह उपपत्तेरिति ।

इदमुक्तं भवति । भगवद्विरहस्य सर्वसाधारणत्वेपि स्थायिभावात्मकरसरूपभगवत्प्रादुर्भावो यस्य हृदि भवति, तस्यैव तदप्राप्तिजस्तापः, तदनन्तरं

भाष्यप्रकाशः ।

नोपमर्देनातः ॥ १० ॥ सूत्रमवतारयन्ति तर्हीत्यादि । तत्रेति । तादृशमार्गानुपदेशे । सूत्रं व्याकुर्वन्ति उपदेशनमित्यादि । अर्थस्तु स्फुटः ॥ १० ॥

अस्यैव चोपपत्तेरूष्मा ॥ ११ ॥ उपमर्दे प्रत्यवस्थानं वारयितुमग्रिमसूत्रमवतारयन्ति ननु रस इत्यादि । तद्धेतोरित्यादि । तद्धेतोरानन्दतिरोधायकहेतोरविद्याकामकर्मरूपस्य उत्कटभक्तिभावे सत्यसम्भवात् उत्कटभक्तिदशायामप्यविद्यादिसम्भवे तु तत्प्राप्तिर्भगवत्प्राप्तिरेव न स्यात् । सा च तेषामस्ति । अत उ...दासम्भवादनुपदेशोऽसङ्गत इति प्राप्ते । सूत्रं व्याकुर्वन्ति आनन्देत्यादि । तथा चान्तःप्राप्तिबाह्याप्राप्तिभ्यामानन्दानुभवविरहतापाविति द्वयमप्युपपद्यत इत्यर्थः ॥ ११ ॥

रश्मिः ।

नोपमर्देनातः ॥ १० ॥ स्फुट इति । अत इति सौत्रं व्याख्येयम् । पुर इत्यादि व्याख्यानम् । सम्भवतीति । दासानामाज्ञां विना सम्भवतीति । एवं स्फुटः ॥ १० ॥

अस्यैव चोपपत्तेरूष्मा ॥ ११ ॥ प्रत्यवेति । आनन्दरूपत्वाद्ब्रह्मणः सन्देशादिभिर्नोपमर्द इति प्रत्यवस्थानम् । सम्भवे त्वित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म उत्कटेति । अनुपदेशः असङ्गत इति । एङः पदान्तादतीति न भवति, वाक्ये विवक्षाभावेन संहिताभावात् । आनन्दे-

नियमतस्तत्प्राप्तिश्च भवति, न त्वतथाभूतस्येत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामुक्तरसस्यैवैष धर्म इति निश्चीयते । तस्य वस्तुन एव तथात्वात् स तापोपि रसात्मक एव ॥ ११ ॥

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥ १२ ॥

ननु 'न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःख'मितिश्रुत्या दुःखप्रतिषेधस्तादृशे भक्ते क्रियत इति तस्य दुःखित्वं न वक्तुं शक्यमित्याशङ्क्य प्रतिषेधति नेति । कुतः । शारीरात् । शरीरसम्बन्धिनो हेतोर्यद् दुःखं कर्मजनितमिति यावत्, तस्यैव श्रुतौ प्रतिषेधान्नानुपपत्तिरित्यर्थः । एतेन दुःखत्वेन कर्मजन्य-

भाष्यप्रकाशः ।

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥ १२ ॥ अत्र पूर्वपक्षसिद्धान्तयोर्दुरूहत्वात् पूर्वपक्षे, उपमर्दसूत्रात्मशब्दं, तस्यैवेतिसूत्रात्तस्यैवोष्मेति पदत्रयं चानुवर्त्य, सिद्धान्ते चोपपत्तेरिति पदमनुवर्त्येदं व्याख्यायत इत्याशयेन पूर्वभागं व्याकुर्वन्ति नन्वित्यादि । तस्य दुःखित्वं न वक्तुं शक्यमिति । तस्य भगवत्स्वरूपलाभवतो भक्तस्य दुःखित्वं तस्यैवोष्मेत्यनेनोक्तो विरहतापो न वक्तुं शक्यः । प्रतिषेधतीति । प्रतिषेधस्य कर्मजन्यत्वं बोधयंस्तत्कथनाशक्यत्वं प्रतिषेधति । सिद्धान्तभागं व्याकुर्वन्ति नेत्यादि । तस्यैवेति । शरीरसम्बन्धिनोर्मृत्युरोगयोरनन्तरं तत्प्रायपाठे पठितस्य तादृशस्यैव दुःखभावस्य पूर्वसूत्रोक्तहेतोः संग्रहं सूचयन्ति एतेनेत्यादि । एतेनेति । सिद्धान्तभागेन । तथा च भगवद्विरहदुःखं कर्मजन्यं दुःखत्वाद् दुःखा-

रश्मिः ।

त्यादीति । विरोधेति । आनन्दानुभवविरहतापयोर्विरोधपरिहाराय । अन्वयेति । स्थायिभावात्मकरसरूपभगवत्प्रादुर्भावसत्त्वे विरहतापः, उक्तप्रादुर्भावाभावे विरहतापाभाव इत्यन्वयव्यतिरेकौ ताभ्याम् । यत्सत्त्वे यत्सत्त्वमन्वयः, यदभावे यदभावो व्यतिरेक इति ॥ ११ ॥

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥ १२ ॥ दुरूहत्वादिति । अनुवर्तनीयपदाज्ञानात् पूर्वपक्षस्य, स्वरूपतः सिद्धान्तस्य दुरूहत्वं बोध्यम् । तेनायं सूत्रार्थः । अस्य भक्तस्यैव ऊष्मा दुःखित्वं न, प्रतिषेधात् । इति चेन्न । शारीरात् । शरीरसम्बन्धिनः कर्मजनितदुःखात् हेतोः, तं हेतुं प्रकृत्योपपत्तेरिति । उपपत्तिस्तु कर्मजनितदुःखस्यैव प्रतिषेधादिति । नन्वित्यादीति । दुःखतां दुःखसत्ताम् । तस्यैवेति । अत्रास्यैवेति सूत्रात्तस्यैवोष्मेतिपदत्रयमिति पाठः । तस्यैवोष्मेति । तस्यैव तत्प्राप्तिजस्ताप इति भाष्येण । लाघवादूष्मपदोपादानम् । प्रतीति । दुःखस्य । बोधयन्निति । व्यासः । तत्कथनेति । भक्तस्योष्मकथनाशक्यत्वम् । 'न पश्य' इति श्रुतिमनुसन्धायाहुः शरीरसम्बन्धिनोरिति । तथा चायं भाष्यार्थः । शरीरसम्बन्धिनो हेतोरिति । शरीरसम्बन्धिनः यस्य दुःखस्य हेतोः कर्मणः इत्यर्थः । एतदेवाहुः यद्दुःखमिति । प्रतिषेधादिति । आवृत्त्योपपत्तिहेतुत्वेनोक्तः । अनुवृत्तस्योपपत्तिपदस्यार्थमाहुः नात्रेति । अत्र भक्तस्योष्मणि । दुःखत्वेनेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म तथेत्यादि । यथा सिद्धान्तभागेन पूर्वसूत्रो-

त्यानुमानमपि निरस्तं वेदितव्यम् । लौकिक एव दुःखे तज्जन्यत्वनियमात् ॥ १२ ॥

स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥ १३ ॥

एकेषां शाखिनां भगवत्स्वरूपलाभानन्तरं दुःखतन्निवर्तनलक्षणोऽर्थः स्पष्टः पठ्यते ।

तथाहि । 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति, को ह्येवान्यात्, कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्, एष ह्येवानन्दयाति' । अत्र रसात्मकभगवत्स्वरूपलाभे सत्यानन्दवत्त्वमुक्त्वा, तस्यैव जीवनहेतुत्वं परमानन्दहेतुत्वं चोच्यते । मरणहेतूपस्थित्यभावे जीवनहेतुत्वं न वदेत् । स रसस्तु संयोगविप्रयोगभावाभ्यामेव पूर्णो भवत्यनुभूतः, नैकतरेण । तत्र विरहतापस्यात्युपमर्दित्वेन तदा प्राणस्थितिरपि न स्यात्, यदि रसात्मको भगवान् हृदि न स्यादित्याशयेनाह, 'को ह्येवान्या'दिति । यत् यदि एष हृदि स्फुरद्रूप आकाशो भगवान्न स्यात्, कस्तदाऽन्याद्, अन प्राणने, को वा जीव-

भाष्यप्रकाशः ।

न्तरवदिति साधने, सुखत्वेन हेतुना मोक्षसुखस्यापि तथात्वापत्तेस्तत्परिहाराय तत्र लौकिकत्वस्योपाधित्वं वाच्यम् । तच्चात्रापि तुल्यमिति लौकिक एव दुःखे कर्मजन्यत्वनियमाद् उपपत्तेरेव निरस्तमित्यर्थः ॥ १२ ॥

स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥ १३ ॥ पुष्टिमार्गीयस्य भगवद्विरहजं यद्दुःखं तन्न कर्मजन्यमित्यत्र प्रमाणापेक्षायां तद्बोधनायेदं सूत्रमित्याशयेन सूत्रं पठित्वा व्याचक्षते एकेषामित्यादि । शाखिनामिति । तैत्तिरीयाणाम् । श्रुतिमुपन्यस्य तदर्थं व्याख्यातुं गृह्णन्ति अत्रेत्यादि । विभजन्ते स रस

रश्मिः ।

क्तहेतोः सङ्ग्रहसूचनम्, तथा दुःखत्वेनेत्यादिभाष्येण भगवद्विरहेत्याद्युक्तम् । सुखत्वेनेत्यादि । मोक्षसुखं कर्मजन्यम्, सुखत्वात् सुखान्तरवदित्यनुमानेन सुखत्वेन हेतुना मोक्षसुखस्यापि तथात्वापत्तेः कर्मजन्यत्वापत्तेः । तत्परीति । मोक्षसुखस्य कर्मजन्यत्वपरिहाराय । अत्रापीति । दुःखत्वलिङ्गकानुमानेपि । लौकिक इति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म लौकिक इति । एवेति । अयमलौकिकसुखदुःखयोगव्यवच्छेदकः । उपेति सूत्रेऽनुवृत्तोपपत्तेरेव न तूक्तसूत्रयुक्तेरित्यर्थः । उपाधित्वं तु साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम् । तत्र साध्यसमानाधिकरणः कर्मजन्यत्वसमानाधिकरणो यो लौकिकत्वात्यन्ताभावो दुःखान्तरे नास्ति, किन्तु घटाभावस्तादृशाभावप्रतियोगित्वं घटे अप्रतियोगित्वं लौकिकत्व इति साध्यसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वमिति लक्षणसमन्वयः एवं साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमित्थम् । साधनवद् दुःखत्ववद् अलौकिकदुःखम् । तन्निष्ठो योऽत्यन्ताभावः लौकिकत्वात्यन्ताभावः तादृशाभावप्रतियोगित्वं लौकिकत्वेन त्ववधृते घटाभावे प्रतियोगी घट इति साधनवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साधनाव्यापकत्वमिति लक्षणसमन्वयः ॥ १२ ॥

स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥ १३ ॥ अलौकिकदुःखसत्त्वे पुनः प्रमाणमत्र । विभजन्त इति । विभागं व्याख्यानं कुर्वते । स रस इत्यादीति । एवकारव्यवच्छेद्यमाहुः नैकतरेणेति । संयोगेन विप्रयोगेण वा । साधनैकदेशत्वात् । क इति । कर्तृसामान्यपदम् । भाष्ये ।

येत्, न कोपीत्यर्थः । तादृशस्य भगवत्स्वरूपातिरिक्तात्र जीवनमिति ज्ञापनाय सामान्यपदम् । अक्षरानन्दाधिकपूर्णानन्दविरहासन्नमरणनिवारणासामर्थ्यम-तादृशस्योचितमेवेति ज्ञापनाय हिशब्दः । तादृशस्य जीवनसम्पादनं प्रभो-रावश्यकमिति ज्ञापनाय एवकारः । तापात्मकस्याप्यानन्दात्मकत्वमेवेति ज्ञाप-नायानन्दपदम् । तदा प्रलापगुणगानादयो ये भवन्ति, तेपि तद्धर्मा एव । नीला-म्बुदश्यामोऽतिक्लेशवशाद् हृदयादपगच्छत्विति भावेपि हृदयान्नापसारयितुं शक्य इति ज्ञापनाय आकाशत्वमुक्तम् । तदनन्तरं प्रकटीभूय, तदन्यः को वा प्रकर्षेण दर्शनस्पर्शाश्लेषभाषणादिभिः स्वरूपानन्ददानेन अन्यात्, पूर्वतापनि-वृत्तिपूर्वकमानन्दपूर्णं कुर्यादित्यर्थः । 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवती'ति पूर्ववाक्येनैवान्ययोगव्यवच्छेदपूर्वकं भगवत्प्राप्तेरानन्दहेतुत्वप्राप्तावपि यत्पुनराह, तत्रापि व्यतिरेकमुखेन, तत्रापि जीवनहेतुत्वम्, तदपि सामान्यविशेषाभ्यां वारद्वयम्, तेन विरहसामयिकोक्तरूप एवार्थः श्रुतेरभिप्रेत इति निश्चीयते ।

भाष्यप्रकाशः ।

इत्यादि । तत्रेति । पूर्णरसानुभावनेच्छया भगवतानुभाव्यमाने विप्रयोगे । सामा-न्यपदमिति । क इति पदम् । अक्षरानन्दाधिकपूर्णानन्दविरहासन्नमरणनिवारणा-सामर्थ्यमिति । अक्षरानन्दादधिको यः पूर्णानन्दो भगवाँस्तद्विरहेणासन्नं यन्मरणं तन्निवारणे असामर्थ्यम् । तद्धर्मा इति । विप्रयोगरसात्मकस्य भगवत एव धर्माः । आकाशपदस्य ब्रह्म-वाचकत्वेपि व्यापकत्वरूपं धर्ममादाय तस्य तात्पर्यान्तरमाहुः नीलाम्बुदेत्यादि । अति-क्लेशवशादित्यस्य, इति भावेपीत्यनेन सम्बन्धः । प्राण्यादिति पदस्यार्थमाहुः तदनन्तर-मित्यादि । अस्याः श्रुतेरयमेवार्थ इत्यत्र किं गमकमित्यपेक्षायां तदाहुः रसमित्यादि । यत्पु-नराहेति । 'को ह्येवान्या'दित्यादिना आनन्दनं यत्पुनराह । अन्यथेति । विरहावस्थाया अन-भिप्रेतत्वे । अत्र 'अन्यात्' 'प्राण्या'दित्यत्रान्यतरेणैव जीवनसम्पादनसिद्धौ सामान्यविशेषभावो नातीवोपयुज्यत इत्यरुच्या 'प्राण्या'दित्यस्य व्याख्यानान्तरमाहुः तदवस्थेत्यादि । तथा च मास्तु सामान्यविशेषभावः, तथाप्युक्तव्याख्यानेन दोषनिवृत्तेर्भगवद्विप्रयोगदुःखस्य कर्माजन्यत्वे उक्त-

रश्मिः ।

हिशब्द इति । श्रुतौ हिशब्दः । एवकारोऽवधारणार्थ इत्याहुः तादृशस्येति । तापात्मकस्येति । टिप्पण्यामेतत्स्पष्टम् । वागवर्णनीय आनन्दे भक्तविरहदुःखं कियत् यद् स्वस्वरूपं सुखमतिक्रम्य प्रभवेत्, किन्तु सुखाय तत्स्वरूपोपज्ञापकत्वात् । दुःखमिदं सुखमिति । एवकारो दुःखमनु तन्निव-र्तकवैषयिकप्रयोगे सुखविशेष इत्यनुभवात् । प्रलापेति । 'मधुप कितवबन्धो' इति प्रलापः । प्रकृते । ब्रह्मवाचकत्व इति । आकाशस्तल्लिङ्गादित्यधिकरणात् । तात्पर्यान्तरमिति । आकाशत्वावच्छिन्ने आकाशपदशक्तिः । नीलाम्बुदश्यामे तात्पर्यम् । हृदयादपसारणाशक्यत्वे तात्पर्यान्तरम् । एतत ज्ञापनाय चेति भाष्यीयचकारार्थः । तदाहुरिति । गमकमाहुः । अत्रान्यादिति । अयं सामा-न्यविशेषाभ्यां वारद्वयमिति भाष्यार्थोपि । यद्युज्यत इति । यस्मान्न युज्यत इति नञ्विशिष्टोर्थोत्र भाति । तदवस्थेत्यादीति । अन्यात् स्त्रीः प्राण्यात् पुरुषः, 'स्त्रियो वा पुरुषा वापि भर्तृभावेन केशवम् । हृदि कृत्वा गतिं यान्ति श्रुतीनां नात्र संशय' इति वाक्यात् । उक्तेति । भाष्योक्तव्याख्या-नान्तरेण पुनरुक्तिदोषस्य अन्यात् प्राण्यादित्यत्र निवृत्तेः । कर्माजन्यत्व इत्यस्य प्रमाणमित्यनेनान्वयः ।

अन्यथा मरणहेत्वनुपस्थितौ जीवनहेतुत्वं न वदेदित्युक्तम् । तदवस्थापन्नः को वा पुरुषो जीवेदिति वार्थः ॥ १३ ॥

स्मर्यते च ॥ १४ ॥

भगवद्भावस्य मरणहेतुत्वम्, तेनैव च जीवनं तस्य ब्रह्मादिदुरापत्वं च श्रीभागवते स्मर्यते । 'ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः । ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् विभर्म्यह'मित्युपक्रम्य, 'धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चने'त्यादिश्रीप्रभुवचनम् । श्रीमदुद्धववचनं च 'एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः । वाञ्छन्ति यं भवभियो मुनयो वयं च किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य' इत्यादि । तेन भगवत एव जीवनहेतुत्वं भावस्य च परमपुरुषार्थत्वं दुरापत्वं च स्फुट-मवगम्यते ॥ १४ ॥

तानि परे तथा ह्याह ॥ १५ ॥

ननु हृदि बहिश्च रसात्मकभगवत्प्राकट्यम्, तददर्शनजनितो विरहभावः, तज्जनितस्तापः, तेन मरणोपस्थितिः, तन्निवर्तनं तदौत्कण्ठ्यं, तदा प्राकट्यं, ततः पूर्णस्वरूपानन्ददानादिकं लोके क्वचिदपि न दृष्टं श्रुतं वा वैकुण्ठेपीति कुत इत्याशङ्कायामाह । तानि । उक्तानि वस्तूनि परे प्रकृतिकालाद्यतीते वैकुण्ठा-दप्युत्कृष्टे श्रीगोकुल एव सन्तीति शेषः । तत्र प्रमाणमाह । तथा ह्याह

भाष्यप्रकाशः ।

श्रुतिबोधितं भगवत्कर्तृकजीवनसम्पादनरूपमासन्नमरणलिङ्गमेव प्रमाणमित्यर्थः । अस्मिन् सूत्रे 'एकेषां स्पष्ट' इत्युक्त्या शाखान्तरेऽस्पष्ट इति बोधितम् । तेन भूमविद्यायां 'आत्मतः प्राण' इत्यादिकथने 'आत्मत एवाविर्भावतिरोभावा'वित्यपि कथनेन व्यापारतया विरहदुःखस्यापि स्मार-णादिति । एतेनापि, 'न पश्यो मृत्युं पश्यती'ति श्लोकोक्तस्य दुःखस्य कर्मजन्यत्वं दृढीभवति । अदर्शनकथनेन तस्यैवाप्राप्तस्य बाधबोधनादिति बोध्यम् ॥ १३ ॥

स्मर्यते च ॥ १४ ॥ यद्यपि रसात्मकमेव ब्रह्म प्रकृत्येयं श्रुतिः प्रवृत्तेति नास्मिन्नर्थे सन्देहः, तथापि कश्चिदेतदर्थं सामान्यजीवपरतया शङ्केतेति तद्वारणायैतमर्थं स्मृत्योपष्टम्भयतीत्याशयेन सूत्रं पठित्वा व्याचक्षते भगवद्भावस्येत्यादि ॥ १४ ॥

तानि परे तथा ह्याह ॥ १५ ॥ सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि । न दृष्टं श्रुतं वेति । फलकोटौ न दृष्टं श्रुतं वा । इति कुत इति । इति हेतोः कुत एवमुच्यत

रश्मिः ।

उक्तेति । कः प्राण्यादित्यस्याः पूर्वा उक्तश्रुतिस्तया बोधितम् । व्यापारतयेति । आत्मत इत्यत्र तसिलर्थः सव्यापारो हेतुरिति भावः । विरहेति । आत्मनः सव्यापारहेतोः विरहदुःखस्याविर्भाव इति स्मारणात् । एतेनेति । शाखान्तरीयेणापि । अदर्शनेति । न पश्यतीति योजनया अदर्शनकथनेन । तस्यैवेति । कर्मजन्यस्यैव दुःखस्य ॥ १३ ॥

स्मर्यते च ॥ १४ ॥ भाष्ये । जीवनेति 'तान् बिभर्म्यह'मिति जीवनहेतुत्वम् । 'वाञ्छन्ति य'मित्यादिना परमपुरुषार्थत्वादि ॥ १४ ॥

श्रुतिः । ऋग्वेदे पठ्यते 'ता वाँ वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः । अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि' । ता तानि वां भगवत्तदन्तरङ्गभक्तयोः सम्बन्धीनि वास्तूनि वस्तूनि गमध्यै प्राप्तुमुश्मसि कामयामहे । तानि कानीत्याकाङ्क्षायां गूढाभिसन्धिमुद्घाटयति । यत्र श्रीगोकुले गावो भूरिशृङ्गा बहुशृङ्गा रुरुप्रभृतयो मृगाश्च वसन्तीति शेषः । अयासः शुभावहाः। तत् उक्तगुणविशिष्टं उरु गीयत इत्युरुगायस्तस्य । गोप्यो हि सततं तं गायन्ति । अत एव तदादिभक्तेषु कामान् वर्षतीति वृषा । तस्य परमं प्रकृतिकालाद्यतीतं पदं स्थानं भगवतो वैकुण्ठं भवति । तत्रैतादृशलीलाऽभावेन तस्मादपि परममुत्कृष्टम् । अत्र भूमावभाति प्रकाशत इत्यर्थः । तथापि सहृग्गोचरो न भवतीति खेदेन अहेत्याह श्रुतिः । उरु गीयते परं सर्वत्र कामवर्षणं भक्तेष्वत्रैवेति तात्पर्येण वा विशेषणद्वयमुक्तम् । यमुनापुलिनतदुपवननिकुञ्जगह्वरप्रदेशाद्रिसान्वाद्यात्मकत्वेन भूरि बहुरूपम् । तथा चैतादृशं यत् परमं पदमवभाति तत्सम्बन्धीनि वास्तूनि कामयामह इति वाक्यार्थः सम्पद्यते । 'ते पदार्था' इति वक्तव्ये सति 'तानी'त्युक्तिर्या, सा विषयवाक्यानुरोधादिति ज्ञेयम् ।

पुरुषोत्तमसम्बन्ध्यर्थानां तत्प्राकट्यस्थान एव प्राकट्यं युक्तमिति हिशब्देनाह ॥ १५ ॥

अविभागो वचनात् ॥ १६ ॥ (४-२-४)

ननु लीलाया नित्यत्वेन तन्मध्यपातिनां तद्दर्शनं यथा नित्यम्, तथा तादृक्साधनाभावेपि निजानुकम्पया कदाचित् कमपि भक्तं तत्र नयति

भाष्यप्रकाशः ।

इत्यर्थः । आहेति । तस्य स्थानं, तत्र प्रमाणं चाह । सूत्रस्य श्रुतेश्च व्याख्यानमतिरोहितार्थम् ॥ १५ ॥ इति तृतीयं समानाधिकरणम् ॥ ३ ॥

अविभागो वचनात् ॥ १६ ॥ एवं नवभिः सूत्रैस्तत्तदाशङ्कानिराकरणेन वागादिलयप्रकारभेदावश्यकत्वं दृढीकृत्य पुष्टिमार्गविषय एव किञ्चिद्विचारयतीत्याशयेनाधिकरणमवतारयन्ति ननु लीलाया इत्यादि । अत्र यदि वियोजयति, तदापि कृपाविषयत्वात् संसारे न पातयति, किन्तु मुक्तिमेव ददातीति प्रथमकोटेराशयः । द्वितीयकोटिस्तु कादाचित्कत्वादनुपपन्नेति सन्देहबीजम् । शेषं भाष्यमतिरोहितार्थम् ।

रश्मि

तानि परे तथा ह्याह ॥ १५ ॥ अतिरोहितार्थमिति । उत्कृष्ट इति । वाराहेस्ति 'वैकुण्ठादप्युत्कृष्टं गोकुल'मिति चातुर्मास्यमाहात्म्ये । 'वेदार्थो रामकृष्णयो'रिति कृष्णोपनिषच्छ्रुतेरर्थमाहुः श्रीगोकुल इत्यादि । एतादृशलीलाऽभावेनेति समत्वादेवम् । अहेति खेदे । अधोक्षजत्वाद् विरुद्धधर्माश्रयत्वाच्चाहुः पुरुषोत्तमसम्बन्ध्यर्थानामिति । औचित्यैवकारः । एवमतिरोहितार्थम् ॥ १५ ॥ इति तृतीयं समानाधिकरणम् ॥ ३ ॥

अविभागो वचनात् ॥ १६ ॥ अतिरोहितार्थमिति । निजेति । प्रमेयबलेन ।

चेत् तदा कञ्चित्कालं स्थापयित्वा, ततस्तं वियोजयति, न वेति संशयः । तोषस्य कादाचित्कत्वात् तत्साध्या तत्र स्थितिरपि तथैवेति वियोजयतीति पूर्वः पक्षः । तत्र सिद्धान्तमाह । तत्र प्रवेशितस्य तस्मादविभाग एव । कुतः । वचनात् । तैत्तिरीयक उक्तर्गनन्तरमेव, 'विष्णोः कर्माणि पश्यते'त्यृचा तत्र कृतानि कर्माण्युक्त्वा, तदग्रे वदति 'तद्विष्णोः परमं पदꣳसदा पश्यन्ति सूरय' इति । पुरुषोत्तमस्वरूपवित्त्वं सूरित्वम् । तच्च भक्त्यैवेति सूरयो भक्ता एव । तेषां सदा दर्शनमुच्यते । अन्यथा लीलानित्यत्वेनैव पूर्वगर्भ्यां तत्र स्थितगवादीनां प्रभुकर्मविषयाणां च भक्तानां सदा तद्दर्शनस्य प्राप्तत्वादिदं न वदेत् । तस्मादविभाग एव । एतेनापि लीलानित्यत्वं सिध्यति । एतद् यथा तथा विद्वन्मण्डने प्रपञ्चितम् ॥ १६ ॥

इति चतुर्थाध्याये द्वितीयपादे चतुर्थमविभागाधिकरणम् ॥ ४ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

अयं च विचारः प्रासङ्गिक इति बोध्यम् । तस्य स्थानस्य परिच्छिन्नत्वाद् भक्तानां च नानादेशत्वेन तत्र तत्र मरणे ततो निर्गत्यात्रागमनस्यावश्यकत्वात् सद्योमुक्तिप्रसङ्ग एतद्विचारो न युक्त इति शङ्क्यम् । दहराधिकरणन्यायेन तन्नित्यत्वस्य परिच्छिन्नत्वेपि व्यापकत्वस्य, एतस्य

रश्मिः ।

उक्तर्गिति । 'ता वां वास्तूनी'त्याद्यृगनन्तरम् । तच्चेति फलात्मकपुरुषोत्तमज्ञानवत्त्वं च भक्त्यैव, 'भक्त्या मामभिजानाती'ति वाक्यात् । प्रभ्विति । निजानुकम्पया नित्यक्रीडायां निवेशितानाम् । तथा च प्रभुनिवेशनकर्मविषयाणाम् । इदम् । 'सदा पश्यन्ति सूरय' इत्युक्तं दर्शनम् । अविभाग एवेति । तेन 'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थित'मिति गीतायां विरुद्धधर्माश्रयत्वं नोक्तम्, किन्तु ब्रह्मस्वरूपमेवेति द्योतितम् । तेन भेदाभेदावित्यत्रापि भेद इवार्थः स्वरूपनिविष्टः, न तु विरुद्धधर्माश्रयत्वार्थम् । यथा 'प्रवर्तते यत्र रजस्तम' इत्यत्र, 'विद्ययाविद्यया शक्त्या मायया च निषेवित'मित्यत्र मायाविद्याविद्याभ्यां न विरुद्धधर्माश्रयत्वम् । मायाया अवस्थितमतेऽनङ्गीकारेण तथा विरुद्धधर्माश्रयत्वासिद्धिः । विद्याविद्ययोस्तु ज्ञानस्वरूपत्वात् प्रभोरविद्यया तन्नाश्यया न विरुद्धधर्माश्रयत्वम्, तथा । नन्वविद्यायाः सर्वथा नाशे 'कृत्वातरन् वत्सपदं स्म यत्प्लवाः' इत्यस्य सुबोधिन्युक्तदिशाहन्ताममतयोरपि भेदनिबन्धनत्वात् तन्नाशे सुबोधिन्यादिविरोध इति चेत् । न । जगतो बन्धकत्वेन मोचकभक्तिमार्गाविषयत्वात्तदीयाहन्ताममतयोर्बन्धकत्वेपि भक्तिमार्गेऽहन्ताममतयोर्भक्तित्वेन मोचकत्वात् । इवार्थभेदनिबन्धनत्वेपि बन्धदोषाभावात् स्वरूपतो ब्रह्मत्वात् । एतेनापीति । 'पश्यन्ती'ति वर्तमानप्रयोगेण । ननु 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वे'ति सामीप्ये वर्तमानप्रयोगेपि 'पश्यन्ती'ति लडुपपत्तेर्न लीलानित्यत्वं सिध्यतीत्यत आहुः एतद्यथातथेति । 'जयति जननिवासो देवकीजन्मवाद' इत्यत्र निरोधलीलोपसंहारश्लोके 'जयती'त्यादिवर्तमानप्रयोगेण लीलानित्यत्वसाधने प्रपञ्चितम् । अत्राप्यष्टाविंशतिदोषास्ते सुवर्णसूत्रे विविच्य परिहृताः । भक्तिमार्तण्डेपि मया लिखिताः । एवमतिरोहितार्थमित्यर्थः ।

प्रकृतमनुसरामः । तस्येति । श्रीगोकुलीयस्य (व्रजभवस्य) भक्तस्थानस्य । अत्रेति । भगव-

भाष्यप्रकाशः।

व्रजस्य तद्वृत्तिलाभस्थानतायाश्च व्युत्पादितत्वात् तादृशभक्तस्य यत्र क्वचन मरणेपि तदानीं लीलादिसहितस्य भगवतो हृदि वा बहिर्वा प्राकट्ये तत्स्थानादेरपि तत्रैव प्राकट्येन तत्रैव तस्य तत्प्राप्तेर्विद्वन्मण्डन एवोपपादितत्वेन सद्योमुक्तिविचार एतद्विचारस्य युक्तत्वादिति।

अन्ये तु, 'समाना चासृत्युपक्रमा'दित्यादिषु दशसु सूत्रेष्वपि प्रथमे मूर्धन्यनाडीद्वारा देवयानमार्गे गमनात् पूर्वं विद्वदविदुषोरुत्क्रान्तिसाम्यं व्याख्यातम्, तदोकोग्रसूत्रोक्तज्वलनादेव स्मर्यमाणतया गतार्थम्। यत्पुनरग्रेविद्यादिक्लेशानदग्ध्वा आपेक्षिकममृतत्वं व्याख्यातम्, तत्त्वग्रिमपादे गमनस्य प्रारब्धभोगार्थत्वाद्यदैव प्रारब्धनिवृत्तिस्तदैव मोक्ष इति व्युत्पादनेन दूषयिष्यते। यत्पुनर्द्वितीये 'तेजः परस्यां देवताया'मित्युक्तायाः साध्यक्षसप्राणसकरणग्रामसभूतान्तरस्य तेजसः परदेवतायां सम्पत्तेः सौषुप्तिकसम्पत्तिवत् संसारबीजभावयुक्तत्वं व्याख्यातम्, तदुत्क्रान्तिसामर्थ्यादेवार्थात् सिध्यतीत्यविचार्यम्। यत् तृतीये पूर्वोक्ततेजसो निष्क्रमणवेलायां दुर्ज्ञेयत्वम्, चतुर्थे च स्थूलशरीरदाहादिना लिङ्गशरीरस्य सूक्ष्मत्वादनुपमर्दम्, पञ्चमे च देहौष्ण्यरूपस्योष्मणः सूक्ष्मशरीरधर्मत्वं व्याख्यातम्, तत्प्रयोजनाभावादनर्थकम्। षष्ठे च 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ती'ति शारीरब्राह्मणीयवाक्ये या षष्ठी, सा आर्तभागब्राह्मणीये 'न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ती'ति वाक्ये या पञ्चमी तया सम्बन्धसामान्ये व्यवस्थाप्यमाना पञ्चम्यर्थमेवाभिधत्ते इति परविद्यावतोपि जीवात्प्राणानामुत्क्रमः, किन्तु सहैव प्राणैः स्थितिरिति

रश्मिः।

स्थाने। तद्वृत्तीति। भगवद्वृत्तिलाभस्थानतायाः। व्युत्पादितत्वादिति। 'सर्वोपेता चे'त्यधिकरणे 'लोकवत्तु लीला कैवल्य'मितिसूत्रे तथा। यद्वा। प्रथमाध्यायस्य द्वितीयपादे 'अन्तर उपपत्ते'रित्यधिकरणे। तथाप्युपपादितत्वादित्यर्थापत्त्या पूर्वं व्युत्पादितत्वादित्यर्थः। पूर्वं तृतीयाध्याये उपसंहारपादे 'सर्वाभेदादन्यत्रेमे' इत्यादिसूत्रभाष्ये। तत्स्थानादेरिति। भगवतः स्थानम्, आदिना यथद्धिया भावितं रूपं तत् तस्य। तत्रैवेति। व्रज एव। तस्य भक्तस्य। तत्प्राप्तेः भगवत्प्राप्तेः। दूषयन्ति स्म तदू ओकोग्रेति। वक्ष्यमाणाधिकरणेऽस्ति। गतार्थमिति। सूत्राणां न्यायरूपत्वादिति भावः। अग्र इति। 'अमृतत्वं चानुपोष्ये'ति सूत्रांशे। अनुपोष्येत्यस्यार्थो विद्यादिक्लेशानदग्ध्वेति। द्वितीय इति। 'तदापीते'रिति सूत्रे। तत् तेज आदिभूतं सूक्ष्मं आपीतेरासंसारमोक्षात् सम्यग् ज्ञाननिमित्तादवतिष्ठतः पुंसः। 'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुत'मिति सूत्रार्थः। साध्यक्षं सजीवं तेजः। अत्र सूक्ष्मशरीरस्य लयः। संसारबीजेति। संसारबीजं कर्म, तदभावयुक्तत्वम्। 'संसारव्यपदेशा'दिति सूत्रांशव्याख्यानम्। संसारस्य संसारबीजस्य व्यपदेशादभावात्। तथात्र भाष्यं 'बीजभावावशेषैवैषा सत्सम्पत्ति'रिति। तत्तु क्रममुक्तिकथकाच्छ्रीभागवतादेवासन्दिग्धमित्याशयेन दूषयन्ति स्म तत्त्विति। तृतीय इति। 'सूक्ष्म'मिति सूत्रे। दुर्ज्ञेयत्वमिति। सूक्ष्ममित्यस्यार्थः। 'प्रमाणतश्चे'त्यस्य सूत्रांशस्य नाडीनिष्क्रमणश्रुतेः। 'तथोपलब्धे'रित्यस्य सूत्रांशस्य तनुत्वात् सञ्चारोपपत्तिः, स्वच्छत्वाच्चाप्रतिघातोपपत्तिः, अत एव देहान्निर्गच्छन् पार्श्वस्थैर्नोपलभ्यत इत्यर्थः। चतुर्थ इति। 'नोपमर्देने'ति सूत्रे। नोपमर्देनेत्यस्यार्थः स्थूलशरीरेत्यादिः। सूक्ष्मत्वादिति। सौत्रस्य अत इत्यस्यार्थः। पञ्चम इति। 'अस्यैवे'ति सूत्रे। षष्ठ इति। प्रतिषेधादिति सूत्रे। आर्तभागेति। सप्तम्यन्तम्। तस्मादिति श्रुतिः। परविद्यावत इति। पञ्चम्य-

एवं पुष्टिमार्गीयभक्तवृत्तान्तमुक्त्वा ज्ञानमार्गीयस्य तमाह।

तदोकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ॥ १७ ॥ (४-२-५)

पूर्वं, 'भूतेषु तच्छ्रुते'रित्यादिना मर्यादामार्गीयस्य वागादिलय उक्तोऽधुना तस्य जीवात्मन उत्क्रमणप्रकार उच्यते। 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो

भाष्यप्रकाशः।

पूर्वपक्षः। सप्तमाष्टमयोस्तु परविद्यावतः शरीरादेव प्राणानुत्क्रम इति परविद्यावान् केवल एव मुच्यत इति सिद्धान्तः। नवमे च परविद्यावतः प्राणशब्दोदितानीन्द्रियाणि भूतानि च परे ब्रह्मण्येव सम्पद्यन्त इति। दशमे च, परविद्यावतो यः प्राणादीनां परब्रह्मणि लयः स नान्यप्राणलयवत् सविशेषः किन्त्वात्यन्तिक इति सिद्धान्तयन्ति। तत्र षष्ठं 'प्रतिषेधा'दिसूत्रमारभ्य सूत्रपञ्चके यत् प्रतिपादितम्, तदत्र पूर्वपक्षांशं विहाय, शेषं 'वाङ् मनसी'ति प्रथमाधिकरण एव हेतूक्तिपूर्वकं पुष्टिमार्गीयभक्तेन्द्रियाणां प्रतिपादितम्। ततो मर्यादामार्गीयाणां भक्तानां ज्ञानिनां च यत्ततो वैलक्षण्यम्, तदपि 'भूतेषु तच्छ्रुते'रिति द्वितीये प्रतिपादितम्। तावता सद्योमुक्तिप्रकारः सर्वोपि विचारित इति तेनैव गतार्थम्। यानि पुनस्तैरपरविद्यावदविद्वत्साधारण्येन तत्परतया व्याख्यायन्ते, तान्यत्र विरोधाभावात् पूर्वोक्तदूषणेनैव विरुद्धांशदूषणस्य जातत्वादुपेक्षितानि ॥ १६ ॥ ४ ॥ इति चतुर्थमविभागाधिकरणम् ॥ ४ ॥

अतः परं क्रममुक्तिप्रकारः पितृयानेन भ्रमतां च प्रकारो विचारणीय इति तं वक्तुं सूत्रमवतारयन्ति एवमित्यादि।

तदोकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ॥ १७ ॥ तत्र को वृत्तान्त इत्याकाङ्क्षायामाहुः पूर्वमित्यादि।

रश्मिः।

न्तम्। जीवादिति शारीरादिसूत्रांशार्थः। नेति। श्रुतिविरोधान्न प्राणानामुत्क्रम इति विरोधादिति सूत्रांशार्थः। तथा च शारीरादुत्क्रान्तिप्रतिषेधाद् इति चेद् इत्यन्तः पूर्वपक्षः। नेति सिद्धान्ते योज्यं सूत्रे। सप्तमेति। 'स्पष्टो ह्येकेषाम्' 'स्मर्यते चे'त्येतयोः। प्राणानुत्क्रमः। 'अत्रैव समवनीयन्त' इति श्रुतेरत्रैव लयः। इत्यीति। इत्येवम्। 'सर्वभूतात्मभूतस्य सम्यग्भूतानि पश्यतः। देवा अपि मार्गे मुह्यन्त्यपदस्य पदैषिण' इति 'स्मर्यते चे'ति सूत्रस्य स्मृ[illegible]उदाहार्यं सिद्धान्तमाहुरित्यर्थः। नवम इति। 'तानि पर' इति सूत्रे। 'तथा ह्याहे'त्यस्यार्थस्तु 'एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ती'ति छान्दोग्यश्रुतिस्तथा ह्याहेति। दृष्टान्तोऽपि। 'यथा नद्यः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ती'ति। षोडश कलाः सूक्ष्मदेहरूपाः। दशम इति। 'अविभाग' इति सूत्रे। 'वचना'दित्यस्य तु कलानां लयोक्त्यनन्तरं 'भिद्येते चासां नामरूपे' इति वचनादित्यर्थः। पूर्वोक्तेति। 'समाना चासृत्युपक्रमा'दित्यादिसूत्रभाष्योक्तदूषणेनैव। विरुद्धांशेति। यथा 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासे'त्युक्ते विरुद्धस्य 'अथातो धर्मजिज्ञासे'त्यस्य धर्मांशस्य दूषणमप्राकरणिकत्वं तस्य जातत्वात्तदुपेक्षा तद्वत् ॥ १६ ॥

इति चतुर्थमविभाग इत्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

तदोकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात् तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ॥ १७ ॥ अतः परमिति। सद्योमुक्तिविचारानन्तरम्।

हृदयमेवान्ववक्रामती'ति श्रुतेस्तस्यात्मन ओक आयतनं हृदयं तदग्रं पूर्वं प्रज्वलति, पूर्वं तथा अप्रकाशमानमपि तदा प्रकाशत इति यावत् । तदा तत्प्रकाशितं द्वारं निर्गमनमार्गो यस्य तादृश उत्क्रामति । यतः श्रुतिस्तथाह 'तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वे'त्यादि ।

भाष्यप्रकाशः ।

मर्यादामार्गीयाणां सद्योमुक्तिर्द्विधा, हृदय एव साधनप्राबल्ये ब्रह्म प्राप्नोतीत्येकः, तदभावे ब्रह्माण्डमध्ये दशमद्वाराक्निर्गतस्य तत्रैवेत्यन्यः । क्रममुक्तिब्रह्माण्डभेदनोत्तरं ततो बहिः । तत्राद्यायां जीवस्य नोत्क्रमणम् । द्वितीयतृतीययोस्तदपेक्षासत्त्वात् तत्प्रकार उच्यत इत्यर्थः । एवं वृत्तान्तस्वरूपमुक्त्वा सूत्रं व्याकुर्वन्ति स इत्यादि । प्रकाशत इति । इन्द्रियरूपाभिस्तेजोमात्राभिः प्रकाशते । सूत्रशेषं पूरयन्ति तादृश उत्क्रामतीति । श्रुतिस्तु बृहदारण्यके शारीरब्राह्मणे । 'स वा अयमात्मा अबल्यं नीत्य संमोहमिव न्येत्यथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति, स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्तते-ऽथारूपज्ञो भवत्येकीभवति न पश्यतीत्याहुः । एवं न जिघ्रति, न वदति न शृणोति, न मनुते, न विजानातीत्याहुरित्युक्तम् । ततः, 'तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ती'त्यादिना 'इति तु कामयमान' इत्यन्तम् । अर्थस्तु, यः पूर्वब्राह्मणे 'एभ्योऽङ्गेभ्यः सम्प्रमुच्ये'त्यादिना म्रियमाणावस्थ उक्तः, सोऽयं शारीर आत्मा जीवो यत्र यस्यां म्रियमाणावस्थायां अबल्यं नीत्य अबलभावं नितरां प्राप्य, संमोहमिव न्येति सम्मोहः संमूढता विवेकराहित्यं तन्नितरां प्राप्नोति, अथ तदा एनं करणस्वामिनम्, एते प्राणा वागादयोऽभिसमायन्ति आभिमुख्येन निकट आयान्ति । स एतास्तेजोमात्रा विषयप्रकाशकानीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि समभ्याददानः सम्यगाभिमुख्येन गृह्णान उपसंहरमाणो हृदयं स्वायतनमेवान्ववक्रामति तल्लक्षीकृत्य आयाति, स यत्र वर्तते, तत्र एष चाक्षुषः पुरुष आदित्यांशश्चक्षुर्देवतारूपः पराङ् पर्यावर्तते स्वकार्योद्विमुखो भवति । अथ तदा 'स एष' इत्यनेनोक्तश्चक्षुरभिमाता अरूपज्ञो भवत्येकीभवति करणग्रामेण । तदा न पश्यतीत्याहुः । पार्श्वस्था न पश्यतीत्याहुः । एवमग्रेऽपि । तदुत्तरावस्थामाह तस्येत्यादि । तस्य लिङ्गोपाधिकस्य ह एतस्य मुमूर्षोर्हृदयस्य एतत्स्थानस्य अग्रं नाडीमुखं प्रद्योतते पूर्वमप्रकाशमपि तदानीं प्रकाशते । तेन प्रद्योतेन एष आत्मा शरीरान्निष्क्रामति

रश्मिः ।

को वृत्तान्त इति । सङ्गतिबोधको वृत्तान्तः कथा । साधनेति । प्रमेयबलमपि द्रष्टव्यम् । तदभावे साधनप्राबल्याभावे । दशमेति । नवद्वाराणि देहे । दशमद्वारं (नाडीद्वारं) हृदयाग्रद्वारम् तस्मात् । तत्रैवेति । हृदय एव । इति सद्योमुक्तिः । तदपेक्षेति । जीवोत्क्रमणापेक्षासत्त्वात् । स इत्यादीति । तेजोमात्रा इन्द्रियाणि । प्रकाशत इति । तेन प्रकाशमानं हृदयाग्रं भवति । मांसपिण्डं हृदयं आकाशरूपम् । 'काशृ दीप्ता'विति धातुपाठात् तत्सूक्ष्मत्वात् तेजोमात्राभिः प्रकाशत इत्यर्थः । पूर्वं तथा अप्रकाशमानमपीति भाष्यात् । पूर्वेति । ज्योतिर्ब्राह्मणे । इत्यादिनेति । 'प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति प्राणायैवे'ति । स्पष्टोऽर्थः । उपसंहारेति । उपसंहारं कुर्वाणः । अप्रकाशमानमिति । परीत्योक्तम् । स्वमते तथा अप्रकाशमानं यतः । यमगतीति । यमकृता

यद्यप्येतावत् सर्वजीवसाधारणम्, तथापि विद्वांस्तु नेतरवदितरनाड्या निष्क्रामति, किन्तु, शताधिकया एकशततम्या नाड्या मूर्धन्या निष्क्रामति । 'शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ती'ति यतः श्रुतिराह । अत्र हेतुमाह । हार्दानुगृहीत इति । हेत्वन्तर्गर्भं विशेषणम् । 'गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे' इति श्रुतेर्हृदयाकाशसम्बन्धी यः परमात्मा तदनुग्रहात् तथैव भवतीत्यर्थः । अनुग्रहे हेतुः विद्यासामर्थ्यादिति । तस्या विद्यायाः शेषभूताङ्गभूता या गतिः प्रव्रजनरूपा, तच्छेषभूतैव या भगवत्स्मृतिपरम्परा च ताभ्यां च यो भगवदनुग्रहस्तेन तथेत्यर्थः ॥ १७ ॥ इति चतुर्थाध्याये द्वितीयपादे पञ्चमं तदोकोधिकरणम् ॥ ५ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

निर्गच्छति । चक्षुराद्यन्यतमेभ्यः शरीरदेशेभ्यः । तदुत्तरव्यवस्थामाह तमुत्क्रामन्तमित्यादि । तं जीवात्मानम् । प्राण आसन्यः । प्राणा इन्द्रियाणि । अयं च निष्क्रमणप्रकारो यमगतिरहितानाम् । यमगतीनां तु, 'अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बला'दित्यादिवाक्यात् पिण्डितकरणग्रामस्य जीवस्य बलान्निष्क्रामणम् । एवं सति यद्यप्येतावद् ओकोग्रज्वलनादिकं यमगतिरहितचर्षणीजीवानां विदुषां च साधारणम्, तथापि, विद्वांस्तु नेतरवदितरनाड्या निष्क्रामति, किन्तु शताधिकयेत्याद्युक्तमार्गेण । श्रुतिस्तु छान्दोग्ये दहरविद्यास्था । शेषं स्फुटम् ।

तथा च 'स यदास्माच्छरीरान्निष्क्रामती'ति श्रुत्युक्तो निष्क्रमणप्रकारो विद्वदविदुषोस्तुल्यो वा विशेषवान् वेति सन्देहे, कामयमानतया उभयोस्तुल्यत्वेन शारीरब्राह्मणोक्तरीत्या तुल्य एवेति प्राप्ते । हृदयाग्रप्रद्योतनपर्यन्तं विद्वदविदुषोस्तुल्यो निर्गमनमार्गः प्रकारश्च विदुषोऽतिरिक्त इति सिद्धान्तो बोधितो ज्ञेयः । एवमेतेन क्रममुक्तिप्रामृणां जीवस्य शरीरान्निर्गमनप्रकार उक्तः । तत्र ये मूर्ध्नो निष्क्रामन्ति, ते दशमद्वारं भित्त्वा तत्रैव सद्यो ब्रह्मणि लीयन्ते । तथा सति करणग्रामो भूतेष्वेव लीयत इत्यर्थादायाति ॥ १७ ॥ इति पञ्चमं तदोकोधिकरणम् ॥ ५ ॥

रश्मिः ।

गतिर्यमगतिस्तद्रहितानाम् । पिण्डितेति । पिण्डितः पिण्डीभावो विद्यते यत्र । तारकादिभ्य इतच् । करणानामिन्द्रियाणां ग्रामः । यमगतीति । चृष प्रजननैश्वर्ययोः । चर्षण्यो भ्रमणशक्तयः तद्युक्तानां जीवानाम् । इत्याद्युक्तमार्गेणेति । इत्यादिभाष्योक्तमार्गेण । शेषमिति । मूर्धानमिति । मूर्धानं लक्षीकृत्य । हेत्वन्तर्गर्भेति । हेतुरन्तर्गर्भो यस्य विशेषणस्य । हार्दानुगृहीतत्वादित्यर्थः । हार्दानुग्रहमाहुः गुहामिति । तथैवेति । हार्दानुगृहीत एव । तच्छेषेति सूत्रांशं विवृण्वन्ति स्म तस्या इति । गतिर्गमनं तत्प्रव्रजने प्रधानमिति तुरीयत्वाच्च गतिः प्रव्रजनम् । मुख्याधिकारत्वाच्च । संन्यासनिर्णयग्रन्थोक्तम् । तत्तु आयुष उत्तरभागेऽवशिष्टे पञ्चविंशतिवर्षे भवति । पारिभाषिकं प्रव्रजनं तु गृहस्थाश्रमेऽप्यस्ति । काम्यकर्मसर्वकर्मफलत्यागात् । तदुक्तं गीतायां 'काम्यानां कर्मणां त्यागं संन्यासं कवयो विदुः । सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणा' इति । अनुस्मृतेरर्थमाहुः तच्छेषेति । उक्तभक्त्यादिविद्याशेषभूता भगवत्स्मृतिपरम्परायां अनुस्मृतिर्भवति । सा चानुस्मृतिर्ग्रन्थोक्तरीत्या ग्राह्या । श्रवणादीत्यनुक्त्वा स्मरणपरम्परोक्तेरयं भावः । तुरीयाश्रमसाहचर्याद् भक्त्या प्रसन्ने हरौ योगप्रयुक्तेः । सैकादशचतुर्दशाध्याये । 'नान्यानि चिन्तयेद्भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम् । तत्र

रश्म्यनुसारि ॥ १८ ॥ (४-२-६)

'अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति, शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पिङ्गल' इत्युपक्रम्य, अग्रे पठ्यते 'तमभित आसीना आहुर्जानासि मां जानासि मामिति। स यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानात्यथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभि-

भाष्यप्रकाशः।

रश्म्यनुसारी ॥ १८ ॥ एवं ब्रह्माण्डमध्ये सद्योमुक्तस्य व्यवस्थामुक्त्वा क्रमेण मुच्यमानस्य व्यवस्थां वदतीत्याशयेन प्रासङ्गिकमेतस्याधिकरणस्य विषयादिकमाहुः अथ या एता इत्यादि। श्रुतिस्तु छान्दोग्यस्थदहरविद्यायाम्।

अर्थस्तु, यो हृदयपुण्डरीकगतयथोक्तगुणविशिष्टब्रह्मोपासकः स या एता हृदयस्य पुण्डरीकाकारस्य ब्रह्मोपासनस्थानस्य सम्बन्धिन्यो नाड्यो हृदयमांसपिण्डात् सर्वतो विनिःसृता आदित्यमण्डलाद्रश्मय इव ता एताः पिङ्गलस्य वर्णविशिष्टस्याणिम्नः सूक्ष्मरसस्य पूर्णा इति सर्वत्राध्याहारः। तिष्ठन्ति। शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्य सौरं तेज एव शरीरे पित्तं तत्पार्थिवेन कफेन न्यूनाधिकभेदादनुविद्धं सत् शरीरस्थं रसं पाचयत्तद्वर्णं करोति। तत्रादित्यसम्बन्ध एव कारणम्। पित्तरूपेण तेजसा आदित्यस्य तत्र सत्त्वात्। तदाह श्रुतिः 'असौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल' इत्यादि। तथा चादित्यमण्डलस्य पञ्चवर्णत्वात्तदंशभूतं पित्तमपि तादृशमपि स्वपाचितं शारीरं रसमुपरञ्जयति, तदा तत्तन्नाडीस्थो रसस्तथा भवतीत्यर्थः। तदेतदुपक्रम्य ततो महापथदृष्टान्तेन आदित्यरश्मीनामुभयलोकसंसर्गित्वमुक्त्वा,

रश्मिः।

लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत्। तच्च त्यक्त्वा मदारोहो न किञ्चिदपि चिन्तये'दिति सार्धश्लोके उक्ता। तथेति। हार्दानुगृहीतः। एवं शेषं स्फुटम्। अधिकरणत्वाथाहुः तथा चेति ॥ १७ ॥

इति पञ्चमं तद्धोकोधिकरणम् ॥ ५ ॥

रश्म्यनुसारी ॥ १८ ॥ प्रासङ्गिकमिति। स्मार्तम्। तथा चारणे। 'स्मृतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानचतुष्टयम्। एतैः सर्वैरादित्यमण्डलमेव विभास्यत' इति। एतन्मूलभूता श्रुतिः। 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'। जगतः जङ्गमस्य। तस्थुषः स्थावरस्य। हृदयेति। हृदयपुण्डरीकगतं यथोक्तगुणविशिष्टं ब्रह्म। तस्योपासक इत्यर्थः। हृदयमांसेति। स्मार्तपक्षे हृदयरूपमांसे आकाशे सूर्य आत्मा। आकाशो मांस' इत्यत्र संहिता। उपासनवशाद् अणोः सूर्यजीवस्याप्रत्यक्षेण हृदयमांसपिण्डादित्युक्तम्। सूक्ष्मेति। अपां पुष्पत्वादादित्यरसत्वमुक्तम्, पिङ्गलस्य हृदयद्वारा सूर्यस्य पिङ्गले सत्त्वात्। एवमित्यन्तां श्रुतिं व्याकृत्य 'असावा' इत्यादिश्रुतिं व्याकर्तुमाहुः सौरं तेज इति। पित्तमित्यौचित्यात्। कफस्य पार्थिवत्वं कठिनत्वात् शुष्कस्य। न्यूनाधिकेति। न्यूनं पित्तम्, कफोऽधिकः। अधिकं पित्तम्, कफो न्यून इति। एवं न्यूनाधिकप्रकारात्। करोतीति। पञ्चवर्णत्वादादित्यस्य मूलस्य रसं तत्तद्वर्णं करोति। उपरञ्जयतीति। रञ्ज रागे। इत्यर्थोऽर्थ इति पूर्वेणान्वयः। उद्देश्यतावच्छेदकविधेययोरैक्यं बाधकं न भवति। घटो घटो न पट इति प्रयोगदर्शनात्। इत्युपक्रम्येत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म तदेतदिति। महापथेति। 'तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चामुं चैवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं चामु-

रूर्ध्व आक्रमत' इति। अत्र 'तमभित' इत्याद्युक्तेः सर्वसाधारण्युत्क्रान्तिः प्राप्यते। पूर्वमादित्यत्वेनोक्तस्य पिङ्गलस्य रश्मिभिरूर्ध्वाक्रमणं च तथा। अत्र संशयः। ओकोग्रज्वलनादेरितरसाधारण्येपि यथा हार्दानुग्रहाद्विलक्षणा गतिर्विदुष उक्ता, तथा रश्म्यनुसारित्वमपीतरसाधारणम्, उतास्मिन्नेवेति। तत्रावधारणमाह। रश्म्यनुसारी। निष्क्रामत्ययमेवेति ॥ १८ ॥

इति चतुर्थाध्याये द्वितीयपादे षष्ठं रश्म्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

भाष्यप्रकाशः।

तासां नाडीनामादित्यरश्मिसंसृष्टत्वं चोक्त्वा, तासु नाडीषु सुप्तस्य सुषुप्तिं चोक्त्वा, ततो मरणावस्थां बोधयन्ती श्रुतिः पठ्यते तमभित इत्यादि। तदर्थस्तु स्फुटः।

एवं श्रुतिमुपन्यस्यात्र संशयजनकं विषयमाहुः अत्रेत्यादि। उत्क्रान्तिः शरीराभिर्गमनम्। पिङ्गलस्येति। वर्णविशिष्टस्यादित्यांशभूतस्य पित्तस्य। संशयस्तु स्फुटः। पूर्वपक्षस्तु, ओकोग्रज्वलनादीनां साधारण्याद्रश्म्यनुसारित्वमपि तत्प्रवाहपातात्साधारणमिति। सिद्धान्तमाहुः तत्रेत्यादि। अत्र प्रमाणं तु, 'अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्व आक्रमत' इत्येतदनन्तरं, 'स ॐमिति चाहोद्वा मीयते स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषा'मिति तदग्रिमा श्रुतिः। तत्र हि स विद्वान् ॐकारेण परमात्मानं ध्यायन् ॐमिति चाह, यथापूर्वं वदति, उत् ऊर्ध्वं वा मीयते गच्छति। स विद्वान् यावन्मनः क्षिप्येत् यावता कालेन मनोव्यापारं कुर्यात्तावता कालेनादित्यं गच्छति प्राप्नोति। एतद्वै आदित्यरूपं खलु निश्चितं लोकद्वारं ब्रह्मलोकप्रवेशमार्गः। विदुषां प्रपदनं प्राप्तिकरणभूतम्, निरोधोऽविदुषाम्, ये अविद्वांसस्तेषां तेजसा निरोधजनकमिति तस्या अर्थात्। अतो विदुष एव रश्म्यनुसारित्वावधारणमित्यर्थः। अयं च करणग्रामसहितो गच्छति। 'यदि प्रयास्यन्नृप पारमेष्ठ्यं वैहायसानामुत यद्विहारम्। अष्टाधिपत्यं गुणसन्निवाये सहैव गच्छेन्मनसेन्द्रियैश्च' इति श्रीभागवतोक्तन्यायस्यात्रापि शक्यवचनत्वात्। एतस्य करणग्रामलयस्तु प्रारब्धसमाप्तौ मुक्तिदशायां भूतेष्वेव बोध्यः। तथैवोपक्रान्तत्वादिति ॥ १८ ॥ इति षष्ठं रश्म्यधिकरणम् ॥६॥

रश्मिः।

ष्मादादित्यात् प्रतायन्त' इत्यनयोक्त्वा। महापथशब्दः सप्तम्यन्तः। आतत इति च सप्तम्यन्तम्। प्रतायन्त इति। तनु विस्तारे इत्यस्य रूपम्। तासामिति। ता आसु नाडीषु सृप्ताः आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ता इत्यनयोक्त्वा। ता रश्मयः। तास्विति। 'तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति तन्न कश्च पाप्मा स्पृशति, तेजसा हि तदा सम्पन्नो भवती'त्यनयोक्त्वा। श्रुतिः पठ्यते इति। 'अथ यत्रैतदबलिमानं नीतो भवती'त्यनन्तरं 'तमभित' इत्यादिश्रुतिः पठ्यते। अवलिमानं अबलभावम्। स्फुट इति। अस्मिन्नेवेति। विदुष्येव। एवं स्फुटः। तत्रेत्यादीति। अयमेवेति। विद्वानेवेत्यवधारणमित्यर्थः। चाहेति। श्रुतौ पूर्वो वाकारः समुच्चयार्थक इति भावः। केन सह समुच्चय इत्याकाङ्क्षा तु 'ॐकारेणे'त्यादिग्रन्थेनोपशान्ता। यथापूर्वमिति। पूर्वं ध्यानविषयः तमनतिक्रम्य। आहेत्यस्यार्थो वदतीति। वा आह उद् वा मीयते इति श्रुतौ पदच्छेदः। येऽविद्वांस इति। य इति सामान्योक्त्या पुष्टा अपि। नाशपदं विहाय निरोधपदोपादानादविदुषां नाशः पुष्टानामधिकार्यादित्यप्रेरणया निरोधो निरोधलक्षणग्रन्थोक्तः। भगवतोऽत्यन्तानुग्रहात् ॥ १८ ॥ इति षष्ठं रश्म्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च ॥१९॥ (४।२।७).

विदुष उत्क्रमणे हार्दानुग्रहकृतो यथा विशेषः, तथा कालविशेषकृतोपि विशेषो भविष्यतीत्याशङ्क्य तन्निरासमाह । तत्राहोरात्रकृतोऽयनकृतो वा स भवेत् । तत्राद्यकृतो नास्तीत्याह नेति । तत्र हेतुः । सम्बन्धस्येत्यादि । अनुग्रहहेतुभूतो यः पूर्वोक्तो गत्यनुस्मृतिसम्बन्धस्तस्य यावद्देहभावित्वात् तत्कार्यस्यानुग्रहस्यापि तथात्वात् कालस्याप्रयोजकत्वमित्यर्थः । अत्र प्रमाणमाह । दर्शयति यतः श्रुतिः । 'तमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमीप्सन्तः प्रव्रजन्ती'ति ॥ १९ ॥

हार्दानुग्रहस्य मुक्तिहेतोर्विद्यमानत्वादयनविशेषोप्यप्रयोजक इत्याह ।

भाष्यप्रकाशः ।

निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च ॥ १९ ॥ इत्याशङ्क्येति । एवं निशि नेत्यनेनाशङ्क्य । तथा च निशीतिपदं मुक्तिप्रतिबन्धककालविशेषोपलक्षकम् । तत्र न आदित्यद्वारेण गमनम् । अतो ज्ञानिना मुक्त्यर्थं योगादिना कालः प्रतीक्षणीय इत्याशङ्क्येत्यर्थः । सिद्धान्तं व्याकुर्वन्ति अत्रेत्यादि । अर्थस्तु स्फुटः ।

अन्ये तु, सम्बन्धस्य 'यावद्देहभावित्वा'दित्यत्र नाडीसम्बन्धस्य तथात्वं व्याकुर्वन्ति । 'दर्शयती'त्यत्र, 'अमुष्मादादित्यात् प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता'इति छन्दोगश्रुतिं दर्शयति । तत्र यद्यपि पूर्वसूत्रोक्तं रश्म्यनुसारित्वमेव, 'निशि ने'त्यनेनाक्षिप्यत इति प्रतीयते, न तु कालविशेषनिषेधः, कालान्तरस्य सहकारित्वापादनं वा, तथाप्ययनसूत्रे रश्म्यभावशङ्कानुदयेन तत्रैतत्सूत्रोक्तस्य तत्परिहारहेतोरसङ्गत्या, 'अतश्चे'त्यतिदेशासङ्गतिरिति तत्र उदीक्षानुपपत्तेर्विद्याया अपाक्षिकफलत्वस्य मृत्योरनियतकालत्वस्य चेति कल्पितहेत्वन्तराध्याहारापेक्षया अतिदेशसामञ्जस्याय सम्बन्धपदे हार्दानुग्रहजनकगत्यनुस्मृतिसम्बन्धग्रहणस्यैव युक्तत्वाच्चिन्त्यम् । तथा च, 'रश्म्यनुसारि'सूत्रेपि स हेतुर्बोध्यः ॥ १९ ॥

रश्मिः ।

निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वात् दर्शयति च ॥ १९ ॥ अत्रेत्यादीति । तत्राहोरात्रकृत इत्यपि भाष्ये पाठः । स्फुट इति । पूर्वोक्त इति । तदोकोग्रसूत्रोक्तः । यावदिति । साकल्ये । देहानां साकल्यं यावद्देहम् । अव्ययीभावः । यावद्देहं भावी यावद्देहभावी । तत्त्वात् । 'को नु राजन्निन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजम् । न भजेत् सर्वतोमृत्युरुपास्यममरोत्तमै'रिति वाक्यात् । एवं स्फुटः । ता आस्विति । ता रश्मयः । आक्षिप्यत इति । नञर्थनिषेधप्रतियोगित्वेनाक्षिप्यते । रश्म्यभावेति । रश्म्यनुसारित्वनिषेधशङ्कानुदयेन । असङ्गत्येति । अर्थद्वारासङ्गतिस्तया । अतिदेशेति । हेत्वतिदेशासङ्गतिः । तत्र उदीक्षेति । अयनसूत्रे वक्ष्यमाणे 'अथापि रात्रावुपरतोऽहरागममुदीक्षेते'त्युक्तोदीक्षाऽहरागमोदीक्षा तस्या अनुपपत्तेः उत्तरायणोदीक्षासत्त्वात् । तथा विद्याया पक्ष उत्तरायणस्तत्सम्बन्धिपाक्षिकः न पाक्षिकं फलं यस्याः सा अपाक्षिकफला तत्त्वस्य । तत्सम्बन्धि तदभिन्नं यत् हेतोः नाडीसम्बन्धस्य यावद्देहसम्बन्धित्वादित्यस्माद् अन्यत् तद्धेत्वन्तरं हेत्वन्तरद्वयम् । तदपेक्षया । अतिदेशेति । तथा च शङ्करभाष्यम् । अतश्चायन इत्यत्र । 'अत एव उदीक्षानुपपत्तेः अपाक्षिकफलत्वाच्च विद्याया' इति । तस्यातिदेशस्य साम-

अतश्चायनेपि दक्षिणे ॥ २० ॥

स्पष्टार्थमिदम् ॥ २० ॥

भाष्यप्रकाशः ।

अतश्चायनेपि दक्षिणे ॥ २० ॥ स्पष्टार्थमिति । चोऽवधारणे 'नेति चेन्ने'ति पूर्वसूत्रादनुवर्तते । तथा च 'दक्षिणेऽयने ने'ति चेन्नेति पूर्वपक्षस्य, 'अतश्चे'त्यनेनातिदिष्टस्य तत्परिहारहेतोश्च स्फुटत्वात्तथेत्यर्थः ॥ २० ॥

रश्मिः ।

ञ्जस्याय अत इति सौत्रातिदेशस्य वा सामञ्जस्याय । स इति । हार्दानुग्रहजनकगत्यनुस्मृतिसम्बन्धः । रश्म्यनुसारी विद्वानेव निष्क्रामति हार्दानुग्रहजनकगत्यनुस्मृतिसम्बन्धात् । अपरेषां तदोकोग्रज्वलनमेकसूत्रमधिकरणम् । अर्थस्तु न विरुद्धः । रश्म्यनुसारीत्यधिकरणं द्विसूत्रम् । अतश्चायनाधिकरणं द्विसूत्रमिति । 'अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमुत्क्रामती'त्यत्र रश्म्यनुसारित्वमुक्तम्, तत्किमविशेषेणैवाह्नि रात्रौ वा म्रियमाणस्य रश्म्यनुसारित्वम्, आहोस्विदह्न्येवेति संशये, अविशेषश्रवणादविशेषेणैव रश्म्यनुसारीति प्रज्ञायते इति रश्म्यनुसारिसूत्र उक्तम् । 'निशि नेति'सूत्रे अस्त्यह्नि नाडीरश्मिसम्बन्ध इति । अहनि मृतस्य स्याद् रश्म्यनुसारित्वम्, रात्रौ तु प्रेतस्य न स्यात्, नाडीरश्मिसम्बन्धविच्छेदादिति चेत्, न, नाडीरश्मिसम्बन्धस्य यावद्देहभावीति । शिराकिरणसम्पर्कः । दर्शयति चैतमर्थं श्रुतिः । 'अमुष्मादादित्यात् प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते, अतोऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ता' इति । तस्मादविशेषेणैवेदं रात्रिन्दिवं रश्म्यनुसारित्वमित्युक्तम् । अतश्चायनाधिकरणे द्विसूत्रे प्रथमे अत एव उदीक्षानुपपत्तेरपाक्षिकफलत्वाच्च विद्याया अनियतकालत्वाच्च मृत्योर्दक्षिणायनेपि म्रियमाणो विद्वान् प्राप्नोत्येव विद्याफलमित्युक्तम् । द्वितीये 'यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः । प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभे'ति कालप्राधान्येनोपक्रम्याहरादिकालविशेषः स्मृतावपुनरावृत्तये नियमितः । कथं रात्रौ दक्षिणायने वा मृतोनावृत्तिं यायादिति । अत्रोच्यते । 'योगिनः प्रती'ति । योगिनः प्रति चायमहरादिकालविनियोगोऽनावृत्तये स्मर्यते । स्मार्ते चैते योगसाङ्ख्ये । न श्रौते । अतो विषयभेदात् प्रमाणविशेषाच्च नास्त्यस्यार्तस्य कालविनियोगस्य श्रौतेषु विज्ञानेष्ववतार इत्युक्तम् ॥ १९ ॥

अतश्चायनेपि दक्षिणे ॥ २० ॥ चोऽवधारण इति । अन्यभाष्याभिमतोयमर्थः । इत्यधिकरणान्तरमिति शाङ्कराः, अतः 'पूर्वपक्षस्ये'ति वक्ष्यन्ति । भास्कररामानुजाचार्याणां तु नाधिकरणान्तरम् । अतो नात्राधिकरणसमाप्तिः कृता । अतः सन्दिग्धमधिकरणमिदम् । ब्रह्मविदो ब्रह्मप्राप्तिर्दक्षिणेऽयने भवति, उत हार्दानुग्रहमात्रेणेति सन्देहे पूर्वपक्षः दक्षिणेऽयनेपि न, किन्तु वेदान्तविज्ञानेनावरणभङ्गमात्रमिति चेत्, न । अतश्च अत एव । हार्दानुग्रहजनकगत्यनुस्मृतिसम्बन्धात् । अतो हार्दानुग्रहान्मुक्तिहेतोः पुष्टिस्थस्य मुक्तिः, दक्षिणायनादिकालोप्यप्रयोजक इत्यर्थः । ब्रह्मविद् यद्यपि ज्ञानमार्गी, तथापि भक्तावपि ज्ञानपदस्य गीतायां प्रयोगात् सुष्ठु । नारायणपरायणस्य दुर्लभत्वादेवमुक्तम् । एतदेवोक्तं तथा चेत्यादिना, अतश्चेत्यनेनेत्यादिना च । अनधिकरणत्वे तु, अतश्च अत एव निशि मृतस्यापि विदुषो दक्षिणेऽप्ययने मृतस्य ब्रह्मप्राप्तिः सिद्धा । विद्याकर्मसम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वादिति रामानुजभाष्ये । किञ्च, अधिकाशङ्का तु, 'अथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितृणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं गच्छती'ति दक्षिणायने मृतस्य चन्द्रप्राप्ति-

ननु 'यत्र काले त्वनावृत्ति'मिति कालप्राधान्येनोपक्रम्य 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जना' इति भगवद्वाक्याद् ब्रह्मविदोऽप्युक्तकालापेक्षास्तीत्याशङ्क्य विषयभेदेन समाधत्ते ।

योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्ते चैते ॥ २१ ॥

ज्ञानमार्गाद् योगमार्गो हि भिन्नः । तथा च योगिनमुद्दिश्यैव कालविशेषस्य गतिविशेषहेतुत्वं स्मर्यते, न तु ज्ञानमार्गीयस्य श्रौतस्य । इतरनिरपेक्षत्वात् । नच योगसाङ्ख्ये अपि श्रौते एवेति वाच्यम् । यतः स्मार्ते एते । चो हेत्वर्थे । एते योगसाङ्ख्ये, 'अग्निर्ज्योतिर्धूमो रात्रि'रिति वाक्यद्वयोक्तगती वा । इदं तु

भाष्यप्रकाशः ।

योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्ते चैते ॥ २१ ॥ व्याकुर्वन्ति ज्ञानमार्गादित्यादि । तथा च मार्गभेदाच्च कालविशेषापेक्षेत्यर्थः । साङ्ख्यस्य स्मृत्युक्तत्वेऽपि योगस्य न तथात्वम् । योगतत्त्वोपनिषदादौ तस्योक्तत्वात् । सूत्रे च योगिपदमात्रम् । अत एते इति पदे साङ्ख्यनिवेशनं न युक्तमित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः अग्निरित्यादि ।

नन्वेतयोर्गत्योरपि स्मार्तत्वं न युक्तम्, किञ्चिच्छब्दभेदेऽपि छान्दोग्योक्तदेवयानपितृयानयोरेव प्रत्यभिज्ञानात्, अतः कथमिदं समाधानमित्यत आहुः इदं त्वित्यादि । न विरोध इति । तस्मिन् कालद्वारा तत्तदभिमानिन्य आतिवाहिक्यो वा देवता मार्गद्वयगता उच्यन्ते, न तु काल इति तस्यात्राकथनाच्छ्रुतिस्मृत्योर्न विरोधः । तथा च यदि तत्र काल उच्यते, तदा तत्र

रश्मिः ।

श्रवणाच्चन्द्रमसं प्राप्तानां च तेषां 'तत्पर्यवैत्यथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्त' इति पुनरावृत्तिश्रवणात् भीष्मादीनां च ब्रह्मविद्यानिष्ठानामुत्तरायणप्रतीक्षादर्शनात्तद्दक्षिणायने मृतस्य ब्रह्मप्राप्तिर्न संभवतीति । परिहारस्तु, अविदुषां पितृयानेन यथा चन्द्रमसं प्राप्तानामेव पुनरावृत्तिः विदुषस्तु चन्द्रं प्राप्तस्यापि, 'तस्माद्ब्रह्मणो महिमानमाप्नोती'ति वाक्यशेषात्तस्य दक्षिणायनमृतस्य चन्द्रप्राप्तिर्ब्रह्मप्रपित्सतो विश्रामहेतुमात्रमिति गम्यते । वाक्यशेषाभावेपि पूर्वोक्तादेव बन्धहेत्वभावाद्विदुषश्चन्द्रं प्राप्तस्यापि ब्रह्मप्राप्तिरनिवार्या । भीष्मादीनां योगप्रभावात् स्वच्छन्दमरणानां धर्मप्रवर्तनायोत्तरायणप्राशस्त्यप्रदर्शनार्थः, तथाविधाचार इति रामानुजभाष्ये । भास्करभाष्ये तु, अतश्चेत्यनेन नाडीरश्मिसम्बन्धस्य यावच्छरीरभावित्वादिति पूर्वसूत्रोक्तहेतुर्गृहीतः ॥ २० ॥

योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्ते चैते ॥ २१ ॥ भाष्ये । विषयभेदेनेति । योगमार्गरूपविषयभेदेन । **प्रकाशे । योगतत्त्वेति ।** आदिना योगशिखा । **अग्निरित्यादीति ।** 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः । धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् । तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते । शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते । एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुन'रिति वाक्यानि । **प्रत्यभिज्ञानादिति ।** छान्दोग्योक्ते एते गती इति प्रत्यभिज्ञानात् । तत्तेदन्ताप्रकारकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा । सेयं दीपमालिकेतिवत् । **इदं त्वित्यादीति ।** इदं ब्रह्मविदोऽप्युक्तकालापेक्षणम् । **श्रुत्युक्तेति ।** योगमार्गमभिप्रेत्य । **तस्मिन्निति ।** गीताग्रन्थे स्मृतौ । **कालद्वारेति ।** दक्षिणायनोत्तरायणकालद्वारा

श्रुत्युक्तदेवयानपितृयानातिरिक्तमार्गमभिप्रेत्य समाहितम् । ते एव चेदत्राप्युच्येते शब्दभेदेन, तदा न विरोधः ॥ २१ ॥

इति चतुर्थाध्याये द्वितीयपादे सप्तममतोन्याधिकरणम् ॥ ७ ॥

इति श्रीवेदव्यासमतवर्तिश्रीवल्लभाचार्यविरचिते श्रीब्रह्मसूत्राणुभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ ४ ॥ २ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

योगिन उपक्रान्तत्वाद् विषयभेदेनाविरोधः, यदि चैकविषयत्वम्, तदा अर्चिरादिश्रुताविवात्राप्यग्न्यादिशब्दैस्तत्तद्देवतालोकविशिष्टौ तावेव मार्गावुच्येते इत्युभयथापि न श्रुतिस्मृत्योर्विरोध इत्यर्थः । तेन विद्यावतो नान्यापेक्षेति सिद्धम् ॥२१॥ इति सप्तममतोन्याधिकरणम् ॥७॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणनखचन्द्रनिरस्तहृदयध्वान्तस्य श्रीपीताम्बरात्मजस्य पुरुषोत्तमस्य कृतौ भाष्यप्रकाशे चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ ४ ॥ २ ॥
समाप्तो द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

रश्मिः ।

तस्यात्रेति । कालस्य अत्र छान्दोग्येऽकथनाद्विषयभेदाद् गतिस्मृत्योर्न विरोधः । तत्रेति । गीतास्मृत्योः । तत्रेति । पूर्ववदर्थः । विषयेति । ज्ञानयोगमार्गभेदेन । एकेति । प्रत्यभिज्ञयैकविषयत्वम् । अत्रापीति । गीतास्मृतावपि । ताविति । अर्चिरादिधूमादिमार्गौ । उभयथेति । विषयभेदविषयैक्यप्रकाराभ्याम् ॥ २१ ॥ ७ ॥ इति सप्तममतोन्याधिकरणम् ॥ ७ ॥

इति श्रीविट्ठलेश्वरैश्वर्यनिरस्तसमस्तान्तरायेण श्रीगोविन्दरायजित्पौत्रेण
सम्पूर्णवेत्ता विट्ठलरायजिकाश्रीयगोकुलोत्सवात्मजगोपेश्वरजिता
कृते भाष्यप्रकाशस्य रश्मौ चतुर्थाध्यायस्य
द्वितीयः पादः सम्पूर्णतामगमत् ॥ ४ ॥
समाप्तो द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम् ।

भाष्यप्रकाश-रश्मि-परिबृंहितम् ।



अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

तृतीयः पादः ।

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥ १ ॥ (४-३-१)

ननु ज्ञानमार्गीयस्येव मर्यादामार्गीयभक्तस्याप्यर्चिरादिमार्गेणैव गमनम्, उत सद्योमुक्तिरेव भवति संशयः । तत्र यथा ज्ञानिनो नियमाभावः, तथाऽपीति प्राप्ते आह । अर्चिरादिमार्गेण तस्य ज्ञानमार्गीयस्यैवोत्कर्षकथनात् स एव तेन मार्गेण गच्छति, न तु भक्तोपीत्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥ १ ॥ पूर्वस्मिन् पादे प्रथमतः पुष्टिमार्गीयस्य ततो मर्यादामार्गीयस्य सद्योमुक्तिप्रकारो दर्शितः, तदनु क्रममुक्तौ निर्गमनद्वारादिकं च दर्शितम्, इह तु ततो निर्गतस्य यो ब्रह्मप्राप्तिमार्गो ब्रह्मलोकस्तत्प्रकारश्च प्रदर्श्यते, तत्राधिकरणमवतारयितुं संशयादिकमाहुः नन्वित्यादि । अत्र मर्यादायाः स्वकृतत्वात् तत्पालनं भक्तेर्ज्ञानादुत्कृष्टत्वं च सन्देहबीजम् । नियमाभाव इति । साधनसामर्थ्यतारतम्यनियमाभावः । सिद्धान्तं वक्तुं सूत्रं विवृण्वन्ति अर्चिरादीति । तस्येत्यादि । 'प्रथ प्रख्याने', प्रथनं प्रथितिः प्रसिद्धिः । सा श्रुतिषु तस्यैव ज्ञानमार्गीयस्यैवेति तस्यैव तथेत्यर्थः । ज्ञानिन एव प्रसिद्धिरिति यदुक्तम्, तद् व्युत्पादयन्ति

रश्मिः ।

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥ १ ॥ पूर्वस्मिन् पादे इति । द्वितीयपादे । निर्गमनेति । तदोकोऽग्रज्वलनाधिकरणे निर्गमनद्वारादिकम्, आदिना रश्म्यनुसारित्वादिकम् । ब्रह्मलोक इति । 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था' इति श्रुतेर्ब्रह्मविदो विश्रामस्थानम् । संशयादिकमिति । आदिना पूर्वपक्षोत्तरे सङ्गतिश्च । भाष्ये । तत्र यथेति । संशये यथा । नियमाभावः सद्योमुक्त्यर्चिरादिमार्गयोः तथा । तथात्र सद्योमुक्त्यर्चिरादिमार्गयोः भक्तस्य नियमाभावः । प्रकृते । साधनसामर्थ्येति । अत्र साधनतारतम्यादित्येतावतैव चारितार्थ्ये सामर्थ्यपदं ज्ञापयति । सद्योमुक्तिक्रममुक्त्योः सायुज्यं सह युनक्तीति सयुक् सयुजो भावः सायुज्यमित्येवं यौगिकपदार्थं जीवब्रह्मणोः प्रथमपादे निरूपितम् । द्वितीयपादे तत्प्रकारादिर्दर्शित इति प्रकाश उक्तम् । तत्र भक्तिमार्गीयसायुज्या-

तथाहि । पञ्चाग्निविद्याप्रकरण 'तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्ष'मित्यत्र उपक्रमे भक्तातिरिक्तानेव अधिकृत्य तथा गतिरुच्यते । स्मृतावपि 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्ल'इत्यत्र 'ब्रह्मविदो जना' इति वचनेन ज्ञानमार्गीयस्यैव स पन्था इत्युच्यते ।

अथेदं चिन्त्यते । सामोपनिषत्सु पठ्यते 'अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पिङ्गल' इत्युपक्रम्यादित्यरूपस्य पिङ्गलस्य रश्मिरूपत्वं नाडीनामुक्त्वा, अग्रे वदति 'अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्व आक्रमत' इति नाडीरश्मिसम्बन्धेनैका परलोकगतिः श्रूयते । अर्चिरादिका चाऽन्या, 'तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽह'रित्यादिश्रुत्युक्ता । 'स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छती'ति चापरा । 'स यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छ-

भाष्यप्रकाशः ।

तथाहीत्यादि । भक्तातिरिक्तानेवाधिकृत्येति । 'इत्थं विदु'रित्यादिना क्रियाविषयस्य क्रियायाश्च श्रावणात् 'ये' इत्यनेन तानेवाधिकृत्य । तथा च मर्यादामार्गीयाणामपि भक्तानां प्रायशः सद्योमुक्तिरेव । ज्ञानमार्गीयस्यैवानियम इत्यर्थः ।

ननु भवत्वर्चिरादिमार्गेण ज्ञानमार्गीयस्य गतिः, तथापि मर्यादाभक्तस्य प्रायशः सद्योमुक्तिरेवेति न नियन्तुं शक्यते, श्रुतावर्चिरादिमार्गातिरिक्तानामपि मुक्तिमार्गाणां श्रावणात्, तथा बहूनां सत्त्वेपि सूत्रकृतार्चिरादिमार्ग एव कस्मादुक्त इति चाशङ्कायामाहुः अथेदमित्यादि । तान् मार्गान् विषयीकृत्य तेषां भेदोऽस्ति परस्परम्, उत नेति चिन्त्यत इत्यर्थः । एवं प्रतिज्ञाय मार्गबोधिकाः श्रुतीरुदाहरन्ति सामेत्यादि । पठ्यत इति । विद्याभेदेन गतिभेदः पठ्यते । श्रूयत इति । दहरविद्यायां श्रूयते । अन्येति । पञ्चाग्निविद्यास्था । अपरेति । कौषीतकि-

रश्मिः ।

दिषु सेवाफलोक्तेषु सायुज्यं गतपादयोर्निरूपितम्, अलौकिकसामर्थ्यमत्र निरूप्यत इति । तदातिवाहिकाधिकरणभाष्ये 'ब्रह्म अमानवः पुरुषः प्रापयती'ति वक्ष्यते तथा चामानवपुरुषस्य भक्तिमत्त्वं वक्तव्यम्, भक्ताधीनत्वाद्भगवतः । भक्तिभावे तु अलौकिकं सामर्थ्यं वक्तव्यम्, शूरत्वलक्षणं 'अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावना'दित्याचार्यवाक्यात् । चतुर्थपादेऽलौकिकदेहो वैकुण्ठादिषु निरूपयिष्यते । सेवाफलानां त्रयाणां सगुणत्वापादकानां सन्दिग्धत्वात् । एवञ्च, सालोक्यादिवाक्ये प्रतिलोमक्रमेणैकत्वं प्रथमद्वितीयपादयोर्निरूप्य तृतीये सारूप्यस्य स्पष्टत्वात् सार्ष्टिरूपालौकिकसामर्थ्यं निरूप्यते । तदनु चतुर्थपादे सालोक्यं निरूपयिष्यते । सामीप्यं सालोक्यभेदः । सार्ष्टिः 'ऋष गतौ' । तु. । प. । से. । क्त्वाप्रत्यये नेट्, क्तिनि नेट् । समाना ऋष्टिः गतिः सार्ष्टिः । समानस्य सः । प्रथप्रख्याने भाष्ये प्रथमकथने ज्ञानिनि । तथेति । उत्कर्षकथनादित्यादिः । तथाहीत्यादीति । अह्न इति पञ्चम्यन्तम् । आपूर्यते किरणैश्चन्द्र इत्यापूर्यमाणपक्षः शुक्लः पक्षः तम् । क्रियाविषयस्येति । प्रेतस्य क्रियायाः श्रद्धातपउपासनक्रियायाश्च श्रावणात्, 'इत्थं विदु'रित्यत्र ज्ञानविषयत्वेन क्रियाविषयस्य प्रेतस्य 'ये चेमेऽरण्य' इत्यत्र क्रियायाः श्रावणात् । तानेवेति । 'इम' इति प्रत्यक्षविषयाणामुक्तेरेवकारः । भक्तानामुक्तोभयाभावात् प्राधान्येन । भाष्ये । ब्रह्मविद इति । कश्चिदेव कार्यवशाज् ज्ञानं भक्तिरिति व्याक्रियत इति भावः । प्रकृते । सामे-

ती'ति चेतरा । 'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ती'ति चान्या । एवमनेकेषु मार्गेषु सत्स्वर्चिरादेरेवोक्तिः कुत इति । तत्र सर्वेषां पारिभाषिकमर्चिरादित्वम्, अत एव 'अथैतयोः पथोर्न कतरेण च ने'ति मार्गद्वयभ्रष्टानामतिकष्टं 'जायस्व म्रियस्वेति तृतीयं स्थान'मित्युक्तम्, अन्यथाऽनेकेषां मार्गाणामुक्तानां श्रूयमाणत्वादस्य तृतीयत्वं नोच्येत, अतः प्रकरणभेदाद्भिन्नोपासनशेषत्वान्मिथोऽनपेक्षा भिन्ना एवैते मार्गा ब्रह्मप्रापका इति मन्तव्यमिति चेत् ।

तत्रोच्यते । न हीयं परिभाषा सर्वेषु श्रुतास्ति, यतस्तथोच्येत । अतो लाघवादनेकपर्वविशिष्ट एक एव मार्ग इति मन्तव्यम्, न तु पर्वभेदेन मार्गभेद इति । गौरवप्रसङ्गात् । न चैवम् 'अथैतैरेव रश्मिभि'रित्यवधारणानुपपत्तिरिति वाच्यम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

ब्राह्मणे पर्यङ्कविद्यास्था । इतरेति । बृहदारण्यकेऽनात्मोपासनगतिफलकथने । एवमन्यापि पञ्चमी प्रथममुण्डकसमाप्तौ द्रष्टव्या । एवं मार्गभेदबोधिकाः श्रुतीरुपन्यस्य सूत्रेऽर्चिरादेरेवोक्तौ हेतुं निश्चेतुं पृच्छति एवमित्यादि । स्वयं हेतुं कल्पयित्वा वास्तवैकत्वस्य हेतुत्वं दूषयति । तत्रेत्यादि । अर्चिराद्युक्तिहेतुविचारे । सर्वेषां मार्गाणामर्चिरादित्वं पारिभाषिकम्, मुक्तिमार्गा अर्चिरादिपदेन व्यवहर्तव्या इति साङ्केतिकनियमसिद्धम्, न तु वास्तवम् । अतः पारिभाषिकत्वादेव हेतोः 'अथैतयोः पथो'रिति द्वित्वम्, 'जायस्वे'त्यस्य तृतीयस्थानत्वं च श्रुताबुक्तम् । अन्यथा वास्तवेऽर्चिरादित्वे बहूनामुक्तानां मार्गाणां ब्रह्मप्रापकतया श्रूयमाणत्वादस्य तृतीयत्वं पथोरिति द्वित्वं च नोच्येत । अतस्तृतीयत्वादिपीडारूपाद्धेतोस्तेष्वर्चिरादित्वं पारिभाषिकमङ्गीकृत्योक्तहेतुद्वयाद् ब्रह्मप्रापका मार्गा बहव एवेति मन्तव्यमित्यर्थः ।

एवं पूर्वपक्षी स्वमतमुक्त्वा तत्रैकदेशिकृतं समाधिं प्रतिक्षेप्तुमुपक्षिपति तत्रोच्यत इत्यादि । तथोच्येतेति । पारिभाषिकत्वमुच्येत । अतो लाघवादिति । पारिभाषिकत्वेनार्चिरादित्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् पर्वप्रत्यभिज्ञानलिङ्गेन मार्गैक्याङ्गीकारे लाघवात् । गौरवप्रसङ्गादिति । मार्गाणामनेकत्वे तेषु पर्वन्यूनाधिक्येन कस्यचिन्निकटत्वम्, कस्यचित् दूरत्वम्, निकटमार्गत्यागेन दूरमार्गगमने उपपत्तिकल्पनम्, निकटत्यागे चोपपत्तिकल्पनमित्येवं तथात्वादित्यर्थः । पुनर्मार्गानेकत्वमाशङ्क्य निषेधति न चैवमित्यादि । एवमिति । मुक्तिमार्गस्यैकत्वे ।

रश्मिः ।

त्यादीति । बहुवचनं स्मार्तम् । यथाहुः 'इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु' इति । अत एवेति भाष्यविवरणम् । अत इति । श्रुताविति । पञ्चाग्निविद्याप्रकरणे छान्दोग्ये 'अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति । जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयꣳस्थान'मिति श्रुतौ । श्रुत्यर्थस्तु कतरेण चेति प्रश्नः । नकारद्वयस्य न यान्त्यपि नेति शेषेण योजना । यद्वा एतयोः पथोः न कतरेण नेति प्रश्नः । उत्तरम् । तानीमानीति तृतीयस्थानमिति । अन्यथेति भाष्यविवरणे । अन्यथेति । उक्तेति । 'अर्चिरादिने'ति सौत्रपदोक्तहेतुद्वयात् । वास्तवपारिभाषिकहेतुद्वयात् । पारीति । पारिभाषिकत्वमुच्येतेति पाठः । न तूच्यत इति पाठः । पर्वप्रतीति । तानि पर्वाणीति प्रत्यभिज्ञानलिङ्गेन । पर्वन्यूनेति । पर्वन्यूनत्वे कस्यचित्फलस्य निकटत्वं पर्वाधिक्ये फलस्य दूरत्वम् । उपपत्तीति । अधिकाररूपोपपत्तिकल्पनम् । तथात्वादिति । गौरवप्रसङ्गात् । एकत्व इति । एतैरेव रश्मिभिरन्यमार्गेप्यूर्ध्वं आक्रमत

तस्याः श्रुतेरुत्क्रमणमात्रमार्गनिरूपकत्वात्। तथाहि। तत्रोपक्रमे हि 'अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्व आक्रमत' इत्युच्यते। एतस्मात् पुरस्तात् 'अथ या एता हृदयस्य नाड्य' इत्युपक्रम्य पिङ्गलस्यादित्यत्वमुक्त्वा, 'तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चामुं चैवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं चामुष्मादादित्यात् प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ता' इत्यन्तेन वाक्येन नाडीषु रश्मिप्रचारमुक्त्वा, अग्रे 'अथ यत्रैतदस्मा'दित्याद्युक्तम्। उपसंहारे च 'शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका, तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ती'ति। एवमुपक्रमोपसंहाराभ्यामुत्क्रमणमात्रमार्गनिरूपकत्वम्, न तु ब्रह्मप्रापकमार्गस्य, अतस्तदनुपपत्तिपरिहारोऽनर्थकः। नन्वनेकपर्वविशिष्टत्वेन मार्गस्यैकत्वे तं निरूपयन्ती श्रुतिः क्वचित् किञ्चित् पर्व निरूपयति, क्वचिन्नेति कथम्। उपसंहारेण प्राप्स्यन्त इति तात्पर्येण तथेति चेद् ब्रवीषि, तदा शाखान्तरमविदुषस्तदसम्भवेन तं प्रति श्रुतेर्न्यूनतापातः। न हि सर्वशाखाविदं प्रत्येव कथनमिति वक्तुमुचितम्। तस्यासम्भवात्। अतः स्वस्वशाखाज्ञानवन्तं प्रत्येव तथा। अध्ययनविधेरपि तावन्मात्रपरत्वात्।

भाष्यप्रकाशः।

निषेधे हेतुः। तस्या इत्यादि। तत्रेति। रश्मिवाक्ये। हिर्हेतौ। इत्युच्यत इति। शरीरादुत्क्रम उच्यते। नन्वेतस्मात् पूर्वं रश्मिनाडीप्रचारकथने महापथदृष्टान्तेन तासां मार्गत्वमपि बोध्यत इति नैवं वक्तुं युक्तमित्याशङ्कायामाह एतस्मात् पुरस्तादित्यादि। तथा च महापथदृष्टान्तेऽप्यन्ते, 'एतस्मा'दित्यादिनोत्क्रान्तिरेवोक्तेति तन्मार्गत्वमेव तासां युक्तमित्यर्थः। युक्त्यन्तरमाह उपसंहारे चेत्यादि। एतदेव निगमयति एवमुपक्रमेत्यादि। तदनुपपत्तिपरिहार इति। ब्रह्मप्रापकमार्गत्वानुपपत्तिपरिहारः। एवमेकमार्गत्वे साधिते तद् दूषयितुं परोक्तिप्रकारं पृच्छति नन्वित्यादि। समाधिमुद्भाव्य दूषयति उपसंहारेणेत्यादि। तस्यासम्भवादिति। वेदानामनन्तत्वेनेदानीं कलिकृतबुद्धिह्रासेन च सर्वशाखाविदस्यासम्भवात्। एतदुपष्टम्भायाह अध्ययनेत्यादि। स्वस्यासाधारणत्वेन पितृपितामहादिपरम्परया प्राप्ता शाखा स्वाध्याय इति योजस्य सर्वै-

रश्मिः।

इत्यवधारणानुपपत्तिरित्यन्वयः। निषेध इति। न च वाच्यमिति निषेधे। हिर्हेताविति। यस्मादित्यर्थः। श्रुतिस्त्वथ यत्रेत्यादिः। नैवमिति। मुक्तिमार्गस्यैकत्वं न। महापथेति। श्रुतिस्तु पूर्वं व्याख्याता। तन्मार्गत्वमुत्क्रमणमार्गत्वम्। परोक्तीति। विषयसप्तमी। परोक्तप्रकारविषयकः प्रश्नानुकूलो व्यापारः। तथा च परोक्तिप्रकार इति प्रश्नस्य विषयपूरक इति नैकदेशान्वयः। अनन्तत्वेनेति। 'अनन्ता वै वेदा' इति श्रुतेः। कलिकृतेति। द्वादशस्कन्धे कालेनाग्रहणं दृष्ट्वेति। भाष्ये। तथेति। निरूपणम्। प्रकृते। स्वस्यासाधारणत्वेनेति। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इत्यध्ययनविधौ स्वाध्यायपदार्थः साम्प्रदायिकानुसारेणोक्तः। अत उक्तं सर्वैरिति। सुष्ठु आसमन्तादध्यायः स्वाध्याय

शाखान्तरसंवादिपर्वकथनानुपपत्तिश्च। उपसंहारेणैव तस्यापि प्राप्तिसम्भवात्। अतो विरुद्धदिक्कानां स्वस्वमार्गेणैकग्रामप्राप्तिवदिहापि भवितुमर्हति स्वातन्त्र्येण सर्वैर्मार्गैर्ब्रह्मप्राप्तिः। न चैवम् 'अथैतयोः पथो'रिति द्विवचनानुपपत्तिः, 'जायस्व म्रियस्वे'त्यस्य तृतीयत्वं चानुपपन्नमिति वाच्यम्। अर्चिरादिकमुक्त्वा 'उपसंहरति 'एष देवयानः पन्था' इति, श्रुत्यन्तरे च, 'स एनं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छती'ति। तथा च ब्रह्मप्रापकाः सर्वे मार्गा देवयाना इत्युच्यन्ते। 'दैवी सम्पद्विमोक्षाये'ति भगवद्वाक्याद्दैव्यां सम्पदि ये जाताः, ते देवा इत्युच्यन्ते तेषां यानं गमनं यत्रेति ते सर्वेपि मार्गा देवयानशब्देनोच्यन्ते। द्वितीयस्त्वविशिष्टः। एवं द्वित्वं त्रित्वं चोपपद्यते। न चोक्तरीत्या लाघवादेक एव स मन्तव्यः। स्वतःप्रमाणभूता हि श्रुतिः। सा येन यदा या श्रुता, तदर्थावधारणे द्वितीयस्या अनुपस्थितत्वान्न लाघवगौरवतद्विचारावसरः। क्वचिदुपस्थितौ चोक्तबाधकैरुपसंहारानवकाशः।

अपरं च। ब्रह्मविदः क्रममुक्तौ गन्तव्यो मार्गो ह्ययमुपदिश्यते। तत्तल्लोके तदानन्दानुभवश्चावश्यकः। तथा चोपासनभेदात् फलभेदस्यावश्यकत्वान्मार्गभेदोपि तथेति सर्वेष्वेकरूपफलप्रसञ्जक उपसंहारो न युक्तः। किञ्च। उपासने

भाष्यप्रकाशः।

रादृतत्वेन शाखाप्रणयनस्य च तदर्थत्वेन तथात्वात्। उपसंहारेणैव तस्यापि प्राप्तिसम्भवादिति। उपसंहारे हि प्रयोजको वस्त्वभेदः, प्रयोजनाभेदश्च। तस्योभयसत्तया कृते उपसंहारे तेनैवानुक्तपर्वप्राप्तिसम्भवात्। एवं तदुक्तं दूषयित्वा स्वमतं स्थापयति अतो विरुद्धदिक्केत्यादि। द्विवचनाद्यनुपपत्तिं परिहरति न चेत्यादि। उपपद्यत इत्यन्तम्। लाघवं दूषयति न चोक्तेत्यादि। येनेति। यच्छाखाध्यायिना। बहुशाखाध्यायिनोऽनेकमार्गोपस्थितौ दोषवादवस्थ्यमाशङ्क्य परिहरति क्वचिदित्यादि। उक्तबाधकैरिति। अध्ययनविधेः स्वशाखाध्ययनमात्रपरत्वम्, तदध्येतुस्तावन्मात्रकरणे सर्वशाखार्थकरणपूर्तिः, शाखान्तरसंवादिपर्वकथनानुपपत्तिश्चेत्येवंरूपैः।

एवं परोक्तं परिहृत्य स्वोक्तौ युक्तिमाह अपरं चेत्यादि। आवश्यक इति। तदर्थमेव तत्कथनात् पुराणे तथा प्रसिद्धेश्चावश्यकः। तथेति। आवश्यकः। एवं स्वमतं स्थापयित्वा उपसंहारपक्षे बाधकमन्यमाह किञ्चेत्यादि। ननूपासने फलभेदजनकः प्रकारभेद उपसंहारप्रयोजकः

रश्मिः।

इति स्वमते पत्रावलम्बने प्रकाशे च जिज्ञासाधिकरणे। तदर्थत्वेनेति स्वाध्यायार्थत्वेन। तथात्वादिति। तावन्मात्रपरत्वात् स्वशाखाध्ययनमात्रपरत्वात्। उपसंहार इति। एकवस्तुप्रतिपादकचरमवर्णध्वंस उपसंहारस्तस्मिन्। प्रयोजनेति प्रयोजनमर्थनिर्णयः, तस्य संजातविरोधिन उपक्रमाद् भेदः, असंजातविरोधित्वेनापि भेदः। तस्येति अभिन्नवस्तुनः। उभयसत्तया वस्त्वभेदसत्तया अर्थनिर्णयसत्तया च। तेनैवेति उपसंहारेणैव, न तु शाखान्तराध्ययनेन। विरुद्धदिक्कानामिति। यथा पूर्वादिदिक्कानां एकस्य श्रीगोवर्धननाथद्वारस्य प्राप्तिः। न चेत्यादीति। द्वितीय इति धूममार्गः। अविशिष्टो मार्गान्तराविशिष्टः। पुराण इति। द्वितीयस्कन्धे क्रममुक्तौ। तथा चेति। द्वितीयार्थबोधकचकारघटितत्वे सति। किञ्चेत्यादीति। उपासने उपसंहारपादे धर्मोप-

कर्मणि चोपसंहारः सम्मतः । मार्गस्तु नान्यतररूपः, अतो यस्योपासकस्य येन मार्गेण गमनम्, स मार्ग उपदिश्यत इति नोपसंहारो युक्तः । अविधेयत्वादपि तथा । एतद् यथा तथा पुरस्तान्निरूपितम् 'उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत् समाने चे'त्यत्र । एवं सत्यर्चिःशब्देनार्चिरुपलक्षितो मार्ग उच्यते । आदिपदेनान्ये सर्वे मार्गाः संगृह्यन्ते इति नानुपपत्तिः काचिदिति चेत् ।

अत्र वदामः । 'अर्चिरादिभ्य' इत्युक्तं भवेत्, त्वद्रीतिरेव चेदभिप्रेता भवेत्, तस्मान्नैवमित्यवधार्यते । अर्चिरादिनेत्येकवचनान्यथानुपपत्त्या मार्गस्यैकत्वमवश्यमूरीकार्यम् । एवं सति श्रुतिषु यावन्ति पर्वाण्युक्तानि तानि सर्वाण्येकस्मिन्नेवार्चिरादिमार्गे वर्तमानान्यपि यस्योपासकस्य यावत्पर्वभोगो भावी, तं प्रति तावत्पर्वोक्तिः, यस्य यावतां तेषां स न भावी तं प्रति न तदुक्तिः, तद्भोगाभावादिति नानुपपन्नं किञ्चित् । ननु त्वयाप्यनुक्तानां पर्वणां तत्र स्थितिं वदतोपसंहार एवोक्तो भवति प्रापकत्वेनेति चेत् । स्यादेतदेवम्, यदि तस्यैव गन्तुर्भोगाय तदपि पर्व तत्रोच्येत, न त्वेवम्, किन्त्वेकवचनानुरोधान्मार्गैक्ये निश्चिते यं प्रति यत् पर्वोच्यते, तत्तत्र कण्ठोक्तमेवेति नोपसंहारापेक्षा । अग्रेऽन्यश्रोक्तानां पर्वणामुक्तस्थले सन्निवेशोक्त्यापि सूत्रकाराभिमत एक एव मार्ग इति ज्ञायते । श्रुतौ सर्वत्र पूर्वपरामर्शादपि तथा ॥ १ ॥

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥ २ ॥

छान्दोग्ये वायुर्न पठ्यते । कौशीतकिश्रुतौ तु 'स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोक'मिति वाय्वादयः श्रूयन्ते । तत्रार्चिषोऽग्नेश्चाभेदान्न विचारणीयमस्ति । वायुलोकं कस्माल्लोकात् गच्छतीत्याकाङ्क्षायामाह वायुमब्दादिति । 'अर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद् यान् षडुदङ्ङेति मासाँस्तान्मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्य'मित्यत्र संवत्सरलोकात् परस्ताद्वायुलोको निवेशयितव्यः, तथा च संवत्सरलोकाद्वायुलोकं गच्छतीत्यर्थः । तत्र विनिगमकमाह अविशेषविशेषाभ्यामिति ।

अत्रेदं ज्ञेयम् । अग्निहोत्रादिकर्मभिश्चित्तशुद्धावुपासनाभिर्ज्ञानोदये क्रममुक्त्यधिकारी हि तत्तल्लोकं गत्वा भुक्त्वा अन्ते ब्रह्म प्राप्नोति । कर्म त्वग्निसाध्यम्

भाष्यप्रकाशः ।

कर्मणि च वाक्यसार्थक्यम्, न तूपासनत्वं कर्मत्वं वा, अतो मार्गस्य तदन्यतररूपत्वाभावेपि ब्रह्मप्राप्तिरूपप्रयोजनैक्यात् कुतो न युक्त उपसंहार इत्यत आह अविधेयत्वादपि तथेति । नन्वविधेयत्वस्योपसंहारबाधकत्वं क सिद्धमित्यतः पूर्वोक्तं स्मारयति एतद्यथेत्यादि । तत्र हि समाने योऽग्न्यभेदादुपसंहारः स विधिशेषः, येऽग्निहोत्रादयस्तद्वदित्युक्तम् । तेऽग्निहोत्रादयः सर्वेषां समाना अपि येषां शाखिनां यथोक्ताः, तेषामेव ते तथा विधेया नेतरेषाम् । तथाऽविधेयत्वात् । एवमत्रापि यदुपासनशेषे यत्पर्वको मार्ग उक्तः, तं प्रति स एव विधेयः, न त्वन्यान् प्रति । अतोऽन्यान् प्रत्यविधेयत्वादपि न मार्गोपसंहारो युक्त इत्यर्थः । एवमुपपाद्य सिद्धमाह एवं सतीत्यादि ।

एवं पूर्वपक्षमुपपाद्य सिद्धान्तमाहुः अत्र वदाम इत्यादि । तथा च नानाग्रामयुक्तमार्गैक्येऽपि कस्यचित् कस्मिंश्चित् ग्रामेऽवान्तरनिवासः, अन्यस्यान्यत्र, तथेहापीत्यर्थः । अत्रोपसंहारस्य पर्वप्रापकत्वमाशङ्कते नन्वित्यादि । तत्परिहरन्ति स्यादेतदित्यादि । नोपसंहारापेक्षेति । अन्यभोगाभावान्नोपसंहारापेक्षा । ननु मार्गभेदे को दोषो येन क्लिष्टादरः क्रियत इत्यत आहुः अग्र इत्यादि । अग्र इति । अग्रिमसूत्रेषु । पूर्वपरामर्शादिति । 'अर्चिषोऽहरह्नः पूर्वपक्ष' इत्यादिरूपात्तस्मात् । तथा च मार्गान्तरस्याभावादेतस्य च ज्ञानिनः प्रत्येवोक्तत्वाज्ज्ञानिनामेव क्रममुक्तिः । मर्यादाभक्तानां तु पूर्वोक्तरीत्या सद्योमुक्तिरेवेति सिद्धम् ॥ १ ॥

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥ २ ॥ ननु मार्गैक्यं न युक्तम्, अनुक्तपर्वस्थलस्य वक्तुमशक्यत्वादित्याशङ्क्य तद्विनिगमनायाग्रिमं पठतीत्याशयेन सूत्रमवतारयन्ति छान्दोग्य इत्यादि । आहेति । 'संवत्सरलोकाद्वायुलोकं गच्छती'ति विनिगमकपूर्वकमाहेत्यर्थः ।

अविशेषौ कतरावित्यपेक्षायां हेतुं व्याकुर्वन्ति अत्रेदमित्यादि । तथाचार्चिरादिसंवत्सरान्तानां भूसम्बन्धित्वमविशेषः । वाय्वादित्ययोर्नीचोच्चलोकाधिपत्येन तथात्वात्तयोः पौर्वा-

रश्मिः ।

संहारः । कर्मणि प्रयाजोपसंहारः । येनेति । अधिकारानुसारेण येन मार्गेण गमनम् । वाक्येति । प्रयाजानुयाजवाक्यसार्थक्यम् । अङ्गानां अर्थः फलं तदभावेऽनुपसंहृतानामानर्थक्यं स्यात् । मार्गस्त्विति । भाष्यं विवृण्वन्ति स्म अतो मार्गस्येति । अर्चिरादिमार्गस्य प्रकारभेदवाक्यसार्थक्ययोरन्यतररूपत्वाभावेपि । अस्येति । अविधेयत्वस्य । तथाविधेयत्वादिति । तथा अविधेयत्वादिति पदच्छेदः । यदुपासनशेष इति । यस्योपासनस्य शेषे कर्तरि । तमिति । उपासनकर्तारं प्रति । तथेति । भाष्यार्थमाहुः न मार्गोपसंहार इति । सिद्धमाहुः तथा चेति । तथा च यथा व्रजं गच्छतः शकटवाहनत्वे क्रोशपञ्चकग्रामे क्रोशषट्कग्रामे वावान्तरनिवासः । रथवाहनत्वे क्रोशाष्टकग्रामेवान्तरनिवासः । अश्ववाहनत्वे क्रोशदशकग्रामेऽवान्तरनिवासः । तथैव शिबिकावाहनत्वे । उष्ट्रवाहनत्वे क्रोशद्वादशके क्रोशचतुर्दशके वा ग्रामे निवासः । सुखेन । इहापीति । इह यावत्पर्वभोगस्तं प्रति तावत्पर्वोक्तिः । नन्वित्यादीति । तत्रेति । अर्चिरादिमार्गे । प्रापकत्वेनेति । पर्वप्रापकत्वेन रूपेण । पूर्वपक्ष इति । अह्नः आपूर्यमाणपक्षः । इत्यादिरूपादिति । 'आपूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासाँस्तान् मासेभ्यः संवत्सरँ संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था' इति श्रुतिरादिपदार्थः । सिद्धं वदन्तः तथेति । भाष्यार्थमाहुः तथा चेति । पूर्वोक्तेति । पूर्वपादोक्तरीत्या ॥ १ ॥

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥ २ ॥ संवत्सरलोकादिति । सौत्राब्दशब्दार्थः । कतराविति । अविशेषविशेषयोः साधारणयोर्विशेषाविशेषौ कतराविति प्रश्नः । हेतुमिति । अविशेषविशेषरूपम् । अत्रेदमित्यादीति । अग्निहोत्रादीति । अग्निहोत्रादिभिराध्यात्मिकचित्तशुद्धौ

भूलोक एव च भवति, अत आदौ तत्रत्यो भोगः, ततस्तदुपरितनलोकानाम् । 'पृथिवी दीक्षा तयाऽग्निर्दीक्षया दीक्षितः' । 'यथा पृथिव्यग्निगर्भे'त्यादिश्रुतिभ्यो भूरग्निप्रधाना भवति, अतोऽर्चिराख्यमग्निलोकमादौ गच्छति । ततः कर्मोपासनयोरहरादिसंवत्सरान्ते काले विहितत्वात्तत्र तत्र गत्वा भुङ्क्ते । तथा च संवत्सरान्तानां भूसम्बन्धित्वेनाविशेषात् तन्मध्ये वायोर्न प्रवेशः । भूलोकादुपर्यन्तरिक्षलोकस्तदुपरि द्युलोकः, तथा च 'वायुरन्तरिक्षस्याधिपति'रिति श्रुतेः, 'सूर्यो दिवोऽधिपति'रिति श्रुतेस्तयोः पौर्वापर्ये विशेषो हेतुरस्तीत्यादित्यलोकात् पूर्वमुक्तरीत्या भूलोकमध्यपातिसंवत्सरस्य परस्ताच्च वायुर्निवेशयितव्य इत्यर्थः । ननु 'तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽह'रित्यादिश्रुतिरुक्तमुक्तमनूद्यानूद्यापादानत्वं वदन्ती पूर्वोत्तरयोरव्यवधानं सूचयतीति नोक्तमादरणीयमिति चेत् । सत्यम् । यस्योपासकस्य न वायुलोकभोगः, तं प्रति सोक्तिः, यस्य तु तद्भोगः, तस्योक्तरीतिर्मार्गैक्यादिति नानुपपत्तिः काचित् ।

केचित्तु, 'स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति, स वायुलोकं स वरुणलोक'मित्यविशेषेण वायुरुपदिश्यते । मिथःपौर्वापर्यप्रापकपदाभावात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

पर्ये विशेष इति ताभ्यां तथेत्यर्थः । अत्र 'नन्वि'त्यादिना छान्दोग्यश्रुतिविरोधमाशङ्क्य समादधते सत्यमित्यादि । सोक्तिरिति । छान्दोग्योक्ता अव्यवधानोक्तिः । उक्तरीतिरिति । व्यासोक्तरीतिः । तथा च भोक्तृविशेषेणाव्यवधानव्यवधानसम्भवान्न श्रुतिविरोधरूपानुपपत्तिरित्यर्थः ।

एवं स्वमतेन व्याख्यायात्र शाङ्करादिमतमुपक्षिपन्ति केचित्त्वित्यादि । मिथःपौर्वापर्यप्रापकपदाभावादिति । तादृशपञ्चम्यन्तपदाभावात् । तथा च सोऽत्राविशेषपदार्थः । 'यदा

रश्मिः ।

ज्ञानम्, आधिदैविकचित्तशुद्धौ भक्तिरिति सुबोधिन्यां अस्य पक्षस्य 'नैतादृशा भक्ता' इति निबन्धेऽनङ्गीकारात् तन्न्यायेनोपासनाः निवेश्योक्तम् । एवेति । मनुष्याणां न तु देवानामिति न 'तदुपर्यपी'त्यधिकरणविरोधः । यदि पृथिव्यग्निगर्भा स्यात्, तदा पृथिवीदीक्षयाग्निर्दीक्षितो भवेदित्याशयेनाहुः यथा पृथिव्यग्निगर्भेति । तथा च पृथिव्या दीक्षा तया दीक्षया पृथिवीगर्भोऽग्निर्दीक्षित इत्यर्थः । दीक्षा इतो दीक्षितः । अहरादीति । 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' । 'प्रातर्मध्यन्दिने सायं विष्णुपूजा स्मृता बुधैः । यथा सन्ध्या तथा विष्णुपूजा नित्ये'ति नारदीये । 'नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते । मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः' इति गीता । 'मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चन'मित्युपक्रम्य 'मज्जन्मकर्मकथनं मम पर्वानुमोदनम् । गीतताण्डववादित्रगोष्ठीभिर्मद्गृहोत्सवः । यात्राबलिविधानं च सर्ववार्षिकपर्वस्वि'ति श्रीभागवते । सर्वेषु वार्षिकेषु पर्वसु च । एवमहरादिसंवत्सरान्ते काले विहितत्वात् तत्र तत्रेति । जगन्नाथादौ । श्रीगोवर्धननाथादौ भक्तिशरणमार्गाभ्याम् । एवं चादित्यमित्यनेन पदेन विश्रामस्थानमपि । 'स तत्र विजिहीत' इति बृहदारण्यकात् । स सूर्यः तत्र आगमनस्थले विजिहीते छिद्रं कुरुते । उक्तरीत्येति । छान्दोग्ये पञ्चाग्निविद्योक्ता'र्चिष' इत्यादिश्रुतिक्रमेण । तथात्वादिति पौर्वापर्यात् । तथेति वायुमब्दान्निवेशयेत् । अत्रेति सूत्रार्थे । छान्दोग्येति उक्तश्रुतिविरोधम् । अन्यथेति । वायुतो न तथा । न श्रुतीति । उपा-

'यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात् प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स आदित्यमागच्छती'ति श्रुत्या आदित्यात् पूर्वो वायुर्विशेषेणोपदिश्यत इत्यब्दादित्ययोरन्तराले निवेशयितव्य इत्यर्थं वदन्ति।

स चिन्त्यते । यथा तेन 'स ऊर्ध्व आक्रमते स आदित्यमागच्छती'ति विशेषोपदेश इत्युच्यते, तथा 'स वरुणलोक'मित्यत्रापि वक्तुं शक्यम् । न च, 'स आदित्यमागच्छती'त्यत्र तच्छब्दस्य पूर्वपरामर्शित्वाद्वायुलोकगतस्यैव पूर्वत्वात् तथेति वाच्यम् । 'अग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोक'मित्यत्रापि

भाष्यप्रकाशः ।

वै पुरुष' इत्युक्तं तेनोर्ध्वाक्रमणमादित्ये गमनं च यदुच्यते, स विशेषपदार्थः । ताभ्यामब्दादित्ययोरन्तराले वायुनिवेशं वदन्तीत्यर्थः । श्रुत्यर्थस्तु यदा यस्मिन् वै निश्चयेन पुरुषो ब्रह्मवित् अस्माल्लोकाच्छरीरात् प्रैति लोकान्तरं गच्छति, तदा स पुरुषो वायुमागच्छति प्राप्नोति । तस्मै आगताय, स वायुः तत्र तदागमनस्थले विजिहीते पूर्वं स्तिमितोऽपि तदानीं स्वावयवान् विगमयति तस्य गमनार्थम् । विगमनस्थलपरिमाणमाह, यथा रथचक्रस्य खम् यावत्परिमाणं रथचक्रस्य छिद्रम् । तेन मार्गेण स पुरुष ऊर्ध्वं आक्रमते, स आदित्यमागच्छति प्राप्नोतीति ।

एवं तद्व्याख्यातमर्थमनूद्य तदुक्तस्य विशेषस्य विशेषत्वं युज्यते, न वेति विचारयन्ति स चिन्त्यत इत्यादि । इत्यत्रापि वक्तुं शक्यमिति । ऊर्ध्वाक्रमणस्यार्थसिद्धत्वात्तच्छब्दस्य तत्रापि सत्त्वाद्वक्तुं शक्यम् । तथाचोर्ध्वाक्रमणतच्छब्दोक्तपूर्वपरामर्शयोर्विशेषपदार्थत्वाङ्गीकारे वाजसनेयिभिर्वाय्वनन्तरमादित्यवत्कौशीतकिभिर्वायुलोकानन्तरं वरुणलोकस्य पठ्यमानत्वेन भवदुक्तविशेषस्य तत्रापि शक्यवचनत्वादुक्तहेतोरर्थान्तरसाधकतया प्रकृतासिद्धिरित्यर्थः । तर्हि वायुलोकगतपुरुषीयं पूर्ववर्तित्वं परामृशतस्तच्छब्दस्य तथात्वमस्त्वित्यत आहुः न चेत्यादि तथा चाद्ये पक्षे व्याख्येयसूत्रविरोधः, द्वितीये च वरुणसूत्रस्येत्युभयमप्ययुक्तमित्यर्थः । दूषणान्तर-

रश्मिः ।

दानविरोधकृतश्रुतिविरोधरूपा । अब्दादित्ययोरन्तराल । इति नन्वब्दः क्वोक्त इति चेन्न । छान्दोग्यैकवाक्यतया प्राप्तेः । स्तिमित इति विगमनस्थलरहितोपि । विगमयतीति विगमनस्थलं कुर्वन्त्यवयवास्तान् विगमनस्थलं कारयति वायुः । तच्छब्दस्येति । स वरुणलोकं इत्यत्र स इति तच्छब्दस्य । तत्रेति वरुणवाक्ये । तत्रापीति कौशीतकिब्राह्मणेपि । उक्तहेतोरिति अविशेषविशेषहेतोः । अर्थान्तरम् । 'संवत्सराद् वायुलोकं वायुलोकाद् वरुणलोकं वरुणलोकादादित्यं' इत्यर्थान्तरम् । अर्थः 'अग्निलोकात्संवत्सरं संवत्सराद्वायुलोकं वायुलोकाद्वरुणलोकं वरुणलोकादादित्यलोकम् । स आदित्यमागच्छती'त्युक्तश्रुतेरिति । तदन्योर्थ उक्त इत्यर्थान्तरम् । तस्य साधकतया प्रकृतं यदब्दाद्वायुलोकं वायुलोकादादित्यमिति । यद्वा परमते प्रकृतोग्निलोकात्संवत्सरं इत्यादिरुक्तोर्थः । तस्यार्थस्यासिद्धिः । अनुमानं तु छान्दोग्ये वायुमब्दात् अविशेषविशेषाभ्याम् । 'अग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोक'मिति वाक्यवदिति । एवं दृष्टान्तः । तच्छब्दस्येति स वरुणलोकमिति तच्छब्दस्य । तथात्वमिति । पौर्वापर्यवाचकत्वमस्त्विति । न चेत्यादीति । तथेति । स वरुणलोकमागच्छतीति न निवेश्यम् । तद्धितोधिवरुण इतिसूत्रात् । एवं च तथा

तुल्यत्वात् । किञ्च, एवमग्निलोकानन्तरं वायुलोक इत्यपि वक्तुं शक्यम्, अतो विद्वद्भिरुपेक्ष्योऽयम् । वाजसनेयिनस्तु, 'मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्य'मिति पठन्ति । तत्राप्यादित्यात् पूर्वो देवलोकात् परो वायुर्ज्ञेयः । एकत्रादित्यात् पूर्वत्वे सिद्धे मार्गैक्यादन्यत्रापि तथात्वस्य न्यायप्राप्तत्वात् । सूत्रकारेण तु छन्दोगश्रुत्यपेक्षयोक्तम्, वायुमब्दादिति । एवं सति मासेभ्यः परस्ताद्ब्दनिवेशनं कार्यम् । नच 'वायुमब्दा'दिति सूत्रान्मार्गभेदापत्तिः । देवलोकस्यादित्याधिष्ठेयत्वेनादित्यमध्यपातित्वमभिप्रेत्य छन्दोगश्रुतिस्तथोक्तवती । तदनुसारेण व्यासोपि । अतो नानुपपत्तिः ॥ २ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

माहुः । किञ्चेत्यादि । एवमिति । ऊर्ध्वाक्रमणपूर्ववर्तित्वयोर्विशेषपदार्थत्वे । तथा चाब्दानन्तर्यमपि न सिध्येदित्यर्थः । एवं सूत्रव्याख्यानांशे तन्मतमपास्य बृहदारण्यकश्रुतिविरोधांशेपि तन्मतं परिहर्तुमाहुः वाजसनेयिन इत्यारभ्याब्दादितीत्यन्तम् । परिहरन्ति एवं सतीत्यादि । एवं सतीति । देवलोकनिवेशेऽवश्यं कर्तव्ये सति । तथोक्तवतीति । संवत्सराब्दादादित्यमित्युक्तवती । तथाच स्थानापेक्षया 'ध्वयों दिवोऽधिपति'रित्युक्तलिङ्गस्य बलिष्ठत्वाद् देवलोकात् पूर्वमेव वायुनिवेशो युक्तः, न तु ततः परमित्यर्थः ।

रामानुजाचार्यास्तु, देवलोकशब्दं वायुलोकपरमेवाङ्गीकुर्वन्ति । यद्देवलोकशब्दे अविशेषेणोक्तम्, तदेव वायुलोकशब्दे विशेषेणोच्यत इत्यविशेषविशेषाभ्यामित्येव तत्रापि हेतुः । वाजसनेयिनां 'स वायुमागच्छती'ति श्रावणात् कौशीतकिनां वायुलोकशब्दे वायुश्चासौ लोकश्चेति कर्मधारयमङ्गीकुर्वन्तो वायोर्देवलोकत्वाय, 'योऽयं पवत एष देवानां ग्रहा' इति श्रुतिं चाहुः । तत्राप्येकत्र कर्मधारयाङ्गीकारे प्रायपाठविरोधः । सर्वत्र तदङ्गीकारे तु लोकपदप्रयोगवैयर्थ्यम् । 'स वायुमागच्छती'त्यत्र केवलवायुप्रयोगस्तु द्वारत्वाभिप्रायेण । आदित्यसन्निधानात् । आदित्ये लोकद्वारत्वस्य, 'एतद्वै खलु लोकद्वार'मिति छान्दोग्ये श्रावणादिति । अतश्चिन्त्यम् ॥ २ ॥

रश्मिः ।

नाम स आदित्यमागच्छतीत्यत्र अविशेषविशेषहेतुर्न वरुणलोकमित्यत्रापीति न च वाच्यमित्यर्थः । तुल्यत्वादिति वायुलोकानन्तरमादित्यलोकं गच्छतीत्यस्य तुल्यत्वात् । तथा च न स वरुणलोकमागच्छतीत्यनिवेश्यम् श्रुतत्वात्, अन्यपौर्वापर्यं तु निवेश्यमिति भावः । आद्य इति अर्थान्तरपक्षे । व्याख्येयेति वायुमब्दाद्वायोरादित्यमिति व्याख्यानाद् व्याख्येयसूत्रविरोधः । द्वितीय इति । अर्थपक्षे सोप्युक्त एव । उभयमिति अर्थोर्थान्तरं च । दूषणेति । उक्तानुमाने अग्निलोकमागच्छतीत्यादेरदृष्टान्तत्वार्थं तथा । बृहदारण्यकेति माते व्याख्येयसूत्रविरोधांशे । तन्मतमिति । वाजसनेयिनस्तु 'मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्य'मिति समामनन्ति । तत्र आदित्यानन्तर्याय देवलोकाद् वायुमभिसंभवेयुः । वायुमब्दादिति तु छन्दोगश्रुत्यपेक्षयेति परभाष्यादनूदितं तन्मतम् । इत्यन्तमिति । इत्यन्तं तन्मतमाहुरित्यन्वयः । एवं सतीत्यादीति । मार्गभेद इति वायुलोकाद्देवलोकं देवलोकादादित्यमित्यस्मान्मार्गाद्भेदस्यापत्तिः । इत्युक्तस्येति । अत्रैव भाष्योक्तस्य लिङ्गस्य । तत इति देवलोकात् । ग्रहा इति । छत्रिणो यान्तीत्यत्र छत्रित्ववत् वायौ ग्रहत्वम् । बहुवचनं छान्दसम् । ग्रहा इत्यत्र अचो रेफो वा । प्रायपाठेति । अग्नेर्लोकोग्निलोकस्तमित्येव षष्ठीतत्पुरुषप्रायपाठस्तस्य विरोधः । सर्वत्रेति । वायुलोकपदेपि । लोकेति वायुश्चासौ लोकः वायुलोक इत्यत्र वायुलोकलोक इत्यर्थापत्त्या तथा । वायुपदस्य वायुलोकवाचकत्वम् । 'योऽयं पवत एष देवानां ग्रहा' इति श्रुतेः ॥२॥

तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धात् ॥ ३ ॥

'आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युत'मित्यत्र पठितविद्युल्लोकात् परतो वरुणलोको निवेशनीयः । तत्र हेतुः । सम्बन्धात् । तडितोऽप्सम्बन्धित्वाद्वरुणस्य तत्पतित्वात् तथा ॥ ३ ॥

वरुणाच्चाधीन्द्रप्रजापती ॥ ४ ॥

स्पष्टमिदम् । अर्चिरादिपाठे विद्युदनन्तरं 'तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयती'ति पठ्यते । तत्तु यस्योपासकस्य वरुणादिलोकगमनापेक्षा नास्ति, तमपेक्ष्येति ज्ञेयम् । मार्गैक्यनियममभिप्रेत्य सूत्रकारोऽन्यत्रोक्तानामन्येषामपि लोकानां तत्रैव निवेशनमाह ॥ ४ ॥

॥ इति चतुर्थाध्याये तृतीयपादे प्रथममर्चिराद्यधिकरणम् ॥ १ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धात् ॥ ३ ॥ ननु भवतु संवत्सरादुपरि देवलोकादर्वाग्वायुलोकनिवेशस्तथापि वरुणलोकः क्व निवेशनीयः, न हि तत्र विशेषादिरूपं किमपि नियामकमन्तराले निवेशने लभ्यते, अतो मार्गभेदपक्ष एव युक्त इत्याशङ्कानिरासायेदमित्याशयेन व्याकुर्वन्ति आदित्यादित्यादि । तडितोऽप्सम्बन्धित्वादिति । 'विशाला हि विद्युतो नृत्यन्ति तीव्रस्तनितनिर्घोषो जीमूतोदरेषु नृत्यन्ति अथापः प्रपतन्ति विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वे'ति ब्राह्मणात् तथा । तथा चाप्सम्बन्धरूपस्य नियामकस्य विद्यमानत्वात् तन्निवेशसिद्धेर्न मार्गैक्यबाध इत्यर्थः ॥३॥

वरुणाच्चाधीन्द्रप्रजापती ॥ ४ ॥ स्पष्टमिति । पाठसामर्थ्यादेव तन्निवेशस्थानं स्पष्टमिति न पूर्ववदाशङ्कावकाश इत्यर्थः । तडिदनन्तरं वरुणादिलोकनिवेशेऽर्चिरादिश्रुतिविरोधमाशङ्क्य परिहरन्ति अर्चिरादीत्यादि । तमपेक्ष्येति पर्यङ्कविद्युपासकमपेक्ष्य । मार्गैक्यनियममभिप्रेत्येति । अक्षिपुरुषविद्यापञ्चाग्निविद्ययोरिव पर्यङ्कविद्यायामपि देवयानमार्गस्य प्रत्यभिज्ञानात् तयोरिवास्यामपि वैद्युतस्यातिवाहिकस्यावश्यकत्वात्

रश्मिः ।

तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धात् ॥ ३ ॥ तत्रेत्यादि । 'अग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोक'मित्यत्र विशेषः स इति द्वये । आदिना क्रमः सम्बन्धश्च । अन्तराले इन्द्रादित्यलोकयोरन्तराले । इदमिति । सूत्रम् । नृत्यन्तीसीति[1] । नृत्यन्ति इति इ इति छेदः । इ आश्चर्ये । ब्रह्मेति । ब्रह्मेवाचरति । नृत्यसूक्ष्मत्वादिना । तेति वर्णागमः । तन्निर्घोषो वा तकारलोपः । तस्याः विद्युतः निर्घोषः आकाशे जीमूतोदरेष्वाकाशे शब्दः । 'आकाशे कः शब्दं करोती'ति प्रश्ने 'वारणे विद्यु'दित्युत्तरात् । जीमूतो मेघः इन्द्रस्यात्ममूर्तिः । अथ तदनन्तरं आपः सेचनकर्म्यः । विद्योतते विद्युत् । स्तनयति जीमूतः । वर्षिष्यति वा जीमूतः । तथेति । भाष्यीयतथेत्यस्यानुवादः । तडितोऽप्सम्बन्धित्वम् । तन्निवेशेति । वरुणलोकनिवेशसिद्धेः ॥ ३ ॥

वरुणाच्चाधीन्द्रप्रजापती ॥ ४ ॥ पाठे इति । 'स एवं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति, स वायुलोकम्, स वरुणलोकम्, स इन्द्रलोकम्, स प्रजापतिलोकम्, स ब्रह्मलोक'मिति कौषीतकिश्रुतिपाठसामर्थ्यात् । पूर्ववदिति । तडित्सूत्रवत् । आशङ्केति । लोकनिवेशशङ्कावकाशः । मार्गैक्यनियममभिप्रेत्येतीति । अर्चिरादिमार्गैक्यनियमम् । तयोरिवास्यामिति ।

[1] नृत्यन्तीति रश्मिपाठः ।

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥ ५ ॥ (४-३-२)

विद्युदनन्तरं 'तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयती'त्यत्र भवति संशयः । उक्तश्रुतेर्गमयित्रैव ब्रह्मप्राप्तिरिति निश्चीयते । स च विद्युदनन्तरमेव पठ्यते । एवं सति यस्य वरुणादिलोकगमनम्, तस्य वचनाभावेन गमयितृप्राप्तेर्ब्रह्मप्राप्तिर्भवति, न वेति । तत्र वाचनिकस्य यावद्वचनत्वात्तदभावेन सा न भवतीति प्राप्त आह **आतिवाहिका इति ।**

एतदुक्तं भवति । यस्योपासकस्य यावत्फलभोगानन्तरं ब्रह्मप्राप्तिर्भाविनी, तस्य तावत्तद्भोगानन्तरं ब्रह्मप्राप्तिर्भवति, अत एव कौशीतकिश्रुतौ प्रजापतिलोकानन्तरं ब्रह्मलोकः पठ्यते । अन्यथा कृतसाधनवैयर्थ्यम्, तेषां ब्रह्मप्राप्तिसाधनत्वबोधकश्रुतिविरोधश्च स्यात् । तथा च यत्रातिवाहिकश्रुतिर्नास्ति, तत्राप्यातिवाहिको भगवदीय एव ब्रह्म प्रापयतीति ज्ञेयम् । वस्तुतस्तु बहव एव तादृशाः

भाष्यप्रकाशः ।

तथाभिप्रेत्य । तथाचैतन्न्यायेन सर्वासु क्रमप्राप्तिबोधिकासु ब्रह्मविद्यासु वैद्युतं पुरुषं विना न ब्रह्मप्राप्तिरिति बोधनार्थं मार्गैक्यनिरूपणमित्यर्थः ॥ ४ ॥ इति प्रथममर्चिराद्यधिकरणम् ॥ १ ॥

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥ ५ ॥ एतस्याधिकरणत्वाय विषयं संशयं चाहुः विद्युदित्यादि । सङ्गतिस्त्ववसरः । पूर्वपक्षमाहुः तत्रेत्यादि । सिद्धान्तं व्युत्पादयन्ति एतदित्यादि । अन्यथा कृतसाधनवैयर्थ्यमिति । तेनोपासनेन ब्रह्मप्राप्त्यभावे तदर्थं कृतं यदुपासनरूपं साधनं तस्य वैयर्थ्यम् । तेषामिति । उपासनानाम् । आतिवाहिकश्रुतिरिति । अतिवहनं अतिक्रामयित्वा प्रापणं अतिवाहः । भावे घञ् । तत्सम्बन्धी आतिवाहिकस्तद्बोधिका श्रुतिरातिवाहिकश्रुतिः । ननु यद्येवमातिवाहिकप्राप्त्यर्थमिदं सूत्रं स्यात्, तदैकवचनमेव प्रयुज्येत, श्रुतौ 'अमानवः पुरुष' इत्येकवचनात्, अतो नैवमित्यत आहुः वस्तुत इत्यादि । तथा च यत्रातिवाहिको न पठितः, तस्यामपि विद्यायां ब्रह्मप्राप्तेरुक्त-

रश्मिः ।

अक्षिपुरुषविद्यापञ्चाग्निविद्ययोरिवास्यां पर्यङ्कविद्यायाम् । **तथाभिप्रेत्येति ।** मार्गैक्यनियममभिप्रेत्य । एतदिति । समीपतरवर्तिसूत्रेण ॥ ४ ॥ **इति प्रथममर्चिराद्यधिकरणम् ॥ १ ॥**

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥ ५ ॥ विद्युदित्यादीति । उक्तेति । अव्यवहितपूर्वमुक्तश्रुतेः । **गमयितृप्राप्तेरिति ।** भोगभूमिषु भोगानन्तरं अन्यस्य कर्मादेर्गमयितुरभावादपेक्षितगमयितृप्राप्तेरित्यर्थः । **अवसर इति ।** क्रममुक्तौ ज्ञानिसम्बन्धिन्यां ब्रह्मप्राप्तौ प्रतिबन्धकीभूता मार्गनिवेशनजिज्ञासा तस्या निवृत्तौ सत्यां अवश्यवक्तव्यत्वं सर्वत्र ब्रह्मपुरुषस्य अमानवस्य निवेशे इत्यवसरसङ्गतिलक्षणसमन्वयः । प्रतिबन्धकीभूतजिज्ञासानिवृत्तावश्यवक्तव्यत्वमवसर इति लक्षणम् । **तत्रेत्यादीति ।** वाचनिकस्य तत्पुरुषस्य अमानवस्य । **यावद्वचनं** वचनमनतिक्रम्येति यावद्वचनम् । अव्ययीभावः । अन्यत्र वचनाभावेन । सेति ब्रह्मप्राप्तिः । तदर्थं ब्रह्मप्राप्त्यर्थम् । भास्करभाष्ये तु भवार्थे ठगुक्तः तत्र भव इति सूत्रात् । तथा चातिवाहे भव आतिवाहिकः । **आतिवाहिक इति ।** औणादिकष्ठक् । भाष्ये । **तथा चेत्यादि ।** विद्यासामर्थ्याद्गमयितृभावेऽपि ब्रह्मप्राप्तौ सत्याम् । **भगवदीय एवेति ।**

सन्तीति ज्ञापनाय बहुवचनमत्रोक्तम् । तन्मध्ये कश्चनाप्येक एव नयतीति ज्ञापनाय श्रुतावेकवचनम् । तत्र हेतुः **तल्लिङ्गात् ।** 'तत्पुरुषोऽमानव' इत्यत्र ब्रह्मसम्बन्धित्वं लिङ्गमुच्यते । तेनेदं ज्ञाप्यते, यथा विद्याबलात् तत्तल्लोकप्राप्तिः, तथैव ब्रह्मप्राप्तिरपीति न, किन्तु भगवदीयपुरुषानुग्रहेणैवेति ।

न च पूर्वपूर्वलोकाधिष्ठातृदेवा उत्तरोत्तरलोकं प्रत्यातिवाहिका यथा, तथा ब्रह्मप्राप्त्यव्यवहितपूर्वलोकदेवा एव ब्रह्मप्रापका इति तत्पदेन स लोक एवोच्यत इति वाच्यम् । तदेतरलोकेषु तदकथनं यथा, तथात्रापि न कथयेत् । लोका-

भाष्यप्रकाशः ।

स्यात् तदन्यथानुपपत्त्या स कल्प्यः, अतः प्राप्यबहुत्वात् प्रापकबहुत्वबोधाय तद्वचनमित्यर्थः । श्रौतस्यैकवचनस्य तात्पर्यमाहुः तन्मध्य इत्यादि । तत्र हेतुरिति । बहुत्वे हेतुः । एतमर्थं हेतुव्याख्यानमुखेन स्फुटीकुर्वन्ति तत्पुरुष इत्यादि । उच्यत इति । 'अमानव' इत्यादिना वाक्येनोच्यते । तेनेति । श्रौतेन लिङ्गेन । तथा चैतल्लिङ्गेनैव तेषां बहुत्वसिद्धिरित्यर्थः ।

अत्रान्ये एवं व्याकुर्वन्ति । 'अर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्ष'मित्यादौ किमेतेऽर्चिरादयो देवयानमार्गस्य चिह्नानि, यथा अमुकं नगरं प्रति गच्छतोऽमुकः[1] पर्वतोऽमुका नदी, एते ग्रामा इति, अथवा अवान्तरभोगभूमयः यथा दूरतरं नगरं गच्छतोऽवान्तरनिवासग्रामाः, उतातिवाहिका देवताविशेषा इति सन्देहे । आतिवाहिका एवैते । कुतः । तल्लिङ्गात् । 'आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयतीति सिद्धवद्गमयितृत्वदर्शनरूपाल्लिङ्गात् । 'अमानव' इति विशेषणं तु पूर्वोक्तमानवत्वनिवृत्त्यर्थमिति ।

तदेतन्निषेधन्ति न चेत्यादि । तत्पदेनेति । श्रौतेन लुप्तापादानपञ्चमीकेन । तन्निषेधहेतुं व्युत्पादयन्ति तदेतरेत्यादि । यदि तत्पदेन विद्युल्लोकः परामृश्येत, तदान्येषु लोकेषु यथा गमयितुरकथनम्, तथात्रापि गमयितारं न कथयेत् । देवानामातिवाहिकत्वस्य लोकसम्बन्धादेव प्राप्तत्वात् । नन्वत्र तत्पदस्य लोकबोधकत्वेऽपि देवानां लोकस्थत्वादातिवाहिकत्व-

रश्मिः ।

अयं कर्मस्थानीयः, न तु ज्ञानावमर्शितकर्मणां ज्ञानिनामुत्क्रमणादि कर्म । ननु विद्या प्रापयतीत्युक्तमिति चेत् । न । विद्याफलस्य ब्रह्मप्राप्तेरवान्तरमार्गगततत्तल्लोकदेवताऽसाहित्ये साभिफलं भवेदिति विद्यासाफल्यायातिवाहिकोक्तेः । **नैवमिति ।** यत्रातिवाहिकश्रुतिर्नास्तीत्याद्युक्तं न, किन्तु वाचनिकस्यामानवपुरुषस्य यावद्वचनत्वम् । **तदन्यथानुपपत्त्येति ।** अत्र शास्त्रान्तरवत् नान्यथानुपपत्तिरर्थापत्तेरविषयत्वपरिच्छिहीर्षयापि त्वर्थापत्तिरेवान्यथानुपपत्तिः करणत्वोक्तेस्तृतीययेति । स इति आतिवाहिकः । **तद्वचनमिति** सूत्रे बहुवचनम् । एनमित्यन्वादेशः । प्रतीकार्थमुपात्तस्य हेतोः स्फुटीकारार्थं पुनरुपादानात् । किञ्चित्कार्यार्थमुपात्तस्य पुनरुपादानमन्वादेशः तत्पुरुषो लोकपुरुषः अतोऽमानवो ब्रह्मसम्बन्धिलिङ्गमित्याशयेनाहुः **अमानव इति ।** **श्रौतेन इति ।** अमानवरूपेण । तेषामिति । आतिवाहिकानाम् । **यथा अमुकमिति ।** यथा अमुकं नगरं प्रति गच्छतः अमुकः पर्वतः अमुका नदी य एते ग्रामा इति पाठः । **सन्देह इति** त्रिकोटिकसन्देहे । पूर्वपक्षस्तु **अवान्तरभोगभूमय** आतिवाहिका इति । **आतिवाहिका एवेति ।** देवताविशेषा एव तु देवयानमार्गस्य चिह्नानि नाप्यवान्तरभोगभूमय

१. अमुकः, अमुका इति रश्मिपाठौ ।

धिष्ठातृदेवानामातिवाहिकत्वोक्तावर्चिर्लोकप्रापकातिवाहिकस्याभावात् तत्प्राप्तिर्न स्यात् । तथा सति देवयानमार्ग एवोच्छिद्येत । अतो यथा विद्याबलेनैवार्चिषः प्राप्तिः, तथेतरेषामपीति बुध्यस्व । कस्यचिदल्पलोकगत्यनन्तरमेव ब्रह्मप्राप्तिः । कस्यचित् बहुलोकगत्यनन्तरं सोच्यत इति भोगभूमित्वमेव तेषामवगन्तव्यम् । सर्वेषां सर्वत्र गमने देवयानं पन्थानं वदन्त्याः श्रुतेः सामि तत्कथनमनुपपन्नं स्यात् । अत उपासनाभेदेन फलभेदं ज्ञापयन्ती तथा वदतीति युक्तमुत्पश्यामः ॥ ५ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

कल्पनम्, किन्तूपसंहारस्थं सिद्धवत् गमयितृत्वदर्शनमेव देवानामातिवाहिकत्वे लिङ्गम्, अतस्तत्प्रापणार्थं तत्कथनमिति चेत्, तत्राहुः लोकेत्यादि । तथा चात्र यद् गमयितृकथनम्, तद्विद्युल्लोकात् पूर्वेषु लोकेषु गमयित्रपेक्षाभावं बोधयति, न तु गमयितारं प्रापयतीत्यर्थः । ननु यदि विद्याबलेनैव विद्युदन्तलोकप्राप्तिः स्यात्, तदा सर्वासु विद्यासु सर्वे लोका उच्येरन्, तत्तु नोच्यते, अतो न विद्याबलेन तत्प्राप्तिः, किन्तु गमयित्रैवेति श्रुतेस्तात्पर्यमिति चेत्, तत्राहुः कस्यचिदित्यादि । तथा च देवयाने मार्गेऽग्न्याद्युत्तरं सर्वत्र लोकशब्दोपबन्धात्तस्य च श्रुतिरूपतया लिङ्गापेक्षया बलीयस्त्वात्तेषां भोगभूमित्वमेव युक्तम्, न त्वातिवाहिकत्वम् । किञ्च । कस्यचित् प्रापणार्थमर्चिरादिदेवतायां गतायां तस्मिन्नवसरेऽन्यस्यार्चिःप्राप्तिर्न स्यात् । तथा च 'तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ती'ति श्रुतिबाधप्रसङ्गः । अतस्तदभावाय तेषां लोकत्वमवश्यमङ्गीकार्यम् । किञ्च । विद्याया अर्चिषः पूर्वमुक्तत्वेऽपि तस्या गन्त्रा सहानुवर्तमानत्वात्तयैव तत्तल्लोकप्राप्तिरित्येव युक्तम् ।

रश्मिः ।

इत्यर्थः । सिद्धवदिति । न तु पूर्वकोटिद्वयमुपन्यस्य तत्पुरुष इत्यादि साध्यवत् । पूर्वोक्तेति । तत्पुरुष इत्यनेनोक्तमानवत्वनिवृत्त्यर्थम् । तत्पदेन तस्य लोकस्य पुरुषा इति व्याख्यानं तद्वत् तत् तस्मादित्यपि व्याख्यानमित्याशयेनाहुः श्रौतेन लुप्तापादानपञ्चमीकेनेति । तन्निषेधहेतुमिति । भोगभूमिरूपार्थरहिततत्पुरुषरूपार्थस्य निषेधे हेतुं व्युत्पादयन्ति विद्युल्लोक इति । तस्माल्लोकादित्यर्थात्तथा । परामृश्येतेति । अधीष्टे लिङ् । कथयेदिति । स्वार्थे णिच् । उपसंहारस्थमिति । देवयानपथि संप्राप्तिस्थमित्यर्थः । तत्प्रापणार्थमिति । लोकप्रापणार्थम् । तत्कथनमिति आतिवाहिककथनम् । तत्त्विति । लोकन्यूनाधिकभावापेक्षया सामान्ये नपुंसकम् । लोकन्यूनत्वं लोकाधिकत्वं नोच्यत इत्यर्थः । तत्प्राप्तिः लोकप्राप्तिः । अग्न्यादीति । वायुवरुणेन्द्रप्रजापतिब्रह्माणि गृह्यन्ते आदिना । श्रुतीति । निरपेक्षो रवः श्रुतिः पूर्वतन्त्रोक्तलक्षणा । लिङ्गेति आतिवाहिकलिङ्गापेक्षया । बलीयस्त्वं 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्य'मिति जैमिनिसूत्रात् । तेषां अर्चिरादिमार्गगतावान्तरविश्रामस्थानानाम् । आतिवाहिकत्वमिति । तत्तल्लोकदेवताविशेषत्वम् । तेषामिति । आतिवाहिकानाम् । सर्वेषामित्यारभ्योत्पश्याम इत्यन्तभाष्यतात्पर्यार्थं वदन्तो विद्यासाफल्यायातिवाहिका इत्याहुः किञ्च विद्याया इति । तयैवेति । तया विद्ययापि । अपिनातिवाहिकाः । एवकारोऽप्यर्थे । लोकदेवता विना विद्या सामि स्यादिति भावः । लोकदेवतास्तात्पर्यार्थः । भाष्यार्थस्तु सर्वेषां विद्यावतां सर्वत्र लोकेषु । सामि तत्तल्लोकदेवता विनार्धम् । तत्कथनं देवयानपथकथनम् । फलभेदं तत्तल्लोकदेवतासाहित्यरूपं फलप्रकारम् । तथा वदतीति । शक्तितात्पर्याभ्यामातिवाहिकपदार्थं वदतीति ।

ननु 'तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्ती'त्यादिश्रुतिभ्यो देवयानं पन्थानं प्राप्तानां पुंसां ब्रह्मवित्त्वमवश्यं वाच्यम् । तेन सद्योमुक्तौ सम्भवन्त्यां सत्यां क्षयिष्णुत्वेन क्षुद्रानन्दत्वेन च हेयानां परमफलप्राप्तिविलम्बहेतूनामर्चिरादिलोकानां कामना कुतः यतस्तद्धेतुभूतोपासनाः सम्भवन्ति । किञ्च । 'अर्चिरादिना तत्प्रथिते'रित्यत्र यदुक्तं ज्ञानमार्गीयस्यैवार्चिरादिप्राप्तिः, न भक्तिमार्गीयस्येति, तदप्यनुपपन्नम् । 'यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च य'दित्युपक्रम्य, 'सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा, स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद्यदि वाञ्छती'ति भगवद्वाक्याद्भक्तस्याप्येतद्वाञ्छाफले सम्भवतः । अन्यथा प्रभुर्न वदेत् । एवं सति भक्तिसुखं हित्वान्यत्र कामनायां हेतुर्वाच्य इत्याकाङ्क्षायां तमाह ।

उभयव्यामोहात् तत्सिद्धेः ॥ ६ ॥

अत्रेदं ज्ञेयम् । देवयानः पन्था अपि भगवतैव सृष्टोऽस्ति । तथाप्युक्तहेतुभिस्तत्र कस्यापि कामाभावे तत्सृष्टिर्व्यर्था स्यात्, अतो भगवानेव कांश्च व्यामोहयति ज्ञानिनो मर्यादामार्गीयभक्तांश्च, अतस्तत्कामनासिद्धेस्तत्फलभोग इति ।

यत्त्वार्चिरादिमार्गगन्तॄणां देहवियोगेन सम्पिण्डितकरणग्रामत्वेनास्वातन्त्र्यं व्यामोहः । अर्चिरादीनां चाचेतनत्वेनास्वातन्त्र्यं व्यामोहः । कार्यकरणासामर्थ्यमिति यावत् । तेनार्चिराद्यधिष्ठातृदेवैरतिवाह्यन्त इति सिद्धमिति व्याख्यानम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

अतो यथैकदेशीयानेकग्रामवासिनामेकस्मिन् देशे गन्तव्ये तन्मार्गेणैकेन तं प्रति गच्छतां मध्येमार्गमनेकनगरग्रामादिसत्त्वेऽपि यस्य यत्र किञ्चित्कार्यम्, स एव तत्र विरम्याग्रे गच्छति, अन्यस्त्वन्यत्र, न तु सर्वः सर्वत्र तथेत्यर्थः ॥ ५ ॥

उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ॥ ६ ॥ सूत्रमवतारयन्ति ननु तेषामित्यादि । अर्थस्त्ववतारणस्य सूत्रव्याख्यानस्य च स्फुटः । तथा च, 'स वै नैव रेमे' इत्यादिश्रुतेः 'कृतप्रयत्नापेक्ष' इति न्यायाच्च कांश्चन व्यामोहयन् लीलां करोतीति तदर्थं तथेत्यर्थः ।

पूर्वसूत्रोक्तं हेतुमर्चिरादिदेवानामातिवाहिकत्वसिद्धावपर्याप्तं मन्वानैस्तदर्थं यदत्रान्यैर्व्या-

रश्मिः ।

गन्तव्य इति । देशस्वास्थ्ययुक्त एको देशः गन्तुमर्हस्तस्मिन् । तन्मार्गेणेति गन्तव्यदेशमार्गेण । तमिति । गन्तव्यदेशं प्रति । अग्रेऽपि गच्छतीति । सुहृद्भिः सह गच्छतीति बोध्यम् । दार्ष्टान्तिकानुरोधात् ॥ ५ ॥

उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ॥ ६ ॥ स्फुट इति । तमाहेत्यस्य हेतुमाहेत्यर्थः । एवमवतारणस्यार्थः स्फुटः । सूत्रव्याख्यानस्यार्थस्तु ज्ञानिन इत्यारभ्य सूत्रार्थः । उभयेषां ज्ञानिमर्यादामार्गीयभक्तानां व्यामोहात् कामनासिद्धेस्तत्तल्लोकफलभोग इत्येवं स्फुटः । कृतप्रयत्नेति । 'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्य' इति सूत्रात् द्वितीयाध्यायतृतीयपादस्थात् । तथेत्यर्थ इति । उभयव्यामोहात् तत्सिद्धेरित्यर्थः । अपर्याप्तमिति । अग्निवायुवरुणाद्युत्तरं लोकसम्बन्धान्निरपेक्षरवरूपश्रुतिः भोगायतनत्वहेतुभूता पूर्वसूत्रोक्ततल्लिङ्गादिति हेतोर्बलीयसी आतिवाहिकत्वहेतुभूतात् । अतोऽपर्याप्तम् । अपरिपूर्णम् । तदर्थमिति । आतिवाहिकत्वसिद्ध्यर्थम् । ननूक्तमर्चिराद्यधिष्ठातृदेवैरति-

तत्र साधीयः । व्यामोहशब्दस्यान्यथाज्ञानवाचकत्वेन असामर्थ्यावाचकत्वात् । तथा सत्यर्चिर्लोकमपि न प्राप्नुयात् । प्रापकाभावादित्युक्तम् ॥ ६ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

ख्यातं तद्दूषणायोपक्षिपन्ति दूषयन्ति च यस्त्वित्यादि । तत्रेत्यादि च ।

तथा सतीति । गन्तॄणां पिण्डितकरणग्रामत्वेनास्वातन्त्र्ये सति । तथा चानया रीत्या व्यामोहेनार्चिरादीनामातिवाहिकत्वसाधनमसङ्गतमेवेत्यर्थः । किञ्च । यदनवस्थितत्वादर्चिरादीनां न मार्गलक्षणत्वमिति । तदपि तथा । तेषां लोकत्वस्य स्वयमप्यङ्गीकृतत्वेनाप्रलयं तत्स्थितेस्तदभावात् । नापि रात्रौ प्रेतस्याहःसम्बन्धानुपपत्तिः । तेषां लोकतया स्थिरत्वेन विधयैव तत्प्राप्त्युपपत्तेः । 'अहोरात्रेषु ते लोकेषु सज्जन्त' इति ब्राह्मणस्य स्वयमेव पूर्वं लिखनात् । तेनाहोरात्रन्यायात् समानप्रकरणे लोकपदोपबन्धाच्च गन्तृविशेषभोगभूमित्वमेव युक्तम् । अतः पूर्वसूत्रव्याख्याने श्रौतानामर्चिरादिपदानां स्वार्थत्यागः । अन्यगतलिङ्गेनान्येषामातिवाहिकत्वसाधनम् । लोकपदोपबन्धवैयर्थ्यम् । अत्र सौत्रपदस्य स्वार्थत्याग इति तदुभयव्याख्यानमप्यसङ्गतमित्यर्थः ॥ ६ ॥

रश्मिः ।

वाह्यन्त इति चेत्, तत्राहुः प्रापकाभावादिति । अर्चिषः प्राप्तावातिवाहिकाभावादन्यत्रापि तथात्वादित्यर्थः । अर्चिषः प्राप्तौ कल्प्यत आतिवाहिक इति चेत्, तत्राहुः इत्युक्तमिति । लोकाधिष्ठानेत्यादिभाष्येण पूर्वसूत्र उक्तम् । तथा च त्रिवृत्करणे पञ्चीकरणाप्राप्तिवदर्चिष्यातिवाहिकाप्राप्तिरिति भावः । असङ्गतमिति । निरपेक्षस्वरूपाग्निलोकादिश्रुत्यपेक्षयातिवाहिकलिङ्गस्य दुर्बलत्वादिति पूर्वसूत्र उक्तत्वादेवकारः । शाङ्करभाष्यीयमन्यदपि दूषयन्ति स्म किञ्चेति । न मार्गेति । न मार्गचिह्नत्वं संशयप्रथमकोट्युक्तम् । तथेति । असङ्गतम् । आप्रलयमिति । प्रलयं मर्यादीकृत्येत्यर्थः । तदभावादिति । अनवस्थितत्वाभावात् । प्रलयात् पूर्वमेकदेशविकृतावप्येकदेशविकृतमनन्यवदितिन्यायस्य 'अन्ये तु' इत्येवं शाङ्करादिमतोपन्यासेन सूचनात् । अहः सम्बन्धेति । लोकदेवता विना । अहःसम्बन्धावश्यकत्वं 'निशि ने'ति सूत्र उक्तम् । तेषामिति । आतिवाहिकानाम् । विधयैवेति । विधयापि । अपिना तात्पर्यविषया लोकदेवताविशेषाः । पूर्वमिति । आतिवाहिकसूत्रे । सिद्धमाहुः तेनेति । अहोरात्रन्यायो गन्तॄणां विशेषत्वे हेतुः । विशेषो विद्वत्त्वम् । रात्रौ मृतस्य विदुषोऽहःसम्बन्धावश्यकत्वात् । समानेति तेषां भोगभूमित्वे हेतुः । समानप्रकरणत्वं तु कौषीतकिनां समानप्रकरणीयत्वकथनात् । एवेति । न तु देवताविशेषत्वम् । इत्थमातिवाहिकाधिकरणं परेषां मतेपि त्रिसूत्रम् । तत्र प्रथमसूत्रे किञ्चिदाहुः अतः पूर्वेति । व्याख्यानं तु तल्लिङ्गादातिवाहिकाः लोकदेवताविशेषाः । द्वितीयार्थस्तु उभयव्यपदेशात् आतिवाहिकत्वसिद्धेरिति । तृतीयसूत्रार्थस्तु अमानवो विद्युल्लोकमागतो वैद्युतः । तेनैव ततो विद्युल्लोके प्राप्तेरूर्ध्वं नीयमाना विद्वांसः कार्यं ब्रह्म प्राप्नुवन्ति । तच्छ्रुतेः विद्युल्लोकस्थनित्यमानवस्यैव गमयितृत्वश्रावणादिति । तस्मिन् । स्वार्थेति । लोकरूपस्वार्थस्तस्य त्यागः । अन्यगतेति । संपिण्डितकर्णग्रामजीवगतत्वेन अर्चिरादिमार्गगतत्वेन च लिङ्गेन उभयव्यामोहेन च । अन्येषामिति । लोकदेवानाम् । लोकपदेति । अग्निलोकवायुलोकेत्यादिषु लोकपदेत्यादिः । अग्न्यादिपदैरेव देवताविशेषोपस्थितेः 'अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशा'दिति न्यायात् । अत्रेति उभयव्यामोहसूत्रे । सौत्रपदस्य व्यामोहपदस्य । स्वार्थोन्यथाज्ञानम् । तस्य त्यागः । तदुभयेति । सूत्रयोरुभयोर्व्याख्यानम् । तृतीयं त्वागन्तुकमित्युपेक्षितम् ॥ ६ ॥

ननु विद्युतो वरुणादिलोकप्राप्त्यनन्तरं यस्य ब्रह्मप्राप्तिः, तस्य तल्लोकसम्बन्धी ब्रह्मप्रापकः पुरुषोस्ति, उत स स्वत एव तत्प्राप्नोतीति संशय उत्तरं पठति ।

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥ ७ ॥

न हि ब्रह्मप्राप्तिर्विद्युल्लोकसम्बन्धिपुरुषसामर्थ्येनोच्यते, किन्तु ब्रह्मसम्बन्धितत्सामर्थ्येन । तथा च यत एव लोकात् तत्प्राप्तिः, ततो ब्रह्मसम्बन्धिपुरुषादेव । एवं सति विद्युल्लोकात्तत्प्राप्तौ यो ब्रह्मसम्बन्धी पुरुषः प्रापक उक्तः, तेनैव ततो वरुणादिलोकेभ्योपि ब्रह्मप्राप्तिः । तत्र हेतुमाह तच्छ्रुतेः । 'तान् वैद्युतात् पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान्गमयती'ति श्रुतेः । अत्र 'एत्ये'ति वचनाद्यत एव लोकाद् ब्रह्मप्राप्तिर्भवित्री, तत्रैवागत्य ब्रह्म प्रापयतीति गम्यते । श्रुतौ 'वैद्युतं लोकमागत्य तस्माद् ब्रह्मलोकान्गमयती'त्युक्तमिति स पुरुषो वैद्युत इत्युच्यते, न तु तल्लोकवासित्वेन । तथा सति 'एत्ये'ति न वदेत् तत एव ब्रह्मप्रापणे ।

अत एव 'मानस' इत्युक्तः । यदैव भगवन्मनसि भवति 'अथैनं मां प्रापयत्वि'ति, तदैव प्रापयतीति तथा ।

छान्दोग्ये तु 'अमानव' इति पठ्यते । तच्चालौकिकत्वम्, तदप्युक्तरूपमेवेति न कश्चिद्विशेषः । वाजसनेयके 'ब्रह्मलोकान्गमयती'ति पठ्यते । छान्दोग्ये तु 'ब्रह्मे'ति । तत्रायं भावः । भक्तं तु वैकुण्ठलोकं नयति, ते बहुविधा इति

भाष्यप्रकाशः ।

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥ ७ ॥ सूत्रमवतारयन्ति ननु विद्युत इत्यादि । तल्लोकसम्बन्धीति । विद्युल्लोकसम्बन्धी । तत्प्राप्नोतीति । ब्रह्म प्राप्नोति । सूत्रं व्याकुर्वन्ति न हीत्यादि । इति श्रुतेरिति । पञ्चाग्निविद्यास्थवाजसनेयिश्रुतेः । श्रुतौ 'वैद्युता'दित्यस्य 'गमयती'त्यनेन सम्बन्धाद्योऽर्थः सिध्यति, तमाहुः अत्रेत्यादि । तथा सत्येत्येति न वदेदिति । तस्य विद्युल्लोक-

रश्मिः ।

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥ ७ ॥ न हीत्यादीति । ब्रह्मसम्बन्धीति । ब्रह्मसम्बन्धः स्वस्वामिभावलक्षणस्तद्वान् ब्रह्मसम्बन्धी । ब्रह्मसम्बन्धी चासौ सः ब्रह्मसम्बन्धिसः तस्य सामर्थ्येन । तत्प्राप्तिरिति ब्रह्मप्राप्तिः । तत इति लोकाद् अवधिभूतात् । ब्रह्मसम्बन्धिपुरुषाद्वैद्युतादेव । उक्त इति । वक्ष्यमाणश्रुतावुक्तः । तत इति । सौत्रं पदं व्याख्येयम् । गमयतीत्यनेनेति । न त्वेत्येत्यनेनेति भावः । भाष्ये । तत इति विद्युल्लोकवासिन एव ब्रह्मप्रापणे सति । प्रकृते । तदेति । विद्युल्लोक आगमनपूर्वकाले ब्रह्मलोकवासित्वादेव । स्फुटमिति । तथेति मानसः । बहुविधा इति । चत्वारः पञ्च वा । व्यापिवैकुण्ठः रमावैकुण्ठः श्वेतद्वीपः अन्यश्च । आत्मबोधोपनिषदि

'ब्रह्मलोका'नित्युक्तम्। ज्ञानमार्गीयं त्वक्षरं ब्रह्म प्रापयतीति 'ब्रह्मे'त्युक्तम्। अत एवोभयव्यामोह उक्त आचार्येण ॥ ७ ॥

इति चतुर्थाध्याये तृतीयपादे द्वितीयमातिवाहिकाधिकरणम् ॥ २ ॥

अत्र सिद्धान्तदार्ढ्यार्थमुक्तमर्थं हस्तपिहितमिव कृत्वा बादरिमतं पूर्वपक्षत्वेनाह।

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ८ ॥ (४-३-३)

'स एतान् ब्रह्म गमयती'त्यत्र ब्रह्मपदेनाविकृतं परमेव ब्रह्मोच्यते, उत कार्यरूपो ब्रह्मलोक इति भवति संशयः। परस्य व्यापकत्वेन देशविशेषगमयित्रोरनपेक्षितयोरुक्तेः कार्यरूप एव स ब्रह्मपदेनोच्यत इति बादरिराचार्यो मन्यते। कुतः। अस्य गत्युपपत्तेः। तस्य परिच्छिन्नत्वेन तत्स्थितिदेशं प्रत्यस्य गन्तुर्गतेरुपपत्तेरित्यर्थः ॥ ८ ॥

भाष्यप्रकाशः।

वासित्वे सति विद्युताद् ब्रह्मलोकान् गमयतीत्येतावतैव विवक्षितार्थसिद्धेरेत्येति न वदेदित्यर्थः। अत एवेति। तदवासित्वादेव। शेषं स्फुटम् ॥ ७ ॥

इति द्वितीयमातिवाहिकाधिकरणम् ॥ २ ॥

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ८ ॥ क्रममुक्तौ मार्गं विचार्य तत्फलं विचारयतीत्याशयेन सूत्रमवतारयन्ति अत्र सिद्धान्तेत्यादि। क्रममुक्तौ परब्रह्मैव प्राप्यमिति सिद्धान्तस्य दार्ढ्यार्थमुक्तमर्थमर्चिरादिमार्गो जघन्याधिकारिणां परप्राप्तिसाधनमित्येतमर्थं हस्तपिहितमिव कृत्वा अग्रे स्थापनीयत्वादिदानीमनुक्त्वा तथेत्यर्थः। सूत्रं व्याख्यातुमधिकरणत्वाय विषयसंशयावाहुः स एतानित्यादि। तथा च ब्रह्मपदश्रुतेर्गतिश्रुतेश्च संशय इत्यर्थः। पूर्वपक्षमाहुः परस्येत्यादि। स इति। ब्रह्मलोकः। तस्येति। कार्यस्य ब्रह्मलोकस्य ॥ ८ ॥

रश्मिः।

वाराहपुराणीयचातुर्मास्यमाहात्म्ये श्रीभूः। अत एवेति। फलाभोगादेव। क्रममुक्तौ ज्ञानिनोपि फलभोगः। उभयेषां ज्ञानिनां मर्यादाभक्तानां व्यामोहोऽन्यथाज्ञानम्। परप्राप्तित्वाभाववति ज्ञानिमर्यादाभक्तमोक्षे परप्राप्तित्वप्रकारकज्ञानत्वाल्ल लक्षणसमन्वयः। तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानमन्यथाज्ञानमिति लक्षणम्। पुष्टिमार्गीयपरप्राप्तिव्यतिरिक्ते फले व्यामोह इत्युक्तम्। तदुक्तं तृतीयसुबोधिन्यां 'भक्तिमार्ग एव मार्ग' इति। मुख्ये पुष्टिमार्गे कार्यसम्प्रत्ययो बोध्यः। एवं स्फुटम्। अत्र वृत्तौ ब्रह्मप्राप्तेः प्रापकपुरुषाधीनत्वाद् विद्युल्लोकस्य प्रातिक्रान्तत्वाद् वरुणादिलोकस्यस्यैव प्राप्तत्वाद् अस्तीति पूर्वपक्षं निक्षिप्याधिकरणान्तरत्वं सूचितम्। संशय आभास उक्तः। विषयसिद्धान्तौ व्याख्यान एव स्फुटाविति ॥ ७ ॥ **इति द्वितीयमातिवाहिकाधिकरणम् ॥ २ ॥**

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ८ ॥ तत्फलमिति। उभयव्यामोहोनुसन्धेयः। परब्रह्मैवेति। ज्ञानिभक्तौ विशेषतश्चेदनुगृह्णाति तदा पुष्टिभक्तिं प्राप्नुत आदाविति सिद्धान्तमुक्तावलीटिप्पणे श्रीगोस्वामिनः। तेन परब्रह्मापीत्यर्थः। एवकारोप्यर्थे। तथेति। बादरिमतं पूर्वपक्षत्वेनाहेत्यर्थः। गतिश्रुतेरिति। 'गमयती'ति गतिश्रुतेः। ब्रह्मणः सायुज्यात्तत्र गमनाभावाद्ब्रह्मलोको ब्रह्मपदवाच्य इति ॥ ८ ॥

विशेषितत्वाच्च ॥ ९ ॥

'ब्रह्मलोकान्गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ती'ति श्रुतौ बहुत्वेन वासाधिकरणत्वेन च विशेषिता लोकाः। गन्तारश्च दूरदेशगत्या विशेषिता इति न परं ब्रह्म तत्, किन्तु कार्यमेवेत्यर्थः। लोकपदं तज्जन्यभोगपरम्। तेन तस्यैकत्वेपि विविधभोगज्ञापनाय बहुवचनं घटते ॥ ९ ॥

तत्र ब्रह्मशब्दप्रयोगहेतुमाह।

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥ १० ॥

तल्लोकस्थितानां नान्यलोकव्यवधानं परप्राप्तौ, किन्तु तत एवेति परब्रह्मसामीप्याद् ब्रह्मत्वेन व्यपदेशः कृतः। तुशब्दस्तु वस्तुतो ब्रह्मत्वं व्यवच्छिनत्ति ॥ १० ॥

भाष्यप्रकाशः।

विशेषितत्वाच्च ॥ ९ ॥ तस्य कार्यत्वाय हेत्वन्तरं दर्शयतीत्याशयेन सूत्रं व्याकुर्वन्ति ब्रह्मलोकानित्यादि। विशेषिता इति। अत्र श्रुतौ पूर्वं तानिति गन्तृविशेषणे दूरदेशगन्तारः परामृश्यन्ते, बहुत्वं चोच्यत इति गन्तारस्तथा विशेषिताः। 'पराः परावतो वसन्ती'ति प्रकृष्टा गन्तारः प्रकृष्टान् ब्रह्ममानमितान् संवत्सरान् वसन्तीति श्रावणाच्च ब्रह्मलोका विशेषिताः। तदिति 'ब्रह्म गमयती'त्यत्र प्राप्यत्वेनोक्तम्। ननु ब्रह्मपदस्य कार्यब्रह्मपरत्वे श्रुत्यन्तरोक्तलोकपदविरोध इत्यत आह लोकपदमित्यादि ॥ ९ ॥

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥ १० ॥ भाष्यमत्रातिरोहितार्थम् ॥ १० ॥

रश्मिः।

विशेषितत्वाच्च ॥ ९ ॥ तस्येति। स एतान्ब्रह्म गमयतीत्यत्र ब्रह्मणः। दूरदेशेति। लोकाल्लोकान्तरगमनेऽवधिभूतदेशस्थास्तानिति तच्छब्दार्थः दूरदेशगन्तारः तानिति। **बहुत्वं च। तथा विशेषिताः** बहुत्वेन साधिकरणत्वेन च विशेषिताः। परपदार्थमाहुः। **प्रकृष्टाः।** 'परोपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यत' इत्यत्र। **परावत** इत्यास्यार्थमाहुः **ब्राह्ममानेति।** ब्राह्ममानेन मितान्परिमितान्। परा विद्यन्तेऽस्येति परावान् तान् **परावतः।** पराशब्दोत्र धर्षणे। 'परादि मोक्षप्राधान्यप्रातिलोम्येषु धर्षण' इति विश्वात् तद्वतः **संवत्सरान्** कालो धर्षयतीति तथा। **ब्रह्मलोका** इति। तेन ब्रह्मलोकान् गमयति ते तेषु कार्यरूपेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतः वसन्तीति पदच्छेदः। पराः परावतो ब्रह्मलोकान् वसन्तीत्यन्वयः। केष्वित्याकाङ्क्षायामाह। तेषु ब्रह्मलोकेषु ये ब्रह्मलोकास्तान्। **श्रुत्यन्तरेति।** 'अग्निलोकमागच्छति स वायुलोक'मित्यादिश्रुत्यन्तरेत्यर्थः। **लोकः** कार्यमिति। स ब्रह्मपदार्थ इति तथा। **आहेति** पूर्वपक्ष्याह लोकपदमित्यादीति। **तज्जन्येति** लोकजन्यभोगपरम्। **तस्येति।** कार्यब्रह्मणः। **विविधेति** 'सोश्नुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'त्यत्र विविधं पश्यच्चित्त्वमर्थः तेन तद्वद्विविधभोगचतुरेणेत्यप्यर्थात्। **घटत** इति। अन्यथा तु ब्रह्म गमयतीत्यत्र शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावे एकस्मिन्नद्वितीये उक्तब्रह्मलोकानिति बहुवचनं न घटत इति युक्त्या वेदार्थोऽन्यथा नीतः ॥ ९ ॥

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥ १० ॥ अतिरोहितार्थमिति। **तत्रेति। ब्रह्मलोके कार्ये।** एवमतिरोहितार्थम् ॥ १० ॥

ननु 'आब्रह्मभवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुने'ति वाक्यात्ततः पुनरावर्तते । अत्र तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्तीति पठ्यत इति परमेवात्र ब्रह्मशब्देनोच्यत इति प्राप्ते, उत्तरं पठति ।

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥ ११ ॥

कल्पसमाप्तौ कार्यस्य ब्रह्मलोकस्य नाशे सति तदध्यक्षेण चतुर्मुखेन ब्रह्मणा सह अतो ब्रह्मणः सकाशात् परमीश्वरं प्राप्नोत्यतोऽपुनरावृत्तिश्रुतिर्न विरुध्यते । अत्र प्रमाणमाह अभिधानादिति । श्रुतौ तथाभिधानादित्यर्थः । सा तु 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे' इति । 'परान्तकाल' इत्यत्र परशब्देन ब्रह्मणः पूर्णमायुरुच्यते ॥ ११ ॥

उक्तेऽर्थे श्रुतिं प्रमाणत्वेनोक्त्वा स्मृतिमप्याह ।

स्मृतेश्च ॥ १२ ॥

'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पद'मिति स्मृत्यापि स एवार्थः प्रतिपाद्यते ॥ १२ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥ ११ ॥ प्राप्यस्य ब्रह्मसामीप्याद् ब्रह्मत्ववाद इत्यङ्गीकारे विषयश्रुतिविरोधमाशङ्क्य समाधत्त इत्याशयेन सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि । व्याकुर्वन्ति कल्पेत्यादि । ब्रह्मण इति । चतुर्मुखात् ॥ ११ ॥

स्मृतेश्च ॥ १२ ॥ उत्तानार्थम् ॥ १२ ॥

रश्मिः ।

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥ ११ ॥ प्राप्यस्येति । ब्रह्मलोकस्य न तु ब्रह्मणः, तस्य नित्यप्राप्तत्वात् । **समाधत्त** इति पूर्वपक्ष्येव । **नन्वित्यादीति** । **अत्रेति** । प्रकृतविषये । पञ्चाग्निविद्यायां श्वेतकेतुब्राह्मणे 'तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्ती'ति श्रुतिः । **अत्रेति** 'स एतान्ब्रह्म गमयती'त्यत्र । **कल्पेत्यादीति** । **परशब्देनेति** । तथा च ब्रह्मणश्चतुर्मुखस्य पूर्णायुषोऽन्तकाले आयुषश्चरमावयवे इति परान्तकाल इत्यस्यार्थः ॥ ११ ॥

स्मृतेश्च ॥ १२ ॥ उत्तानेति सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे कल्पसमाप्तौ कार्यस्य ब्रह्मलोकस्य नाशे सति नाशः सृष्टेः प्रतिकूलसञ्चरः तद्रूपे **ब्रह्मणा** चतुर्मुखेन **सह ते सर्वे कृतात्मानः** प्राप्तज्ञानाः । **परस्यान्ते** परान्तकाले । **परं पदं** पदनीयं ब्रह्म । एवमुत्तानार्थम् ।

वृत्तौ त्वत्राधिकरणसमाप्तिः सूचिता, वक्ष्यमाणसूत्रे अत्रापि 'स एतान्ब्रह्म गमयती'त्येव विषयवाक्यम् । पूर्ववदेव संशयः, तद्बीजं च पूर्वपक्षस्तु बादरिमतेनेति पुनरुक्तेः । तन्न, भाष्यविरुद्धत्वात् । अत एव अग्रे सूत्रमवतारयन्तीत्युक्तम्, न त्वधिकरणमवतारयन्तीत्युक्तम् ॥ १२ ॥

अत्र सिद्धान्तमाह ।

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥ १३ ॥

'स एतान् ब्रह्म गमयती'त्यत्र ब्रह्मपदेन परमेव ब्रह्मोच्यत इति जैमिनिराचार्यो मनुते । कुतः । मुख्यत्वात् । बृहत्त्वादिधर्मविशिष्टं हि ब्रह्मपदेनोच्यते । तादृक् परमेव ब्रह्म भवतीति मुख्या वृत्तिर्ब्रह्मपदस्य परस्मिन्नेव, अन्यत्र गौणी । तथा च मुख्यगौणयोर्मध्ये मुख्यस्यैव बलिष्ठत्वात् तथा ॥ १३ ॥

दर्शनाच्च ॥ १४ ॥

'स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोक'मिति कौशीतकिश्रुतिरग्न्यादिलोकप्राप्तिवद्विशेषेणैव प्रजापतिलोकप्राप्त्यनन्तरं ब्रह्मलोकप्राप्तिं दर्शयति । न हि तत्र ब्रह्मलोकशब्देन कार्यः स उच्यत इति वक्तुं शक्यम् । पार्थक्येन प्रजापतिलोकस्योक्तत्वात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥ १३ ॥ सूत्रमवतारयन्ति अत्रेत्यादि । पञ्चभिः सूत्रैर्बादरिमतोपक्षेपमुखेन पूर्वपक्षमुक्त्वा, अस्मिन् सूत्रे जैमिनिमतोपन्यासमुखेन स्वसिद्धान्तमाहेत्यर्थः । सूत्रव्याख्यानं तूत्तानार्थम् ॥ १३ ॥

दर्शनाच्च ॥ १४ ॥ अविद्यादिदोषाणा[illegible]भावे कामनायाः सत्त्वासत्त्वमात्रेणाधिकारजाघन्याद् गत्युपपत्तौ लोकाङ्गीकारेण विशेषितत्वस्य चोपपत्तौ सामीप्यनिबन्धनाया गौण्या अप्रयोजकत्वाभिवृत्तिरिति पूर्वसूत्रे मुख्यत्वेन हेतुनैव सिद्धमिति कार्यात्ययादिसूत्रद्वयोत्तरमवशिष्यते । तदनेन वदतीत्याशयेन सूत्रं व्याकुर्वन्ति स एतं देवयानमित्यादि ।

रश्मिः ।

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥ १३ ॥ बादरीति । मुखमुपायः । उत्तानेति । **अत्रेति** । पूर्वपक्षे । **बृहत्त्वादीति** । आदिना बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाच्च ब्रह्मेत्यत्रोक्तं बृंहणत्वम् । **अन्यत्रेति** ब्रह्मलोके । गौणमुख्यन्यायमाहुः **तथा चेति** । तथेति । ब्रह्मपदेन परमेव ब्रह्मोच्यत इत्यर्थः ॥ १३ ॥

दर्शनाच्च ॥ १४ ॥ सूत्रावतरणाय पञ्चभिः सूत्रैर्बादरिमतोपक्षेपः कृतः तस्य परिहारं विवेचयन्ति स्म **अविद्यादीति** । **कामनाया** इति । द्वितीयस्कन्धोक्तलोकदिदृक्षायाः । **गतीति** कार्ये ब्रह्मणि गत्युपपत्तौ । द्वितीयसूत्रे अक्षरलोकपरब्रह्माङ्गीकारेण परावद्विशेषणस्य चोपपत्तेः । **परावत** इत्यस्य मोक्षवतो ब्रह्मलोकात् । प्राधान्यवतो वा । उक्तविश्वासात् । तृतीयसूत्रे सामीप्येत्यादिः । **मुख्यत्वेनेति** । कार्यं ब्रह्म न मुख्यम्, परावत इत्यस्य धर्षणवत इत्यर्थो न मुख्यः प्रथमत्यागे मानाभावात् । गौणी न मुख्येति प्रसिद्धमिति पूर्वोक्तं मुख्यत्वेन हेतुनोत्तरं सिद्धमित्यर्थः । **अनेनेति** । दर्शनाच्चेति सूत्रेण । जैमिनिमतेन समाधाने धर्मोपस्थित्या तत्प्रतिपादकपूर्वकाण्डे प्रजापतिलोकोपरि **ब्रह्मलोकस्य** असम्भवदुक्तिकत्वात् तृतीयाष्टके 'प्रजापतिरकामयत प्रजाः सृजेये'तीक्षाश्रावणात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

ननु तैत्तिरीयभाष्ये आनन्दमीमांसायां 'विराट् त्रैलोक्यशरीरो ब्रह्मा समष्टिव्यष्टिरूपः संसारमण्डलस्थायी प्रजापतिशब्देनोच्यते । यत्रैते शतं प्राजापत्यानन्दा एकतां गच्छन्ति धर्मश्च तन्निमित्तं ज्ञानं चैतद्विषयम् अकामहतत्वं च निरतिशयं यत्र स एष हिरण्यगर्भ' इति शङ्कराचार्यैर्व्याख्यातत्वात्तस्य हिरण्यगर्भस्य यो लोकः स कौशीतकिवाक्ये ब्रह्मलोकपदेन पठ्यते, हिरण्यगर्भश्च जन्यः । 'हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्व'मिति श्वेताश्वतरे 'हिरण्यगर्भं पश्यत जायमान'मिति तैत्तिरीये च श्रावणात् । अतस्तस्यात्र परामर्शो कार्यता कुतो न वक्तुं शक्येति चेत् । उच्यते । प्रजापत्यतिरिक्तस्य हिरण्यगर्भस्य वक्तुमशक्यत्वात् । 'वेदात्मनाय विद्महे, हिरण्यगर्भाय धीमहि, तन्नो ब्रह्म प्रचोदया'दिति तैत्तिरीयमन्त्रे 'हिरण्यगर्भो वेदाना'मित्येकादशीयविभूत्यध्यायवाक्ये च तस्य वेदात्मकतयैव सिद्धत्वात् । वेदात्मकत्वं च प्रजापतावेवं सिद्धम् । 'शब्दब्रह्मात्मनस्तस्य व्यक्ताव्यक्तात्मनः परः । ब्रह्मावभाति विततो नानाशक्त्युपबृंहित' इति तृतीयस्कन्धे प्रजापतिं प्रकृत्यैव वाक्यात् । पर्यङ्कस्थे ब्रह्मणि हिरण्यगर्भपदस्य वेदात्मकत्वादिबोधकस्य वाक्यस्य चाभावात् । न च 'यजूदरः सामशिरा असावृङ्मूर्तिरव्ययः । स ब्रह्मेति विज्ञेय ऋषिर्ब्रह्ममयो महा'निति मन्त्रे तस्य वेदात्मकत्वमुक्तमेवेति शङ्क्यम् । तत्र 'एतावदिदं सर्व'मित्यनेन सत्यपदार्थे निगमिते इदं सर्वमसीत्येवैनं तदाहेत्यनेन एनं उपासकं तत् पर्यङ्कस्थं ब्रह्म इत्येवाहेति तदुक्तस्य याथार्थ्यं बोधयित्वा, तदेतच्छ्लोकेनाभ्युक्तमिति वाक्यं श्रुतिरुक्त्वा श्लोकमाह 'यजूदर' इति । तत्र यजूदरादिविशिष्टोऽसौ ब्रह्ममयो महानृषिः स ब्रह्मा ब्रह्मसहितो

रश्मि

प्रजापतिलोकपर्यन्तवस्तुस्थितिर्ब्रह्मलोकेऽर्थवाद इत्याशङ्कते **ननु तैत्तिरीयेति** । विराट् कीदृशः, त्रैलोक्यं शरीरं यस्य स त्रैलोक्यशरीरः । **समष्टीति** । **यथा देवदत्त इति** । समष्टिदेहेन व्यष्ट्यवयवै रूप्यते व्यवह्रियते आत्मा स समष्टिव्यष्टिरूपः । **संसारेति** । प्रपञ्चस्य मण्डलं कदम्बकः तत्र स्थायी । **तन्निमित्तमिति** । धर्मस्य निमित्तम्, ज्ञात्वा कुरुते सर्व इति । यद्वा । तन्निमित्तं धर्मस्य निमित्तं फलं चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानम्, तन्निर्विषयं नास्तीति एतद्विषयमकामहतत्वम् । 'ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः श्रोत्रियस्याकामहतस्ये'ति ब्रह्मविद्ब्राह्मणकश्रुतेः । **हिरण्यगर्भ इति** । प्रजापतिः संसारमण्डलस्थायिनोतिरिक्तः आनन्दादिमान् । **पठ्यते इति** । अभेदान्वयात् पठ्यते । अर्थवादत्वात् सम्भवति । **पूर्वमिति** । सृष्टेः पूर्वम् । **पश्यतेति** । यूयं पश्यत दूर्वादयो रुद्रान्ताः पूर्वोक्ताः । महानारायणे श्रुतिराह **तस्येति** । ब्रह्मलोकाभिन्नप्रजापतिलोकस्य **परामर्शो कार्यता** कार्यब्रह्मता । एवं जैमिनिपदसूचिताशङ्कां समादधते स्म **उच्यते इति** । सत्यं परन्तु औत्पत्तिकसूत्रे जैमिनिना बादरायणग्रहणेन गुरुमतप्राधान्यपूर्वकेऽर्थे विवक्षिते यत् सिध्यति तदुच्यत इत्यर्थः । **तन्नो ब्रह्मेति** । तन्नोऽस्मान् ब्रह्म, प्रजापतिरित्यर्थात् । वेदानां हिरण्यगर्भोऽस्मीत्यर्थः । **तस्येति** । प्रजापतेः । **शब्देति** । **शब्दब्रह्मात्मनः** वेदात्मनः तस्य प्रजापतेः । **व्यक्ताव्यक्तात्मनः** पञ्चम्यन्तम् । जगत्प्रकृतिभ्यां परः ब्रह्मावभाति । सुबोधिन्यां द्वादशाध्याये प्रपञ्चोऽस्य । **वेदात्मकत्वादीति** । आदिना व्यक्ताव्यक्तात्मनः परत्वं नानाशक्त्युपबृंहितत्वं च । **यजूदर इति** । सकारलोपश्छान्दसः ततोऽकः सवर्णे दीर्घः । **एतावदिति** । सत्यम् । **निगमित इति** । पर्वतो वह्निमानितिवत् निगमिते । **तदुक्तस्येति** । उपासकस्य । **वाक्यश्रुतिरुक्तेति**[1] । वक्ष्यमाणवाक्यसम्बन्धिनी श्रुतिरुक्तेत्यर्थः ।

१. वाक्यश्रुतिरुक्तेति रश्मौ ।

अपरं च, 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ती'ति छान्दोग्यश्रुतिं विषयीकृत्य, 'अर्चिरादिना तत्प्रथिते'रित्युपक्रम आचार्येण कृतः, अन्यत्रार्चिःशब्दस्याभावात्, तत्र चान्ते 'ब्रह्म गमयती'त्युच्यते । तथा च छान्दोग्येऽनुक्तानामन्यत्रोक्तानां लोकानां मार्गैक्यसिद्ध्यर्थं तत्रैव सन्निवेशो, 'वायुमब्दात्', 'तडितोऽधिवरुणः,' 'वरुणाच्चाधीन्द्रप्रजापती' इत्यन्तेनोक्तः । एवं सत्यादावर्चिषम्, ततोऽहः, ततः सितपक्षम्, तत उदगयनम्, ततः संवत्सरम्, ततो वायुम्, ततो देवलोकम्, तत आदित्यम्, ततश्चन्द्रमसम्, ततो विद्युतम्, ततो वरुणम्, तत इन्द्रम्, ततः प्रजापतिम्, ततश्चामानवेन पुरुषेण ब्रह्मप्राप्तिरिति निर्णयः सम्पद्यते । एवं सति प्रजापतिलोकादन्यस्य कार्यब्रह्मलोकस्यासम्भवात् तच्छङ्कापि भवितुं नार्हति यद्यपि, तथापि व्यासोक्तमार्गैक्यममन्वानस्तथाऽवददिति ज्ञायते । परन्तु वेदार्थनिर्णयार्थमेव प्रवृत्तत्वाद् भगवदवतार-

भाष्यप्रकाशः ।

विज्ञेय इति वचनव्यत्यया ब्रह्मविद एव वेदात्मकत्वबोधनात् । न चेतः पूर्ववाक्ये 'तं ब्रह्माप्रृच्छती'ति पुंल्लिङ्गस्य प्रष्टरि ब्रह्मणि निर्देशादत्र यजूदरत्वादिकं प्रष्टृपरमेवेति शङ्क्यम् । तत्र ब्रह्म आपृच्छतीति पदच्छेदात् । न चात्रैवं पदच्छेदे किं मानमिति शङ्क्यम् । ततः पूर्ववाक्ये 'स ब्रह्मालङ्कारेणालङ्कृतो ब्रह्म विद्वान् ब्रह्माभिप्रैती'ति 'विसुकृतो विदुष्कृतो ब्रह्म विद्वान् ब्रह्मैवाभिप्रैती'ति अभिप्रायकर्मणि ब्रह्मणि नपुंसकप्रयोगस्यैव मानत्वात् । तस्मादत्र ब्रह्मलोकपदेन नित्य एव लोको ग्राह्यः । तथा च पूर्वोक्तश्रुतिस्मृत्योः प्रलयाविषयत्वेन विषयभेदान्न ताभ्यामत्र निर्णयो युज्यत इति तन्मतमयुक्तमित्यर्थः ।

ननु यदीदं स्वस्याभिप्रेतम्, तदाचार्येण स्वनामैव गृहीतं स्यात्, न तु जैमिनेः, अतो नैवं सिद्धान्त इति शङ्कायां तन्नामोक्तितात्पर्यमाहुः अपरं चेत्यादि ज्ञायते इत्यन्तेन । तथावददिति । जैमिनिरवदत् । तथा च फलांशे सिद्धान्तभेदाभावेपि मार्गांशे भेद इति ज्ञापनार्थं तदुक्तिरित्यर्थः । तर्हि मार्गभेद एव कुतो नाद्रियत इत्यत आहुः परं त्वित्यादि । ननु व्यासेन स्वनाम्नः कुत्राप्यनुक्तत्वान्मतद्वयमपि पारक्यमित्येव प्रतीयते, तथा सति जैमिनिमतस्यादरणीयत्वे किं

रश्मिः ।

विशेषेण सुकृतं यस्य स **विसुकृतः** । एवं **विदुष्कृतः** । पुंस्त्वे तु ब्रह्माणमिति स्यादित्येवकारः । **तस्मादिति** । जैमिनिना गुरुमतस्य भृगुणा मानववदुक्तत्वात् । **अत्रेति** । कौशीतकिश्रुतौ । **पूर्वोक्तेति** । कार्यात्ययसूत्रस्मृतेश्चेतिसूत्रोक्तयोः श्रुतिस्मृत्योः । **ताभ्यामिति** । श्रुतिस्मृतिभ्याम् । **अत्र** व्यासमते । **तन्मतमिति** । बादरिमतम् । **आचार्येण** व्यासेन । **तन्नाम** जैमिनिनामोक्तितात्पर्यम् । **सिद्धान्त इति** । ब्रह्ममयीं देव पठन्तीति फलांशे चितः सदानन्दयोश्च शास्त्रद्वये भेदेपि सिद्धान्तस्याधुना बादरायणगुरोर्मतेऽवस्थितेः सिद्धान्तभेदाभावेपीत्यर्थः । **मार्गांशे भेद इति** । यद्यपि क्रियाज्ञानमिति पञ्चरात्रशास्त्रे इति ज्ञानकर्ममार्गैक्यम्, तथापि प्रसिद्ध्या परस्परं साध्यसाधनभावान्मार्गांशे भेद इत्युक्तम् । **तदुक्तिरिति** । जैमिनिनामोक्तिः । **एवेति** । न तु क्रियाज्ञानयोरैक्यम् । **परन्त्वित्यादीति** । **प्रवृत्तत्वादिति** । व्यासस्य 'जिज्ञासितमधीतं च यत्तद्ब्रह्म सनातन'मिति प्रथमस्कन्धे व्यासवाक्यात् । **मन्तव्यमिति** । पञ्चरात्रशास्त्रप्राधान्यात् क्रियाज्ञानमार्गैक्यमत्र मन्तव्यम्, मीमांसितव्यम् । **कुत्रापीति** । कुत्राप्यत्र पादत्रये । **मतद्वयमिति** । बादरिजैमिनिमतद्वयम् ।

स्वाच्च तदुक्त एव शास्त्रार्थ इति मन्तव्यम् । किञ्च । 'स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोक'मित्यत्र ब्रह्मपदस्य परवाचकत्वं तेनापि वाच्यं चेत्, तद्दृष्टान्तेनान्यत्रापि तथैव वाच्यं बाधकाभावात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

बीजमित्यत आहुः किञ्चेत्यादि । तेनेति । बादरिणा । अन्यत्रेति । अक्षिपुरुषविधायां पञ्चाग्निविधायां च । बाधकाभावादिति । गत्युपपत्त्यादिदूषणानां परिहृतत्वेनान्येषां चाभावेन तथात्वात् । तथा च श्रुतिसामञ्जस्यमेव बीजमित्यर्थः ।

अत्र बादरिमतमुपपन्नं मन्वानाः शङ्कराचार्या एवमाहुः । 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्य' इति श्रुतेः परस्य ब्रह्मणो व्यापकत्वम्, 'य आत्मा सर्वान्तर' इति श्रुतेः सर्वान्तरत्वम्, 'आत्मैवेदं सर्वम्,' 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठ'मिति श्रुतेः सर्वात्मकत्वं च निर्धारितम् । तत्र व्यापकस्य ब्रह्मणो गन्तृदेशे विद्यमानत्वेन गन्तृतैवेति तस्य गन्तव्यता नोपपद्यते । न च भूमिष्ठं प्रति गताया एव पृथिव्या देशान्तरद्वारेण गन्तव्यतावदत्राप्युपपद्यत इति वाच्यम् । सर्वात्मकत्वस्यापि गन्तव्यताबाधकत्वात् । अन्य एव ह्यन्यद् गच्छतीति लोके दर्शनात् । न च बालस्य वार्धकवदनन्यत्वेपि गन्तव्यतोपपद्यत इति वाच्यम् । 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्', 'अस्थूलमनणु', 'स एष नेति नेत्यात्मे'त्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यो ब्रह्मणः सर्वविशेषशून्यतया सिद्धत्वेन तत्र देशकालविशेषयोगस्याशक्यवचनतया दृष्टान्तविरोधेन तन्न्यायस्य

रश्मिः ।

बादरिणेति । विपरीतलक्षणा जैमिनिना निरीश्वरवादिनेत्यर्थः । यथापकारिणि 'बहूपकृतं त्वये'ति बहूपकारित्वप्रयोगः । **अक्षिपुरुष इति** । 'जानश्रुतिर्ह पौत्रायण'इत्यारम्भकेऽस्ति । 'उ ह वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्चे'त्यारम्भके पञ्चाग्निविद्यास्ति छान्दोग्ये । 'स एतान् ब्रह्म गमयती'त्यक्षिपुरुषविधायाम् । 'स एतान् ब्रह्म गमयती'ति पञ्चाग्निविधायाम् । उभयत्रापि ब्रह्मपदेन परमेवोच्यते, न तु कार्यं ब्रह्मेति । **पञ्चाग्निविधायां चेति** । चकारोऽथवा सेश्वरजैमिनिमते इत्यनुक्तसमुच्चायकः । यद्वाथवेत्याद्युक्तशेषो वा पूरणीयः । एतेन व्यासेन सूत्रे मन्त्रमयी देवता जैमिनिमुख्यत्वादित्यनुक्त्वा 'परं जैमिनिर्मुख्यत्वा'दित्युक्तं तत्स्वारस्यमसूचि । **परिहृतत्वेनेति** । सूत्रव्याख्यानारम्भ एव परिहृतत्वेन । **श्रुतिसामञ्जस्यमिति** । 'स एतान् ब्रह्म गमयती'ति श्रुतिसामञ्जस्यं ब्रह्मपदे गौणीनिवृत्तिः, सा मतद्वयस्य पारक्ये परमते स्यात्, न तु स्वमत इति । तुरीयपादे बादरायणग्रहणात् तस्य बुद्धिस्थत्वेन जैमिनिसेश्वरवादिस्वशिष्यस्य स्वमतसिद्धस्य सूत्रे ग्रहणं बीजमित्यर्थः । तेन 'परं जैमिनिर्दर्शना'दिति सूत्रान्वयः । 'स एतान् ब्रह्म गमयती'त्यत्र ब्रह्मपदेन परमेव ब्रह्मोच्यते, दर्शनाच्छास्त्ररूपादिति जैमिनिराचार्यो मनुत इति सूत्रार्थः । **अत्रेति** । वक्ष्यमाणसूत्रेण सहास्मिन् सूत्रे । वक्ष्यमाणविचारस्य द्वितीयसूत्रे करणात् । अपिचेतिप्रभृति द्वितीयभाष्यादत्रैव तद्विचार उपक्षिप्तः । 'कार्यं बादरिरस्ये'त्यधिकरणीयत्वात् सूत्रयोरेकविषयत्वम् । अग्रे 'अप्रतीकालम्बनाधिकरणम्' ।

देशान्तरद्वारेण । यद्वा यथा पृथिवीस्थ एव पृथिवीं देशान्तरद्वारेण गच्छति । शारीरब्राह्मणे 'तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते, तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्य' इति देशान्तरवद्वा । **अत्रापीति** । व्यापके ब्रह्मण्यपि । **तत्रेति** । ब्रह्मणि । **देशकालरूपविशेषयोगस्य** । **दृष्टान्तेति** । बालवार्धक्यदृष्टान्तविरोधेन । **तन्न्यायस्य**

भाष्यप्रकाशः ।

अत्र वक्तुमशक्यत्वात् । नच जगदुत्पत्तिप्रलयहेतुत्वश्रुतेर्ब्रह्मणोऽनेकशक्तित्वान्न दोष इति वाच्यम् । विशेषनिषेधकश्रुतीनामनन्यार्थत्वात् । नचोत्पत्त्यादिहेतुत्वबोधकश्रुतीनामपि ब्रह्मपरत्वात् समानमनन्यार्थत्वमिति वाच्यम् । तासामेकत्वप्रतिपादनपरत्वात् । तत्र मृदादिदृष्टान्तवाक्येषु 'मृत्तिकेत्येव सत्य'मित्युपसंहारे एकस्य कारणस्यैव सत्यत्वकथनेन विकारानृतत्वप्रतिपादने तद्धर्माणामुत्पत्त्यादीनामपि तथात्वेन शास्त्रस्य तत्परताया वक्तुमर्हतया तासां विशेषनिराकरणश्रुतिशेषताया एव युक्तत्वात् । न चोत्पत्त्यादिश्रुतिशेषत्वं निर्विशेषश्रुतीनामेवास्त्विति शङ्क्यम् । विशेषनिषेधश्रुतीनां निराकाङ्क्षार्थत्वात् । आत्मन एकत्वनित्यत्वशुद्धत्वाद्यवगतौ सत्यां भूयः कदाचिदप्याकाङ्क्षान्तरानुदयेन तत्र पुरुषार्थसमाप्तिबुद्ध्युत्पत्तेः । न चात्र मानाभावः शङ्क्यः । 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि', 'विद्वान्न बिभेति कुतश्चन', 'एतꣳ ह वा व न तपति किमहꣳ साधु नाकरव'मित्यादिश्रुतिभ्यस्तथैव विदुषस्तुष्ट्यनुभवादिदर्शनस्य च मानत्वात् । तथा विकारानृताभिसन्ध्यपवादाच्च । 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यती'ति भेददृष्ट्यपवादाच्च । न विशेषनिषेधश्रुतीनामन्यार्थत्वं शक्यवचनम् । उत्पत्त्यादिश्रुतीनां तु नैवं निराकाङ्क्षार्थप्रतिपादनसामर्थ्यमस्ति, येन तच्छेषत्वं विशेषनिषेधश्रुतीनां वक्तुं शक्येत । तत्र हि, 'यत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितं तं सोम्य विजानीहि नेदममूलं

रश्मिः ।

बालवार्धक्यन्यायस्य । **अत्रेति** । व्यापकस्य गन्तव्यतोपपत्तौ । **अनेकेति** । जगत्कर्तृत्वजगत्पालकत्वजगत्संहारकत्वरूपानेकशक्तित्वाद्विशेषसत्त्वेपि न दोषः, कार्यलक्षणत्वेन ब्रह्मप्रतिपिपादयिषा विषयार्थत्वाद्विशेषाणामिति वाच्यमित्यर्थः । **विशेषनिषेधकेति** । ताश्च 'निष्कलं निष्क्रिय'मित्याद्युक्ताः तासाम् । **अनन्यार्थत्वादिति** । निर्वाहकसङ्गत्या ब्रह्मनिरूपणपरत्वात् । न तु आरोपापवादसङ्गत्या ब्रह्मनिरूपणपरत्वं तासाम् । आरोपापवादलक्षणसङ्गतेर्निर्वाहकसङ्गतिरन्योऽर्थो भवत्येवम् । अन्योऽर्थः ब्रह्माप्रतिपादकत्वलक्षणः प्रयोजनम् । न अन्योऽर्थो यासां ता अनन्यार्थाः तासां भावः अनन्यार्थत्वम् तस्मात् । यथा विशेषप्रतिपादिकानां ब्रह्मलक्षणत्वम्, तथा विशेषनिषेधिकानामपि ब्रह्मलक्षणत्वम् । कार्यलक्षणत्वं स्वरूपलक्षणत्वमिति विशेषः । **ब्रह्मपरत्वादिति** । यथारोपापवादन्यायेन विशेषनिषेधिकानां ब्रह्मपरत्वम्, तथा निर्वाहकसङ्गत्या विशेषप्रतिपादिकानां ब्रह्मपरत्वम् । यथा 'अथात आदेशो नेति नेति', तथा 'तदेजति तन्नैजती'ति । यथा शाखारुन्धतीन्यायः, तथा किमन्यद्ब्रह्मज्ञाननिर्वाहकमिति जिज्ञासा । तया जगज्जन्मादिकर्तृत्वं कार्यलक्षणमुक्तम् । अतः समानमन्यार्थत्वम् । **तासामिति** । निर्विशेषप्रतिपादिकानामस्थूलादिश्रुतीनाम् । **तत्रेत्यादीति** एकत्वप्रतिपादने छान्दोग्ये मृदादिदृष्टान्तवाक्येषु । एतच्च द्वितीयाध्याये तदनन्यत्वाधिकरण उक्तम् । **तद्धर्माणां** ब्रह्मधर्माणाम् । **तथात्वेनेति** । विकारानृतत्वेन । **तत्परेति** । धर्मपरताया वक्तुमर्हतया । ब्रह्मणो वागविषयत्वेनोत्पत्त्यादीनामर्हता तया । **तासामिति** । सविशेषप्रतिपादिकानां 'यतो वा इमानि भूतानी'त्यादीनाम् । **अस्त्विति** । यतो निरूपणं हि लक्षणैः । तानि चासाधारणधर्मरूपाणि जगज्जन्मादिकर्तृत्वादीनि । तैर्निर्विशेषश्रुतिप्रतिपाद्यज्ञानमिति तथा । अन्तरङ्गत्वं बहिरङ्गाद्बलीय इत्याहुः **विशेषनिषेधेति** । **तत्रेति** । एकत्वाद्युक्त आत्मनि । **तुष्ट्यनुभवेति** । आदिना संक्षोभोऽक्षरजुषाम् । **तथा विकारेति** । छान्दोग्ये मृदादिवाक्येषु । **भेददृष्टीति** । न च नाना इव पश्यति स मृत्युमाप्नोति, किं पुनरभेदमित्यर्थेन भेददृष्ट्यपवाद इति शङ्क्यम् । अस्यार्थस्य नैयायिकमते शोभनात् । **अन्यार्थत्वं** शून्योत्तरार्थकत्वम् । **तच्छेषत्व**मुत्पत्त्यादिश्रुतिशेषत्वम् । **तत्र हीति** ।

भाष्यप्रकाशः।

भविष्यती'त्युपन्यस्य तदुदर्के सत एवैकस्य जगन्मूलस्य विज्ञेयत्वदर्शनात्। एवं, 'यतो वा इमानी'-त्यादिश्रुतावपि ज्ञेयम्। अतस्तासां सर्वासामैकात्म्यावगमपरत्वान्नानेकशक्तियोगो ब्रह्मण इति।

अत्र च ब्रह्मणो व्यापकत्वं निर्विशेषत्वं च गन्तव्यताबाधकत्वेन सिद्धमिति सङ्ग्रहेण तदनुवदन्ति **ननु परस्ये**त्यादि **उपपद्यत** इत्यन्तम्।

अथ यत्तैर्जीवस्वरूपविचारेणागन्तव्यत्वं साधितम्, जीवो नाम किं ब्रह्मणोऽवयवो वा, विकारो वा, अन्यो वा। नाद्यः। एकदेशत्वे एकदेशिनो नित्यप्राप्तत्वाद्गन्तव्यत्वानुपपत्तेर्ब्रह्मणो निरवयवत्वप्रसिद्धेरेकदेशित्वकल्पनस्यानुपपन्नत्वाच्च। न द्वितीयः। विकारेणापि विकारिणो नित्यप्राप्तत्वात्। परित्यागेऽभावप्राप्तेः। पक्षद्वयेपि ब्रह्मणः स्थिरत्वेन जीवस्य संसाराभावप्रसक्तेश्च। अथ तृतीयः पक्षश्चेत्, तदापि किं जीवोऽणुर्व्यापको मध्यमपरिमाणो वा। आद्ये सर्वशरीरवेदनोपलम्भानुपपत्तिः। द्वितीये गमनानुपपत्तिः। तृतीये अनित्यत्वप्रसङ्गः। अन्यत्वे, तत्त्वमस्यादिशास्त्रबाधप्रसङ्गः। विकारावयवपक्षयोरपि मुख्यैकत्वानुपपत्तिः। सर्वेषु चैतेषु पक्षेषु संसारित्वानतिवृत्तेरनिर्मोक्षप्रसङ्गः। अतिवृत्तौ वा स्वरूपनाशप्रसङ्गो ब्रह्मात्मत्वानभ्युपगमादित्येवं जीवविषये मतत्रयं निराकृत्य, ततो भिन्नजीवपक्षे काम्यनिषिद्धकर्मपरिहारपूर्वकं नित्यनैमित्तिककर्मणां करणमात्रेणैव स्वरूपावस्थानरूपो मोक्षोपि भविष्यतीति मतमुपक्षिप्य, तद्दूषयित्वा संसार्यात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वभावस्य विद्यागम्यब्रह्मात्मत्वावगतिमन्तरेण मोक्ष-

रश्मिः।

छान्दोग्ये श्वेतकेतूपाख्याने हि। यत्राप्सु शुङ्गं अन्नरूपं शुङ्गं कार्यम्। **तदुदर्के** तस्य शुङ्गस्योत्तरोत्तरप्रतिभायाम्। 'उदर्क ईषत्कालीयफले मदनकण्टक' इति विश्वात् फलाध्याये परोक्षवादान् मूलकारणे फलाध्यायोपयो गीति वार्थः। **उदक** इति पाठः। 'तदप आचक्षतेऽशनायेति तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतित'-मिति श्रुतेः। **विज्ञेयत्वे**ति। 'सदेव सौम्येदमग्र आसी'दिति श्रुतेः। **ज्ञेयमि**ति। मूलं ज्ञेयम्। **सर्वासामि**ति। सविशेषनिर्विशेषप्रतिपादिकानाम्। **ऐकात्म्ये**ति। एक एव ऐक्यः, स्वार्थे ष्यञ् एकात्मत्वावगमपरत्वात्। **नानेकशक्तियोग** इति। सविशेषश्रुतिप्रतिपादितः सः। **अनुवदन्ती**ति। सिद्धस्य कथनमनुवादः तं कुर्वन्ति **उपपद्यत इत्यन्तेने**ति। आद्योपपद्यत इत्यन्तेन। **अथे**ति। ईश्वरस्वरूपविचाराद्भिन्नप्रक्रमेण। **न गन्तव्यत्वम**गन्तव्यत्वम्। नित्यप्राप्तत्वे सदा विकारित्वापत्तिरत आहुः **परित्याग** इति। विकारपरित्यागे। **अभावे**ति। अत्यन्ताभावप्राप्तेः। **पक्षद्वये** इति। नित्यप्राप्तत्वाभावप्राप्तत्वपक्षद्वये। **स्थिरत्वेने**ति। असङ्गत्वे तथा। **तृतीय** इति। ब्रह्मान्यत्वपक्षः। विकारावयवयोर्मध्यमपरिणामत्वादाहुः **विकारावयवपक्षयो**रिति। **मुख्यैकत्वे**ति। 'तत्त्वमस्या'दिवाक्ये बोध्या। **संसारित्वे**ति। तृतीयपक्षोक्तेषु सर्वेष्वेतेषु पक्षेषु। **संसारित्वे**ति। संसारित्वस्य आसमन्तान्न निवृत्तेः। स्वरूपत्वेन केनाप्यंशेन विकारादीनां सत्त्वात्। **अतिवृत्तावि**ति। विकारादीनां स्वरूपत्वे तदतिवृत्तौ तु स्वरूपनाशप्रसङ्गः। विकारादीनां ब्रह्म आत्मा येषां तत्त्वानभ्युपगमात्। **काम्यनिषिद्धे**ति। स्वर्गनरकानवाप्तये तथा। **नित्यनैमित्तिके**ति। प्रत्यवायानुत्पत्तये। **स्वरूपावस्थाने**ति। साम्प्रतं देहोपभोग्यानि च कर्माण्युपभोगेनैव क्षीयन्त इत्यतो देहपातादूर्ध्वं देहान्तरप्रतिसन्धानकारणाभावात्। स्वरूपावस्थानलक्षणो मोक्षो विनापि ब्रह्मतया एवंवृत्तस्य सेत्स्यतीति मतम्। **तद् दूषयित्वे**ति। 'तदस'दित्यादिना भाष्येण दूषयित्वा। तथाहि। तदसत्। प्रमाणाभावात्। न ह्येतत् शास्त्रेण केनचित् प्रतिपादितम्। 'मोक्षार्थीत्थं समाचरे'-

ननु परस्य व्यापकत्वान्निर्विशेषत्वाच्च न गन्तव्यतोपपद्यते। जीवस्याप्यविद्योपाध्यवच्छिन्नतादशायां परब्रह्मणि गन्तृत्वासम्भवात् तन्नाशे च वस्तुतोऽभिन्नत्वात् स्वरूपेणावस्थानमेव भवतीति न गन्तृत्वमप्युपपद्यते। तस्यैवाभावात्।

भाष्यप्रकाशः

प्रत्याशाभावात्, 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाये'ति श्रुत्या मोक्षे ज्ञानातिरिक्तसाधननिषेधाच्च तस्य मतस्यासङ्गतत्वं स्थापयित्वा, जीवस्य परस्मादन्यत्वे संव्यवहारलोपप्रसङ्गः, प्रत्यक्षादिप्रमाणाप्रवृत्तिश्चेत्याशङ्क्य, प्राक् प्रबोधात् स्वप्नव्यवहारवत् तदुभयोपपत्तिमुक्त्वा, 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यती'त्यादिश्रुत्या अप्रबुद्धविषये प्रत्यक्षादिव्यवहारश्रावणात् प्रबुद्धविषये च 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत् केन कं पश्ये'दित्यादिना तदभावश्रावणात्। परब्रह्मविदो गन्तव्यत्वादिविज्ञानस्य बाधितत्वेन न कथमपि गतिरुपपादयितुं शक्येत्यन्तेन।

तदेतत् संगृह्यानुवदन्ति **जीवस्योपाध्यवच्छिन्नत्वदशायामि**त्यादि। **तस्यैवाभावा**दिति। जीवस्यैवाभावात्।

एवं परब्रह्मविदो गत्यभावमुपपाद्य गतिविषये यत्तैरुक्तम्—गतिविषयाः श्रुतयः सगुणब्रह्मविषया भविष्यन्ति। तथाहि। क्वचित् पञ्चाग्निविद्यां प्रस्तुत्य गतिरुच्यते, क्वचित् पर्यङ्कविद्याम्, क्वचिद्वैश्वानरविद्याम्। यत्रापि ब्रह्मविद्यां प्रस्तुत्य गतिरुच्यते, 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म,' 'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्मे'त्यादौ, तत्रापि वामनीत्वादिभिः सत्यकामत्वादिभिर्गुणैः सगुणस्योपास्यत्वात् सम्भवति गतिः। न क्वचित् परब्रह्मविषया गतिः श्राव्यते। गतिप्रतिषेधस्तु 'न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ती'ति श्राव्यते। यः पुनः 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यत्र गत्यर्थ आप्नोतिः, तत्रापि पूर्वोक्तेन न्यायेन देशान्तरप्राप्त्यसम्भवात् स्वरूपप्रति-

रश्मिः।

दिति। 'स्वमनीषया त्वेतत् तर्कित'मित्यादिना दूषयित्वा। जीवस्य परस्मादनन्यत्वे सर्वव्यवहारलोपप्रसङ्ग इति पाठः। **प्रबोधा**दिति। ज्ञानात् प्राक् दीर्घ**स्वप्नव्यवहारवत्**। **तदुभये**ति। जीवस्य परस्मादनन्यत्वसर्वव्यवहारलोपप्रसङ्गाभावयोरुभयोरुपपत्तिमुक्त्वा। **तदभावे**ति। प्रत्यक्षादिव्यवहाराभावश्रावणात्। **इत्यन्तेने**ति। भाष्येण। **परब्रह्मविद** इत्यारभ्य तु तद्भाष्यफक्किकैव। **कथमपी**त्यत्र **कथञ्चने**ति भाष्ये पाठात् तावन्मात्रभेदः। **जीवस्योपाध्यवच्छिन्नत्वदशाया**मित्यादीति। क्वचित् पुस्तके तु जीवस्याप्युपाध्यवच्छिन्नतादशायामिति भाष्ये पाठः। **गन्तृत्वासम्भवा**दिति। अज्ञानस्योपाधेर्विद्यमानत्वाद् गन्तृत्वस्यैक्यस्यासम्भवात्। **आविद्यकरूपे**ति। आधुनिकास्तु मायाविद्ययोर्भेदमङ्गीकृत्य मायोपाधिरीश्वरः, अविद्योपाधिर्जीव इत्याहुः तत्त्वानुसन्धानाख्यग्रन्थादौ। **गन्तृत्वे**ति। नात्र गन्तृत्वमैक्यम्, किन्तु विद्यावतो विषयावरणभङ्गाद्गन्तृत्वस्यासम्भवो ज्ञेयः। **क्वचिदि**ति। श्वेतकेतूपाख्याने। **यत्रापी**ति। छान्दोग्ये 'जानश्रुतिर्हं पौत्रायण' इत्यारम्भके प्रपाठकेपि। तथा दशमप्रपाठके दहरविद्यायामपि। **तत्रापी**ति। आप्नोतावपि। **पूर्वोक्तेने**ति। भाष्यप्रकाशे 'अथ यत्तैर्जीवस्वरूपविचारेणे'त्याद्युक्ते य आद्यपक्षदूषण एकदेशत्व इत्यादिनोक्तन्यायेन। **स्वरूपे**ति। स्वरूपपदप्राप्तिः स्वरूपप्रबोधो वा।

भाष्यप्रकाशः।

पत्तिरेवेयम्, अविद्याऽध्यारोपितं नामरूपप्रविलयापेक्षयाऽभिधीयते। 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'तिवदिति द्रष्टव्यम्। किञ्च। परब्रह्मविषया गतिः किं ब्रह्मविदः प्ररोचनाय, किं वानुचिन्तनाय। नाद्यः। स्वसंवेद्येनैवाव्यवहितेन विद्यासमर्पितेन स्वास्थ्येन तत्सिद्धेः। न द्वितीयः। नित्यसिद्धनिःश्रेयसे वेदनस्यासाध्यफलस्य विज्ञानस्य गत्यनुचिन्तनापेक्षाया अभावात्। तस्मादपरब्रह्मविषयैव गतिः। सा परस्मिन् ब्रह्मणि नोपपद्यत इति परापरब्रह्मविवेकानवधारणेनापरस्मिन् ब्रह्मणि वर्तमाना गतिश्रुतयः परस्मिन्नध्यारोप्यन्ते। न च परापरभावेन द्वे ब्रह्मणी न स्त इति शङ्क्यम्। 'एतद्वै सत्यकाम परञ्चापरञ्च ब्रह्म यदोङ्कार' इत्यादिश्रुतिदर्शनात्। किं पुनः परं ब्रह्म, किमपरमिति चेत्। उच्यते। यत्राविद्याकृतनामरूपनिषेधेनास्थूलादिशब्दैर्ब्रह्मोपदिश्यते तत्परम्। तदेव यत्र नामरूपादिविशेषाणां केनचिद्विशिष्टमुपासनायोपदिश्यते, 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूप' इत्यादिशब्दैः, तदपरम्। नचैवमद्वितीयश्रुत्युपरोधः शङ्क्यः। अविद्याकृतनामरूपतया परिहृतत्वात्। तस्य चापरब्रह्मोपासनस्य तत्सन्निधौ श्रूयमाणं 'स यदि पितृलोककामो भवती'त्यादिजगदैश्वर्यलक्षणं संसारगोचरमेव फलं भवति। अनिवर्तितत्वादविद्यायाः। तस्य फलस्य देशविशेषावबद्धत्वात् तत्प्राप्त्यर्थं गमनमविरुद्धम्। आत्मनः सर्वगतत्वेऽप्याकाशस्य घटादिगमनेनेव बुद्ध्याद्युपाधिगमनेन गमनप्रसिद्धिरित्यवादिष्म, 'तद्गुणसारत्वा'दित्यत्र। तस्मात् 'कार्यं बादरि'रित्येव स्थितः पक्षः। 'परं जैमिनि'रिति तु पक्षान्तरप्रतिभानमात्रप्रदर्शनं बुद्धिविकासनायेति द्रष्टव्यमिति।

रश्मिः।

इयं प्राप्तिः। अविद्ययाध्यारोपिते ये नामरूपे तयोः प्रविलयस्यापेक्षया। **ब्रह्माप्येतीति**। गत्यर्थास्ते प्राप्त्यर्था इति ब्रह्म अप्येति स्वरूपं प्रतिपद्यते प्रबोध्यते वेत्यर्थः। **प्ररोचनायेति**। 'रोचनार्था फलश्रुति'रिति वाक्यादपि। **अव्यवहितेनेति**। परब्रह्मणा। **विद्या** तत्त्वमस्यादिरूपया समर्थितेन। **स्वास्थ्येनेति**। 'अस्य महिमानमिति वीतशोक' इति श्रुतिः स्वास्थ्येन स्वरूपस्थित्या। **तत्सिद्धेः** प्ररोचनसिद्धेः। **वेदनस्येति**। **विज्ञानस्य** कृत्यसाध्यं फलं यस्य। गत्यनुचिन्तनस्य कृतिरूपस्य **अपेक्षायाः**। **अपरेति**। मुण्डके यद्यपि ऋग्वेदादिरूपा अपरविद्या, तथापि तत्प्रतिपाद्यपञ्चाग्न्यादिविद्या तादृशापरविद्यैव **गतिः**। **ब्रह्मणीति**। अक्षरब्रह्मणि। **अध्यारोप्यन्त इति**। परत्र परावभास्यन्ते। **एतद्वा इति**। परं ब्रह्म च **यदोङ्कारः** अपरविद्यारूप इति योजनया प्रतिपाद्यप्रतिपादकरूपपरापररूपे द्वे ब्रह्मणी उक्ते। **नामरूपादीति**। आदिना क्रिया, 'नाम रूपं क्रिया चे'ति बृहदारण्यकात्। एतेषां मध्ये **केनचिन्** नाम्ना रूपेण क्रियया वा तदेव **विशिष्टम्**। **परीति**। अद्वितीयश्रुत्युपरोधस्य। **श्रूयमाणमिति**। छान्दोग्ये दहरविद्यायाम्। **जगदैश्वर्येति**। जगति ऐश्वर्यं पित्रादिसमुत्थानकर्तृत्वं सङ्कल्पद्वारा। 'स यदि पितृलोककामो भवति, सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ती'त्यादिश्रुतेः। एवं 'स यदि मातृलोककामः, भ्रातृलोककामः, स यदि स्वसृलोककामः, स यदि सखिलोककामः, स यदि गन्धमाल्यलोककाम' इत्यपि द्रष्टव्यम्। **संसारः** प्रपञ्चः।

जीवत्वदशायां तूपाध्यवच्छेदाद् गन्तृत्वं जीवस्यापरस्य ब्रह्मणश्चाविद्यकरूपनामवत्त्वेन गन्तव्यता चोपपद्यते। उपासनाफलत्वादस्य गमनस्य उपास्यस्य च सगुणत्वेन तत्प्राप्तेरेवोचितत्वाच्च। निर्गुणब्रह्मविद्यावतो गन्तृत्वासम्भव इत्युक्तम्, अतो बादरिमतमेव साधीयः। न च ब्रह्मपदस्य मुख्यार्थत्वमुक्तरीत्यात्र सम्भवति, अतोऽत्रामुख्यार्थत्वमेवानुसर्तव्यमिति चेत्। स्यादेतदेवम्, यद्यौपाधिकमुपास्यरूपं जीवत्वं वा स्यात्, न त्वेवम्। 'प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधती'त्यादिभि'स्तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेश' इत्याद्यधिकरणैः श्रुत्यर्थनिर्णयेन ब्रह्मणि विशेषाणामौपाधिकत्वस्य जीवब्रह्मणोरत्यन्ताभेदस्य च पुरस्तादेव निरस्तत्वात्। न च व्यापकत्वं गन्तव्यत्वे बाधकम्। प्रारब्धभोगं विना तत्प्राप्त्यसम्भवाद् यदा यत्र तद्भोगसमाप्तिः, तदा तत्र तत्प्राप्तेर्निःप्रत्यूहत्वात्।

भाष्यप्रकाशः।

तदनुवदन्ति जीवत्वेत्यादिना चेदित्यन्तेन। एवं सर्वं तन्मतं सङ्ग्रहेणानूद्य, यत्तैर्गतिश्रुत्युपपादनार्थं पश्चादुक्तम्, तदेव प्रथमतो दूषयन्ति स्यादेतदेवमित्यारभ्य **निरस्तत्वादित्यन्तम्**।

अत्रायमर्थः। यत्तावत् परब्रह्मणो निर्विशेषमात्रत्वोपपादनाय, 'सदेव सोम्ये'ति, 'यतो वा इमानी'त्यादीनां जगदुत्पत्त्यादिबोधकश्रुतीनामेकत्वप्रतिपादनपरत्वमुक्तम्, तत्किमुपादानतयैकत्व प्रतिपादनार्थम्, उत तटस्थतयैकत्वप्रतिपादनार्थम्। आद्ये तासामुपादानतादिबोधकत्वेन स्वार्थेपि तात्पर्यात् सिद्धमनेकशक्तित्वम्। द्वितीये तु, न प्रमाणमुपलभामहे, तत्र ताटस्थ्यबोधकपदाभावात्। न च मृदादिदृष्टान्तवाक्ये विकारस्य वाचारम्भणमात्रत्वकथनेन तन्मिथ्यात्वस्य 'मृत्तिकेत्येव सत्य'मिति कारणसत्यत्वस्य च बोधनात् तदेव मानमिति वाच्यम्। तत्र तथार्थाभावात्। तत्र विकारस्य वाचारम्भणत्वोक्त्या तस्य कारणानन्यताया एव सिद्धेस्तावता तटस्थैक्यस्य साधयितुमशक्यत्वात्। वाचारम्भणस्य नामधेयत्वविधानेन

रश्मिः।

जीवत्वेत्यादिना चेदित्यन्तेनेति। **परब्रह्मण इति**। ननु तन्मतेऽक्षरातिरिक्तब्रह्माभावात् किं परं ब्रह्मेति चेदुच्यते। न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिरिति सूत्रभाष्ये तथोक्तेरस्ति परब्रह्मेति। परन्त्वक्षरमेव परब्रह्म। **ब्रह्मपदस्येति**। **उक्तरीत्येति**। बादरिमतोक्तरीत्या। **अत्रेति**। 'स एतान् ब्रह्म गमयती'तिश्रुतौ। अत्रेति। उक्तश्रुतौ। **अमुख्यार्थत्वं** कार्यब्रह्मार्थत्वम्। **पश्चादिति**। जीवविचारेण पश्चादुक्तम्। व्यापकत्वविचारात् पश्चात्। **जगदुत्पत्त्यादीति**। एतेन यद्यौपाधिकमुपास्यरूपमित्यत्र मायोपाधिरुक्तः धर्माणामाविद्यकत्वात्। उपास्यं मायोपाधिकमिति। **एकत्वेति**। आरोपापवादसङ्गत्या तथा। जीवविषयं तु जीवब्रह्मैकत्वप्रतिपादनपरत्वमित्यर्थः। जीवोऽविद्योपाधिकः। तत्राप्यारोपापवादः। भागत्यागलक्षणयैकत्वम्। तत्त्वमस्यादिवाक्ये। **उक्तमिति**। न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिरिति **सूत्रे** उक्तम्। तथा च यदि मायोपाधिकमुपास्यरूपम्, अविद्योपाधिकं जीवत्वं वा स्यादिति भाष्यार्थो दिङ्मात्रेणासूचि। अनूद्य दूषयन्तः **न त्वेव**मित्यादिभाष्यं प्रपञ्चयन्ति स्म **विचारेति**। विचारेण विकारो विचारविकारः तस्य। मृदादिदृष्टान्तवाक्यविचारे इति पाठः सुवचः। तत्रेति। वाचारम्भणश्रुतौ। **कारणानन्यतेति**। 'कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्पणं पटतन्तुव'दिति वाक्यात्। **साधयितुमिति**। आरोपापवादसङ्गत्या साधयितुम्। **नामधेयत्वेति**। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्य'मित्यत्र वाचारम्भणं विकारः कार्यम्। तथा सत्युक्तसङ्गत्या मिथ्यात्वं प्राप्तं तद्वारणाय वाचारम्भणं

१. विचारविकार इति रश्मौ।

भाष्यप्रकाशः ।

तथा निश्चयात् । अन्यथा, वाचारम्भणनामधेयपदयोरन्यतरप्रयोगमात्रेण विकारमिथ्यात्वसिद्धावन्यतरवैयर्थ्यापत्तेर्दुर्वारत्वात् । अतो घटशरावादयो यथा मृद एव नामान्तरम्, तथा प्रपञ्चरूपो विकारोऽपि ब्रह्मण एव नामान्तरमिति तत्र कारणानन्यतायामेव तात्पर्यात् । भगवता सूत्रकारेणापि तथैव सूत्रितत्वात् । अन्यथा 'तन्मिथ्यात्वमारम्भणशब्दादिभ्य' इत्येव वदेत् । 'यथा सुवर्णं सुकृतं पुरस्तात् पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य । तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं नानापदेशैरहमस्य तद्व'दित्येकादशस्कन्धीयभगवद्वाक्याच्च । अतस्तासां कारणैक्ये एव तात्पर्यम्, न तु तटस्थैक्ये । एवं कारणसत्यत्वावधारणादपि न तटस्थैक्यसिद्धिः, कारणत्वेनैव सत्यत्वावधारणात् । न च कारणत्वेनापि कारणसत्यत्वावधारणे कार्यस्य मिथ्यात्वसिद्धौ ताटस्थ्येनैव कारणतेति तटस्थैक्यस्यैव सिद्धिरिति वाच्यम् । 'आत्मैवेदं सर्वम्', 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठ'मित्यादिभिस्तदुक्तश्रुतिभिरेव कार्यस्य ब्रह्मत्वावधारणे तन्मिथ्यात्वस्यैव वक्तुमशक्यत्वात् तटस्थकारणताया एवासिद्धेः । अतः, 'सन्मूलाः सौम्येमा' इत्यादिश्रुतेः सूत्रकृता कार्यलक्षणमुखेनैव ब्रह्मजिज्ञासाप्रतिज्ञानादन्यथा जगदप्रतीत्यादिदोषप्रसङ्गाच्च उपादानत्वेनैवैकत्वसिद्धिरित्युत्पत्त्यादिहेतुत्वबोधकश्रुतीनां स्वार्थेपि तात्पर्यस्य दुरपोहत्वात् तासां विशेषनिराकरणश्रुतिशेषताया एवायुक्तत्वात् । अनन्तशक्तित्वेनैव ब्रह्मणः सिद्धिरिति न विशेषनिषेधश्रुतीनां निराकाङ्क्षार्थत्वम् । तावता ब्रह्मज्ञानस्यापूर्तेः । नाप्यात्मन एकत्वनित्यत्वशुद्धत्वाद्यवगत्या पुरुषार्थसमाप्त्यवगतिः । भूमविद्यायां 'भूमैव विजिज्ञासितव्य' इत्यादिना नित्यनिरवधिसुखात्मकब्रह्मज्ञानादेव पुरुषार्थबुद्धिसमाप्तिबोधनात् । जीवब्रह्मैक्यस्यापि तादात्म्यरूपत्वमेव, न तु सर्वात्मनाऽभेदरूपत्वम् । 'तत्त्वमसी'त्यादौ तस्य भावस्तत्त्वमिति व्युत्पत्त्या तथैव सिद्धत्वात् । सर्वात्मनाऽभेदस्य भागत्यागलक्षणादोषग्रस्तत्वेनाग्रहमात्रत्वात् । एतच्च, 'तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेश' इत्यत्र व्युत्पादितम् । तदनन्यत्वाधिकरणे च । 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत' इति ईशावास्यवाक्येपि, 'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानत' इति पूर्वार्धेन ज्ञानिनः सर्वात्मभावो वामदेववत्तस्यामवस्थायामुच्यते इति तादृशीनां[1] श्रुतीनामपि पूर्वकक्षाविश्रान्तत्वमेव ।

रश्मिः ।

नामधेयमित्युक्तम् । तथेति । तटस्थसाधनाशक्यत्वनिश्चयात् । मृद इति । षष्ठ्यन्तम् । तथैवेति । कारणानन्यत्वबोधकत्वेन 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य' इति । वदेदिति । सूत्रकारः । तासामिति । सविशेषप्रतिपादिकानां श्रुतीनाम् । तटस्थैक्यमारोपापवादेन तस्मिन् । तदुक्तेति । 'न च कार्यं प्रतिपत्त्यभिसन्धि'रितिसूत्रभाष्ये शङ्कराचार्यैरुक्ताभिः श्रुतिभिः । अन्यथा जगदिति । विद्वन्मण्डने 'उपजीव्यत्वतः श्रौतवाक्यैश्चान्यपरत्वतः अन्तरङ्गत्वतश्चापि निर्विशेषं निरूप्यत' इत्यनया निर्विशेषनिरूपणे प्रतिज्ञाते सिद्धान्तोक्तिः 'अभेदादनुपाधित्वाज् जगदप्रत्ययाप्तितः, सर्वाधारत्वतस्तावच्छक्तित्वान्नास्य बाधन'मित्यनया । इमे जगदप्रतीत्यादिदोषास्तेषां प्रसङ्गात् । अर्थस्तु सुवर्णसूत्रे प्रसिद्धः तथा चान्यथेत्यस्य तटस्थकारणत्वे च । न च व्यावहारिकसत्तया मिथ्यात्वेपि न जगदप्रतीतिप्रसङ्ग इति वाच्यम् । तथाप्यनृतप्रतीतेर्दुर्वारत्वात् । व्यावहारिकसत्तायाः सत्कृष्णत्वात् । वेदस्तुतौ 'सन्तं कृष्णं भजेद्बुध' इत्युक्तत्वात् । स्वार्थेपीति । अन्यथा तु व्यवहारे वयं भाट्टा इति वदतां शाङ्कराणां 'विधिना त्वेकवाक्यत्वे स्तुत्यर्थेन विधीनां स्यु'रिति जैमिनिसूत्रेण विध्यर्थस्तावकत्वेन स्वार्थे तात्पर्यस्यापोह्यत्वात् । तासामिति । उत्पत्त्यादिहेतुत्वबोधकश्रुतीनाम् । अयुक्तत्वादिति । स्वार्थे तात्पर्यविधुराणामेव अर्थवादानां विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थत्वम् । तासां तु स्वार्थे तात्पर्योक्तेर्नार्थवादत्वमित्ययुक्तत्वं तस्मात् । निराकाङ्क्षेति । ब्रह्मज्ञानपूर्तौ तथा । तावतेति । विशेषनिषेधमात्रेण । ब्रह्मज्ञानस्य विषयतावच्छेदकं विरुद्धधर्माधारत्वम् । दशविधलीलाविशिष्टत्वं वा । अन्यथा मायाकार्यत्वेन जगतो मिथ्यात्वादप्रतीतिप्रसङ्गः । पुरुषार्थेति । मोक्षपुरुषार्थसमाप्त्यवगतिः । ननु 'प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधती'त्यादौ तृतीयाध्यायद्वितीयपादस्थे विशेषतो अक्षरजीवविषय इति फलाध्याये किं प्रयोजनमत आहुः भूमेति । छान्दोग्ये नारदसनत्कुमारसंवादेस्ति । मार्गत्रये भक्तिमार्गगणनादधिकारिभेदादाहुः जीवब्रह्मेति । अपिना ब्रह्म परं ब्रह्म तेनैक्यस्य तादात्म्यरूपत्वं गौणाद्वैतरूपत्वम् । तथा च तत्त्वायस्य फलाध्यायेपि तौल्यं सूचितम् । ब्रह्मपदस्याक्षरे पुरुषोत्तमे च प्रयोगात् । गौणमद्वैतं फलप्रकरणे पुरुषोत्तमस्याधोक्षजत्वात् । 'अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मन' इति सूत्रविषयत्वाच्च । एवकारव्यावर्त्यमाहुः न त्विति । मुख्याद्वैतस्याक्षरविषयत्वात् । फलाध्याये पुरुषोत्तमस्य मुख्यत्वात् । सर्वात्मना अभेदो भेदाभावः यथा सैन्धवखिल्यस्य सिन्धुना अभेदो मुख्यः । यथा घटस्य पटान्तरेणाभेदस्तादात्म्यरूपो अभेदो गौण इति । तत्त्वमसीत्यादाविति । आदिना ब्रह्माहमस्मीति । अन्यान्यष्टपदानि च । तत्त्वमसीत्येकादशपदात्मक उपदेश इति । तस्य भावस्तत्त्वमिति । तत् त्वमित्युपादानकार्ययोरभेदः सोक्षरेण अतस्तं विहाय कर्तृकारकघटितत्वाच्च । तस्य त्वमिति शेषषष्ठीघटिततादात्म्यरूपोऽभेदः पुरुषोत्तमविषये फलाध्यायत्वादुक्तः । षष्ठ्या अकारकत्वात् । द्वितीयसप्तमाध्याये 'शश्वत्प्रशान्तमभयं प्रतिबोधमात्रं शुद्धं समं सदसतः परमात्मतत्त्वम् । शब्दो न यत्र पुरुकारकवान्क्रियार्थो मायापरैत्यभिमुखे च विलज्जमाने'त्यत्र पुरुषोत्तमे कारकत्वाभावोक्तिः । तथैवेति । जीवपरब्रह्मैक्यस्य तादात्म्यरूपत्वस्यैव सिद्धत्वात् । जीवपरब्रह्मणो मुख्याभेदे दोषमाहुः सर्वात्मनेति । तथा च मुख्याभेदे स्वीकृते लीलावैचित्र्यं न स्यादिति दृष्टवैचित्र्यापलापो दोषः । नन्वधोक्षजे लीलावैचित्र्यदर्शनं केन करणेनेति चेन्न । महतामन्तःकरणस्य करणत्वात् । महत्त्वं भगवत्सम्बन्धादेव । तदुक्तं बृहदारण्यके 'मनसैवानु द्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुव'मिति । अनु महत्वमनु भक्तिमनु वा । अप्रमेयमधोक्षजरूपम् । तथा च सप्तमस्कन्धे सप्तमाध्याये सद्वासनाप्रकरणे 'हरिः सर्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः । इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधु मानये'दित्युक्त्वा 'यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धसत्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम् । मुहुः श्वसन्वक्ति हरे जगत्पते नारायणेत्यात्ममतिर्गतत्रपः । तदा पुमान्मुक्तसमस्तबन्धनस्तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः । निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम् । अधोक्षजालम्भमिहाशुभात्मनः शरीरिणः संसृतिचक्रशातनम् । तद्ब्रह्मनिर्वाणसुखं विदुर्बुधास्ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वर'मिति । तस्य भावश्चेष्टादिः तस्य भावो भावना तेनानुकृते आशयाकृती मनःशरीरे यस्य । निर्दग्धं बीजमज्ञानमनुशयो वासना च यस्य सः । समेति प्राप्नोति । ततः किमत आह । अधोक्षजस्यालम्भं मनसा स्पर्शम् । अधोक्षजालम्बमिति पाठेऽधोक्षजस्याश्रयणम् । अशुभः रागादियुक्त आत्मा मनो यस्य । शातनं निवर्तकम् । ब्रह्मणि निर्वाणं लयो मोक्षस्तदात्मकं सुखम् । हृदीश्वरमन्तर्यामिणम् । उक्तरीत्या पूर्वकक्षाविश्रान्तत्वादेव । तद्गुणेति । द्वितीयाध्यायस्य तृतीयपादेऽस्ति । तदनन्यत्वेति । द्वितीयाध्यायस्य प्रथमपादेऽस्ति । भाष्यस्य दिङ्मात्रत्वात्तत्सिद्ध्येप्रपञ्चमाहुः तत्र को मोह इति । एकत्वमिति । तादात्म्यं वक्ष्यमाणदृष्टान्तात्, फलाध्यायाच्च । सर्वात्मभाव इति । सर्वस्मिन्नात्मभावः सर्वात्मभावः 'सर्वात्मभावोऽधिकृतः' इत्यस्य सुबोधिनीटिप्पण्युक्तः । वामदेववदिति । पुरुषविधब्राह्मणेऽस्ति । तत्रापि टिप्पण्युक्तो विग्रहः । तस्यामिति । तस्य ज्ञानिनः अवस्थायां साधनावस्थायाम् । 'सर्वभूतेषु मन्मति'-

[1] एतादृशीनामिति रश्मौ ।

भाष्यप्रकाशः ।

अत एव 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चने'ति श्रुतावपि मनोवागगोचरनिरवध्यानन्दज्ञानादेव भयाभावकथनं युज्यते । एतेनैव विदुषस्तुष्ट्यनुभवादिदर्शनमपि व्याख्यातम् । तस्य यथाधिकारत्वात् विकारानृताभिसन्ध्यपवादस्तु विकारसत्यत्वमेव बोधयति । अन्यथा तेनात्मान्तर्धानानुपपत्तेः । आत्मान्तर्धानानन्तर्धानयोर्वस्तुधर्मत्वात् । अन्यथा 'अनृतेनात्मानमन्तर्धाये'ति श्रुतिविरोधापत्तेः । 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोती'ति भेददृष्ट्यपवादस्तु परब्रह्मस्वरूपगतभेददृष्टिविषयः । काठके 'पराञ्चि खानी'त्यादिना परमात्मन एवोपक्रान्तत्वात् । उपसंहारेपि 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुष' इति मन्त्रद्वये तस्यैवोक्तत्वात् । अग्रे च, 'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति । एवं मुनेर्विजानत आत्मा

रश्मिः ।

रिति वाक्यात् । तथा च सर्वात्मभावः लिङ्गभूमविद्यायां पुष्टिमार्गीयः । तच्चरमवृत्तौ टिप्पण्युक्तः । मर्यादायां निरोधलक्षणग्रन्थोक्तः । अम्बरीषस्येव 'सर्वात्मभावं विदधन्महीमिमां तन्निष्ठविप्राभिहितः शशास हे'ति नवमस्कन्धे । वामदेवस्य महादेवस्य सर्वात्मभावः भक्त्यङ्गं ज्ञानित्वात् । 'ज्ञानेन भक्त्ये'ति श्रुतेः । भक्त्यङ्गं सर्वात्मभावः । 'सर्वभूतेषु मन्मति'रिति वाक्योक्तः । टिप्पण्युक्तो नित्यलीलायामपि । तत्र ज्ञानस्यावर्जनीयत्वेन राजसादिज्ञानानां चाभावात् । 'प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वं च मिश्रं न च कालविक्रम' इति वाक्यात् । **एतादृशीनामिति** । 'ज्ञानेन भक्त्या', 'तद्धैतत् पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे, अहं मनुरभवम्, सूर्यश्च', 'यस्मिन् सर्वाणि भूतानी'त्येतादृशीनाम् । **पूर्वकक्षेति** । भयाभावसाधनं यदानन्दज्ञानं तत्साधनं भक्तिः तस्याः पूर्वकक्षा ज्ञानिनां ज्ञानं तत्र विश्रान्तत्वमित्यर्थः । वाक्यशृङ्खलयैवकारः । **अत एवेति** । उक्तरीत्या पूर्वकक्षाविश्रान्तत्वादेव । **एवेति** । पूर्वकक्षाव्यवच्छेदकः । **एतेनेति** । मनोवागगोचरनिरवध्यानन्दज्ञानादेवाभयकथनेन । **विदुषः** पूर्वकक्षाविश्रान्तज्ञानवतः भक्त्यङ्गसर्वात्मभावेन तुष्टेरनुभवः स्वस्य परस्य । आदिना स्थितिः । **व्याख्यातमिति** । ज्ञानिपरत्वेन व्याख्यातम् । तदेवाहुः **तस्येति** । दर्शनस्य भक्ताधिकारकसर्वात्मभावातिरिक्तसर्वात्मभावमनतिक्रम्य यथाधिकारं तस्य भावो यथाधिकारत्वं तस्मात् । **विकारेति** । विकारानृताभिसन्धिर्मृदादिदृष्टान्तेन छान्दोग्ये तस्यापवादः 'वाचारम्भणं विकार' इत्येतावतैव चारितार्थ्ये नामधेयपदेन व्यर्थतां गतेन विकारवाचारम्भणाभिसन्धेरपवादः क्रियते । एवं नामधेयपदसार्थक्यम् । यद्यपि नामरूपरूपस्य जगतो विकारत्वप्रतिपादनेन वाचारम्भणनामधेयपदयोरुभयोः सार्थक्यम्, तथापि नाम्नां शब्दात्मकानां शब्दनित्यत्वेन विकारसत्यत्वप्रतिपादकत्वमपीत्याहुः **विकारसत्यत्वमेवेति** । 'वाचा विरूपनित्यये'ति श्रुतेरेवकारः । छान्दोग्ये श्वेतकेतूपाख्यानस्थश्रुतिसिद्धमर्थं श्रुतिं चोपष्टम्भकत्वेनाहुः **अन्यथेत्यादि** । नामधेयपदेन विकारसत्यत्वाबोधने । **तेन अनृतेन** । अनृतेनेत्यादिश्रुतिः । **परब्रह्मस्वरूपेति** । 'सजातीयविजातीयस्वगतद्वैतवर्जित'मिति निबन्धात् । **पराञ्चीति** । द्वितीयाध्यायारम्भे । अनया मध्ये 'मृत्योः स मृत्यु'मिति श्रुतिः । तत्र 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्नि'त्यत्र द्रष्टृत्वेन अन्तरात्मसमवायित्वेन तदभिन्नस्य परमात्मन एव । यद्वा । प्रथमाध्याये 'स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्य'मित्युपक्रान्ताग्नित्वेनान्तरात्मन एव । **मन्त्रद्वयेनेति** । 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स ईश्वरं एतद्वैतत् । यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति । 'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतमे'त्यत्र तृतीयश्रुतिं परित्यज्य मन्त्रद्वये । **तस्यैवेति** ईश्वरस्य सधर्मकस्य परात्मन एवोक्तत्वात् । **विजानत इत्यस्याक्षर**

१. 'उश्वः' इति मुद्रितोपनिषदि ।

भाष्यप्रकाशः ।

भवति गौतमे'ति मुक्तिदशायामपि साम्यमात्रबोधनाच्च । तेन 'चक्षुषश्चक्षु'रित्यादिना परस्य ब्रह्मण एवोपक्रान्तत्वाद्यथा बृहदारण्यकेऽर्थः, तथात्रापीति न तेनापि विकारस्य मिथ्यात्वसिद्धिः । 'यत्रैतच्छुङ्गमुत्पतित'मिति श्रुत्यापि जगन्मूलत्वेनैवैकत्वमुदर्के प्रतिपादितम्, न तु ताटस्थ्येन । एवं, 'यतो वे'त्यादावपि ज्ञेयम् । अतः सर्वासां श्रुतीनामुपादानकारणैकात्म्यावगमपरत्वाद् विशेषनिषेधश्रुतीनां च लौकिकविशेषनिषेधपरत्वात् तासां परस्परसाकाङ्क्षतैव । शेषशेषिभावस्तु यथाधिकारं प्रकरणबलादनियत इति ब्रह्मण्येकशक्तियोगो निराबाध एव ।

तेन यत्तैः प्रश्नोपनिषद्वाक्यात् परापरे द्वे ब्रह्मणी अङ्गीकृत्य, यदविद्याकृतनामरूपादिविशेषप्रतिषेधेनास्थूलादिशब्दैर्ब्रह्मोपदिश्यते, तत् परम्; यत्पुनर्नामरूपविशेषाणां केनचिद्विशिष्टमुपासनायोपदिश्यते 'मनोमयः प्राणशरीर' इत्यादिशब्दैस्तदवरमिति प्रतिपादितम्; तत्र किं मानम्? न तावदस्थूलादिवाक्यम्, मनोमयादिवाक्यं च । तत्र परापरशब्दयोरश्रवणात् । आद्ये अक्षरशब्देनैव लक्ष्यनिर्देशात् । यदि च मुण्डके, 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यत' इत्यक्षरविद्यायाः परत्वश्रावणात् तद्वेद्यस्याक्षरस्य परत्वमिष्यते । बाढम् । तदा पुरुषस्य ततोपि परत्वमेव द्रष्टव्यम् । 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः । अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो

रश्मिः ।

विद्यया विजानत इत्यर्थादाहुः **मुक्तीति** । जीवन्मुक्तिदशायाम् । काठक उपक्रमस्य परमात्मपरत्वं क्लिष्टं गत्वा भाष्यस्य दिङ्मात्रत्वाय बृहदारण्यकेन एतत्प्रपञ्चयति स्म **तेन चक्षुष इति** । शारीरब्राह्मणे अर्धप्रपाठकसमाप्तौ 'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः, ते निचिक्युः ब्रह्मपुराणमग्र्यं मनसैवाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचने'ति, अग्रे 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इहे'त्यादिश्रुतिः । चक्षुषश्चक्षुरित्यस्यादिः चक्षुषश्चक्षुरित्यादिः तया । अत एव प्राण इत्यातिदेशाधिकरणे प्राणस्य परब्रह्मतोक्तेः । **बृहदारण्यकेऽर्थ इति** । भेददृष्ट्यपवादः परब्रह्मस्वरूपगतभेददृष्टिविषय इत्यर्थः । **तथात्रापीति** । काठकेऽपि उक्तोऽर्थ इति । **न तेन** काठकेन । **विकारस्येति** । नाना पश्यति विकारैः कृत्वा नाना पश्यति इति विकारस्य मिथ्यात्वे मृत्योर्मृत्व्याप्तिर्नेत्येवं न विकारस्य **मिथ्यात्वसिद्धिः** । **यत्रैतदिति** । तत्रैतदित्यपि पाठः, तत्रेत्यप्सु । अन्नरूपं **शुङ्गं** कार्यम्, **उत्पतितं** जातम् । **जगदिति** जगत्समवायित्वेनैवैकत्वं कार्यकारणैकत्वम्, न तु विकारमिथ्यात्वेनैकत्वम् । नाप्युदकविकारयोरैक्ये नैकत्वम् । श्रौतत्वेऽपि जलस्य मूलकारणत्वाभावेन जन्माद्यधिकरणविरोधापत्तेः । **उदर्के** ईषत्कालीयफले मदनकण्टके वा । उदक इति वा पाठः । तदपः आचक्षते अशनायेति तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितमिति श्रुतेः । तथापि फलाध्याये परोक्षवादादुदर्क इति । एवं कार्यलक्षणोक्तधर्मेणैक्यमुक्तम्, तटस्थलक्षणोक्तसत्यत्वादिधर्मैरित्याहुः **न त्विति** । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'त्युक्तं तटस्थलक्षणम् । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्त' इत्युक्तं कार्यलक्षणं तदेवाहुः **एवं यतो वेति** । सिद्धमाहुः **सर्वासामिति** । सगुणनिर्गुणप्रतिपादिकानां श्रुतीनां फलाध्यायत्वाज् जगदुपादानमक्षरं लोकरूपं तत्रत्यो भगवान् रसात्मकजगदुपादानं तत्र कार्यकारणयोरैकात्म्यावगमः तस्माद्विरुद्धधर्माधारत्वादाहुः **तासामिति** । धर्मिप्रतिपादिकानां स्वलक्षणधर्माकाङ्क्षा, धर्मप्रतिपादिकानां च स्वाश्रयाकाङ्क्षेति **परस्परसाकाङ्क्षता** । **शेषशेषीति** धर्मप्रतिपादिकानां प्रतियोगिप्रतिपादकत्वाच्छेषभावः । धर्मनिषेधिकानां तु शेषिभावः । शेषः प्रतियोगी यस्यास्तीति शेषी निषेधः । तयोर्भावः **शेषशेषिभावः** । ज्ञानरूपमधिकारमनतिक्रम्य **यथाधिकारम्** । ज्ञानकर्मभक्तिप्रकरणबलात् । **अनेकेति** । जगज्जन्मादिकर्तृत्वादिसत्यत्वादिरूपानेकशक्तियोगः । उभयव्यपदेशाद्यधिकरणसत्त्वादेवकारः । **आद्य इति** । परस्मिन् । एवकारः पुरुषोत्तमयोग

१७ ब्र० सू० १०

भाष्यप्रकाशः ।

क्षरात् परतः पर' इति तत्रैव श्रावणात् । न च तस्य यावद्विशेषशून्यत्वम् । तदग्रे, 'एतस्माज्जायते प्राण' इति मन्त्रेण तत एव सृष्टेः श्रावणात् । 'अग्निर्मूर्धे'त्यादिभिस्तद्रूपोपन्यासाच्च । नाप्यक्षरस्य तथात्वम् । अस्थूलादिश्रावणोत्तरं प्रशासनस्य वेद्यत्वद्रष्टृत्वादीनामाकाशोपादानत्वस्य च श्रावणेन, मुण्डकेपि, 'यत्तदद्रेश्य'मित्याद्युक्त्वा, 'यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ती'त्यादिजगदुपादानत्वसर्वज्ञत्वादीनां श्रावणेन 'यावद्विशेषशून्यताया वक्तुमशक्यत्वात् । एवं वाक्यान्तरेष्वपि द्रष्टव्यम् । सर्वत्र एकस्यैव ब्रह्मणः प्रतिपाद्यत्वात् । अत एव श्वेताश्वतरेपि 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः', 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्व'मित्यादीन् नानाधर्मबोधकानेव मन्त्रानुक्त्वा 'निष्कलं निष्क्रिय'मित्युक्तम् । 'स वा एष महानज आत्मे'त्यत्रापि शारीरब्राह्मणे, 'अन्नादो वसुदान' इति 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशान' इत्यादयो धर्मा उक्ताः । 'स वा एष नेति ने'त्युक्त्वा, 'अगृह्यो न हि गृह्यते, अशीर्यो न हि शीर्यते असङ्गोऽसितो न सज्जते न व्यथत' इत्येवं निषेधो विधृतो न तु यावद्धर्मपरत्वेनेति द्रष्टव्यम् । अतो यत्रोत्कर्षस्य विश्रान्तिः, अक्षराद्वा यदुत्कृष्टम्, तदेव परमिति मन्तव्यम्, उक्तमुण्डकश्रुतेः । 'अव्यक्तात् पुरुषः परः, पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गति'रिति काठकश्रुतेः । 'अम्भस्यपार' इत्युपक्रम्य, 'अतः परं नान्यदणीयसꣳ हि परात् परं यन्महतो महान्त'मिति तैत्तिरीयश्रुतेश्च । पुरुषस्य च विरुद्धधर्माश्रयत्वमेतास्वेव प्रतिपादितम् । एतदेव परत्वम् । गीतासु च 'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् । यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम । पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यये'ति । 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च । क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते । उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः । यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम' इति तदुपबृंहणात् । अत एव, 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' इत्यादिषु तस्य समाभ्यधिकनिषेधोपि युज्यते । न च पुरुषोत्तमाक्षरयोः परापरभावाङ्गीकारे अद्वैतश्रुतिविरोधः । गणितागणितानन्दत्वधर्मभेदेपि वस्त्वभेदेन द्वैताभावे तदभावात्, अमित्रादिवदद्वैतविरुद्धसम्बन्धरूपत्वेनाभेदस्य तादात्म्यात्मकत्वात् । अथवा । शब्दब्रह्मवेद्यं परम्, शब्दब्रह्मैवापरम् । षष्ठस्कन्धे चित्रकेतुं प्रति, 'शब्दब्रह्म परं ब्रह्म ममोभे शाश्वती तनू' इति भगव-

रश्मिः ।

व्यवच्छिनत्ति । लक्ष्यनिर्देशो बृहदारण्यकेऽक्षरब्राह्मणेऽस्ति । **वाक्यान्तरेष्विति** । यथा प्रश्नोपनिषदि । 'यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सौम्य सर्वज्ञः सर्वो भवती'ति । पर्युदासार्थको नञ् । अतो यावद्विशेषशून्यता न । **परत्वमिति** । पुरुषोत्तमत्वम् । **तत्रैवेति** । मुण्डके एव । **तस्येति** । पुरुषोत्तमस्य । **सृष्टेरिति** । आत्मसृष्टेः । अक्षरसृष्टेरन्यत्वात् । **श्रावणेनेति** । अक्षरब्राह्मणे श्रावणेन । **अशक्यत्वादिति** । न च प्रशासनत्वादिकं प्रशासत्वाद्यभावाभावात्मकं अभावोऽधिकरणात्मकमिति कथमशक्यत्वमिति शङ्क्यम् । अभावस्याधिकरणात्मकताया अप्रसिद्धेः **यावदिति** । तथा च यावद्धर्मनिषेधे 'स वा एष नेति नेती'त्यत्र विवक्षिते न विवृणुयादिति भावः । **अत एवेति** । विरुद्धधर्माधारत्वादेव । **युज्यत इति** । तादृशविरुद्धधर्माधारत्वाभावादिति भावः । **तदभावादिति** । अद्वैतश्रुतिविरोधाभावात् । नन्वक्षरत्वेन पुरुषोत्तमत्वेन रूपेण भेदो वर्तत इति कुतो वस्त्वभेद इति चेत्, तत्राहुः **अमित्रादीति** । **तादात्म्येति** । फलाध्यायत्वात् तादात्म्यात्मकत्वम्, न तु भेदाभावात्मकत्वम् । 'अन्तरा भूतग्रामव'दिति सूत्रे भेदाभावरूपाभेदस्य फले निषेधात् । **शब्दब्रह्मवेद्यमिति** । वाच्यं परम्, वाचकमपरमित्यर्थः । **ममेति** भगवतः । **इति**

भाष्यप्रकाशः ।

द्वाक्यस्य 'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् । शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छती'त्यादिवाक्यस्य च स्वारस्यात् । 'एतद्वै सत्यकाम परं च ब्रह्मे'ति वाक्यविचारेऽप्योङ्कारस्य, 'एतद्वै यजुस्त्रयीं विद्यां प्रती'ति श्रुतेः सर्ववेदमूलत्वेन वाच्याभिन्नत्वेन चोभयरूपत्वं प्रतिज्ञाय, तदभिध्यानफलकथने एकद्वित्रिमात्राध्यानेन ऋग्यजुःसामभिर्मनुष्यलोकसोमलोकसूर्यलोकेषु यथायथं महिमानुभवं फलमुक्त्वा, अर्धचतुर्थमात्रेणोङ्कारेण ध्याने, अथर्वभिर्ब्रह्मलोकप्राप्तिं चोक्त्वा, 'स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षत' इति फलमुक्तम् । शङ्कराचार्यमतेत्र त्रिमात्र एवोङ्कारोऽङ्गीकृतः । स पाठो यद्यपीदानीन्तनेभ्यः पुस्तकेभ्यः पाठिभिः पठ्यमानात् पाठाच्च विरुध्यते, तथापि त्रिमात्रध्यानेपि, 'ओमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत, स तेजसि परे सम्पन्नो यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते, एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्त' इत्येतावतो ग्रन्थस्य 'स एतस्माज्जीवघनात् परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षत' इति ग्रन्थस्याग्रिमश्लोकद्वयस्य च वर्तमानत्वेन शब्दब्रह्म अपरम्, मृत्युमन्मात्राप्रतिपाद्यं वाऽपरम्, जीवघनरूपो यो हिरण्यगर्भः क्षरः पुरुषस्तस्मात् परमक्षरं ब्रह्म । परं ततोपि यः परः पुरिशयोऽन्तर्याम्युक्तः, श्लोकेपि 'तमोङ्कारेणैवायनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं परायणं चे'त्युक्तः

रश्मिः ।

वाक्येति । प्रश्नोपनिषत्स्थवाक्यमीमांसायामपि 'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कार' इति श्रुतेरोङ्कारस्य । **एतदिति** । ओङ्कारः यजुः मूलकारणं कां प्रतीत्यत आहुः । त्रयीं विद्यां प्रतीति श्रुत्यर्थः । **मूलं** शब्दरूपम् । **सर्ववेदेति** । त्रयीविद्यामूलत्वेन वाच्यं परं ब्रह्म तदभिन्नत्वेन । **उभयरूपत्वं** वाच्यवाचकरूपत्वम् । **प्रतिज्ञायेति** । उक्तश्रुत्या । **तदभीति** । 'स यद्येकमात्रमभिध्यायीते'त्यादिना तदभिध्यानफलस्य लोकजयस्य कथने । **एकद्वीति** । 'स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव तस्यामभिसम्पद्यते किञ्चिदुक्त्वाग्रे द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते पुनः किञ्चिदुक्त्वा यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये इत्येवमेकद्वित्रिमात्राध्यानेन । **उक्त्वेति** । अभिसम्पद्यत इत्यस्या अग्रे 'तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पद्यते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवती'त्यनयोक्त्वा । 'तथा द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यत' इत्यस्या अग्रे 'सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकं स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते' इत्यनयोक्त्वा । यः पुनरित्यस्या उक्ताया अग्रे सामभिरुन्नीयते सूर्यलोकं स सूर्यलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तत इत्यनयोक्त्वेत्यर्थः । **अर्धचतुर्थेति** । उक्तोङ्कारचतुर्थमात्रेण । **पुस्तकेभ्य इति** । पञ्चम्यन्तमेको हेतुः । पाठिभिरित्यपरः । **ओमित्येतेनेति** । यः पुनरर्धचतुर्थमात्रेणोमित्येतेनेत्यादिः । **एवं ह वा इति** श्रुतिस्तु 'एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः सोथर्वभिरुन्नीयते ब्रह्मलोक'मिति । एतस्या अग्रे 'स एतस्माज्जीवघना'दिति श्रुतिः । **अग्रिमेति** । 'तदेतौ श्लोकौ भवतः । तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः । क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः । ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं स सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते । तमोंकारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं परायणं चे'त्यग्रिमश्लोकद्वयस्य । तस्मात्परमक्षरं ब्रह्म, ततोऽपि यः पर इति पाठः । श्लोकेऽपि **तमिति** । परपुरुषम् ।

किञ्च। उपास्यरूपाणां सर्वेषां निर्गुणत्वमेव, उपासकस्य परं सगुणत्वेन

भाष्यप्रकाशः।

स एव पर इति सिध्यति। तथा चात्र 'परायणं चे'ति चकारादक्षरात् परः पुरुषोऽपि परं परायणं यस्येति योगादक्षरधामवासी बोधितः। तेन मुण्डकवदेवात्राप्यर्थः। अपरं तु ब्रह्म वेदात्मकम्, हिरण्यगर्भस्य शब्दब्रह्मात्मकत्वात्। किञ्च। नृसिंहोत्तरतापनीये, 'सैषाऽविद्या जगत् सर्व'मिति सर्वस्य जगतोऽविद्यात्वश्रावणेपि न सर्वस्य जगतस्तथात्वम्। उपसंहारे, 'तस्मादात्मन एव त्रैविध्यं योनित्वमपी'ति निगमनात्। इदं यथातथोपपादितं द्वितीयस्य प्रथमे पादे, 'दृश्यते त्वि'ति सूत्रे। मुण्डके, 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते चे'त्यादिना अक्षरात् सृष्टिमुपक्रम्य, 'तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते तदेतत्सत्य'मिति निगमनात्। 'तदेतदृषिः पश्यन् वामदेवः प्रतिपेद' इत्यादिश्रुत्युक्ताबाधितब्रह्मवित्प्रत्यक्षविषयत्वात्। व्यावहारिको नामरूपप्रपञ्चः, स्वोत्कृष्टसत्ताकतत्प्रपञ्चपूर्वकः, मायिकप्रपञ्चत्वादैन्द्रजालिकादिप्रपञ्चवदित्यत्र साध्यविशेषणत्वेनानुमितिविषयत्वाच्च। अतो नामरूपादीनामपि न सर्वेषामाविद्यकत्वमिति सिद्ध्यति। एवं सति 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः।' 'अयमात्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्प' इत्यादिषु शाण्डिल्यदहरभूमविद्याप्रभृतिवाक्येष्वपहतपाप्मसत्यकामादिशब्दैस्तत्तद्विशेषणविशिष्टं यदुपासनायोपदिश्यते, तस्याविद्याकृतनामरूपविशेषविशिष्टत्वं कुतोऽवधारितं येन तस्यापरब्रह्मत्वमुच्यते, न तावदुपासनाविषयत्वात्, उपासनाविषये तथात्वनियमस्य क्वाप्यसिद्धत्वेन प्रमाणशून्यत्वात्। न च, 'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतं तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासत' इत्यादितलवकारश्रुतेरिति युक्तम्। तत्र तथार्थाभावात्। नेदमित्यनेन मनोवागादिनिषेधोत्तरम्, 'इदं ब्रह्म विद्धि यदुपासत' इत्यर्थात्।

रश्मिः।

परं अयनं यस्येति। परमक्षरम्। **मुण्डकवदिति**। 'अक्षरात्परतः पर' इति मुण्डकमुक्तम्। परतोऽक्षरात् पर इत्यर्थः। **वेदात्मकमिति**। 'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेद' इत्यादि मुण्डकात्। तत्र परापरयोः। **आत्मन एवेति**। आत्मनः, न त्वविद्यायाः। त्रैविध्यं गुणैः स्वीयैः। योनित्वमुपादानत्वम्। निगमनं तस्मात् पर्वतो वह्निमानितिवत्। **तदेतदिति**। अबाधितत्वं भ्रमप्रतिबाधवद् बाधाविषयत्वम्। **ऐन्द्रजालिकादीति**। आदिना हिरण्यगर्भसृष्टिः कुलालादिपुत्रकर्तृकसृष्टिश्च। व्यावहारिको नामरूपप्रपञ्चः स्वोत्कृष्टसत्ताकतत्प्रपञ्चपूर्वकत्ववानित्यनुमितिः, अत्र साध्यं स्वोत्कृष्टेत्यादि। तद्विशेषणं पक्षः तत्त्वेन व्यावहारिकप्रपञ्चस्यानुमितिविषयत्वादित्यर्थः। **अत इति**। आविद्यकान्तरालिकसृष्टिवदात्मयोनेः सत्त्वाद्ब्राह्मसृष्टेः। सर्वेषां ब्राह्मानामाविधकानां च। मनोमय इति शाण्डिल्यविद्यास्थं वाक्यम्। अयमात्मेति दहरविद्यास्थं वाक्य**मादिना** भूमविद्यास्थं वाक्यं तत्तु 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमे'ति। भूमैव सुखमिति वा। सुखत्वेन भूम्नि मनोनिवेशनं मनसा ज्ञानमुपासनम्। **प्रभृतिपदे**नोपकोसलविद्यास्थं वाक्यम्। तत्तु 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाच एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मे'ति। **अपहतपाप्मेति**। दहरविद्यास्थौ शब्दौ। अतः शाण्डिल्यविद्यास्थशब्दाग्रहणं तदर्थम्, अपहतपाप्मसत्यकामयोरादयः अपहतपाप्मसत्यकामादयः। मनोमयप्राणशरीरभारूपाः। तथापहतपाप्मसत्यकामावादी येषां ते विजरादिसुखामृताभयब्रह्मरूपाः अपहतपाप्मसत्यकामादयः ते च ते चापहतपाप्मसत्यकामादयस्ते च ते शब्दाः अपहतपाप्मसत्यकामादिशब्दास्तैः। **मनोवागादीति**।

भाष्यप्रकाशः।

अन्यथा द्वितीयेदङ्कारप्रयोगवैयर्थ्यप्रसङ्गादित्येवं प्रागेवोपपादितत्वात्। 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धी'ति विधीयमानज्ञानविषयस्य ब्रह्मणः पूर्वं, 'न तत्र चक्षुर्गच्छती'त्यादिना यावत्करणागम्यताया उक्तत्वात्तस्य ज्ञानस्य प्रत्यक्षादिरूपताया वक्तुमशक्यत्वादुपासनारूपत्व एव पर्यवसानेन तद्विषयस्य परस्याप्यपरत्वापत्तेश्च। नाप्युपशान्तत्वाभावात्। सर्वत्र परस्य ब्रह्मण एकत्वेन तस्य च विरुद्धधर्माधारताया उपपादितत्वेन तदभावस्यैवाभावात्। एतेनैव, 'अवचनेनैव प्रोवाचे'त्यनेनापि प्रत्यवस्थानमयुक्तम्। तत्राप्युपशान्तत्वस्यैवोक्तत्वात्। लौकिकयावद्धर्मराहित्येनैव तत्सिद्धेश्च। एवं 'इन्द्रो मायाभि'रित्यादिवाक्यानामप्युभयलिङ्गाद्यधिकरणविचार एव विचारितत्वान्न तैरपि प्रत्यवस्थानावकाशः। अतः परविद्यासूक्तानामन्यत्राप्युक्तानां परब्रह्मधर्माणामनाविद्यकत्वादलौकिकैर्नानागुणैर्युक्तमप्युपास्यरूपं नापरब्रह्मरूपमिति नौपाधिकम्।

एवं जीवत्वमपि नौपाधिकम्। 'अंशो नानाव्यपदेशा'दित्यत्र जीवस्यांशत्वेनैव निर्धारितत्वात्। श्वेताश्वतरे, 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्, अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जग'दिति कण्ठतोऽवयवत्वोक्तेश्च। 'घटसंवृतमाकाशं लीयमाने घटे यथा। घटो लीयेत नाकाशं तद्वज्जीवो नभोपम' इति बिन्दुस्तोकश्रुतौ नभोपम इति दृष्टान्तोपि लयाभाव एव, न त्वनंशत्वे। इतः पूर्वस्मिन्, 'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रव'दिति मन्त्रे जलचन्द्रदृष्टान्तेनांशप्रवेशद्वारिकायाः सर्वभूताधिकरणकस्थितेर्बोधितत्वात्। निष्कलश्रुतेस्तु नांशत्वबाधकत्वम्। 'स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनि'रित्यादिभिः पूर्वमन्त्रैर्नानाधर्माणां क्रियाणां च बोधनेन जीवानामवयवरूपतायाश्च पूर्वमुक्तत्वेन, 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना'मिति भेदस्य बोधनेन ब्रह्मणो विरुद्धधर्माधारत्व एव तत्तात्पर्यावगमात्। अविद्यया विस्मृतस्वस्वरूपं ब्रह्मैव जीव इति पक्षस्यापि, 'तत्त्वमसी'ति वाक्यविचारे लक्षणादोषग्रासेनैव

रश्मिः।

मनोवागादीनां करणत्वनिषेधोत्तरम्। **प्रागेवेति**। **विधीयमानेति** विद्धीति लोटा विधीयमानज्ञानविषयस्य **तद्विषयस्येति**। यदिदमुपासत इति श्रुत्युक्तोपासनाविषयस्य। ननु यथोपासनाविषयत्वेन परस्य अपरत्वम्, तथोपशान्तत्वाभावादपरत्वं भविष्यति तत्राहुः **नापीति**। **उपशान्तत्वाभावाद**परत्वापत्तिर्न। **सर्वत्रेति**। निर्गुणसगुणप्रतिपादिकासु एकत्वं निर्वाहकसङ्गत्या, न त्वारोपापवादसङ्गत्या। **उपपादितत्वेनेति**। तृतीयाध्याये उभयव्यपदेशाद्यधिकरणेषु। **तदभावस्येति**। उपशान्तत्वाभावस्य। एतेन तस्य चापरब्रह्मोपासनस्य तत्सन्निधौ श्रूयमाणं 'स यदि पितृलोककामो भवती'त्यादिजगदैश्वर्यलक्षणं संसारगोचरमेव फलं भवति, अनिवर्तित्वादविद्याया इति पूर्वं प्रकाशे यदुक्तं तदाक्षिप्तम्। एतेनेति विरुद्धधर्माधारत्वेन उपशान्तत्वेन वा। **प्रत्यवेति**। अवचनेनाविद्यकेनेति प्रतिकूलस्थितिः। **तत्सिद्धेरिति**। उपशान्तत्वसिद्धेः। विरुद्धधर्मासिद्धेः। **प्रत्यवेति**। आरोपापवादीयधर्माणामाविद्यकत्वमित्येवं प्रतिकूलावस्थानं तस्यावकाशः। **अवयवभूतैरिति** जीवैः। अवयवत्वे दृष्टान्ताभावमाहुः **घटसंवृतमिति**। **लयाभाव इति**। स्वांश्यक्षरातिरिक्तलयाभाव एव न. त्वनंशत्वे। **नानेति** अंशत्वसमर्पकाणाम्। **पूर्वमिति**। अत्रैव पूर्वं श्वेताश्वतरश्रुत्युपन्यासेन। **भेदस्येति**। षष्ठ्या भेदस्य। भेदोत्र इवार्थो बोध्यः फलाध्यायत्वात्। भाष्योक्तनिरस्तत्वपदपुरस्कारेणाहुः **अविद्ययेति**। **पक्षस्येति** सोपाधिजीवपक्षस्य। अपिना भाष्योक्त**जीवपुरुषोत्तमाभेदस्य** सङ्ग्रहः। **लक्षणेति** अविद्यारूपभागत्यागलक्षणादोषग्रासेन।

भाष्यप्रकाशः ।

निरस्तत्वात् । ब्रह्मणि प्रदेशानङ्गीकारेण निष्प्रदेशे तस्मिन्नविद्यासम्बन्धाङ्गीकारे सर्वस्य जीवतापत्तेश्च तस्याप्यप्रयोजकत्वात् । विकारप्रतिबिम्बाभासपक्षाणामपि, 'नात्माऽश्रुते'रित्यादिसूत्रविचारे एव निरस्तत्वात् । जीवे ब्रह्मत्वव्यपदेशस्य सुषुप्तिसाक्षिभूतप्राज्ञदृष्टान्तेन गौणतायास्तद्गुणसारत्वाधिकरण एव साधितत्वाच्च । तस्माज्जीवेंशत्वमपि दुरपोहम् । तदेतदुक्तं, स्यादित्यारभ्य निरस्तत्वादित्यन्तेन । तथा च अपरस्य ब्रह्मणो गन्तव्यत्वमविद्यावतश्च गन्तृत्वं विद्याकृतं तदा स्याद्यदि भवदुपदर्शितो ब्रह्मणः परापरविभागो वा जीवस्य सर्वात्मना ब्रह्माभेदो वा श्रुतिस्मृतिसूत्रतात्पर्यगोचरः स्यात्, स एव तु नास्तीति वृथा बादरिमताग्रहाडम्बर इत्यर्थः । ननु न वृथा, ब्रह्मणो व्यापकत्वरूपस्य गन्तव्यताबाधकस्यापरिहृतत्वादित्यत आहुः न चेत्यादि । तथा च प्रतिबन्धकाभावस्य सहकारितायास्त्वयाप्युपगतत्वाद् यत्रैव प्रारब्धरूपस्य प्रतिबन्धकस्य यथा यदाभावः, तत्रैव ब्रह्मप्राप्तिरितिगमनस्य प्रारब्धनिवारणार्थत्वाद् ब्रह्मणो गतत्वेऽपि न गन्तव्यत्वानुपपत्तिरित्यर्थः । ननु भवत्वेवं परब्रह्मणो गन्तव्यत्वानुपपत्तिपरिहारः, तथापि गतिश्रुतीनां पञ्चाग्न्यादिविद्यास्वपि दर्शनात्तासां परविद्याङ्गत्वं नासाधारणम्, अपरविद्यासु च विषयः सगुण एव, अतस्तदुपासने तत्क्रतुन्यायात् सगुणमेव फलं युक्तम्, तथा सति तत्र गन्तव्ये प्रयुक्तं ब्रह्मपदं सामीप्य एव नेतव्यम्, एवं यत्र लोकपदसमभिव्याहृतं ब्रह्मपदम्, तत्रापि लोकविशेषणभूतम्, लोकत्वं च कार्यत्वनियतमिति तत्रापि कार्यस्यैव गन्तव्यता, एवं बहुषु स्थलेषु कार्यत्वे गन्तव्यस्य सिद्धे परविद्यास्वपि तथाङ्गीकार्यमित्याशयेन यत्तैः 'क्वचित् पञ्चाग्निविद्या'-मित्यादिनोक्तम्, तत्रोत्तरमाहुः किञ्चेत्यादि । पञ्चाग्निविद्यादिष्वप्युपास्यरूपाणां प्राकृतगुणरहितत्वमेव । 'शब्द इति चेन्नातः प्रभवा'दित्यत्र वैदिकपदार्थानां सर्वेषामाधिदैविकत्वेन भगवदवयवरूपत्वस्थापनात् । तत एव लोकेष्वपि नित्यत्वम् । एवमन्येष्वप्युपास्यरूपेषु द्रष्टव्यम् । न चापरासु पुरुषयज्ञादिविद्यासु जघन्यफलोक्तिविरोधः । उपासकस्य सगुणत्वेन तस्य जघन्य-

रश्मिः ।

तस्यापीति अविद्यासम्बन्धस्यापि । जीवत्वव्यवहारे अप्रयोजकत्वात् । तादात्म्यरूपाभेदातिरिक्तभेदाभावरूपभेदस्य अयमात्मा ब्रह्मेत्यादौ फले विरुद्धत्वमाहुः **जीवे ब्रह्मत्वेति** । **अपरस्येति** सविशेषस्य । **परीति** । सविशेषब्रह्माङ्गीकारेण परिहृतत्वात् । **एवमिति** । प्रारब्धाभावे सायुज्यमुपाधिनाशे सायुज्यवत् । साधनप्राबल्ये सार्ष्टिरलौकिकसामर्थ्यपदवाच्या । भगवत्सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु च । **गतीति** । स एतान्ब्रह्म गमयतीत्येवंविधानाम् । **पञ्चाग्न्यादीति** । आदिना वैश्वानरविद्या । पर्यङ्कविद्या । **परविद्येति** । चित्तशुद्धिद्वाराङ्गत्वम् । **असाधारणमिति** । किन्तु परेषां शब्द इवास्माकमावृत्तचक्षुराद्यसाधारणम् । वेदान्तविज्ञानेतिश्रुतिः 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छ'न्निति श्रुतिश्चोभयत्र । तत्क्रतुन्यायोऽग्रिमाधिकरणेस्ति । **ब्रह्मपदमिति** । 'स एतान्ब्रह्म गमयती'-त्यत्र ब्रह्मपदम् । **सामीप्य** इति स्वार्थे ष्यञ् । ब्रह्मसमीपब्रह्मकार्ये । **क्वचित्पञ्चाग्निविद्यामित्यादीति** । शङ्कराचार्यमतोपन्यासे उक्तम् । **पञ्चाग्नीति** । आदिना पर्यङ्कविद्या वैश्वानरविद्या च । **प्राकृतगुणेति** । तेन विभूतिरूपाणामप्राकृतत्वं बोधितम् । अत एव 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'-मित्युक्त्वा, 'तमसः परस्ता'दित्यनेनांशेन तमोरूपप्रकृतिपरत्वमुक्तम् । अत एव 'सर्वे जीवाः सर्वे आत्मानो व्युच्चरन्ती'ति पृथगात्मव्युच्चरणोक्तिरुपनिषदि । **लोकेष्विति** । पर्यङ्कस्थे वैश्वानरे च यद्वा तत्तदाविष्टेषु । **अन्येष्विति** । प्रतिमादिषु प्राकृतगुणरहितत्वं द्रष्टव्यम् । **पुरुषयज्ञादीति** । पुरुषविद्या सहस्रशीर्षेति प्रसिद्धा । यज्ञविद्या प्राणाग्निहोत्रोपनिषदि । बहुवचनेन स्मार्तविद्याः पौराणविद्याश्च । **जघन्येति** ।

तत्तारतम्यात् फलतारतम्यम् । यस्तु भगवदनुग्रहेण प्राकृतगुणरहितोऽभूत्, स निर्गुणब्रह्मविद्यावानित्युच्यते । तादृशस्यैव मुक्तिप्रकारद्वयमुक्तम्, सद्योमुक्ति-

भाष्यप्रकाशः ।

फलमेव कामितमिति तदर्थं तत्र तत्कथनात् । एवं परविद्यास्वपि बोध्यम् । अत उपासकाधिकारतारतम्यादेव फलतारतम्यं फलविलम्बश्च । न चोपास्यरूपाणां सर्वेषां निर्गुणत्वे विद्यानामपि तथात्वात् सगुणब्रह्मविद्यावान्निर्गुणब्रह्मविद्यावानिति व्यवहारभेदलोपप्रसङ्गः शङ्कनीयः । **यस्तु भगवदनुग्रहेण प्राकृतगुणरहितोऽभूत्, स निर्गुणब्रह्मविद्यावानित्युच्यते** । यस्तद्भिन्नः, स सगुणविद्यावानित्युपपत्तेः । एवं सति य आद्यः, तादृशस्यैव सद्योमुक्तिक्रममुक्तिभेदभिन्नं प्रकारद्वयम् । तत्र प्रारब्धरहितस्य सद्योमुक्तिप्रकारो 'न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्ती'त्यादिनोच्यते । तद्वतः क्रममुक्तिप्रकारस्तु 'शतं चैका च पुरुषस्य नाड्यः,' 'तेऽर्चिरभिसम्भवन्ती'त्यादिभिः । न च निर्गुणब्रह्मविद्यावतः सर्वस्य प्रारब्धशून्यत्वमिति वक्तुं शक्यम् । तथा सति तस्य शरीरराहित्यप्रसङ्गेन प्रवचनाद्यनुपपत्त्या ज्ञानमार्गोच्छेदापत्तेः । न च चरमवृत्त्यभावाच्छरीरस्थितिरिति युक्तम् । शब्दादपरोक्षवादिनः साक्षात्कारोत्तरं प्रारब्धातिरिक्तस्य वृत्तिचारम्यहेतोर्वक्तुमशक्यत्वात् । अतस्तेनैव गत्युपपत्तिस्तन्निवृत्तिप्रकारबोधनार्थमेव गतिश्रुतिः । अतः परविद्यासु सा प्ररोचनार्था वा, अनुचिन्तनार्था वेति विकल्प्य तद्दूषणमप्यसङ्गतमेव । न च, 'ते ब्रह्मलोके त्वि'ति श्रुति-

रश्मिः ।

यथा अपरब्रह्मोपासनस्य तत्सन्निधौ श्रूयमाणं 'स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ती'ति तथा जघन्यमेव फलं कामितम्, छान्दोग्ये मधुप्रपाठके 'एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः पादोस्य विश्वा भूतानी'ति पुरुषविद्यायां 'पूर्णामप्रवर्तिनीं श्रियं लभते य एवं वेदे'ति जघन्यफलोक्तिः तस्या विरोधः । प्राणाग्निहोत्रोक्तयज्ञविद्याफलं 'यदि एकेनैव जन्मना जन्तुर्मोक्षं प्राप्नुयादिति मोक्षं च प्राप्नुयादिति मोक्षं च प्राप्नुयादिति मार्गत्रये मोक्षो न जघन्य इति विभाव्यते, तदा मधुप्रपाठक एव 'पुरुषो वा व यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातःसवनमि'-त्याद्युक्त्वा 'स ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेदेति य एवं वेदे'ति जघन्यफलोक्तिर्ज्ञेया । **तत्रेति** । अपरासु पुरुषयज्ञादिविद्यासु । **तत्कथनात्** जघन्यफलकथनात् । **परविद्यास्विति** । ब्रह्मविद्यासु 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' 'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीक'मित्यादिषु प्राणाग्निहोत्रोक्तायां च । **फलविलम्ब** इति । 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था' इति श्रुत्युक्तः ब्रह्मलोकवासकृतः । **यस्त्विति** भाष्यं विवरीतुमाहुः **न चोपास्येति** विवृण्वन्ति स्म **यस्त्विति** । **भगवदनुग्रहेणेति** । व्यापारोऽत्र भक्तिस्तया ज्ञानरूपया प्राकृतगुणास्तमोरूपास्तै रहितोऽभूत् । **निर्गुणेति** । बृहदारण्यके अक्षरब्रह्मणोक्तनिर्गुणब्रह्मविद्यावान् । **तद्भिन्न** इति । अनुग्रहेण प्राकृतगुणरहितो भक्तिमानभूत्, स गुणैर्विरुद्धैः सह विद्यमानस्तस्य विद्या सर्वात्मभावादिः तद्वान् । ज्ञानिमात्रप्रकरणं वृत्तम् । **तादृशेति** भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **एवं सतीति** । **न तस्मादिति** भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तत्रेति** । **प्रारब्धरहितस्येति** । सद्योमुक्तिप्रागभावक्षणे ध्वस्तप्रारब्धस्य । **निर्गुणेति** भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **न च निर्गुणेति** । **चरमेति** । प्रारब्धचरमवृत्तिप्रागभावात् । **शब्दादिति** । शाङ्करस्य । **तेनैवेति** प्रारब्धेनैव । **गत्युपपत्तीति** । आश्चर्येणेति बोध्यम् । **श्रुतिरिति** । 'स एतान्ब्रह्म गमयती'ति श्रुतिः । **अत** इत्यादि । आश्चर्यात् । **सेति** । परब्रह्मविषया गतिः । **प्ररोचनार्थेति** । ब्रह्मविदः प्ररोचनार्था । एवेति आश्चर्यविघटकत्वात् 'आश्चर्यो वक्ता कुशलोस्य लब्धे'ति काठकविरोधापत्तेरेवकारः । **ते ब्रह्मेति** भाष्यं विवरीतुमाहुः **न च** **त** इति । **श्रुति-**

क्रममुक्तिभेदेन। 'न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'त्यादिश्रुतिस्तु प्रारब्धरहितविषया। निर्गुणब्रह्मविद्यावतोपि प्रारब्धभोगस्तु त्वयापि वाच्यः, अन्यथा प्रवचनासम्भवेन ज्ञानमार्ग एवोच्छिद्येत। 'ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाल' इति श्रुतिरपि परान्तकाल एव येषां प्रारब्धभोगसमाप्तिस्तद्विषयिणीति मन्तव्यम्। अन्यथा 'वेदान्तविज्ञाने'त्याद्युक्तधर्मविशिष्टानां मुक्तौ विलम्बो नोपपद्येतेति दिक् ॥ १४ ॥

भाष्यप्रकाशः।

व्याकोपः। येषां परान्तकाल एव प्रारब्धभोगसमाप्तिस्तेषामेव तत्र सर्वपदेन परामर्शात्। तत्र सगुणविद्यावत्परामर्शाङ्गीकारे तु तेषां वेदान्तार्थानभिज्ञत्वादविद्यावत्त्वेनाशुद्धसत्त्वत्वाच्च न पूर्वार्धोक्तस्य 'वेदान्तविज्ञाने'त्यादिविशेषणद्वयस्य बाधः स्यात्। अतो यदत्र तैः प्रतिपादितम्, तत् सर्वं श्रुतिविरुद्धत्वादसङ्गतम्। किञ्च। तैरपि क्वचिद्गौणः शब्दो दृष्ट इति नैतावता शब्दप्रमाणकेऽर्थे गौणी कल्पना न्याय्या। सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गादिति। 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशा'दिति सूत्रव्याख्याने यदुक्तम्, तदपि विस्मृतम्। अथवा। ईक्षतिसूत्रावतारणे वेदान्तवाक्येभ्य एव युक्त्याभासवाक्याभासावष्टम्भाः सांख्यादिवादिन उत्तिष्ठन्ते। तत्र पदवाक्यप्रमाणज्ञेनाचार्येण वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मावगतिपरत्वप्रदर्शनाय वाक्याभासयुक्त्याभासप्रतिपत्तयः पूर्वपक्षीकृत्य निराक्रियन्त' इति कथनाल्लक्षणां विरहय्य वेदान्तव्याख्यानमाचार्यस्यैव संमतम्, नास्माकमिति बोधितमिति प्रभुचरणैर्दिक्पदप्रयोगेण ज्ञापितम् ॥ १४ ॥

रश्मिः।

व्याकोप इति। फलविलम्ब उपपत्त्यर्थं प्ररोचनार्था वा अनुचिन्तनार्था वा गतिरित्यत्र दूषणं स्वास्थ्यस्य स्वस्थचित्तताया विद्यासमर्पितेनैवाव्यवहितेन स्वसंवेद्येन सिद्धेर्न प्ररोचनार्था स्वास्थ्यसहितपरब्रह्मविषयगतिः। नाप्यनुचिन्तनार्था। नित्यसिद्धज्ञानस्य कृत्यजन्यत्वात्कृतिरूपानुचिन्तनस्यापेक्षाया अभावादिति। तद्दूषणं ते ब्रह्मलोके त्वित्यंशस्यार्थवादत्वेन स्वार्थे अप्रामाण्यादुक्तम्। इति मन्वानैः श्रुतिव्याकोप उक्तः। कार्यात्ययसूत्रे तु क्रममुक्तौ विलम्ब्य गतिरविलम्ब्य गतिरित्युभया गती विवृण्वन्ति स्म **येषां परे**ति। तत्रेति वेदान्तविज्ञानश्रुतौ। **सगुणे**ति। अत्र सगुणपदं मायोपाधिकब्रह्मपरम्। न तु विरुद्धधर्माधारपरम्। **वेदान्तार्थानभी**ति। वेदान्तार्थ आचार्यप्रतिपन्नो ग्राह्यः। **अत** इति। पूर्वोक्तरीतेः। **अत्रे**ति 'न कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धि'रिति सूत्रेण सह दर्शनसूत्रे। **तैः** शङ्कराचार्यैः। दिक्पदोपसन्धानेन गच्छतोऽग्रिमावस्थानिरूपणे परब्रह्मविषया गतिर्या तत्र सर्वत्र गौणीति स्वोक्तं विस्मृतमिति गौण्या व्याख्यानेऽस्मदुक्तं दिङ्मात्रमित्याशयेनाहुः **किञ्चे**ति। **तैरपि** शङ्कराचार्यैरपि। यदुक्तमित्यनेन संबध्यते। **क्वचि**दिति। सोमेन यजेतेत्यादौ **गौणः शब्दः** सोमेनेति। सोमवतेत्यर्थाद् **दृष्टः**। **गौणी**ति। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूत' इत्यत्र 'यतो वा इमानि भूता'नीत्यत्रात्मशब्दे गौणी यत इति शब्दे च गौणी तस्याः कल्पना अन्याय्या। **विस्मृत**मिति। 'तन्निष्ठ'स्येतिसूत्रोक्ते मुख्ये फल आत्मनि गतिर्गौणीति वदद्भिर्विस्मृतमित्यर्थः। अतो दिङ्मात्रमत्रोक्तं दूषणमिति भावः। **आचार्येणे**ति। भगवता व्यासेन। **वाक्याभासे**ति। निराक्रियन्त इति मुख्यक्रियापेक्षया प्रथमान्तं पदम्। कर्मण उक्तत्वात्प्रथमाबहुवचनम्। **आचार्यस्य** व्यासस्य **नास्माकं** शाङ्कराणाम्। तेन गच्छतः अग्रिमावस्था गौणीति परब्रह्मणा सर्वकामभोगेच्छवः कान्दिशीकाः तान्प्रति दिगेषा। अनया दिशा नित्यसर्वकामभोगः ब्रह्मप्राप्तेरग्रिमावस्थारूपायाः गच्छतो मुख्येति। तेन

'तस्मादस्माभिरेवोक्तपद्धत्या श्रुतिसिद्धया।
ज्ञात्वा ब्रह्मस्वरूपं तत्प्राप्त्यै तद्भजताखिलाः' ॥ १ ॥ इति सिद्धम् ॥ १४ ॥

न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ॥ १५ ॥

अपि च। 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति सङ्क्षेपेणोक्त्वा, 'तदेषाभ्युक्तेति' तद्विवरिकां ऋचं प्रस्तुत्य, सोक्ता, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां

भाष्यप्रकाशः।

न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ॥ १५ ॥ एवं प्रासङ्गिकमतान्तरपरिहारेण जैमिनिमतस्यैव सिद्धान्तत्वमिति दृढीकृत्य प्रकृतं सूत्रं पठित्वा व्याचक्षते अपि चेत्यादि। **सोक्ते**ति। ऋगुक्ता। उपक्रमानुरोधेनेति। 'आप्नोति पर'मित्युपक्रमानुरोधेन। तथा च 'ब्रह्म गमयती'त्यत्र परब्रह्म प्रापयतीत्येवार्थः। यतः परब्रह्मप्राप्तिमेव परमफलत्वेन 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यत्र श्रावयित्वा, 'सत्यं ज्ञान'मिति तद्विवरणर्चि परेण ब्रह्मणा सह सर्वकामभोगलक्षणा प्रतिपत्तिरुच्यते इति। अतो हेतोः कार्यरूपे वस्तुमात्रे प्रतिपत्तिः। 'पद गतौ', पदनं पत्तिः, संसारगतिप्रतिकूलापत्तिः। गतिर्न क्वापि कार्ये श्रुतेरभिप्रेता, 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्य' इत्यत्रापि पूर्वं 'अश्व इवे'ति मन्त्रे ब्रह्मलोकस्याकृतत्वं श्रावयित्वा, 'आकाशो वै नामे'त्यत्र 'तद् ब्रह्म तदमृतं स आत्मे'ति नित्यस्यैव ब्रह्मणः श्रावणात्। पूर्वकाण्डेपि, 'यन्न दुःखेन सम्भिन्न'मित्यत्रात्मसुखस्यैव स्वर्गत्वेन श्रावणात्। अतोऽत्रापि ब्रह्मपदेनाक्षरं परब्रह्मैव गन्तव्यत्वेनोच्यत इत्यर्थः। इदमेव च मतं व्यासचरणानां सिद्धान्तीयत्वेनाभिप्रेतम्। एतदव्यवहितमेवाप्रतीकालम्बननयनविचारात्। अन्यथा तु वैपरीत्येन मतद्वयमुक्त्वा तत्र नयनं विचारयेदिति।

अन्ये तु। 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये, यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञा'मिति छान्दोग्यसमाप्तिस्थां श्रुतिमुदाहृत्य, नायं कार्यविषयः प्रतिपत्त्यभिसन्धिः सम्प्राप्तिसङ्कल्पः, 'आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिते'ति परब्रह्मण एव प्रकृतत्वात्, 'यशोहं भवामी'ति सर्वात्मत्वानुक्रमणात्, 'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यश' इति ब्रह्मनामनिर्देशाच्चेति व्याकुर्वन्ति।

भास्कराचार्यास्तु 'सगुणब्रह्मविद्याविषयैव गतिर्निर्गुणब्रह्मविदो गतिर्नोपपद्यते, परस्य सर्वगतत्वेन प्राप्तत्वात्; न हि गतविषया गतिरुपपद्यत' इत्येवं शाङ्करं मतमनूद्य, तदेवं दूषयन्ति। तथाहि। यदि निर्गुणविद्यासु गतिरनुपपन्ना, तर्हि सगुणास्वप्यनुपपत्तिस्तुल्या। तत्रापि सर्वगतस्यैव ब्रह्मण उपास्यत्वात् सर्वगतगुणानामाकाशीयपरममहत्परिमाणपृथक्त्वादिवत् सर्वगतत्वात्। किञ्च, अपहतपाप्मत्वादयः संसारविनिवृत्तिहेतवो यस्य गुणाः, स परमात्मेत्युच्यते, यस्यैते न सन्ति स संसारीति तद्भिन्नस्य परमात्मनः पराभिन्नत्वात्। अथ सत्त्वादिगुण-

रश्मिः।

न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ॥ १५ ॥ प्रतिपत्तिरिति। सर्वकामभोगलक्षणा। योगमाहुः **पद गतावि**ति धातुपाठे। संसारगतिप्रतिकूलापत्तिर्गतिर्ब्रह्मणा सह सर्वकामभोगलक्षणा। **अत्रापी**ति। 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यत्रेवात्र 'स एतान्ब्रह्म गमयती'त्यत्रापि। **अन्ये त्वि**ति। एकदेशविकृतन्यायेनान्यपदेन अन्याचार्योपादानम्। एवमन्यत्रापि। **यशोह**मिति। अशुङ् व्याप्तौ। अश्नुत इति यशः। अशो युड्वेति युट् असुन्प्रत्ययश्च। व्यापकोहं भवामीति सर्वात्मभावः। एवं राज्ञां च मध्ये यशो भवामीति। ब्रह्मक्षत्रविशां सर्वात्मभावः। **सम्प्राप्तिसङ्कल्प** इति। सङ्कल्पेन लेडादिप्रयोगो नियतः, आधुनिकसङ्कल्पे तथा दर्शनादिति। **परब्रह्मण** इति। आकाशस्तल्लिङ्गादिति सूत्रे आकाशपदस्य ब्रह्मणि शक्त्युक्तेः। **महद्यश** इति यशो व्यापकम्। भास्कराचार्यमते अत्रैकदेशविकृतत्वाभावात्पृथक् तन्मतमनुवदन्ति स्म **भास्कराचार्यास्त्वि**ति। भेदाभेदवादिनः। **तद्भि-**

परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति। अत्रोपक्रमानुरोधेन परेणैव ब्रह्मणा सह सर्वकामभोगलक्षणा प्रतिपत्तिरुच्यत इति

भाष्यप्रकाशः।

योगादमी गुणा आरोपिताः, न तु स्वाभाविकाः, तदापि तद्वत्तयोपास्यमानं सगुणं ब्रह्म तु नाब्रह्म भवति। न ह्यारोपितलौहित्यगुणयोगे स्फटिकोऽस्फटिको भवति। न वा स्वाभाविकस्य प्रकाशस्य प्रत्याख्यानेऽग्निरनग्निर्भवति। न वा द्रव्यप्रत्याख्याने गुणो नास्ति। वस्तुन उभयात्मकत्वात्। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म,' 'आनन्दो ब्रह्मे'ति श्रुतेः। शतगुणितोत्तरक्रमेणानन्दप्रतिपादनात्। यदि चैतन्यमात्रं ब्रह्म, तदा आनन्दगुणोपदेशोनर्थकः स्यात्। न चाकस्मादर्थवादत्वकल्पना युक्ता। यथाश्रुतग्रहणेऽनुपपत्त्यभावात्। अस्थूलादिश्रुतिस्तु प्रपञ्चनिराकरणपरा। 'स एको ब्रह्मण आनन्द' इति त्वसाधारणो गुणोत्कर्षोपकर्षरहितो व्यपदिष्ट इति। यदि च श्रुतं नाद्रियते, तदा अपवर्गोऽप्यर्थवादः किं न भवति। अत एव सर्वशक्तित्वं स्रष्टृत्वमित्यादयः परस्यासाधारणा गुणा न केनचित् प्रतिषेद्धुं शक्यन्ते। गुणकृतं कार्यकृतं च नानात्वं यद्दर्शितम्, तदस्माकं न दोषाय, प्रत्युतालङ्काराय। भिन्नाभिन्नात्मकवस्तुरूपोपगमात्। अतः सगुणनिर्गुणयोर्भेदस्यानुपपन्नत्वाद् ब्रह्मैकमेवेति सगुणविद्यावतोपि गतिरनुपपन्ना। तस्यापि तद्भावापत्तेः। न हि प्राप्तमेव प्राप्तव्यं भवतीति त्वदुक्तेनैव हेतुना गतिश्रुतयो रूपे प्रवेशयितव्याः। किञ्च। संसारिणोपि स्वरूपतो गतिर्नोपपद्यते। तस्यापि लिङ्गशरीरगमनादेव गमनात्।

ननु संसारी जीवो नाम परमात्मन आभास इति तस्य परिच्छिन्नत्वात् गतिरुपपद्यत इति चेत्। कोयमाभासो नाम। किं वस्तुभूतोऽथावस्तुभूतः। यदि तावदवस्तुभूतः, तदा तस्य स्वर्गापवर्गयोरधिकाराभावः, शशविषाणवत्। अथ वस्तुभूतः सर्वगतश्चेत्यभावः। अणुपरिमाणत्वं मध्यमपरिमाणत्वं च भवता नेष्यते। यच्चाणुत्वं तदौपचारिकमिति लिङ्गगमनादेव गमनं पूर्वोक्तमभ्युपगन्तव्यम्। नचास्माभिरियं गतिः कल्पिता। श्रुतयोऽत्र प्रमाणम्। परविद्यासु च गतयो लभ्यन्ते। 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्त' इति। 'तद्येह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। त एव पुनरावर्तन्ते तथोत्तरेण

रश्मिः।

अस्येति संसारिभिन्नस्य। **तद्वत्तयेति**। आरोपितगुणवत्तया। **प्रत्याख्यान** इति। भस्मादिना प्रतिकूलाख्याने। नास्तिकमतेनाहुः **न वेति**। ते हि गुणातिरिक्तं द्रव्यं नेच्छन्ति। तदपि प्रतिषेधन्ति स्म **वस्तुन** इति। उभयगुणद्रव्यं तदात्मकत्वात्। **विज्ञानमिति**। विज्ञानमानन्दौ गुणौ तद्वती द्रव्ये। 'विज्ञानमानन्द'मित्यत्रार्शे आद्यच्। **तस्यापीति**। सगुणविद्यावतोपि सगुणभावापत्तेः, आपत्तिः प्रतिपत्तिः। **त्वदुक्तेनेति**। व्यापकत्वेन। **किं वस्त्विति**। अयथाभूत इति पदच्छेदः। **तस्येति**। जीवस्य। **अभाव** इति। अत्यन्ताभावः। **भवतेति**। शाङ्करेण। **औपचारिकमिति**। 'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोपि दृष्ट' इति। **पूर्वोक्तमिति**। जीवगमनम्। **भवतां** भास्कराणां जीवव्यापकत्वादयं दोष इति तत्राहुः **न चास्माभिरिति**। श्रुतिप्रमाणवादिभिः। **श्रुतय** इति। एकप्रमाणत्वावच्छिन्नाभिन्नबहुत्वावच्छिन्नाः श्रुतय इत्यर्थः। **उत्तरेणेति**। उत्तरायणेन।

कार्यरूपे वस्तुमात्रे प्रतिपत्तिर्न क्वापि श्रुतेरभिप्रेता, अतोऽत्रापि परमेव ब्रह्मपदेनोच्यते। ऋगर्थस्त्वानन्दमयाधिकरणे प्रपञ्चित इति नात्रोक्तः॥ १५॥

॥ इति चतुर्थाध्याये तृतीयपादे तृतीयं कार्यं बादरिरित्यधिकरणम्॥ ३॥

भाष्यप्रकाशः।

तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते, एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत् परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त' इति प्रश्ने, मुण्डके च, 'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ती'ति। कठवल्लीषु च परविद्याप्रकरणे, 'शतं चैका च हृदयस्य नाड्य' इति। परविद्यायामेव चैतरेयके श्रूयते 'अस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभव'दिति। एवं तत्र तत्र गीतासु चावृत्त्यनावृत्ती विभागेनोक्ते। 'अमृतत्वं हि भेजिर' इति पुराणेषु च। ननु गतिश्रुतौ वाजसनेयके 'इहे'ति विशेषणादिह कल्पेनावृत्तिः कल्पान्तरेऽस्यावृत्तिरिति चेत्। न। 'श्वोभूत' इतिवदनुवादात्। 'यथा राजसूये ब्रह्मणो ग्रहे महिष्या ग्रह' इत्येवमादिना 'द्वादश हवींषि प्रत्येकं कर्तव्यानीति विधाय श्वोभूते निर्वपे'दित्युक्तम्। तत्रैकस्मिन् कृते पुनरपि श्वोभूत इत्युपतिष्ठते तद्वत्। 'इह कल्प इह कल्प' इति सर्वकल्पव्याप्तिराकृतिनिर्देशात्। अपि चेह युगे वान्तरे कल्पे अन्यस्मिन् वेत्यनध्यवसानाद् आकृतिवादो युक्तः। अर्थवादसमाम्नातानां ग्रहैकत्ववद् वाक्यभेदात् पदानावृत्तिर्विधीयते, युगपत् सर्वकल्पानावृत्तिरेवावतिष्ठते। तत्रास्मिन्नेव कल्पे न कल्पान्तर इति अपरस्मिन्नर्थे विधीयमाने वाक्यभेदो दुर्निवारः। यथा ग्रहं सम्मार्ष्टीति सम्मार्गे विधीयमाने सर्वग्रहेषु प्राप्तिः। तत्रैकस्येति पुनर्विधीयमाने वाक्यभेदः, तद्वदत्रापि अनावृत्तिर्न विधीयते। तदानीमिहेति पदं किंविशेषणं स्यात्। तस्मादिहपदमनुवादः। अत एव काण्वानामिहपदं न पठ्यते। तस्मादर्चिरादिना गत्वा परमात्मनि लिङ्गप्रलयो न प्रागिति श्रुतिसामर्थ्यान्निश्चीयते। विद्याकर्माक्षिप्ता च गतिः संसारतरणी युज्यते। सत्यलोकमतिक्रम्य कारणे ब्रह्मणि सूक्ष्मशरीरस्य कारणात्मना विलयः। तथा

रश्मिः।

अर्चिरादिमार्गेणेति वा। **अन्विष्येति** ल्यबन्तम्। **प्रश्न** इति। प्रश्नोपनिषदि। **विभागेनेति**। धूममार्गार्चिरादिमार्गविभागेन। **अस्येति**। जीवस्य। भाष्यत्वाच्छ्वोभूत **इतिवत्** पदं व्याख्यायते। **यथा राजेति**। **ग्रह** इति। पात्रविशेषे। **तत्रेति**। निर्वपेदित्युक्ते। **तद्वदिति**। **कल्पान्तरेऽस्यानावृत्तिरित्यनुवादेनोपस्थितिः**, न तु कल्पान्तरेऽस्यावृत्तिरित्यननुवादेन। **आकृतीति**। आकृतौ शक्तेः इहेत्यस्य श्रौतस्यैकत्र शक्तेरनुवादः, नत्वननूदितस्य कल्पान्तरेऽस्यानावृत्तिरित्यस्य समर्पकत्वम्। **आकृतिवाद** इति। एकत्राकृतौ शक्तिं गृहीत्वान्यत्रानुवाद इति वादः। **अर्थवादसमाम्नायेति**। अर्थवादसम्भवादिति भास्करभाष्ये पाठः। अर्थवादभूतवेदेन ग्रहैकत्वं यथा। **पदानावृत्तिरिति**। कल्पान्तरेऽस्यावृत्तिरित्यत्र। **सर्वकल्पेति**। सर्वकल्पेष्वनावृत्तिः सर्वकल्पानावृत्तिः। **वाक्यभेद** इति। इह कल्पेऽनावृत्तिर्भवति, कल्पान्तरेऽस्यावृत्तिर्भवतीति वाक्ययोर्भेदः 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्या'दिति मीमांसकोक्तवाक्यभेदः। 'एकतिङ्वाक्य'मिति वैयाकरणाः। **सम्मार्ग** इति। सम्मार्गे सम्मार्जने परसवर्णः। **तत्रेति**। सर्वेषु ग्रहेषु। **अनुवाद** इति अनुवादार्थम्। **विद्या-**

१. विधीयमाने हविरन्तरे। २. अन्यस्मिन्नपि कल्पे विधीयमानावृत्तौ सोपि कल्पोवतिष्ठत इत्यर्थः। ३. कल्पत्वरूपजातिनिर्देशादित्यर्थः। ४. विधेयविशेषणत्वाभावेन तव मतेनूद्य विशेषणं स्यात्। तथा चानूद्य गतसङ्ख्यायाः प्रविवक्षितत्वेन सर्वकल्पानामेव प्राप्तिरित्यर्थः।

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा दोषात् तत्क्रतुश्च ॥ १६ ॥ (४-३-४)

क्रममुक्त्यधिकारिणः प्रारब्धं भुक्त्वाऽमानवेन पुरुषेण प्रापिताः परमेव ब्रह्म प्राप्नुवन्तीति सिद्धम् । तत्रेदं सन्दिह्यते अर्चिरादिलोकप्राप्तिर्ह्युपासनाविशेषफलम् । एवं सत्यमानवः पुरुषस्तान् सर्वान् ब्रह्म प्रापयति, उत कांश्चिदेवेति । किमत्र युक्तम्, सर्वानेवेति । यतोर्चिरादिमार्गगतानामन्ते ब्रह्मप्रापणार्थमेव स नियुक्तः, ततोऽन्यथाकरणे हेत्वभावात्तथैव स कर्तेति प्राप्ते, उच्यते । श्रुतौ ब्रह्मत्वेनैव सर्वत्रोपासनाया उक्तत्वादुपास्येषु भगवद्विभूतिरूपत्वेन शुद्धब्रह्मरूपेष्वप्यतथात्वं ज्ञात्वा श्रुतिर्ब्रह्मत्वेनोपासनायाः फलसाधनत्वं वदति, न तूपास्ये ब्रह्मतामपीति मन्वाना य उपासते, ते प्रतीकालम्बना इत्युच्यन्ते । तथा च सत्यपि वेदविहितत्वेनोपासनायाः कृतत्वेन सफलत्वात् तत्फलत्वेनोपासकानामर्चिरादिलोकप्राप्तावपि तान् अमानवः पुरुषो ब्रह्म न प्रापयति, किन्तु शुद्धब्रह्मत्वं ज्ञात्वा य उपासते, तानेव ब्रह्म प्रापयतीति बादरायण आचार्यो मन्यते । तत्र हेतुमाह उभयथा दोषादिति । वस्तुतो यद् ब्रह्मरूपम्, तत्राब्रह्मत्वनिश्चयः, उपासनार्थं च ब्रह्मत्वेन भावनम्, एवमुभयथाकरणे दोषः सम्पद्यत इति तस्य न ब्रह्मप्राप्तावधिकारोस्तीति युक्तं तदनयनमित्यर्थः । तथा च श्रुतिः । 'असन्नेव स भवति, असद् ब्रह्मेति वेद चे'दिति, 'योन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते, किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणे'ति । एवं ज्ञानमार्गीयव्यवस्था-

भाष्यप्रकाशः ।

चाह, 'परेव्यये सर्व एकीभवन्ती'ति । 'पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं यन्ती'ति । यदुक्तं ब्रह्मलोकेष्विति बहुवचनं नावकल्पत इति । तत्रोयं ब्रह्मणि सङ्ख्याभावाच्च । एकत्वे बहुत्वं च पाशबहुत्ववदेव द्रष्टव्यम् । 'अदितिः पाशान् प्रमुमोक्त्वे ता'निति । तत्रैकस्मिन् पाशे बहुवचनं साधुत्वार्थं प्रयुज्यते । विभक्तेर्हि द्वावर्थौ, सङ्ख्या कर्मादयश्च । तत्राविवक्षितायामपि सङ्ख्यायां सप्तमी निमित्तमात्रविवक्षयावकल्पते । ब्रह्म सर्वभोगनिमित्तं सर्वप्रपञ्चनिमित्तमिति निमित्तसप्तम्येवेत्यदोष इति ।

एवं भास्कराचार्यमतेपि भोगजनकप्रारब्धेनैव गमनम् । ब्रह्मणि भोगस्तु ब्रह्मेच्छयैवेति फलति । तेन सिद्धान्तवदेवार्थः । गन्तृविचारे तु तन्मते जीवस्य व्यापकत्वादुपाधिगमनादेव गमनमिति भेदः ॥ १५ ॥ इति तृतीयं कार्यं बादरिरित्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा दोषात् तत्क्रतुश्च ॥ १६ ॥ पूर्वाधिकरणसिद्धमनुवदन्तः प्रस्तूयमानमवतारयन्ति क्रमेत्यादि । तत्रेति । सिद्धे परप्राप्तिरूपेर्थे । सर्वानिति । तदुपासनावतः । पूर्वपक्षग्रन्थः स्पष्टः । सिद्धान्तं व्युत्पादयन्तः सूत्रं व्याकुर्वन्ति उच्यत इत्यादि । अतथात्वं ज्ञात्वेत्यस्यैवार्थः श्रुतिर्ब्रह्मत्वेनेत्यारभ्य, मन्वाना इत्यन्तम् । तथा चातस्मिंस्तत्त्वेनोपासनं प्रतीकमिति पूर्वं 'न प्रतीके' इति सूत्रे उक्तम्, अतो ये तथोपासते ते तथा, तथा च सत्यपीति, प्रतीकालम्बनत्वे तेषां सत्यपि । तथा च यथा पूर्वकाण्डतात्पर्यं ब्रह्मणीत्यज्ञात्वा कर्मण्येव तात्पर्यमवधार्य तात्पर्यभ्रमेण यजतां स्वर्गाद्यनन्तरं पुनरावृत्तिः, तथा अत्रापि प्रतीकालम्बनानां तात्पर्यभ्रमेण तथोपासनात्तल्लोकभोगोत्तरमावृत्तिः, अथवा कार्यात्ययावधि तत्र वासः, न तु विद्याबलात् ततः पूर्वं मुक्तिरिति भगवत आचार्यस्याशय इत्यर्थः । हेतुं व्याकुर्वन्ति वस्तुत इत्यादि । एतयोर्दोषत्वे मानत्वेन यथायथं श्रुतिद्वयमुदाहरन्ति तथा चेत्यादि । तेनात्रैतावेव दोषावभिप्रेतावित्यर्थः । सूत्रशेषं व्याकर्तुमवतारयन्ति एवं ज्ञानेत्यादि । व्याकुर्वन्ति सर्वमित्यादि । अस्मिन् पक्षे लकारार्थव्यत्यय

रश्मिः ।

कर्मेति । पूर्वकाण्डेपि ग्रन्थकरणात्कर्मेति । आहेति श्रुतिराह । पाशबहुत्ववदिति । अदितिः पाशानिति वक्ष्यमाणपाशबहुत्वं तद्वत् । विभक्तेरिति । स्वादेः जातिव्यक्ती इति द्वावर्थौ । सङ्ख्येति । पञ्चकं प्रातिपदिकार्थः । द्रव्यजातिसङ्ख्यापरिमाणकारकाणि । तत्रेति । ब्रह्मलोकेष्वित्यत्र । अदोष इति । लोकेष्विति बहुवचनप्रयोगादोषः । ब्रह्मेच्छयैवेति । तन्मते भास्कराचार्यमते । भेद इति सिद्धान्ताद्भेदः ॥ १५ ॥ इति तृतीयं कार्यं बादरिरित्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा दोषात् तत्क्रतुश्च ॥ १६ ॥ मन्वाना इत्यन्तमिति । ननु ज्ञात्वेति भावप्रत्ययान्तं मन्वाना इति कर्तृप्रत्ययान्तमिति कथमतथात्वं ज्ञात्वेत्यस्यैवार्थ इति चेत्प्रकृत्यर्थपर्यन्तमिति अर्थपदात्पूर्वं पूरणीयम् । मन्वाना इत्यत्र ज्ञानानुकूलव्यापारवन्त इति प्रकृत्यर्थो ज्ञानम् । तथा चेत्यादि । षडङ्गवेदस्य ज्ञेयत्वेन छन्दोवत्सूत्राणि भवन्तीत्यभियुक्तोक्तेः सूत्रेष्वपि षडङ्गैरभिधेयनिर्णयादप्रतिकूलस्मरणालम्बनानित्यर्थो भवति । इण्किकावध्युपसर्गं न व्यभिचरत इत्यस्य छन्दसि विकल्पः । पुराणमते तु वक्ष्यमाणगारुडवाक्याद्देवतादीनित्यर्थो भवति । तथा च श्रौते मते प्रतिकूलत्वं भ्रमविषयत्वमतस्मिंस्तत्त्वेनोप समीपे स्थित्वा यथायोग्यान्तर्गतस्मरणस्य करणमित्यर्थः । एकादशसुबोधिन्यां 'उप समीपे स्थित्वा यथायोग्यकरणमुपासन'मित्युक्तम् । तथेति । अप्रतीकालम्बना इत्युच्यन्त इत्यर्थः । तेषामिति । उपासकानाम् । पूर्वकाण्डेत्यादि । ब्रह्मणीति हरौ । अक्षर इति यावत् । 'वेदे रामायणे चैवे'त्युपक्रम्य 'हरिः सर्वत्र गीयत' इति वाक्यात् । 'अक्षरं ब्रह्म परमं वेदानां स्थानमुत्तम'मिति वाक्याच्च । महानारायणे 'वह्निशिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः स हरिः सेन्द्रः सोक्षरः परमः स्वरा'डिति श्रुतेः । तथाप्यत्राभिधावृत्तिः, न तात्पर्यमिति ब्रह्मणीत्यस्य स्वःपदास्पदे आत्मसुख इत्यर्थः । स्वर्गपदस्य लोके शक्तिः । स्वःपदास्पदे तात्पर्यमिति । तेन हिरण्यगर्भमोक्षरूपे ब्रह्मणीति जैमिनिमते मोक्षः फलं स्मारितम् । किं च । भक्तेस्तात्पर्यविषयत्वस्य पुरस्तादुक्तत्वेन तद्विषयस्यापि तात्पर्यविषयत्वम् । 'धर्मो यस्यां मदात्मक' इत्येकादशस्कन्धात् । अभिधा तु हीदमित्थतया धर्मेषु यागसृष्ट्यादिकर्तृत्वेषु न मदात्मके धर्मे इति । कर्मण्येवेति 'कर्मैके तत्र दर्शना'दिति जैमिनिसूत्रे एक इति पदात् कर्मण्येव यागादौ साध्ये तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वरूपं तात्पर्यमवधार्येत्यर्थः । कर्मपदं स्वसाध्ये स्वर्गे लाक्षणिकम्, फलभ्रमेण । स्वर्गादीत्यादिना वृष्टिप्रतिष्ठादि । तथोपासनादिति । प्रतीकत्वेनोपासनात् । तत्रेति । ब्रह्मलोके । तत इति । ब्रह्मलोकवासात्पूर्वम् । आचार्यस्येति । व्यासस्य । तेनेति । श्रुतिबलेन श्रुतिद्वयेन वा । अवतारयन्तीति । न्यूनतारूपनिग्रहस्थानरूपदोषाभावाय तथेत्यर्थः । तेन तत्क्रतुर्विद्या च नयतीति योजना नोक्ता । सर्वमित्यादीति । तस्येति भक्तस्य । एतदिति ।

मुक्त्वा भक्तिमार्गीयस्यापि तामाह तत्क्रतुश्चेति । 'सर्वं मद्भक्तियोगेने'ति वाक्यान्न तस्योपासनापेक्षेति न प्रतीकादिसम्भावना । तत्र 'कथञ्चित् यदि वाञ्छती'ति वाक्यादिच्छामात्रेण तद्भोगकरणानन्तरं प्राचीनभगवद्भजनलक्षणक्रतुश्च नीयत इत्यर्थः । वस्तुतस्तु भक्तस्यामानवपुमपेक्षाभावात् स्वयमेव ब्रह्मलोकान् प्राप्नोतीति ज्ञापनाय प्रथमान्त उक्तः । ननु ब्रह्मणोधिकं न किञ्चिदस्ति । 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यत' इति श्रुतेः । एवं सति छान्दोग्ये सनत्कुमारनारदसंवादे 'स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते' इत्यादिना नामवाङ्मनःसङ्कल्पचित्तध्यानविज्ञानादीनां ब्रह्मत्वेनोपासनमुत्तरोत्तरं पूर्वस्मात् पूर्वस्माद् भूयस्त्वं चोच्यते । अतो न ब्रह्मत्वं सर्वेषामुपास्यानां वक्तुं शक्यमिति चेत् । मैवम् । विभूतिरूपाणां नियतफलदातृत्वाद् येन रूपेणाल्पफलदानम्, तत्राधिकगुणप्राकट्ये प्रयोजनाभावात् तावन्मात्रगुणप्रकटनम्, येन रूपेण ततोधिकफलदानम्, तत्र ततोधिकगुणप्रकटनमिति पूर्वस्मादाधिक्यमुच्यते । एवमेव सर्वत्र । नियतफलदानं तु स्वतन्त्रेच्छत्वाल्लीलारूपमिति नानुपपन्नं किञ्चित् । प्रतिमादिष्वावाहनेन सन्निहिते विभूतिरूपे तद्भावनं पूजामार्गे । भक्तिमार्गे तु भक्त्या तत्र प्रकटे तथा । गुरौ तु, 'शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मणी'ति विशेषणवत्त्वेन भगवदावेशात् तत्र तद्भावनमिति सर्वमवदातम् । अपि च बादरिजैमिनिमतोक्त्यनन्तरं स्वमतोक्त्या तत्समानविषयत्वमत्रापीत्यवगम्यते । तत्र च कार्यब्रह्मलोकप्राप्तिपरब्रह्मप्राप्तिविषयत्वमुक्तं पूर्वोत्तरपक्षभेदेन । बादरिमते सविशेषस्यैवोपास्यत्वाद्विशेषाणां चाविद्यकत्वादुपासनानां सर्वासां प्रतीकतद्रूपत्वमेव सिध्यति । एवं सति 'अप्रतीकालम्बनान्नयती'ति वदता व्यासेन बादरिमतानुसारिण उपासकस्य न कस्यापि ब्रह्मप्राप्तिरिति ज्ञाप्यते । वस्तुतस्तूपासनायामुपास्यस्वरूपज्ञानस्याप्यङ्गत्वात्तन्मतीयानामुक्तरीत्या तदभावेन निरङ्गत्वादर्चिरादिप्राप्तिरपि न सम्भवति, किं पुनर्ब्रह्मण इति निगूढाशयो व्यासस्य । एवं सति परप्राप्तावेवोपोद्बलकमुक्तं भवतीति सैव व्यासाभिमतेति सिद्धम् । ये तु प्रतीकेष्वब्रह्मक्रतुत्वं वदन्तः पञ्चाग्निविद्यायास्तथात्वेपि वचनबलात्तद्वतो ब्रह्मप्राप्तिरिति वदन्ति, तत्रेदमुच्यते । वचनं तु वस्तुसतः पदार्थस्य बोधकम्, न तु कारकम्, अतस्तथैव बोधयति तथा

भाष्यप्रकाशः ।

इत्यरुच्या प्रकारान्तरमाहुः वस्तुत इत्यादि । तथा च सूत्रे नयतीति कर्तरि लट्प्रयोगात् तत्क्रतुरिति प्रथमान्तप्रयोगाच्चैवं ज्ञायते । यो ब्रह्मत्वेनाङ्गोपासनकर्ता, स तत्क्रतुर्भक्तः सन् स्वयमेव स्वात्मानं भक्तिबलेन नयतीति न प्रयोगव्यत्ययोपीति । एतेन निबन्धे, 'सूर्यादिरूपधृग्ब्रह्म'-स्यस्य प्रकाशे भक्तिद्वारा ज्ञानाङ्गत्वं यदङ्गोपासनस्योक्तम्, तत्समर्थितं ज्ञेयम् । उपास्यरूपाणामसत्त्वेन ज्ञानस्य तेष्वब्रह्मज्ञानस्य च यद्दोषत्वमुक्तम्, तत्र शङ्कते ननु ब्रह्मण इत्यादि । अतो न ब्रह्मत्वं सर्वेषामुपास्यानामिति । न्यूनत्वरूपाद् बाधकाद् न ब्रह्मत्वं भूमव्यतिरिक्तानामुपास्यानाम् । तथा च तेषां ब्रह्मत्वस्य बाधितत्वात्तेष्वसत्त्वाब्रह्मत्वज्ञानयोर्न दोषत्वमिति पूर्वोक्तः सूत्रार्थोऽसङ्गत इत्यर्थः । तत्र समादधते मैवमित्यादि । तथा च 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मिति श्रुत्या ब्रह्मणोऽनन्तरूपत्वान्नामादिषु रूपेषु लीलार्थमिच्छया न्यूनाधिकगुणप्राकट्येन न्यूनाधिकभावेपि ब्रह्माभिन्नत्वाद् ब्रह्मणश्चैकत्वात्तै रूपैर्न ब्रह्मणः समाभ्यधिकराहित्यहानिः, यथा विस्फुलिङ्गानां न्यूनाधिकभावेन नाग्नेः, यथा च विस्फुलिङ्गानां तथात्वेपि तेषां नाग्नित्वहानिः, तथेति तेषां ब्रह्मत्वानपायात्तेष्वसत्त्वाब्रह्मत्वज्ञानयोर्दोषत्वमक्षुण्णमिति पूर्वोक्तं सूत्रव्याख्यानं साध्वेवेत्यर्थः । ननु तेषु किमिति ब्रह्मरूपत्वाग्रहः क्रियते, यथा प्रतिमायां शालग्रामे गुरौ च देवबुद्धिमात्रेण पूजया फलसिद्धिः, शास्त्रप्रामाण्यात्, तथोपास्यरूपेष्विति कुतो नाद्रियत इत्यत आहुः प्रतिमादिष्वित्यादि । अत्रादिपदेन 'सूर्योऽग्निर्ब्राह्मणा गाव' इत्याद्युक्तानां पूजापदानां सङ्ग्रहः । आवाहनेन सन्निधानं च 'अप्स्वग्नौ हृदये सूर्ये' इत्याद्युक्तस्य नित्यसन्निधानस्याप्युपलक्षकम् । तथा च प्रतिमादिष्वपि शास्त्रप्रामाण्यात् कथञ्चन तत्तद्रूपसन्निधानमेव तत्तत्फलदानादिप्रयोजकम्, न तु बुद्धिमात्रम्, अतः शास्त्रादेव तथा आग्रह इत्यर्थः । अत्रर्षिद्वयमतोक्त्यनन्तरं स्वमतकथनस्य तात्पर्यं स्फुटीकुर्वन्ति अपि चेत्यादि । प्रतीकतद्रूपत्वमिति । प्रतीकोपासनरूपत्वम् । एवं सतीत्यादि । ब्रह्मणः प्रतीकालम्बनाप्राप्यत्वे अङ्गरूपालम्बनप्राप्यत्वे च सति । अप्रतीकालम्बननयनकथनं परप्राप्तावेवोपोद्बलकत्वेन सिद्ध्यतीति सैव तथेत्यर्थः ।

अत्र शाङ्करमतमनुवदन्ति ये त्वित्यादि । तद्वत इति पञ्चाग्न्युपासकस्य । तद्दूषयन्ति तत्रेत्यादि । तस्मिन् मते वक्ष्यमाणं दूषणमुच्यते । विधिभिन्नं वचनं वस्तुसतः पदार्थस्य बोध-

रश्मिः ।

एतस्य समीपतरवाक्योक्तस्य भोगस्य करणानन्तरम् । प्राचीनेत्यादि । भक्त इत्यर्थः । लकारार्थे इति । कर्तरि लकार इति लकारार्थः कर्ता, नयतीत्यत्र तस्य व्यत्ययो नाशः कर्मणि लकारेण नीयत इत्यनेन । भूमव्यतीति । 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमे'ति परब्रह्मैकलक्षणात् तद्व्यतिरेक उक्तः । तथात्व इति न्यूनाधिकभावे । तथेतीति । दार्ष्टान्तिकेपि तथेति । तेषां उपास्यानाम् । शालग्राम इति । शालिग्राम शब्दोपि । 'सूर्योऽग्नि'रित्येकादशे वाक्यम् । संग्रह इति । किं च द्वितीयाध्याये तर्कपादे कापालिकमतम् । आत्मानो मुक्तिदशायामश्मानो भवन्ति शैली प्रतिमात्मा । 'शिलाबुद्धिर्न कर्तव्ये'तिवाक्यात् । प्रतिमा सच्चिदानन्दरूपत्वप्रतिपादकवाक्याच्च । 'तदश्मसारं हृदय'मिति श्रीभागवते । हृदि अयं हृदयमिति छान्दोग्ये । सप्तम्या लुक् । अयमात्मा । अप्स्वग्नाविति । इदं धर्मशास्त्रग्रन्थे कस्मिंश्चिल्लिखितं द्रष्टव्यम् । तत्तद्रूपेत्यादि । भाष्ये । ननु विभूतिरूपत्वेपि नियतफलदाने अनियतफलदानोपरोधजानन्दस्वरूपैकरसत्वविरोधस्तु स्यात्, अत आहुः सर्वत्र । नियतेति । तद्भावनमिति स्वेष्टभावनम् । भक्त्येति । 'भक्त्याहमेकया ग्राह्य' इति वाक्याद्भक्त्या प्रकटे । तरतमभावो भक्तौ द्रष्टव्यः । भक्तिमार्गस्य बहुविधत्वेन भावभेदात् । शाब्द इति । शाब्दे परे च ब्रह्मणि निष्णातं गुरुमित्येवं विशेषणवत्त्वेनेत्यर्थः । तद्भावनं भगवद्भावनम् । 'तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकाम' इति श्रुतेः । बुद्धिमात्रमिति । अब्रह्मरूपप्रतिमादौ तत्तत्फलदानादिप्रयोजकम् । तथाग्रह इति ब्रह्मरूपत्वाग्रहः । ऋषिद्वयेति जैमिनिबादरिरूपर्षिद्वयमित्यर्थः । स्वमतेति बादरायण इति सौत्रपदाद् बादरायणमतकथनस्य । अपि चेत्यादीति । निगूढेति नितरां गूढा वासना । सैवेति परप्राप्तिरेव ।

१. अत्र परिशिष्टे मुद्रितः शोधो द्रष्टव्यः ।

'अप्रतीकालम्बनान्नयती'ति व्यासोक्त्यविरोधाय तत्राप्यप्रतीकत्वमूरीकार्यम्, अन्यथा पञ्चाग्निविद्यानिरूपिकां श्रुतिं पश्यन्नेवं स न वदेत् । न चौत्सर्गिकं पक्षमाश्रित्य तथोक्तमिति वाच्यम् । तस्य बाधकापनोद्यत्वाद्वचनस्य चोक्तन्यायेनाबाधकत्वात् । यत्र वचनस्य बाधकत्वमुच्यते, तत्र बाधबोधकत्वमेव, न तु तथात्वमित्युपेक्षणीयास्ते । ननु मनःप्रभृतीनां शुद्धब्रह्मत्वे मनो ब्रह्मेत्युपास्त इति वदेत्, न तु प्रकारवाचीतिशब्दशिरस्कं ब्रह्मपदम्, अत उपासनाप्रकारावच्छेदकत्वमेव ब्रह्मपदस्य, न तु स्वरूपनिरूपकत्वमिति चेत्, हन्तेदं शब्दार्थानवगम-

भाष्यप्रकाशः ।

कम् । यथा 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यादिवाक्यम् । न तु कारकम् । यथा ज्योतिष्टोमादिवाक्यम् । अतस्तत्पञ्चाग्निविद्यास्थमातिवाहिकवाक्यं चेद् ब्रह्मप्राप्तिं बोधयति, तदैतद् व्यासोक्त्यविरोधाय पञ्चाग्निविद्यायामपि, 'मूर्धैव सुतेजा' इत्यादिश्रुतेर्लोकादीनां ब्रह्माङ्गत्वादादित्यादिमति सूत्रव्याख्यातरीत्याङ्गविद्यात्वेनाप्रतीकत्वमूरीकार्यम् । अन्यथैतां श्रुतिं पश्यन् व्यास एवं

रश्मिः ।

तथेति । परप्राप्त्यवेबोपोद्बलकमुक्तं भवतीत्यर्थः । व्यवहारे वयं भाट्टा इति वदतां शांकराणां मतेनाहुः **विधिभिन्नमित्यादि** । विधिभिन्नमर्थवादवचनं न स्वार्थे प्रमाणमिति वस्तुसतः पदार्थस्याबोधकमित्यर्थः । परं त्वग्रे अन्वयाभावाद् भाष्ये वस्तुसतः पदार्थस्य बोधकमिति भाष्ये पाठः, वस्तुसतः पदार्थस्य बोधकमिति भाष्यप्रकाशेपि पाठः । तथा चार्थवादवचनं विधिभिन्नं ब्राह्मणवद्बोधकमिति स्वमतेऽर्थः । शब्दात्सृष्टिरिति कारकत्वं वाक्यस्य प्राप्तं तन्निषेधन्ति स्म **न त्विति** । अदर्शनादिति भावः । विध्यर्थवादयोरविशेषात्स्वमतेनाहुः **यथा ज्योतिरिति** । **अतस्तच्चेदिति** भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **अतस्तत्पञ्चाग्नीति** । **आतिवाहिकेति** । 'तत्पुरुषो अमानवः स एनान् ब्रह्म गमयती'ति वाक्यम् । **तदेति** भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तदैतद्व्यासोक्तीति** । अप्रतीकालम्बनान्नयतीति व्यासोक्त्यविरोधाय । **तत्रापीत्यस्यार्थः** पञ्चाग्निविद्यायामपीति । **मूर्धैवेति** । छान्दोग्ये प्राचीनशाल औपमन्यव इत्यारम्भके प्रपाठकेऽस्ति । वैश्वानरविद्यायामस्ति 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीय' इति । अर्थस्तु प्राचीनशालो नामतः उपमन्योरपत्यं औपमन्यवः । सुतेजाः शोभनतेजाः द्यौः शुक्लनीलादिसर्वरूपत्वाद्विश्वरूप आदित्यः । **पृथग्वर्त्मात्मेति** पृथग्नानाविधानि अभिमुखागमनऊर्ध्ववहनानि वर्त्मानि यस्य स एवात्मा स्वभावो यस्य । पृथग्वर्त्मा धूमादिवर्त्मा वह्निः स आत्मनि यस्य तयोरिति वा । सर्वगतत्वाद्बहुल आकाशः स सन् देहः आत्मनः शोभनो देहः । रयिः आपः बस्तिः नाभेरधस्ताद्दलाबुसदृशमधोनालमनेकच्छिद्रं मूत्रभाजनं बस्तिरित्युच्यते । सन्देहः शरीरमध्यभाग इति । पृथिव्येव पादाविति स्पष्टम् । अथ भूमिकापूर्वकमग्निहोत्रं सम्पादयिष्यन्नङ्गविद्यामाह । उर एव वेदिरिति तस्य वैश्वानरस्य भोक्तुरुर एव वेदिराकारसाम्यात् । लोमानि बर्हिर्वेद्यामिवास्तीर्णत्वात् । हृदयं गार्हपत्यः मनोग्निप्रणयनहेतुत्वसाम्यात् । हृदयाद्धि मनः प्रणीतमिवानन्तरं भवति । मनोन्वाहार्यपचनो दक्षिणाग्निः पचनहेतुत्वसाम्यात् । आस्यमाहवनीयोग्निः हूयतेऽस्मिन्नन्नमित्याहवनीयः । मुखेऽप्यन्नं हूयत इति साम्यादिति । **तदुक्तेति** ग्रन्थोक्तप्रतीकलक्षणाभावात् । **अन्यथेति** भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **अन्यथैतामिति** । एतामिति वैश्वानरविद्यानिरूपिकां साधारणनयनसम्बन्धिनीम् । एवमिति । अप्रतीक-

भाष्यप्रकाशः ।

न वदेत् । न च बाधकापनोद्यस्य नियमस्योत्सर्गत्वेन तत्क्रतुन्याये तं पक्षमाश्रित्य व्यासेनाप्रतीकालम्बननयनमुक्तमित्यपोद्य पक्षबोधकत्वान्न तद्विरोध इति वाच्यम् । औत्सर्गिकपक्षस्य बाधकापनोद्यत्वात् । प्रकृते च तत्क्रतुवाक्यस्य सामान्यतः क्रतुप्रकारफलप्रकारतौल्यनियमबोधकतया पञ्चाग्निवचनस्यापि ब्रह्माङ्गद्वारा ब्रह्मणो ब्रह्मप्राप्तेश्च बोधकत्वाद् विधिभिन्नवचनान्तरन्यायेन तत्क्रतुविशेषरूपतया ब्राह्मणश्रमणन्यायेनाबाधकत्वात् । न च विधिभिन्नवाक्यस्थले बाध्यबाधकभावानादरणे वाक्ययोर्बाध्यबाधकभावप्रसिद्धिविरोधप्रसङ्ग इति शङ्क्यम् । यत्र वचनस्य बाधकत्वमुच्यते, तत्र बाधबोधकत्वमेव, न तु बाधकत्वम् । विधिभिन्नवाक्यस्य कारकत्वाभावात् । न चानिवृत्त्यप्रसङ्गः । बाधबोधादेव तत्सिद्धेः । तस्मात्तन्मते तत्क्रतुश्रुतिबाधकल्पनम्, तत्क्रतु-

रश्मिः ।

विशेषनयनं न वदेत् । न चौत्सर्गिकमिति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **न चेत्यादि** । श्रुत्योर्विरोधे विकल्प इति मनूक्तेः । पञ्चाग्निविद्याश्रुतौ साधारणत्वेनैनान् गमयतीति सकलगतिप्रतिपादिकायामुत्सर्गतः । सामान्यतो विशेषो बलीयानिति बाधकापनोद्यस्य नियमस्योत्सर्गत्वं सामान्यन्यायत्वं तेनेत्यर्थः । तेन भाष्ये औत्सर्गिकमित्यत्र स्वार्थे औणादिः प्रत्ययः उत्सर्गेण न भिद्यते इत्यौत्सर्गिकं तं पक्षं तत्क्रतुन्याये आश्रित्य । अप्रतीकालम्बननयनं विशेषबलीयोरूपमुक्तम् । **अपोद्येति** पञ्चाग्निविद्यास्थगतिवाक्य अपोद्यस्य उत्सर्गपक्षस्य बोधनात् । **न तद्विरोध** इति पञ्चाग्निविद्यावाक्यात्सामान्यतः प्रतिपादकान्न विशेषबलीयसो व्यासवाक्यस्याप्रतीकालम्बननयनस्य विरोधः । **औत्सर्गिकपक्षस्येत्यादि** । भाष्यीयस्य **तस्येत्यस्यार्थः** । बाधको बलीयान्विशेषस्तदपनोद्यत्वात् त्वदुक्तरीत्या । **तत्क्रतुवाक्यस्येति** । तत्क्रतुः स्वयमेव ब्रह्मलोकान्नयतीति वाक्यस्य । **सामान्यत** इति विशेषालोचनरहितदशायाम् । फलप्रकारः ब्रह्मलोकानित्युक्तः । सूत्रस्य छन्दस्कत्वान्नियमपदम् । **वचनस्येति** भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **पञ्चाग्नीत्यादि** । सामान्यतो बलीयो विशेषो निरूप्यते । चकारोनुक्तसमुच्चय इत्याशयेनोक्तसामान्यतो विशेषमाहुः **ब्रह्माङ्गेति** । ब्रह्मलोकानित्यत्र गोकुलाष्टकोक्तरीत्या ब्रह्मलोकगोकुलस्याङ्गस्य द्वारा ब्रह्मण इत्यर्थः । **उक्तन्यायेनेति** भाष्यविवरणं **विधिभिन्नेत्यादि** । अयं न्यायोत्रैव पूर्वमुक्तः प्रकाशे । **तत्क्रत्विति** 'स एनान्ब्रह्म गमयती'ति ब्रह्मणः अधोक्षजत्वेन ब्रह्माङ्गद्वारा ब्रह्मणः तथा ब्रह्मप्राप्तेश्च तत्क्रतुविशेषरूपतया ब्राह्मणश्चेच्छ्रमणः श्रमशीलः अनेन न्यायेन तत्क्रतौ सामान्ये विशेषस्य ब्रह्माङ्गद्वारा ब्रह्मसम्बन्धित्वस्य ब्रह्मप्राप्तिसम्बन्धित्वस्य च बोधनेनाबाधकत्वात् । न हि दध्ना जुहोतीति यद्दधि गुणं विदधत् यागे यागबाधकं भवति तद्वत् । यत्र वचनस्येति भाष्यं विवरीतुमाहुः **न च विधीति** । अर्थवादस्थले 'श्रुत्योर्विरोधे विकल्प' इति मनूक्तेर्विकल्पादरणेन बाध्यबाधकभावानादरणे । विवृण्वन्ति स्म यत्र **वचनस्येति** । मनूक्तेपि यत्र वचनस्य बाधकत्वमुच्यते, वचनं बाधकमुच्यते । **तत्रेति** पयोव्रते न व्रतयतीत्यत्र बाधकं वचनमुच्यते पूर्वमीमांसायां अजीर्णिसम्भवे न व्रतयेदिति । **बाधकत्वमिति तथात्वमित्यस्य** भाष्यस्यार्थः । **विधिभिन्नस्येति** । विधिवाक्यस्य तु कारकत्वम्, विधिप्रयुक्तो अहं करोमीति प्रत्ययात् । **न चेत्यादि** । कारकत्वाभावेपि बाधबोधानन्तरमजीर्णिसंभवेपि पयोव्रताच्युतादनिवृत्तेरप्रसङ्गः । अनिवृत्तिप्रसङ्गस्य प्रतियोगित्वस्य विवक्षणान्नञ्द्वयम् । **तत्सिद्धेरिति** पयोव्रतान्निवृत्तिप्रसङ्गसिद्धेः । उपेक्षणीयत्वे हेतून् वदन्तः सिद्धमाहुः **तस्मादिति** । बाध्यबाधकभावप्रसिद्धिविरोधप्रसङ्गाभावात् । **तत्क्रत्विति** । तत्क्रतुश्रुतेः सूत्रीयतत्क्रतुश्रवणस्य निरपेक्षस्वरूपस्याब्रह्मक्रतौ पञ्चाग्निविद्यायां बाधकल्पनम् । **तत्क्रत्विति** । तत्क्रतु-

१९ ब्र० सू० ४०

भाष्यप्रकाशः ।

पञ्चाग्निवाक्ययोर्बाध्यबाधकभावकल्पनम्, व्यासे तच्छ्रुत्यविचारापादनम्, पुनरौत्सर्गिकपक्षबोधकतया तद्विचारकल्पनमिति चतस्रः कल्पनाः । अस्मन्मते तु तत्क्रतुपञ्चाग्निवाक्ययोः सामान्यविशेषभावेन समानविषयत्वमात्रं कल्पनीयमिति लाघवम्, अतस्तन्मतं गुरुत्वादुपेक्षणीयमित्यर्थः । पञ्चाग्न्यादिविद्यानां ब्रह्मविद्यात्वे शङ्कते ननु मन इत्यादि । तद्दूषयन्ति हन्तेः दमित्यादि । पूर्वमुक्तमिति । इतिशब्दशिरस्कवाक्यकथनात् पूर्वमुक्तम् । सर्वत्रेति । अत्रत्यवाक्यान्तरे प्रकरणान्तरीयवाक्ये च । तथा च तैत्तिरीये, 'येन्नं ब्रह्मोपासते', 'ये प्राणं ब्रह्मोपासते', 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्', 'विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेदे'ति वाक्येषु इतिशब्दशिरस्कताया अदर्शनान् 'मनो ब्रह्मेत्युपासीते'त्यादावितिशब्दस्य हेत्वर्थतैव युक्तेत्यर्थः । ननु मनआद्युपासनासु ब्रह्मक्रतुत्वमसङ्गतम्, बृहदारण्यकोपान्तभागे 'अन्नं ब्रह्मेत्येक आहुः तन्न तथा पूयति वा अन्नम्, ऋते प्राणात् प्राणो ब्रह्मेत्येक आहुः, तन्न तथा शुष्यति वै प्राण ऋतेन्नादेते ह वै देवते एकधा भूयं भूत्वा परमतां गच्छत' इति तयोर्ब्रह्मत्वनिराकरणात्, पञ्चाग्निविद्यायामपि पुरुषयोषयोर्लौकिकयोरेवाग्नित्वकल्पनात्, एवं छान्दोग्ये मनसोऽप्यन्नमयत्वश्रावणात् तेषु भगवद्विभूतित्वस्य वक्तुमशक्यत्वादिति चेत् । मैवम् । बृहदारण्यकवाक्ये भौतिकयोरेवान्नप्राणयोः

रश्मिः ।

वाक्यं सामान्यं बाध्यम्, पञ्चाग्निविद्यावाक्यं विशेषरूपं बाधकम्, न तु विशेषबोधकम्, अतः पञ्चाग्निवचनेन विशेषणबाध्यबाधकभावकल्पनम् । स्वमते तु पञ्चाग्निवचनस्य तत्क्रतुविशेषरूपत्वम् । व्यास इति । तच्छ्रुत्याः पञ्चाग्निविद्यायां 'स एनान्ब्रह्म गमयती'त्यस्याः विचारापत्तिः, प्रसङ्गेऽविचारितत्वात् । पुनरिति । तथा च तद्भाष्यम् 'तदभावे त्वौत्सर्गिकेण तत्क्रतुन्यायेन ब्रह्मक्रतूनामेव तत्प्राप्तिर्नेतरेषा'मिति । ब्रह्मक्रतुत्वाभावे त्विति तदभावे त्वित्यस्यार्थः । तथा च पुनरुत्तरसूत्रे । तद्विचारेति । प्रासङ्गिकं विशेषविचारं त्यक्त्वौत्सर्गिकविचारकल्पनम् । अग्रिमसूत्रे शङ्करभाष्ये यत्तदत्रैव चिन्तयन्ति स्म, अग्रिमे विषयान्तरसत्त्वात् । प्रासङ्गिकपञ्चाग्न्यादीनां पुरुषोत्तमाप्रापकत्वेपि ब्रह्मलोकप्रापकत्वात् । पञ्चाग्न्यादीति । ब्रह्मविद्यात्व इति ब्रह्मविद्यात्वार्थम् । न त्विति । छान्दोग्ये नारदसनत्कुमारसंवादे नवमप्रपाठके 'मनो ब्रह्मेत्युपास्ते' इति प्रकारवाचीतिशब्दशिरस्कं इतिशब्दप्रधानं न तु वदेदित्यर्थः । ननु शङ्करभाष्ये नामादिषु च प्रतीकोपासनेषु पूर्वस्मात् पूर्वस्मात्फलविशेषमुत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्नुपासने दर्शयतीत्युक्तम्, अत्र तु नामवाचौ विहायार्थमनःप्रभृतीनामित्युक्तं तत्कुत इति चेन्न नामवाचोर्नित्यत्वेन शब्दब्रह्मत्वाच्चार्थविषये तयोरुपयोगाभावात्, स्पष्टत्वाच्च । भाष्ये उपासनाप्रकारेति उपासनाप्रकारेषु अवच्छेदकत्वम् । सप्तमी शौण्डैरित्यत्र सप्तमीति योगविभागात्समासः । अर्थादुपासनाप्रकारे विषयतयावच्छेदकत्वम् । मनस्यब्रह्मणि ब्रह्मेति । मनो ब्रह्मेति । प्रकृते हन्तेत्यादीति । हन्त इति खेदे । अन्नत्येति छान्दोग्यीयनवमप्रपाठकस्थे 'सङ्कल्पो वा व मनसो भूया'नित्यादौ 'चित्तं वा सङ्कल्पाद्भूय' इत्यादौ । 'ध्यानं वा व चित्ताद्भूय' इत्यादिषु च । प्रकरणान्तरीयवाक्यमुदाहरन्ति स्म तथा च तैत्तिरीय इति । तन्न तथेति । तत्तथा न ग्रहीतव्यम् । अन्नं पूयति क्लिद्यते वै प्राणादृते, प्राणो न क्लिद्यते इति प्राणो ब्रह्मेत्येक आहुः । तदपि न तथा न ग्राह्यम्, अन्नादृते प्राणः शुष्यति । ब्रह्म तु क्लेदशोषवर्जितम् । एवमेवैकस्य ब्रह्मत्वानुपपत्तेर्ह एते एव तु देवते अन्नप्राणलक्षणे एकधाभूयं एकभावं भूत्वा गत्वा परमतां परमत्वं गच्छतो ब्रह्मत्वं प्राप्नुतः । तयोरिति पृथग्भूतयोः । अन्नमयत्वेति । 'अन्नमयं हि सोम्य मन' इति

विजृम्भितमेव, यतो 'मन उपास्वे'त्युक्त्वा तदुपासनाफलं 'यावन्मनोगतं तत्रास्य कामचारो भवती'ति वदिष्यँस्तदुपासनाया एतत्फलसाधकत्वे प्रयोजकरूपाकाङ्क्षायामाह 'मनो ब्रह्मे'ति । इतिशब्दोत्र हेतुत्ववाची । तथा च यतो मनो ब्रह्म, अतो हेतोस्तदुपासनं तादृक्फलसाधकमित्यर्थः । अत एव, 'मनो हि ब्रह्म मन उपास्वे'ति पूर्वमुक्तम् । सर्वत्रैवमेव ज्ञेयम् ॥ १६ ॥

॥ इति चतुर्थाध्याये तृतीयपादे चतुर्थमप्रतीकालम्बनाधिकरणम् ॥ ४ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

पूयीभावशोषणात्मकदोषदर्शनेन ब्रह्मता निराक्रियते, न तु श्रुत्योपास्यत्वेनोक्तयोः । तत्रैतयोर्दोषयोः क्वाप्यसिद्धत्वात् । प्रत्युत तैत्तिरीयके, 'अद्यतेत्ति च भूतानी'त्यन्नप्रशंसाश्लोके प्रसिद्धविरुद्धस्यात्तृत्वस्य प्राणश्लोके, 'तस्मात् सर्वायुषमुच्यत' इति सर्वायुष्ट्वस्य, मनःश्लोके, 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वा'निति ब्रह्मानन्दरूपत्वस्य च धर्मस्य श्रावणेन, बृहदारण्यकीये, 'तन्न तथे'ति वाक्ये तद् अन्नप्राणयोर्ब्रह्मत्वं न तथा, न तदुक्तप्रकारेण, किन्तु श्रुत्युक्तप्रकारेणेत्यर्थस्य लभ्यमानत्वाच्च । एवं पञ्चाग्निविद्यास्थयोषापुरुषयोरपि भगवद्विभूतिरूपयोरेवोपास्यत्वं ज्ञेयम् । 'सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः प्रभवन्ति याः । तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिते'ति गीतावाक्ये तासां तत्तदनुरूपाणां मूर्तीनां तत्तत्कारणभावापन्नयोः प्रकृतिपुरुषयोर्मातापितृभावेन कथनात् । देवकृतरेतोब्रह्होमस्य तत्रैव युक्तत्वाच्च । 'तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् स' इति सूत्रे तथैव सिद्धत्वात् । अन्तर्यामिब्राह्मणे, 'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठ'न्नित्यादिश्रावणाच्चेति । तस्मादसङ्गतिलेश इति दिक् । तेन यत्रोपास्यविशेषणतया ब्रह्मपदमुच्यते, यत्र वा ब्रह्मप्राप्तिरूपं फलम्, अन्यद्वा ब्रह्मत्वगमकं तात्पर्यलिङ्गं लभ्यते, तत्र तस्या उपासनाया अप्रतीकत्वमिति बोध्यम् ।

एवमत्र चतुर्भिरधिकरणैः सप्रकारा गच्छद्ब्रह्मविद्व्यवस्थोक्ता । अग्रे तु प्रासङ्गिकमुच्यते । ज्ञानिभक्तयोर्गमने प्रकारविशेषदर्शनेनाकाङ्क्षाविशेषोदयादिति ॥ १६ ॥

इति चतुर्थमप्रतीकालम्बनाधिकरणम् ॥ ४ ॥

रश्मिः ।

श्रुतेः । श्रुत्येति बृहदारण्यकश्रुत्या । उक्तयोरिति तैत्तिरीयोक्तयोः । तत्रेति तैत्तिरीये । दोषयोरिति शोषक्लेदनयोः । प्रशंसेति । 'अन्नाद्भूतानि जायन्ते जातान्यन्नेन वर्धन्ते अद्यतेत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यत' इति श्लोके । असदुत्कर्षाधायकं गुणवर्णनं प्रशंसा । पूर्वार्धे स्फुटा । उत्तरार्धेऽन्नपदनिर्वचनम् । भूतैरद्यते अदन्ति च भूतानीति । यद्वा उत्पत्तिस्थितिसमभिव्याहारादन्नेन भूतान्यद्यन्ते अन्नं भूतान्यत्तीति लय उक्तः । तस्माज्जगज्जन्मादिकर्तृत्वात् । अत एव आहुः प्रसिद्धेति । प्राणश्लोक इति । 'प्राणं देवा अनुप्राणन्ति, मनुष्याः पशवश्च ये, प्राणो हि भूतानामायुः, तस्मात्सर्वायुषमुच्यते' इति प्रशंसाश्लोके । मनःश्लोके 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचने'ति प्रशंसाश्लोके । तदुक्तेति मायावाद्युक्तेन प्रकारेण । ननु मायावादिश्रुतिविचारे केति चेन्न । 'अनागतमतीतं चे'ति वाक्यात् । असङ्गतीति । मनआद्युपासनासु ब्रह्मक्रतुत्वासङ्गतिः तस्या लेशः । उपास्यविशेषणेति । ब्रह्माहमस्मीत्यत्र यथा । ब्रह्मप्राप्तिरूपमिति । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यत्र । ब्रह्मत्वगमकमिति । 'सर्वाणि ह वा भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्ती'त्यत्र ब्रह्मत्वगमकं जगज्जन्मादिकर्तृत्वं आकाशपदस्य ब्रह्मणि तात्पर्ये लिङ्गम् । अप्रतीकत्वमिति । एतेषां शुद्धब्रह्म ज्ञात्वोपासकत्वेन अप्रतीकालम्बनत्वात्तेषामुपासनाया अप्रतीकत्वम् ॥ १६ ॥ इति चतुर्थमप्रतीकालम्बनाधिकरणम् ॥ ४ ॥

विशेषं च दर्शयति ॥ १७ ॥ (४-३-५)

सर्वाण्युपास्यानि रूपाणि ब्रह्मरूपाण्येवेति तदुपासकानां परप्राप्तिरेवेति सिद्धम् । तत्रेदं चिन्त्यते । ज्ञानमार्गीयाणां भक्तिमार्गीयाणां चाविशेषेणैव परप्राप्तिः, उत कश्चिद्विशेषोस्तीति । तत्र उभयोरपि ब्रह्मोपासकत्वेनाविशेषेणैव फलं भवतीति प्राप्ते, प्रत्याह **विशेषं च श्रुतिर्दर्शयति** । तैत्तिरीयके पठ्यते । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति गूढाभिसन्धिना सामान्यत एतावदुक्त्वा, गूढं तमुद्धाटयन्त्यतिगोप्यत्वमस्मिन्नर्थेनुभवैकवेद्यत्वं च ज्ञापयन्त्याह 'तदेषाभ्युक्ता सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति । तत् पूर्वोक्तं प्रतिपाद्यत्वेनाभिमुखीकृत्यैषर्गुक्ता, तदनुभवकर्तृभिरिति शेषः । ब्रह्मविदक्षरब्रह्मविदाप्नोति, सान्निध्यादक्षरमेवाप्नोति । एतावान् अर्थो 'यो वेदे'त्यन्तयर्चोक्तः । अथ 'परमाप्नोती'त्यस्यार्थ उच्यते 'निहित'मित्यादिना । अत एव मध्ये क्रियापदमुभयसम्बन्धित्वज्ञापकमुक्तम् । तत्प्राप्तिश्च मर्यादापुष्टिभेदेन द्वेधा । तत्रादौ मर्यादायामुच्यते ।

भाष्यप्रकाशः ।

विशेषं च दर्शयति ॥ १७ ॥ पूर्वाधिकरणसिद्धमनुवदन्तः प्रस्तुतमवतारयन्ति **सर्वाणीत्यादि** । सर्वाणीति । मनआदीनि विभूतिरूपाणि । परप्राप्तिरिति । यया कयाचित्परम्परया परप्राप्तिः । तत्रेति । परप्राप्तौ । पूर्वपक्षार्थस्तु स्फुटः । सिद्धान्तं व्याकर्तुं विशेषदर्शिकां श्रुतिमुपन्यस्य व्याकुर्वन्ति **तैत्तिरीयक इत्यादि** । **सान्निध्यादिति** । वेदनसान्निध्यात् । यद् वेद तदेव प्राप्नोति । वेदनशेषं च 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'त्यनेनोक्तम् । यस्तादृशमक्षरं ब्रह्म वेद, सान्निध्यात् तदाप्नोतीत्यर्थः । ननु पूर्वोक्तरीत्यार्थोक्तौ परमिति द्वितीयान्तस्य कुत्रान्वय इत्यत आहुः **अथेत्यादि** । तथा च मध्ये उक्ताया आप्नोतीति क्रियायाः कर्मणाप्यन्वयात् तस्याप्यर्थ उच्यते । नन्वेवं व्याख्याने किं बीजमत आहुः **अत एवेत्यादि** । यत आप्नोतीति क्रियापदं मध्ये उक्तमतो देहलीदीपन्यायेन तस्योभयसम्बन्धित्वमेव बीजमित्यर्थः ।

नन्वेवं व्याख्याने आकाङ्क्षाया अपूरणात् भिन्नवाक्यत्वापत्तेः, आप्नोतीति पदावृत्तेश्चापत्त्या क्लिष्टं किमित्याद्रियत इत्यत आहुः **तत्प्राप्तिरित्यादि** । **आदाविति** । ब्रह्मविदित्यनेन मर्यादामार्गीयस्योपक्रान्तत्वादादौ मर्यादायामङ्गीकृतस्य 'यो वेदे'त्यनेन ग्रन्थेन व्यवस्थोच्यते ।

रश्मि ।

विशेषं च दर्शयति ॥ १७ ॥ **यया कयाचिदिति** । उपासनाभिश्चित्तशुद्धिः, तया भक्तिः, तद्द्वारेति प्रसिद्धा परम्परा । अमानवपुरुषं भक्त्यनन्तरं निवेश्यापरा परम्परा । आतिवाहिकसूत्रे यथा विद्याबलात् तत्तल्लोकप्राप्तिः, तथैव ब्रह्मप्राप्तिरपीति न, किन्तु भगवदीयपुरुषानुग्रहेणैवेत्युक्तेः पुरुषानन्तरं तदनुग्रहं निवेश्यापरा ज्ञापिता । उपासनाविषयप्राप्त्युद्देशेन कृतयोपासनयादित्याद्यङ्गप्राप्तिः । अङ्गानां भगवत्स्वरूपात्मकत्वेनैक्यमिति स्वरूपस्यैव 'फलत्वमुक्तं भवतीत्यपरा'दित्यादिमा.. सूत्र उक्ता । **तैत्तिरीयक इत्यादीति** । **मध्य इति** परप्राप्त्यक्षरप्राप्त्योर्मध्ये । **वेदेति** क्रियापदम् । **उभयेति** । गुहायां परमे व्योम्नि, सप्तम्या लुक् । निहितं नितरां हितं स्थापितं यो वेदेत्युभयसम्बन्धित्वज्ञापकम् । **तत्प्राप्तिरिति** । परप्राप्तिः । **विचिकित्सितमिति** सन्दिहानं प्रति ।

इहायमाशयो ज्ञेयः । 'नायमात्मा प्रवचनेने'ति श्रुत्या भगवद्वरणातिरिक्तसाधननिरासः क्रियते पुरुषोत्तमप्राप्तौ । एवं सत्यक्षरब्रह्मज्ञानस्य तत्साधनत्वे उच्यमाने तद्विरोधः स्यात् । तेनैवमेतदर्थो निरूप्यते । ज्ञानमार्गीयाणामक्षरज्ञानेनाक्षरप्राप्तिः, तेषां तदेकपर्यवसायित्वात्, भक्तानामेव पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वात् । तदुक्तं भगवद्गीतासु 'एवं सततयुक्ता ये' इति प्रश्ने, 'मय्यावेश्य मनो ये माम्,' 'ये त्वक्षरमनिर्देश्यम्', श्रीभागवते च 'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः,' 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्ये'त्युपक्रम्य, 'न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे'त्यादिना । तथा च ब्रह्मविदं चेद् भगवान् वृणुते, तदा भक्तिरुदेति । तत्प्रचुरभावे सति स्वयं तद्धृदि प्रकटीभविष्णुः स्वस्थानभूतं व्यापिवैकुण्ठं तद्गुहायां हृदयाकाशे प्रकटीकरोति, तत् परमव्योमशब्देनोच्यते । अलौकिकप्रयोगेण तस्यालौकिकत्वं ज्ञाप्यते । यथा स्वस्थापितं वस्त्ववश्यं स्वदर्शनयोग्यं भवति, तथात्र भगवानपीति ज्ञापनाय 'निहित'मित्युक्तम् । तथा च 'परमाप्नोती'ति पदविभूतिरूपत्वादस्य

भाष्यप्रकाशः ।

तदेव विवृण्वन्ति **इहायमाशय इत्यादि** । इहेति । अस्मिन् व्याख्यानपक्षे । **नायमात्मेत्यादि** । अत्र प्रवचनपदं वेदे रूढम्, तदत्र वाच्यतासम्बन्धेन तदुक्तसाधनान्युपलक्षयति । मेधा धारणावती बुद्धिः, सा च पुरुषनिष्ठस्वाभाविकसा[illegible] श्रुतं चागन्तुकानि । एवं भगवद्वरणातिरिक्तसाधननिरासः क्रियत इत्यर्थः । **एवं सतीति** । पुरुषोत्तमप्राप्तेर्वरणैकलभ्यत्वे सति । **उच्यमान इति** । प्राञ्जलतयोच्यमाने । **तद्विरोधः स्यादिति** । 'नायमात्मे'ति **श्रुतिविरोधः** स्यात् । नन्वस्त्वेवं निरूपणम्, तथापि पूर्वोक्तदोषाणां तु न परिहार इत्यत आहुः **ज्ञानेत्यादि** । **तदेकपर्यवसायित्वादिति** । मुण्डके 'धनुर्गृहीत्वे'ति मन्त्रे, 'लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धी'ति श्रावणात् तत्क्रतुन्यायेन तेषां तदेकपर्यवसानात् । तथा च वाक्यभेदपदावृत्तिश्च नात्र दूषणमित्यर्थः । नन्वेवमक्षरप्राप्तावपि अक्षरस्य पुरुषोत्तमप्रत्यासन्नत्वात् तत्प्राप्तिरपि कुतो नाद्रियत इत्यत आहुः **भक्तानामित्यादि** । ननु भवत्वेवम्, तथापि कर्त्रपेक्षादोषः कथं परिहार्य इत्यत आहुः **तथा चेत्यादि** । **तस्येति** । परमव्योमरूपस्याक्षरस्य । **अस्येति** । **निहितमित्यादि-**

रश्मिः ।

इहायमाशय इत्यादीति । इह व्याख्यानक्लेशे अयं व्याख्यानक्लेशनिवर्तकः । **तद्विरोधो** वरणश्रुतिविरोधः । **एवमेतदर्थ इति** । क्लिष्टो ब्रह्मविदाप्नोति परमिति श्रुत्यर्थः । 'ज्ञानी चेद्भजते कृष्णं तस्मान्नास्त्यधिकः पर' इत्यादिविरोधं परिहर्तुं हेतुमाहुः **तत्क्रतुत्वेति** । अयमप्रतीकालम्बनसूत्रैकदेशः । यदाक्षरप्राप्तिमुद्दिश्य ज्ञानी, तदा तत्क्रतुरक्षरैकपर्यवसायी भवति । यदा तु ज्ञानी चेद्भजते कृष्णम्, तदा तत्क्रतुः पुरुषोत्तमैकपर्यवसायीत्येवं तथात्वादक्षरैकपर्यवसायित्वात्तत्क्रतुरित्यत्र प्रसिद्धवाचकसामान्यतच्छब्दोपादानादित्यर्थः । **शेषमिति** । **एवं सततेति** 'एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते, ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमा' इति प्रश्ने, 'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते, श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः' इति भिन्नं पद्यम्, 'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासत' इति भिन्नम् । **श्रीभागवत इति** एकादशस्कन्धे । **अलौकिकेति** । लुप्तसप्तम्यन्तस्य व्योमन्निति शब्दस्य प्रयोगेण । **तस्येति** व्योम्नः । **यस्येति** द्वितीयभागस्य । तस्य सद्यो

गुहायां परमे व्योम्नि निहितं यो वेद, स 'नास्य प्राणा उत्क्रामन्तीहैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'ति श्रुत्युक्तरीत्या परमाप्नोतीत्यर्थः सम्पद्यते । अथ शुद्धपुष्टिमार्गेङ्गीकृतस्य व्यवस्थामाह, 'सोश्नुत' इत्यादिना । अत्रायमभिसन्धिः । यथा स्वयं प्रकटीभूय लोके लीलां करोति, तथात्यनुग्रहवशात् स्वान्तःस्थितमपि भक्तं प्रकटीकृत्य तत्स्नेहातिशयेन तद्वशः सन् स्वलीलारसानुभवं कारयतीति स भक्तो ब्रह्मणा परब्रह्मणा पुरुषोत्तमेन सह सर्वान् कामानश्नुत इति । चकारादुक्ता श्रुतिः स्मृतयश्च संगृह्यन्ते । एवं सति ज्ञानमार्गीयाणामक्षरप्राप्तिरेव, भक्तानामेव पुरुषोत्तमप्राप्तिरिति सिद्धम् ॥ १७ ॥

इति चतुर्थाध्याये तृतीयपादे पञ्चमं विशेषाधिकरणम् ॥ ५ ॥

इति श्रीवेदव्यासमतवर्तिश्रीवल्लभाचार्यविरचिते श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ॥ ४ ॥ ३ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

वाक्यस्य । तथा च यः पूर्वकर्ता उक्तः, तस्यैव वरणेन भक्तिप्राप्तौ भगवद्धामत्वेनाक्षराविर्भावे पुरुषोत्तमप्राप्तिर्भवतीति तेनैव कर्त्राकाङ्क्षापूर्तिरिति न कोपि दोष इत्यर्थः । तथा चैवं विहितं यो वेद, सोश्नुते, अर्थात्तमेवाश्नुते प्राप्नोति । नन्वेतावता व्याख्येयस्य यजुषो विवरणे सिद्धे 'सर्वान् कामा'निति शेषस्य किं प्रयोजनमित्यत आहुः अथेत्यादि । तथा चास्मिन् पक्षे 'सोश्नुत' इति क्रियापदस्य सम्बन्ध इति बोधनार्थमवतारणे 'सोश्नुत' इत्यपि संगृहीतम् । तथा चायं शेषः पुष्टिमार्गीयफलबोधनार्थः । तथा सत्येवं श्रुतियोजना । अत्राश्नुते इति क्रियापदं संयोगपृथक्त्वेन त्रिधा सम्बध्यते । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद, सोश्नुते । सान्निध्यात्तादृशमक्षरं ब्रह्मैव प्राप्नोतीत्यर्थः । यः पुनर्वरणसहकृतो गुहायां परमे व्योमन् निहितं परं ब्रह्म पुरुषोत्तमं वेद, सोश्नुते, अर्थात्तं पुरुषोत्तममेवाश्नुते । 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'ति श्रुतिबलात् पुरुषोत्तमसायुज्यं प्राप्नोतीत्यर्थः । यः पुनः पूर्वमक्षरब्रह्मवित् ततस्तन्निहितपुरुषोत्तमवित् पुरुषोत्तमे लीनोऽसम्भावितलीलारसानुभवः स चेदतिकृपया शुद्धपुष्टिमार्गे वृतः सन् विपश्चिता ब्रह्मणा पुरुषोत्तमेन सह सर्वान् कामानश्नुते । तथा चात्र ब्रह्मविदस्ततो वरणसहकृतस्य ततो भक्तिसहकृतस्य क्रमिकैव व्यवस्था बोध्यते । सौत्रस्य चकारस्य प्रयोजनमाहुः चकारादित्यादि । अतो ज्ञानभक्तिमार्गीययोरुक्तविशेषस्य श्रुत्यैव दर्शनान्नैका व्यवस्था, किन्तूक्तरीतिकविशेषदर्शनाद् विशेषसत्त्वेव सेत्यर्थः सिद्धः । एतेनाहंग्रहोपासकानां सायुज्यम्, पृथग्ग्रहोपासकानां भक्तानामेव परप्राप्तिस्तत्क्रतुन्यायादिति सिद्धं ज्ञेयम् ।

रश्मिः ।

मुक्तिमाहुः **नास्य प्राणे**ति । इहैव पुरः प्रकटे ब्रह्मणि । हृदि प्रकटे ब्रह्मणि सति तत्प्रभावाद् ब्रह्मैव सन् पुरः प्रकटं ब्रह्माप्येतीति । **अश्नुत** इति अश्नातीत्यर्थः । **उक्ते**ति अस्याः पूर्वमुक्ता श्रुतिः । निहितं गुहायामित्याद्या श्रुतिः, नायमात्मेति श्रुतिर्वा । **स्मृतय** इति 'एवं सतत युक्ता' इत्याद्याः, 'वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथे'ति, 'निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे' इति च । एवं शेषं स्फुटमित्यर्थः । **एतेने**ति । ज्ञानिभक्तयोः परप्राप्तौ विशेषविचारेण । ब्रह्माहमस्मीत्यहंग्रहोपासना । ब्रह्मण आत्मत्वेन ग्रहः तेनोपासना तत्कर्तॄणाम्, जीवब्रह्मवादेपि भवति । **पृथगि**ति ।

भाष्यप्रकाशः ।

अन्ये तु अप्रतीकालम्बनसूत्रशेषत्वेनेदं सूत्रमङ्गीकुर्वन्ति । अप्रतीकालम्बनसूत्रस्य चैवमर्थमाहुः । तत्र प्रतीकालम्बनान् वर्जयित्वा ब्रह्मक्रतूनब्रह्मक्रतूंश्च सर्वानन्यान् विकारालम्बनान्नयतीति बादरायण आचार्यो मन्यते । उभयथा अदोषात् । अनियमः सर्वेषामिति तार्तीयीके सूत्रे श्रुतिस्मृतिभ्यां सर्वेषामेव ब्रह्मलोकगत्युपपादनात् । तत्क्रतुश्च । अस्योभयथाभावस्य समर्थको हेतुर्द्रष्टव्यः । 'यो हि ब्रह्मक्रतुः स ब्रह्मैश्वर्यमासीदेदितीष्यतं तं यथायथोपासते तदेव भवती'ति श्रुतेः । पञ्चाग्निविद्यायां ब्रह्मप्राप्तिश्रावणं त्वाहत्य वादत्वाद् उत्सर्गबाधकम् । अतस्तदभावे औत्सर्गिकेन तत्क्रतुन्यायेन ब्रह्मक्रतूनामेव तत्प्राप्तिर्नेतरेषामिति शाङ्करमतम् । तदसङ्गतमिति प्रागेवोक्तम् ।

भास्कराचार्यास्तु, मनआद्युपासनानां प्रतीकत्वमेवाङ्गीकृत्य तदालम्बनव्यतिरिक्तान् कार्यब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्योपासकान् परब्रह्मोपासकांश्च नयति । तत्र हेतुः । उभयथा दोषात् । तत्रापि हेतुः । तत्क्रतुश्चेति । तथाचैकत्वभावनया आत्मक्रतुः परमात्मानं प्रति । द्वैतक्रतुश्च कार्ये ब्रह्मेति । न च द्वैतोपासकानां कथं कार्यब्रह्मप्राप्तिरिति शङ्क्यम् । पञ्चाग्निविद्यायां 'शुद्धः पूतः पुण्यलोको भवती'ति श्रुतेः । न च 'परं जैमिनि'रिति सूत्रे परब्रह्मण एव ब्रह्मपदार्थत्वेन निश्चितत्वाद् द्वैतोपासनायां तदनङ्गीकारे पूर्वापरविरोध इति शङ्क्यम् । क्रममुक्तिसद्योमुक्तिभेदेन मुक्तेर्द्वैविध्याद् द्वैतोपासकानां हिरण्यगर्भप्राप्त्यनन्तरं बहुकालेनोदये परप्राप्तिः, साक्षाद्ब्रह्मोपासकानां तु शीघ्रं

रश्मिः ।

श्रीकृष्णः शरणं ममेति शरणमार्गे ममेति भेदे षष्ठ्याः । एवं भक्तिमार्गेपि दासवद्दासीवद्वा प्रभुनिकटे स्थितौ सत्यां पृथग्ग्रहोपासना भवति तत्कर्तॄणाम् । तत्क्रतुन्यायो विवृतः भक्तज्ञानिसाधारण्येन । **अप्रतीके**ति द्विसूत्रमधिकरणम् । **उभयथे**ति ब्रह्मक्रत्वब्रह्मक्रतुभेदेन नयनाभ्युपगमेऽदोषात् । गत्यनुपपत्त्यादिदोषाभावात् । **सर्वेषामि**ति ब्रह्मक्रत्वब्रह्मक्रतूनाम् । **उभयथाभावस्ये**ति । ब्रह्मक्रत्वब्रह्मक्रतुनयनलक्षणभावस्य । **हेतुरि**ति तत्क्रतुर्ब्रह्मक्रतुरेवेति हेतुगर्भं विशेषणम्, तत्क्रतुत्वाद्यो हि ब्रह्मक्रतुः स ब्रह्मैश्वर्यमासीदितीष्यत इत्यर्थः । ब्रह्मक्रतोर्नीतस्य प्रापणे श्लेषमाहुः **यो हीति** । ब्रह्मात्मैश्वर्यं आसीदासादेदिति श्लेषे इष्टिः । यो हि ब्रह्मक्रतुः स ब्रह्मात्मैश्वर्यमासादेदिति शङ्कराचार्यभाष्यात् । ब्रह्मात्मैश्वर्यमित्यत्र श्रुतिविरोधं परिहरन्ति स्म **पञ्चाग्नी**ति । 'स एनान्ब्रह्म गमयती'त्यनया ब्रह्मप्राप्तिः श्रावणम् । **आहत्ये**ति उक्तवचनबलाद्वादात् । उत्सर्गस्य ब्रह्मात्मैश्वर्यासादनलक्षणस्य बाधकम् । आहत्य वादाभाव इति तदभाव इत्यस्यार्थः तत्प्राप्तिरिति । ब्रह्मात्मैश्वर्यप्राप्तिः **इतरेषां** अब्रह्मक्रतूनाम् । **प्रागेवे**ति । अत्रैव ये तु प्रतीकेष्वब्रह्मक्रतुत्वमित्यादि भाष्ये तत्प्रकाशे च ।

प्रतीकत्वमेवेति । कार्यत्वेन भेदे प्रतीकत्वमवलम्बनवत्त्वमेव । **तदालम्बने**ति । प्रतीकालम्बनेत्यर्थः । **उभयथे**ति । कार्यब्रह्मपरब्रह्मोपासकभेदेनादोषात् । **तत्रापी**ति । दोषाभावेपि हेतुः । तत्क्रतुरात्मक्रतुः परमात्मानं प्रतिपद्यते । **द्वै[illegible]पासकाना**मिति । द्वैतेनोपासकानाम् । **कथ**मिति । भेदेनाभेदेन वेति प्रश्नः । कार्यजब्रह्मक्रतुः कार्ये द्वैतैकत्वभावनया हिरण्यगर्भो भविष्यामीत्येवं प्रवृत्तस्तद्भावमेकत्वे एति द्वैते तत्प्राप्त्यर्थस्य अर्चिर्मार्गः पठ्यते । तदाहुः **पञ्चाग्नी**ति । शुद्धः पूतो व्यापकजीवः कारणात्मना अभेदात् पुण्यलोको हिरण्यगर्भः भवति उत्पद्यते । कार्यात्मनाऽभेदात् । **ब्रह्मपदार्थत्वेने**ति । कार्यब्रह्मपदार्थत्वेन । **तदनङ्गीकार** इति । कार्यब्रह्मप्राप्तौ परब्रह्मप्राप्त्यनङ्गीकारे । **पूर्वस्य** 'परं जैमिनि'रिति सूत्रभाष्यस्य **अपरस्य** 'अप्रतीकालम्बन'सूत्रभाष्यस्य विरोधः । **परप्राप्तिरि**ति । क्रममुक्तिः । **साक्षादि**ति । परब्रह्मोपासकानाम् । **शीघ्रमि**ति । **सद्यः**

भाष्यप्रकाशः ।

तत्प्राप्तिरित्यविरोधादित्याहुः । अत्र मनआद्युपासनानां प्रतीकत्वमनुपादेयम् ।

रामानुजाचार्यास्तु, इतः पूर्वसूत्रे 'अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहुमुखात् प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवानी'ति श्रुत्या सम्भाव्यब्रह्मलोकस्य अकृतत्वश्रावणात् सर्वबन्धविनिर्मोकस्य च साक्षाच्छ्रावणात् परब्रह्मलोकस्य नित्यत्वमङ्गीकृत्य, अस्मिन् सूत्रे 'उभयथा चे'ति पाठमङ्गीकृत्य मनआद्युपासनानां पूर्ववदेव प्रतीकत्वं चाङ्गीकृत्य, अप्रतीकालम्बननयनप्रतिज्ञायां हेतुमुभयथादोषमेवं व्याकुर्वते । कार्यब्रह्मोपासकनयनमात्रनियमे 'अस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्ये'त्यादिकाः श्रुतयः कुप्येयुः । परब्रह्मोपासकनयनमात्रनियमे च पञ्चाग्निविदो नयनश्रुतिः कुप्येदित्युभयस्मिन् पक्षे दोषः स्यात् । तस्मादुभयविधान्नयतीति, तत्क्रतुश्चेति भागस्य च, तत्क्रतुस्तथोपासीनस्तथैव प्राप्नोतीत्यर्थ इत्याहुः । तेन तन्मतेपि मनआद्युपासनानां प्रतीकत्वमात्रमेवानुपादेयम् ।

तन्मतचौरस्तु तद्वदेव सूत्रं व्याख्याय, विष्णुद्वेषाद् 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्मे'ति महानारायणोपनिषन्मन्त्रम् 'परात् परतरो ब्रह्मा तत्परात् परतरो हरिः । तत्परात् परतरो हीश' इति शिवसङ्कल्पसूक्तमन्त्रं 'नारायणं परं ब्रह्मे'ति च महोपनिषन्मन्त्रं, 'विश्वाधिको रुद्र' इति श्वेताश्वतरमन्त्रं चोपन्यस्य, त्रिलोचननीलकण्ठादिविशिष्टमुमया शबलितमेव परमेश्वररूपमुवाद ।

तदसङ्गतम् । महानारायणोपनिषदि अणोरणीयानित्यनुवाके महिमानमीशमित्युक्त्या ईशस्य परमेश्वरविभूतित्वेनैव सिद्धत्वात् । 'ऋतं सत्य'मिति मन्त्रस्य नारायणानुवाकोक्तोपासनप्रकारबोधनाय रासलीलास्थभगवत्स्वरूपनिरूपकत्वेन 'नारायणपरं ब्रह्मे'ति मन्त्रस्य च प्रथमान्तनारायणपदप्रायपाठसंदष्टत्वेन, 'परात्परतर' इति मन्त्रस्य च सूक्तारम्भे 'येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृते सर्वम्, येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्त्वि'ति मनसस्तथात्वं प्रक्रम्य पठितत्वया तन्माहात्म्यबोधकत्वेन मनमश्रानन्दवल्ल्यां ब्रह्मानन्दात्मकत्वेन सिद्धतया तत्र शिवमाहात्म्यबोधकताया अशक्यवचनत्वेन, 'विश्वाधिक' इति श्वेताश्वतरतृतीयाध्यायमन्त्रस्य च केवलब्रह्मस्वरूपमुपक्रम्य पठितत्वेन त्रिलोचनादिवैशिष्ट्यस्यानुक्तत्वेन तदभिमतरूपाबोधकत्वेन तदुक्तानां सर्वेषामेव मन्त्राणां तदुक्तार्थानुपष्टम्भकत्वात् । इदं यथा तथा प्रहस्तेऽस्माभिर्निपुणतरमुपपादितमिति नात्र प्रपञ्च्यते ।

माध्वास्तु,

'प्रतीकं देह उद्दिष्टो येषां तत्रैव दर्शनम् । न तु व्याप्ततया क्वापि प्रतीकालम्बनास्तु ते ॥
अप्रतीका देवतास्तु ऋषीणां शतमेव च । राज्ञां च शतमुद्दिष्टं गन्धर्वादिशतं तथा ॥
एतेऽधिकारिणो व्याप्तिदर्शनेऽन्ये न तु क्वचित् । अयोग्यदर्शने यत्नाद्भ्रंशः पूर्वस्य चापि तु ॥
अप्रतीकाश्रया ये हि ते यान्ति परमेव तु । स्वदेहे ब्रह्मदृष्ट्यैव गच्छेद् ब्रह्मसलोकताम् ॥

ब्रह्मणा सह सम्प्राप्ते संहारे परमं पदम्' इति गारुडवाक्यान्युपन्यस्य कांश्चित् कार्यं कांश्चित् परं नयति । उभयपक्षोक्तदोषात् । परप्राप्तिपक्षे गत्यनुपपत्त्यादिदोषस्योक्तत्वात् । कार्यप्राप्तिपक्षे च ब्रह्मशब्दामुख्यत्वादिदोषाणामुक्तत्वादित्येवमाहुः ।

तत्र गत्यनुपपत्त्यादिदोषाणामदृष्टादिना भाष्ये एव परिहृतत्वादुदासीना वयम् ।

रश्मिः ।

तत्प्राप्तिर्मुक्तिः, सद्योमुक्तिरित्यर्थः । **प्रतीकत्वमिति** । भाष्योक्तलक्षणम् । जगतो ब्रह्मत्वात् । **इतः पूर्वसूत्र** इति । द्विसूत्रादधिकरणात्पूर्वस्मिन् 'न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धि'रिति सूत्रे । अर्थस्तु कार्ये हिरण्यगर्भे न चायं प्रत्यभिसन्धिः 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्य' इत्यर्चिरादिना गतस्यानुसन्धानमपि तु परस्मिन्नेव ब्रह्मणि यथाहं भवामि ब्राह्मणानामिति तस्याभिसन्धातुः सर्वाविद्याविमोकपूर्वकसर्वात्मभावाभिसन्धानादिति । अग्रे सर्वाविद्याविमोकपूर्वकसर्वात्मभावबोधकग्रन्थे अश्व इव रोमाणीत्यादिः, तदाहुः **अश्व इव रोमाणी**त्यादि । अश्वो रोमाणीवाप्रतीकालम्बनः पापमित्यर्थः । **विधूय राहुमुखाच्चन्द्र** इव पापमुखादप्रतीकालम्बनः । **प्रमुच्य शरीरं धूत्वा** अश्व इवेत्येव । **कृतात्मा** कृतः पापशरीराभ्यां रहितः कृत आत्मस्वरूपं येन । स **अकृतं** कृतभिन्नं नित्यं ब्रह्मलोकं **अभिसंभवानि** अभितः सम्यगसानि । इति प्रत्यभिसन्धिरित्यर्थः । एवं नित्यत्वमङ्गीकृत्येत्यर्थः । **अस्मिन्निति** । अप्रतीकालम्बनरूपे । **पूर्ववदेवेति** । अस्मद्भाष्यवत् । तथा च रामानुजाचार्यभाष्यम् । 'ये तु ब्रह्मकार्यान्तरभूतं नामादिकं वस्तु देवदत्तादिषु सिंहादिदृष्टिवद् ब्रह्मदृष्ट्या केवलं वा तत्तद्वस्तूपासते, न तान्नयति । अतः परं ब्रह्मोपासीनानात्मानं च प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मात्मकमुपासीनान्नयती'ति । तत्तद्वस्तु विशिष्टाद्वैतसिद्धम् । **अनुपादेयमिति** । ब्रह्मात्मकत्वाज्जगतः । **तन्मतेति** भगवाञ्छैवः । **तद्वदेवेति** । रामानुजाचार्यवत् । **विष्णिवति** । आचार्यत्वेपि तामसत्वात्तथा । **ऋतं सत्यमिति** । शिवलिङ्गमत्राग्रेवाच्यम् । **रासलीलेति** । परब्रह्मत्वं 'सोश्नुते सर्वान् कामा'निति श्रुत्युक्ते इति भावः । किं च । परं ब्रह्म कृष्णः, तस्य महिमा रुद्र इति पदशक्तिरपि न शिवे । तृतीयान्तानां पदानां तदभिमतेत्यादिनान्वयः । **प्रथमान्तेति** । तथा च पुंनपुंसकत्वरूपविरुद्धधर्माधारत्वं परब्रह्मलिङ्गमिति । न शिवपरत्वमिति भावः । **सूचीकटाहन्यायेनाहुः परात्पर** इति । अन्यथा 'नारायणं परं ब्रह्मे'ति मन्त्रात् पूर्वमेव विचारितः स्यात् । **येनेदमिति** । मनसा वेदशरीरेण जीवपरिगृहीतेन । 'स एष जीव' इति वाक्यात् । आनन्दसृष्टिः । **येनेति** । वेदशरीरेण । **यज्ञस्तायते** इति । 'विज्ञानं यज्ञं तनुत' इति श्रुतिः । **सप्तहोतेति** । सप्तभिश्छन्दोभिरग्निजिह्वाभिर्वा जुहोतीति होता नप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोत्रिति साधुः । **शिवेति** । शिवः सङ्कल्पो मनोवृत्तिर्यस्य मनसः । **तथात्वमिति** । भूतादिकर्तृत्वम् । **तन्माहात्म्येति** । मनोमाहात्म्यं देवत्वं तस्य बोधकत्वेन । **ब्रह्मानन्देति** । 'यतो वाचो निवर्तन्त' इत्यादिना 'न बिभेति कदाचने'त्यन्तया श्रुत्या । **प्रहस्त** इति तस्य तृतीयवादे । **तत्रैवेति** । देह एव । **एत इति** । ऋषिराजगन्धर्वाः । ननु देहे परमात्मदर्शिनामपि यत्नेन व्याप्ततया दर्शने अप्रतीकालम्बनत्वे सूत्रोक्तोभयथापदविरोध इति चेत्, तत्राहुः **अयोग्येति** । व्याप्ततया दर्शने । **पूर्वस्येति** । देहे दर्शनवतः । **ब्रह्मसलोकतामिति** । हिरण्यगर्भसमानलोकताम् । **कार्यमिति** । कार्यब्रह्म । **उभयपक्षेति** । उभययोः पक्षयोः उक्तयोरदोषात् । **गत्यनुपपत्त्यादीति** । आदिना गतेर्गौणत्वम् । **ब्रह्मशब्देति** । 'स एनान् ब्रह्म गमयती'त्यत्र कार्यं ब्रह्म ब्रह्मशब्दार्थ इति ब्रह्मशब्दस्यामुख्यत्वं गौणत्वम्, आदिना गत्यमुख्यत्वमित्युक्ता दोषाः तेषामभावात् । एवं स्वमते उभयथा अदोषादिति पदच्छेदे सिद्धान्तभाष्यविरोधः स्यात्, तदर्थं उभयथा दोषादित्यस्यैवं व्याख्यातस्य प्रयोजनाभावमाहुः **तत्र गत्यनुपेति** । **अदृष्टादिनेति** । आदिना इच्छा । **भाष्ये**

भाष्यप्रकाशः ।

विशेषदर्शनसूत्रे च, 'यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य कामचारो भवती'त्यादिश्रुतिर्नामादिप्राणपर्यन्तेषु प्रतीकोपासनेषु फलविशेषं च दर्शयतीति प्रतीकालम्बनान् वर्जयित्वा नयतीति सिद्धमिति शङ्करभास्कररामानुजाचार्या आहुः । तत्तु मनोनामाद्युपासनानां प्रतीकतानिराकरणेन फलविशेषभवनस्य च भगवदिच्छया भगवद्विभूतित्वात् साधनेनैव निरस्तम् ।

यत्तु शैवो विष्णुलोकापेक्षया शिवलोके विशेषं दर्शयतीत्याह । तदपि प्रहस्ते निपुणतया दूषितमिति ततोवधेयम् ।

माध्वास्तु, 'अन्तःप्रकाशाः बहिःप्रकाशाः सर्वप्रकाशाः देवा वा सर्वप्रकाशा ऋषयोऽन्तःप्रकाशा मानुषा एव बहिःप्रकाशा' इति काचिच्चतुर्वेदशिखाश्रुतिर्विशेषं दर्शयतीत्याहुः । तत्रापि श्रुतेरप्रसिद्धत्वादुदासीना वयम् ॥ १७ ॥ इति पञ्चमं विशेषाधिकरणम् ॥ ५ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणनखचन्द्रनिरस्तहृद्रूपध्वान्तस्य श्रीपीताम्बरात्मजस्य पुरुषोत्तमस्य कृतौ भाष्यप्रकाशे चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ४ ॥ ३ ॥

रश्मिः ।

अणुभाष्ये पूर्वाधिकरणे भाष्यप्रकाशे चाधिकरणसमाप्तौ । साधनेनेति । अप्रतीकालम्बनसूत्रे साधनेन । विशेषमिति । अन्तःप्रकाशादिषु देवाद्यधिकारिविशेषम् ॥ १७ ॥ इति पञ्चमं विशेषाधिकरणम् ॥ ५ ॥

इति श्रीविट्ठलेश्वरैश्वर्यनिरस्तसमस्तान्तरायेण श्रीगोविन्दरायजित्पौत्रेण सम्पूर्णवेत्रा विट्ठलरायजिज्ज्ञाश्रीयगोकुलोत्सवात्मजगोपेश्वरजिता कृते भाष्यप्रकाशस्य रश्मौ चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः सम्पूर्णतामगमत् ॥ ३ ॥

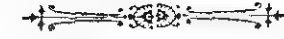
श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम् ।

भाष्यप्रकाश-रश्मि-परिबृंहितम् ।



अथ चतुर्थोऽध्यायः ।



चतुर्थः पादः ।

सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥ १ ॥ (४-४-१)

'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्युपक्रम्य 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति तैत्तिरीयके पठ्यते । तत्रेदं सन्दिह्यते किमन्तःस्थित एवाश्नुते, उत पुनर्जन्म प्राप्येति । तत्रान्त्यस्त्वनुपपन्नः । 'न स पुनरावर्तते' 'तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्ती'त्यादिश्रुतिविरोधात् कर्माभावाच्चेति प्राप्ते,

भाष्यप्रकाशः ।

सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥ १ ॥ द्वितीये पादे सद्योमुक्तिक्रममुक्त्योः प्रकारो दर्शितः, तदनु तृतीये क्रममुक्तौ प्राप्यस्वरूपं प्राप्तिप्रकारं च दर्शयित्वा समाप्तौ ज्ञानमार्गीयभक्तिमार्गीययोः सद्योमुक्तावप्यक्षरप्राप्तिपुरुषोत्तमप्राप्तिरूपः फले विशेषोऽस्तीति दर्शितम् । इदानीं तत्पुरुषोत्तमप्राप्तिरूपं फलं कथमनुभवतीत्यतस्तत्प्रकारः, कीदृशं च पुरुषोत्तमस्य स्वरूपमित्यतस्तत्प्रकारश्चेत्येतदस्मिन् पादे विचार्यत इत्याशयेन सूत्रमुपन्यस्य विचारमारभन्ते ब्रह्मविदित्यादि । तत्रेदं सन्दिह्यत इति । यद्यन्तःस्थितोऽश्नुते, तदा 'स' इति भोगस्वातन्त्र्यबोधकप्रथमाविभक्त्यनुपपत्तिः । ब्रह्मणि लये भेदाभावाद् । यदि बहिर्भूत्वा तदा आवृत्त्यापत्त्या परप्राप्तेर्मुक्तित्वभङ्ग इत्युभयथापि दोषात् 'अश्नुत' इति विवरणं सन्दिह्यत इत्यर्थः ।

पूर्वपक्षमाहुः तत्रेत्यादि । तथा च ब्रह्मलोकसम्पत्तौ यत्र पुनरावृत्त्यभावः, तत्र साक्षाद्ब्रह्मप्राप्तानां कुतस्तत्सम्भावनेत्यपुनरावृत्तिश्रुतिविरोधापेक्षया विभक्त्यर्थमात्रबाधस्य स्वल्पदोषत्वा-

रश्मिः ।

सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥ १ ॥ कथमनुभवतीति । सफलस्याग्रिमावस्थायां पादार्थरूपायां फलतावच्छेदकं पुरुषोत्तमत्वं कथं केन प्रकारेणानन्दाविष्टपुरुषोत्तमत्वप्रकारेणोत स्वरूपस्यैव फलत्वात्पुरुषोत्तमत्वेन फलं पुरुषोत्तममुत 'न तदश्नोति कश्चन, न तदश्नोति कश्चने'ति श्रुत्या तद्भोगनिषेधात्सुधासंवलितत्वेन रूपेण तमनुभवतीत्यर्थः । भेदाभावादिति । फलप्रकरणेऽपि तादात्म्यानुक्त्या 'ते तु ब्रह्महृदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृता' इति प्रकारः सूचितः । तथेति । प्रतिवदतीत्यर्थः ।

प्रतिवदति । **सम्पद्य** ब्रह्म सम्पद्यापि स्थितस्य जीवस्य प्रभोरत्यनुग्रहवशात् स्वरूपात्मकभजनानन्ददित्सायां तत्कृत आविर्भावो भवत्येव । आविर्भावस्य भगवदधीनत्वज्ञापनायास्य तत्र कर्तृत्वं नोक्तम् । ननूक्तं 'न स पुनरावर्तत' इत्यादिश्रुतिविरोधः कर्माभावश्च बाधक इत्यत आह स्वेनेति । स्वशब्दोऽत्र भगवद्वाची । तथा च भगवत्स्वरूपबलेनैवाविर्भाव इत्यर्थः । एवं सत्युक्तश्रुतिर्मर्यादामार्गविषयिणीति नविरोध इति भावः । तेषामिह प्रपञ्चे न पुनरावृत्तिरस्तीति हि श्रुतिराह । लीलायाः प्रपञ्चा-

भाष्यप्रकाशः ।

दन्तरित्येव युक्तमिति प्राप्ते तथेत्यर्थः । सिद्धान्तं व्याकुर्वन्ति सम्पद्येत्यादि । ब्रह्म सम्पद्येति । द्वितीयपादोक्तरीत्या वागादीनां प्राणानां ब्रह्मणि लयोत्तरं, 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति', 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'ति श्रुत्या ब्रह्मणा सहैकीभावं प्राप्य । आविर्भाव इति । स्वस्य ब्रह्मभिन्नतयानुभवविषयत्वयोग्यता । अस्य तत्र कर्तृत्वं नोक्तमिति । जीवस्याविर्भावे कर्तृत्वं नोक्तम् । स्वेनेति पदमवतार्य व्याकुर्वन्ति नन्वित्यादि । भगवत्स्वरूपबलेनैवाविर्भाव इति । छान्दोग्ये भूमविद्यायां 'तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण' इत्याद्युपक्रम्य, 'आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्न'मित्यादिश्रावणात्तस्य ब्रह्मसम्पन्नस्यापि ब्रह्मस्वरूपबलेनैवाविर्भावः । एवं हेत्वन्तरकथनेन कर्माभावात्मकमाविर्भावबाधकं परिहृतम् । एतेनैवापुनरावृत्तिश्रुतिविरोधोपि परिहृत इत्याहुः एवं सतीत्यादि । न विरोध इति । विषयभेदान्न विरोधः । ननु तर्हि पुष्टिमार्गस्य मर्यादामार्गापेक्षया जघन्यत्वापत्तिरित्यत आहुः तेषामिहेत्यादि । यद्यपि 'न स पुनरावर्तत' इति श्रुताविह नेति विशेषो न श्रूयते, तथापि पञ्चाग्निविद्यायामक्षिपुरुषविद्यायां च 'तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्ती'ति, 'इमं मानवमावर्तं नावर्तन्त' इति च यथायथं श्रावणादस्मिन् लौकिके प्रपञ्चे पुनरावृत्त्यभावमाह, न तु नित्यायां भगवल्लीलायामपीति श्रुतिविरोधाभावाच्च पुष्टिमार्गे कथमनावृत्तिसिद्धिरित्यतो हेतुं वदती-

रश्मिः ।

ब्रह्मवेदेति । **आरण्ये** सह वै पत्नायामस्ति । **ब्रह्मैवेति** । शारीरकब्राह्मणेस्ति । **ब्रह्मवेद्** अक्षरब्रह्मवित् । **ब्रह्म** परं ब्रह्म भक्त्या **भवति** तदैक्यं प्राप्नोति । मतान्तरे आवरणभङ्गद्वारा ब्रह्माक्षरमेव भवति । आत्मकामः आत्मभक्तिमान् ब्रह्मैव सन् साधनैर्जीवन्मुक्तः सन् 'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववि'दित्युक्त्वा 'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त' इति भाष्योक्तगीतायाः 'मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थिति'रित्येकादशे मुक्तिलक्षणम्, तल्लक्षितः । मतान्तरे वेदान्तविज्ञानेन । अकामो निष्कामः आप्तकाम आत्मकाम इत्युक्तरूप ब्रह्मैव सन् **ब्रह्माप्येति** प्राप्नोति । देहाद्यावरणविच्छेदापेक्षयाप्येतीवेत्युपचर्यते । नित्यप्राप्तत्वादेवेत्यर्थः । **ब्रह्मणेति** । परब्रह्मणा । **भाष्ये प्रभोरत्यनुग्रहेति** । अनुग्रहेण भक्त्या पुरुषोत्तमप्राप्तिर्जातैव, पुनरनुग्रहो व्यर्थ इत्यतिशब्दः । 'भजतां भगवान्मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोग'मित्यदेयभक्तिकारणमुक्तम् । **स्वरूपे**त्यादिनाऽदेयभक्तिरूपमानन्दफलसहितमुक्तम् । इच्छाधीनत्वज्ञापनाय **दित्सा**शब्दः । **ब्रह्म भिन्न**त्वेति । भेदेपि तादात्म्यरूपाभेदोस्त्येवेति न स्वगतं द्वैतम् । लक्षणन्तु विद्वन्मण्डने प्रपञ्चितमेव । **हेत्वन्तरे**ति । हेतुः **शब्दा**दिति । तदन्यो हेतुः **स्वेने**ति । हेतौ तृतीयेति । तस्य **कथनेन** । **परिहृत**मिति । वेदं कर्मणो जगज्जन्मादिकर्तृत्वं गुरुत्वमीश्वरत्वं चेति, 'आत्मतः प्राण' इत्यत्रात्मपदवाच्यत्वात्तस्य चोक्तत्वात्परिहृतम् । **एतेनै**वेति । स्वेन पदेनैव । **एवं सतीत्यादीति** । **उक्ते**ति । 'न स पुनरावर्तत' इति श्रुतिः । **विषयभेदा**दिति । पुष्टिमर्यादाविषयभेदात् । **तर्हीति** । **पुष्टिमार्गस्या**वृत्तिविशिष्टत्वकाले । **मर्यादे**ति । अनावृत्ति-

तीतत्वात् तत्राविर्भावस्यनिषेधाविषयत्वादपि न विरोधः । अत्र प्रमाणाकाङ्क्षायामाह शब्दादिति । 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति श्रुतिः पुरुषोत्तमेन सह सर्वकामभोगं वदति । स च न विग्रहं विना सम्भवतीति श्रुतिबलादेव तथा मन्तव्यमित्यर्थः ॥ १ ॥

हेत्वन्तरमाह ।

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥

अत्रोपक्रमे 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति वाक्येन परप्राप्तिलक्षणां मुक्तिं प्रतिज्ञाय हि तद्विवृतिरेव 'सोऽश्नुत' इत्यादिना क्रियते । तेन पुष्टिमार्गीयमुक्तिरूपत्वमेव तस्याशनस्य सिध्यति, अतोऽपि हेतोस्तदाविर्भावस्य न लौकिकत्वम्, न चावृत्तिरूपत्वमित्यर्थः ॥ २ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

त्याशयेन अवतारयन्ति अत्रेत्यादि । व्याकुर्वन्ति सोऽश्नुत इत्यादि । तथा च पुरुषोत्तमे अक्षरापेक्षया परत्वस्य मुण्डके श्रावितत्वादक्षरे भगवद्धामत्वस्यापि तत्र श्रावणात् तैत्तिरीये प्रजारूपत्वस्यापि श्रावणात्तस्य लीलास्थानतायाम[illegible] भोगोऽक्षरे सिध्यति । भोगश्च विग्रहमन्तरेणानुपपद्यमानो विग्रहमाक्षिपतीति भोगबोधकवाक्यरूपः शब्द एवात्र तदाविर्भावे प्रमाणमित्यर्थः ॥ १ ॥

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥ सूत्रमवतारयन्ति हेत्वन्तरमाहेति । ननु ब्रह्मसम्पत्तिरेव मुक्तिरिति सम्पन्नो मुक्तः, आविर्भावस्तु विभागे सति व्युच्चारणाद् भवति । तथा सति सुषुप्त्यादाविव बन्ध एव सम्भावित इति कथमाविर्भावस्य मुक्तिकोटौ प्रवेश इत्याकाङ्क्षायां अत्र भगवतः सकाशाद्विभज्य यो जीवस्याविर्भावस्तस्यालौकिकत्वेऽनावृत्तिरूपत्वे चैतत्प्रकरणोक्तं हेत्वन्तरमाहेत्यर्थः । व्याकुर्वन्ति अत्रेत्यादि । परप्राप्तिलक्षणामिति । ब्रह्मविदः परप्राप्तिलक्षणाम् । तथा च प्रतिज्ञानादुक्तवाक्ये मुक्तेः प्रतिज्ञानाद् यस्याविर्भावः प्रतिपिपादयिषितः, स मुक्त इति सूत्रयोजना । तथा सति तस्याविर्भावस्य न लौकिकत्वम्, न चावृत्तिरूपत्वमित्यर्थः ॥ २ ॥

रश्मिः ।

साधकमर्यादामार्गापेक्षया । **अत्रेति** । इह लोके एवानावृत्तिसिद्धिरित्यर्थः । **मुण्डक** इति । 'स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् उपासते यत्र पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमतिवर्तन्ति धीराः ॥' इत्यत्र यत्रेत्यस्य परमे ब्रह्मणि धाम्नीत्यर्थात् । 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः पर' इत्यत्र वा । परपदघटितत्वात् । पूर्वाधामत्वश्रावणे । **तैत्तिरीय** इति । महानारायणोपनिषदि । 'अजायमानो बहुधा विजायत' इति श्रुतेः । पूर्वैकवाक्यतया प्रजारूपः पुरुषः ॥ १ ॥

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥ हेत्वन्तरमिति । शब्दाद्धेतोरन्यत् । आप्नोति परमिति प्रतिज्ञारूपं हेतुम् ॥ २ ॥

आत्मा प्रकरणात् ॥ ३ ॥

ननु परस्य ब्रह्मणो निर्गुणत्वात् कामभोगस्य गुणसाध्यत्वात् 'सह ब्रह्मणे'त्यत्र ब्रह्मपदं सगुणतत्परम्, अतो न तस्य मुक्तिरूपत्वमित्यत आह । अत्र ब्रह्मपदेन आत्मा व्यापको मायातद्गुणसम्बन्धरहितो यः स एवोच्यते । कुतः प्रकरणात् । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्युपक्रम्य तत्पाठाद् गुणातीतस्यैवैतत्प्रकरणमिति तदेवात्र ब्रह्मशब्देनोच्यत इत्यर्थः ॥ ३ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

आत्मा प्रकरणात् ॥ ३ ॥ सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि । तस्येति । ब्रह्मणा सह भोगस्य । व्याकुर्वन्ति अत्र ब्रह्मेत्यादि । तदेवेति । परपदेनोक्तं गुणातीतमेव । तथा च कार्यकथने जगत्कारणत्वेन स एव परिचायितव्य इति व्यापकत्वेपि विरुद्धधर्माश्रयत्वाद्यथा सृष्ट्यादिकं स करोति, तथा तं भजनानन्ददानायाविर्भाव्य भोगमपि कारयतीति न तेन कार्येण तस्याविर्भावस्य मुक्तिकोटिगत्वभङ्ग इत्यर्थः ॥ ३ ॥

रश्मिः ।

आत्मा प्रकरणात्॥३॥ ब्रह्मणा सहेति । अस्य स्वरूपेण व्यवस्थितिरूपत्वम् । निवेदितात्मनो भगवद्दिचिकीर्षाविषयस्य स्वरूपव्यवस्थितिवत्त्वात् । एवं च 'स्वरूपं द्विविधं चैव सगुणं निर्गुणं तथे'तिगोपालतापिनीये स्वरूपमुद्दिश्य सगुणत्वं विधाय विरुद्धधर्माधारत्वाय तथा स्वरूपप्रकारेण निर्गुणत्वमित्युक्तम् । अत एव बृहद्वामनपुराणे 'नारायणादिरूपाणि ज्ञातान्यस्माभिरच्युत । सगुणं ब्रह्म सर्वेदं वस्तुबुद्धिर्न तेषु नः । ब्रह्मेति पठ्यतेस्माभिर्यद्रूपं निर्गुणं परम् ॥ १ ॥ वाङ्मनोगोचरातीतं ततो न ज्ञायते तु तत् ॥ आनन्दमात्रमिति यद्वदन्तीह पुराविदस्तद्रूपं दर्शयास्माकं यदि देयो वरो हि नः ॥ श्रुत्वैतद्दर्शयामास स्वं लोकं प्रकृतेः परम् ॥ केवलानुभवानन्दमात्रमक्षरमध्यग'मित्याद्युक्त्वा 'दृष्टो मदीयो लोकोऽयं यतो नास्ति परं वरम्' ॥ इति सगुणनिर्गुणाभेद उक्तः । ब्रह्मत्वब्रह्मसम्बन्धावगाहिज्ञानमात्मेत्यात्मेत्युक्तम् । य इतिपदेन भाष्ये जगज्जन्मादिकर्तृत्वयुक्तः 'गौणश्चेन्नात्मशब्दा'दिति सूत्रोक्तश्चेत्युक्तस्तदभिप्रायेण सिद्धमाहुः । तथा चेति । कार्यमाविर्भावयुक्तं तस्य मुक्तस्य कथने । विरुद्धेति तेन व्यापकत्वविरुद्धसुधासंवलितत्वरूपादित्यर्थः । कार्येणेति । मुक्तरूपेण । तथा चाथर्वणे । मुण्डके 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः । अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः पर' इति चतुर्थवेदोपनिषदां प्रथमे । सर्वाथर्ववेदार्थनिर्णायके परत्वेन ब्रह्मोपादानम् । ऋग्वेदोपनिषद्यपि 'देवस्तुर्यो विभुः स्मृत' इत्यत्र व्यापकत्वेन । त्रिर्वायुस्तस्य भवनस्थानम् । तुर्य इति फले परोक्षवादेन तुरीयत्वेन परब्रह्मोपादानम् । यजुर्वेदे 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत आकाशाद्वायु'रिति, तैत्तिरीये आद्यस्याकाशस्य जन्मकृदुक्तः, स परः, 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासे'त्यत्र शेषषष्ठ्यङ्गीकारात् पर उक्तोक्षरवैकुण्ठयुक्तः । सामवेदे छान्दोग्यनवमोपदेशे सत्यपदमुक्तम् । तदुपलक्षकम् । ज्ञानानन्तानन्दानामिति य उक्तः । एवं द्वितीयस्कन्धनवमाध्यायोक्तार्थे स्थितिर्व्याकृता ॥ ३ ॥

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥

ननु 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति भिन्नं वाक्यम्, ऋग्भिन्ना, अतो नैकं प्रकरणमिति सगुणमेव तत्र ब्रह्मपदेनोच्यत इत्याशङ्क्य, प्रतिवदति । पूर्ववाक्येन सममविभागेनैवेयं ऋक् पठिता, न तु विभागेन । कुतः । दृष्टत्वात् । 'ब्रह्मवि'दिति वाक्यानन्तरं तत्पूर्वोक्तमर्थं प्रतिपाद्यत्वेनाभिमुखीकृत्यैषर्गुक्तेति श्रुतिर्दृश्यते । 'तदेषाभ्युक्ते'ति । तेन पूर्ववाक्योक्तार्थमधिकृत्यैवर्गुच्यत इति गुणातीतमेव तदत्र वाच्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥

इति चतुर्थाध्याये चतुर्थपादे प्रथमं सम्पद्याविर्भावाधिकरणम् ॥ १ ॥

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥ ५ ॥ (४–४–२)

पूर्वेण मुक्तो जीवो भगवदनुग्रहातिशयेच्छातो बहिराविर्भूतो गुणातीतेन पुरुषोत्तमेनैव सह सर्वान् कामानश्नुत इति सिद्धम् । अथ तत्रैवेदं विचार्यते । आविर्भूतो जीवः प्राकृतेन शरीरेण भुङ्क्ते, उताप्राकृतेनेति । तत्र भोगस्य लौकिकत्वे तदायतनस्यापि तादृशेनैव भवितव्यमिति मन्वानं प्रत्याह ।

भाष्यप्रकाशः ।

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥ अवतारयन्ति नन्वित्यादि । अत इति । वाक्ययोः परस्परापेक्षाबोधकपदाभावात् । व्याकुर्वन्ति पूर्ववाक्येनेत्यादि । अर्थस्तु स्पष्टः । तथा च वाक्ययोर्मध्ये तादृक्पदाभावेपि ऋक्प्रयोजनबोधके मध्यमवाक्येऽपेक्षाबोधकपदसत्त्वात्तथेत्यर्थः ॥ ४ ॥

इति प्रथमं सम्पद्याविर्भावाधिकरणम् ॥ १ ॥

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥ ५ ॥ अत्र पूर्वसूत्रद्वये भगवद्रूपेण विग्रहेण जीवस्य परप्राप्तिरूपो भोगः सिद्धः । अग्रिमसूत्रद्वये भगवतश्च परमपुरुषत्वं सिद्धम् । तत्र पूर्वसूत्रद्वये यो विग्रहः सिद्धः, तं पूर्वं विचारयतीत्याशयेन पूर्वसूत्रद्वयसिद्धमर्थमनुवदन्तः सूत्रमवतारयन्ति पूर्वेणेत्यादि । पूर्वेणेति । आद्यसूत्रद्वयेन । अथ तत्सिद्धयुत्तरं तस्मिन्नेव वाक्यार्थे

रश्मिः ।

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥ नन्वित्यादीति । अत्रेति । भिन्नायां विवरणर्चि । पूर्ववाक्येनेति । ब्रह्मविदाप्नोतिपरमिति वाक्येन । तत्रेति । पूर्ववाक्ये । तदत्रेति । तद् ब्रह्म अत्र विवरणर्चि । मध्यमेति । तदेषाभ्युक्तेति द्वयोर्मध्यमवाक्ये । अपेक्षेति । तत्तु तत्पदमुक्तार्थम् । तथेति । गुणातीतमेव तदत्रवाच्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥

इति प्रथमं सम्पद्याविर्भावाधिकरणम् ॥ १ ॥

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥ ५ ॥ अत्रेति । चतुःसूत्र्यधिकरणे । आद्यसूत्रेति । परप्राप्तिरूपभोगप्रतिपादकत्वेन रूपेण यत्पूर्वसूत्रद्वयं तेन । अथेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म । अथ तदिति । आनन्तर्यमथशब्दार्थ इत्याहुः । सिद्ध्युत्तरमिति । ब्रह्मणेत्यादीति । ब्रह्म

ब्राह्मेण ब्रह्मसम्बन्धिना ब्रह्मणा भगवतैव स्वभोगानुरूपतया सम्पादितेन सत्यज्ञानानन्दात्मकेन शरीरेण पूर्वोक्तानश्नुत इति जैमिनिराचार्यो मनुते । तत्र हेतुः, उपन्यासादिभ्य इति । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति ब्रह्मविदः परप्राप्तिं प्रतिज्ञाय तदर्थस्यैवोपन्यासोऽग्रिमयर्चा क्रियते, 'सोऽश्नुते' इत्यादिना । तथा च परप्राप्तेर्मुक्तिरूपत्वात् पुष्टिमार्गीयायास्तस्या एवंरूपत्वादक्षरब्रह्मणः पुरुषोत्तमायतनरूपत्वात्तदात्मकमेव शरीरं तस्य वक्तुमुचितम्, न तु प्राकृतम् । एतद्बोधनायैवाग्रेऽन्नमयादीनि विभूतिरूपाण्युक्तानि । भक्तशरीरे प्रतीयमानानामर्थानां

भाष्यप्रकाशः ।

वक्ष्यमाणविचार आरभ्यत इत्यर्थः । पूर्वपक्षार्थः स्फुटः । सिद्धान्तं व्याकुर्वन्ति **ब्राह्मेणे**त्यादि । **ब्रह्मसम्बन्धिने**त्यस्य विवरणं **ब्रह्मणे**त्यादि **शरीरेणे**त्यन्तम् । **उपन्यासादिभ्य इति** । उप समीपे न्यासः कथनं विवरणमिति यावत् स आदिर्येषाम्, तद्गुणसंविज्ञानः, ते उपन्यासादयस्तेभ्यः । तदेतद्विवृण्वन्ति **ब्रह्मविदि**त्यादि । **एवंरूपत्वादि**ति । सर्वकामाशनरूपत्वात् । ननु ब्रह्मभावं विना मुक्त्यभावाज्ज्ञाते च तस्मिन् व्यापकत्वादिवदानन्दाविर्भाववच्च पूर्वसिद्धाकारस्याप्याविर्भाव उपन्यासश्रुतेरप्युपपत्तौ भोगार्थं ब्राह्मशरीरस्याङ्गीकारो न प्रामाणिक इत्यत आहुः **एतदि**त्यादि । शरीरस्याक्षरात्मकत्वबोधनायैव ऋगुक्तोपन्यासानन्तरमन्नमयादीनि विभूतिरूपाणि पुरुषविधत्वेन ब्रह्मत्वेनोपास्यत्वेन चोक्तानि । तस्य फलं **भक्तशरीरे प्रतीयमानानामर्थानां** पृथिव्यादीनां गन्धादीनां च विभूतिरूपत्वेन ब्रह्मात्मकत्वं तेन कथनेन

रश्मिः ।

सम्पादयतीति ब्राह्मं शरीरम् । अन्येभ्योपीति डः । **ग्रावदि**ति । नितरां क्षेपः विवरणस्यैवेनिभावः । **तद्गुणे**ति । उपन्यासादिभ्य आक्षिप्तेन ब्राह्मेण शरीरेण पुरुषोत्तमेनैव सर्वान्कामानश्नुत इति सूत्रार्थादाक्षेपे विशेष्यान्वयिन्युपन्यासस्याप्यन्वयाद्धेतुत्वेन विशेष्यान्वय्यन्वयित्वरूपतद्गुणसंविज्ञानलक्षणादिना तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । **ते** इति । विवरणार्थं परप्राप्तिलक्षणार्थस्योपन्यासः । आदिपदोक्तं **ब्रह्मणो** निर्गुणत्वं विवर्यविवरकर्गविभागश्च उपन्यासप्रतिपादक 'मुक्त' इति सूत्रादग्रिमसूत्रद्वयाच्चोक्तास्ते उपन्यासब्रह्मनिर्गुणत्वविवर्यविवरकर्गविभागा इत्यर्थः । यद्वात्रायमुपलक्षितोर्थः ते उपन्यासाऽन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमया इत्यर्थः । **ब्रह्मविदि**नीति । ब्रह्मविदित्यादीति वक्तव्ये तत्पर्यायोपन्यासोऽयम् । नेन शरीरप्राप्तेरित्यादिभाष्यस्य आक्षेपलभ्यत्वेपि शरीरप्राप्तेः मुक्तौ रूपं यस्या इत्येवं मुक्तिरूपत्वं तस्मादित्यर्थः । **पूर्वसिद्धे**ति । 'अविप्रणाशः सर्वेषां कर्मणामिति निश्चयः । कर्मजानि शरीराणि तथैवाकृतयो नृणा'मिति वाक्यात् सूक्ष्मस्य । **उपन्यासश्रुते**र्ब्रह्मविदाप्नोतीति श्रुतेः । **ब्राह्मशरीरस्ये**ति । सच्चिदानन्दात्मकस्य । **उक्तानी**ति । ब्रह्मवित्प्रपाठके । **भक्तशरीर**इत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तस्य फल**मिति । **ब्रह्मात्मकत्व**मिति । जगतो ब्रह्मात्मकत्वेपि पुनर्ब्रह्मात्मकत्वविधानमलौकिकेपि देहे 'आश्चर्यो वक्ते'ति काठकात्पृथिव्यादीनां तन्मात्राणां गन्धादीनां कथनम् । आश्चर्यं आश्चर्यवान् आश्चर्यशब्दादर्शआद्यच् । 'आश्चर्यवत्पश्यति

विभूतिरूपत्वेन ब्रह्मात्मकत्वं तेन साधितं भवति । इदमेवादिपदेन बहुवचनेन च ज्ञाप्यते एतदानन्दमयाधिकरणे प्रपञ्चितम्, अतो नात्र पुनरुच्यते । यत्र कर्मवादी जैमिनिरेवं मनुते, तत्रान्येषामेवमङ्गीकारे किमाश्चर्यमिति ज्ञापनाय तन्मतोपन्यासः कृतः ॥ ५ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

साधितं भवति । इदं श्रौतमुपपादनमेव आदिपदबहुवचनाभ्यां ज्ञाप्यत इत्यर्थः । **प्रपञ्चित**मिति । 'तन्निरूपकस्यापि तत्तुल्यफलत्व'मित्यनेन वर्णकान्तरेण च प्रपञ्चितम् । तथा चाग्रेऽन्नमयादिनिरूपणबलादेवमुच्यते, अतः सृष्ट्यादौ यो भगवदाकारस्तिरोहितः, तस्यैवैवमाविर्भावेपि दित्सितफलानुभवयोग्यरूपेणाविर्भावादुक्तप्रकारकस्थूलरूपस्यैवाविर्भावान्नाप्रामाणिक इति भावः । इदमेव 'स्वरूपेणावतारेणे'ति सार्धेन पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थ उक्तम् । **एवञ्च** जीवस्य व्यापकत्वादिषु भगवद्धर्मेष्वानन्दे चाविर्भूते सच्चिदानन्दात्मके देहेऽक्षरात्मके सम्पन्ने यो लीलारसानुभवः, स निरुपम इति, स एव सेवाफले, 'महान् भोगः प्रथमे विशते सदे'त्यनेनोक्त इति ज्ञेयम् । ननु माध्वर्णिकसूत्रेऽन्नमयप्राणमययोर्बाह्याभ्यन्तरलौकिकव्यवहारकारणत्वेन लोकत्वं मनोमयस्य च वेदत्वं तद्भाष्ये प्रत्यपादीति विभूतित्वादिकथनं तद्विरुद्धमिति चेत् । न । श्रुतौ परस्मादानन्दरूपात् सृष्टिः प्रक्रान्तेति सा सृष्टिरतिरोहितानन्दा भवति । कारणस्य समन्वयात् । कार्यत्वादीषत्तिरोभावोपि । अन्यथा व्यवहारभङ्गेन लीलाया असिद्धेः । एवं सति तादृश्यां सृष्टौ तत्तद्व्यवहारकारणीभूतस्य विभूतिरूपस्यैवौचित्येन तल्लौकिकवैदिकव्यवहारे कारणपदेन तस्यैव सूचनाविरोधात् । मतकथनप्रयोजनमाहुर्यत्रेत्यादि ॥ ५ ॥

रश्मिः ।

कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्य' इति गीता । **इदमेवे**ति भाष्यविवरणम् । **इदं श्रौत**मिति । **आदिपदे**ति । सौत्राभ्याम् । **एवमुच्यत** इति । ब्राह्मशरीरं स्थूलमुच्यते । **भगवदाकारे**ति । मुक्तस्य भगवता दत्त आकारः **तिरोहितः** । **उक्तप्रकारके**ति । भक्तशरीर इत्यादिभाष्योक्तप्रकारकस्थूलरूपस्य । आश्चर्यमुक्तमेव । **पुष्टिप्रवाहे**ति । ननु पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थस्य बादरायणमतानुसारित्वाज्जैमिनिमतानुसन्धानं कुत इति चेन्न । वेदाविरुद्धमतत्वात् । 'जैमिनीये च वैयासे न विरोधोस्ति कश्चने'ति वाक्यात् । वेदविरोधो नास्तीत्यर्थः । **सच्चिदि**ति । **आनन्दोत्र** गणितानन्दः अक्षरात्मक इति विशेषणात् । **सेवाफल** इति । आशङ्कासमाधाने पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थवत् । **प्रक्रान्ते**ति । 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्त' इति । **कारणस्ये**ति । **अतिरो**हितानन्दस्य सच्चिद्भ्यामतिरोहितानन्दस्य । आनन्दमीमांसानुकारकलीलानुरोधात्फलेप्याहुः **कार्यत्वादि**ति । **ईषत्तिरोभावेऽपि** समन्वयादिति पूर्वेण सम्बन्धः । **व्यवहारे**ति । कार्यकारणव्यवहारभङ्गेनेत्यर्थः । **तादृश्या**मिति । नित्यलीलाख्यायां शब्दसृष्टौ । **लौकिके**ति । माध्वर्णिकसूत्रोक्तलौकिकवैदिकव्यवहारे । **कारणे**ति । ब्राह्मेणेत्यत्र हेतौ तृतीयया ब्राह्मेणेतिपदेन । यद्वा माध्वर्णिकसूत्रीयकारणपदेन । **तस्यैवे**ति । विभूतिरूपस्यैव कार्यत्वेन सूचनेनाविरोधस्तस्मात् । **यत्रे**त्यादि । **अन्येषा**मिति । बादरिकाशकृत्स्नादीनाम् ॥ ५ ॥

चिति तन्मात्रेण तदात्मत्वादित्यौडुलोमिः ॥ ६ ॥

'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवं वा अरे अयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन' इति श्रुतौ घनपदेन ज्ञानात्मकविग्रहात्मत्वं ब्रह्मणो बोध्यते, अन्यथा न वदेत्, प्रयोजनाभावात्। तथा च तादृशेन सह भोगकर्त्रा तादृशेनैव भाव्यमिति, चिति चिद्रूपे ब्रह्मणि, तन्मात्रेण चिन्मात्रेण रूपेण कामान् भुङ्क्ते, न तु विग्रहेण। श्रुतौ जीवस्य तथात्वस्यानुक्तेः। पूर्णानन्दत्वाद्भगवतस्तत्सम्बन्धेन तदानन्दानुभवतीत्यर्थः सम्पद्यते। चिदात्मत्वं जीवस्य यतो नैसर्गिकमित्यौडुलोमिराचार्यो मनुते 'अशरीरं वा वे'तिश्रुतिरेतादृशान्यविषयिणीति ज्ञेयम्। मुक्तिदशायां तदनुभवस्य भगवदिच्छाविषयत्वाभावान्न तथा। तथा चैतद्वेतज्जातीयकानन्दानुभवोऽस्य भवत्विति भगवदिच्छैव श्रुतौ कामशब्देनोच्यते ॥ ६ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

चिति तन्मात्रेण तदात्मत्वादित्यौडुलोमिः ॥ ६ ॥ व्याकुर्वन्ति स इत्यादि। न वदेदिति। घनपदं न वदेत्। तथात्वस्येति। विग्रहवत्त्वस्य।

अन्ये तु चितितन्मात्रेणेत्येकं पदमङ्गीकुर्वन्तश्चिन्मात्रेणाविर्भवतीत्यर्थमाहुः। तन्मते इक्प्रत्ययान्तस्य चितिपदस्य धातौ शक्तेस्तदर्थे लाक्षणिकत्वं तत्पदव्यर्थता च।

भास्कराचार्यास्तु चैतन्यसन्मात्रेणेत्यर्थमाहुः। तन्मते तत्पदवैयर्थ्यं न भवतीति पूर्वापेक्षया तत्सम्यगिति बोध्यम्।

नन्वशरीरस्य प्रियाप्रियभोगः श्रुत्या निषिध्यते, न तु सशरीरस्य, 'न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ती'ति श्रुतेस्तस्य का गतिरित्यत आहुः अशरीरमित्यादि। 'अशरीरं वा व सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशत' इति श्रुतिस्तु प्रियपदस्याप्रियपदसमभिव्याहारादेतादृशान्यविषयिणी एतादृशाद्भगवदानन्दादन्यो यो दुःखसम्भिन्न आनन्दस्तद्विषयिणीति न तद्विरोध इत्यर्थः। तत्र हेतुमाहुः मुक्तीत्यादि। तदनुभवस्येति। दुःखसम्भिन्नसुखानुभवस्य। तर्हि सुखे वैजात्याभावात् 'कामानि'ति बहुवचनस्य का गतिरित्यत आहुः तथा चेत्यादि। तथा च तादृगिच्छानुभवे तदिच्छाविषयस्यानन्दस्याप्यनुभवश्चिन्मात्रेणैव रूपेण, न तु तत्र विग्रहस्याप्यपेक्षेति औडुलोमेर्मतमित्यर्थः। एतेन 'चैत्यस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठ'इत्यादि सारितं ज्ञेयम् ॥६॥

रश्मिः ।

चिति तन्मात्रेण तदात्मत्वादित्यौडुलोमिः ॥ ६ ॥ इक्प्रत्ययान्तस्येति। इक्श्तिपौ धातुनिर्देश इति सूत्रविहितेक्प्रत्ययान्तस्य। तदर्थे इति। धात्वर्थे संज्ञाने। चिती संज्ञाने संज्ञानं धात्वर्थः। दुःखसम्भिन्नेति। दुःखमिश्रः। भाष्ये। तथेति। एतादृशान्यविषयिणी। कामानिति। 'सोश्नुते सर्वान्कामा'निति श्रुतौ। तादृगिति। कर्मपदवाच्येच्छानुभवे। इच्छावानहमित्याकारके। इच्छायाः सविषयत्वनियमादाहुः तदिच्छेति। अनुभव इति आनन्दविषयकेच्छावानहमिति। चिन्मात्रेणेति। एवकारोप्यर्थे। अपिर्गर्हायाम्। सच्चिदानन्दत्वाद्ब्रह्मणः अंशद्वयत्यागाद् गर्हा। व्यासगृहीतत्वाद्गर्हितस्य प्रयोजनमाहुः एतेन चैत्यस्येति। प्रकृते द्वादशस्कन्धीयम्। तथा च भगवत्स्मारकैकदेशे तन्मतमिति भावः॥ ६ ॥

एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥ ७ ॥

परमाचार्यो बादरायणस्तु नैवं मनुते। 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यस्योपन्यास एवमपि विग्रहवत्त्वेनापि कृतो यतः। तथाहि। 'यो वेद निहितं गुहाया'मित्यत्र गुहाया उक्तत्वात्तस्या विग्रह एव सम्भवात्। किञ्च। प्रथमान्तोपस्थितत्वेन 'प्राप्नोती'त्युक्त्या च ब्रह्मविदः परप्राप्तौ स्वातन्त्र्यं ज्ञाप्यते। तदेव 'ब्रह्मणा सहे'ति

भाष्यप्रकाशः ।

एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥ ७ ॥ सिद्धान्तं व्याकुर्वन्ति परमेत्यादि। एवमिति। औडुलोम्युक्तरीत्या। उपन्यासादिति हेतुं व्याकुर्वन्ति ब्रह्मेत्यादि। तथा च यदि तन्मात्रेणैव भोगः श्रुत्यभिप्रेतः स्यात्, तदा विग्रहवत्त्वेनोपन्यासो न क्रियेत। यत एवमतो न चिन्मात्रमतं साधीय इत्यर्थः। नन्वत्र विग्रहाश्रवणात् कथं तथोपन्यासोऽङ्गीक्रियत इत्यतस्तदुपपादयन्ति तथाहीत्यादि। तस्या इति। गुहायाः। तथा चात्र ब्रह्मवित्पदेनापरोक्षब्रह्मज्ञानवानुच्यते, तस्याशरीरत्वे तद्व्याख्यानभूतर्क्पूर्वार्धे गुहापदं न वदेत्। न च तत्र साधनदशापन्नस्यैव विग्रह उच्यत इति वाच्यम्। 'यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्यैव भवती'तिवदवस्थाभेदगमकपदाद्यभावात्। 'वेदे'ति 'अश्नुत' इति च समानकालबोधकपदविरोधापातात् कामभोगस्य विग्रहतन्त्रत्वात्तदभावे, 'सोऽश्नुत' इत्यादिनोक्तस्य फलस्य विरोधापत्तेश्च। अतो गुहापदव्याकोपात्तदुक्तो भक्तविग्रहाभावपक्षोऽसङ्गत इत्यर्थः। उत्तरार्धमादाय युक्त्यन्तरमाहुः किञ्च प्रथमेत्यादि। तथा चौडुलोमिमते कामपदव्याकोपाऽ-

रश्मिः ।

एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥ ७ ॥ ब्रह्मेत्यादीति। यत इति। यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्तस्मादुपन्यासादित्यर्थः। विग्रहवत्त्वस्याक्षेपलभ्यस्यास्पष्टत्वात्स्पष्टयन्ति स्म तथाहीत्यादि। अतो विग्रहवत्त्वमाक्षिप्यत इति भावः। तथा चात्रेति। अत्र श्रुतौ। ब्रह्मवित्पद इति सप्तम्यन्तम्। अपरोक्षब्रह्मज्ञानवान्नोच्यत इति नशब्दान्वयः। तस्य शरीरत्व इति। तस्य ब्रह्मविदः। 'तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वा'मिति पाठे वृणुतेः प्रकाशार्थत्वाभावात्तस्य वृतभक्तस्य एष आत्मनोप्यात्मा तं स्वां स्वीयां तनुं तनुत्वेन वृणुते सम्भजते इत्यर्थाच्छरीरत्वे। न वदेदिति। शरीरे नित्यलीलायां निहितत्वादधिकरणान्तरं न वदेत्। तस्याशरीरत्व इति पाठे अतो ब्रह्मवित्पदेऽपरोक्षज्ञानवान्नोच्यत इति भावः। तत्रेति। 'ब्रह्मविदाप्नोति पर' मित्यादिश्रुतौ। एवेति। फलदशायोगव्यवच्छेदक एवकारः। अवस्थाभेदेति। जीवदवस्थामरणावस्थाभेदगमके भवति प्रेत्यपदे दृष्टान्ते तद्दार्ष्टान्तिके साधनदशाफलदशाभेदबोधकपदाद्यभावात्। आदिना वाक्यम्। समानकालेति। वर्तमानकालत्वेन समानकालस्तस्य बोधकपदयोर्विरोधस्यापातात्। विरोधापातस्तु साधनदशापन्नस्यैव ब्रह्मविदो ग्रहणे भवति। तदुक्त इति। औडुलोम्युक्तः। उत्तरार्धमिति। ऋगुत्तरार्धं सोऽश्नुत इत्यादि। युक्त्यन्तरमिति। युक्तिर्विग्रहवत्त्वे। यदि विग्रहो न स्याद्गुहोक्तिर्न स्यादिति। अन्या युक्तिः। यदि विग्रहो न स्यात्कामा न स्युरिति। इदं युक्त्यन्तरम्। किञ्च। प्रथमेत्यादीति। प्रथमान्तं ब्रह्मवित्पदं तेनोपस्थितत्वम्। ब्रह्मविदोर्थस्य तेनेत्यर्थः। स्वातन्त्र्यमिति। स्वतन्त्रः कर्तेति सूत्रात्। तदेवेति। स्वातन्त्र्यमेव ब्रह्मणा सह स कर्ता स्वतन्त्रः। पूर्वोक्त इति विवरणर्च्युपन्यस्तम्। तेनेत्यादि। तेन सहार्थकतृतीयान्तब्रह्मपदेन स इत्युक्तभक्तवाचकपदान्वयन-

पदेनोपन्यस्तम्। तेन ब्रह्मणोपि तत्समानक्रियावत्त्वं ज्ञाप्यते, परन्त्वप्राधान्येन। तथा च भक्तस्यैव कामा वक्तुमुचिताः, ते च न विग्रहं विना सम्भवन्ति। किञ्च। 'विपश्चिते'ति विशेषणेन विविधं पश्यच्चिद्रूपत्वमुच्यते। कामभोगोक्तिप्रस्ताव एतदुक्त्या तदुपयोग्येव सर्वं वाच्यम्। एवं सति भक्तविविधभावान् पश्यति, स्वयं भोगचतुरश्चेत्युक्तं भवति। एतेनापि भक्तविग्रहः सिध्यति। ननु विग्रहस्यागन्तुकत्वेन लौकिकत्वादलौकिकेन ब्रह्मणा भोगो विरुद्ध इत्यत आह **पूर्वभावा-दिति**। भक्तप्राप्तेः पूर्वमेव भगवदिच्छितभोगानुरूपविग्रहाणां सत्त्वान्न विरोधः। किञ्च। उक्तश्रुतिसूत्रैः पुरुषोत्तमेन सह भक्तस्य कामभोगो निरूपितः। स यावताऽर्थेन विना नोपपद्यते, तावान् स श्रुत्यभिमत इति मन्तव्यम्। तथा च ब्रह्मसम्बन्धयोग्यानि शरीराणि नित्यानि सन्त्येव। यथानुग्रहो यस्मिन् जीवे, स तादृशं तदाविश्य भगवदानन्दमश्नुत इति सर्वमवदातम्॥ ७॥

भाष्यप्रकाशः।

निवृत्तेस्तदयुक्तमित्यर्थः। विपश्चित्पदेनापि तत् साधयन्ति **किञ्चेत्यादि**। **एतेनेति**। भक्तविग्रहाभावेऽनुपपद्यमानेन भोगचातुर्यबोधकविपश्चित्पदेन। हेत्वन्तरमवतारयन्ति **नन्वित्यादि**। व्याकुर्वन्ति **भक्तेत्यादि**। **भक्तप्राप्तेरिति**। भक्तस्य भगवत्प्राप्तेः। **न विरोध इति**। आगन्तुकत्वलौकिकत्वाभ्यां कृतोपि चिन्मात्रत्वब्राह्मशरीरवत्त्वयोर्विरोधो न। तथा चैतैर्हेतुभिर्विग्रहवत्त्वस्याविरोधं मन्यत इत्यर्थः। सिद्धमाहुः **किञ्चेत्यादि**। **सन्त्येवेति**। पुत्तलिकावद्भगवन्मन्दिरे भगवद्धर्मात्मकानि सन्त्येव। **आविश्येति**। अयं मम देह इत्यभिमानं कृत्वा। तथा च श्रुतार्थापत्तिसिद्धत्वान्नात्र सन्देह इत्यर्थः।

ननु त्वत्र एतद्बोधकपदाभावादेतस्यैतद्विषयवाक्यत्वं कथमवगन्तुं शक्यत इति चेत्।

रश्मिः।

क्रियान्वयिना ब्रह्मणोऽपि भक्तसमानाशनक्रियावत्त्वं ज्ञाप्यते। **अप्राधान्येनेति**। 'सहयुक्तेऽप्रधान' इति पाणिनिसूत्रात्। सिद्धमाहुस्तथा **चेति**। औडुलोमिमतेऽयुक्ते योग्यं तमाहुः **तथा चेति**। **विग्रहं विना** कामपदव्याकोपानिवृत्तेरौडुलोमिमतमयुक्तम्। **तत्साधयन्तीति**। शरीरं साधयन्ति। **किञ्चेत्यादीति**। **स्वयमिति**। तेन 'सूर्यो विपश्चिन्मनसा पुना'त्वित्यत्र सूर्ये विपश्चित्त्वं भगवदीयं बोध्यम्। **हेत्वन्तरमिति**। हेतुरुपन्यासः हेत्वन्तरं पूर्वभावः। **भक्तस्येति**। रसान्तःपाती भक्तोऽपि भगवानिति सामर्थ्यसत्त्वान्न समासानुपपत्तिः। **विरोधो नेति**। आगन्तुकत्वेन चिन्मात्रत्वस्य लौकिकत्वेन ब्राह्मशरीरवत्त्वस्य यः सहानवस्थानलक्षणो विरोधः स न। **तथा चैतैरिति**। एते जैमिनिप्रभृतयः बादरायणश्च हेतुभिरुपन्यासादियुक्त्युपन्यासपूर्वभावैः। **मन्यत इति**। बादरायणो मन्यतेऽन्ये मन्यन्त इति वचनविपरिणामेनान्वयः। **किञ्चेत्यादीति**। **स इति**। सोऽर्थः। **तदिति**। शरीरम्। अश्नुते अश्नातीत्यर्थः। **सर्वमिति**। सगुणत्वेपि निर्गुणत्वम्। लीलायामात्मगुणाः सत्त्वादय इति सर्वं पूर्वोक्तं निर्दोषमित्यर्थः। सिद्धमाहुः **तथा चेति**। आक्षेप्यविग्रहे सिद्धे सति। ब्रह्मविच्छ्रुतौ श्रुतो यः कामभोगो गुहा चार्थस्तस्यापत्तिरापादनम्। यदि विग्रहा न स्युः कामभोगो गुहा च श्रुतो न स्याद् यतः श्रूयतेतो विग्रहा इति **श्रुतार्थापत्तिसिद्धत्वान्नात्राप्राकृतशरीरे सन्देहः**। प्राकृतेन शरीरेण युक्तः उताप्राकृतेनेति सन्देहो नेत्यर्थः। श्रुतार्थापत्तिरुक्ता पूर्वम्। **एतद्बोधकेति**।

भाष्यप्रकाशः

अर्थबलादिति वदामः। तथाहि। अस्मिन् चरणे मुक्तस्य फलानुभवप्रकार उच्यते। मुक्तिस्तु न यावद्दुःखात्यन्ताभावमात्ररूपा, अपि तु निरवधिसुखात्मकब्रह्मप्राप्तिरूपा, तल्लोकादिप्राप्तिरूपा च। तैत्तिरीयोपनिषदि 'ब्रह्मणः सायुज्यꣳ सलोकतामाप्नोती'ति श्रुतौ द्वयोः श्रावणात्। पुराणेपि 'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत'ेति प्रकारभेदकथनाच्च। सा च यथाधिकारं सद्यः, क्रमेण वा भवति। तत्र सद्योमुक्तावात्मकाम एवाधिकारी। 'अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आत्मकाम आप्तकामो भवति न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'ति श्रुतेः। तादृशस्य ब्रह्मानुभवप्रकारश्चाग्रे। 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत' इति श्लोक उक्तः। स्वप्रतिज्ञानुरोधाद्याज्ञवल्क्येन सम्यङ् न विवृतः। सोऽत्र 'ब्रह्मविदाप्नोती'त्यस्य विवरणेपि व्यक्तीक्रियते। अशनप्रकारस्य विवरणात्। अतः स चेदत्र न विचार्येत, तदा शास्त्रे न्यूनतैवापद्येत। विचारिते च तस्मिन् मुक्तौ निःसम्बोधताया निवृत्तेः सर्वास्वपि तादृशत्वमर्थादेव सेत्स्यतीति बुध्यस्व।

रश्मिः।

ब्रह्मविदाप्नोति परमित्यादिवाक्यबोधकपदाभावात्। एतस्योक्तश्रुतिवाक्यस्य एतदधिकरणविषयवाक्यत्वम्। **यावदिति**। एकविंशतिदुःख[illegible] मोक्ष इति नैयायिकाः। **निरवधीति**। गणितानन्दनिवृत्त्यर्थं निरवधीति सुखविशेषणम्। सुखं च ब्रह्मविशेषणम्। ब्रह्मप्राप्तिर्मोक्ष इति 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यत्र स्पष्टा। **सायुज्यमित्यादि**। सायुज्यं ब्रह्मप्राप्तिः संयोगरूपा ब्रह्मजीवयोर्द्रव्यत्वात्। ज्ञानरूपगुणत्वे तूभयोर्योगमात्रम्। **सलोकतामिति**। ब्रह्मलोकप्राप्त्या भवति ब्रह्मसमानलोकता। इत्यतस्तल्लोकताप्रकारभेदः। एवं स्वरूपेण व्यवस्थितिर्मुक्तिरित्येकादशस्कन्धे। **सायुज्यं सलोकतेति**। आत्मलाभवत्स्वरूपेण व्यवस्थिती भवतः। तल्लोकादीत्यत्रादिशब्दार्थमाहुः **पुराणेपीति**। **प्रकारेति**। सालोक्यं तल्लोकप्राप्तिप्रकारेषु भेदः प्रकारः। एवं सामीप्यसारूप्ये अपि तल्लोकप्राप्तिप्रकारेषु भेदौ प्रकारौ। **सार्ष्टि**रलौकिकसामर्थ्यं परिशेषात्। **एकत्वं** सायुज्यप्रकारेषु ऐक्यमोक्षब्रह्मप्राप्तिरूपेषु भेदः प्रकारस्तेषां कथनाच्च। **आत्मकाम इति**। उपनिषदि शारीरकब्राह्मणे आप्तकाम आत्मकाम इति पाठः। **सोश्नुत इति**। सम्यगश्नाति ब्रह्मानुभवं करोति। ब्रह्म गौणीभावेन कर्मीभूतं बृहत्त्वादिगुणविशिष्टं सुखदुःखसाक्षात्कारविषयं करोतीत्यर्थः। **स्वप्रतिज्ञेति**। याज्ञवल्क्यप्रतिज्ञाऽथाकामयमान इति तदनुरोधात्। **व्यक्तीति**। सामान्यप्रकारस्य विशेषप्रकाराकाङ्क्षत्वात्तथा। **अशनप्रकारस्य** विशेषस्य विवरणात्। **स चेदिति**। **समश्नुत** इति सामान्यसमशनप्रकारस्योक्तत्वात् सविशेषप्रकारश्चेद् **अत्र** फलाध्याये। **शास्त्रे** मीमांसारूपोपाङ्गशास्त्रे सन्दिग्धश्रुतिसन्देहवारके। **तस्मिन्** विशेषे प्रकारे। **निःसम्बोधताया** इति। निष्क्रान्ता सम्बोधान्निःसम्बोधा तत्ताया निवृत्तेः ब्रह्मणा सहाहं सर्वकामानश्नामीति सम्बोधात्। किम्पुनः स्थूलान् जाग्रति सूक्ष्मान् स्वप्ने सुषुप्तौ आनन्दमात्रान् कामानश्नातीति। 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यमि'ति सूत्रात्। **सर्वास्वपीति**। मुक्तिष्वपि। **तादृशत्वमिति**। ससम्बोधत्वम्। **इति बुध्यस्वेति**। इति हेतोरेतस्यैतद् विषयवाक्यत्वं बुध्यस्व। तेनैतद्भिन्ना निःसम्बोधा। अत्र मण्डूकोपनिषद्विरोधमाशङ्क्य निषेधन्ति स्म **न च निःसमिति**। तया च श्रुतिः।

प्रज्ञानांशुप्रतानैः स्थिरचरनिकरैर्व्यापिभिर्व्याप्य लोकान्।
भुक्त्वा भोगान्स्थविष्ठान् पुनरपि धिषणोद्भासितान् कामजन्यान्॥

भाष्यप्रकाशः ।

न च निःसम्बोधा मुक्तिरिति युक्तम् । 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'त्यत्र ब्रह्मभावोत्तरमेव मुक्तेः श्रावणात् । ब्रह्मणश्च विरुद्धधर्माश्रयताया उभयलिङ्गाद्यधिकरणेष्वेव निर्णयेन निर्विशेषवादस्य प्रागेव निरस्तत्वात् । ये पुनः प्रजापतिवाक्यस्थां 'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत' इति श्रुतिं विषयवाक्यत्वेन आद्रियन्ते, तेषामपि तस्यास्तथात्वं सन्दिग्धमेव । सूत्र उपसम्पत्तिपदाभावात्, केवलस्य सम्पद्येति पदस्य 'सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह' इति सुषुप्तिविषये श्रावणात् । अत उपसम्पत्तिवाक्यस्य विषयत्वेनादरणमर्थबलादेवेति वक्तव्यम् । तथा सति तौल्यान्न पर्यनुयोगावकाशः । किञ्च 'स्वेने'ति पदस्यापि ब्रह्मवाचकत्वमेव मुख्यम् । 'स्वमपीतो भवती'त्यादौ तथा सिद्धत्वात् । अतस्तत्रापि तथा । किञ्च । नायं नियमो यद्विषयवाक्यं सौत्र-

रश्मिः ।

पीत्वा सर्वान् विशेषान् स्वपिति मधुरभुग्मायया मोहयन्नो ।
मायासङ्ख्यातुरीयं परममृतमजं ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि ॥ इति

उपक्रमाज्ज्ञानमार्गीयेयम् । पुनरपीत्यादिना जाग्रदवस्थामनु स्वाप्निकीं तामाहुर्माण्डूकाः । धिषणा बुद्धिः । स्वापावस्थामाहुः पीत्वेति । स्वपिति स्वापं करोति । मधुरभुक्—आनन्दभुक् । तुरीयावस्थामाहुः माययेति । नोऽस्मान् मण्डूकान् । मायया त्रिगुणरूपया सङ्ख्यायते सम्प्रकथ्यते तत् मायासङ्ख्यम् । न तु स्वयम् । सोऽहं । नत इति । जात्यपेक्षयैकवचनम् । ज्ञानैकत्वादेकवचनं वा । ब्रह्मैव सन् ब्रह्मभावं गतः सन् । ब्रह्मभावोत्तरमेवेति । न तु तूष्णीम् । एवमप्यनुवादेन मुक्तिर्निस्सम्बोधेति चेत्तत्राहुः ब्रह्मणश्चेति । निर्विशेषेति । निःसम्बोधमुक्तिसमर्पकस्य । प्रागेवेति । उभयलिङ्गाद्यधिकरणेष्वेव । श्रुत्यविरोधस्तु अप्रेतनश्रुत्यन्तरात् । श्रुत्यन्तरं तु ।

यो विश्वात्मा विधिजविषयान्प्राप्य भोगान् स्थविष्ठान् ।
पश्चात्स्वान्यान् स्वमतिविभवान् ज्योतिषा स्वेन सूक्ष्मान् ॥
सर्वानेतान् पुनरपि शनैः स्वात्मनि स्थापयित्वा ।
हित्वा सर्वान् विशेषान् विगतगुणगणः पात्वसौ नस्तुरीयः ॥ इति

भक्तिमार्गीयेयम् । मायाऽश्रवणेन विश्वादीनां नित्यत्वस्फोरणात् । विश्वात्मना स्थविष्ठभोग-भुक्त्वा जाग्रति स्वप्ने 'अत्रात्मा स्वयंज्योतिर्भवती'ति श्रुतेः । स्वेन ज्योतिषा स्वाप्निकान् पश्चात्स्वान्यान् पश्चात्स्वान् यान् पश्चात्स्वानन्यान् प्राप्य भोगान् । सुषुप्तौ सर्वानेतानिति । स्थापयित्वा प्राज्ञः न किञ्चन संवेत्तीत्युत्तरेणान्वयः । न इति । मण्डूकान् । मण्डूकोपनिषत्त्वादन्येषामलाभाच्च । अत्र मायाऽश्रावणाच्छ्रुत्य-न्तरत्वम् । अत्रापि निःसम्बोधमुक्त्यभाव उक्तः । 'नात्मानं नापरञ्चैव न सत्यं चापि नानृतम् । प्राज्ञः किञ्चन संवेत्ति तुर्यं तत् सर्वदृक् सदा ॥ निवृत्तेः सर्वदुःखानामीशानः प्रभुरव्ययः । अद्वैतः सर्वभूतानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृत' इति ॥ तत्सर्वदृक्पदेन सर्वविषयकज्ञानोक्तेः । भक्तिमार्गस्य काचित्कत्वादग्रे 'मायामात्रमिदं विश्वमद्वैतं परमार्थत' इति विश्वस्य मायामात्रत्वमुक्तम् । भक्त्याग्रहे तु । मायामात्रं—इन्द्रियमात्रम् । वैराग्यार्थमनृतं वेत्यर्थः । ये पुनरिति । शाङ्करादयः । श्रुतिस्तु छान्दोग्यसमासावस्ति । तथात्वमिति । विषयवाक्यत्वम् । उपसम्पत्तीति । भावप्रत्ययान्तत्वेन पर्यायत्वम् । श्रावणादिति । छान्दोग्ये तथा । ब्रह्मेति । हेतुभूतब्रह्मवाचकत्वम् । तत्रापि तथेति ।

भाष्यप्रकाशः ।

पदानुरूपमेव ग्राह्यमिति । 'अत्ता चराचरग्रहणा'दित्यादौ तथा दर्शनाभावात् । अतोऽर्थमादाय विषयवाक्यग्रहणं नानुचितमिति दिक् ॥

यत्तु शङ्कराचार्याः, सम्पद्याविर्भावाधिकरणं त्रिसूत्रमङ्गीकृत्य, प्रथमसूत्रे 'एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत' इति छान्दोग्ये इन्द्रप्रजापतिसंवादस्थां श्रुतिं विषयवाक्यत्वेनोपन्यस्य, किं देवलोकाद्युपभोगस्थानेष्विवागन्तुकेन केनचिद्विशेषेण अभिनिष्पद्यते, उतात्ममात्रेणेति संशये, मोक्षस्याफलत्वप्रसिद्धेः 'अभिनिष्पद्यत' इत्युत्पत्तिपर्यायभूतशब्दप्रयोगादात्मनश्च सर्वदा विद्यमानत्वेनाभिनिष्पत्तेर्वक्तुमशक्यत्वाच्चागन्तु-केनेति पूर्वपक्षमुक्त्वा, केवलेनैवात्मना आविर्भवति, न धर्मान्तरेण । कुतः । स्वेन रूपेणाभि-निष्पद्यत इति स्वशब्दात् । अन्यथा 'स्वेने'ति विशेषणस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । न चात्मीयवाची स्वशब्द इति युक्तम् । तस्य रूपान्तरेपि तुल्यत्वेनात्र विशेषतस्तत्कथनस्य वैयर्थ्यानपायात् । अतः 'स्वेने'ति विशेषणसार्थक्यार्थं केवलेनावतिष्ठत इति सिद्धान्तं व्याख्याय, पूर्वावस्थास्विह च स्वरूपानपायसाम्ये सत्यत्र को विशेष इति शङ्कायां द्वितीये सूत्रे सर्वबन्धविनिर्मुक्तत्वरूपो विशेषः । पूर्वं जाग्रदाद्यवस्थासु, 'अन्धो भवती'ति, 'रोदितीवे'ति, 'विनाशमेवापीतो भवती'-त्यवस्थात्रयकालुष्यकथनेन बन्धाविमोकबोधनात् । तस्य मुक्तत्वं च 'एतं त्वेव ते भूयोऽनु-व्याख्यास्यामी'त्यवस्थात्रयविहीनस्यात्मनो व्याख्येयत्वेन प्रतिज्ञातस्याशरीरत्वाद्युपन्यासपूर्वकं 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत' इत्युपसंहारात् । आख्यायिकोपक्रमे चापहतपाप्मेत्यादिमुक्तात्म-विषयप्रतिज्ञानादिति व्याख्याय, तृतीयसूत्रे 'परं ज्योतिरुपसम्पद्ये'त्यनेन ज्योतिःसम्पत्तेरुक्त-त्वाज्ज्योतिषश्च प्राकृतत्वात् सम्पत्तौ कथमस्य मुक्तत्वमिति शङ्कायां 'परं' 'ज्योति'रिति पदाभ्यां 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योति'रिति श्रुत्यन्तराज्ज्योतिःशब्देन परं ब्रह्मैवोच्यते, न तु प्राकृतमत-स्तत्सम्पत्तौ न मुक्तत्वभङ्गः । आत्मन एव प्रकरणदर्शनादित्याहुः । ततोऽविभागेन दृष्टत्वा'-दित्येकसूत्रमधिकरणान्तरमङ्गीकृत्य, किं मुक्तः परमेश्वराद्भेदेनावतिष्ठते, उताभेदेनेति शङ्का-यामविभक्त एवावतिष्ठत इति सिद्धान्तयन्ति । ततो 'ब्राह्मेणे'त्यादित्रिसूत्रमधिकरणमङ्गीकृत्य, पूर्वाधिकरणे यदात्मरूपेण स्वेनाऽनागन्तुकेनावतिष्ठत इत्युक्तम्, तत् कीदृशमिति चिन्तायां जैमिनिस्तावद् यद् ब्राह्मं रूपम्, 'अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्प'इत्यनेन प्रागुक्तम्, तथा सर्वेश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं च तेन रूपेणाभिनिष्पद्यत

रश्मिः ।

स्वेनेति पदेऽपि तौल्यम् । तथेति । 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र स' इति काठकस्थस्य विषयवाक्यस्य सौत्रपदानुरूपत्वदर्शनाभावात् । न चात्मीयेति । तदा आत्मीयेन केनचिद्विशेषेणेति स्वेन रूपेणेत्यस्यार्थः । तस्येत्यादि । तस्यात्मीयत्वस्य रूपान्तरेषु मोक्षेऽविवक्षितेषु तत्कथनस्येति । आत्मीयवाचिनः स्वेनेत्यस्य कथनस्य । इह चेति । मोक्षावस्थायां च । अपायो नाशः । अत्रेति । मुक्तौ । रोदितीवेति । स्वप्ने रोदितीव देवदत्तो न तु रोदितीति । स्वापे नाशमेवापीतोपि गतः । कालुष्यमशुद्धत्वम् । एतमिति । अवस्थात्रयविहीनम् । तत्सम्पत्तौ ज्योतिःसम्पत्तौ । तदिति । रूपम् । प्रागुक्तमिति । दहर-विद्यायां प्रजापतिवाक्याद्विषयात्पूर्वमुक्तं छान्दोग्ये । तथेति । यथा प्रागुक्तं ब्राह्मं रूपम् । तथा

भाष्यप्रकाशः ।

इति मन्यते । तत्र हेतुरपहतपाप्मेत्यादिनोक्त उपन्यासः, आदिपदसङ्गृहीतं 'स तत्र पर्येती'-त्यादिनोक्तं च । औडुलोमिस्तु–यद्यप्यपहतपाप्मादयः, अभेदेनैव धर्मा निर्दिश्यन्ते, तथापि शब्दविकल्पजा एवैते इति पाप्मादिनिवृत्तिमात्रं तत्र गम्यते । चैतन्यमेव तस्यात्मनः स्वरूपमिति तन्मात्रेणैव रूपेणाभिनिष्पत्तिर्युक्ता । 'एवं वा अरे अयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवे'त्यादिश्रुत्यनुग्रहात् । सत्यकामत्वादयस्तु यद्यपि वस्तुरूपेणैव धर्मा उच्यन्ते, सत्याः कामा अस्येति, तथाप्युपाधिसम्बन्धाधीनत्वात्तेषां न चैतन्यवत् स्वरूपत्वसम्भवः । अनेकाकारत्वप्रतिषेधात् । प्रतिषिद्धं हि ब्रह्मणोऽनेकाकारत्वं, 'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्ग'मित्यत्र । अत एव जक्षणादिसङ्कीर्तनमपि दुःखाभावमात्राभिप्रायं स्तुत्यर्थम् । आत्मरतिरित्यादिवत् । न हि मुख्यान्येव रतिक्रीडामिथुनान्यात्मनिमित्तानि शक्यन्ते वर्णयितुम् । द्वितीयविषयत्वात्तेषाम् । तस्मान्निरस्ताशेषप्रपञ्चेन प्रसन्नेनाव्यपदेश्येन बोधात्मनाभिनिष्पद्यत इति बादरायणस्त्वाचार्य एवमपि पारमार्थिके चैतन्यमात्रस्वरूपाभ्युपगमे व्यवहारापेक्षया पूर्वस्य पूर्वस्याप्युपन्यासादिभ्योऽवगतस्य ब्राह्मस्यैश्वर्यरूपस्याप्रत्याख्यानादविरोधं मन्यते इत्येवं व्याचख्युः ।

तत्रेदमवधेयम् । छान्दोग्य इन्द्रप्रजापतिसंवादे, य आत्मा वेद्यत्वेन प्रकृतः, स दहरविद्योपास्य एव, देवासुरैरनुबुध्यमाने प्रजापतिवाक्ये तस्यैवापहतपाप्मत्वादिगुणकस्य प्रत्यभिज्ञानात् । इन्द्रविरोचनाभ्यामपि तस्यैव विवित्सया तथानुवादात् । अतः प्रजापतिरपि तमेव सर्वेषु पर्यायेषु बोधयति 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत' इत्यादिना । परं त्विन्द्रविरोचनौ

रश्मिः ।

सर्वेश्वरत्वमित्यादि द्रष्टव्यम् । अभेदेनेति । विशेष्यविशेषणयोरभेदान्वयो नीलो रूपमित्यादौ दृष्टमिति भावः । शब्दविकल्पेति । दर्शनेन देवदत्ते पाप्मवति पाप्मवच्छब्दवाच्येऽपहतपाप्मशब्दप्रवृत्तौ अपहतशब्दवाच्यत्वमिति । पाप्मवच्छब्दे विकल्पो जातोऽत एतादृशशब्दविकल्पजा एवैते शब्दाः । तत्रेति देवदत्तादौ । द्वितीयेति । सप्रपञ्चविषयत्वात् । निरस्तोऽशेषप्रपञ्चो यस्मिन् । पूर्वस्य पूर्वस्येति । पूर्वभावादिति सौत्रपदार्थोऽयम् । अप्रत्याख्यानादिति, भावात् । ब्रह्मणो मुक्तात्मनः सप्रपञ्चत्वनिःप्रपञ्चत्वयोरविरोधं मन्यते । य आत्मेति । 'य आत्मापहतपाप्मा विजर' इत्यादिना । 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्य' इति श्रुतेर्वेद्यत्वेन प्रकृतः । देवासुरैरिति । 'तद्धोभये देवा अनुबुबुधिर' इत्यादिना । प्रजापतिवाक्ये इति । 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमनुविद्य विजानातीतीह प्रजापतिरुवाचे'ति वाक्ये । तस्यैवेति । दहरविद्योपास्यस्यैव । अष्टमप्रपाठकस्थत्वाद्दहरविद्योपास्येत्येवकारः । इन्द्रप्रजापतिसंवादस्यापि अष्टमप्रपाठकस्थत्वम् । तत्तेदन्ताप्रकारकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानं, तस्यैव दहरोपास्यस्यैव विवित्सयेति । वेत्तुमिच्छा विवित्सा तया । तथेति । तेन प्रकारेण । 'तौ होचतुर्य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यवतो वाचो वेदयन्ते तमिच्छन्ताववास्त'मित्यनुवादात्सिद्धस्य कथनात् । टीकायां सत्यवतो वचो वचनं वेदयन्ते शिष्टा इति वाच इत्यत्र वच इति पाठः शिष्टा इति कर्तुरध्याहारः । अवास्तमिति । आवां अवास्वेति लडुत्तमपुरुषे वक्तव्येऽवास्तमिति मध्यमपुरुषाभिधानं युवां वचनप्रजापती अवास्तमिति प्रजापतिवचनानुकर्षणमात्रम् । वस् निवासे । भ्वा. प. अनि. विकरणव्यत्ययः, शपः लुक् । लङ् । तमेवेति ।

भाष्यप्रकाशः ।

परप्राप्तिं पुरुषार्थत्वेनावगत्य तदर्थं न प्रष्टुं प्रवृत्तौ, किन्त्वपहतपाप्मादिगुणकात्मज्ञानेन सर्वकामप्राप्त्याद्यर्थम्, अतस्तदधिकारं हीनमवगत्य चित्तशुद्ध्यर्थं तप उपदिदेश, श्लिष्टप्रयोगेण चोक्तवान् । तत्र प्रथमे पर्याये 'दृश्यत' इत्यनेनार्षमेव दर्शनमभिप्रेतम् । तदेवोपपादितं 'अन्तर उपपत्ते'रित्यत्र । परमिन्द्रेण न बुद्धमिति देहमात्मानं बुद्ध्वा भयं ददर्श, 'अस्मिन्नन्धेऽन्धो भवती'त्यादि । एवं दृश्यस्याज्ञाने पुनस्तप उपदिश्य, द्वितीयेऽपि पर्याये स्वप्नसृष्टिकर्तारमुपदिदेश, 'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरती'ति । अत्रापि 'एतं त्वेवं भूयोऽनुव्याख्यास्यामी'त्येतच्छब्देन स्वबुद्धिस्थस्यैव परामर्शात् । न त्विन्द्रबुद्धिस्थस्य । इन्द्रेण देहस्यैव पूर्वं बुद्धत्वादिति । परं त्विन्द्रेण द्वितीयेपि पर्याये स न बुद्धः, किन्तु देहाद्भिन्नो जीव एव स्वप्नद्रष्टोपदिश्यत इति बुद्धम् । स यद्यपि बाह्योपाधिदोषान्न दुष्यति, तथाप्यान्तरदोषाद् दुष्यतीति पुनस्तृतीये पर्याये समागत्य भयमुक्तवान् । तदा सुषुप्त्यधिकरणभूतं तमेव 'यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न

रश्मिः ।

दहरविद्योपास्यमेव । अन्यथा प्रकान्तविरोध इत्येवकारः । अवगत्येति । स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोतीति श्रुतेरवगत्य । अपहतपाप्मेत्यादीति । आप्नोति सर्वाꣳश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति श्रुतेस्तथा । तप उपेति । वसापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणि इति स हापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाण्युवासेति । श्लिष्टेति । निवासार्थकवसतेः प्रयोगः श्लिष्टः इष्टाकरणेन निवासे सन्तापः श्लिष्यते इति तेन तप उक्तवान् । लौकिकं दर्शनं कुतो नेत्यत आहुः तदेवेति यदि स्वचक्षुरधिकरणमनार्षं विवक्षितं न स्यात्तदान्तरपदं सूत्रे न ब्रूयात् । आर्षज्ञानविषयत्वादन्तरस्येति भावः । देहमात्मानमिति । 'तौ होचतुः सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव' इति श्रुतेर्बुद्ध्वा । तौ इन्द्रविरोचनौ । भगवः भगवन् हिरण्यगर्भः आत्मानं देहम् । भयं ददर्शेति । अथ 'हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श यथैव खल्वयमस्मिञ्छरीरे साध्वलङ्कृते साध्वलङ्कृतः' इत्याद्युक्त्वा 'एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवती'त्यादि अग्रे 'अस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति स समित्पाणिः पुनरेयाये'ति श्रुतिः । भयमिति । उदशरावे देहदर्शनानन्तरं साध्वलङ्कृतसुवसनदेहस्योदशरावे दर्शनानन्तरं शरीरान्तर्बुद्ध आत्मा । अस्मिन्नन्ध इति शरीरेऽन्धे आत्मान्धः । अनु एष आत्मा । अत्र भोग्यमिति । छायात्मदर्शने भोग्यं फलम् । समित्पाणिरिन्द्रः ब्रह्मचर्यं वस्तुं पुनरेयाय आगतवान् । एवं दृश्यस्येति । भोग्यत्वेन दृश्यस्यात्मनोऽज्ञाने । 'वसापराणि द्वात्रिꣳशतं वर्षाणी'ति श्रुतेः पुनस्तप उपदिश्य । द्वितीयेति । 'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयं ब्रह्मे'ति द्वितीये पर्याये । अत्रापीति । अत्रापीत्यस्य बुद्धिस्थस्येत्यनेनान्वयः । स्वबुद्धिस्थस्येति । अन्तर्विद्यमानस्य । इन्द्रबुद्धिस्थस्य परप्राप्तिपुरुषार्थस्य । बाह्योपाधीति । देहस्यान्धस्रामत्वकणरूपदोषेभ्यः एकत्वमविवक्षितम् । आन्तरेति । अविपक्वकामक्रोधादिदोषात् । अत्राप्येकत्वमविवक्षितम् । पुनस्तृतीय इति । पुनः समागत्य भयमुक्तवान् इत्यन्वयः । द्वितीयपर्याय एव सहाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्शेत्यादिना समागत्य भयमुक्तवानित्यर्थः । तृतीयपर्याये तदा सुषुप्त्यधिकरणभूतमित्यादिरन्वयः । सुषुप्तिश्चापश्चाप्सुषुप्ती । अल्पाच्तरं पूर्वमित्यप्शब्दस्य पूर्वनिपातः । अयमस्मिन् शरीरे प्राणो सुप्त इति श्रुतान्यधिकरणभूतमत्र उक्तम् । प्राण आपोमयः 'आपोमयः प्राण' इतिश्रुतेः । तेन लिङ्गशरीरोपादानमत्र । तेन प्राणस्य जीवाधेयत्वेपि लिङ्गरूपस्याधारत्वेन सूचितमप्सु आधारत्वमत्र ज्ञेयम् । अब्रूपत्वाल्लिङ्गस्याधारत्वेनापामाधारत्वं वा । तदा सुषुप्त्यधिकरणभूतमित्येव वा पाठः । तमेवेति

भाष्यप्रकाशः ।

विजानाती'त्येवमुपदिदेश । तत्रापि सुषुप्त्यधिकरणभूतं परमात्मानं न ज्ञातवान्, किन्तु सुषुप्त्यवस्थाकं शारीरमेव ज्ञात्वा, तत्राप्यज्ञानरूपं भयं 'विनाशमेवापीतो भवती'त्यन्तेन प्रदर्श्येन्द्रः पुनरुपससाद । तदा प्रजापतिस्तमेव स्वबुद्धिस्थमुपदेष्टव्यत्वेनोपक्षिप्य इन्द्रेणावगतस्य जीवस्य सर्वकामभोगयोग्यं स्वरूपं तत्सम्पत्त्या भवतीति वक्तुं 'मघवन् मर्त्यं वा इदं शरीर'मित्यादिना शरीरस्य दुःखदत्वम्, अशरीराणां वाय्वादीनां परं ज्योतिरुपसम्पन्नानां स्वरूपप्राप्ति-

रश्मिः ।

स्वबुद्धिस्थमेव । यत्र एतत्सुप्त इति तृतीयपर्यायारम्भः । क्वचित्पुस्तके तद्यत्रैतत्सुप्त इत्यादि पाठः । समस्तः सम्यगस्तः स्वरूपे । समस्तमिति पाठे प्रागुक्तार्थं स्वप्नविशेषणम् । सम्प्रसन्नः आनन्दभुक् । सुषुप्त्यधिकरणभूतमिति । सुषुप्तिस्तु अकामो भगवान् । एवमकामरूपसुषुप्त्यधिकरणभूतं परमात्मानमित्यर्थः । अत्र श्रुतिः । 'स शान्तहृदयः प्रवव्राज । सहाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श नाहं खल्वयमेवꣳसम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवती'ति ॥ स इन्द्रः । भयमेवाह । नाहमित्यादिना । नो एवेमानि भूतानि जानन्ति । विनाशमेवेति । एवकार इवार्थे । अ इवेति पदच्छेदात् । विनाशमिव अपीतः प्राप्तो भवति । सुषुप्तौ ज्ञानाभावादात्मा नष्ट इवेति भावः । उपक्षिप्येति । 'नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति स समित्पाणिः पुनरेयाय तꣳह प्रजापतिरुवाच मघवञ्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन्पुनरागम इति स होवाच नाहं खल्वयं भगव एवꣳसम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीत्येवमेव मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्माद्वसापराणि पञ्चवर्षाणीति स हापराणि पञ्चवर्षाण्युवास तान्येकशतꣳ सम्पेदुरेतत्तद्यदाहुरेकशतꣳह वै वर्षाणि मघवान्प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास तस्मै होवाचे'त्यनयोपक्षिप्य । स इन्द्रः । नो एवान्यत्रेति । एतस्यैव भूयोऽनुव्याख्याने हेतुरयम् । एतस्मादन्यत्र परमात्मनि नो एव स्वबुद्धिस्थत्वम् । एकशतमिति । तानि इन्द्रब्रह्मचर्यवर्षाणि एकीकृतानि एकाधिकशतं सम्पेदुः प्राप्तानि । द्वात्रिंशत्सङ्ख्या त्रिगुणीकृता षण्णवतिः पञ्चसङ्ख्या तत्र चेदेकाधिकशतं भवति । अस्याः सङ्ख्यायाः श्रुतिः । स्वमुखेनैवैतिह्यत्वं विद्यास्तुत्यर्थमाहुः । एतत्तद्यदाहुरिति । यदेतद्भूरं तदेतदाहुः शिष्टाः । इन्द्रेणावगतस्येति । परमात्मरूपस्य । मामेवोपास्स्वेति परमात्मनः स्वात्मरूपस्येन्द्रप्रतर्दनसंवाद उपदेशात् । तत्स्वरूपस्येति । शरीरसम्पत्त्या । इत्यादिनेति । मघवन्मर्त्यं वा इदꣳ शरीरमात्तं मृत्युनातं तदस्यामृतस्य शरीरस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यामित्यादिशब्दार्थः । अधिष्ठानं भोगाधिष्ठानम् । अशरीर आत्मा आत्तः । काभ्यामित्यत आह प्रियाप्रियाभ्यामिति । प्रियाप्रियाभ्यां आत्तो व्याप्तः । असशरीरस्य प्रियाप्रिये सम्भवतः । प्रियः प्रीतिविषयः संयोगे, अप्रीतिविषयो विप्रयोगे । एवं चासशरीर आत्मविशेषः । अकारो विष्णुः सशरीरः सन् प्रियाप्रियाभ्यां सुखदुःखाभ्यां आप्तो व्याप्तो वै प्रसिद्धम् । तथा च इत्यादिना शरीरस्य दुःखदत्वमित्यस्य प्रकाशस्य सुखदत्वोपलक्षकत्वादात्मविशेषमादायोक्तरीत्या शरीरस्य सुखदुःखदत्वम् । तदपि आत्मविशेषाय संयोगविप्रयोगदत्वम् । न च शरीरस्य दुःखदत्वमेवेति भाष्यविरोधः । श्रुत्या भाष्येऽप्युपलक्षणाद्दुःखदत्वमित्यंशे । अशरीराणामिति । 'न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वा व सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतोऽशरीरो वायुरभ्रं विद्युत्स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्त एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन

भाष्यप्रकाशः ।

दृष्टान्तेनास्यापि स्वव्याख्यातं परं ज्योतिरुपसम्पन्नस्य स्वरूपाभिनिष्पत्तिम्, 'एवमेवैष सम्प्रसाद' इत्यादिनोक्त्वा परस्य ज्योतिषः स्वरूपमाह 'स उत्तमः पुरुष' इति । योऽयं गीतायां 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृत' इत्यादिश्लोकद्वयेन कृतनिर्वचनः । अतः परमुपसम्पन्नस्य तल्लोके भोगं वक्तुं तत्र परमात्मनो भोगमाह 'स तत्र पर्येती'त्यादिना । तथा च 'देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिना'मिति सप्तमस्कन्धवाक्याद्दृशानां सालोक्यादिचतुष्टयं प्राप्तानां भगवत्प्रसादरूपस्तद्दत्तो भोगो निराबाधः । अत्र विद्योपक्रमे तेषां तदर्थमेवोपासना प्रवृत्तेरुक्तत्वात् । नन्वेवं स्वरूपं प्राप्तस्य तत्र भोगोऽपि मनसस्तु पूर्वस्यैव तत्र सत्त्वात्तेन प्राक्तनदेहस्मरणे तदीयदुःखस्यापि स्मरणात् सुखभोगोऽपि दुःखसम्भिन्न एव स्यादित्यतस्तदभावायाह 'नोपजनꣳस्मरन्निदꣳ शरीर'मिति । उप आत्मसमीपे अविद्याकामकर्मभिर्जायते इत्युपजनं इदं प्राक्तनं शरीरं न स्मरति, अतस्तदस्मरणान्न दुःखसम्भेद इत्यर्थः । नन्वस्मरणं शरीरस्य कुतः, स्वरूप आकारसद्भावेऽपि भोगसाधनभूतानामिन्द्रियाणामभावाद्भोगेऽपि कथमित्याशङ्काद्वयनिरासार्थमाह 'स यथा प्रयोग्य' इत्यादि । 'अथ यत्रैतदाकाश'मित्यादि च । यथा प्रकर्षेण योग्योऽश्वादिराचरणे आसमन्ताच्चरणसाधने रथादौ तस्य गमनादिसाधनाय युक्तः, एवमयं पञ्चवृत्तिर्मुख्यः प्राणोऽस्मिन् शरीरे तद्यात्रासाधनाय युक्तः । तथा च मुक्तौ तस्य लये तद्वियुक्तस्य शरीरस्याप्रयोजकत्वादस्मरणमित्यर्थः । इन्द्रियाभावेऽपि भोगमुपपादयति 'अथ यत्रे'त्यादि । यत्र शरीरदेशे एतदाकाशमनुविषण्णं नेत्रकनीनिकोपलक्षितमाकाशमनुगतं चक्षुःशब्दवाच्यम् । तत्र स चाक्षु-

रश्मिः ।

रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुष इति । सम्प्रसादः जीवः । अस्यापि स्वव्याख्यातमिति । सम्प्रसादस्यापि स्वेन श्रुत्या व्याख्यातं परं ज्योतिरित्यर्थः । सम्पद्यान्तं व्याख्येयं स्वेन रूपेणेत्यादि व्याख्यानम् । परं ज्योतिःस्वरूपमिति । परांशत्वात्परत्वं ज्योतिश्चित् । परस्येति । अंशिनः परस्य । परममिति । परो मीयते ज्ञायतेऽनेनेति परममक्षरम् । इत्यादिनेति । 'स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनꣳ स्मरन्निदꣳ शरीरꣳ स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्तः एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्त' इति श्रुतिः । जक्षन् भक्षन् नोपजनमिति स्थूल शरीरं न स्मरति । स्त्रीपुंसयोरन्योन्यसमागमाज्जायत इत्युपजनम् । यद्वा उप आत्मसामीप्येन जायत इत्युपजनम् । प्रयुज्यत इति प्रयोग्यः अश्वादिः । यथा आचरणे आचरति गच्छत्यनेनेत्याचरणो रथादिस्तस्मिन्युक्तः । एवं यथादृष्टान्तमेव । अस्मिन् स्थूलशरीरेऽयं प्राणो लिङ्गात्मा । तदुपाधिकः प्राज्ञः रथित्वेन युक्तः ईश्वरेण नियुक्तो वर्तत इत्यर्थः । भगवत्प्रसादेति । 'त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोलङ्कारचर्चिताः उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमही'ति वाक्यात् । गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययोऽत्र । अत्र विद्येति । छान्दोग्येऽक्षिपुरुषविद्यायां क्रमे तेषां देवासुराणाम् । तदर्थं भोगार्थम् । उक्तत्वादिति । तद्धोभये देवा असुरा इत्यादिनोक्तत्वात् । पूर्वस्यैवेति । 'तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्ये'ति शारीर इति वाक्यात् । तद्यात्रेति । शरीरयात्रासाधनाय । 'अहमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामी'त्युक्तेः प्राणस्य । तस्येति । मुख्यप्राणस्य लये । अप्रयोजकत्वात् । दर्शनाविषयत्वात् । अनुभवे न संस्कारः तदुद्बोधे स्मरणात् । आहार्यज्ञानमविवक्षितं कादाचित्कम् । अथ यत्रेत्यादीति । अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरिति श्रुतिः । नेत्रकनीनिकेति । नेत्रस्य कनीनिका कृष्णतारा तयोप समीपे छिद्रेणाकाशकार्येण लक्षितं ज्ञातं कारण-

भाष्यप्रकाशः ।

यश्चक्षुषि विद्यमान आत्मा दर्शनाय रूपग्रहणार्थं चक्षुश्चक्षुरिन्द्रियरूपम्, एवं यो जिघ्राणीति गन्धग्रहणाय स घ्राणम्, एवं व्याहरणाय वाक्, श्रवणाय श्रोत्रं, मननाय मन' इति । एतेषु अस्य जीवात्मनो दैवं चक्षुर्मनः सर्वकार्यप्रयोजकम् । तथा च मुक्तस्य देहेन्द्रियाद्यभावेपि मनसः सत्त्वात् तस्य दैवत्वेनापूर्वत्वात्तेन दैवेन चक्षुषा मनोरूपेण ब्रह्मलोकस्थान् कामान् पश्यन् रमत इति सुखेन भोगसम्पत्तिरित्यर्थः । एवं सर्वमुपपाद्यैतदुपासनाफलं निगमयन्नुपसंहरति 'तं वा एतं देवा आत्मानमुपासत' इत्यारभ्य 'प्रजापतिरुवाचे'त्यन्तेन । तथा चात्र परमात्मन एव प्रकृतत्वात् 'एवं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामी'ति प्रतिज्ञाया अपि परमात्मपरतया तद्विरुद्धमिन्द्रज्ञानमनुसृत्य जीवपरमात्मनोर्भेदाभावेन व्याख्यानमनुचितम् । जीवात्मनः परमात्माभेदस्य तादात्म्यरूपत्वेनैव पूर्वं सिद्धतयाभ्युपगमैकशरणत्वाच्च । तेनाख्यायिकोपक्रमेऽप्यपहतपाप्मत्वादिरूपेण परस्यैव प्रतिज्ञानम्, जीवस्तु मुक्तौ प्राप्तस्वरूपस्तथा भवतीति प्राप्तलौकिककाम-

रश्मिः ।

माकाशं अनु पश्चाल्लक्षीकृत्य **गतं** उपलब्धम्, कृष्णताराग्रवर्ति चक्षुःशब्दवाच्यम् । **आत्मेति** । केनोपनिषदुक्तः । 'यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यन्ति तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासत' इति श्रुतिः । स चाक्षुषः स प्रकृतः शारीरः चक्षुषि भवतीति चाक्षुष इति टीकायां तदा वेदान्तपरिभाषाप्रक्रिया । पूर्वोक्तार्थोत्र ग्राह्यः । दर्शनायेत्युक्तेराधिदैविकमात्रविवक्षणात् । न तु भोगाश्रयपुरुषापेक्षा । **एवं य इति** । पूर्वोक्तरीत्या 'अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणमि'ति श्रुतिः । एवं व्येति । 'अथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्माभिव्याहाराय वा'गिति श्रुतिः । **श्रवणायेति** । 'अथ यो वेदेदं शृण्वानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्र'मिति श्रुतिः । शृणवानीति टीकायाम् । **मननायेति** । अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मन इति श्रुतिः । 'अस्य दैवं चक्षुः स वा एष तेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामानाप्नोति सर्वां[1]श्च कामा'निति श्रुतिः । अस्या अर्थमाहुः । **एतेष्विति** । **सर्वकार्य** इति ज्ञानरूपे प्रयोजकम् । आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेन ततः प्रत्यक्षमिति नैयायिकप्रक्रिया । किं पुन'र्मायां मनः सृजती'ति सप्तमस्कन्धे सद्वासनाप्रकरणे । **एतदुपासनेति** । अक्षिपुरुषोपासनाफलम् । सर्वलोकाप्तिः सर्वकामाप्तिः । **तं वा एतमिति** । 'तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते । तस्मादेषां सर्वे लोका आत्ताः सर्वे च कामाः स सर्वांश्च लोकान् सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाचे'ति श्रुतिः । एवं सर्वमुपपाद्य सम्पाद्याविर्भावसूत्रे य एष सम्प्रसाद इत्यादौ विषयवाक्ये केवलेनैवात्मनाविर्भवतीत्युक्तम् । तद्व्याख्यानमुपक्रमविरुद्धमनुचितमित्याहुः । **तथा चेति** । उपक्रमोक्तापहतपाप्मत्वादेरपि सत्यकामत्वादिवत्स्वरूपेणैव धर्मत्वे न तु शब्दविकल्पजत्वे च धर्मान्तरेणाविर्भावे च । **इन्द्रज्ञानमिति** । मामेवात्मानं जानीहीतीन्द्रप्रतर्दनसंवादस्थमनुसृत्य ब्रह्मप्राप्त्यवगममैन्द्रमनुसृत्य । हेत्वन्तरमाहुः **जीवात्मन** इति । जीवस्येन्द्रस्य । परमात्मन अभेदो यो वर्तते स न भेदाभावरूपः निःसम्बोधमुक्तेरभावात् । किन्तु ससम्बोधरूपमुक्तेरुपपादनात्तादात्म्यरूपत्वेनेत्यर्थः । **पूर्वमिति** । अत्रैव । **अभ्युपगमेति** । भेदाभावरूपाभेदस्य । **आख्यायिकेति** । तद्धोभये देवा इत्यारभ्याख्यायिका तस्या उपक्रमे य आत्मापहतपाप्मेत्यादिरूपे । ननु अपहतपाप्मपदेन जीवोपक्रमोस्तु अभेदात् । पाप्मरूपप्रतियोगिनो ब्रह्मण्यभावाच्चेत्यत आहुः **जीवस्त्विति** । अपहतपाप्मत्वं ब्रह्मणि

१. कामानाप्नोति यस्तमिति पाठान्तरम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

भोगयोग्यत्वात्तथोच्यते । एवं सति 'अविभागेन दृष्टत्वा'दिति सूत्रेऽविभागः सोऽप्यविभक्तः, भ्रातॄणामिव भोगमात्रसाम्यादेव, न त्वभेदात् । अत एव काठके 'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतमे'ति मुक्तस्वरूपनिरूपणपरे वाक्ये तादृगिति पदेन साम्यमेवोक्तम्, न त्वभेदः, तथा सति तदेवेति ब्रूयात् । एवं नदीसमुद्रनिदर्शनेपि भेदस्यान्याज्ञेयत्वाय नदीनां नामरूपत्यागकथनं द्रष्टव्यम् । एवं 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मी'त्यादावपि ब्रह्मणः सर्वरूपत्वादंशांशिभावेनैव तादात्म्यमभिप्रेत्य जीवस्यापि ब्रह्माभेद उच्यते, न त्वभेद इत्यभिप्रायेणेत्यवगन्तव्यम् । एवं 'यत्र नान्यत् पश्यती'त्यनेनोक्तो भूमान्यदर्शनाभावोऽप्यंशांशिभावावगमादेवोपपन्नतरः । 'न तु द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्त'मित्यत्रापि विभागाभावादेव द्वितीयदर्शनाभावो द्रष्टव्यः । इदं च तत्र तत्र बहुधोपपादितमिति नात्राधिकमुच्यते । अतो यदुक्तं भेदनिर्देशस्त्वभेदेऽप्युपचर्यते, 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नी'ति । 'आत्मरतिरात्मक्रीड' इत्यादिदर्शनादित्युक्तम्, तदप्यप्रयोजकम् । भेद-

रश्मिः ।

न प्रतियोगिसापेक्षाभावरूपम् । अखण्डशब्दार्थत्वात् । मुक्तात्मा जीवस्तु मुक्तौ आवरणभङ्गेन साधनैर्वा स पाप्मानं निहत्य प्राप्तस्वरूपः तथानामापहतपाप्मा भवतीति प्राप्तेण देहेन लौकिकैः कामैरक्षरात्मकत्वेन जीवस्य भोग्यत्वाच्चोपक्रमेऽपहतपाप्मत्वेनोच्यत इत्यर्थः । योऽविभागः **अविभक्त** एवावतिष्ठत इति सिद्धान्तीयः । **न त्विति** । निःसम्बोधमोक्षरूपफलाभावेन ससम्बोधमोक्षे भेदाभावरूपमोक्षाभावात् । **तादृगिति** । तमेवेमं पश्यन्ति जना इति तादृक् । **तदेवेति** तादृगेव भवतीत्यत्र तदेव भवतीति ब्रूयात् । पूर्वोक्तं दूषयित्वान्यदपि भाष्यीयं दूषयन्ति स्म **एवं नदीति** । नदी यमुनागङ्गादिरूपा समुद्रः क्षीरोदादिरूपः । तयोर्भेदः प्रसिद्धः नदीनामरूपत्यागः । न तु प्रवाहरूपस्वरूपत्यागस्तस्य कथनम् । 'ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदम् । यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे' इत्यादौ द्रष्टव्यम् । **तादात्म्यमिति** । ब्रह्मत्वेन तादात्म्यम् । घटत्वेन घटतादात्म्यवत् । पटो नेति न प्रतीतिः । **न त्विति** । ननु तर्हि तत्त्वमिति व्युत्पत्तिभङ्ग इति चेन्न । फलाध्याये तस्या अमुख्यत्वात् । अत्र श्रुतिं प्रमाणयन्ति स्म । **एवमिति** । **भूमान्येति** । भूम्नोन्यस्य दर्शनस्याभावः । अंशांशिभावो भेदप्रत्ययप्रयोजकः । तादृशाभेदो यत्र नान्यत्पश्यतीत्युक्तो न भेदाभावरूपोऽपि तु तादात्म्यरूपः । **उपपन्नेति** । तमप्प्रत्ययान्तं नोक्तम् । 'युक्तयः सन्ति सर्वत्रे'ति वाक्यात् । **इत्यत्रापीति** । बृहदारण्यकेपि ज्योतिर्ब्राह्मणे **तत्र तत्रेति** । प्रथमाध्याये तृतीयपादे सुषुप्त्यधिकरणे द्विसूत्रे । लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणे तृतीयाध्यायस्य तृतीयपादे । **बहुधेति** । स्वपरनयैर्बहुधा । **भेद इति** । ज्योतिरुपसम्पद्य भेदनिर्देश इति । ज्योतिरुपसम्पद्येति कर्तृकर्मनिर्देशाद्भेदनिर्देशः । विपरीतलक्षणयाऽभेदेप्युपचर्यत इत्यर्थः । स्वे महिम्नीत्यत्राधाराधेयनिर्देशाद्भेदनिर्देशः । आत्मनि रतिर्यस्य, आत्मनि क्रीडा यस्यात्मना मिथुनं यस्येत्यत्रापि भेदनिर्देशः । तथा च स्वे महिम्नीति भेदनिर्देशस्याभेदोपचारकस्य दर्शनात् । तथात्मरतिरित्यादेर्भेदनिर्देशस्याभेदोपचारकस्य दर्शनादित्यर्थः । **भेदविरुद्धेति** । अभेद इत्यत्र विरोधो नञर्थः षट्सु नञर्थेषु । भावप्रधानो भेदविरुद्धशब्दः । भेदविरुद्धत्वं भेदविरोधः भेदविरुद्धा सम्पत् भेदविरुद्धसम्पत् तस्याः तादात्म्येन तदात्मनो भावेन ब्रह्मत्वादिना रूप्यते व्यवह्रियत इति तादात्म्यरूपस्तस्य अभेदस्य ।

१. सादृश्यम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

विरुद्धसम्पदस्तादात्म्यरूपस्याभेदस्याङ्गीकारेणैव दोषनिवृत्तौ उपचारेण तत्र व्याख्यानस्यानुचितत्वात् । न चांशांशिभावेन नानात्वापत्त्या, 'नेह नानास्ती'ति विरोधः शङ्क्यः । ऐच्छिकनानात्वस्य स्वरूपैक्याद्यबाधकत्वादिति प्रागेवोक्तत्वादिति । एवमौडुलोमिसूत्रव्याख्यानेऽप्यसङ्गतत्वं द्रष्टव्यम् । औडुलोमिना अपहतपाप्मत्वादीनां धर्माणां शब्दविकल्पजत्वस्य कुत्राप्यनुक्तत्वेन तथापादयितुमयुक्तत्वात् । न च चैतन्यमात्रत्वकथनादेव धर्मनिवृत्तिरिति वाच्यम् । स्वरूपमात्रकथनेपि धर्मानिवृत्तेर्मध्यन्दिने नभोमण्डले सूर्य एवास्तीत्यादिलौकिकवाक्येपि प्रभाकरादिमत एव प्रतिपादनेनादर्शनात् । श्रुतावपि 'एवं वा अरे अयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवे'त्यत्रापि अकृत्स्नत्वबुद्ध्युत्पादकधर्माकारसत्तामास्थायैव तेषां धर्म्यनतिरिक्तत्वबोधनाय तस्य प्रज्ञानघनत्वकृत्स्नत्वयोर्बोधनात् । अन्यथा तयोः पदयोः सैन्धवदृष्टान्तस्य च वैयर्थ्यापत्तेर्दुर्वारत्वात् । अत एव सत्यकामादयोऽपि वास्तवा एव, नौपाधिकाः । न चानेकाकारत्वसम्भवो दोषः । 'न स्थानतोऽपी'त्यधिकरणे ब्रह्मणो विरुद्धधर्माधारत्वस्यैव प्रतिपादनात् । अतो न स्वकृततद्व्याख्यानुसरणेनौडुलोमिसूत्रव्याख्यानं युक्तम् । तस्य व्यासमतत्वाचेति । एवं बादरायणसूत्रेऽपि व्यवहारापेक्षया पूर्वस्य पूर्वस्याप्युपन्यासादिभ्योऽवगतस्य ब्राह्मस्यैश्वर्यरूपस्याप्रत्याख्यानादविरोधं मन्यते बादरायण इति व्याख्यातम् । तत्रापि व्यवहारापेक्षयेति यदुक्तम्, तदभ्युपगमैकशरणमेव । सूत्रे पूर्वभावपदेन प्राकालिकसत्तामात्रस्यैव बोधनेन व्यवहारापेक्षाया

रश्मिः ।

दोषेति । ज्योतिरुपसम्पद्येति कर्तृकर्मव्यपदेशाद्भेदनिर्देशरूपो यो दोषस्तस्य निवृत्तौ । कर्तृकर्मणोर्ज्योतिःसम्प्रसादयोर्भेदनिर्देशो दोषो त्वैक्यलक्षणसायुज्ये वक्तव्ये । स तु ऐक्यलक्षणसायुज्ये वक्तव्ये तस्य तादात्म्यरूपत्वेङ्गीकृते नास्तीति व्यर्थो भेदस्याभेद उपचार इत्येवम् । **निवृत्तौ स्वरूपैक्यादिति** । आदिनैकरसत्वम् । **प्रागेवेति** । जन्मादिसूत्रे । **औडुलोमिनेति** । तथापादयितुमित्यनेन आपादयितुमित्यनेनान्वयः । **धर्मानिवृत्तेरिति** अदर्शनादित्यनेनान्वेति । केत्यत आहुः **मध्यन्दिन** इत्यादि । आदिना मध्यरात्रौ चन्द्र एवास्तीति । ननु मेघादीनामपि सत्त्वात्कथमेवकारो दीयत इत्यतः करणमाहुः **प्रभाकरादीति** । आदिना भट्टभास्करमतेऽपि कथमित्यत आहुः **प्रतिपादनेनेति** । प्रतिपादनं तु साध्यपरवेदातिरिक्तस्यार्थवादत्वात् । चाक्षुषज्ञानस्यापि प्रातिपदिकार्थे मन्त्रमय्यां देवतायां चक्षुरादिप्रवृत्तेरभावात् । **अकृत्स्नस्वेति** । अकृत्स्नत्वबुद्ध्युत्पादका धर्माः अनन्तरत्वाबाह्यत्वे तत्प्रतियोगिनी अन्तरत्वबाह्यत्वे च । साकारत्वाद्ब्रह्मणो धर्माणामाकारसत्ता । **तेषामिति** । धर्माणाम् । **तस्येति** । आत्मनः । **विरुद्धधर्मेति** । एवकारेण 'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्ग'मित्यत्रानेकाकारत्वप्रतिषेधपरोक्तस्य योगस्तस्य व्यवच्छेदः क्रियते । **न स्वकृतेति** । चैतन्यमात्रेणैव रूपेणाभिनिष्पत्तियुक्तेति कृता औडुलोमिसूत्रव्याख्या । तस्या अनुसरणेनेत्यर्थः । **व्यासमतेति** । अरूपवत्सूत्रोक्तव्यासैकदेशिमतत्वात् । यद्वा भवदुक्तव्यासमतत्वात् । **पूर्वस्य पूर्वस्येति** । य आत्माऽपहतपाप्मेत्यादिना सत्यकामः सत्यसङ्कल्प इत्येवमन्तेनोपन्यासेन पूर्वस्यापहतपाप्मत्वस्य विजरत्वव्यवहारापेक्षया तथा विमृत्युत्वव्यवहारापेक्षया पूर्वस्य विजरत्वस्येत्येवं पूर्वस्य पूर्वस्येत्यर्थः । **उपन्यासेति** । आदिना स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाण इति श्रुत्युक्तधर्मसङ्ग्रहः । इदमेव ब्राह्ममैश्वर्यं रूपं तस्य । **अविरोधमिति** । ब्रह्मणो मुक्तात्मनः सप्रपञ्चत्वनिःप्रपञ्चत्वयोरविरोधम् । **अग्र इति** । स उत्तमः पुरुष इत्यस्याग्रे । **प्राकालिकेति** । प्राक्कालपूर्वशब्दार्थः सम्बन्धविशिष्टः

भाष्यप्रकाशः ।

अनुपलम्भादिति । एवं सति यदौडुलोमिमतमनुसृत्य मुक्तस्य मनसा सर्वान् ब्रह्मलौकिकान् कामान् पश्यतोपि विभागेनादर्शनात् सुषुप्ताविवापश्यत्त्वं सर्वैकत्वात् द्वितीयाभावेन व्याख्यातं छान्दोग्यभाष्ये, तदपि प्रकृतविरुद्धम् । 'रमत' इति रमणस्याग्रे कथनात् । न च तत्र 'रमत' इत्यस्य मुख्यार्थो नाभिप्रेत इति वाच्यम् । मानाभावात् । उपक्रमे इन्द्रादेः सर्वलोकसर्वकामप्राप्त्योरेवाभिसंहितत्वकथनेन तद्विरोधाच्च । अतोऽविभागेन दर्शनं शारीरब्राह्मणोक्तायाः सुषुप्तिश्रुतेरेवार्थः, न तु क्रममुक्तिमार्गप्राप्तब्रह्मलोकसुखप्राप्तिबोधिकाया एतच्छ्रुतेरित्यवधेयम् । न च द्वितीये मैत्रेयीब्राह्मणेपि 'न हि द्रष्टुर्दृष्टे'रित्याद्यविभक्तदर्शनश्रुतेर्विद्यमानत्वात्तस्याश्च मुक्तविषयत्वादत्र तथाङ्गीकारे को दोष इति वाच्यम् । विषयभेदात् । तत्र हि, 'प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ती'ति ब्रह्मणि जीवस्य लयनिरूपणेन तथा निश्चयात् । अत एव शारीरब्राह्मणे, 'अथाकामयमान' इत्युपक्रम्य, 'अत्र ब्रह्म समश्नुत' इत्यन्तेनाकामयमानस्यात्मनो ब्रह्मणि लय उक्त इति सायुज्यविषयं मैत्रेयीब्राह्मणवाक्यम् । अतस्तदादायात्र कामवत्प्रकरणे तथापादनं प्रकृतविरुद्धमेवेति दिक् ।

भास्कराचार्यास्तु, सम्पद्याविर्भावसूत्रे इन्द्रप्रजापतिसंवादस्थामेव श्रुतिं विषयत्वेनोपन्यस्य, सर्वाणि सूत्राणि पूर्ववदेव व्याख्याय, जीवब्रह्मणोरौपाधिकभेदः, पारमार्थिकं त्वैक्यमिति स्वीयं सिद्धान्तं चोक्त्वा, जीवस्य ब्रह्माविभागेन स्थितिं चाङ्गीकृत्य, जैमिनीयमतं च पूर्ववदेव व्याख्याय, औडुलोमिसूत्रे एवमाहुः । तथाहि । चैतन्यसन्मात्रेणाभिनिष्पद्यत इत्यौडुलोमिर्मन्यते स्म । कुतः । तदात्मकत्वात् । चैतन्यात्मकं सत्तात्मकं च ब्रह्म । तथा च श्रुतिः, 'एवं वा अरे अयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवे'ति । तथा, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति सत्यकामादीनां तु विकल्पमात्रत्वादतत्स्वरूपतेति मन्यते । 'सुषुप्तवद्भिःसम्बोधो मोक्ष'

रश्मिः ।

प्राक्कालिका सत्ता भावपदार्थः भू सत्तायामिति धातुपाठात् तन्मात्रस्य । एवकारेण व्यवहारापेक्षायोगव्यवच्छेदः क्रियते । **रमत इतीति** । रमत इति रममाण इति शब्देन रमणस्याग्रे कथनादित्यर्थः प्रतिभाति । पुस्तके रमत इति पदाभावात् । तत्र रमत इति । रममाण इति श्रौतशब्दस्य रमत इत्यस्य विग्रहस्य । **नाभिप्रेत इति** । ब्राह्मस्यैश्वर्यरूपस्य धर्मत्वात् । किन्तु गौणोर्थः उत्तमः पुरुष इत्यत्र सर्वकामान्पश्यतोऽपि विभागेनादर्शनात्सुषुप्ताविवापश्यत्वरूपः । अविभागेन दर्शनं वा गौणोर्थः । **एतच्छ्रुतेरिति** । स तत्र पर्येतीत्यादिश्रुतेः । **द्वितीय इति** । उभयत्रार्थभेदाभावाय विशेषणम् । **कामवदिति** । परप्राप्तिप्रकरणे । तथापादनमिति । उत्तमः पुरुष इत्युक्त्यनन्तरं स तत्र पर्येतीत्यत्र रमणस्य मुख्यार्थः स्याद्ब्राह्मस्यैश्वर्यस्य धर्मः स्यादतो गौणोर्थ इत्यापादनम् । **प्रकृतेति** । उपक्रान्तार्थविरुद्धम् । मनसैतान्कामानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीत्युपसंहारादेवकारः । **औपाधिकेति** । मायोपाधिः । तत्कृतो भेदः प्रातीतिकः ब्रह्म जीवो नेति प्रतीतिः । स्वीयं भेदाभेदरूपम् **एवं वा अर इति** । प्रज्ञानघनोस्तीति क्रियापदं विभक्त्युत्पत्त्यर्थमावश्यकमिति चैतन्यात्मकं सत्तात्मकं च । **सत्यं ज्ञानमिति** अनन्तत्वादानन्दविशेषणं सद्धर्मरूपम् । **सत्यकामादीनामिति** सत्यकामस्यादय अपहतपाप्मादयोपि यासां ताः । सत्यकामआदिर्यस्य सत्यसंकल्पस्य स सत्यकादिः सत्यकामादयश्च सत्यकादिश्च सत्यकामादयस्तेषाम् । **सुषुप्तवदिति** षष्ठ्यन्ताद्वतिः । **विकल्पमात्रत्वादिति** कदाचित्सत्यकामादयः कदाचिदसत्यकामत्वादयः । **साङ्गेति**

भाष्यप्रकाशः ।

इत्यौडुलोमेरभिप्रायः साङ्ख्यवैशेषिकादीनामिव । इदानीन्तना अपि केचिदेतदेवं दर्शनं प्रतिपन्ना इति । बादरायणसूत्रं त्वेवं व्याकुर्वन्ति । तथाहि । एवमपि चैतन्यमात्रत्वेपि पूर्वस्याप्यैश्वर्यरूपस्य भावात् । कथम् । उपन्यासात् पूर्वोक्तेन जैमिनीयेन हेतुना उभयेषां वेदवाक्यानां प्रामाण्याविशेषात् । असाधारणत्वाच्चापहतपाप्मादिगुणानां व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तस्वभावत्वादविरोधं भगवान् बादरायणः परिनिश्चिकाय । न च गुणगुणिनोरेकत्वानेकत्वविरोधः । यथाग्निरेकः सप्तजिह्वः प्रकाशवानूर्ध्वज्वलन उष्ण इति न नानात्वम्, यथा च उद्यदिनकर एकं किरणजालमवनिमण्डले प्रथयन्नानेको भवतीति ।

अत्र वैशेषिकाः प्राहुः ससम्बोधो मोक्षो नोपपद्यते सर्वज्ञत्वादिगुणयुक्तः । दुःखनिवृत्तिमात्रं मोक्षः । आनन्दादिशब्दाश्च दुःखनिवृत्तिमात्रावलम्बनाः । यदि च सुखे रागेण प्रवर्तेत, ततो बन्ध एव स्यात् । गुणस्य बन्धहेतुत्वात् । शरीरेन्द्रियमनसां निवृत्तौ विज्ञानोत्पत्तिहेत्वभावात् । मुक्तो निःसंज्ञः पाषाणकल्पोऽवतिष्ठते ।

साङ्ख्याः पुनश्चैतन्यस्वभाव आत्मा, तस्य द्रष्टुः स्वरूपे चैतन्यमात्रेऽवस्थानमसम्प्रज्ञातयोगनिष्पत्तौ मोक्ष इति मन्यन्ते ।

तत्राऽभिधीयते । यत्तावदुक्तं रागो बन्धहेतुरिति । तदयुक्तम् । शास्त्रादयं विभागो गम्यते । यथा स्वदारगमनं नाधर्माय, तथा विषयविषयो रागो बन्धहेतुः, निरतिशयानन्दब्रह्मविषयो मुक्तये । न चानन्दशब्दो दुःखाभाववचनः । शतगुणोत्तरोत्तरक्रमेण उत्कर्षापकर्षौ प्रतिपाद्य निरतिशयस्य ब्रह्मानन्दस्योपदेशात् । न चाभावस्य निरुपाख्यस्योत्कर्षापकर्षौ । लोकेपि दुःखतारतम्यं सुखतारतम्यं च परस्परविलक्षणं प्रत्यक्षेणानुभूयते । तस्मान्मुक्तः कारणात्मानमासत्तद्वदेव सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्वात्मापि भवतीति जैमिनिबादरायणयोरभिप्रायः । ततो ये वेदबाह्या वैशेषिकाः साङ्ख्यास्तत्पक्षाऽवलम्बिनश्च, ते सर्वेऽपसिद्धान्तिनः, तर्कमात्रशरणत्वादिति । यदि च विज्ञानमात्रं ब्रह्म, तदानन्दपदमनर्थकम् । न हि चैतन्यमात्रमानन्दः । दुःखावस्थायामपि चैतन्यानुवृत्तिदर्शनात् । न च दुःखनिवृत्तिमात्रमानन्दशब्दार्थ इति युक्तम् । तस्मात् स्वयं संविदितमेव सुखं सर्वदा मुक्तस्याभ्युपेयमिति ।

रश्मिः ।

वैशेषिका नैयायिकविशेषाः । आदिना मायावादिनः तदनुसारिणः दर्शनं शास्त्रं ज्ञानं वा । आभावादितिपदच्छेदः । ऐश्वर्यरूपस्याभावादित्यत्र । **हेतुनेति** । **ब्राह्मेणे**त्यनेन सधर्मप्रतिपादकेन । **व्यतिरिक्तेति**। 'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वा'दिति सूत्रात् । **परिनिश्चिकायेति** । चिञ् चयने परिनिःपूर्वकः, लिट् । **एकत्वेति** । धर्माणां धर्म्यभेदपक्षे । **सप्तजिह्व इति** । 'सप्त ते अग्ने समिधः सप्त जिह्वाः' इति श्रुतेः । **रागेणेति** । अपहतपाप्मत्वादिधर्मैं रागेण । **एवेति** । लोके तथादर्शनादेवकारः । **तस्येति** । जीवात्मनः । **असम्प्रज्ञातेति** । असम्प्रज्ञातसमाधिनिष्पत्तौ । न संप्रज्ञातं स्वरूपं यत्र योगसूत्रमत्र । 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा । तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् । तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि'रिति सूत्रत्रयम् । **निरतिशयेति** । निरतिशयानन्दो ब्रह्म यदि भक्तिविषयः । **प्रतिपाद्येति** । तैत्तिरीये आनन्दमीमांसायां प्रतिपाद्यः **उपदेशा**दिति । 'ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्द' इत्यत्र 'यतो वाचो निवर्तन्त' इति श्रुत्येकवाक्यतयोपदेशात् । **निरुपाख्यस्येति** । द्वितीयाध्यायतर्कपादे नास्तिकमतोक्तौ । **लोकेपीति** । परविलक्षणं चेत्यन्वयः । **इति युक्तमिति** । 'दुःखाभावं सुखं चैव पुरुषार्थद्वयं मत'मिति वाक्यविरोधात् । **स्वयं संविदि**-

भाष्यप्रकाशः ।

अत्र पूर्वेषां सूत्राणां शङ्कराचार्यवदेतैर्योऽर्थ उक्तः, स तु तदुत्तरेणैव दत्तोत्तरः । शेषं त्वविरुद्धत्वादनुमन्यामहे ।

रामानुजाचार्यास्तु—परं ब्रह्मोपासीनानामात्मानं च प्रकृतिवियुक्तब्रह्मात्मकमुपासीनानामर्चिरादिमार्गेणापुनरावृत्तिलक्षणा गतिरुक्ता । इदानीं मुक्तानामैश्वर्यप्रकारं चिन्तयितुमारभत इति पादद्वयार्थमुक्त्वा, सम्पद्याविर्भावसूत्रे छान्दोग्यस्थप्रजापतिवाक्यगां तामेव श्रुतिं विषयत्वेनोपन्यस्य, पूर्वोक्तवदेव सर्वं सिद्धान्तपर्यन्तमुक्त्वा, अविभागेन दृष्टत्वादिति द्वितीयेऽधिकरणे, किमयं प्रत्यगात्मा स्वात्मानं परमात्मनः पृथग्भूतमनुभवति, उत तत्प्रकारतया तदविभक्तमिति संशये, 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्, तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति,' 'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यां मुक्तस्य परेण साहित्यसाम्यसाधर्म्यप्रतिपादनात् पृथग्भूतमेवानुभवतीति प्राप्ते, अनेन सूत्रेण परस्माद् ब्रह्मणोऽविभागेन स्वात्मानं मुक्तोऽनुभवतीति प्रतिपाद्यते । तत्र हेतुर्दृष्टत्वादिति । 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य निवृत्ताविद्यातिरोधानस्य याथातथ्येन स्वात्मनो दृष्टत्वात् । स्वात्मनः स्वरूपं हि, 'तत्त्वमसि,' 'अयमात्मा ब्रह्म,' 'एतदात्म्यमिदं सर्वम्,' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'त्यादिसामानाधिकरण्यनिर्देशैः 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्', 'अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनाना'मित्यादिश्रुतिभिः परमात्मात्मकं तच्छरीरतया तत्प्रकारभूतमिति काशकृत्स्नसूत्रे सिद्धम् । अतोऽविभागेन 'अहं ब्रह्माऽस्मी'त्येवानुभवात्तैर्वाक्यैः साम्यसाधर्म्यव्यपदेशो ब्रह्मप्रकारभूतस्यैव प्रत्यगात्मनः स्वरूपं 'तत्सम'मिति श्रुतिः प्रतिपादयति । सहश्रुतिस्त्वेवंभूतस्य प्रत्यगात्मनः प्रकारिणा ब्रह्मणा सह तद्गुणानुभवं प्रतिपादयतीति न कश्चिद्विरोधः । 'सङ्कल्पादेव तच्छ्रुतेः,' 'अधिकं तु भेदनिर्देशा'दित्यादेश्च न विरोध इति ब्राह्मदेहेन जीवस्य तत्र भोगं परमात्मसङ्कल्पात् कर्मानधीनत्वभगवत्सृष्टपदार्थैरेव तद्भोगं स्वसृष्टपदार्थैश्च लीलारसभोगादिकमङ्गीकुर्वन्ति । तत् सिद्धान्तादविरुद्धमित्युपादेयम् ।

रश्मिः ।

तमिति । इदं पाषाणकल्पस्य मुक्तस्यापि ज्ञेयम् । सतः पाषाणकल्पस्यानन्दजनकत्वात् । **अत्रेति** भास्कराचार्यमते ।

परं ब्रह्मेति परं ब्रह्म मायारूपाचिद्विशिष्टं तस्योपासीनानां विशिष्टत्वनिरूपकाणां चिताम् । आत्मानं विशिष्टं प्रकृतिरचित्तद्वियुक्तम् । **उपासीनाना**मिति चिताम् । विशिष्टाद्वैतं मतम् । **ऐश्वर्येति** । ईश्वरत्वं यज्ञातं तस्य प्रकारम् । **तत्प्रकारेति** । ईश्वरत्वप्रकारतया **श्रुतिस्मृतिभ्यामिति** । द्वित्वमविवक्षितम् । श्रुतिस्मृतिभ्य इत्यर्थः । रामानुजभाष्ये तु इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्य इति पाठः । तथा च लेखकदोषाद् द्विवचनमत्र । **साहित्येति** । यथाक्रमं त्रिषु वाक्येषु बोध्यम् । **इत्यादि सामानाधिकरण्येति** । सामानाधिकरण्यं, भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वे सत्येकार्थप्रतिपादकत्वम् । तत् तत्त्वमित्यत्र 'अयमात्मेत्यत्र' 'एतदात्म्यमिदं सर्व'मित्यत्र सर्वमिदं ब्रह्मेत्यत्र सामानाधिकरण्यनिर्देशास्तैः । अन्तर्यामिब्राह्मणे परमात्मशरीरतया परमात्मप्रकारभूतम् । आत्मशरीरः परमात्मेति । तत्सममिति साम्यश्रुतिः । **न विरोध इति** । अधिकसूत्रोक्ते ब्रह्मणो जगत आधिक्येपि सङ्कल्पसूत्रोक्तपरमात्मसङ्कल्पाद्भोग इति न विरोध इति हेतोः । **तत्रेति** । चिदचिद्विशिष्टे । **कर्मानधीति** । कर्मानधीनत्वेन रूपेण यो भगवान् जीवीयकर्माननुरोधी भगवानित्युक्तम् । तेन सृष्टैः पदार्थैः तद्भोगं जीवकर्मकं भोगम् । **स्वसृष्टेति** । आत्मसृष्टपदार्थैः । ली-

सङ्कल्पादेव च तच्छ्रुतेः ॥ ८ ॥

एवं परप्राप्तिः केषाञ्चिदेव भवति । तत्र हेत्वपेक्षायामाह । भजनानन्दं दातुं यमेव सङ्कल्पविषयीकरोति, स एवैवं प्राप्नोतीति भगवत्सङ्कल्प एव तत्र हेतुः । तत्र प्रमाणमाह । तच्छ्रुतेः 'नायमात्मे' त्युपक्रम्य, 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति श्रुतिः श्रूयते, अतः स एवात्र हेतुः । श्रुतौ प्रवचनादिनिषेधः कृत इत्यत्राप्येवकार उक्तः । चकारात्तज्जनितैवैतदनुरूपा परमार्तिः संगृह्यते ॥ ८ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

शैवस्तु-तन्मतस्यैव चौरः शैवीः श्रुतिस्मृतीरुपन्यस्य स्वं मतं ततो भिनत्ति । तत्र शिवपदस्य नारायणादिपदवत् परब्रह्मवाचकताया वाराहपुराणे उक्तत्वात् स्वरूपभेदकत्वाभावे कोपि न विरोधः । रूपभेदकत्वे तु नृसिंहपूर्वतापिनीयोक्तादिरीत्या तत्रोत्कर्षविश्रान्त्यभावस्य प्रहस्ताख्ये वादे निपुणतरमुपपादितत्वाच्च तस्मिन् परत्वमिति न तदर्थमधिकं किञ्चिदुच्यते ।

माध्वास्तु—कर्मनाशाख्यं फलं प्रथमपादे, देवानां मोक्ष उत्क्रान्तिश्च द्वितीयपादे फलम्, मार्गो गम्यं च तृतीये पादे फलम् । एवं त्रयं पूर्वमुक्त्वा चतुर्मुखेन सह परं ब्रह्म प्राप्तानां यस्तत्र भोगः क्रमप्राप्तः, तमत्र पादे वदतीति पादार्थमुक्त्वा, 'सम्पद्याविर्भाव' इत्यत्र 'सम्पद्याविहाये'ति पाठमङ्गीकुर्वन्तोऽविभागसूत्रपर्यन्तं प्रतिसूत्रमधिकरणभेदमङ्गीकुर्वन्तः प्रथमे मुक्तस्य ब्रह्मानतिक्रमेण भोगम्, द्वितीये ब्रह्मप्राप्तस्य मुक्तत्वम्, तृतीये मुक्तप्राप्यस्य परस्य ज्योतिषः परमात्मत्वम्, चतुर्थे च ब्रह्मप्राप्तिं सायुज्यादिरूपामुक्त्वा, तेषां ब्रह्ममुक्तबहिष्ठभोगभोक्तृत्वं प्रतिपादयन्ति । 'ब्राह्मेणे'ति त्रिसूत्रेऽधिकरणे च चिन्मात्रदेहानां भगवत्सायुज्यं प्राप्तानां ब्रह्माङ्गानुगृहीतैः स्वाङ्गैर्भोगं प्रतिपादयन्ति । तत्रोदासीना वयम् ॥ ७ ॥

सङ्कल्पादेव च तच्छ्रुतेः ॥ ८ ॥ सूत्रमवतारयन्ति एवं परेत्यादि । व्याकुर्वन्ति भजनेत्यादि । स एवेति । वरणरूपः सङ्कल्पः । अत्रापीति । सूत्रेपि ॥ ८ ॥

रश्मिः ।

त्यारस्येति । आदिना ससम्बोधो मोक्षस्तम् । शैव इति । भगवान् शैवः । नृसिंहेति । आदिनाथर्वशिर आदिस्तत्र ज्ञानेन भक्तेति शिवविशेषणात्तदुक्तरीत्या । भजनीये उत्कर्षविश्रान्त्या । तत्र शिवे । वाद इति द्वितीये वादे । तस्मिन्निति शिवे । तदर्थमिति शिवमतनिवृत्तये । अनतिक्रमेणेत्यविहायेत्यस्यार्थः । तेषामिति । मुक्तानाम् । ब्रह्माङ्गेति । ब्रह्माङ्गं कारणं कारणमनु पश्चात् कार्याणीव गृहीतैः स्वाङ्गैः मुक्तानामङ्गैः । उदासीना इति । पूर्ववद्व्याख्यानम् ॥ ७ ॥

सङ्कल्पादेव च तच्छ्रुतेः ॥ ८ ॥ भाष्ये । वरणं सङ्कल्पः । वृङ् सम्भक्तौ । तथा च । प्रमेयबलं सङ्कल्पः । क्लृप् सामर्थ्ये । बलं सामर्थ्यम् । सामर्थ्येन वरणमिति संकल्पकार्ये सङ्कल्पपदं लाक्षणिकम् । बलं भक्तिरिति भाष्यम् । सङ्कल्पविषयो भक्तः विषयविषयिभावः । फलकर्मणोः सम्बन्धः तदनुकूलो व्यापारो भगवन्निष्ठः । एतद्यमेव सङ्कल्पविषयं करोतीति भाष्येणोक्तम् । एवं च पुष्टिभक्तिजभगवदावेशे पूर्वसूत्रोक्ते सङ्कल्पो हेतुः । तत्र चतुर्षु आद्य आर्तोधिकारी । तदुक्तं 'विरहातुरात्मे'त्युद्धववाक्यं तृतीयस्कन्धे । 'ममार्तायाः सखे दर्शय सन्निधि'मिति पञ्चाध्याय्याम् । तदेतदाहुः । चकारादिति । अनुक्तसमुच्चयार्थकात् । वरणजनितैव । एवकारेण लौकिकविषयालब्धिजनितत्वयोगव्यवच्छेदः क्रियते । तदनुरूपेति । भगवदानन्दाशनानुरूपा न तु तूष्णीं दुःखरूपा तस्या निषेधात् । 'नोत दुःखता'मिति श्रुतौ । दुःखतां दुःखसत्तां पश्यतीत्यन्वयः । परमार्तिरधिकारः ॥ ८ ॥

अत एव चानन्याधिपतिः ॥ ९ ॥

यतो हेतोः साधनं फलं चोक्तरीत्या स्वयमेव, नान्योऽतो हेतोस्तेषां हृदि साधनत्वेन फलत्वेन प्रभुरेव स्फुरति, नान्यः, तेनानन्यास्ते । तेषामेवाधिपतिः पुरुषोत्तमः । अन्यत्राधिपत्यं विभूतिरूपैः करोति, अतः 'सर्वस्याधिपति'रितिश्रुतिरपि तदभिप्रायेणैवेति भावः । चकारात्, 'मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपी'ति भगवद्वाक्यं सङ्गृह्यते । अन्यथा सर्वज्ञस्याकुण्ठितज्ञानशक्तेरेवं कथनमयुक्तं स्यात् । अतः पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्यः प्रमाणमार्गाद्विलक्षणः, तत्र विश्वासश्च तथेति सिद्धम् ॥ ९ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

अत एव चानन्याधिपतिः ॥ ९ ॥ व्याकुर्वन्ति यत इत्यादि । यतो हेतोः पुष्टिमार्गीयाणां वरणादिरूपं साधनं स्वस्वरूपात्मकं फलं च स्वयमेवातस्तथेत्यर्थः । 'सर्वस्य वशी'त्यादिश्रुतिविरोधपरिहारायाहुः अन्यत्रेत्यादि । शेषं स्फुटम् । विश्वासस्तथेति । अनुग्रहैकसाध्यः ।

अत्रान्ये मुक्तसङ्कल्पं व्याकुर्वन्ति । 'अनन्याधिपति'रित्यत्र च जीवस्य स्वाधीनताम् । तद्यदि, 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपति'रिति श्रुतिं नोपरुन्ध्यात्तदोपादेयम्, अन्यथा तूपेक्ष्यम् ॥ ९ ॥

रश्मिः ।

अत एव चानन्याधिपतिः ॥ ९ ॥ साधनमिति । आदिना सङ्कल्पो वरणजनकः । स्वस्वरूपेति । वृतस्य भक्तस्य शरीरात्मनोरभेदा'त्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वा'मित्यत्र लभ्यविवरणे वृतनिवेशात् स्वस्वरूपं स्वं आत्मा तस्य स्वरूपं वृतभक्तनिष्ठं वरणादि तत् आत्मनि शरीरे लभ्यविवरणशरीरे यस्य साधनस्य तत्स्वस्वरूपात्मकम् । फलं लभ्यपदोक्तम् । तथेति । पूर्वसूत्रोक्तरीत्या स्वयमेवेत्यादिः । अनन्या इति । न अन्यत् फलभिन्नं साधनादि हृदि येषां ते अनन्याः । तादात्म्याधिपत्यमुक्तम् । भेद आधिपत्यमाहुरित्याशयेनाहुः सर्वस्येति । विरोधस्तु मुक्तौ भेदाभावात् प्रशासनस्य भेदाधीनत्वात् । अन्यत्रेत्यादीति । मायाभेदविशिष्टे जगति । विभूतीति । ब्रह्मादिभिः । तदभीति । विभूत्यभिप्रायेण । पुरुषोत्तमस्य भक्तैः सह निगूढभावकरणातिरिक्तस्वक्रीडाभावादेवकारस्तद्योगं व्यवच्छिनत्ति । अनुग्रहेति । विश्वासस्य पुष्ट्यन्तर्गतत्वात्तथा । मुक्तसङ्कल्पेति । दहरविद्यायां 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु कामचारो भवती'ति । आत्मानुवेदिनो मुक्तास्तेषां सङ्कल्पा अव्यवहितोत्तरश्रुतिषु 'स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ती'त्यादिषु । एकत्वमविवक्षितम् । स्वाधीनतामिति । नान्योधिपतिर्यस्येति । अत एवेत्यस्यावन्ध्यसङ्कल्पादेवेत्यर्थः ॥ ९ ॥

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ १० ॥

मुक्तोऽपि जीवः पुष्टिमार्गेऽङ्गीकृतो भगवद्दत्तं विग्रहं प्राप्य भजनानन्दं प्राप्नोतीति सिद्धम् । अत्र प्रत्यवतिष्ठते । बादरिराचार्यो मुक्तस्य देहाद्यभावं मनुते । तत्र हेतुराह ह्येवमिति । ब्रह्मविदो हि मुक्तिरुच्यते । 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यती'त्याद्युक्त्वा, 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्ये' दित्यादिना द्वितीयज्ञाननिषेधमाह ब्रह्मविदः श्रुतिः । तथा च तस्य कामभोगवार्ता दूरतरेति, तदाक्षेप्यदेहोपि तथा ॥ १० ॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ११ ॥

जैमिनिराचार्यस्तु मुक्तस्य पुंसो देहादेर्भावं सत्तां मन्यते । तत्र हेतुः विकल्पेत्यादि । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति श्रुत्या ब्रह्मज्ञानस्य तत्प्राप्तिसाधनत्वमुच्यते । 'नायमात्मे'ति श्रुत्या तु वरणमात्रप्राप्यत्वम् । 'सोऽश्नुत' इत्यादिना च परप्राप्त्युपन्यासः क्रियते । 'इहैव समवनीयन्ते' 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽप्येती'ति च पठ्यते । एवं सति मिथो विरोधे तदभावायोक्तव्याख्यानरीत्या ज्ञानमार्गीयस्य ब्रह्मज्ञानेनाक्षरब्रह्मप्राप्तिः, पुष्टिमार्गीयभक्तस्य तु 'सोऽश्नुत' इत्यनेनोक्ता परप्राप्तिरिति व्यवस्थितविकल्प एव श्रुत्यभिमत इति ज्ञायते । तेन, 'नायमात्मे'ति

भाष्यप्रकाशः ।

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ १० ॥ अत्रेत्यादि । अस्मिन्नर्थे निःसम्बोधनिरानन्दमुक्तिवादी प्रत्यवतिष्ठत इत्यर्थः । तत्र हेतुः । बादरिरित्यादि । शेषं स्फुटम् ॥ १० ॥

एतन्मते कामाशनबोधकश्रुत्यादयः पूर्वकक्षाविश्रान्ताः जैमिनिस्तु पूर्वकक्षाविश्रान्तौ मानाभावात् ब्रह्मविद्वृत्तान्तकथनस्योभयत्र तुल्यत्वान्मार्गभेदेनाधिकारिभेदमङ्गीकृत्योभयव्यवस्थामाह ।

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ११ ॥ विकल्पामननादिति । विरुद्धाः कल्पाः पक्षाः विकल्पाः श्रुतिषूच्यमानाः, तेषां आमननात् आसमन्तान्मननाद् विचारात् । तथा च ज्ञानप्राप्यत्वविरुद्धं वरणैकलभ्यत्वं कामाशनविरुद्धश्चाप्यय इति साधनयोः फलस्वरूपयोश्च मिथो विरुद्धत्वे सति तदभावायाधिकारिभेद आस्थेय इति ज्ञानमात्रात् साधनात् ब्रह्मभावे तत्र लयः,

रश्मिः ।

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ १० ॥ निःसम्बोधेति । अर्थबलाच्छब्दोप्यन्यथा नेय इति मत्येदृशो भवति । भाष्ये । तथेति दूरतरः ॥ १० ॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ११ ॥ एवं सतीति भाष्यं विवृण्वन्ति । इति

श्रुतिः परप्राप्तिविषयिणी । 'इहैवे' त्यादिश्रुतिस्तु मर्यादामार्गीयविषयिणीति मन्तव्यम् । एवं सति पुष्टिमार्गीयस्य भोगसाधनात्मकविग्रहवत्त्वं निष्प्रत्यूहं सिध्यति । 'तत् केन कं पश्ये' दित्यादिना तु ब्रह्मज्ञानसामयिकीं व्यवस्थामाह, न तु तदुत्तरकालीनपरप्राप्तिसामयिकीमिति किमनुपपन्नम् ॥ ११ ॥

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥ १२ ॥

ब्रह्मणा सह सर्वकामाशनप्रयोजकं शरीरं शरीरत्वस्य भूतजन्यत्वव्याप्यत्वात्तदभावेनाशरीररूपम्, तद्भोगायतनत्वेन शरीररूपमपीति बादरायण आचार्यो मन्यते । अत्र हेतुः, अत इति । तथाविधश्रुतेरित्यर्थः । तथाहि । 'भूमैव विजिज्ञासितव्य'इत्युक्त्वा, तत्स्वरूपमाह 'यो वै भूमा तत्सुख'मित्युपक्रम्य,

---

भाष्यप्रकाशः ।

वरणसहकृतात्तु तल्लाभः स्वाधीनतया स्वरूपानुभावात्मक इति श्रुत्यभिप्रेतस्य व्यवस्थितविकल्पस्य सम्यग्विचारात् तथेत्यर्थः । शेषं स्फुटम् ॥ ११ ॥

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥ १२ ॥ भगवान् व्यासस्तु जैमिन्युक्तव्यवस्थां बादर्युक्तं द्वैतदर्शननिषेधं चाङ्गीकृत्य जैमिन्युक्तात् कश्चिद्विशेषमाहेत्याशयेन सूत्रं व्याकुर्वन्ति ब्रह्मणा सहेत्यादि । एवमधिकारिभेदमार्गभेदाभ्यां मुक्तस्य देहसत्तायास्तदभावस्य च प्राप्तौ यस्य शरीरं प्राप्तम्, तत् कीदृशमित्यपेक्षायां तच्छरीरं उभयविधम्, केनचिद्धर्मेण शरीररूपम्, केनचिद्धर्मान्तरेण अशरीररूपमित्येवं द्विविधमिति बादरायण आचार्यो मन्यत इत्यर्थः । हेतुबोधिका श्रुतिः कुत्रास्तीत्याकाङ्क्षायामाहुः तथाहीत्यादि । तथा तत्प्रकारकं हि यतो हेतोः, 'भूमैव विजिज्ञासितव्य' इत्याद्युक्त्वा तस्य शरीरस्य स्वरूपमाह । तथा च छान्दोग्ये भूमविद्यायामस्तीत्यर्थः । ननु तत्र भूम्नः स्वरूपमुच्यते, न शरीरस्येत्यत आहुः यो वा इत्यादि । सत्यं भूम्नः स्वरूपमुच्यते, तथापि तस्य सुखरूपत्वमुपक्रम्याग्रे सुखरूपतया तदुच्यते, इत्येवं

रश्मिः ।

साधनयोरित्यादि । वरणसहकृतादिति । अनुग्रहजपुष्टिभक्तिरूपात्साधनात् । 'वशे कुर्वन्ति मां भक्त्ये'ति वाक्यादाहुः । स्वाधीनतयेति । तथा च एवमपि उपन्यासादिति सूत्रभाष्यं भगवदानन्दमश्नुत इति । तथेति । ज्ञायत इत्यर्थः । शेषमिति । तेन नायमात्मेत्यादि भाष्यं स्फुटम् । तथाहि । मर्यादामार्गीयविषयिणीति । मर्यादामार्गीयसद्योमुक्तिविषयिणी । ब्रह्मज्ञानसामयिकीमिति । गीताष्टादशाध्यायोक्तसात्त्विकज्ञानसामयिकीमिति ॥ ११ ॥

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥ १२ ॥ ब्रह्मणा सहेत्यादीति । भूतजन्यत्वेति । भूतजन्यं शरीरत्वात् । देवदत्तशरीरवत् । तदभावेन भूतजन्यत्वाभावेन । तदिति भिन्नं पदम् । एवमपीति । बादरिरर्थार्थी अधिकारी । जैमिनिरार्तोधिकारीत्यधिकारिभेदः । अधिकारभेदे तत्कृतो मार्गभेदः ताभ्याम् । केनचिदिति । भोगायतनत्वेन धर्मेणेत्यर्थः । केनचिदिति । भूतजन्यत्वाभावेन धर्मान्तरेण । अशरीररूपमित्यत्राभावज्ञानं शरीररूपप्रतियोगिज्ञानाधीनमिति भाष्यविपरीतक्रमः । भाष्यं तु सूत्रे अनुरुणद्धीत्यदोषः । सूत्रयोरतु शरीराभावः । द्वितीये तु शरीराभावाभावरूपं शरीरमित्यदोषः । तदुच्यते । भूमस्वरूपमुच्यते इत्येवं

अत्र उच्यते 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमे'त्यनेन केवलभावविषयत्वं पुरुषोत्तमलक्षणमुक्त्वा केवलभाववतो भक्तस्य विप्रयोगसामयिकीं व्यवस्थामाह 'स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्ता'दित्यादिना । ततः, 'स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजान'न्निति पूर्वावस्थामनूद्य, संयोगावस्थामाह 'आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्द' इति वाक्येन, 'सोऽश्नुत' इति श्रुतिसंवादिनमर्थमुक्त्वा, भक्तस्वरूपमाह 'तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण' इत्युपक्रम्य, 'आत्मत एवेद॰ सर्व'मिति । तेनाशरीरत्वं सिध्यति । अत्यन्तप्रयोगेणाविकृतादेव पुरुषोत्तमात् प्राणाद्याविर्भाव उच्यते । अत्र ल्यब्लोपे पञ्चमी । पूर्वं विरहदशायां प्राणादयो भगवत्येव लीना आसन्, ततस्तत्प्राकट्ये तत एव प्राणादयोपि सम्पन्ना इति तत्प्राप्तेर्निमित्तत्वम् यतो, विभूतिरूपाणामपि पुरुषोत्तमे लयो नानुपपन्नः ।

भाष्यप्रकाशः ।

गृहीत्वा विभजन्ते । यत्र नान्यदित्यादि, सर्वमितीत्यन्तम् । तथा चात्र नित्यनिरवधिसुखात्मकं भूमानमुपक्रम्य तस्माद् भूम्न आत्मनः सकाशात् प्राणादिसर्वान्तानां देहान्तःस्थानामाविर्भाव उक्तः । तेन तस्य भूताजन्यत्वादशरीरत्वम् । 'आत्मरति'रित्यादिना भोगस्योक्तत्वात्तदायतनत्वेन शरीरत्वमतस्तथेत्यर्थः । ननु ब्रह्मणः सकाशादेव तैत्तिरीयादावपि सृष्टेरुक्तत्वात् कोऽत्र विशेष इत्यत आहुः अत्यन्तेत्यादि । अत्रेति । 'आत्मत' इति शब्दे । तथा च तत्राकाशवाय्वादिभावापन्नात् सोच्यते, अत्र तु भूमरूपादेवेति विशेष इत्यर्थः । नन्वत्र भक्तस्यैव व्यवस्थोच्यत इत्यत्र किं गमकमत आहुः पूर्वमित्यादि । तथा च यत इदमवस्थाद्वयं क्रमेणोक्त्वा भगवद्दर्शनोत्तरं प्राणाद्याविर्भावं वदतीति भगवत्प्राप्त्यनन्तरभावित्वकथनमेव तद्गमकमित्यर्थः । नन्वानन्दमयाधिकरणे विषयश्रुतौ एवंविदो भक्तस्य एतल्लोकत्यागः, 'अस्मा-

रश्मिः ।

गृहीत्वेति । इत्येवं शरीरपर्यन्तं गृहीत्वा । विभजन्त इति विभागं कुर्वते । शब्दार्थान् । तस्येति । कृतभक्तस्य । तथेत्यर्थ इति । शरीरस्य स्वरूपमुच्यत इत्यर्थः । तेनाशरीरत्वं सिध्यतीति भाष्ये शरीरत्वमप्युपलक्षणविधया ज्ञेयम् । आत्मरतिरित्यादि वक्ष्यमाणभाष्यं त्वनुवादकमिति भावः । तैत्तिरीयादाविति । छान्दोग्यमादिशब्देन । 'सदेव सोम्येदमग्र आसी'दिति । आत्मत इति शब्द इति । आत्मानं प्राप्य प्राणादयो भवन्तीत्यर्थः । भूमरूपादिति । तेन सदेवेत्यत्राप्यानन्दानुक्तेस्ततोऽपि विशेषः । पूर्वमित्यादीति । भगवति लीत्वा प्राणादयः प्रकटन्तीत्यर्थः । ततस्तत्प्राकट्य इति । भक्तेच्छातः । आत्मनः प्राकट्ये सति । तत एव आत्मत एव प्राणादयोऽपि शरीरे सम्पन्ना आक्षिप्ते । तत्प्राप्तेः भगवति लयरूपायाः । निमित्तत्वमिति । 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत' इति गीतायास्तथा । ततः किमित्यत आहुः । तथा चेत्यादि । यस्य भगवतो विरहेण लयाख्यप्राप्त्यनन्तरभावित्वकथनं मुक्तस्य तदेव भक्तस्य व्यवस्थाया गमकमित्यर्थः । तथा च छान्दोग्यश्रुतिः मधुब्राह्मणे । 'तद्यत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति तदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ती'ति । वसवः सर्वात्मभाववन्तः अग्निरूपाः मुखं आचार्याः सर्वात्मभाववन्त इति । तथा चोक्तभाष्येपि भक्त इत्यर्थः । विषय-

भाष्यप्रकाशः ।

ल्लोकात् प्रेत्ये'त्यनेनोक्तः, सोऽत्र 'वाङ्मनसी'त्यादिना, 'सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्य' इत्यन्तेन व्युत्पादितः । या पुनस्तदग्र 'एतमन्नमयमात्मानमुपसङ्क्रामती'त्यादिना विभूतिरूपाणां प्राप्तिरुक्ता फलानुभवोपयोगिनी, सात्र सम्पद्याविर्भावादिसूत्राभ्यामुक्त्वा, 'ब्राह्मणे'त्यादि'द्वादशाह'सूत्रान्तैर्व्युत्पाद्यते । फलानुभवस्त्वतिविगाढभावेन सर्वात्मभावे सत्येव भवतीति तद्बोधनार्थं या पूर्वं विरहदशा, सा तत्र ब्रह्मवित्प्रपाठकश्रुतौ 'यतो वाचो निवर्तन्त' इत्यारभ्य, 'उभे ह्येवैष एते आत्मान॰ स्पृणुत' इत्यन्तेन भृगुप्रपाठके च, 'हा३वु हा३वु' इत्यारभ्य, 'अहं विश्वं

रश्मिः ।

श्रुताविति । 'को ह्येवान्यात्कः प्राण्या'दितिश्रुतौ । इत्यन्तेन सूत्रग्रन्थेन व्युत्पादितः । तदग्र इति । विषयश्रुत्यग्रे तैत्तिरीये । फलानुभवेति । 'अलौकिको महान् भोगः प्रथमे विशते सदे'ति सेवाफलग्रन्थोक्तं फलं तदनुभवोपयोगिनी । अतिविगाढेति । विरहे भवति । 'भारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान्कथंचने'त्यत्रातिकृच्छ्रशब्दाद्विगाढः 'ता नाविदन्मयी'ति वाक्योक्तो भावो विरहः सर्वैकदेशः अव्यवहितोत्तरप्राप्तिसाधनत्वात् । सर्वात्मभावः सर्वोप्यात्मनो भावः । या पूर्वमिति । भाष्ये पूर्वं विरहदशायामित्यादिनोक्ता । सा तत्रेति । तैत्तिरीये उपसंहारे अर्थनिर्णायके'अस्माल्लोकात्प्रेत्य एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामती'त्यादिविभूतिप्राप्त्यनन्तरं तत्सङ्गतश्लोके तदप्येष श्लोको भवतीत्यनयोक्त्वा ब्रह्मवित्प्रपाठकश्रुतावुच्यते । 'उभे ह्येवैष एते' इति । भक्तिमार्गीयज्ञानमार्गीयौ भक्तज्ञानिनौ विशेषतोनुग्रहवन्तौ । सामान्ये नपुंसकं श्रुतौ । स्पृणुत प्रीणीतः । एकवचनं छान्दसम् । ज्ञानी भक्तः स्पृणुत इत्येकवचनम् । स्पृ प्रीतौ । ननु सर्वात्मभावो भक्तिमार्ग इति उभे इति कथमिति चेन्न । ज्ञानेन भक्तेति श्रुतेः शिवे ज्ञानिनि 'अहं मनुरभवं सूर्यश्चे'ति श्रुतेः सर्वात्मभावदर्शनात् । ननु ज्ञानी तैत्तिरीये कुत्रेति चेन्न । उभे ह्येवैष इत्यस्याः पूर्वश्रुतौ 'एत॰ ह वा व न तपति किमह॰साधु नाकरवं किमहं पापमकरव'मिति । 'स एवं विद्वानेते आत्मान॰स्पृणुत' इत्यस्यां विद्वानित्यनेन ज्ञान्युक्तेः । एते तात्पर्यार्थभक्तोऽपि विद्वानित्यस्यार्थः अतो द्विवचनम् । स्पृणुते स्पृणाते । भृगुप्रपाठके चेत्यादीति । पूर्वम् 'एतत्साम गायन्नास्ते' इत्यत्र किमेतत्साम समत्वाद्ब्रह्मैव साम सर्वानन्यरूपं गायन् । कथम् । हा ३वु३ अहो इत्यस्मिन्नर्थेऽत्यन्तविस्मयख्यापनार्थाः । मार्गत्रय आश्चर्यमिति वारत्रयम् । कथमद्वैत आत्मा निरञ्जनः रज उपाधिः ब्रह्मा भक्त्युपाधिः मार्गत्रयेऽपि सन् । अहमेवान्नम् । मार्गत्रये भक्तिमार्गप्राधान्यायान्नस्य त्रिरुक्तिः । 'पृथिवी वा अन्न'मिति श्रुतेः । पृथ्वी भार्या स्त्रीभावे तदभेद उक्तः । अहमेवान्नमिति । तत एव ज्ञानमार्गेप्यन्यद्विहायान्नाभेदः । कर्ममार्गे हिरण्यगर्भमुक्तौ पृथिव्यभेदः जगदाश्रयत्वादुभयोर्गौणः । 'कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः । अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गति'रिति कर्मज्ञो ब्रह्मा उच्यते नान्यः । यद्वा कर्मणा चित्तशुद्धौ भक्त्या मोक्षो ब्रह्मणः । पुनर्विस्मयः । भक्तिमार्गी सर्वात्मभाववान् नान्नमत्ति । उक्तमधुब्राह्मणश्रुतेः । ज्ञानी तु सर्वं ब्रह्मात्मकं पश्यन्नात्ति किन्त्वानन्दो भुनक्तीति मन्यते । कर्ममार्गी तु न भुनक्ति । 'पयोव्रतेन व्रतयतीति' श्रुतेः । ज्ञानं क्रियेति पञ्चरात्र इति पूर्ववन्नात्तीति वा । किञ्चाहमेव श्लोककृत् । अन्नान्नादयोः सङ्घातकर्ता त्रिरुक्तिर्विस्मयख्यापनार्था । श्लोकसङ्घाते । 'अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्ये'त्यादि' । अहमस्मि भवामि प्रथमजा सोऽहंप्रथमोत्पन्नः नित्यक्रीडास्थः । नित्यक्रीडास्था द्विविधाः । सनातनाः कृत्रिमाश्च तत्र नित्यक्रीडास्थाः कृत्रिमा इमे इत्याह । ऋतस्येति । ऋतस्य सत्यस्य मूर्तामूर्तस्यास्य जगतः

'आत्मरति'रित्यादिना, 'सोऽश्नुत' इत्यनेन च शरीरत्वम्। जैमिनिरप्यत एव 'ब्राह्मेणे'ति मनुते। एकस्य विरुद्धोभयधर्मवत्त्वममन्वानं प्रति वैदिकं दृष्टान्तमाह द्वादशाहवदिति। 'यः कामयेत प्रजायेयेति स द्वादशरात्रेण यजेते'ति चोदनया 'द्विरात्रेण यजेते' त्यादिवन्नियतकर्तृकत्वेनाहीनत्वं गम्यते द्वादशाहस्य। 'द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयुः। य एवं विद्वांसः सत्रमुपयन्ती'ति श्रुत्या च सत्रत्वं बहुकर्तृकस्य गम्यते। एवमेव द्वादशाङ्गशरीरेन्द्रियप्राणान्तःकरणात्मभिरश्नुत इति सत्रतुल्यत्वम्। वस्तुतो भगवद्विभूतिरूपत्वेन ब्रह्मात्मत्वेनैकरूपत्वम्, अतो द्वादशाहवदुभयविधम्। सत्रे प्रत्येकं चेतनानां यजमानानां फलभागित्ववदत्रापि तादृग्भक्तदेहादीनामपि ब्रह्मात्मकत्वात्। चेतनत्वमेवेत्यप्यनेन

भाष्यप्रकाशः।

भुवनमभ्यभवां सुवर्णज्योती'रित्यन्तेनोक्ता। तथा सति यस्तादृशः स आनन्दमयं ब्रह्मस्वरूपमात्मादेशोक्तप्रकारेणाहङ्कारादेशोक्तप्रकारेण वानुभवतीति सिध्यति, अतो विभूतिरूपाणां प्राणादीनां लयाङ्गीकारोऽनुपपन्न इत्यत आहुः विभूतीत्यादि। अहङ्कारादेशे आत्मादेशे च सर्वस्मिन् स्वाभेदस्यात्माभेदस्य च मानोक्त्या लयस्यार्थादेव बोधितत्वात्। अथ तत्र तेषां भक्तानां पार्थक्येन प्राणाद्यभावनमेवाभिप्रेतम्, न सर्वात्मना लय इत्युच्यते, तदापि तस्यां दशायां ब्रह्मणा सह सर्वकामाशनरूपस्य 'आत्मरति'रित्यादिनोक्तस्यानुभवस्याभावात् फलतः-

रश्मिः।

देवेभ्यश्च पूर्वम्। तेन नित्यलीलानुकूलजगत्कर्तृस्थः कृत्रिमः। ऋता३स्येत्यत्र प्लुतोकारः। अमृतस्य नाभा ईति। नाभौ मध्ये मुख्ये वा तत्संस्थम्। अमृतत्वं प्राशानां 'ई' आश्चर्ये। यद्वा नाभा ई नाभिमध्यं तत्संस्थममृतत्वं प्राशानाम्। रासस्थसुधाप्राशानाम्। समानवायुप्राशानां वा। समानस्य नाभिसंस्थितत्वात्। 'समानो नाभिसंस्थित' इति वाक्यात्। आचार्यपूजनं नित्यक्रीडायामाह। यो मा ददाति स इदेव मा३वा हेति। यः कश्चिदाचार्यः मां अन्नं अर्थार्थिभ्यो ददाति। अन्नात्मना ब्रवीति कथाद्वारा। यथा 'आत्मना प्रथमा क्रीडे'ति पञ्चाध्याय्याम्। स इत् इत्थं एवमविनष्टं यथाभूतं मा मां वाह अवतीत्यर्थः। अवुगतिपूजनयोः 'अव' इत्येके। अहमन्नमन्नमदन्तमाद्मीति। यः पुनरन्यो मामदत्वार्थिभ्यः काले प्राप्तेन्नमभितोऽदन्तं अहमन्नमेव सम्प्रत्यद्मि। अहं विश्वं भुवनमभ्यभवां सुवर्णज्योतीरिति। अहं विश्वं समस्तं भुवनमभ्यभवाम्। अभिपरेणेश्वरेण। सुवर्णम् सुवरादित्यो नकार उपमार्थः। आदित्य इव सकृद्विभातमस्मदीयज्योतिःप्रकाशः। प्रकृतमनुसरामः। तादृश इति। विरहदशायां प्राप्तभूमः। भगवति लीनः पुनः प्रकटः सभूमचरमनुत्त्यानुभवतीत्याहुः। आत्मादेशोक्तेति। आत्मा ब्रह्म तत्पदवाच्यः। अयं व्यष्टिप्रकारः सपुष्टिप्रकारमाहुः। अहङ्कारादेशोक्तेति। भक्तसंवलित आत्मेति पुष्टिफलम्। चकारोऽनुक्तसमुच्चये। आत्मादेशोक्तप्रकारेण च। लयाङ्गीकार इति। प्राणादयो भगवत्येव लीना इत्युक्तभाष्योक्तलयाङ्गीकारः। स्वाभेदस्येति जीवाभेदस्य। अथातोहङ्कारादेश इत्युपक्रमादात्मधर्माणामुपरिष्टात्त्वादीनामहङ्कारेणाध्यासक इति। अत्र बोध्यम्। तादात्म्यरूपाद्वैतात्। लयस्यार्थादेवेति। लयमन्तराऽभेदमानासम्भवात्तथा। फलाध्याये तादात्म्यरूपाभेदविवक्षणादाहुः। अथ तत्रेति। तस्यामिति। पूर्वोक्तायां दशायां विरहदशायामिति यावत्। अभावादिति। प्राणादीनां लयेनाभावात्। तौल्यमिति। सर्वात्मना लयेन तौल्यम्। 'आन्तरन्तु परं फल'मिति सुबो

भाष्यप्रकाशः।

तौल्यमेव। वस्तुतस्तु तदग्रे 'तस्य ह वा एतस्ये'त्यादिना आत्मतः प्राणादीनामाविर्भावश्रावणात्तदन्यथानुपपत्त्यैव लयाङ्गीकारः, अतो नानुपपन्न इत्यर्थः। एवमशरीरत्वबोधिकां श्रुतिं व्याख्याय शरीरत्वसाधिकां श्रुतिमाहुः आत्मरतिरित्यादि। तेन तैत्तिरीयसमाप्तौ या दशोक्ता, सा फलानुभवस्य प्रथमावस्थेति बोधितम्। स्वोक्ते पूर्वसूत्रसम्मतिमाहुः जैमिनिरित्यादि। एवं हेतुं व्युत्पाद्य दृष्टान्तं व्युत्पादयन्ति एकस्येत्यादि। दार्ष्टान्तिके योजयन्ति एवमेवेत्यादि। तेन, 'ब्रह्मभावात्तु भक्तानां गृह एव विशिष्यत' इति साधितम्। तथा च भक्तानामेव भोगरूपकार्यबलेन सत्रतुल्यत्वम्, अन्येषां तु तदभावादहीनतुल्यत्वमिति भक्ताभक्तव्यवस्थाबोधनादभक्तस्य बादरेः पूर्वकक्षाविश्रान्तत्वात्तदुक्तमपि युक्तम्। जैमिनेस्तु सर्वत्र दृष्ट्या उत्तरकक्षाविश्रान्तत्वात्तदुक्तमपि युक्तमिति तस्य तस्य तथात्वबोधनायैव स्वमतकथनमित्यर्थः। मर्यादामार्गीया अपि भगवल्लोक एतादृशदेहेनैव यथाधिकारं चतुर्विधमुक्तिभाजस्तिष्ठन्ति। ज्ञापनेनापि पूर्वोक्तं साध-

रश्मिः।

धिन्याम्। तस्यां दशायां ब्रह्मणा सह सर्वकामाशनस्यात्मरतिरित्यादिनोक्तस्यानुभवस्य सूक्ष्मरूपैर्भावात्तौल्यं नेत्यरुच्या वस्तुतस्तु पक्षमाहुः। वस्तुतस्त्विति। तदग्र इति। अहङ्कारादेशस्याग्रे। तदन्यथेति। आविर्भावो लीनस्येत्याविर्भावान्यथानुपपत्त्या। अन्यथानुपपत्तिरत्र पूर्वमीमांसोक्ता प्रस्थानरत्नाकरेऽङ्गीकृता ग्राह्या। अनुपपन्न इति। लयाङ्गीकारो नानुपपन्नः। तैत्तिरीयेति। सामगायनेन। यादृशोक्तेति[1]। यादृश्युक्तेत्यपि। प्रथमावस्थेति। भूमविद्यारूपा। स्वोक्त इति। गोस्वाम्युक्ते आचार्योक्ते वा भाष्ये ब्राह्मेणेति पूर्वसूत्रसम्मतिमाहुः। हेतुमिति। अत इति सौत्रं हेतुम्। तथा च बादरायण उभयविधं शरीरमतः भाष्योपपादनादिति सूत्रार्थः। एकस्येत्यादीति। विहितोभयधर्मौ शरीराशरीरत्वे। आहेति। व्यासो भगवान्। नियतेति। एककर्तृकत्वेन। एकत्वविवक्षणात्। उपेयुरिति। उप समीपे ईयुः गच्छेयुः कुर्युः आधिदैविकं प्रकटमीयुः। आधिभौतिकं कुर्युः। उपयन्ति उपगच्छन्ति कुर्वन्ति। सत्रत्वमिति सत्रत्वमुक्तमिति। बहुकर्तृकस्य द्वादशाहीनस्य। बहुकर्तृकत्वं सत्रत्वमिति सत्रलक्षणात्। एवमेवेत्यादीति। पादौ गुल्फौ जङ्घे स्तनौ करौ शिरः हृदिति द्वादशाङ्गशरीरे। आत्मा जीवः। एकरूपत्वमिति। तादात्म्यरूपाभेदादेकरूपत्वम्। उभयेति। शरीराशरीरत्वे विधेयस्य शरीरस्य तदुभयविधं शरीरम्। तेनेति। श्रीभागवते एकादशे सप्तदशेध्याये ब्रह्मचर्यगृहस्थाश्रमाभ्यामध्यायं समाप्याष्टादशाध्याये आश्रमद्वयमुक्तम्। तस्मादाश्रमद्वयं गार्हस्थ्यं सन्न्यासश्च मुख्यावितरौ गौणौ। एवं च तेनेत्यस्य द्वयोराश्रमयोर्मुख्यत्वेन तत्रापि ज्ञानिनो भक्तत्वेन ब्रह्मभावाद्भक्तविशेषत्वेनेत्यर्थः। ब्रह्मभावात् भूमविद्याविष्टानन्दानुभवात्पूर्वोक्तात् साधनरूपात् तिरोहितस्याविर्भावे ब्रह्मभावः। सन्न्यासाश्रमाद्वा। गृहाणां बन्धकत्वाद्भक्तानामिति विशेषणम्। 'मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मता' इति वाक्याद्गृहस्य पुंस्त्वं स्मार्तम्। विशिष्यत इति। यथानुग्रहो यस्मिन् जीवे स तादृशं तदाविश्य भगवदानन्दमश्नुत इति। एवमप्युपन्याससूत्रभाष्यात्[2]। एवं पुष्टिमार्गीयाणां फलकथनेन स्मृतेर्मर्यादामार्गीयशरीरस्य शरीराशरीरत्वे आहुः। मर्यादेति। एतादृशेनेति। अक्षरात्मकेन। परंत्वेष विशेषः। ज्ञानिनो लोके मर्यादाभक्तास्तु चरणात्मकेऽक्षर इति। कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहार इत्यत्राप्युक्तम्। अत एव गीतायां मुक्तौ पारिभाषिकत्यागसन्न्यासौ गृहस्थस्यापि सम्भवतः ब्रह्मचर्यं च। चतुर्विधेति। सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यरूपचतुर्विधमुक्तिभाजः। सायुज्यसार्ष्टिसामीप्यानि

१. यादृशोक्तेति रश्मौ।

२४ अ० सू० ८०

दृष्टान्तेन ज्ञाप्यति । अत एव श्रीभागवते 'देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिना'मिति गीयते ॥ १२ ॥

इति चतुर्थाध्याये चतुर्थपादे द्वितीयं ब्राह्मेणेत्यधिकरणम् ॥ २ ॥

तत्त्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥ १३ ॥ (४-४-३)

अथेदं चिन्त्यते । भगवत्स्वरूपे प्राकृतशरीर इवावस्था दृश्यन्ते तत्कालीनैः

भाष्यप्रकाशः ।

यितुमाहुः अत एवेत्यादि । तथा च यत्र जयविजयादीनामप्येवम्, तत्र पुष्टिमार्गीयस्य का वार्तेत्यर्थः । एवं प्रसङ्गेन भगवल्लोकप्राप्तिरूपं फलमुक्तमिति ज्ञेयम् ।

अन्ये तु बादरिसूत्रे, 'मनसैतान् कामान् पश्यन् रमत' इति श्रुतौ 'मनसे'ति विशेषनिर्देशबलान्मुक्तस्य देहेन्द्रियाद्यभावम्, जैमिनिसूत्रे च 'स एकधा भवती'त्यादिविकल्पाम्नानाद्देहेन्द्रियसद्भावम्, बादरायणसूत्रे, उभयश्रुत्यनुरोधान्मुक्तस्य सङ्कल्पेन कदाचित्तदभावं कदाचित्सद्भावं च व्याकुर्वन्ति । तत्र मुक्तसङ्कल्पो यदि परमेश्वरसङ्कल्पानुसारी, तदा तद्व्यापारभूतः, यदि तद्विरुद्धः, तदा अकिञ्चित्करत्वादप्रयोजक इति ध्येयम् ॥ १२ ॥ इति द्वितीयं ब्राह्मेणेत्यधिकरणम् ॥ २ ॥

तत्त्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥ १३ ॥ एवमत्र फलानुभवप्रकारमध्ये देहरूपः प्रकारो विचारितः । अथ 'आत्मा प्रकरणा'दित्यादिसूत्रद्वयोक्तस्य फलस्य प्रकारं विचारयतीत्याशयेनाधिकरणमवतारयन्ति अथेत्यादि । एवमष्टसूत्र्या पूर्वसूत्रद्वयोक्तदेहस्वरूपनिरूपणोत्तरं इदमग्रिमसूत्रद्वयोक्तं भगवत्स्वरूपमनेन प्रकारेण विचार्यते । यद्यपि गुणोपसंहारे भगवतो निर्दोषत्वम्,

रश्मिः ।

सेवाफलत्वे नित्यलीलायामप्याविर्भवन्ति सेवाफलग्रन्थोक्तानि । अत एवेत्यादीति । शरीरस्योभयविधत्वादेव । 'देहेन्द्रियासुहीनाना'मित्यशरीरत्वं शरीरस्य पुरवासिनामिति शरीरत्वम् । जयेति । आदिनाऽऽनन्दादयः । एवमिति । शरीराणां शरीरत्वाशरीरत्वे । जयविजययोर्वैकुण्ठात्पातस्तु प्रश्नोपनिषद्यस्ति । पितृयाणेन याताः पुनरावर्तन्त इति सुबोधिन्यां तृतीयस्य स्पष्टम् । प्रसङ्गेनेति । ब्रह्मप्राप्तिनिरूपणेन स्मृतं भगवल्लोकप्राप्तिरूपं फलं उपेक्षानर्हमिति स्मृतस्योपेक्षानर्हत्वं प्रसङ्गत्वेन । स एकधेति । छान्दोग्ये भूमविद्यायाम् । तदभावं शरीराभावम् । तत्सद्भावं शरीरसद्भावम् । परमेश्वरेति । मायोपाधिकसङ्कल्पानुसारी तद्व्यापारभूतः सगुणव्यापारः सगुणो न तु मुक्तनिर्गुणस्य । अकिञ्चित्कर इति । आविद्यकत्वादिति भावः । मुक्तनिष्ठाविद्ययोपमर्द्योपमर्दकभावो न परेषाम् । विद्ययाऽविद्यानाशात् । मुक्तसङ्कल्पो मायिकोऽन्येषामाचार्याणामिति न न्यूनता ग्रन्थे । भास्करभाष्ये मनसैतानिति श्रुतिरस्ति, रामानुजभाष्ये तु नास्ति । 'न ह वा सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ती'त्यस्ति । सैतच्छ्रुतेरुपलक्षिकेति ज्ञेयम् । एवमन्यभाष्येषूह्यम् ॥ १२ ॥

इति द्वितीयं ब्राह्मेणेत्यधिकरणम् ॥ २ ॥

तत्त्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥ १३ ॥ फलस्येति । ब्रह्मणा विपश्चितेत्युक्तस्य गुणातीतस्य ब्रह्मरूपस्य । अष्टसूत्र्येति । ब्राह्मेणेत्याद्यष्टसूत्र्या । पूर्वसूत्रेति । 'सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्' 'मुक्तः प्रतिज्ञाना'दिति पूर्वसूत्रद्वयेत्यर्थः । अग्रिमेति । 'आत्मा प्रकरणात्' । 'अविभागेन दृष्टत्वा'दित्य-

पुम्भिरिति कथमप्राकृतत्वमुपपद्यत इति तत्रोपपत्तिमाह । तद्दर्शनस्य वास्तववस्तुविषयकत्वव्यवच्छेदेन पूर्वपक्षव्युदासाय तुशब्दः । तत् प्राकृततुल्यतादर्शनं अभावे तथात्वस्याभाव एव भवति, न तु तत्र प्राकृता धर्माः सन्ति । नन्वविद्यमानानामर्थानां कथं दर्शनमुपपद्यत इत्यत आह सन्ध्यवदिति । स्वप्ने यथा वासनावशादविद्यमानानामप्यर्थानां दर्शनं भवति, तथा भगवदिच्छावशात् तत्रापि प्राकृततुल्यत्वदर्शनस्योपपत्तेर्न प्राकृतत्वं तत्र ज्ञेयमित्यर्थः । तथा च श्रुतिः । 'सन्ध्यं तृतीयꣳ स्वप्नस्थानं तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नुभे स्थाने पश्यतीदं च

भाष्यप्रकाशः ।

वेधाद्यधिकरणे, अनन्तगुणपूर्णत्वादिकं च, 'व्याप्तेश्च समञ्जस'मित्यवान्तराधिकरणे विचारितम्, तथापि तदेव स्वरूपं फलरूपमिति तत्र न विचारितम् । साधनप्रकरणत्वात् । अतः फलरूपमन्यद्भविष्यतीत्याशङ्कानिरासाय तदेवात्र फलमिति बोधनार्थमवसरसङ्गत्या पुनः परामृश्यते । तथा चात्र फलत्वेन प्रतिपाद्यमानं भगवत्स्वरूपं प्रकृतिसम्बन्धविशिष्टम्, न वेति संशयः । अवस्थादर्शनादाद्यमिति पूर्वपक्षः । तद्दर्शनस्य भ्रान्तत्वान्नेति सिद्धान्त इत्याशयेन सूत्रमवतारयन्ति भग-

रश्मिः ।

ग्रिमसूत्रद्वयोक्तम् । अवस्थेति । कृष्णावतारे भीष्मप्रसङ्गे रुधिरक्षतादिप्राकृतबाल्यपौगण्डाद्यवस्थादर्शनात् ॥ भाष्ये । आहेति । छान्दोग्यीयश्वेतकेतूपाख्यानस्य द्वितीयोपदेशप्रकारेण व्यास आहेत्यर्थः ॥ प्रकृते ॥ तद्दर्शनस्येत्यादीति । उक्तप्राकृतधर्माणां दर्शनस्य । तथात्वस्येति । प्राकृतत्वस्य । सन्ध्यं तृतीयमिति । 'तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदं च परलोकस्थानं चेति सन्ध्यं तृतीय'मित्यादिः पूर्वश्रुतिः । अर्थस्तु तस्य वै प्रसिद्धस्यैतस्य प्रकृतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतो न न्यूने । के ते इदं च प्रत्यक्षतोनुभूयमानं जन्मैकं द्वितीयं तु परलोक एव स्थानम् । परलोकस्थानं भावि जन्म । एतयोः सन्धौ भवं सन्ध्यं तृतीयं त्रयाणां पूरणं स्वप्नस्थानम् । तस्मिन् सन्ध्ये स्वप्नस्थाने तिष्ठन् वर्तमानः सन्निदं च परलोकस्थानं चेत्येते उभे स्थाने पश्यति । किमाश्रितः केन विधिना परलोकं पश्यतीत्यत आह । अथेति । यथाक्रमः आक्रमत्यनेनेत्याक्रमः, आश्रयोऽवष्टम्भः विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञालक्षणः । यादृश आक्रमो यस्य सोयं यथाक्रमोयं पुरुषः परलोकस्थाने प्रतिपत्तव्ये निमित्ते यादृशेनाक्रमेण संयुक्तो भवति । तमाक्रमं बीजभूतमाक्रम्यावष्टभ्योभयान्पाप्मनः पापफलानि दुःखानि आनन्दांश्च धर्मफलभूतान् सुखविशेषान् पश्यत्येवंप्रकारेण । धर्मादेवताप्रसादाद्वान्त्ये वयसि यदिहासम्भाव्यमानं पश्यति स्वप्ने तत्पारलौकिकमेवेत्यर्थः । स खल्वात्मा बाह्यैर्ज्योतिर्भिरसंस्पृष्टः स्वयमेव यथा ज्योतिर्भवति, तथेदं स्वयंज्योतिष्ट्वं साक्षादवष्टम्भेनाह स इति । स प्रकृत आत्मा यत्र यस्मिन् काले प्रस्वपिति प्रकर्षेण स्वप्नमनुभवति तदा किमाश्रयः केन प्रकारेण च स्वयं प्रतिपद्यते इत्याकाङ्क्षायामाह । अस्येति । दृष्टस्य जागरितलक्षणस्य देहस्य । कथम्भूतस्य । सर्वा भूतभौतिकमात्रा अध्यात्मादिविभागयुक्ताः अस्य संसर्गकारणभूता विद्यन्त इति सर्वावान् तस्य सर्वावतो मात्रामंशं वासनात्मकमुपादाय गृहीत्वा स्वयमात्मैव अनादित्यादिर्जाग्रद्देहं विहत्य निःसम्बोधमापाद्य स्वयमेव स्वकर्मानुसारि स्वज्योतिषाऽलुप्तदृक् स्वभावेन निर्मितं वस्तु विषयीकुर्वन् प्रस्वपिति । अत्रास्यां स्वापावस्थायामयं पुरुष आत्मा स्वयमेव ज्योतिर्भवति । तदादित्यादेरभावादिन्द्रियाणां चोपसंहृतत्वान्मनसश्च विषयाकारेणैवोपक्षयात् । यद्वा परलोकदर्शनार्थं करणत्वेन सङ्ग्रहादिति परिशेषादित्यर्थः । ननु स्वप्नेपि

परलोकस्थानं च । अथ यथाक्रमोऽयं परलोकस्थाने भवति तमाक्रममाक्रम्योभयान् पाप्मन आनन्दांश्च पश्यति । स यत्रायं प्रस्वपिती'त्युपक्रम्य, 'स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपित्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति, न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ती'त्यादिरूपा । एवमेव भगवानासुराणां प्राकृतगुणे तमस्येव दुःखात्मके लयं चिकीर्षुः स्वस्मिन् प्राकृतत्वबुद्धिसंपादनाय तादृशीमिव लीलां दर्शयति, अतो न प्राकृतत्वशङ्कागन्धोऽप्यत्र । अत एव भगवतोक्तं, 'मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयका' इत्युपक्रम्य, 'ततो यान्त्य-धमां गति'मिति । तेषामासुरत्वेन मुक्त्यनधिकारित्वात् तथाकरणम् । अतः सुष्ठूक्तं सन्ध्यवदुपपत्तेरिति ॥ १३ ॥

भावे जाग्रद्वत् ॥ १४ ॥

लौकिकवद्भासमाने लीलापदार्थे यद्दर्शनं भक्तानाम्, तत् तु भावे विषये विद्यमाने सति भवति । अत्र दृष्टान्तमाह । जाग्रद्वत् । यथा मोहाभाववतः पुंसः सत एवार्थस्य दर्शनं तथेति ।

भाष्यप्रकाशः ।

वदित्यादि । तत्रेति । प्राकृतावस्थादर्शने । व्याकुर्वन्ति तद्दर्शनस्येत्यादि । श्रुतिस्तु बृहदारण्यके ज्योतिर्ब्राह्मणे । दार्ष्टान्तिके योजयन्ति एवमित्यादि । अभ्यसूयका इति । गुणेषु दोषा-रोपकाः । इयमेवोपपत्तिर्ब्रह्माण्डपुराणेऽप्युक्ता, शिवतत्त्वविवेकेऽनूदिता । तथाहि । 'निर्दोषश्चेत् कथं विष्णुर्मनुष्येषु प्रजायते । चिन्ताश्रमव्रणाज्ञानदुःखयुग्दृश्यते कथम् । एवं मे संशयो ब्रह्मन् हृदि शल्य इवार्पित' इति नारदप्रश्ने 'स्त्रीपुंमलानुषङ्गात्मा देहो नास्य विजायते । किन्तु निर्दोष-चैतन्यसुखनित्यां स्वकां तनुम् । प्रकाशयति सैवेयं जनिर्विष्णोर्न चापरा । तथाप्यसुरमोहार्थं परेषां च क्वचित् क्वचित् । दुःखाज्ञानश्रमादींश्च दर्शयेच्छुद्धसद्गुणः । क्व व्रणादि क्व चाज्ञानं स्वतश्चाचिन्त्य-सद्गुणे । दौर्लभ्याचैव मोक्षस्य दर्शयेत्तानजो हरिः । कृष्णो ह्यत्यक्तदेहोपि त्यक्तदेहस्य देहवत् । लोकानां दर्शयामास स्वरूपसदृशाकृतिम्' इति ब्रह्मणोक्तम् ॥ १३ ॥

भावे जाग्रद्वत् ॥ १४ ॥ एवं दोषदर्शने उपपत्तिमुक्त्वा गुणदर्शने उपपत्तिमाहेत्याशयेन सूत्रमुपन्यस्य व्याकुर्वन्ति लौकिकवदित्यादि । अत्र पूर्वसूत्रात् 'उपपत्ते'रिति पदमनुवर्तते । अर्थस्तु स्पष्टः । तथा च गुणोपसंहारपादे, 'व्याप्तेश्च समञ्जसम्', 'सर्वाभेदादन्यत्रेमे' इति सूत्रद्वये

रश्मिः ।

सर्वस्मादित्यादेर्दृश्यमानत्वात्कथं परिशेषात्स्वयंज्योतिष्ट्वसिद्धिरित्याशङ्कायां तस्य सर्वस्य वासनानिर्मित-त्वादित्याह । नेति । तत्र स्वप्ने रथाः प्रसिद्धाः रथैर्युज्यन्त इति रथयोगाः अश्वादयः पन्थानो मार्गा न भवन्तीति प्रत्येकं नञाभिसम्बध्यते न सन्ति । अथो अपि रथान् रथयोगान्पथः सृजते वासनात्मकान् मायिकान् । तादृशीमिति । व्रणक्षतादिभिर्लौकिकीमिव लीलां छान्दोग्ये द्वितीयो-पदेशोक्तां मधुरूपदशविधधर्मरूपाम् । प्रकृतमनुसरामः । तथाकरणमिति । असत्त्वेन व्रणादीनां करणम् । स्वरूपेति । स्वरूपमदृशीमाकृतिं त्यक्तदेहस्य देहवद्दर्शयामास ॥ १३ ॥

भावे जाग्रद्वत् ॥ १४ ॥ गुणोपसंहारेति । तृतीयाध्याये तृतीये पादे । दोषेति । व्रणादिदर्शने । गुणेति । 'यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके । तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानत'

एताभ्यां सूत्राभ्यामेतदुक्तं भवति । 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति श्रुत्या भक्तकामपूरणाय भगवाँल्लीलां करोतीति गम्यते । यद्दर्शन-श्रवणस्मरणैर्भक्तानां दुःखं भवति, तादृशीमपि तां करोतीति श्रूयते । यथा सौभयुद्धे मोहवचनानि, हस्तादायुधच्युतिः, प्रभासीयलीला च । उक्तरीत्या, 'सोऽश्नुत' इति श्रुत्या परब्रह्मत्वमवगम्यते । उक्तलीलया तद्वैपरीत्यं च । एवं सत्येकस्या वास्तवत्वम्, अन्यस्या अवास्तवत्वं वाच्यम् । 'ते ते धामान्युश्मसि' 'विष्णोः कर्माणि पश्यत', 'तद्विष्णोः परमं पदम्', 'तद्विप्रासो विपन्यव' इत्यादि-श्रुतिभिः, 'सहस्रशीर्षं देवं विश्वाक्षं विश्वशम्भुवम् । विश्वं नारायणं देवमक्षरं परमं

भाष्यप्रकाशः ।

'व्यापकस्य रसरूपस्यैव भगवतो भक्तानां तत्तद्रसानुभावनाय तथा तथा मायापसारणेन तत्तत्-परिमाणादिप्राकट्येन बाल्यपौगण्डाद्यनुभावनात् तेषां विद्यमानानामेवार्थानामनुभव' इत्युपपादना-त्तथोपपत्तेरित्यर्थः ।

एवं सूत्रद्वयं व्याख्याय सूत्रद्वयोक्तिप्रयोजनमाहुः एताभ्यामित्यादि ।

रश्मिः ।

इति गीतावाक्यात्कृष्णाश्रये मधुनीव पृथगग्राह्याः दृष्टानुसारिणः सर्वत आकृष्टाः गुणास्तेषां दर्शने । यथा-काशशरीरं ब्रह्मेत्युक्तस्य कृष्णाश्रये यावन्तो धर्माः दृष्टानुसारिणः तज्जन्यत्वेनापृथग्भूताः सर्वतः शास्त्रेभ्य आकृष्टाः मया दृष्टाः योगेश्वरे कृपया प्रकटास्तेन दर्शिताः । पित्तलघण्टागोलकः निर्दण्डः सच्छिद्रः छिद्रे कृष्णा दोरकाः सूक्ष्मा बहवः । तत्र मन्त्रौ । ॐसच्चिदालिङ्गनप्रसू ॐसच्चिदालिङ्गनप्रसो इति । ताभ्यां घण्टागोलके दण्डभ्रामणेन गोलकः घोषवान् सूत्रे प्रोतमणिगणशब्दवाँश्च । समस्यया तदभाववान् घण्टागोलकः । अत्र गीतावाक्यात्सर्वेषु वेदेषु ब्रह्मोपनिषदि घण्टागोलकः । तैत्तिरीये आकाशशरीरं ब्रह्मेत्यतो घोषः । 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इवे'त्यत्र सूत्रे प्रोतमणिगणशब्दः समस्या आचार्यशास्त्रे 'आत्मा यावत्प्रपन्नोभूत्तावद्वै रमते हरिः । सोन्तःकरणसम्बन्धी तिरोधत्ते हरिश्च स' इत्यत्र प्रपत्तितदभावौ । 'मन्त्रस्यापि विधानत' इति भक्तिमार्गे मन्त्रावपि । दण्ड औषधिविद्यारूपः कालकर्मस्वभावाः सत्त्वरजस्तमांसि च योज्यानि तृतीयस्कन्धे प्रसिद्धानि ॥१॥ वेदे शास्त्रे 'कृष्णाजिनं ब्रह्मे'ति संहिता । 'स सर्पानसृजते'ति संहिता, आत्मनेति ज्ञेयम् । कृष्णाजिनं ब्रह्म भवतीत्यर्थः । कालकर्मादिकं योज्यम् ॥२॥ 'स वयांस्यसृजते'ति संहिता । वंशपात्रे इत्यत्र वेदे वंशपात्रमत्र योज्यम् ॥३॥ औषधिविद्या तत्र 'तासां मे पौरुषी प्रिये'ति श्रीभागवते स देहो योज्यः क्रियाधर्मो योज्यः । रामेण बाणेन हतो मृग इति दृष्टं मया ॥ ४ ॥ लौकिकवदित्यादीति । अत्रापि 'यावानर्थ उदपाने' इति द्रष्टव्यम् । तेन 'जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो यदुवरपरिषत्स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्म'मिति दशमस्कन्ध-लीलोपसंहारश्लोकोक्तो यावानर्थोत्र लौकिकवत्सिध्यति । बाल्येति । बाल्यपौगण्डादिलोकवद्ग्राह्याणि । न तु प्राकृतानि । तस्यानुभावनात् । तथोपपत्तेरिति । स्वाभाविकधर्मोपपत्तेः । भाष्ये । भक्त-कामेति । स इति प्रथमया स्वातन्त्र्याद्भक्तस्येति भावः । तां करोतीति । स्वस्मिन्ननुवृत्तिवृत्तये । 'विपदः सन्तु नः शश्वत्' इति पृथावाक्यात् । उक्तरीत्येति । 'समान एवं चाभेदा'दिति सूत्रादारभ्ये-यदवध्यवतारकविपयरीत्येत्यर्थः । उक्तेति । अत्रैवोक्तया भक्तदुःखदया । तद्वैपरीत्यं प्राकृतत्वम् ।

---

१. सत एव धर्मस्योपपत्तेः ।

पदम् । विश्वतः परमं नित्यं विश्वं नारायणं हरिम् । विश्वमेवेदं पुरुषस्तद्विश्वमुपजीवति पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं शाश्वतं शिवमच्युत'मित्यादिभिश्च शुद्धब्रह्मणस्तद्विपरीतदर्शनेऽवश्यं हेतुर्वाच्यः । स त्वासुरव्यामोहनमेवेति पूर्वसूत्रेणोपपादितः । भक्तेभ्यः स्वरूपानन्ददानाय 'लोकवत्तु लीलाकैवल्य'मिति न्यायेन या लीलाः करोति, यथा रिङ्गणादिलीला भगवतो नैसर्गिकधर्मरूपानन्दात्मकत्वेन विद्यमाना एव, ता भक्ताः पश्यन्तीति द्वितीयसूत्रेणोक्तम् । अत एव लीलाया अनेकरूपत्वाद् ब्रह्मणश्च श्रुतौ सैन्धवदृष्टान्तेनैकरसत्वनिरूपणाच्छुद्धब्रह्मधर्मत्वं न सम्भवतीति शङ्कानिरासाय 'कैवल्य'मित्युक्तम् । 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चे'त्यादिश्रुतिषु याऽन्यधर्मराहित्यलक्षणा केवलतोक्ता, सा लीलात्मिकैव, लीलाविशिष्टमेव शुद्धं परं ब्रह्म, न कदाचित् तद्रहितमित्यर्थः पर्यवस्यति । तेन स्वरूपात्मकत्वं लीलायाः पर्यवस्यति तेन च नित्यत्वम् । एतद् विद्वन्मण्डने प्रपञ्चितम् । अथवा । लीलैव कैवल्यम्, जीवानां मुक्तिरूपम् । तत्र प्रवेशः परमा मुक्तिरिति यावदित्यर्थः ॥ १४ ॥

इति चतुर्थाध्याये चतुर्थपादे तृतीयं तन्वभावाधिकरणम् ॥ ३ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

इत्यादिभिश्चेति । लीलानां भगवतश्च नित्यत्वं शुद्धब्रह्मत्वं चावगम्यत इति शेषः ।

अत्र, 'ते त' इतिश्रुतिरग्रे व्याख्येया । 'विष्णोः कर्माणी'त्यादयस्तु विद्वन्मण्डने सम्यग्व्याख्याताः । ताश्च पूर्वकाण्डस्था इत्यतः 'सहस्रशीर्ष'मिति तैत्तिरीयाणां महानारायणोपनिषत्स्थानुवाकीया उक्ताः । एवं द्विविधा लीलास्तासां नित्यत्वं च प्रामाणिकमिति प्रतिपाद्य पूर्वसूत्रप्रयोजनं स्फुटीकुर्वन्ति । **शुद्धेत्यादि** । तथा च तदर्थानां लीलानां आसुरव्यामोहकत्वेनैव रूपेण नित्यत्वम्, न तु प्रतीयमानन रूपेणेत्यर्थः । द्वितीयस्यार्थमाहुः **भक्तेभ्य इत्यादि** । एवं द्वितीयस्य तात्पर्यमुक्त्वा लीलानां स्वरूपात्मकत्वं निगमयितुं लीलाकैवल्यसूत्रार्थं स्फुटमनुवदन्ति **अत एवेत्यादि** । एतस्य सूत्रार्थस्योपपादनसापेक्षत्वात् प्रकारान्तरेणार्थमाहुः । **अथवेत्यादि** । एवं फलरूपस्य भगवतः स्वरूपं सूत्रद्वयेन विचारितम् ।

रश्मिः ।

एवं द्विधेति । आरोपितानारोपितभेदेन द्विधापि सप्रतियोगिनीत्वाप्रतियोगिनीत्वाभ्यां चतुर्धा । **प्रामाणिकमिति** । फलाध्याये फलश्रुत्या प्रमाणेन प्रतिपाद्यत इति प्रामाणिकम् । शैषिकप्रत्ययः । **अत एवेत्यादीति** । **सैन्धवेति** । सैन्धवदृष्टान्तेन ब्रह्मण एकरसत्वं मैत्रेयीब्राह्मणे तेन श्वेतकेतूपाख्यानेप्येकरसत्वख्यापनाय षष्ठोपदेशः । **विद्वन्मण्डन इति** । नित्यक्रीडावादे । 'रसो वै स' इति श्रुतेर्देशरससामग्री यावती तावत्प्रत्येकरसरूपमेकमिति तथा । भक्तिमार्तण्डे सुवर्णसूत्रेण सह नित्यलीलावादः सङ्गृहीतः । **उपपादनेति** । तथाहि । शुद्धब्रह्मेत्यादि पूर्वभाष्ये । **शुद्धब्रह्मेति** । धर्मरहितं ब्रह्म । तद्धर्मलीला इति न सम्भवति । तदर्थं लीलासु कैवल्यविधिः । धर्मसहितः केवल इति शास्त्रदृष्टिः कार्या । अग्रे या केवलतोक्ता सा लीलात्मिकैवेत्युक्तम् । तत्र केवलता सत्यत्वाद्यात्मिका नेत्यत्रोपपत्तिः केति । **तेनेत्यादि** । तेन केवलतारूपत्वेन । तस्याः स्वरूपसम्बन्धविशेषरूपत्वेन स्वरूपात्मकत्वं **लीलायाः पर्यवस्यती**ति प्रकाशाश्रयवत्सूत्रं प्रवर्तते न वेति सन्देहः । अत्रोपपादनम् । उपपत्तिः केत्यत्र विनिगमनाविरहात्केवलतायाः सत्यत्वाद्यात्मकत्ववल्लीलात्मकत्वं किं न स्यादिति । सूत्रप्रवृत्तिसन्देहे त्वधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्धानिरिति न्यायात्तत्सन्देहनिवृत्तिः । एवमुपपादनसापेक्षत्वात् । **अथवेत्यादीति** । **मुक्तिरूपमिति** । न त्वीश्वरो मुक्तिरूपो न तद्धर्म-

---

भाष्यप्रकाशः ।

अत्र सर्वेपि पूर्वसूत्रे, तन्वभाव इति पाठमङ्गीकृत्यैवं व्याकुर्वन्ति । **'सङ्कल्पादेवे'ति सूत्रे** पित्रादिसमुत्थानमुक्तसङ्कल्पादुक्तम् । स एव सङ्कल्पो द्वादशाहसूत्रेऽतःशब्देन परामृश्यते । तेन मुक्तो द्वादशाहवदशरीरः सशरीरश्च सिध्यति । तत्राशरीरस्य यो भोगः, स तन्वभावेपि ब्रह्मसृष्टैरेव पदार्थैः सन्ध्यवत् स्वाप्निकपदार्थभोगवत् सिध्यति । तनुसद्भावपक्षे तु लीलार्थमीश्वरेण सृष्टैर्मुक्तेन वा स्वसङ्कल्पादेव सृष्टैर्जाग्रद्वत् बहिर्भुङ्क्ते इति ।

तन्नास्माकं रोचते । 'एवमप्युपन्यासा'दिति सूत्रेऽपहतपाप्मादिसत्यसङ्कल्पान्तानां धर्माणां मुक्तेऽप्यङ्गीकारेण तत्सङ्कल्पादेव तदनुरूपभोगोपपत्तेर्विशेषतस्तदुपपादनप्रयोजनाभावेनैतत्सूत्रद्वयस्यानतिप्रयोजनत्वप्रसङ्गात् । अथ सूत्रे तथा पाठ इति तदनुरोधेन तथा व्याख्यानमित्युच्यते, तदा तु सूत्रे 'तन्वभाव' इत्यत्र तनुशब्दस्याभावशब्देन समासेऽनचि चेति वैकल्पिकं नकारस्य द्वित्वं, तथा तत् नु अभाव इति पदच्छेदेपि, यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वेति नकारद्वित्वमिति तत्त्वभावपदस्य सैद्धान्तिकोऽर्थ एव युक्तः । द्वित्वाभावश्चेत्, तदा 'तन्वभाव' इत्यत्र सप्तमीसमासमङ्गीकृत्य भगवत्तनौ तदभाव इत्यर्थो वक्तव्यः । भगवता स्वस्वरूप आसुराणामन्यथाभानस्य कारणेन तज्ज्ञानस्यावश्यमुपपादनीयत्वात् । अन्यथा आसुरदृष्टेषु सत्यत्वबुद्धौ दैवानां मोक्षप्रतिबन्धापत्तेरिति । तदेतत् प्रागेव ब्रह्माण्डवाक्योपन्यासपूर्वकं विचारितमित्युपरम्यते ।

ये मायावादिनो मोक्षे भोगं नाङ्गीकुर्वन्ति, तान् प्रति भास्कराचार्यैरेवं दूषणमुच्यते । ससम्बोधं मोक्षं श्रुतिसिद्धमाश्रित्याचार्येणायं विभागो दर्शितः श्रोतॄणामनुग्रहाय, न नास्तिक्यमवलम्ब्य भ्रान्त्या वा सूत्राणामन्यथार्थत्वं कल्पनीयम् । श्रुतीनां नार्थवादत्वम् । सर्वत्रार्थवादत्वप्रसङ्गात् । निःसम्बोधे तु मोक्षे न प्रेक्षापूर्वकारी प्रवर्तते । संसारावस्थायां तावद्देवलोकादिषु पर्यायेण सुखतारतम्यं लभते, मुक्तः पुनः सुषुप्तवन्न किञ्चित् । स्वरूपचैतन्यं तु विद्यमानमप्यसत्सममेव । न हि तच्चैतन्यान्तरेण संवेद्यते । तस्यैवाभावात् । न च स्वचैतन्यतः संविदस्तु चैतन्यव्यतिरिक्तसंविदनभ्युपगमात् । अभ्युपगमे च भेदप्रसङ्गान्मायावादहानिः स्यादेव । ससंबोधे

रश्मिः ।

रूपलीला इति चेन्न । ईश्वरस्याधोक्षजत्वेनेदमित्थतया मुक्तिशब्दाभिधाप्रवृत्तेर्भाष्ये लीलैव कैवल्यं मुक्तिरूपमित्युक्तम् । 'भक्त्या मामभिजानाती'ति वाक्यादधोक्षजत्वेपि मोक्षत्वमिदमित्थतया भवति ज्ञातम् । तथाप्यन्यशिष्याधिकारेणोक्तं लीलानां मुक्तिरूपत्वम् । मुक्तिलीलावैचित्र्यमाहुः । **तत्र प्रवेश इति** । व्रजभक्तभावेन सेवायाः फलं नित्यलीलाप्रवेशः इत्यर्थः । **समशरीर[1] इति** । पित्रादिसमशरीरः । तथा पाठ इति । तन्वभाव इति पाठे । सैद्धान्तिकेति । नापि तत्त्वत्वे तत्त्वभाव इत्यस्यार्थः । पूर्वापरभाष्यासङ्गत्यापत्तेः । त्वान्तात्वप्रत्ययाभाववत् तत्त्वभाव इति विग्रहवाक्यं न स्यात् । **तदभाव इति** । मुक्ततन्वभावः । **तज्ज्ञानस्येति** । शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावे तत्स्वरूपगोपनायं शुद्धमुक्तदेहभानस्य । **असुरेति** । देहादिषु । **मोक्षप्रतिबन्धेति** । 'योन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते, किं तेन न कृतं पाप'मिति श्रुतेः । पापसम्भवान् मोक्षप्रतिबन्धापत्तेः । पापाभावस्य मोक्षकारणत्वात् । **प्रागेवेति** । तत्त्वभावसूत्रे । **प्रेक्षेति** । युक्तिः । युक्तिः पूर्वा यस्येति युक्तिपूर्वः कारः करणमस्यास्तीति युक्तपूर्वकारी । लभत इति । आनन्दमीमांसया लभते । **चैतन्यव्यतिरिक्तेति** ।

---

१. समशरीर इति प्रन्नपुस्तके रश्मौ च पाठः ।

प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति ॥ १५ ॥ (४-४-४)

ननु पूर्णज्ञानक्रियाशक्तिमता ब्रह्मणा तुल्यभावेन तत्रापि प्रधानभावं प्राप्य कामभोगकरणमपूर्णज्ञानक्रियावतो भक्तस्यानुपपन्नमित्याशङ्कायां तत्रोपपत्तिमाह। न हि तदा नैसर्गिकज्ञानक्रियाभ्यां तथा भोक्तुं शक्तो भवति, किन्तु भगवाँस्तस्मिन्नाविशति यदा, तदायमपि तथैव भवतीति सर्वमुपपद्यते। एतदेवाह प्रदीपवदिति। यथा प्राचीनः प्रकृष्टो दीपः स्नेहयुक्तायां वर्त्यामर्वाचीनायामाविष्टः स्वसमानकार्यक्षमां तां करोति, स्नेहाधीनस्थितिश्च भवति स्वयम्, तथात्रापीत्यर्थः। अत्र प्रमाणमाह। तथाहि दर्शयति श्रुतिः। 'भर्ता सन् भ्रियमाणो बिभर्ति, एको देवो बहुधा निविष्ट' इति। 'सर्वान् कामा'नित्युक्तत्वात् यस्य कामस्य भोगो यथा निवेशे सति भवति तत्र तथा तदा निवेश इति बहुधा निवेश उक्तः। अयं निवेशो नान्तर्यामित्वेन, तस्यैकधैव प्रवेशात्। निसर्गतः सर्वेषां जीवानां भगवान् भवत्येव प्रभुर्यद्यपि, तथापि यं स्वीयत्वेन वृणुते, तस्य विवाहितः पतिरिव भर्ता सन्, वरणजस्नेहातिशयेन भक्तेनापि भ्रियमाणः सन्, स इव स्वयमपि तं स्वस्मिन् बिभर्ति। अत एव स्नेहराहित्येनायोगोलकादिकं विहाय प्रदीपं दृष्टान्त-

भाष्यप्रकाशः।

पुनर्मोक्षे सर्वमुत्पन्नं सल्लक्षणं बोधस्य रूपम्। मनः सर्वज्ञं सर्वशक्तिभिन्नाभिन्नरूपं हि। तेनास्तु तदवगतिर्नातोऽन्यथेति ॥ १४ ॥

इति तृतीयं तत्त्वभावाधिकरणम् ॥ ३ ॥

प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति ॥ १५ ॥ एवमधिकरणत्रयेण फलप्राप्त्युपकरणं फलस्वरूपं च विचार्य फलानुभवोपकरणं विचारयति। तत्र भगवद्भोगरूपोऽनुभवो जीवस्य सम्भवति, न वेति संशयः। भक्तस्य स्वतोऽसामर्थ्यं भोगश्रुतिश्च संशयबीजम्। तदेतन्मनसिकृत्य सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि। व्याकुर्वन्ति नहीत्यादि। नैसर्गिकज्ञानक्रियाभ्यामिति। मुक्तौ भगवत्कृपयाभिव्यक्ताभ्यां 'हानौ तूपायने'ति सूत्रे व्युत्पादिताभ्यां जैवाभ्यां ताभ्याम्। 'भर्ता स'न्नितिश्रुतिस्तु तैत्तिरीयारण्यके पुरुषसूक्तोत्तरनारायणानन्तरं भर्तृसूक्तारम्भेऽस्ति। एवं तां विवृण्वन्ति। **सर्वान् कामानित्यारभ्य गतिष्विवतीत्यन्तम्।** ननु भर्तृसूक्ते

रश्मिः।

चैतन्यव्यतिरिक्तायाः संवित्तेरनभ्युपगमात्। रूपमिति। विषयः। **भिन्नाभिन्नेति**। कारणात्मनाऽभिन्नं कार्यात्मना भिन्नम्। यथा सुवर्णं कटकं न। कटकं सुवर्णमिति प्रतीतिः। **तेनास्त्विति**। मनसा बोधविषया गतिरस्तु न मनसोन्यथाऽन्यप्रकारेणेत्यर्थः। तेनैतेषां मते न निःसम्बोधो मोक्षः स्वमते त्वधिकारिभेदे नास्तीति बोध्यम् ॥ १४ ॥

इति तृतीयं तत्त्वभावाधिकरणम् ॥ ३ ॥

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥ १५ ॥ फलप्राप्त्युपकरणमिति। देहादिकम्। सम्पद्याविर्भावब्राह्मेणेत्यधिकरणयोः। तत्त्वभावाधिकरणे। फलस्वरूपं भगवान् तत्प्राप्तिः, नित्यली[illegible]प्रवेशश्च। फलानुभवोपकरणम्, अलौकिकसामर्थ्यम्। **संशयेति**। प्रथमकोटौ प्रथमं बीजं द्वितीयस्यां द्वितीयम्। **नन्वित्यादीति**। **पूर्णज्ञानेति**। सोऽश्नुत इत्यत्र विपश्चितेति पदार्थः। **प्रधानेति**। सह ब्रह्मणेत्यप्रधानतृतीयया भक्तस्य प्रधानभावं प्राप्येत्यर्थः। **प्राचीन** इति। प्राचीनायां

मुक्तवान् व्यासः। अत एव देवपदमुक्तम्। स्वरूपानन्ददानाज्ज्ञानोद्दीपनात् पूतनादिमुक्तिदानेन स्वमाहात्म्यद्योतनाद्वैकुण्ठादिस्थितेश्च। तदुक्तं निरुक्ते 'दिवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा यो देव' इति। किञ्च। भक्तानां कामभोजनार्थं क्रीडाकरणात्, क्रीडायामेव जयेच्छाकरणात्, भक्तैः सह व्यवहारकरणात्, भक्तेषु स्वमाहात्म्येच्छादिद्योतनात्, 'न पारयेऽहम्', 'न त्वादृशीं प्रणयिनी'मित्यादिभिः स्तुतिकरणात्, भक्तप्रपत्तिदर्शनेन कालीयदमनादौ मोदकरणात्, तेष्वेव भक्तिमदकरणात्, ते स्वप्नेपि प्रियमेव पश्यन्तीति स्वप्नकरणात्, तेषां कान्तिकरणादिच्छाकरणाद्वा, तन्निकटे गमनादपि देवः। तदुक्तं धातुपाठे 'दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिष्वि'ति। एवं सति युक्तमेव तेषां तथात्वमिति हिशब्देनाह ॥ १५ ॥

भाष्यप्रकाशः।

तदग्रिमानुवाकेषु च प्रभासीयलीलैव प्रायशः प्रतीयते, किं बहुना, एतदनुत्तरार्धेपि 'यदा भारं तन्द्रयते, स भर्तुं निधाय भारं पुनरस्तमेती'ति भारवहनालस्यं भारत्यागोऽस्तगमनं चोच्यते। अग्रे च, 'तमेव मृत्युममृतमाहु'रित्यादि। तत् कथमत्रैवं व्याख्यातमिति चेत्। उच्यते। पूर्वं हि पुरुषसूक्ते सृष्टिलीलोक्ता। तत उत्तरनारायणे स्थितिलीलोक्ता। तत्र, 'ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्या'वित्यनेन भोगलीलां सूचयित्वा 'इष्टं मनिषाण, अमुं मनिषाण, सर्वं मनिषाणे'तिवाक्यत्रये ऐहिकामुष्मिकमिष्टं ब्रह्मविद्भिः प्रार्थितम्। ततो भर्तृसूक्तारम्भे इयम्नगिति पूर्वग्रन्थे उत्तरग्रन्थे चेयमुपयुज्यते इति पूर्वसम्बद्धार्थोत्र व्याख्यातः। तृतीयस्कन्धे तु 'भर्तुः पादावनुसर'मित्यत्रोक्ता। अतस्तत्रोत्तरग्रन्थसम्बद्धोऽर्थ इति मया विद्वन्मण्डनव्याख्याने प्रभासलीलाप्रसङ्गे उत्तरग्रन्थानुसारेण व्याख्यातेति न दोषः। नन्वत्र मुक्तस्य यानि 'त्रिधा भवति पञ्चधे'त्यादिनोक्तानि शरीराणि सृजन्ते, तानि सात्मकानि निरात्मकानि वेति संशये, निरात्मकानि सृष्ट्वा, यथा प्रदीप एकोऽनेकभावं विकारशक्तियोगादापद्यते, तथा मुक्त एकोऽप्यनेकशरीराण्यैश्वर्ययोगादाविशतीत्युच्यते, न तु पूर्वोक्तोऽर्थ इति शङ्कायामाहुः **अत एवेत्यादि**। यत

रश्मिः।

वर्त्यां प्रविश्योर्ध्वज्वलनोपेक्षितः। **गतिष्विवतीत्यन्त**मिति। समस्तात्पदादुद्धृतम्। **एवं सतीत्यादी**ति। श्रुत्या बहुधा निवेशे सति। **तेषामिति** भक्तानाम्। **तथात्वमिति**। स्वरूपानन्दादिदानादिभिः क्रीडाकरणादिभिश्च हेतुभिः, बहुधा भगवत्प्रविष्टत्वम्। **भारवहनेति**। स यदा भारं भर्तुं तन्द्रयत इति **भारवहनालस्यं भारञ्च निधाय भारमि**त्यत्र भारं निधायेति। भारत्यागः। **अस्तमेती**त्यस्तगमनम्। **तमेवेति**। प्रभासीयलीलाकर्तारम्। **एवमिति**। भोगलीलापरत्वेन। **पुरुषसूक्त** इति। द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यां स्फुटमिदम्। **प्रार्थितमिति**। **मनिषाणेत्यत्र** मनसः ईषा मनीषा तामिवाचरतीति मनीषति प्रार्थनायां लोट् मध्यमपुरुषः। इष्टविषयिणीं मनीषां कुरु। इष्टमैहिकम्। अमुं आमुष्मिकम्। सर्वमिष्टं प्रार्थितम्। **न दोष** इति। **अत्रेति**।

नन्वु 'अस्थूलमनण्वह्रस्व'मित्याद्यनन्तरं पठ्यते 'न तदश्नोति कश्चन न तदश्नोति कश्चने'ति उक्तश्रुतौ च ब्रह्मणा सह जीवस्य भोग उच्यते । तथा च सगुणनिर्गुणभेदेन विषयभेदोऽवश्यं वाच्यो विरोधपरिहारायेत्यत उत्तरं पठति ।

स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥ १६ ॥

इदायमाशयः । 'प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूय' इत्याद्यधिकरणैः 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे'त्यादिश्रुतिभिश्च प्राकृता एव धर्मा निषिध्यन्ते, ब्रह्मण्यप्राकृता एव बोध्यन्ते, अन्यथा तद्बोधनमेव न स्यान्निषेधकवाक्य एव तद्बोधनमपि न स्यात्, 'एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासन' इत्यादिरूपम्, अतोऽचिन्त्यानन्तशक्तेर्भगवतः का वा कार्याऽक्षमता,

भाष्यप्रकाशः ।

उक्त एवार्थोऽभिप्रेतः, अत एवायं दृष्टान्त उक्तः, नायोगोलकादेरतस्तथेत्यर्थः । भर्वृप्रक्शुतावयमेवार्थोऽभिप्रेत इत्यत्र गमकमाहुः अत एव देवेत्यादि । तथा च देवपदार्थाञ्जस्यमेवात्र गमकमित्यर्थः । सौत्रस्य हिशब्दस्यार्थमाहुः एवं सतीत्यादि । तेन यदा भगवान् जीवस्य स्वदत्ते देहे स्वेन सह सर्वभोगकामभोगं कारयितुमिच्छति, तदा स्वयमपि तदनुगुणप्रकारेण तस्मिन् देहे आविशतीति तादृश आवेश एव भोगोपकरणम् । गुणगानगृहकार्यादिदशायां तु यथासम्भवं या रामानुजभास्कराचार्याभ्यामुक्तव्यवस्थोक्ता, सैवाभिमतेत्यर्थात् बोधितम् ॥ १५ ॥

स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥ १६ ॥ सूत्रमवतारयन्ति नन्वस्थूलेत्यादि । श्रुतावश्नोतीत्यस्य विकरणव्यत्ययेन अशनमेवार्थ इति पूर्वं व्याख्यातम् । अतोऽत्र भोग उच्यत इत्यर्थः । व्याकुर्वन्ति इदायमित्यादि । निषेधिका श्रुतिरिति । भोगनिषेधिका, 'न तदश्नोती'ति श्रुतिः । अन्यतरापेक्षमित्येतदग्रे, आविष्कृतमाविष्करणं भगवत्प्राकट्यमिति यावत् । हि यतो हेतोरतो युक्तम् एतावती त्रुटिर्बोध्या । दहराधिकरणे एतत्सूत्रोपन्यासे आविष्कृतपदस्य भगवदाविर्भावार्थकतया अङ्गीकृतत्वात् ।

रश्मिः ।

छान्दोग्ये भूमविद्यायाम् भाष्यीयायां । अतस्तथेति । दृष्टान्तानुरोधात्पूर्वोक्तोर्थ इत्यर्थः । देवपदेति । देवपदार्थस्याञ्जस्यं सामञ्जस्यम् । अत्रेति । अस्मिन्सैद्धान्तिकेर्थे ॥ १५ ॥

स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥ १६ ॥ श्रुताविति । न तदश्नोतीत्यादिश्रुतौ तदिति कर्तृ अग्रे तदिति कर्म । विकरणेति । 'श्ना' विकरणे 'श्नु' विकरणमिति श्ना विकरणव्यत्ययेन । पूर्वमिति । आनन्दमयाधिकरणे । भाष्ये । उक्तश्रुताविति । सोऽश्नुत इति श्रुतौ ॥ प्रकृते ॥ अत्रेति । सोऽश्नुत इति श्रुतौ ॥ भाष्ये ॥ ज्ञानबलेति । प्रायपाठाद्बलं भक्तिः । तथा च भाष्ये बलं भक्तिरिति । अन्यथेति । अप्राकृतानां बाधेऽप्राकृतबोधनमेव 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्त' इत्यादिश्रुतिभिर्न स्यात् । निषेधिकेति । अस्थूलमनण्वित्यादिनिषेधकवाक्यसन्निधावेवाक्षरब्राह्मणेऽक्षरे प्रशासनबोधनमपि न स्यादित्यर्थः । तथा । 'अथात आदेशो नेति नेती'ति निषेधवाक्ये तद्बोधनं मूर्तामूर्तबोधनं न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्त्वमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यमिति श्रुत्य न स्यादित्यर्थः । श्रुत्यर्थस्तु । नहि एतस्मात् इति न इति अन्यत् त्यं इति प्राणा वै सत्यं तेषां एष

यथा प्राकृतान् गुणानङ्गीकुर्यात्, अतो निर्गुणमेव सदा सर्वत्र भगवद्रूपमिति मन्तव्यम् । एवं सति, 'तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति' इति छान्दोग्यश्रुतेः प्रस्वापदशायां न कश्चित् ब्रह्माश्नाति, तच्च न कश्चनेति तद्विषयिणी निषेधिका श्रुतिः, 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति श्रुत्युक्तपरब्रह्मप्राप्तिदशाविषयिणी भोगबोधिका सेति न विरोधगन्धोपि । एतदेवाह । स्वाप्ययः प्रस्वापः, 'स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षत' इति श्रुतेः । सम्पत्तिः ब्रह्मसम्पत्तिरुक्तरीत्या पुष्टिमार्गीयो मोक्षः । एतयोरन्यतरापेक्षम् अशश्रुत्युक्तमित्यर्थः । भगवत्कर्तृकभोगस्य लीलारूपत्वात् तस्याश्च, 'लोकवत्तु लीलाकैवल्य'मित्यत्र मुक्तित्वेन निरूपणात् तत्प्राप्तेः सम्पद्रूपत्वं युक्ततरमिति हिशब्दार्थः ॥ १६ ॥

इति चतुर्थाध्याये चतुर्थपादे चतुर्थं प्रदीपवदित्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

तथा चात्रेदं सम्पद्यते । आद्ये प्रकारे यद्यपि, 'तद्यथा प्रियया स्त्रिये'त्यादिना सम्परिष्वक्तो ब्रह्मकृतो जीवस्योक्तः, तथापि, 'न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तर'मिति ज्ञानाभावशेषत्वेनोक्त इत्यस्थूलादिश्रुतौ सकलप्रापञ्चिकधर्माभावकथने प्रापञ्चिकभोगाभावोऽप्युक्तः । द्वितीयप्रकारे तु ज्ञानसद्भावाद् भोग इति विरोधाभावात् स्वरूपे सगुणनिर्गुणभेदकल्पनमसङ्गतमित्यर्थः । तदेतदभिगमयितुं हिशब्दस्यार्थमाहुः भगवत्कर्तृकेत्यादि । एवमनेनापि प्रकारेण फलस्वरूपमेव विचारितं भवति ।

रश्मिः ।

सत्यम् । इति पदानि । एतस्माद्ब्रह्मणो नहि उक्तो भावो व्यतिरिक्तो नहि इति न । मूर्तत्वामूर्तत्वाभाव एतस्मादन्य इत्युक्तम् । अन्यत्, निषिद्धान्मूर्तामूर्तात् अन्यत् न्यासीति । अधिकं सत्, इत्यर्थः । अधिकं तु भेदनिर्देशादिति सूत्रात् । किं तत्त्वं नामैकदेश इत्यत आहुः । प्राणा वै सत्यमिति तेषां प्राणानां सम्बन्धि एष गूढ आत्मा सत्यमिति । प्राकृतानिति । तामसप्रकरणादौ तु द्वितीयस्कन्धोक्तात्मगुणानङ्गीकृत्य सुबोधिनीति ज्ञेयम् । निर्गुणमेवेति । एवकारेण सगुणव्यवच्छेदः क्रियते । मायया दर्शितानां मिथ्यात्वादन्येषां धर्माणामभेदात् । सर्वत्रेति । अन्तर्यामिब्राह्मणेऽपि । आभासोक्तं विरोधं परिहरन्ति स्म । एवं सतीति । गुणाङ्गीकारं विनापि कार्यक्षमत्वे सति । छान्दोग्येति । दहरविद्यायाः । अर्थस्तु, तत् तत्र विद्यमानानामेवालाभे दृष्टान्तः । यथा हिरण्यनिधिं निहितं भूमेरधस्तान्निक्षिप्तमक्षेत्रज्ञाः निधिक्षेत्रानभिज्ञाः निधेरुपरि उपरि सञ्चरन्तोऽपि निधिं न विन्देयुः । दार्ष्टान्तिकमाह । एवमेव यथा दृष्टान्तमेव । सर्वा अविद्यावन्तः अहरहः प्रत्यहम् सुषुप्तिकाले, एतद् हार्दाकाशाख्यं ब्रह्मैव लोकं ब्रह्मणो लोकं वा 'अक्षरं ब्रह्म परमं वेदानां स्थानमुत्तम'मिति वाक्यात् यन्तोपि प्राप्नुवन्तोपि न विन्दन्ति न लभन्ते इति । विन्दन्तीत्यत्र परस्मैपदं छान्दसम् । प्रकृते अस्थूलेति । अक्षरब्राह्मणेऽस्ति । भाष्ये । स्वमपीतो भवतीति । स्वं अपि गतो भवतीत्यर्थः । सम्पत्तेर्मार्गत्रयसाधारण्यात्तां व्यवच्छिन्दन्ति । उक्तरीत्येति । द्वादशाहसूत्रभाष्योक्तरीत्या । प्रकृते । भवतीति । आविष्कृतं भवति । आद्य इति । सुषुप्तौ । द्वितीय इति । सम्पत्तौ भगवत्कर्तृकेत्यादीति । युक्ततरमिति । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्य' इति श्रुतेः । 'भिद्यते हृदय-

भाष्यप्रकाशः ।

शाङ्करास्तु, मुक्तस्यानेकशरीरावेशलक्षणैश्वर्याभ्युपगमे, 'तत् केन कं विजानीया'दित्यादिश्रुतिविरोधशङ्कायां, 'तत्केन कम्', 'सलिल एक'इत्यादौ यद्विशेषविज्ञानवारणं तत् सुषुप्तिकैवल्यावस्थयोरन्यतरापेक्षम् । कुतः । आविष्कृतं हि यतो हेतोस्तत्रैव तदधिकारवशादाविष्कृतम्, 'यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यती'त्यनेन । 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति । यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभू'दित्यनेन च प्रकटीकृतः । इदं तु सगुणविद्याविपाकस्थानं स्वर्गादिवदवस्थान्तरम्, यत्रैतदैश्वर्यमुपवर्ण्यते, अतो न दोष इत्येवं सूत्रार्थमाहुः । तेषामियं सम्पत्त्यवस्थातो हीनावस्थेत्यभिप्रायः ।

तदेतदन्ये न क्षमन्ते । तथाहुर्भास्कराचार्या रामानुजाचार्याश्च अत्र सम्पत्तिपदेन 'वाङ् मनसि सम्पद्यत' इत्यादिनोक्ता मरणावस्था परामृश्यते । अतः सुषुप्तौ मरणावस्थायां च विशेषविज्ञानवारणम् । 'यत्र सुप्तः', 'एतेभ्यो भूतेभ्य' इति श्रुतिभ्यां यतस्तत्रैव तदधिकारवशादाविष्कृतम् । तेन शरीरेन्द्रियविषयनिबन्धनं यद्विशेषविज्ञानं तदेव वार्यते, न तु परं भावं प्राप्तस्य विद्याकर्मसामर्थ्यात् सर्वविषयं सामान्यज्ञानमाविर्भूतं तत्र वार्यत इत्यदोषः । यत इन्द्रप्रजापतिसंवादे एव सुषुप्तौ निःसम्बोधत्वमुक्त्वा, अग्रे मुक्तमधिकृत्य, स वा एष एतेन दिव्येन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोक' इति सर्वज्ञत्वकथनादिति । अस्मन्माते

रश्मिः ।

ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया' इति श्रुतेश्च भगवदीयत्वेपि मुक्तशब्दात्तमप् न कृतः । लीलानां मुक्तित्वेऽपि विविधभावाभावात् । स्वाप्ययस्वाम्योक्तभोगाभावमालोच्याहुः । एवमनेनेति । स्वाप्ययसाम्यद्योतकप्रकारेणापि । 'अरूपवदेव ही'तिसूत्रोक्तैकदेशिमते मुक्तिफलस्वरूपं विचारितं भवति । न्यूनताख्यनिग्रहस्थानप्रहाणादेवकारः । न तु तदतिरिक्तं विचारितमिति । केन कमिति । केनेन्द्रियेण कं विषयं पश्येदिति केन कं पश्येदित्यस्यार्थः । 'सलिल एको द्रष्टेति' श्रुतिः । विशेषेणेन्द्रियविषयरूपेण यद्विज्ञानं तस्य वारणम् । हिर्हेतावित्याशयेनाहुः । यतो हेतोरिति । तत्रैवेति । स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरस्मिन्नेव । न त्वन्यत्र । यत्र सुप्त इति यस्यामवस्थायां सुप्तः । यत्र त्वस्येति । यत्र सम्पत्तौ त्वस्य भूतसमुत्थितस्य । सगुणविपाकेति । अनेकशरीरावेशे ऐश्वर्यधर्मे सति निर्गुणत्वं भविष्यतीति निर्गुणत्वप्रागभावविषयिप्रतीतिर्भवतीति सगुणविपाकस्थानम् । वृद्धिस्थानमपक्षयस्थानम् । तदनु । न दोष इति । मुक्तस्यानेकशरीरावेशप्रतिपादिकायाः स एकधेत्यादिश्रुतेस्तत्केन कमित्यादिश्रुतेश्च न विरोधरूपो दोष इत्यर्थः । तेषामियमिति । शाङ्कराणामियं सगुणविपाकावस्था । तत्रैवेति । स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरस्मिन्नेव । न तु परमिति । शरीरेन्द्रियविषयनिबन्धनकरहितकं विशेषविज्ञानं सर्वज्ञत्वलक्षणं भावम् । वार्यत इति । तत्केन कमित्यादिश्रुत्या । अदोष इति । श्रुतिविरोधरूपो दोषो न । यदिति । अव्ययम् । यत इत्यर्थः । इन्द्रेति । छान्दोग्येऽन्ते वर्तते । स वा एष इति मुक्तः । चक्षुषेति । करणत्वे कामानिति कर्मत्वेन भेद उक्तः । य एते इति ये एते कामा ब्रह्मलोके सङ्कल्पमात्रेण लभ्यास्तान् सर्वान्कामान्पश्यन्निति सर्वज्ञत्वकथनम् । शाङ्करोक्तेति 'ते तु ब्रह्महृदे नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृता' इति पञ्चाध्याय्यां सुबोधिनी । एताभ्यां श्रुतिभ्यां 'न तद्भाती'ति

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च ॥ १७ ॥ (४-४-१७)

ब्रह्मणा सह भोगकरणं लौकिकव्यापारयुतम्, उत नेति संशये, तद्युतमिति पूर्वः पक्षः, तथा सति मुक्तित्वभङ्गात् पूर्वोक्तमनुपपन्नमिति प्राप्ते, आह जगदित्यादि । पूर्वोक्तस्य जगत्सम्बन्धी लौकिको यो व्यापारः कायवाङ्मनसां तद्वर्जं तद्रहितं भोगकरणम् । तत्र हेतू आह प्रकरणादसंनिहितत्वाच्चेति । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्युपक्रमेण मुक्तिप्रकरणात् तत्र लौकिकव्यापारोऽसम्भावितः । किञ्च,

भाष्यप्रकाशः ।

स्वेतावान् विशेषः । शाङ्करोक्तमुक्तावस्था प्रथमा कक्षा । एताभ्यामुक्तावस्था तु मध्यमकक्षा । भोगे भगवत्साहित्याभावादिति ॥ १६ ॥

इति चतुर्थं प्रदीपवदित्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ॥ १७ ॥ एवं भोगोपकरणं विचार्य भोगप्रकारं विचारयितुमधिकरणान्तरमारभत इत्याशयेन विषयसंशयपूर्वपक्षान् वदन्तोऽधिकरणमवतारयन्ति ब्रह्मणा सहेत्यादि । संशयबीजं तु भोगे लौकिकव्यापारयुक्तत्वस्य लोके दर्शनम् । एतस्य भोगस्य सायुज्यमुक्त्युत्तरभावित्वं च ज्ञेयम् । सिद्धान्तं वक्तुं सूत्रं व्याकुर्वन्ति पूर्वोक्तस्येत्यादि । पूर्वोक्तस्येति । प्राप्तसायुज्यस्य पुष्टिभक्तकायवाङ्मनसामित्यत्र टजभावः समासान्तस्यानित्यत्वेन वैकल्पिकत्वाज्ज्ञेयः । असन्निहितत्वं व्याकुर्वन्ति किञ्चेत्यादि ।

रश्मिः ।

'तत्केन कं पश्ये'दिति च श्रुती । मध्यमावस्था । सर्वात्मभावावस्था । भोग इति । अन्तर्भोगस्य विरहे सत्त्वेपि बहिर्भोगे भगवत्साहित्याभावात् । सोऽश्नुत इति मुख्या कक्षा ॥ १६ ॥

इति चतुर्थं प्रदीपा[धि]करणम् ॥ ४ ॥

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ॥ १७ ॥ भोगोपकरणमिति । प्रदीपवदावेशरूपं स्वाप्ययरूपं च । भोगप्रकारं भोगे लौकिकव्यापारराहित्यम् । ज्ञेयमिति यथाक्रमं ज्ञेयम् । टजभाव इति सूत्राट्टच् न प्राप्तस्तथापि द्वन्द्वाच्चुदषहान्तादित्यत्र समाहारे बाहुलकात्प्राप्तस्य टचोऽभावः । अन्यथा वा द्रष्टव्यः । भाष्ये । वर्जमिति । णमुलन्तम् । प्रकृते । किञ्चेत्यादीति । द्वितीयस्कन्धे नवमाध्याये 'एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिने'ति वाक्यस्य भगवदाज्ञयैतन्मतेऽवस्थितिः कर्तव्येति सुबोधिन्यां तन्मतवाक्यानि । तदीयानि भवन्त्यत्र । 'न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभुरि'ति 'प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वं च मिश्रं न च कालविक्रम' इति । आदिना मृत्युः । 'मृत्युरस्मादपैती'ति वाक्यात् । एतन्मतीयश्रुतयः । 'कालस्वभावो नियतिर्यदृच्छे'त्युक्तौ तेषां चिन्त्यत्वं श्वेताश्वतरे उक्तम् । 'स ईक्षाञ्चक्र' इति श्रुतौ मायास्थल ईक्षाश्रावणात्तत्र मायाभावः । बृहदारण्यके 'ते होचुः क नु सोऽभूद्यो न इत्थमसक्तेत्ययमास्येऽन्तरिति । सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः । सा वा एषा देवता दूर्नाम दूरं ह्यस्या मृत्युर्भवति य एवं वेदे'त्यत्रासन्यदेवताया दूरं मृत्युरुक्तोतस्तत्र तदभावः । श्रुत्यर्थस्तु ते देवाः ह ऊचुः । असक्तेति प्रजापतिरूपेण भवनं पाप्मशत्रुपराभवं च असक्त संयोजितवान् । आस्येन्तः आस्ये मुखे य आकाशस्तस्मिन्नन्तरे वर्तते । इत्यध्यवसितवन्तो वागादयः परस्परं वदन्तः अनयाख्यायिकया गुणद्वयं सिद्धमित्याह । सोयास्येति । यस्मादेवं वागादयः

लीलायाः कालमायाद्यतीतत्वेन प्राकृतं जगत् दूरतरमितोपि हेतोर्न तत्सम्भवः। कदाचिल्लोके लीलाप्रकटनेच्छायां तदधिष्ठानत्वयोग्ये मथुरादिदेशेऽतिशुद्धे गोलके चक्षुरिन्द्रियमिव स्थापयित्वा लीलां करोति। तदापि लीलामध्यपातिनां न लौकिकव्यापारसम्भवः। न हि चक्षुरिन्द्रियं गोलककार्यं करोति। न वा तन्नाशे नश्यति। एतत्सर्वं, 'दिवीव चक्षुराततमि'ति श्रुतिव्याख्याने विद्वन्मण्डने प्रपञ्चितम्। किञ्च। छान्दोग्ये, 'भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य' इत्युक्त्वा, भूम्नो लक्षणमाह 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यत् विजानाति स भूमे'ति। अत्र 'नान्यद्विजानाती'त्येतावतैव चारितार्थ्येपि यदिन्द्रियव्यापारो

भाष्यप्रकाशः।

एतेनाक्षरब्रह्मण्येव सम्भोगो बोधितः। 'निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नम' इति द्वितीयस्कन्धे तथा सिद्धत्वात्। तर्हि, 'ते ते धामानी'त्यादिश्रुतिषु भूमौ भोगः कथमुच्यत इत्यत आहुः कदाचिदित्यादि। कदाचिदिति। जगदुद्दिधीर्षाऽवसरे। स्थापयित्वेति। अक्षरं स्थापयित्वा। तथा च तस्मात्तथोच्यत इत्यर्थः। नन्वेवमक्षरस्य भूमौ प्रकटने तत्र स्थितानां भक्तानां भूमिसम्बन्धजगुणदोषसंसर्गाल्लौकिकव्यापारप्रसङ्गो दुर्वार इत्यत आहुः तदापीत्यादि। ननु प्रमाणाभावे दृष्टान्तमात्रस्याकिञ्चित्करत्वान्न भक्तानां लौकिकव्यापार-राहित्यसिद्धिरित्यत आहुः एतदित्यादि। प्रपञ्चितमिति। 'चक्षु'रिति द्वितीयैकवचनान्तं पदमित्यादिना प्रपञ्चितम्। तस्मिन् व्याख्याने आग्रहवाद इति शङ्का स्यादिति तदर्थं भूमविद्याश्रुतिमुदाहरन्ति किञ्च, छान्दोग्य इत्यादि। इन्द्रियव्यापार इति। पश्यतिशृणोति-

रश्मिः।

प्राणमासेन्तरिति व्याजह्रुः तस्मात्स आसन्यः अयास्य आङ्गिरसः। आस्ये इत्ययास्यः अव्ययीभावः पुंस्त्वं छान्दसम्। आङ्गिरसः अङ्गिरा ऋषिः तत्सम्बन्धी। यद्वा अङ्गानि यस्य सन्ति स अङ्गी। आ अङ्गी आङ्गी। आङ्गी चासौ रसः आङ्गिरसः। कार्यकरणानामात्मा। तत्र हेतुर्हि यस्मात्कार्यकरणानां रसस्तस्मादाङ्गिरसः इत्यर्थः। सा वेति। प्राणरूपा। अस्या इति पञ्चम्यन्तम्। देवतायाः इति। एवं लीलायाः कालमायाद्यतीतत्वेनेत्यर्थः। न तत्सम्भव इति। जगद्व्यापारसंभवो न। उच्यत इति। 'यत्र गावो भूरिशृङ्गा' इतिपदैरुच्यते। जगदिति। भक्तियोगवितानेन जगदुद्धारार्थम्। इच्छाकाले। 'भक्तियोगवितानार्थ'मिति पृथावाक्यात्। 'यदा यदा हि धर्मस्ये'ति गीताप्रपञ्चः। भक्तियोगवितानस्य धर्मत्वात्। भाष्ये तदधीति। तच्छब्दो ब्रह्मवाची न तु परामर्शकः। तथा च रसरूपाधिष्ठानत्वयोग्ये गोलके चक्षुरिन्द्रियमिवेति दृष्टान्तः। अक्षरं स्थापयित्वेत्यर्थः स्थापयित्वेत्यस्यार्थः। ननु मथुरादिदेशानामक्षरात्मकत्वं स्वभावत एवेति पुनरक्षरस्थापनस्य किं प्रयोजनमिति चेन्न। अक्षरानन्दात्मकलक्ष्मीं स्थापयित्वेत्यर्थात्। नन्दयशोदादौ स्वस्वानन्दैर्लक्ष्म्यानन्दाः प्रतिबध्यन्ते। अन्यथा सोश्नुत इत्यत्र विपश्चित्पदविरोधापत्तेः। प्रकृते। तस्मादिति। लक्ष्मीरूपाक्षरस्थापनात्। तथोच्यत इति। भूमौ भोग उच्यते। तदापीत्यादीति। चक्षुरिन्द्रियमिति। कृष्णताराग्रवर्ति। केनोपनिषदधिकारिणे व्यक्तव्येति द्योतितम्। तन्नाश इति। गोलकनाशे नश्यतीन्द्रियम्। किंतु पश्यत्यचक्षुरिति श्रुतेस्तत्र गच्छति। प्रपञ्चितमिति। गोस्वामिभिः। प्रपञ्चितमित्याचार्यैर्ज्ञानमुक्तम्। गोस्वामिभाष्यमिदमिति पक्षे स्पष्टम्।

निषिद्धः, तत्राप्यन्यविषयकः, तेन भगवद्विषयकः स सिद्धो भवतीति जगद्व्यापारराहित्यं सिद्धम्। तत्र तेन भगवत एव स्वतन्त्रफलत्वमुक्तं भवति। नहि सुखस्यान्यत् प्रयोजनमस्ति ॥ १७ ॥

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॥ १८ ॥

नन्वेतत्प्रकरण एव छान्दोग्ये पठ्यते 'सर्वꣳ ह पश्यती'ति सर्वविषयक-

---

भाष्यप्रकाशः।

व्यापारुक्तः सः। तथा चास्यां श्रुतौ लौकिकव्यापारराहित्यस्य सिद्धत्वात्तत्र तथा व्याख्याने नाग्रहवाद इत्यर्थः। अत्र यत्पारिशेष्यात्सिद्धं तस्य फलमाहुः तेनेत्यादि। तत्र हेतुः न हीत्यादि। न हि भूमविद्यायां प्रतिपाद्यमानस्य भूमरूपस्य सुखस्य फलत्वातिरिक्तमन्यत् प्रयोजनं कथनस्यास्ति तस्मात् तथेत्यर्थः।

यत्तु भाष्यान्तरेऽस्मिन् सूत्रे ब्रह्मसायुज्यं ब्रह्मसाम्यं वा प्राप्तस्य जीवस्यैश्वर्यादिकं जगत्सृष्टिव्यापाररहितमेव भवतीति विचारितम्। तदस्माकं मतम्, 'नेतरोऽनुपपत्ते'रित्यानन्दमयाधिकरण एव साधितमिति न काचिन्न्यूनतेति बोधितम्।

यत्तु निरङ्कुशजगत्कर्तृत्वस्यैव ब्रह्मलक्षणत्वाद् 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती'ति श्रुत्या जीवस्य ब्रह्मभावे बोधिते तस्यापि तदभेदाज्जगद्व्यापारोऽस्तु, तथा सतीदं सूत्रमवान्तरमुक्तिविषयमिति कश्चित्। तदसङ्गतम्। वेदस्तुतौ 'सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतये'ति जीवे तादृशनियन्तृत्वभावस्य ब्रह्मविदसम्मतत्वकथनेन तादृशजगत्कर्तृत्वादेरपि निरासबोधनादतः सायुज्येपि तदभावः सूत्रकाराभिमत इति ज्ञेयम्। तथा च यथा भूमिसम्बन्धिनो मथुरादिदेशस्य लौकिकत्वम्, तत्र स्थापितस्य चालौकिकत्वम्, तथा तत्र स्थितानां लौकिकदेहे निविष्टत्वाल्लौकिकत्वम्, तदन्तःस्थापितानां सदेहानामेव लीलास्थानामलौकिकत्वम्। तेन लौकिकालौकिकोभयकार्यकरणं तादृशतादृशतत्तज्ज्ञानविषयत्वं नानुपपन्नम्, नापि लीलासाङ्कर्यप्रसङ्गः। चक्षुरिन्द्रियदृष्टान्तेनैवोपपादितत्वादित्यर्थः ॥ १७ ॥

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॥१८॥ सूत्रं व्याकुर्वन्ति। नन्वि-

रश्मिः।

तथा च गोस्वामिभिः प्रपञ्चितमित्यर्थः। तत्र तथेति। विद्वन्मण्डने। 'दिवीव चक्षुराततमि'ति श्रुतेस्तथावर्णकभेदेन व्याख्यानम्। भाष्ये। तत्रेत्यस्य नित्यक्रीडायामित्यर्थः। प्रकृते। अत्र यदिति। पूर्वसन्दर्भे गौणमुख्यन्यायेन यत्सिद्धं कस्माद्धेतोरित्यत आहुः। पारिशेष्यादिति। अक्षरप्राप्तिपरप्राप्तिनित्यलीलाप्रवेशभगवद्भोगभगवत्सुरसत्वेनैकोपि भगवत एव मुख्यत्वेन पारिशेष्यादित्यर्थः। तेनेत्यादीति। पूर्वसन्दर्भेण। सर्वात्मभावकथनेनेति वा। भगवत एवेति। भूम्नोपि भूमत्वेन भगवत्येव शक्तिः सर्वात्मभावे तु सर्वात्मभावत्वेनेति सर्वात्मभावस्थायियोगव्यवच्छेदक एवकारः। ननु भूम्न एकलक्षणत्वेन कथमेवकार इति चेत्तत्राहुः। तत्र हेतुरिति। सर्वात्मभावस्थायिन्यवच्छेदे-हेतुः। फलत्वातिरिक्तमिति। साधनत्वेपि 'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तमे'ति वाक्यसाफल्याय स्वयंप्रकाशत्वाय च फलत्वातिरिक्तमन्यत् स्तुत्यादिप्रयोजनमित्यर्थः। तस्मात्तथेति। भगवत एव स्वतन्त्रफलत्वमित्यर्थः ॥ १७ ॥

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॥ १८ ॥ नान्यत्पश्यतीति।

प्रत्यक्षमुपदिश्यत इत्यन्यविषयकव्यापारराहित्यं नोपपद्यत इत्याशङ्क्य, समाधत्ते आधिकारिकेत्यादिना ।

अत्रेदमुच्यते । 'सोऽश्नुते', 'लोकवत्तु लीलाकैवल्य'मित्यादिभिर्नित्यलीलामध्यपातित्वं तस्योच्यते । 'नान्यत् पश्यती'त्यादिश्रुतिवशाज् जगद्व्यापारवर्जं भोगकरणं पूर्वसूत्रेणोक्तम् ।

अथेदं विचार्यते । 'नान्यत् पश्यती'ति प्रकरण एव 'सर्वꣳ ह पश्यती'ति सर्वविषयकं दर्शनमुच्यते, तत् कथं पूर्वोक्तमुपपद्यत इति । किञ्च । एकस्यैव

भाष्यप्रकाशः ।

त्यादि । ननु भूमविद्यास्थस्य, 'नान्यत् पश्यतो'त्यादिवाक्यस्य बलेन भक्तस्याक्षरे ब्रह्मणि जगद्व्यापाररहितो भोग इति यदुक्तम्, तन्नोपपद्यते । यत एतत्प्रकरण एव छान्दोग्ये भक्तस्य जगद्व्यापारः पठ्यते । स को वेत्यत आहुः 'सर्वꣳह पश्यः पश्यती'ति । जगद्विषयकप्रत्यक्षरूपः स इत्यतस्तथेत्याशङ्क्य समाधत्त इत्यर्थः ।

समाधानांशव्याख्यानाय हेत्वंशस्फुरणे तेनाशङ्कान्तरस्यापि निवृत्तिमालोच्य तमप्यर्थं संग्रहीतुं प्रकारान्तरेणावतारयन्ति अत्रेदमित्यादि । अत्र अवतरणग्रन्थे, इदं वक्ष्यमाणमधिकमुच्यते, न तु तावन्मात्रमित्यर्थः । किं तदित्याकाङ्क्षायां आक्षेप्यं विषयमाहुः सोऽश्नुत इत्यादि । तस्येति । भक्तस्य । एवं विषयमनूद्य तत्र विचारः क्रियत इत्याहुः अत्रेत्यादि । अत्रास्मिन् सूत्रे इदमुक्ताभ्यां श्रुतिभ्यां सूत्राभ्यां च यदुक्तम्, तद्विचार्यत इत्यर्थः । विचारमाहुः नान्यदित्यादि । अत्र, नान्यदित्यारभ्य पूर्वोक्तमनुपपद्यत इत्यन्तेन पूर्वोक्तैवाशङ्कानूदिता । सोऽश्नुत इत्यादिविषयिणीं द्वितीयामाहुः किञ्चेत्यादि । 'सोऽश्नुते', 'स वा एष

रश्मिः ।

तेन नान्यच्छृणोति नान्यत्पश्यतीत्युक्तभाष्येण यथालिखितपाठो न कर्तव्य इति सूचितं तदत्र स्फुटीकृतम् । आहुरिति । मान्यत्वाद्बहुवचनम् । तेन 'अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारद' इति । श्रुतिविरोधो न । सर्वꣳहेति । अनेनापि प्रकाशेन यथालिखितपाठो व्यावर्तितः । शिष्याभिप्रायं वा । सनत्कुमारा नारदं प्रत्याहुरित्यर्थः । ग्रन्थकर्तुर्भक्तिं सूचयति । तथेति । अन्यविषयकव्यापारराहित्यं नोपपद्यत इति आशङ्क्येत्यर्थः । हेत्वंशेति । आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेरिति हेत्वंशस्फुरणे । तेनेति । हेत्वंशेन । आशङ्कान्तरस्य । आशङ्का सर्वविषयकदर्शनवचनेन जगद्व्यापारवर्जं कथमिति तस्याः शङ्कायाः अन्यत् स एकधेत्यादौ जीवानेकत्वं न सम्भवतीति तत्र लीलाया नित्यत्वासिद्धिरूपमाशङ्कान्तरं तस्य । तमर्थमिति । शङ्कान्तरविषयमर्थम् । प्रकारान्तरेणेति । प्रकारः सङ्क्षेपेणोक्तसूत्रार्थः तस्मादन्यद् विस्तरेण सूत्रव्याख्यानं तेन । अवतारयन्तीति । भाष्यत्वायावतारयन्तीति । स्वपदवर्णनात् । 'सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः । स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदु'रिति भाष्यलक्षणात् । अवतरणग्रन्थ इति । विस्तरेण सूत्रे व्याख्यातव्य इति शेषः । उच्यत इति । विस्तरायोच्यते । तावन्मात्रं उक्तमात्रमवतरणम् । किं तदिति । वक्ष्यमाणमधिकम् । आक्षेप्तुं योग्यं पूर्वपक्षिणा । विषयमिति । उक्ताभ्यां श्रुतिभ्यां सूत्राभ्यां च यदुक्तं तत् । यदुक्तमिति । विषयम् । पूर्वोक्तैवेति । सङ्क्षेपेण सूत्रव्याख्यानायोक्ता । द्वितीयामिति । पूर्वोक्तायां सङ्क्षेपेण सूत्रव्याख्यानायोक्तायामाशङ्कायां विस्तरायाधिकशङ्काम् ।

भक्तस्य देशकालभेदेन क्रियमाणानेकलीलासम्बन्धित्वं भवति । तच्च लीलानित्यतायां न घटते । यतस्तत्तद्देशतत्तत्कालसम्बन्धिनी सा भिन्ना । एवं सत्येकस्यानेकरूपत्वं जीवस्य न सम्भवतीति तन्नित्यत्वमपि न सिध्यतीति ।

भाष्यप्रकाशः ।

एवं पश्यन्' 'सर्वꣳ हि पश्यः पश्यती'त्यादिश्रुतौ श्रीभागवतादिषु च एकत्वकथनेन भक्तानामेकस्यैव रूपस्य प्रत्यक्षोपदेशादेकस्यैव भक्तस्य देशकालभेदेन क्रियमाणानेकलीलासम्बन्धित्वमुक्तं भवति । तच्च लीलानित्यतायां न घटते । यतस्तद्देशकालसम्बन्धिनी तत्तद्विशेषणविशिष्टैव भिन्ना ध्वंसाद्यप्रतियोगिनी । एवं देशकालभक्तविशिष्टाया लीलाया

रश्मिः ।

प्रत्यक्षोपदेशादिति । प्रत्यक्षश्चासावुपदेशश्च तस्मादिति कर्मधारयः । सर्वविषयकप्रत्यक्षे रूपस्य विषयतयान्वयासम्भवात् । श्रीभागवतादिष्विति । 'निवेदितात्मा विचिकीर्षितो म' इत्यत्र भक्तस्य एकत्वकथनेन । आदिना गीतायां 'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मत' इति 'अभये तुष्टे निर्वपामी'ति संहिता । यद्वा 'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः' इत्यत्र भक्तस्यैकत्वकथनेन एकस्यैव रूपस्य यत्सर्वविषयकं प्रत्यक्षं तस्योपदेशात् । आदिना गीतायां 'स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारते'त्यत्र तथा । एवमन्यत्र । 'सोऽश्नुत' इत्यत्र सर्वकामान् जानातीच्छति यततेऽश्नातीति एकस्यैव रूपस्य सर्वकामविषयकं प्रत्यक्षं तस्योपदेशात् । 'स वा एवं पश्य'न्नित्यत्र एवमात्मादेशमहङ्कारादेशं पश्यन्नित्यर्थादात्मविषयकमहङ्कारविषयकं यत्प्रत्यक्षं तस्योपदेशात् । 'सर्वꣳह पश्यः पश्यती'त्यत्र सर्वविषयकं प्रत्यक्षं तस्योपदेशादित्यर्थो यद्यपि सम्भवति तथापि, रूपस्य प्रत्यक्षोपदेशादित्यत्र रूपस्य विषयितया प्रत्यक्षरूपैकदेशे रूपान्वयो भाति स विरुद्धः रूपस्याऽप्रत्यक्षात्किन्तु सर्वकामादीनामतः प्रत्यक्षश्चासौ उपदेशस्तस्मादिति कर्मधारयोऽत्र व्याख्येयः । एवं विस्तरपक्षे सौत्राशङ्काग्रन्थं व्याख्याय हेतुभाष्यं व्याकुर्वन्ति स्म । एकस्यैव भक्तस्येति । 'तदेजति तन्नैजती'ति निःप्रतियोगिनी क्रीडा स्फुटा । ब्रह्मणो विरुद्धधर्माश्रयत्वात् । सप्रतियोगिनी तु क्रीडा भक्तसम्बन्धिनीति तत्राशङ्कते । एकस्यैव भक्तस्येति । पुष्टिफले भक्तस्यावश्यकत्वं भक्तसंवलितो भगवान्पुष्टिमार्गे फलति यतः । देशो वृन्दावनादिः । कालः श्वस्त्वहह आयास्य इत्यादिवाक्येषु श्वः ह्यः वर्तमानश्च । क्रियमाणानेकेति । दशमस्कन्धप्रसिद्धाः क्रियमाणानेकलीलास्तासाम् । क्रियमाणा अनेकलीलासम्बन्धित्वं इति पाठे संहितायाः अविवक्षणाद्वा समासे 'अकः सवर्णे दीर्घ' इत्यस्य प्राप्तिः । आलस्याद्वाऽसन्धिः । रभसाद्वा । उक्तं भवतीति । सोऽश्नुत इत्यादिश्रुतिषु भागवतादिवाक्येषु चोक्तं भवति । तच्चेति । भाष्यविवरणम् । तच्चेत्यादि । तच्चेति क्रियमाणानेकलीलासम्बन्धित्वम् । न घटत इति । भक्तं प्रत्येकस्या लीलायास्त्रिक्षणावस्थायिन्या अनुवृत्तेरनित्यत्वादिति भावः । भक्तोऽनेकलीलामनोरथः । अय'मात्मत आविर्भावतिरोभावा'विति श्रुतावाविर्भावाद्यर्थं उत्पत्तिविनाशौ मन्यते । यत इत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति स्म । यत इत्यादि । तत्तद्देशकालेति । यथाचार्येषु वृन्दावनादिदेशे, एकादश्यां महानिशि काले, साक्षाद्भगवत्प्रवचनलीला निरोधरूपा तत्तत्सम्बन्धिन्याचार्यसम्बन्धिनी । सम्बन्धश्च स्वस्वामिभावः । 'इति श्रीकृष्णदासस्य वल्लभस्य हितं वचः । चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजे'दिति वाक्यात् तत्तद्विशेषणविशिष्टा विशेषणं यथा । लीला त्रिक्षणावस्थायिन्यनित्या सती यथासम्भवं कर्तुरनित्यत्वं सम्पादयेत्तत्र प्रभ्वाचार्यसम्बन्धिनीक्रीडाविशेषणं, वर्तमानप्रभ्वाचार्यसम्बन्धिनी क्रीडा । वर्तमानत्वं 'आचार्यं मां विजानीया'दिति वाक्यात् । 'नित्यो नित्याना'मिति

तत्रोच्यते। श्रुतौ सर्वपदेन न जगदुच्यते, किन्तु यस्यां यस्यां लीलायां

भाष्यप्रकाशः।

नित्यत्वे सति देशकालयोरन्यान्यत्ववद्भक्तस्याप्यनेकरूपत्वं वाच्यम्। तथानुक्तत्वाज्जीवस्य न सम्भवतीति। एवं विशेषणविघटने तस्या लीलया नित्यत्वमपि न सिध्यतीत्यतो न घटत इत्यर्थः। प्रत्यक्षोपदेशादित्यत्र प्रथमपक्षे षष्ठीतत्पुरुषो द्वितीयपक्षे च कर्मधारयो ज्ञेयः।

एवमाशङ्कांशं द्वेधा व्याख्याय समाधानांशं व्याकुर्वन्ति तत्रोच्यत इत्यादि। तथा-

रश्मिः।

च। स्वरूपतः सम्बन्ध्यनित्यत्वमप्येतेन विशेषणेनापास्तम्। प्रमाणाभावस्तु प्रमाणसिद्धवर्तमानगोपीमाधवसम्बन्धिनीक्रीडेति विशेषणात्। अन्यानि विशेषणानि विद्वन्मण्डनसुवर्णसूत्रमिश्रीभावेन कर्तव्यानि। भक्तिमार्तण्डे तु स्पष्टीकृतानि मत्कृते। एवं गोपालतापिनीये 'वेणुवादनशीलाये'ति श्रुतेर्गोपीमाधवसम्बन्धिनीक्रीडाविशेषणम्। वर्तमानगोपीमाधवसम्बन्धिनी क्रीडा। वर्तमानत्वं निरोधस्कन्धलीलासमाप्तिश्लोकात् स च 'जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो यदुवरपरिषत्स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम्। स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन व्रजपुरवनितानां वर्धयन् कामदेव'मित्यत्र जयतीति वर्तमानप्रयोगात्तथा। अस्यन् वर्धयन्निति च। लीला त्रिक्षणावस्थायिन्यनित्या सती यथासंभवं कर्तुरनित्यत्वं सम्पादयेदिति दोषे विशेषणमुक्तम्। गोपीमाधवयोर्विशेषणं वर्तमानेति विशेषणम्। स्वरूपतः सम्बन्ध्यनित्यत्वदोषोऽप्येतेन विशेषणेनापास्तः। प्रमाणाभावरूपस्तृतीयदोषस्तु प्रमाणसिद्धवर्तमानगोपीमाधवसम्बन्धिनी क्रीडेति विशेषणादपास्तः। शेषं पूर्ववत्। नित्येति। पूर्वं दोषत्रयं वारितं 'जयति जननिवास' इति श्लोकोपन्यासेन। अन्ये पञ्चविंशतिदोषाः विद्वन्मण्डनसुवर्णसूत्रभक्तिमार्तण्डेषु वारितास्तेऽप्यवधेया वारणीयाश्च विस्तरभिया न लिख्यन्ते। ध्वंसादीति। आत्मनि लीला ध्वस्ताः आत्मनि लीला भविष्यन्ति आत्मनि लीला न सन्तीति संसर्गाभावास्तेषामप्रतियोगिनीत्वाद् ध्वंसाद्यप्रतियोगिनीत्वेन ध्वंसाद्यप्रतियोगिनी। अन्योन्याभावस्तु भेदाभावरूपाद्वैताभावादस्ति। परन्तु इवार्थः स गीतायां स्वरूपे निवेशोक्तेस्तस्य भेदस्य स्वरूपे निवेशादुक्तेः। तादात्म्याद्वैतसत्त्वाच्च। एवं सतीत्यादिभाष्यविवरणम्। एवं देशकालेति। अन्यान्यत्ववदिति। वीप्सा। देशोऽन्यः कालोऽन्य इति। अनेकरूपत्वमिति। अयमन्योऽयमन्य इति। 'स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधे'त्यादिश्रुतेः। अनुक्तत्वादिति। जन्यस्यापत्त्या बादरिमतेन शब्दान्ययानयनेनानुक्तप्रायत्वात्। अर्थवादकः शब्द इति। यद्वा सोऽश्नुत इत्यादिष्वेकस्यैव भक्तस्योक्त्यानुक्तत्वात्। इतीति व्याख्येयम्। तस्य व्याख्यानं एवं विशेषणविघटन इति। बादरिमतेन जीवस्यानेकरूपत्वविशेषणविघटने। तस्या इति। अनेकजीवकर्तृकाया इत्यर्थः। अपिना भगवत्सम्बन्धित्वम्। न सिध्यतीति। क्रियायास्त्रिक्षणावस्थायित्वेनानित्यत्वान्न सिध्यतीत्यर्थः। न घटत इति। क्रियमाणानेकलीलासम्बन्धित्वं न घटते। एकभक्तसम्बन्धिनी लीला एका। कर्मधारय इति। सर्वविषयकं दर्शनं न पश्यविषयकमिति न पश्यस्य प्रत्यक्षविषयतयान्वयः सूत्रे सम्भवत्यतः प्रत्यक्षश्चासौ विषय इति कर्मधारय इत्यर्थ उक्तः। आशङ्कांशमिति। 'प्रत्यक्षोपदेशादिति चे'दिति सौत्रमाशङ्कांशम्। द्वेधेति। सङ्क्षेपविस्तरप्रकारेण षष्ठीतत्पुरुषकर्मधारयप्रकारेण च। तत्रोच्यत इत्यादीति। सर्वपदेनेति। सङ्क्षेपपक्षे 'सर्वꣳह पश्यः पश्यती'त्यत्र सर्वपदेन। विस्तरपक्षे सोऽश्नुत इत्यत्र 'सोऽश्नुते सर्वान् कामा'नित्यत्र सर्वपदेन। 'स वा एष एवं पश्य'न्नित्यत्र सर्वपदं नास्ति तथाप्येवमित्यस्यात्मादेशप्रकारेणेत्यर्थादधस्तादादिदेशप्रभेदभिन्नात्मा सर्वोऽपि ग्राह्य इति सर्वपदेनार्थिकेन। 'सर्वं हि पश्यः पश्यती'त्यत्र सर्वपदेन एकत्वस्य श्रुतौ भक्ते-

देशकालभेदेन क्रियमाणायामधिकृतो य एको भक्तः, तस्यैव तावन्ति रूपाणि सन्ति तान्याधिकारिकाणीत्युच्यन्ते। तेषां मण्डलं समूहस्तत्र स्थितवस्तुमात्रमुच्यत इति नानुपपन्नं किञ्चित्। अत एवाग्रे पठ्यते 'सर्वमाप्नोति सर्वश' इति, 'स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा भवति। सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः। शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशति'रिति। यथा मण्डलवर्तिषु पुंसु नैकस्य प्राथम्येन प्राधान्यं वक्तुं शक्यम्, तथैतेष्वपि रूपेष्विति ज्ञापनाय मण्डलपदमुक्तम्॥ १८॥

भाष्यप्रकाशः।

चाधिकारोऽत्र भक्तानां लीलानुभवयोग्यतासम्बन्धाधिकारिकं तेषां मण्डलं समूहस्तत्र यत्तिष्ठति तस्योक्तेः कथनाच्छ्रुतौ तथोच्यत इति नानुपपन्नं किञ्चित्। श्रौतस्य दर्शनविषयवाचकस्य सर्वपदस्य सङ्कुचितवृत्तिकत्वात्तद्विषयकदर्शनेऽपि भोगस्य जगद्व्यापाररहितत्वं नानुपपन्नम्। तथा, 'सोऽश्नुत' इत्यादावेकवचनस्य भक्तस्वरूपविषयकत्वात् स भक्तस्तत्तद्देशतत्तत्कालभेदेन क्रियमाणा लीलाः आधिकारिकदेहसमूहस्थः पश्यतीति तत्तद्विशेषणविशिष्टानां लीलानां तदनुभवितुर्भक्तस्य च नित्यत्वं नानुपपन्नमित्यर्थः। ननु सर्वपदार्थसङ्कोचे भक्तरूपबाहुल्ये च किं मानमित्यत आहुः अत एवेत्यादि। अग्र इति। 'सर्वꣳह पश्यः पश्यती'त्यस्याग्रे। तथा च 'सर्वमाप्नोती'ति वाक्ये सर्वैः प्रकारैः सर्वप्राप्तिश्रावणात् 'सर्वं पश्यती'ति वाक्यस्थसर्वपदेन विवक्षितग्रहणस्यैव युक्तत्वात्। तथा 'स एकधे'ति वाक्ये भक्तस्य बहुधाभवनश्रावणात्, 'सोऽश्नुत' इत्यादावपि बहुभी रूपैर्भोगरूपस्य लीलानुभवस्य युक्तत्वादिति। ननु मण्डलपदेन चक्राकारेण परिणतः समूह उच्यते, न तु सामान्यसमूहः, अतः कथमेवमुच्यत इत्यतो मण्डलपदस्य तात्पर्यमाहुः यथेत्यादि। तथा चैतज्ज्ञापनाय मण्डलपदम्, न तु समूहस्य चक्राकारेण परिणतेर्ज्ञापनायेत्यर्थः॥ १८॥

रश्मिः।

विवक्षणादाहुः। एको भक्त इति। तावन्तीति। फलसाधनयोरैकाधिकरण्यनियमात्। तत्सम्बन्ध्याधिकारिकमिति। तत्सम्बन्धि आधाराधेयभावसम्बन्धोऽस्यास्तीति तत्सम्बन्धि। णिनिः। तथा च 'तत्र भव' इति सूत्राट्ठक्। कथनादिति। सङ्क्षेपपक्षे। 'सर्वꣳह पश्यः पश्यती'ति श्रुतौ। विस्तरपक्षे 'सोऽश्नुते', 'स वा एवं पश्यन्', 'सर्वꣳह पश्यः पश्यती'ति श्रुतिषु भागवतादिषु च 'भक्त्या मामभिजानाती'त्यादिषु कथनात्। उच्यत इति। नानुपपन्नं किञ्चिदिति भाष्यविवरणम्। श्रुतौ तथोच्यत इत्यादि। श्रुताविति। 'सर्वꣳह पश्यः पश्यती'ति श्रुतौ। उपलक्षणमेतत् सोऽश्नुत इत्यादिश्रुतीनाम्। विवृतं व्याकुर्वन्ति स्म। श्रौतस्य दर्शनेति। सङ्कुचितेति आधिकारिकमण्डलस्थे तथा। तद्विषयेति सर्वविषयस्य दर्शनेऽपि। उक्तोपलक्षणविषय आहुः। तथा सोऽश्नुत इत्यादाविति। विस्तरपक्षे श्रुतय इति पृथग्विचारः। आधिकारिकदेहसमूहस्थ इति। उदाहरणं तु बहुस्त्रीकत्वानन्तरं नारददर्शितस्य रूपस्य कार्यम्। यथा विश्वामित्रस्य गौः। तत्तद्विशेषणेति। अष्टाविंशविशेषणेषु तत्तद्विशेषणविशिष्टानां लीलानाम्। पश्यतीत्यस्याग्र इति इतिशब्दः प्रकारवाची षष्ठ्या लुक् पश्यतीति प्रकारो विशेषणं सर्वमाप्नोति सर्वश इत्यत्र तस्य प्रकारस्याग्रे। पश्यतीत्यस्या अग्र इति पाठो वा। कथमेवमिति केन प्रकारेण तत्स्थो जीवभक्त उच्यते॥ १८॥

१. तत्सम्बन्ध्याधिकारिकमिति रश्मौ।

विकारावर्ति च तथाहि स्थितिमाह ॥ १९ ॥

नन्वेवं सति 'श्वस्त्वङ्गेहमायास्य' इति प्रभुणोक्ते तदाशया तत्स्थितिर्नोपपद्यते । नित्यत्वाल्लीलायास्तस्य कालस्य तदागमनस्य च तदापि वर्तमानत्वात् । तथा प्रभूक्तिरपि नोपपद्यत इत्याशङ्क्य समाधत्ते । इह भगवल्लीला प्रकृतिः, तद्विरुद्धोऽर्थो विकार इत्युच्यते । तत्र न वर्तते तज्ज्ञानं तादृशं च भवति ।

भाष्यप्रकाशः ।

विकारावर्ति च तथाहि स्थितिमाह ॥ १९ ॥ एवं श्रुतिविरोधं परिहृत्य लौकिकविरोधं परिहरतीत्याशयेन सूत्रमवतारयन्ति नन्वेवं सतीत्यादि । एवं सतीति तत्तल्लीलातत्तद्देशतत्तत्कालतत्तद्भक्तदेहानां नित्यत्वे सति व्याकुर्वन्ति इहेत्यादि । इहेति भगवत्सम्बन्ध्यर्थविचारे, भगवल्लीला प्रकृतिः, रसात्मकत्वत्वगुणवत्त्वात्, अनुकृत्यविकरणसिद्धकारणत्वाद्वा । तद्विरुद्धोऽर्थो लौकिकः, स हि विकार इत्युच्यते तत्प्रतिकृतिभूतयत्किञ्चित्तद्गुणवत्त्वात् । कार्यत्वाद्वा । तत्र लौकिके विकारभूतेऽर्थे न वर्तते, तत् भक्तेन सह भोगकरणमत आधिकारिकमण्डलस्थं सर्वं तदन्तःपातिज्ञानं च विकारावर्ति तादृशं तत्समानाकारं च भवति अत एवेतः पूर्वं 'आत्मत आशा आत्मत आविर्भावतिरोभावा' वित्यादि श्रावितमन्यथा तत्र वदेत् । तदेतदत्र सर्वं चकारेण सूच्यते । तथा च, 'स एकधा भवती'ति श्रुतिबलेनैकस्य भक्तस्य यान्यनेकानि रूपाण्यङ्गीकृतानि, तानि योगिकायव्यूहवन्नानादेशवर्तीनि, किन्तु यथैकस्मिन्नेव भगवत्स्वरूपे विद्यमानानि प्रद्युम्नादिव्यूहरूपाणि तत्कार्ये

रश्मिः ।

विकारावर्ति च तथाहि स्थितिमाह ॥ १९ ॥ **लौकिकेति** 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यमि'ति सूत्राल्लौकिकवत्प्रतीयमानधर्मविरोधं परिहरतीत्यर्थः । **तत्तल्लीलेति** । पूर्वसूत्र उपपादितम् । पूर्वतन्त्रे यत्र सकलाङ्गोपदेशः सा **प्रकृतिरि**ति प्रकृतिलक्षणादाहुः । **रसात्मकेति** । उत्तरतन्त्रविचारेण प्रकृतिलक्षणमाहुः । **अनुकृतीति** । सर्वानुकरणार्थं कारणं तेजसः । 'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः' 'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् । यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामक'मिति च सार्ववाक्ये । तत्त्वाद्वेत्यर्थः । तथा च प्रकृतिः स्वरूपम् । 'प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्व' इत्यत्र तथाव्याख्यानात् । **तद्विरुद्ध** इति भाष्यविवरणम् । तद्विरुद्ध इत्यादि । **लौकिक** इति लौकिकवत् । विकारत्वस्य त्रिषु सत्त्वात्सामान्ये नपुंसकम् । विकारजातमाहुः । **तत्प्रतिकृतीति** तस्याः प्रकृतेः प्रतिकृतिभूतम् । **तद्गुणवत्त्वात्** प्रकृतिगुणवत्त्वात् । **कार्यत्वाद्वेति** प्रकृतेरेव । **तत्र न वर्तत इति** भाष्यं विवृण्वन्ति स्म । **तत्र लौकिकेति** । किं न वर्तत इत्याकाङ्क्षायां तज्ज्ञानमित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म । **तद्भक्तेनेति** । तज्ज्ञानमित्यतस्तत्पदानुवृत्तिरत्र ज्ञेया । **तदन्तःपातीति** तस्याधिकारिकमण्डलस्थस्य सर्वस्यान्तःपाति तदन्तःपाति । **तादृशमित्यस्यार्थः** । **तत्समानाकारमिति** लौकिकविकारसमानाकारं लोकवदित्यर्थः । **अत एवेति** लौकिकविकारसमानाकारत्वादेव । **इतः पूर्वमिति** । 'सर्वऽह पश्यः पश्यती'त्यादि श्रुतेः पूर्वम् । **श्रावितमिति** । लौकिकविकारसमानाकारमाशादिकं श्रावितम् । **अन्यथेति** । आधिकारिकमण्डलस्थज्ञानाशादेर्लौकिकविकारसमानाकारत्वाभावे लौकिकत्वे च नित्यलीलायां तज्ज्ञानाशादिकम् । **तदेतदिति** । तज्ज्ञानं तादृशमित्यादि भाष्योक्तम् । यत्स्वरूपमित्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति स्म । **तथा चेत्यादि** तादात्म्या-

यत्स्वरूपं प्रति तथा वदति, तस्य स्वगेहे तदा भगवत्स्थितिज्ञानं न भवतीत्यर्थः । उपलक्षणं चैतत्, अतो यद्देशकालविशिष्टा यादृशी या लीला, तस्यास्तादृश्या एव तल्लीलामध्यपातिनो भक्तस्य ज्ञानं, नान्यविषयकमिति ज्ञेयम् । अत एव द्वितीयस्यापि, 'मद्यं पूर्वमुक्तमासीत्तेनागत' इत्येव ज्ञानं भवति । तदैव हि रसोदयः, अतो रसस्वरूपमध्यपातित्वाल्लीलाया रसस्य च भगवदात्मकत्वाद्गुणवद्रूपत्वेन सर्वमुपपद्यते लीलायाम् । अत्र प्रमाणमाह तथाहि स्थितिमाहेति । 'सर्वमाप्नोति सर्वश' इति श्रुतिरेकस्यैव भक्तस्य सर्वशः सर्वैः प्रकारैः सर्वलीलारसमाप्नोतीति वदन्त्युक्तरीत्यैव लीलायां स्थितिमाहेत्यर्थः । अतो वस्त्वेवेदमलौकिकमीदृशमिति मन्तव्यं वैदिकैरिति भावः । अलौकिकेऽर्थे लौकिकरीत्यनुसरणं न युक्तम्, किन्त्वलौकिकरीत्यनुसरणमेव युक्तमिति हिशब्देन द्योत्यते । एतेन 'रसो वै स' इति श्रुतेर्लीलाविशिष्ट एव प्रभुस्तथेति तादृश एव परमफलमिति ज्ञापितं भवति ॥ १९ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

प्रकटीभवन्त्यपि न स्वरूपाद्भिन्नतया प्रतीयन्ते तथा भक्तशरीराण्यप्येकस्मिन्नेव वर्तमानानि तत्तत्कार्ये बहिर्भवन्ति । एवं सति यत्स्वरूपं प्रति, 'श्वस्त्वद्गृहमायास्य' इति वदति, तस्य स्वगेहे प्रथमदिने भगवत्स्थितिज्ञानं न भवति, तस्य विरहानुभवयितृ रूपं बहिर्भवति, पूर्वोक्तं चान्तः । ततो द्वितीयदिने पूर्वोक्तं बहिर्भवति विरहानुभवयितृ चान्तस्तयोरन्तर्भावबहिर्भावौ तेन न ज्ञायेते, एकमेव स्वमनुभवतीत्येवं लीलारसालत्वार्थं दिङ्मात्रेण प्रदर्श्यते । वस्तुतस्तु यथा नित्यव्यापकशब्दवादिजैमिनीयमते व्यञ्जकस्य वायोर्ध्वनेर्वा अभावेन न वर्णात्मकशब्दस्य सर्वत्र सदा ज्ञानम्, यथा च नित्यव्यापकात्मवादिकाणादादिमते स्वदेहादन्यत्र तदुपलम्भस्थानभूतदेहाभावेन न स्वात्मज्ञानम्, तथात्र [illegible]दव्यञ्जकभगवदिच्छाभावेन न भगवत्स्थित्यादिज्ञानं भवतीत्यर्थः । एवं सूत्रैकदेशं व्याख्याय तेनानुक्तस्यान्यस्यापि तथा सिद्धिमाहुः उपलक्षणमित्यादि । तथा च 'अचिन्त्याः खलु ये भावास्तांस्तर्केण प्रसाधयेत् । प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षण'मिति मत्स्यपुराणवाक्यात् । अत एव श्रुतिमूलकतर्कादपि सर्वं सुस्थमित्यर्थः । उपपादनप्रकारस्य प्रामाणिकत्वाय सूत्रशेषमवतारयन्ति अत्रेत्यादि । सिद्धमाहुः अत इत्यादि । तथा च 'नैषा तर्केणे'ति श्रुतेः, 'अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजये'दिति स्मृतेश्च श्रुत्यनुसारेणैव निर्णयमिति सिद्धेस्तथेत्यर्थः ॥ १९ ॥

रश्मिः ।

क्तके स्वस्वरूपपदमाहुः । **यत्स्वरूपं प्रतीति** । **अन्यत्रेति** अन्यदेहादौ । **तद्वृत्तीति** जीववृत्तिलाभस्थानेत्यादिः । नेति स्वगृहादौ न । **तेनेति** । सौत्रचकारेण । **तथा सिद्धिमिति** । चकारेण यथासिद्धिस्तथा तामाहुः । **अत एवेति** । तर्केणेत्यस्य मीमांसायुततर्केणेत्यर्थादेव । **अत्रेत्यादीति** । **सर्वैः प्रकारैरिति** । अलौकिकेर्थे लौकिकी व्युत्पत्तिर्न कृता सर्वान्ददातीति किन्तु सर्वे प्रकाराः सर्वश इति व्युत्पत्तिः कृता । तथा चोक्तम् । 'इत्थं लौकिकशब्दानां प्रक्रिया इह दर्शिते'ति सिद्धान्तकौमुदीसमाप्तौ । **उक्तरीत्येति** अस्मिन् सूत्रे उक्तरीत्या । **तथेत्यर्थ इति** । **वस्त्वेवेदमलौकिकमीदृशमिति मन्तव्यं वैदिकैरि**त्यर्थः । ननु तथापि युक्तिस्तु काचिद्वक्तव्येति चेदग्रे वक्ष्यते । **भाष्ये** । **प्रभुस्तथेति** प्रभुः प्रकृतः ॥ १९ ॥

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥ २० ॥

न च लौकिकयुक्तिविरोधोऽत्र बाधकत्वेन मन्तव्यः, किन्तु साधकत्वेन यतः प्रत्यक्षानुमाने श्रुतिस्मृती अपि लौकिकयुक्त्यप्रसारेणालौकिके भगवत्सम्बन्धिन्यर्थेऽन्यथाभावनं निषेधति, 'नैषा तर्केण मतिरापनेया'। 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'। 'अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्'। श्रीभागवते च 'न हि विरोध उभयं भगवत्यपरिगणितगुणगण ईश्वरेऽनवगाह्यमाहात्म्येऽर्वाचीनविकल्पवितर्कविचारप्रमाणाभासकुतर्कशास्त्रकलिलान्तःकरणाशयदुरवग्रहवादिनां विवादानवसर' इत्यादिवाक्यैरचिन्त्यानन्तशक्तिमत्त्वेन भगवत्स्वरूपस्यैव परमफलत्वं प्रदर्श्यते। किञ्च। 'ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः। अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरी'ति ऋग्वेदे पठ्यते। किञ्चित्पाठभेदेन यजुःशाखायामपि। ता तानि वास्तूनि वां गोपीमाधवयोः सम्बन्धीनि गमध्यै प्रसाद-

भाष्यप्रकाशः।

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥ २० ॥ भगवत्सम्बन्धिपदार्थानां युक्त्यगम्यत्वरूपं पूर्वोक्तमर्थमेव दृढीकर्तुं सूत्रान्तरं पठतीत्याशयेन सूत्रं व्याकुर्वन्ति न चेत्यादि। भाष्यमत्र निगदव्याख्यातम्। अत्र 'नैषा तर्केणे'ति काठकश्रुतेर्जीवप्रश्नोत्तरवर्तित्वेन तथा भगवत्सम्बन्धिनामर्थानां तर्कागोचरत्वसाधनं न युक्तमित्याशङ्क्य, ब्रह्मप्रकरणस्थायाः 'परास्य शक्ति'रिति द्वितीयस्याः श्वेताश्वतरश्रुतेरुपन्यासः। 'अलौकिकास्त्वि'त्यस्याः स्मृतेः प्रसिद्धत्वेन विषयान्तरे चारितार्थ्यमाशङ्क्य, श्रीभागवतषष्ठस्कन्धीयस्य 'न हि विरोध'इति वाक्यस्योपन्यासः। एवमेतैः प्रमाणैर्लीलाया अलौकिकत्वं निगमयित्वा तन्मुखेनापि भगवतः फलत्वनिगमनाय किञ्चेत्यादिना शाखाद्वयस्थश्रुत्युपन्यासः। ऋक्शाखास्थश्रुतेर्यास्केन सूर्यकिरणपरताया निर्वचनात् तदर्थभ्रमनिरासाय यजुःशाखापाठस्मारणम्। तेन यास्कोक्तस्य शृङ्गादिपदनिरुक्तमात्रार्थत्वम्, न तु

रश्मिः।

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥ २० ॥ निगदेति। श्रुतिस्मृती इति। 'तं त्वौपनिषद'मिति श्रुत्याधोक्षजे प्रत्यक्षादेरसङ्क्रमादेवं व्याख्यातम्। ननु तर्हि स्मृतेरप्यौपनिषदत्वाभावात्स्मृतिर्न व्याख्यानमिति चेन्न। गीतास्मृतिषु इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्स्विति उपनिषत्पदप्रयोगादुपनिषत्त्वात्। प्रमाण आर्षमिति प्रत्यक्षमूलत्वाज्जन्यजनकभावसम्बन्धो लक्षणा प्रत्यक्षपदस्य श्रुतौ। अनुमीयते उत्सन्नप्रच्छन्नवेदशाखा येन तदनुमानं स्मृतिरिति वेदान्ते योगमात्रादरणात्। एवं निगदेन भाष्यव्यक्तवचनेन व्याख्यातं व्याख्यातप्रायम्। बहुवाक्योपन्यासे गौरवं मन्यमानास्तत्स्वारस्यमाहुः। अत्र नैषेति। विषयान्तरेति विषयोऽधोक्षजः। ततोन्यद् विषयो नटादौ प्रसिद्धं तद्विषयान्तरं तस्मिन्। शाखाद्वयेति। ऋग्वेद आश्वलायनशाखा। एवं यजुःशाखापि। यास्केनेति निरुक्तवक्त्रर्षिणा। सूर्येति। गावः किरणा उच्यन्त इत्येवं व्याख्याताः। तदर्थेति सूर्यकिरणार्थभ्रमनिरासाय। यजुःशाखेति किञ्चित्पाठभेदेनेत्यादि भाष्येण तथा। पाठभेदस्तु भूरीत्यृग्वेदे। भूरेरिति यजुःशाखायाम्। यास्कोक्तस्येति निर्वचनस्य। शृङ्गादीति। शृङ्गादि।

त्वेन प्राप्तुमुश्मसि कामयामहे। तानि कानीत्याकाङ्क्षायां गूढाभिसन्धिमुद्घाटयति, यत्र श्रीगोकुले गावो भूरिशृङ्गा बहुशृङ्गा रुरुप्रभृतयो वसन्तीति शेषः। ग्राम्यारण्यपशूपलक्षणार्थमुभयोरेव ग्रहणम्। अत्राह भूमावेव तदुरुगायस्य बहुगीयमानस्य वृष्णः भक्तेषु कामान् वर्षतीति वृषा तस्य पदं स्थानं वैकुण्ठम् ततोऽपि परममधिकम्, अत्र विचित्रलीलाकरणात्। भूरि यमुनापुलिननिकुञ्जगोवर्धनादिरूपत्वेन बहुरूपम्। तथा च तत्रत्यानि तानि कामयामह इति वाक्यार्थः सम्पद्यते। एतेन लीलासम्बन्धिवस्तूनां यत्र फलत्वेन प्रार्थनम्, तत्र तल्लीलाकर्तुः परमफलत्वे किं वाच्यमित्याशयो ज्ञाप्यते। 'अथ ह वाव तव महिमाऽमृतसमुद्रविप्रुषा सकृल्लीढया स्वमनसि निष्यन्दमानानवरतसुखेन विस्मारितदृष्टश्रुतसुखलेशाभासाः परमभागवता' इति श्रीभागवते। एतेनापि कैमुतिकन्यायेन प्रभोरेव स्वतः पुरुषार्थत्वं ज्ञाप्यते। फलप्रकरणत्वात्तदेवाचार्यतात्पर्यविषय इति ज्ञायते ॥ २० ॥

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥ २१ ॥

इतोपि हेतोः पुरुषोत्तमस्वरूपमेव परमं फलमिति ज्ञायते। यतः, 'सोऽ-

भाष्यप्रकाशः।

तत्तात्पर्यकत्वम्। ऋचो विष्णुसूक्तस्थत्वात्, तैत्तिरीयपाठे च विष्णुपदादग्रेपि 'विष्णोः कर्माणि पश्यते'त्यादिमन्त्रदर्शनाच्च। एतदुपष्टम्भायैव, 'अथ ह वा वे'ति श्रीभागवतवचनोपन्यास इति। शेषं स्फुटम् ॥ २० ॥

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥ २१ ॥ सूत्रमवतारयन्ति इतोपीत्यादि। इतोपीति।

रश्मिः।

निरुक्तमात्रोऽर्थो यस्य तत्त्वम्। तत्तात्पर्येति। निरुक्ततात्पर्यकत्वम्। सूर्यैमिषावृत्तिसत्त्वेन तात्पर्यवृत्त्यभावात्। विष्णुपदादिति। वृष्ण इति पदस्थले तथा। एतदिति। उक्तकैमुतिकन्यायोपष्टम्भाय स्फुटमिति। गूढाभिसन्धिमिति गोकुलेन गूढस्य संवृतस्य वैकुण्ठस्याभिसन्धिं अभितः सन्धिं भग्नसङ्घट्टनमुद्घाटयतीत्यर्थः। अयमर्थः। मर्यादामार्गीयस्य हृदि व्यापिवैकुण्ठे प्रकटस्य बहिराविर्भावे तत्र प्रवेशः सद्योमुक्तिः। तदुक्तम्। 'भूमावुत्तारितं सर्वं वैकुण्ठं स्वर्गवासिनम्। वैकुण्ठं स्वर्गवासिनमिति' वीप्सा, मार्गद्वयग्रहणार्थम्। कर्ममार्गेण हिरण्यगर्भातिरिक्तस्य मुक्त्यभावात्। एवं च भूमावित्यनेन श्रीगोकुलमपि प्राप्नोति। पुष्टौ तु मर्यादातो विपरीता गतिः यतः प्रमेयबलेनैव पुष्टिस्थानां सर्वं तत्र 'अद्धापूतं निशि शयानमतिश्रमेणे'त्युक्त्वा 'लोके विकुण्ठमुपनेष्यति गोकुलं स्व'मिति विकुण्ठे श्रीगोकुलनयनम्। एवं च पुष्टिमार्गानुसारेण वैकुण्ठे गोकुलमिति गूढस्य पुष्टिमार्गीयप्राप्यगोकुलस्य अभितः सन्धिं भग्नस्य अत्यन्तानुग्रहं विना आमर्दितस्य सन्धिं सङ्घट्टनमनधिकारेपि कश्चिदुद्दिश्योद्घाटयन्तीति। उभयोरिति गोभूरिशृङ्गयोः। भूमाविति। मर्यादामार्गे श्रीगोकुलमपि। 'भूमावुत्तारितं सर्वं वैकुण्ठं स्वर्गवासिनं वैकुण्ठं स्वर्गवासिनम्' इति श्रुतेः। पुष्टिप्रकरणादाहुः। ततोपि परममिति। कैमुतिकन्यायेनेति पाठः। तदेवेति। प्रभुरेव परं लीलाकर्तृ। एवं शेषं स्फुटमित्यर्थः ॥ २० ॥

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥ २१ ॥ भाष्ये। पुरुषोत्तमस्वरूपमिति रसात्मकमिति

ऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति श्रुतौ भक्तसाम्यमुच्यते। तच पुरुषोत्तम एव सम्भवति। यतः सख्यं दत्त्वा तत्कृतात्मनिवेदनमङ्गीकुर्वन्नतिकरुणः स्वस्वरूपानन्दमनुभावयँस्तं प्रधानीकरोति। अन्यथा भक्तोऽनुभवितुं न शक्नुयाद् युक्तं चैतत्। प्राप्तं फलं स्वाधीनं भवत्येव, अन्यथा फलत्वमेव न स्यात्। तथा चास्माल्लिङ्गादपि प्रभोरेव परमफलत्वं सिध्यति। 'न तत्समश्चाभ्याधिकश्च दृश्यत' इति श्रुतिविरोधपरिहाराय मात्रपदम्। न चात्र कामभोगस्य फलत्वं शङ्कनीयम्। 'आप्नोति पर'मित्येतद्व्याकृतिरूपत्वात् स्वरूपानुभवरूपत्वाद् भोगस्य। अनुभूयमानस्यैव हि सुखस्य लोके पुरुषार्थत्वोक्तेः॥ २१॥

भाष्यप्रकाशः।

'मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारणे'। भोगमात्रे भोगे एव यत् साम्यम्, भक्तेन सह तौल्यम्, अस्यां श्रुतौ सहपदेन श्राव्यते, तस्माल्लिङ्गादपि। तद् व्याकुर्वन्ति यत इत्यादि। पुरुषोत्तम एवेत्येवकारेणाक्षरं व्यावर्त्यते। तत्र हेतुः यतः सख्यमित्यादि। नन्वत्र कामानामेव प्राप्तेरुक्तत्वात्तद्भोगस्यैव फलत्वमस्त्विति चेत् तत्राहुः न चेत्यादि। 'आप्नोति पर'मित्येतद्व्याकृतिरूपत्वादिति। 'आप्नोति पर'मिति यद्वाक्यं तद्व्याख्यानरूपत्वात्। ननु यदि भगवत एव फलत्वम्, तदा कामानामशनं किमिति विवरणत्वेनोच्यत इत्यत आहुः स्वरूपेत्यादि। तत्र युक्तिमाहुः अनुभूयमानस्येत्यादि। तथा च फलत्वव्युत्पादनार्थं तत्, न तु फलत्वार्थमित्यर्थः। एवमनया पञ्चसूत्र्या भोगप्रकारविचारोपि भगवतः परमफलत्वबोधनायैवेति ज्ञापितम्। इदमेवाचार्यैः पुष्टि-

रश्मिः।

ज्ञेयम्। प्रकृते। अस्यामिति 'सोऽश्नुत' इत्यस्याम्। तौल्यमिति। ब्रह्मणो गौणत्वेऽपि कियद्गौण्यं किन्तु साम्यमिति भावः। तद्व्याकुर्वन्तीति तत् तस्मात् तमुक्तमर्थं हृदिकृत्य सूत्रं व्याकुर्वन्तीत्यर्थः। व्यावर्त्यत इति ब्रह्माहमस्मीत्यक्षरसाम्यस्य जीवन्मुक्ते सिद्धत्वेन फले तदनुपयोगाद्व्यावर्त्यत इत्यर्थः। तत्र हेतुरिति साम्ये हेतुः। अक्षरव्यावर्तनापेक्षया समप्रस्य प्रधानत्वात्। यतः सख्यमित्यादीति। सख्यं दत्त्वेति सम्पद्याविर्भावाधिकरणेन सम्पद्याविर्भावात्समानशीलव्यसनवत्त्वरूपं सख्यं सिद्ध्यति। रासेष्टधाविर्भावात्। अत्र षड्धर्मैः क्रियमाणलीलासु षड्धर्मा भक्ता अधिकारिण इति सख्यं नानुपपन्नम्। सख्यात्मनिवेदने पुष्टिश्रुतीनां नाभिप्रेते इति भ्रमरगीते 'मृगयुरिव कपीन्द्र'मित्यस्य सुबोधिन्यामस्तीति न तदर्थं भक्तसाधनमत उक्तं दत्त्वेति। ब्राह्मेणेत्यधिकरणेन देहा उक्ताः तेषां निवेदनं श्रुतिरूपाणामङ्गीकुर्वन्, आत्मानो देहाः तेषां निवेदनम्। आत्मीयानां तत्राभावात्। सालोक्यमुक्तिश्चेत्सा तु उक्तभक्तिद्वये श्रुतेस्तात्पर्याभावेपि ददात्यङ्गीकरोत्यतोतिकरुणः। स्वस्वरूपेति। प्रदीपाधिकरणे सामर्थ्यमुक्तमतः स्वरूपानन्दमनुभावयन्नित्यादिः। स्वस्य स्वरूपं भक्तदेहित्वेनाङ्गीकृत्य तदानन्दमित्यादिः। अत्र 'तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वा'मिति श्रुतिरनुसन्धेया। भवत्येवेति। साधनानां जीवाधीनत्वादिति भावः। 'भक्त्या त्वाद्यो द्वितीयस्तु तदभावाद्धरौ सदे'ति भक्तिभावास्तदभावाः साधनानि। भगवतः सर्ववशित्वादत्यन्तायोगं मत्वाऽत्यन्तायोगव्यवच्छेदकैवकार उक्तः। क्रियासङ्गतैवकारोत्यन्तायोगव्यवच्छेदकः। नीलं सरोजं भवत्येवेत्यत्रेव। तद्भोगस्येति कामभोगस्य। फलस्येति रसात्मकस्य। तदिति ब्रह्मणा सह

१. तौल्यम्।

एवं भगवतः स्वतः पुरुषार्थरूपत्वमुक्त्वा कर्मफलभोगानन्तरमावृत्तिवद्त्राप्यावृत्तिर्भविष्यतीत्याशङ्कानिरासायोत्तरं पठति।

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्॥ २२॥

भाष्यप्रकाशः।

प्रवाहमर्यादायां पुष्टिफलविचारे 'भगवानेव हि फलं स यथाविर्भवेद्भुवि। गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवे'दित्यनेनोक्तं ज्ञेयम्॥ २१॥

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्॥ २२॥ सूत्रमवतारयन्ति एवमित्यादि।

रश्मिः।

भोगकरणम्। तदित्यव्ययं वा तत्कामभोगः। न चानुभूयमानसुखस्य पुरुषार्थत्वे सुषुप्तिस्वरूपसुखसाक्षात्कारादिना ईश्वरादेः पुरुषार्थत्वप्रसङ्ग इति वाच्यम्। इष्टापत्तेः। तत्तदुपासकान्प्रति तत्तद्भक्तान्प्रति तत्तदीश्वरादेः पुरुषार्थत्वादिति। 'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तमे'ति वाक्याद्भूमः सर्वात्मभावरूपस्य पुरुषार्थत्वं भक्तिमार्तण्डे उपसमाख्युक्तमेवेति शुभम्। गुणस्वरूपेति। गुणाः ऐश्वर्यादयः स्वरूपं साक्षान्मन्मथरूपं पञ्चाध्याय्याम्। एवंप्रकारेण स्वरूपान्तरेणापि तेषां वैदिकानां अत्र कायिकानां पौष्टिकानां फलं भवेदित्यर्थः॥ २१॥

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्॥ २२॥ एवमित्यादीति। स्वत इति साध्यत्वभिन्नसिद्धत्वतः। स्वशब्द आत्मीयवाची। आत्मवाचकत्वेऽपि न क्षतिः। तादात्म्याभेदात्। उक्त्वेति। ननु विकारावर्तिसूत्रभाष्ये 'अतो वस्त्वेवेदमलौकिकमीदृशमिति मन्तव्य'मित्युक्तम्। इयदवधि तदेवोक्तम्। परन्तु युक्तिस्तु काचन वक्तव्येति चेदुच्यते। उक्तरूपे तादात्म्यरूपमद्वैतम्। भेदाभावरूपस्याद्वैतस्य स्वरूपेऽभावाद् 'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थित'मित्यस्य स्वरूपनिरूपणे उक्तत्वाद् गीतायां तदत्रावतार्यते फलस्य स्वरूपत्वात्। ननु लीला हि द्वेधा। सप्रतियोगिनी निःप्रतियोगिनी च तत्र निःप्रतियोगिनी 'तदेजति तन्नैजती'त्यनया श्रुत्योक्ता विरुद्धधर्माश्रये स्पष्टा भगवति, सप्रतियोगिनी तु अद्वैते कथं सम्भवेद् यतस्तत्र नन्दयशोदागोपीगोपाः प्रतियोगिनस्ते कथं ज्ञानस्वरूप एकीभवेयुरिति चेदुच्यते। 'आत्ममायामृते राजन् परस्यानुभवात्मनः। न घटेतार्थसम्बन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाञ्जसे'ति सिद्धान्तवाक्ये द्वितीयस्कन्धे मायासम्बन्धः प्रतियोग्यात्मदेहार्थमुक्तस्तन्न्यायेन श्रुतौ भक्तेच्छया नित्यलीलायां देहसम्बन्धः, 'स ईक्षाञ्चक्र' इति श्रुतौ मायास्थले ईक्षाश्रावणात्। न चेयं भगवदीयेच्छा न भक्तेच्छेति वाच्यम्। भक्तभगवतोरैक्याद् ब्रह्मवदनीतत्वेन ब्रह्मत्वात् सर्वस्य लीलास्थपदार्थस्य। एवं चावस्थात्रयपक्षे सुषुप्तिस्त्वकामरूपो भगवानतस्तद्भक्तेच्छा न सम्भवति किन्तु 'मेनेऽसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरसुप्तदृगि'त्युक्तदृगपि निर्विषया। नैयायिकास्तु ज्ञानं सविषयकमेवेति सुषुप्तौ स्वरूपस्य विषयत्ववत्तुरीये त्रिषु सन्तते सायुज्ये प्राप्तजीवमनोरथकेनाविर्भूतानां नन्दादिप्रतियोगिनामात्मत्वेन तादृग्दृग्विषयत्वेन दृशो न निर्विषयत्वम्। तथा च यथा घटानां न परस्परं भेदः तादात्म्यात्तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताया अभावात्तथा भगवन्नन्दयशोदादीनामपि न परस्परं भेदः तादात्म्यात्तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताया अभावात्। शास्त्रदृष्ट्यात्मत्वेन तादात्म्याद्वैतसम्भवात्। सा चाद्वैते 'एकमेवाद्वितीय'मिति श्रुतिविषयत्वेन तर्कसम्भवाद्युक्तिः। तथा चोक्तरीतिर्न स्यात्तदा वस्त्वेवेदमलौकिकमीदृशं न स्यादिति युक्तिः सिद्धा। मेन इति वाक्यीयदृग्विषयनन्दादीनां तादात्म्यान्न स्वयंप्रकाशत्वहानिरिति। प्रकृतमनुसरामः। अत्राप्यावृत्तिरिति स्वर्गसुखवन्निरूपितफलेऽपि।

अनावृत्तिर्भक्तानां ज्ञानिनां चोच्यते । तत्र मानं शब्दः । स च 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति', 'न तेषां पुनरावृत्तिः', 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते', 'ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते', 'न च पुनरावर्तते' इत्यादिरूपस्तु ज्ञानिनां तामाह । न हि भक्तानां नाड्यादिप्रयुक्तममृतत्वम् । 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः । न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह', इत्यादिवाक्येभ्यः । किन्तु 'यमेवे'ति श्रुतेर्वरणमात्रलभ्यः पुरुषोत्तमः । एवं सति 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति श्रुतेर्विरोधपरिहारपूर्वकोक्तव्याख्यानरीत्या भक्तस्य परं

भाष्यप्रकाशः ।

व्याकुर्वन्ति अनावृत्तिरित्यादि । ननूक्तः शब्दो ज्ञानिनामेव तामाहेत्यत्र गमकमाहुः न हीत्यादि । काठके ज्ञानं प्रस्तुत्य, 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः' इति वैराग्यं चोक्त्वा, ततः 'शतं चैका च हृदयस्य नाड्य' इत्यनेनोत्क्रमस्योक्तत्वात्, बृहदारण्यके शारीरब्राह्मणेऽपि तथात्वादन्यत्रापि तथैवेति नाड्योर्ध्वगतिहेतुभूतयोर्ज्ञानवैराग्ययोर्भक्तस्य श्रेयस्करत्वाभावेऽप्रोक्तं तत्कार्यभूतनाडीगतिप्रयुक्तममृतं न शक्यं वक्तुम्, अतो ज्ञानिनामेव तेन शब्देन तदुच्यत इत्यर्थः । तर्हि भक्तस्यानावृत्तिः कुतोऽवगन्तव्येत्यत आहुः किन्त्वित्यादि । किन्तु 'यमेवे'ति श्रुतेर्वरणलभ्यः पुरुषोत्तमो भक्तानाममृतत्वम् । स च 'अक्षरात् परतः पर' इति श्रुतेः 'यस्मात् क्षरमतीतोऽह'मिति गीतावाक्याच्चाक्षरात् परः । एवं वरणलभ्यस्यात्मनोऽक्षरात् परत्वे सति 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति श्रुतेर्विरोधपरिहारपूर्वकं यद्व्याख्यानं वरणसाहित्ये सर्वकामाशनरूपो ब्रह्मस्वरूपानन्दानुभवः वरणसाहित्याभावे तु लोकत्वेनाक्षरप्राप्तौ तदानन्दानुभवोऽक्षरसायुज्यं वा यथाऽधिकारमिति पूर्वमुक्तम्, तद्रीत्या अक्षराधिष्ठातारं पुरुषोत्तमं परं ब्रह्म वरणेन प्राप्तस्य भक्तस्य निर्दोषत्वादावृत्तिहेतूनामविद्याकामकर्मणामभावात् प्रपञ्चेऽनावृत्तिः सम्भवति । तथा चात्र परशब्दे प्राप्यस्याक्षरात् परत्वप्रकाशनसामर्थ्याल्लिङ्गादनावृत्तिर्भक्तानामव-

रश्मिः ।

अनावृत्तिरित्यादीति । तयोर्ध्वमिति तया नाड्या । एतेन प्रतिपद्यमाना इति एतेनार्चिरादिमार्गेण । ननूक्त इति ननुराशङ्कायाम् । उक्तः शब्दो ज्ञानिनामेव तामाहेत्यत्र अस्यां ननु आशङ्कायाम् । गमकमाहुरिति योजना । यद्वा । ननूक्तः शब्दो ज्ञानिनामेव तामाहेत्यत्र किं गमकमतो गमकमाहुरिति शेषपूरणम् । शेषस्तु किं गमकमत इति । तत्कार्येति ज्ञानवैराग्यकार्यभूतनाडीगतिप्रयुक्तममृतत्वम् । नन्वमृतमित्येवास्त्वस्य किं प्रयोजनमिति चेन्न । तादात्म्याद्भगवद्विग्रहामृतत्ववद्भक्तानाममृतत्वमविरुद्धम् । तदुच्यत इति अमृतत्वमुच्यते । तामाहेत्युक्तां तां तु अग्रे विचारयिष्यन्ति । यद्वा तदित्यव्ययम् । सोच्यत इत्यर्थः । पुरुषोत्तम इति कस्याञ्चिल्लीलायां भक्तगौण एव सः । आश्चर्यमुक्तम् । स चेति परतः परस्मादक्षरात्परतः । अक्षरात्पर इति । परतोऽक्षरात्परः । एवं सतीति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म । एवं वरणेति तूष्णीकम् । भाष्येऽनावृत्तौ हेतुमात्र उक्तः । प्रमाणपुरःसरं तमाहुः तथा चात्रेति । अत्र 'ब्रह्मविदाप्नोति परमि'ति श्रुतौ शब्दादिति हेतोः स्वाक्षिप्तनिर्दोषत्वहेतुता निर्दोषत्वस्यानावृत्तौ हेतुत्वमुक्तम् । शब्दादिति हेतोरविशेषान्न साक्षादनावृत्तौ हेतुत्वं किन्तु परम्परयेत्याशयेन तदपि हेतुत्वं शब्दसामर्थ्याभावे न भवतीति पूर्वसूत्रवासनया लिङ्गहेतौ निवेशितः । शब्दादिति सौत्रं हेतुं स्पष्टं हृदिकृत्याहुः परशब्द

ब्रह्म प्राप्तस्य निर्दोषत्वादावृत्तिहेत्वभावात् प्रपञ्चेऽनावृत्तिः सम्भवति । तादृशं प्रतीश्वरेच्छापि न तथा भवितुमर्हति । 'ये दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम् । हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे' इति भगवद्वाक्यात् परप्राप्तिरूपत्वाच्च भोगस्य न नाशसम्भावना । किञ्च यत्रैकस्यैव भक्तस्य देशकालभेदेनानेकविधलीलासम्बन्धित्वेऽपि तत्तल्लीलासम्बन्धित्वमनश्वरमुच्यते, तत्र सर्वथा तदभावः कथं वक्तुं शक्यो ब्रह्मणापि । अपरञ्च । कालसाध्यो हि नश्वरः स्यात् । न हि पुरुषोत्तमे कालः प्रभवितुं शक्नोति । 'न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभु'रित्यादिवाक्येभ्यः । तथा च ज्ञानमार्गीयभक्तिमार्गीययोरनावृत्तौ तुल्यत्वेऽपि फलप्राप्तौ वैलक्षण्यात् पूर्ववाक्येन भक्तानामाहानावृत्तिम्, उत्तरवाक्येन ज्ञानिनामिति ज्ञाप्यते । न च फलप्रकरणान्तेऽनावृत्त्युक्तेः संसाराभाव एव जीवस्य परमं फलमित्याचार्याभिप्रायो ज्ञायत इति वाच्यम् । ब्रह्मविदः परप्राप्तिं फलत्वेनोक्त्वा तत्स्वरूपस्य सर्वकामभोगत्वेन श्रुत्या निरूपणात् । स च स्वस्वाधिकारानुसारेण निवेदितार्थाङ्गीकाररूप एवेति ज्ञेयम् । तेन स एव परमं फलम् । अनावृत्तिस्त्वार्थिकी, परन्त्वावृत्तौ सम्भवत्यां परमफलत्वं नोपपद्यत इति ज्ञानतुल्यशङ्कानिरासायेयमुक्ता ।

भाष्यप्रकाशः ।

गन्तव्येत्यर्थः । ननूभयव्यामोहसूत्रे भक्तव्यामोहस्यापि कश्चिद्भक्त्याभासादर्शनेच्छया कदाचिदावृत्तिः स्यादिति शङ्कायामाहुः तादृशं प्रतीत्यादि । तथा च ये सर्वात्मभावप्रपत्तिरहिता उक्तभोगात्मकस्वरूपानुभवरहिताश्च तान् प्रत्येव तथेच्छेति, नात्र तत्सम्भावनापीत्यर्थः । समूलकाषमावृत्तिशङ्कानिवृत्त्यर्थं कैमुतिकेनापि तदभावं साधयन्ति किञ्चेत्यादि । ननु लीलायां देशकालसम्बन्धस्य पूर्वमुक्तत्वाल्लीलानित्यत्वोपपादनमात्रेण कथं शङ्कायाः समूलकाषं निवृत्तिरित्यतस्तत्र कालस्यासामर्थ्ये प्रमाणमाहुः अपरं चेत्यादि । एवं लीलायाः स्वरूपानुभवस्य च नित्यत्वमुपपाद्य सिद्धमाहुः तथा चेत्यादि । ज्ञानमार्गीयफलस्योत्कर्षमाशङ्क्य समादधते न चेत्यादि, इयमुक्तेत्यन्तम् । स चेति भोगश्च । स एवेति उक्तरीत्यानुभूयमानः पुरुषोत्तम एव । आर्थिकीति । परप्रकाशनसामर्थ्याल्लिङ्गात्परप्राप्तिरूपवाक्यार्थबलेन प्राप्ता । तथा च श्रुत्या समर्पितायाः परप्राप्तेरेव मुख्यत्वात्तत्रैवाचार्याभिप्रायः न तु लिङ्गिक्यामनावृत्तावित्यर्थः । यद्यपि द्विरुक्तिः समाप्ति-

रश्मिः ।

इत्यादि । लिङ्गं शब्दस्य सामर्थ्यमिति पूर्वतन्त्रे । तादृशमिति भक्तव्यामोहेच्छया । सर्वात्मभावेति । सर्वात्मभावेन शरणरहिताः । तथेच्छा व्यामोहेच्छा । नात्र तदिति नात्र भक्तिमार्गे तस्या आवृत्तेः सम्भावना । तथा च भाष्ये । तांस्त्यक्तुमुत्सह इत्यस्य तान् भक्तान् त्यक्तुं आवर्तितुं उत्सह इत्यर्थः । अपि तु नेति काकुः । समूलकाषमिति, मूर्धन्यषकारान्तम्, कष हिंसायाम् । भ्वा. प. से. 'निमूलसमूलयोः कष' इति सूत्रेण णमुल्, समूलकाषं कषति, कर्मणीत्येव, कर्मणीत्युपपद इत्यर्थः, द्वीपिनं समूलकषभावं हिनस्तीत्यर्थः । प्रकृते तु समूलकाषमावृत्तिशङ्कानिवृत्त्यर्थम् । भाष्ये । तदभाव इति अनश्वरं लीलाभावः । प्रकृते । तदभावमिति आवृत्त्यभावम् । तथा चेत्यादि । पूर्ववाक्येनेति अनावृत्तिः शब्दादिति पूर्ववाक्येन । उत्तरेणेति द्वितीयेन तेन । ज्ञायत इति कर्ममार्गेण ब्रह्ममुक्तावप्येकदेशविकृतन्यायेनावृत्तिरेवेति ज्ञायत इत्युक्तम् । उक्तरीत्येति प्रदीपाधिकरणोक्तरीत्या । लिङ्गिक्यामिति लिङ्गिन्याम्, परप्रकाशनसामर्थ्य

पुष्टिमार्गीयभक्तविशेषप्रवर्तकनिवर्तकवेणुशब्दाद्भगवन्निकटगतावऽनावृत्तिः पूर्वेणोक्ता, मर्यादामार्गीयाणां वेदरूपाच्छब्दात्तदुक्तसाधनादनावृत्तिं द्वितीयेनेत्यपि तात्पर्यविषयः श्लिष्टोऽर्थो ज्ञेयः। तथा सति परमफलमग्रे स्वत एव भावीति भाव इत्यलं विस्तरेण ॥ २२ ॥

इति चतुर्थाध्याये चतुर्थपादे पञ्चमं जगद्व्यापाराधिकरणम् ॥ ५ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

बोधनार्था, तथापि तत्र श्लेषेणार्थान्तरमपि बोध्यत इत्याहुः पुष्टीत्यादि । 'वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्चे'ति सूत्रे तथा साधितत्वात्तथेत्यर्थः । एवमाचार्याशयः पुष्टिमार्गीयफलस्यैव मुख्यत्व इति साधितम् । एवमत्र पादे 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति श्रुत्युक्तं 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'ति श्रुत्युक्तं च फलं सपरिकरं विचारितम् ।

शङ्कराचार्यास्तु, सगुणब्रह्मोपासनात् सहैव मनसेश्वरसायुज्यं प्राप्तानां किं सावग्रहमैश्वर्यं भवति, उत निरवग्रहमिति संशये, 'आप्नोति स्वाराज्य'मिति 'सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ती'ति 'तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती'त्यादिश्रुतिभ्यो निरङ्कुशमेवैश्वर्यं भवतीति प्राप्तम् । तत्र जगदुत्पत्त्यादिव्यापारं वर्जयित्वैवाणिमाद्यैश्वर्यं भवतीति साङ्कुशमेव तत् । जगद्व्यापारस्तु

रश्मिः ।

लिङ्गं यद्यपि शब्दे तथापि कार्यतासम्बन्धेनानावृत्तावपीति लिङ्गिन्यामनावृत्तावित्युक्तम् । द्विरुक्तिः समाप्त्यर्थेति । विरहसामयिकी परमतभावाप्येकदेशिमते पुष्टौ न प्रतिबन्धिकेति भ्रमरगीतवचमाहुः पुष्टीति । भक्तविशेषोत्र 'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्' इत्येकदेशिमतश्रद्धालुः श्रुतिरूपान्तर्गतवेणुशब्दोत्र साधारणो ज्ञेयो न स्वसाधारणः । एकदेशिमतश्रुतिरूपत्वात् । भगवन्निकटगतावेिति सामीप्यसप्तमी भगवन्निकटगतिसमीपे ब्रह्मलोकेऽवान्तरस्थितिरनावृत्तिः । भाष्य उक्तं तदविरोधायाहुः यद्यपीति । श्लेषेणेति तात्पर्येण । पुष्टीत्यादीति । अनावृत्तिरिति आवृत्तिहेत्वभावादनावृत्तिः । यतो भगवानेवैवं सम्पादयति । 'नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तय' इति भगवद्वाक्यात् । अनुवृत्तिः सेवा सा चानेकधा धातूनामनेकार्थत्वे षिवु सेवायामिति धातुपाठो मानमतः प्रेमपूर्वकानुवृत्तिरत्र । पूर्वेणेति अनावृत्तिः शब्दादित्यनेन । द्वितीयेनेति द्वितीयेनानावृत्तिः शब्दादित्यनेन भगवान्व्यास आहेत्यर्थः । श्लिष्ट इति अभिधेयार्थेनालिङ्गितस्तात्पर्यार्थः । परमफलमिति । 'ज्ञात्वात्मानमधोक्षज'मिति भ्रमरगीतवाक्यात् । 'आन्तरं तु परं फल'मिति सुबोधिन्याम् । 'तदध्यासोऽपि सिध्यती'ति निरोधलक्षणग्रन्थे । 'सच्चिदानन्दता तत' इति च तत्रैव । अत्रावतारावतारिसाङ्कर्यं न दोषाय । 'समान एवं चाभेदा'दिति सूत्रात् । सुबोधिन्यां च 'नैश्चिन्त्यं वाचि पूर्ववे'दिति । अलं विस्तरेणेति विस्तरः अष्टाविंशद्दोषास्तदुद्धारश्च तेनालम् । निषेधेऽलम् । विस्तरेण कथनस्य निषेधः गौरवप्रसङ्गादित्यर्थः । ब्रह्मैवेति । हृदि प्रकटे ब्रह्मणि जीवो ब्रह्मैव सन् बहिःप्रकटेऽपि गतो भवति सद्योमुक्तो भवतीत्यर्थः । विचारितमिति । सन्दिग्धत्वादिति भावः । यद्यपि 'आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचि'दिति मतान्तराक्षेपो न युक्तस्तथापि ब्राह्मणगत्यभिधानादाहुः शङ्कराचार्यास्त्विति । तथा चैकादशे वाक्यम् 'नैतदेवं यथात्थ त्वं यदहं वच्मि तत्तथा । एवं विवदतां हेतुः शक्तयो मे दुरत्ययाः' इति । सावग्रहमिति साङ्कुशम् । निरवग्रहं निरङ्कुशम् । तदित्यैश्वर्यं

भाष्यप्रकाशः ।

नित्यसिद्धस्यैवेश्वरस्येति सिद्धान्तीक्रियते । तत्र हेतुः प्रकरणमितरेषामसन्निहितत्वं च । यत्र हि 'सदेव सोम्येदमग्र' इत्यादौ जगद्व्यापारः श्रूयते, तत्र परमेश्वर एव प्रकृतः, नेतरेषां सन्निधानम्, तस्मात् । न च 'आप्नोति स्वाराज्य'मिति प्रत्यक्षोपदेशविरोधः । एतदग्रे 'आप्नोति मनसस्पति'मित्यनेन आधिकारिको यः सवितृमण्डलादिषु विशेषायतनेष्ववस्थित ईश्वरः पूर्वसिद्धः सर्वमनसां पतिस्तत्प्राप्तिश्रावणात्तदायत्तैव स्वाराज्यप्राप्तिरिति बोधनात् तदग्रे, 'वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः एतत्ततो भवती'ति फलस्य तत एव श्रावणाच्च । एवं सूत्रद्वयं व्याख्याय विकारावर्तिसूत्रे त्वेवं वदन्ति । परमेश्वररूपं विकारावर्ति च । 'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुष'इत्याम्नायो यतस्तस्य परमेश्वरस्य द्विरूपां स्थितिमाह । तच्च निर्विकारं रूपं विकारालम्बना न प्राप्नुवन्ति । अतत्क्रतुत्वात् । अतो यथा द्विरूपे परमेश्वरे निर्गुणं रूपमनवाप्य सगुण एवावतिष्ठन्ते । एवं सगुणेपि निरवग्रहमैश्वर्यमनवाप्य सावग्रहाय एवावतिष्ठन्त इति । अग्रिमसूत्रे च 'न तत्र सूर्यो भाती'ति प्रत्यक्षा श्रुतिः 'न तद्भासयते सूर्य' इति गीतास्मृतिश्च परमेश्वरस्य विकारावर्तित्वं दर्शयतः । तदेवं विकारावर्तित्वं परस्य ज्योतिषः प्रसिद्धमित्यभिप्राय इति । अग्रे तु भोगमात्रसाम्येनैश्वर्यस्य सावग्रहत्वं व्याख्याय, तेन सातिशयत्वे प्राप्ते शब्दादनावृत्तिं व्याहृत्य, सम्यग्दर्शनानां विध्वस्ततमसां तु नित्यसिद्धनिर्वाणपरायणानां सिद्धैवानावृत्तिः, तदाश्रयणेनैव सगुणशरीराणामनावृत्तिसिद्धेरिति कैमुतिकयुक्त्या समापयन्ति ।

तन्मते विकारावर्त्यादिसूत्रद्वयमनतिप्रयोजनम् । जीवस्य सावग्रहैश्वर्यसाधने रूपद्वयबोधकयोरेतयोरनुपयोगात् । न च दृष्टान्तार्थमुपयोगः । विकारावर्तिनोऽप्राप्तौ अतत्क्रतुत्वस्य हेतोरिवात्र सावग्रहैश्वर्ये हेतोरकथनेन दृष्टान्तमात्रस्याप्रयोजकत्वात् । न च वाचस्पतिना निरव-

रश्मिः ।

वदन्तीति क्रियापदम् । सिद्धान्तीयत इति सिद्धान्त इवाचर्यते शङ्कराचार्यैरित्यर्थः । सिद्धान्तीक्रियत इति वा पाठः । इतरेषामिति प्रकृत्यादीनाम् । प्रत्यक्षोपदेशसूत्रार्थमाहुः । स्वाराज्यमिति निरङ्कुशं स्वाराज्यं परमेश्वरवत् । पूर्वसिद्ध इति अन्तस्तद्धर्मोपदेशाधिकरणसिद्धः । तत इति विशेषायतनस्थितेश्वरात् । अतत्क्रत्वेिति । अतत्क्रतुत्वात्तेषाम् । अतत्क्रतुबाधादिति पाठश्च । तेषां विकारालम्बनानां विकारोपासकानां तत्क्रतुत्वस्य निर्विकारक्रतुत्वस्याभावात् । द्वितीयपाठे तस्य विकारस्य क्रतुः तत्क्रतुः तत्क्रतोर्बाधः तत्क्रतुबाधः न तत्क्रतुबाधः अतत्क्रतुबाधः तस्मादित्यर्थः तत्क्रतुबाधाभावात् । एवं सगुण इति यथा सगुणे स्थितं निर्गुणं विकारालम्बना अनवाप्य विकारालम्बना एवावतिष्ठन्ते एवं सगुण इत्यादि । तच्चेति सगुणे ब्रह्मणि विकारावर्ति च निर्गुणं स्वरूपमस्ति तत् । समापयन्तीत्यधिकरणं समापयन्ति । जीवस्येति । जीवस्य सगुणोपासनात् सहैव मनसेश्वरसायुज्यं प्राप्तस्य । निरङ्कुशैश्वर्यासाधनेन सावग्रहस्यास्वतन्त्रस्याणिमाद्यैश्वर्यसाधने रूपद्वयं सगुणे ब्रह्मणि निर्गुणं ब्रह्मेति रूपद्वयम् । तस्य बोधकयोर्यथा सगुणब्रह्मस्यनिर्गुणब्रह्मप्राप्तिः सगुणब्रह्मोपासकस्येति दृष्टान्तः । दार्ष्टान्तिकस्तु, तथा सगुणोपासकस्य सगुणब्रह्मस्यनिरवग्रहजगद्व्यापारसहिताणिमाद्यैश्वर्याप्राप्तिरिति सावग्रहाणिमाद्यैश्वर्यसाधनार्थम् । तयोरिति सूत्रयोः । दृष्टान्तार्थमिति उक्तरीत्या । विकारावर्तिन इति विकारः कार्यं तदवर्तिनो निर्गुणस्य । न विकारावर्तिनः क्रतुत्वं निश्चयत्वमध्यवसायित्वं यस्मिन् सगुणब्रह्मोपासने तस्मात् । अत्र सावग्रहैश्वर्य इति निरवग्रहैश्वर्यप्राप्तौ हेतोरकथनेनेत्युक्तौ निरवग्रहैश्वर्यप्राप्तिप्रसङ्ग इति सावग्रहै-

भाष्यप्रकाशः ।

ग्रहत्वस्योपासनविध्यगोचरत्वादुपासके तदक्रतुत्वस्य समर्थिततया अतत्क्रतुत्वस्यैव तत्रापि हेतुत्वमुक्तप्रायमेवेति वाच्यम् । 'मनोमयः प्राणशरीर' इति हार्दोपासनवाक्ये 'सर्वकर्मे'ति विशेषणस्य सर्वं विश्वं तेनेश्वरेण क्रियत इति जगत्सर्वं कर्मास्य 'स सर्वकर्मा स हि सर्वस्य कर्ते'तिश्रुतेरित्येवं शङ्कराचार्यैरेव व्याख्याततया निरवग्रहत्वस्य विध्यगोचरताया वक्तुमशक्यत्वात् । न चोपासनासु पुरुषस्य विध्यधीनत्वेनास्वातन्त्र्यात् फलदशायां तथात्वमिति युक्तम् । पूर्वावस्थाधर्मस्य तदानीमुपगमे बद्धत्वस्यापि तदा प्राप्त्यापत्त्या मुक्तिविप्लवस्यैवापत्तेः । यच्च स्वातन्त्र्ये प्रातिभत्वप्रसङ्गादित्युक्तम्, तत्र नवनवोल्लासशालिनी बुद्धिः प्रतिभा, तत्सम्बन्धित्वमिति यदि, तदा तु 'स यदि पितृलोककामो भवती'त्यादिना नवनवबुद्धीनां श्रुत्यैव सूचनात्तत्प्रातिभत्वे स्वातन्त्र्यस्य दुरपोहताया एव सिद्धेः । तथा च

युक्तिभिरतिशिथिलाभिः समादधानो हठान् दोषान् ।
वाचस्पतिरपि भाष्यव्याख्याव्याजेन दूषणं वक्ति । इत्येव सिद्धम् ।

न चैवं सिद्धान्तेपि मनोमयवाक्योक्तोपासकस्य तथात्वापत्त्या जगद्व्यापारापत्तिरिति शङ्क-

रश्मिः ।

र्थ्यं इत्युक्तम् । **दृष्टान्तमात्रस्येति** । यथा निर्गुणब्रह्मप्राप्तिस्तथा न स्वतन्त्राणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिरिति दृष्टान्तमात्रस्याप्रयोजकत्वम् । श्यामे मित्रातनयदृष्टान्तेन मित्रातनयान्तरे श्यामत्वप्रसाधने यथा तथेत्यर्थः । **निरवग्रहत्वस्येति** सगुणब्रह्मधर्मस्य । सगुणब्रह्मोपासने तद्धर्ममन्तरा कथमुपासके तत्क्रतुत्वाभावस्य सोऽक्रतुर्यस्येति तदक्रतुरुपासकः तस्य भावस्तदक्रतुत्वं तस्य सिद्धिरत आहुः । **समर्थिततयेति** । **तत्रापीति** सावग्रहैश्वर्येपि । **सर्वमिति** । **विश्वमिति** व्याख्यानम् । **क्रियत** इति । **तेन क्रियत इति** कर्मेतिप्रत्यय इति बोधितम् । **स सर्वकर्मे**ति स निरङ्कुशसर्वकर्मेति ज्ञातव्यम् । एवं निरवग्रहत्वनिरङ्कुशत्वमेतदुपासनविधिगोचरम् । तथा **सर्वस्य कर्ते**त्यत्र निरङ्कुशकर्तृत्वविशिष्टः कर्ता । **व्याख्याततयेति** निरवग्रहत्वस्योपासनविधिगोचरतया व्याख्याततया । **निरवग्रहत्वस्येति** निरङ्कुशत्वस्य । 'स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीर' इति छान्दोग्यीयविधेरगोचरतायाः । नन्वगोचरतायाः वक्तुं शक्यत्वं क्रतोर्विधिविषयत्वेन निरङ्कुशत्वस्याविषयत्वादिति चेन्न । **हार्दोपासनवाक्य** इति कथनान्न लिङ्गमात्रार्थं विवक्षणं किन्तु विधिवाक्यार्थविवक्षणात् । तथा च गीता 'करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रह' इति । 'ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः । सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचर' इति श्रीभागवते । अनपेक्षकस्य विधिगोचरत्व एव तन्निषेध इति । विध्यधीनत्वं विधिं विनाऽप्रवृत्तेः पुरुषस्य । **फलदशायामिति** अविधिगोचरजीवन्मुक्तदशायाम् । **तथात्वम**विध्यगोचरत्वम् । **पूर्वावस्थेति** मुक्तिपूर्वावस्था जीवन्मुक्तावस्था तस्याः धर्मो विध्यगोचरत्वं तस्य । **तदानीमिति** जीवन्मुक्तिकाले । **मुक्तिविप्लवस्येति** बद्धत्वभोजककर्मान्तरानबद्धत्वमिति मुक्तिप्रतिबन्धककर्मापत्त्या तथा । **स्वातन्त्र्य** इति जीवस्याणिमाद्यैश्वर्ये स्वातन्त्र्ये निरवग्रहत्वे । **सूचनादिति** । स इत्यादीनां स सोमिधेयार्थः । **दूषणं वक्तीति** सावग्रहैश्वर्ये हेतोः कथनेन दूषणमिव वक्तीत्यर्थः । एतावत्पर्यन्तं साधारणं जगज्जन्मादिकर्तृत्वमादाय जगद्व्यापाररहितं विचारितम् । अधुना छान्दोग्यीयवाक्ये जगज्जन्मादिकं जगद्व्यापाररहितेन सहैव विद्यमानं विचारयन्ति स्म **न चैव**मित्यादिना । **मनोमयवाक्य** इति छान्दोग्ये 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' इत्येकं वाक्यम् । एकतिङ् वाक्यमिति वैयाकरणाः । 'अर्थैकत्वा-

भाष्यप्रकाशः ।

नीयम् । 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यत' इति श्रुत्या तादृशस्य फलस्य ततो व्यभिचारणात् । 'यथाक्रतु'रिति पुरुषविशेषणबोधके पदे प्रकारांशे पुरुषाधिकारस्यापि निविष्टत्वात् समत्वाद्याकाङ्क्षायाश्च, 'तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं क' इति, 'उषति ह वै स तं योऽस्मात् पूर्वो बुभूषती'ति श्रुतिभ्यां निषिद्धत्वेन तादृशोपासनेऽधिकारस्य निवृत्तेश्च । न चायमेव समाधिः शाङ्करेपि मतेऽस्त्विति वाच्यम् । तन्मते निर्गुणस्य रूपस्य सर्वाभ्यधिकत्वेन सगुणेऽभ्यधिकराहित्याभावेनाधिकसाहित्ये प्राप्ते उक्तरीत्या समसाहित्यस्यापि वक्तुं शक्यतया तद्राहित्यस्यापि दुरुपपादत्वेनैतच्छ्रुतिविषयतायास्तत्र वक्तुमशक्यत्वात् । समाभ्यधिकनिषेधावधिकतया निर्गुणबोधकत्वे च सगुणे समसाहित्यस्यै-

रश्मिः ।

देकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्या'दिति द्वितीयाध्यायसूत्रे पूर्वमीमांसायां वाक्यलक्षणम् । 'अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवती'ति द्वितीयं वाक्यम् । 'स क्रतुं कुर्वीत'ति तृतीयम् । अग्रे 'मनोमयः प्राणशरीर' इत्यादि क्रतुस्वरूपम् । तत्र **मनोमयवाक्योक्तोपासकस्ये**त्यर्थः । **तथात्वापत्त्येति** ब्रह्मणो मननोपदेशे मननरूपोपासनायां **सर्वकर्मेति**विशेषणस्यापि सत्त्वेन जीवन्मुक्तदशायां संशयाभावरूपे फले स्वातन्त्र्यापत्त्या इत्यर्थः । **जगद्व्यापारेति** जगद्व्यापारो जगज्जन्मादिकर्तृत्वलक्षणस्तस्यापत्तिः । स्वातन्त्र्ये निरङ्कुशजगत्कर्तृत्वस्य नियतत्वात् । 'स्वतन्त्रः कर्ते'ति पाणिनीयसूत्रादित्यर्थः । **तादृशस्येति** जगद्व्यापाररहितस्य 'यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्ति' इति तत्रोक्तश्रुत्युक्तसंशयाभावरूपस्य फलस्य । **तत** इति समाभ्यधिकजगद्व्यापारसहितप्रपञ्चाद्व्यभिचारणात् । व्यभिचारोत्र समाभ्यधिकफलवत्त्वाभावाभावस्य । जगद्व्यापारसहितप्रपञ्चत्वासमानाधिकरण्यं व्यभिचारस्तादृशफले । 'यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्ये'ति छान्दोग्ये । **प्रकारांश** इति थाल् प्रत्ययार्थः प्रकारस्तदंशे । अधिकारस्यापि **प्रकारत्वान्** निविष्टत्वं तस्मात् । **समत्वादीति** । आदिनाधिकत्वम् । **स्पर्धितुमिति** स्पर्ध **सङ्घर्षे** । **सङ्घर्षः** पराभिभवेच्छा पराभवेष्टुम् । **क इति** न कोपीति । समत्वाकाङ्क्षाया **निषिद्धत्वम्** । **उषति** उष् दाहे दहति । **स** आत्मा । **बुभूषतीति** भवितुमिच्छतीति बुभूषति भू सत्तायामिच्छार्थे सन् सनि द्वित्वम् । अनयाधिक्याकाङ्क्षाया निषिद्धत्वम् । आधिक्यं **पूर्वत्वम्** । 'मद्भक्तपूजाभ्यधिके'त्यत्राधिक्यं प्राथम्यमिति व्याख्यानात् । **तादृशेति** मनोमयवाक्योक्ते **ब्रह्मणो** मननोपदेशे मननरूपोपासने । **अधिकारस्येति** 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीते'त्युक्ते सर्वजगतो ब्रह्मत्वेनोपासने स्पष्टनिरवग्रहोपासनाधिकारस्य । **अयमेव समाधिरिति** यथाक्रतुरिति पुरुषविशेषणबोधके पदे प्रकारांशे पुरुषाधिकारस्यापि निविष्टत्वान्निर्गुणफलप्राप्तिः सगुणोपासकस्य सावग्रहाणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिश्च न निरवग्रहैश्वर्यप्राप्तिरिति समाधिरेव । **शाङ्करेपि मते** सगुणोपासकस्य न निर्गुणप्राप्तिः, सगुणप्राप्तावपि न निरवग्रहाणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिः किन्तु सावग्रहाणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिरित्यस्मिन्मते । **उक्तरीत्येति** अव्यवहितोक्तरीत्या । तथाहि । निर्गुणस्य **रूपस्य** सर्वासाम्येन सगुणे साम्यराहित्याभावेन समसाहित्ये प्राप्ते इति रीत्या । **तद्राहित्यस्येति** समाभ्यधिकराहित्यस्य **एतच्छ्रुतीति** 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च'ति श्रुतिविषयतायाः । **तत्र शाङ्करे मते** । **समाभ्यधिकेति** समाभ्यधिकयोर्निषेधस्तस्यावधिकतया श्रुतेर्निर्गुणस्य बोधकत्वे च । **समसाहित्यस्येति** श्रुतौ तदित्यव्ययं लुप्तपञ्चमीकम्, निर्गुणाद् अवधेः समाभ्यधिकनिषेधेऽधिकधर्मादेर्मायिकत्वेनाधिक्यसाहित्याप्राप्त्या समसाहित्यस्यैवेत्यर्थः । विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यत इति नैया-

भाष्यप्रकाशः ।

वापत्तेश्च । अधिकारविचारेणातत्क्रतुत्वसाधने च निरवग्रहतायाः प्राप्तेरेवाभावेन स्वातन्त्र्य-शङ्काया एवानुदयात् स्वातन्त्र्ये प्रातिभत्वप्रसङ्गस्यैवाभावादिति दिक् ।

भास्कराचार्यास्तु, सिद्धान्ते 'अविभागेन दृष्टत्वा'दित्यारभ्य परमकारणे सायुज्यं गतानां निरवधिकमैश्वर्यमिति स्थितम् । ये पुनर्वेदान्ते द्वैतवादिनो मन्यन्ते, मुक्ताः पृथगवतिष्ठन्त इति, तन्मतमभ्युपगम्य, सावधिकमैश्वर्यं तेषामपि प्रतिपादयितुं जगद्व्यापारवर्जाधिकरणमारभत इत्युक्त्वा, जगद्व्यापारादिसूत्रं पूर्ववदेव व्याख्याय, विकारावर्तिसूत्रे, पारमेश्वरं पुनरैश्वर्यं नित्यसिद्धं विकारावर्ति,स्वमहिमप्रतिष्ठत्वात्, 'तावानस्य महिमे'ति श्रुतेः । कार्यब्रह्मलोकवर्तिनां मुक्तानां 'सङ्कल्पादेवे'ति श्रुतेः । 'तदैरम्मदीय॰ सरस्तदश्वत्थः सोमसवन' इति बहुविधमैश्वर्यं प्रकीर्त्य तत्रेश्वरायत्तमित्युपपन्नम् । 'दर्शयत' इति सूत्रे, परस्य ज्योतिषो विकारावर्तित्वं विकारानुग्राहकत्वं च 'न तत्र सूर्यो भाती'त्यादिश्रुतिस्मृती दर्शयत इत्युक्तवन्तः ।

तन्मते विकारावर्त्यादिसूत्रयोर्यद्यपि न वैयर्थ्यम्, तथापि दहरविद्योक्तब्रह्मलोकस्य कार्यत्वं यदङ्गीकृतमेतैरन्यैश्च तच्चिन्त्यम् । तत्कार्यत्वबोधकप्रमाणानुपलम्भात् । न च प्रभु-विमितं हिरण्मयमिति वेश्मविशेषणे विमितमितिपदे निर्मितत्वकथनादेकदेशस्य कार्यत्वे सर्वस्य तथात्वं शङ्क्यम् । विमितपदस्य विशेषेण मितं ज्ञातमित्यर्थकतयापि नेतुं शक्यत्वेन ततो निर्णया-भावात् । नापि, 'तृतीयस्यामितो दिवी'ति ब्रह्माण्डान्तर्वर्तित्वश्रावणात्तन्नाशे एतन्नाशात्कार्य-त्वमिति वाच्यम् । 'नास्य जरयैतज्जीर्यती'त्यादिना आत्मरूपताबोधनेनास्याः शङ्कायाः प्रागेव निरस्तत्वात् । न च तदन्यदेव, नेदमिति वाच्यम् । एकप्रकरणगतत्वेन पूर्वं 'एतत्सत्यं ब्रह्मपुर'-

रश्मिः ।

यिकोद्घोषात् । आपत्तिस्तु न तत्सम इति निषेधाद्बोध्या । **अधिकारेति** यत्र यस्याधिकारस्तस्य तत्क्रतुत्वं अन्यस्यातत्क्रतुत्वस्य साधने । **निरवग्रहताया** इति निरङ्कुशतायाः । **स्वातन्त्र्येति** निरङ्कुशतायाः । **इत्युक्त्वेति** भेदाभेदवादादित्युक्त्वा । **सङ्कल्पादिति** छान्दोग्ये 'स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ती'ति दहरविद्यायाम् । **ऐरम्मिति** इराया वारिणः सम्बन्धि न शुष्कम् । 'इरा वारिसुराभूमिभारतीषु प्रयुज्यत' इति विश्वः । इरान्नं तन्मय ऐरः मण्डस्तेन पूर्णमैरं **सरः मदीयं** तदुपयोगिनां हर्षोत्पादकमिति टीकायाम् । **सोमसवन** इति सोमं सूत इति सोमसवनः । नन्द्यादित्वाल्ल्युः । सोमं स्रवतीति सोमसवन इति टीकायाम् । 'सवनं यजने स्नाने सोमनिर्दलनेऽपि चे'ति विश्वः । तेन स्रवतीत्यस्य निर्दलतीत्यर्थः । दल विशरणे भ्वा. प. से. । **तत्रेति** छान्दोग्ये । **ईश्वरायत्तमिति** ऐश्वर्यम् । 'आत्मानमनुविद्य व्रजन्ती'ति पूर्वश्रुत्या स यदीत्यत्र स इत्यस्यात्मानुविदित्यर्थात् । **न वैयर्थ्यमिति** दृष्टान्तार्थत्वाभावान्न वैयर्थ्यमित्यर्थः । **एकदेशस्येति** हिरण्मयस्य । **तथात्वं** कार्यत्वम् । **तृतीयस्यामिति** छान्दोग्ये 'अथ यदिद'मित्यारम्भके प्रपाठकेऽस्ति । **इतो** भूलोकादारभ्यान्तरिक्षं चापेक्ष्य तृतीयस्यां तृतीयत्वेन व्यवस्थितायां **दिवि** द्युलोकाख्ये ब्रह्मलोके अरश्चेत्यादिरस्ति । **प्रागेवेति** दहराधिकरणे । 'जगद्-व्यापारवर्जा'धिकरणे । तृतीयचरणे 'कार्यं बादरि'रित्यधिकरणे च । **न च तदिति** छान्दोग्यीयं दहर-विद्योक्तम् । **नेदमिति** न 'तृतीयस्यामितो दिवी'त्यनया श्रुत्योक्तम् । तथा च 'नास्य जरये'त्यादिहेतुना तृतीयस्यामित्युक्ते नाशनिवृत्तिरिति भावः । **एकप्रकरणेति** मन्दाधिकारिप्रकरणगतत्वेन टीकायां स्पष्टम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

मित्यनेनोक्तस्य ब्रह्मपुरस्य, 'तदरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोक' इत्यादिना परिकरपूर्वकं तत्प्रपञ्चनस्यैव भासमानतया भेदस्य वक्तुमशक्यत्वात् । उपबृंहितं चैतद् वाराहे चातुर्मास्यमाहात्म्ये चतुर्दशाध्याये क्षीरसमुद्रं प्रकृत्य ।

'तन्मध्ये मम लोकस्तु परितो वलयाकृतिः ।
योजनानां तु लक्षाणि विंशतिस्तस्य विस्तृतिः ।
श्वेतद्वीप इति ख्यातः प्रलयेपि न नश्यति' ॥

इत्युक्त्वा, तत्र श्रीभूदुर्गात्मकभागत्रयं तत्परिमाणं संस्थां चोक्त्वा, तत्र भूदुर्गभागयो-स्तत्स्थानां चावान्तरप्रलये नाशाभावमुक्त्वा,

'तस्मिन् स्थाने लयं याते प्रविशन्त्युदरे मम' ।

इति ब्रह्मणो लये भूदुर्गाभागस्थानां स्वोदरे स्थितिमुक्त्वा

'श्रीभागे संस्थिता ये तु न तेषां प्रलये भयम् ।
शाश्वतः स तु मे लोको न नश्येद् ब्रह्मणो लये ॥
मुक्ता एव तु मां तत्र वीक्षन्ते सर्वदैव तु ।
कल्पान्तप्रभवो वह्निर्जलं वा भूमिदुर्गयोः ॥
भागौ न स्पृशते तौ हि चक्रेण परिरक्षितौ ।
तत्रस्थास्तु जनाः सर्वे मोदन्ते सर्वदैव तु ॥
कल्पान्तप्रभवां बाधां न ते जानन्ति जातुचित् ।
श्वेतद्वीपादधस्तात्तु पृथ्वी तिष्ठति पीठवत् ॥
सृष्टौ स्पृशति तद्द्वीपं प्रलये तु वियुज्यते ।
मम शक्त्यैव स द्वीपः सदा तिष्ठति शाश्वतः ॥
भूमिश्रीभागयोर्मध्ये लक्षयोजनविस्तृतः ।
अरनामा सुधाम्भोधिर्मुक्तामुक्तनिषेवितः ॥
अर्धं तस्य तु भूभागः श्रीभागस्यार्धमेव च ।
लक्षयोजनमध्ये तु द्वीपाकारोऽस्ति तत्तटम् ॥
दशयोजनसाहस्रं विस्तृतिस्तस्य कीर्तिता ।
अर्धनाशो भवेत्तस्य प्रलये च पुनः पुनः ॥
अर्धो भागस्तु मुक्तानां क्रीडास्थानं न नश्यति ।
दुर्गाश्रीभागयोर्मध्ये ण्यनामामृतसागरः ॥

रश्मिः ।

तदर इति अरश्च ण्यश्च ह वै प्रसिद्धौ अर्णवौ समुद्रौ वर्तेते इत्यर्थः । **तदिति** पूर्वान्वयि । ब्रह्मचर्येण तदित्यर्थः । **इत्यादिनेति** आदिना 'तृतीयस्यामितो दिवि' 'तदैरम्मदीय॰सर' इत्यादि । **तत्प्रपञ्चनस्येति** 'एतत्सत्यं ब्रह्मपुर'मित्यनयोक्तब्रह्मपुरप्रपञ्चनस्य । **भेदस्येति** 'तृतीयस्यामितो दिवी'त्युक्तस्य ब्रह्माण्डान्तर्वर्तिनो 'नास्य जरये'त्यनयोक्तस्य सत्यब्रह्मपुरस्य च भेदस्य । **तन्मध्य** इति क्षीरसमुद्रमध्ये । **वलयेति** वलयवद्वर्तुलाकृतिः । **योजनं** चतुःक्रोशी । 'योजनं तु चतुःक्रोश्यां योगे च परमात्मनी'ति विश्वः । **विंशतिर्लक्षाणि** अशीतिलक्षक्रोशपरिमिता विस्तृतिः । **कल्पान्तः** ब्रह्मदिनान्तः । **दशेति** चत्वारिंशत्सहस्रक्रोशपरिमिता ।

भाष्यप्रकाशः ।

तस्याप्येवं विभागोऽस्ति नित्यानित्यविभेदतः ।
अरण्याख्यौ सुधासिन्धू धूमलोकत्रयेपि च ॥
वर्तेते मम भक्तानां क्रीडार्थे सर्वकामदौ' ।

इति लोकत्रयं तु वैकुण्ठानन्तासनश्वेतद्वीपभेदेन तत्रैवोक्तम् ।

तेषु छान्दोग्योक्तो वैकुण्ठाख्यो ज्ञेयः । 'तृतीयस्यामितो दिवी'ति विशेषणेन उच्चस्थत्वबोधनादिति । अतः स लोको न कार्यः, किन्तु नित्य एवेति निश्चयः । लोकस्य ब्रह्मरूपत्वादेव च न तत्प्रभोरपि स्वप्रतिष्ठत्वहानिरिति सर्वमनवद्यम् ।

रामानुजाचार्यास्तु, मुक्तस्यैश्वर्यं जगत्सृष्ट्यादिपरमपुरुषासाधारणम्, उत तद्रहितं केवलपरमपुरुषानुभवविषयमिति संशये, जगदीश्वरत्वमपीति पूर्वः पक्षः । 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती'ति श्रुतेर्मुक्तस्य सङ्कल्पत्वश्रुतेश्च । तत्र सिद्धान्तस्तु जगद्व्यापारवर्जं मुक्तैश्वर्यं निरस्तनिखिलतिरोधानस्य मुक्तस्य निर्व्याजब्रह्मानुभवरूपमैश्वर्यम् । तत्र हेतुः 'प्रकरणा'दित्यादि । अर्थस्तु पूर्ववदेव । श्रुतयः परं बह्वय उपन्यस्ताः । अग्रिमसूत्रे च, 'स स्वराड् भवती'त्यादिभिर्जगन्नियमनरूपं व्यापारमाशङ्क्य, 'आधिकारिकमण्डलस्थोक्ते'रित्यस्य अधिकारे नियुक्ता ये हिरण्यगर्भादयो मण्डलं तेषां लोकाः तत्स्था भोगा मुक्तस्याकर्मवश्यस्य भवन्तीत्ययमर्थः 'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती'त्यादिनोच्यते । तथा च कर्माप्रतिहतज्ञानो मुक्तो विकारिलोकान् ब्रह्मभूताननुभवतीत्यनेन वाक्येनोच्यते, न जगद्व्यापार इत्युक्त्वा, अग्रिमसूत्रेषु मुक्तस्य सत्यसङ्कल्पत्वं परमपुरुषसाम्यं च परमपुरुषासाधारणनिखिलजगन्नियमनश्रुत्यानुगुण्येन वर्णनीयमिति साधयन्ति । तेन तन्मतं सिद्धान्ताद् अविरुद्धमित्युपरम्यते ।

तन्मतचौरस्तु, रामानुजाचार्यवदेव सूत्राणि व्याख्याय शिवलोकस्य सर्वतः परत्वं परब्रह्मणः शिवाकारत्वं चोक्तवान् । तत्तु तदुपन्यस्तेन्द्रप्रजापतिसंवादश्रुतेरपि विरुध्यते । तत्र 'स उत्तमः पुरुष' इत्यनेन परज्योतिषः पुरुषोत्तमत्वेन प्रतिपादनात् । अग्रे च 'श्यामाच्छबलं

रश्मिः ।

धूमेति धूमादिमार्गप्राप्यलोकत्रयेपि । **जगत्सृष्ट्यादीति** ऐश्वर्यविशेषणम् । **परमपुरुषेति** सर्वेश्वरत्वम् । **तद्रहितमिति** परमपुरुषासाधारण्यरहितं सर्वेश्वरत्वरहितमित्यर्थः । **केवलं** परमपुरुषसंसर्गजम् । **परमपुरुषेति** साधारणमित्यर्थः । केवलपरमपुरुषेत्यादिसमस्तपाठोऽपि । **सङ्कल्पत्वेति** सत्यसङ्कल्पत्वश्रुतेरित्यर्थः । सत्यसङ्कल्पत्वश्रुतेश्चेति रामानुजभाष्यात् । **अग्रिमेति** प्रत्यक्षोपदेशसूत्रे । **व्यापारमिति** प्रत्यक्षोपदेशादित्यनेनोक्तप्रत्यक्षोपदिष्टम् । **मण्डलं तेषामिति** तेषां मण्डलं लोका इत्यर्थः । **अनेन वाक्येनेति** 'स स्वराड् भवती'ति वाक्येन । **जगद्व्यापार** इति जगज्जन्मादिकर्तृत्वलक्षणः । **अग्रिमसूत्रेष्विति** चतुर्षु । **मुक्तस्येति** तदीयं भाष्यकमिदम् । त्रिसूत्र्यन्ते परमपुरुषसाम्यं सत्यसङ्कल्पत्वमिति पाठो भाष्येऽत्र तु विपरीत इति प्रकाशो भाष्यमिवेतीदं व्याख्यानं भाष्यकमित्युक्तम् । अग्रेनावृत्तिसूत्रम् । **परमेति** कतिपयगुणैर्बोध्यम् । तेन जगद्व्यापारवर्जमेव मुक्तैश्वर्यमीश्वरायत्तं च । **साधयन्तीति** त्रिसूत्र्यामेव साधयन्ति । चतुर्थे तु सूत्रे ईश्वरस्य स्वातन्त्र्येपि न तत्सङ्कल्पान्मुक्तावृत्तिमाहुः **सिद्धान्तादविरुद्धमिति** । तथा च तैरेवोक्तम् 'ब्रह्माभेदोपासनाज्ज्ञानतो वा ब्रह्मात्मैक्येप्यब्रह्मतामत्यजन्तः । यस्यैश्वर्यादासते यन्नियम्यास्तं श्रीकृष्णं देवदेवं नमामी'ति भेदाभेदवादे भेद इव शब्दार्थोत्र । **तन्मतेति** भगवान्छैवाचार्यः । **इन्द्रप्रजापतीति** छान्दोग्ये समाप्तिकेस्ति । **अग्रे**

भाष्यप्रकाशः ।

प्रपद्ये' इत्यादिना श्यामवर्णश्रावणाच्च । लोकोपि ततः पूर्वं दहरविद्योक्त एव सन्निहितः । स चारण्याख्यार्णवद्वयव्याप्तो वाराहपुराणवाक्यैर्भगवल्लोकत्वेन निश्चितः । अथर्वशिरःशिखाद्याश्च विद्याः भगवद्विद्यानां न तुल्याः । 'अथर्वशिरःशिखाध्यायिशतमेकमेकेन मन्त्रराजजापकेन तत्समम्'मिति नृसिंहपूर्वतापनीये श्रावणात् । अतस्तत्प्र[illegible]स्य रूपस्य न भगवत्तुल्यत्वम् । वेद्योत्कर्षत एव विद्योत्कर्षसिद्धेरिति । एतत् सर्वं पूर्वमपि किञ्चिदुक्तं प्रहस्ताख्ये वादे च मया निपुणतरमुपपादितमिति न पुनः प्रपञ्च्यते ।

माध्वास्तु, जगद्व्यापारसूत्रे, 'सर्वान् कामानाप्त्वा अमृतः समभव'दिति काञ्चन श्रुतिं लिखित्वा, तस्या जीवप्रकरणगतत्वाज्जीवानां जगज्जननादिसामर्थ्यविदूरत्वाच्च सृष्ट्यादिभ्योऽन्यानेव कामानाप्नोतीत्युक्त्वा, 'स्वाधिकानन्दसम्प्राप्तौ सृष्ट्यादिव्याप्रृतिष्वपि । मुक्तानां नैव कामः स्यादन्यान् कामाँस्तु भुञ्जते । तद्योग्यता नैव तेषां कदाचित् क्वापि विद्यते । न चायोग्यं विमुक्तोपि प्राप्नुयान्न च कामये'दिति वाराहवचनं लिखन्ति । अग्रिमसूत्रे च, 'सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ती'ति श्रुत्या ब्रह्मविदि जगदैश्वर्यमस्तीत्याशङ्क्य, तत्र आधिकारिकमण्डलस्थ आधिकारिकसमूहाधिपतिर्ब्रह्मा, तत्रोच्यत इत्युक्त्वा, 'आत्मेत्येवं परं देवमुपास्य हरिमव्ययम् । केचिदत्रैव मुच्यन्ते नोत्क्रामन्ति कदाचन । अत्रैव च स्थितिस्तेषामन्तरिक्षे च केचन । केचित् स्वर्गे महर्लोके जने तपसि चापरे । केचित् सत्ये महाज्ञाना गच्छन्ति क्षीरसागरम् । तत्रापि क्रमयोगेन ज्ञानाधिक्यात् समीपगाः । सालोक्यं स्वस्वरूपत्वं सामीप्यं योग एव च । इमामारभ्य

रश्मिः ।

चेति छान्दोग्ये दहरादिविद्याङ्गभूतजपादिविधानार्थं मन्त्रोयम् । **श्यामाच्छ्कृष्णाच्छबलं** आकाशशबलमाकाशशरीरं ब्रह्मलोकं प्रपद्ये गच्छामि । शबलाच्छ्याममिति व्यतिहारः । **इत्यादिनेत्यादिना** 'अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवाम्यभिसम्भवामीती'ति । अर्थस्तु तत्प्राप्तिमनेकदृष्टान्तेनाह अश्व इवेति । यथा अश्वो रोमाणि विधूय कम्पनेन श्रमं पार्श्वादि च रोमतोपनीय निर्मलो भवति तथा हार्दब्रह्मज्ञानेनोपासको ह शरीरं धूत्वा पापं धर्माधर्माख्यं विधूयापनीय निर्मलः सन्, चन्द्र इवेति यथा राहुग्रस्तश्चन्द्रो राहोर्मुखात्प्रमुच्य भास्वरो भवति विद्यमानस्वस्वरूपो भवत्येवमुपासको ह शरीरं धूत्वा इहैव ध्यानेन कृतात्मा कृतकृत्यः सन् अहमकृतं ब्रह्मलोकं नित्यं अभि अभितः मार्गभेदेन सम्भवामि प्राप्नोमि । द्विरुक्तिः कर्माभिप्राया । ज्ञानिनामक्षरे लयान्न नित्यब्रह्मलोकप्राप्तिः । इतिशब्दो ध्यातुर्ध्यानसमाप्त्यर्थः । अभ्यासो मन्त्रसमाप्त्यर्थोपि । आकाशशरीरं कथं ब्रह्मलोक इत्याकाङ्क्षायामग्र आह छान्दोग्य एव 'आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिते'त्यादिना लोकप्रयोजकत्वमाकाशस्योक्तम् । **अरण्याख्येति** अरश्च ण्यश्च अरण्यौ, अल्पाक्षरं पूर्वमित्यस्य छन्दसि विकल्पः, तौ आख्या यस्यार्णवद्वयस्य तेन व्याप्तः । **विद्या** इति शिवविद्याः । **भगवद्विद्यानामिति** भगवद्विद्याभिरित्यर्थः । कर्मादीनामपि सम्बन्धसामान्यविवक्षायां षष्ठ्येवेति । **पूर्वमिति** द्वितीयाधिकरणे 'एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायण' इति सूत्रभाष्ये । **समभवदिति** उपासको भक्तो वा । **तद्योग्यतेति** सृष्ट्यादिव्याप्रृतियोग्यता । **सर्वेऽस्मा** इति अस्मै नित्यक्रीडायुक्ताय ब्रह्मणे । **इत्याशङ्क्येति** प्रत्यक्षोपदेशा'दिति सूत्रांशेनाशङ्क्य । **तपसीति** तपोलोके । **मुच्यन्त** इति सद्योमुक्तिं कुर्वते । **नोत्क्रामन्तीति** देहेभ्यो नोत्क्रामन्ति । **अत्रेति** भूलोके । **क्रमयोगेनेति** क्रममानेनेत्यपि पाठः । **योग एवेति** 'भक्त्या प्रसन्ने तु हरौ तं योगेनैव योजये'दित्युक्तम् । **इमामिति**

भाष्यप्रकाशः ।

सर्वत्र यावत्सु क्षीरसागरम् । पुरुषोऽनन्तशयनः श्रीमन्नारायणाभिधः । मानुषा वर्णभेदेन तथैवाश्रमभेदतः । क्षितिपा मनुष्यगन्धर्वा देवाश्च पितरश्चराः । आजानजाः कर्मजाश्च तात्त्विकाश्च शचीपतिः । रुद्रो ब्रह्मेति क्रमशस्तेषु चैवोत्तमोत्तमाः । नित्यानन्दे च भोगे च ज्ञानैश्वर्यगुणेषु च । सर्वे शतगुणोद्रिक्ताः पूर्वस्मादुत्तरोत्तरम् । पूज्यन्ते चावरैस्ते तु सर्वपूज्यश्चतुर्मुखः । स्वजगद्व्यापृतिस्तेषां पूर्ववत् समुदीरिता । सयुजः परमात्मानं प्रविश्य च बहिर्गताः । चिद्रूपान् प्राकृताँश्चापि विना भोगांस्तु काँश्चन । भुञ्जते मुक्तिरेवं ते विस्पष्टं समुदाहृते'ति गारुडवाक्यानि लिखन्ति ।

तेन तन्मते मुक्तानां मुक्तेश्च तारतम्यं सिध्यति ।

विकारावर्तिसूत्रे च 'स्वाधिकारेण वर्तन्ते देवा मुक्तावपि स्फुटम् । बलिं हरन्ति मुक्ताय विरञ्च्याय च पूर्ववत् । सब्रह्मकास्तु ते देवा विष्णवेऽत्र विशेषतः । न विकाराधिकारास्तु मुक्तानामन्य एव तु । विकाराधिकृता ज्ञेया ये नियुक्तास्तु विष्णुने'ति वाराहवचनं लिखन्ति ।

तेन तन्मते मनुष्यादीनां चतुर्मुखान्तानां स्वस्वव्यापारकरणं तत्राधिकारश्च सिध्यति ।

कश्चित्तु, मुक्तौ तारतम्यमस्ति, न वेति सन्देहे तारतम्ये प्रमाणाभावात्तदङ्गीकरणे च 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती'ति श्रुतिविरोधान्मुक्तेः स्वर्गसंसारसाम्यापत्तेर्मुक्तानां स्वसमाभ्यधिकदर्शने दुःखेर्ष्यादिप्रसङ्गाच्च न मुक्तेस्तारतम्यमिति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु तैत्तिरीये, 'सैषानन्दस्य मीमाꣳसा भवति ते ये शतं मानुषा आनन्दाः स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाऽकामहतस्ये'त्यादिश्रुत्या मनुष्यगन्धर्वप्रभृतिब्रह्मान्तानां श्रोत्रियत्वमकामहतत्वं च श्रावितम् । वाजसनेयके च, 'अथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानजानां देवानामानन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहत' इत्यादिश्रुत्याजानजानारभ्य ब्रह्मलोकस्थानन्दपर्यन्तमकामहतत्वमवृजिनत्वं च श्रावितम् । अकामहतत्वं च कामकृतोपद्रवरहितत्वम्, न त्वकामत्वं हतशब्दवैयर्थ्यात् । अवृजिनत्वं च पापरहितत्वं दुःखरहितत्वं वा । अवृजिनत्वाकामहत-

रश्मिः ।

भूमिस् । यावत्सु वस्तुषु । क्षीरसागरं लक्ष्यीकृत्य । चिरा[1]ः पुराणाः । शचीपतिरिन्द्रः । स्वजगदिति तृणारणिमणिन्यायेन तत्तद्ब्रह्माण्डान्तरेष्वियं बोध्या । पूर्ववदिति ब्रह्मवत् । ते समुदीरिताः । सयुज इति सह युनक्तीति सयुक् जसि सयुजः । चिद्रूपान् रौद्रान् । 'वेदः शिवः शिवो वेद' इति श्रुतेः । सदानन्दः कृष्णः चिच्छब्दः 'नामचिद्धिवक्तने'त्यृग्वेदश्रुतेः । प्राकृतान्मायिकान् मानसान् 'माया मनः सृजती'ति श्रीभागवतात् । विनायोगे द्वितीया मानसान्प्राकृतान् भोगान् विना । त इति । अर्थो गरुडपुराणाज्ज्ञातव्यः । पूर्ववदिति चतुर्थ्यन्ताद्वतिः । ब्रह्मवत् । 'विकारावर्ति चे'ति सूत्रार्थः । न विकाराधीति ते न विकारावर्तिनः किन्तु मुक्तानां मध्येऽन्ये तरतममुक्तिं प्राप्ता एवेत्यर्थः । 'तथाहि स्थितिमाहे'ति सूत्रांशार्थः विकाराधीति । नियुक्ता इति आज्ञाद्वारा वैधे नियुक्ताः । कश्चित्त्विति माध्वा इत्येव । सिद्धान्तस्त्विति वदन्तीत्यग्रेऽन्वयः । श्रोत्रियत्वमिति श्रोत्रियश्छन्दोधीते यः सः । अवृजिनत्वेति मुक्तलिङ्गत्वमित्यनेनान्वयः ।

१. चरा इति प्रकाशपाठः ।

भाष्यप्रकाशः ।

त्वयोश्च 'यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधी'ति श्रुत्या, 'स हि मुक्तोऽकामहत' इति ब्रह्माण्डवाक्येन च मुक्तलिङ्गत्वम् । न चैतयोरपरोक्षज्ञानिलिङ्गत्वमिति शङ्क्यम् । प्रारब्धपापतत्कार्यदुःखयोस्तस्मिन्नपि सत्त्वात् । श्रोत्रियत्वमपि मुक्तस्यैव मुख्यम् । 'प्राप्तश्रुतिफलत्वात्तु श्रोत्रियाः प्राप्तमोक्षिणः । ते एव चाप्तकामत्वात् तथाऽकामहता मता' इति भारतोक्तेः । एवं सत्येतेषां मुक्तलिङ्गत्वम् । एवं सत्येतयोः श्रुत्योरुत्तरोत्तरमानन्दाधिक्यकथनं मुक्तितारतम्ये पर्यवस्यति । किञ्च 'अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वऽसमा बभूवु'रित्यादितैत्तिरीयश्रुतौ मनोवेगे सर्वेषामसाम्यकथनात्, 'मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः स दुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने' इति श्रीभागवतवाक्ये, 'मुमुक्षोरमुमुक्षुस्तु परो ह्येकान्तभक्तिमा'निति पुराणान्तरवाक्ये, 'अन्ये त्वेवमजानन्त' इति, 'स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा' इति गीतावाक्ये च साधनतारतम्येन फलतारतम्यप्रतिपादनात्, 'अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी'ति वाक्ये चाल्पभक्तिसाध्यमुक्तितोऽधिकभक्तिसाध्यमुक्तेराधिक्यप्रतिपादनात्, अस्मदादिमुक्तभोगो, मुक्तचतुर्मुखभोगान्निकृष्टः, अस्मदादिभोगत्वात्, संसारस्थास्मदादिभोगवदित्यनुमानादपि मुक्तौ तारतम्यमेव पर्यवस्यतीति प्रमाणाभावरूपो हेतुरसिद्धः । दुःखाभावसत्यकामत्वादिना सरःसागरयोरिव स्वयोग्यानन्दपूर्त्या च मुक्तानां ब्रह्मसाम्ये साम्यश्रुत्युपपत्तेस्तद्विरोधरूपो हेतुरप्यसिद्धः । बहुजन्मभिर्गतदोषत्वे ब्रह्मापत्तेक्षाद् द्वेषेर्ष्यादिसम्भावनाया एवाभाव इति सोऽप्यसिद्धः । अतो मुक्तितारतम्यं निष्प्रत्यूहमिति वदन्ति ।

तत्र यदि मुक्तेस्तारतम्यम्, तदापि मुक्तिं प्रति तत्तदुपासनाया भक्तेर्वा तदनुरूपाया एव कारणत्वमिति तत्क्रतुन्यायादेव तारतम्यक्रमादिसि[illegible]ते किमनेन विचारेणेति प्रकृतानुपयोगात्तदनुचिन्तनप्रयोजनस्याप्यनुपलब्धेश्च तत्र वयमुदासीनाः ।

प्रकृतमनुसरामः । अत्रैतत् सिद्धम् । ज्ञानमार्गीयाणां तद्रीत्याऽदृश्यत्वादिगुणकाक्षरोपासने तत्क्रतुन्यायेन तादृशेऽक्षरे 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽप्येती'तिश्रुत्युक्तो लयः । अक्षरस्य,

रश्मिः ।

एतयोरिति अवृजिनत्वाकामहतत्वयोः । तस्मिन्निति ज्ञानिनि । प्राप्तमोक्षिणो मुक्ताः । एतेषामिति श्रोत्रियत्वाकामहतत्वावृजिनत्वानाम् । एतयोरिति तैत्तिरीयवाजसनेयकयोः । सर्वेषामिति अक्षण्वतां कर्णवतां सखीनाम् । अन्ये त्वेवमिति 'श्रुत्वान्येभ्य उपासत' इति द्वितीयचरणः । प्रमाणाभावेति इमे हेतवः कश्चित्त्वित्यादिनोक्ताः । असिद्ध इति मुक्तिः तारतम्याभाववती तारतम्ये प्रमाणाभावाच्छ्रुतिविरोधाद्दुःखेर्ष्यादिप्रसङ्गाज् जनकवद् व्यतिरेके जयविजयवत् । मुक्तिस्तारतम्यवती प्रमाणसत्त्वाच्छ्रुतिविरोधाभावाद् दुःखेर्ष्यादिप्रसङ्गाभावादुक्तभक्तवद् व्यतिरेके ज्ञानिवद् इति सत्प्रतिपक्षत्वेऽपि स्वरूपासिद्धः । सिद्धान्तवाक्यैः झटिति स्वरूपासिद्धिबोधात् । द्वितीये हेतुसम्बन्धिविचारमाहुः दुःखाभावेति । सोपीति दुःखेर्ष्यादिप्रसङ्गरूपो हेतुरपि ।

तत्क्रतुन्यायेनेति अप्रतीकालम्बनसूत्रोक्तेन । तादृश इति ज्ञानिनामक्षरत्वेनोपस्थितेऽक्षरे । ब्रह्मैव सन्निति सामीप्यमुक्त्या ब्रह्मैव सन् बहिःप्रकटे निर्विशति सद्योमुक्तिं प्राप्नोतीत्यर्थे भक्तिमार्गे, ज्ञानेनाविद्यानिवृत्तौ सायुज्याद्ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीत्युपचर्यते । यद्वा । युक्तः सन् भक्तिलाभे ब्रह्माप्येति परब्रह्मसामीप्यमप्येति गच्छति ज्ञानीत्यर्थः । अक्षरत्वेनोपस्थितिमुक्त्वा

१. श्रुत्वा ।

भाष्यप्रकाशः ।

'तद्धाम परमं ममे'ति वाक्योक्तभगवद्धामत्वज्ञानपूर्वकं नित्यभगवल्लोकत्वेन भगवदभिन्नत्वेन दहराद्युक्तरीत्योपासने यथाधिकारं सालोक्यादिचतुष्टयप्राप्तिः । आदित्याद्युपासनानामङ्गोपासनात्वात् पञ्चाग्न्युपासनाया अपि तत्रैव प्रवेशस्योपपादितत्वादर्चिरादिक्रमेण गत्वाऽमानवेन पुरुषेण भगवल्लोकप्राप्तिरैश्वर्यादिभोगश्च । उपासनायां मर्यादाभक्तिसाहित्ये तु वैकुण्ठादिलोकेषु भगवत्सेवकत्वमधिकम् । तदा रामानुजभाष्योक्तरीत्या भगवदनुभवः । तत्रापि भक्तेरुत्कर्षे तु भगवच्चरणे कौस्तुभादौ वा प्रवेशेन भगवत्सायुज्यम् । अनुग्रहविशेषेण पुष्टिभक्तौ तु, 'भक्त्या मामभिजानाती'त्युक्तरीत्या स्वस्मिन् प्रवेश्य भूमविद्योक्तरीत्या पुनः प्रथममाविर्भाव्य भजनानन्दानुभावने 'सोऽश्नुत' इति श्रुत्युक्तरीतिकं भोगं कारयतीति ॥ २२ ॥

इति पञ्चमं जगद्व्यापाराधिकरणम् ॥ ५ ॥

रश्मिः ।

भक्तिमार्गेऽक्षरस्य भगवद्धामत्वेनोपस्थितौ या मुक्तिस्तामाहुः । **अक्षरस्येति** । **नित्यभगवल्लोकत्वेनेति** न त्वक्षरत्वेन । **दहरादीति** तत्रापि पूर्वोक्तरीत्या । आदिनात्मबोधोपनिषत् । तट्टीका मयापि कृता । **सालोक्यादीति** सालोक्यानन्तरमक्षरात्मकदेहे सार्ष्टिः *भगवत्समाना ऋष्टिः* गतिरलौकिकसामर्थ्यम्, तया सामीप्यम्, ततः सारूप्यमलकादिषु लयः । सालोक्यभुक्तिविशेषत्वात् । एतच्चानावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दादिति सौत्रवीप्सया स्मृतम् । चतुर्णां पादानां विचारितार्थानाहुः **आदित्याद्युपासनानामिति** । **उपपादितत्वादिति** तत्रैव भाष्यप्रकाश उपपादितत्वात् । एवं प्रथमपादविचारितार्थमुक्त्वा द्वितीयपादविचारितार्थमाहुः **अर्चिरादिक्रमेणेति** । तृतीयपादविचारितार्थमाहुः **अमानवेनेति** । चतुर्थपादविचारितार्थमाहुः **उपासनायामिति** । उपासनयाधिदैविकचित्तशुद्धौ जातायां मर्यादायाः साहित्ये तु सा च वेदोक्तातिविस्तरे तु स्कन्दपुराणीयचातुर्मास्यमाहात्म्योक्ता विस्तृता । विस्तृतायामप्यनधिकारे श्रीभागवतैकादशस्कन्धैकोनविंशोक्ता श्रुतात्मनिवेदने श्रवणादिसरणिरूपा । 'श्रीकृष्णः शरणं मम' इति शरणमन्त्रस्तु ज्ञानमार्गे सकामे, ब्रह्माहमस्मीति मन्त्रवत् । भक्तिमार्गेऽभेदाभावादक्षरस्य चाभावात् सच्चिदानन्दः श्रीकृष्णः ममाक्षरात्मकस्य सेवकस्य स्वामी शरणं रक्षिता इत्यनुसन्धानं कर्तव्यम् । तदुक्तम् 'तस्मात्सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम । वदद्भिरेवं सततं स्थेयमित्येव मे मति'रिति परमार्थविदाचार्यैः । **तत्रापीत्यादि** मर्यादाभक्तावपि । **उत्कटत्वे** व्यसनात्मकत्वे । **भगवच्चरणे** इति मर्यादापुरुषोत्तमचरण इति साधनभक्तिविचारेणोक्तं भक्त्यात्मकचरणप्रवेशेनेति । जीवविचारेण त्वाहुः **कौस्तुभादाविति** 'जीवस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठ' इति वाक्यात् । आदिना चैद्यज्योतिषो मुक्तिस्थलम् । 'वृत्रदेहोत्थितं ज्योतिर्वासुदेवमुपाविश'दिति वृत्रमुक्तिस्थानं च । 'यतो वाच' इति श्रुत्या पुष्टिस्थस्याविषयत्वाद् वागविषयो व्याख्यातः । 'अक्षरं ब्रह्म परमं वेदानां स्थानमुत्तमम्' इति वाक्यात् । वासुदेवस्याक्षरत्वं वेदप्रतिपाद्यत्वात् । 'वासुदेवः परं ब्रह्म एष छन्दसि पठ्यत' इति ज्योतिर्ग्रन्थवाक्यात् । पुरुषोत्तमस्तु भक्तैः सह निगूढभावकरणं करोति । तस्य स्वरूपात्मकहास्यचरणादौ वा । पुरुषोत्तमविचारेण त्वाहुः **अनुग्रहेति** । **स्वस्मिन्निति** चरणे कौस्तुभादौ वा प्रवेश्य । **भूमविद्येति** छान्दोग्ये नारदसनत्कुमारसंवादेऽस्ति । **पुनरिति** । 'तस्य वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशे'त्यादिना तथा । भोगाक्षेप्याविर्भावादिरिति चेत्तर्हि पुनःपदेनाक्षेप्याविर्भावतिरोभावापेक्षया पुनः पृथगाविर्भाव उच्यत इत्यदोषः ॥ २२ ॥ इति **पञ्चमं जगद्व्यापाराधिकरणम्** ॥ ५ ॥

जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्सङ्गलालितम् ।
तदन्यदिति ये प्राहुरासुराँस्तानहो बुधाः ॥ १ ॥
नानामतध्वान्तविनाशनक्षमो
वेदान्तहृत्पद्मविकासने पटुः ।
आविष्कृतोऽयं भुवि भाष्यभास्करो
मुधा बुधा धावत नान्यवर्त्मसु ॥ २ ॥
पुरन्दरमदोद्भवप्रचुरवृष्टिसम्पीडित-
स्वकीयवरगोकुलायनपरायणो लीलया ।
स्मितामृतसुवृष्टिभिः परिपुपोष तान् यो गिरिं
दधार च स एव हि श्रुतिशिरस्सु संराजते ॥ ३ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

एवं सर्वं शास्त्रं व्याख्याय स्वीयशिक्षार्थं सङ्क्षेपेण तदर्थमुपदिशन्ति **जानीतेत्यादि** । **तदन्यदिति** । तत् परमं तत्त्वम् । अन्यत् यावद्धर्मशून्यम् ॥ १ ॥

भाष्यविभावनार्थमुपदिशन्ति **नानेत्यादि** ॥ २ ॥

अत्रोक्तस्य फलस्य भगवत्कृपाधीनत्वाद्भगवतः कृपालुत्वं स्वीयरक्षकत्वेन स्फुटीकुर्वन्ति **पुरन्दरेत्यादि** । **हिर्हेतौ** ॥ ३ ॥

रश्मिः ।

शास्त्रमिति उपाङ्गमीमांसाशास्त्रम् । अवयवेष्वपि शास्त्रत्वमविरुद्धम् । षट् शास्त्राणि । **सङ्क्षेपेणेति** सन्दिग्धवाक्यानां मीमांसाविषयत्वाद्विस्तरे बुद्ध्यनिवेशाच्च सङ्क्षेपेण शास्त्रार्थम् । **जानीतेत्यादीति** । फलाध्याये प्रतिपादितं सन्दिग्धफलमुपदिशन्ति आज्ञापयन्ति यथा स्वमार्गीयैः स्वार्थान्न नश्येत् । आचार्याज्ञोल्लङ्घनं महापराध इति । **तत् परमं तत्त्वम्** । **अन्यत्** यशोदोत्सङ्गलालिताद्न्यत् भिन्नं **यावद्धर्मशून्यम्** । हे **बुधा आसुरान्** तामसान् अभिन्ने भिन्नत्वबुद्धीन् **तान्** जानीतेत्युपदेशः ॥ १ ॥ **नानेत्यादीति** । नानामतानि अन्यभाष्यीयाणि ज्ञेयानि । नानामतैर्ध्वान्तः सूत्रार्थाप्रकाशस्तस्य **विनाशने क्षमः** समर्थः । भावे ल्युट् विनाशन इत्यत्र, क्षम इत्यत्र पचाद्यच् । **वेदान्तेति** । उपनिषत्सिद्धान्तविकाशने । **भाष्येति अणुभाष्यभास्करः** । नामैकदेशग्रहणम् । भास्करपदेन ब्रह्मज्ञानेऽधिकारि अणुभाष्यमिति द्योतितम् । **धावतेति** । भाष्यविभावनार्थमुपदेशः आज्ञा । फलानन्तरं भाष्यविभावनोक्त्या ज्ञापयन्ति । आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव भाष्येण विचिन्तयेदिति । **तदुक्तं** सिद्धान्तमुक्तावल्यां 'तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः । आत्मानन्द समुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तये'दिति ॥ २ ॥ **भगवत्कृपेति** । कृपा प्रथमचतुर्थचरणे 'सूक्ष्मं तु तदर्हत्वा'दिति सूत्रभाष्ये महतः परं निवेशिता । 'कृपाविष्टः साधनं' भगवान् तत्कृपा 'तदन्तरप्रतिपत्ता'वित्याद्युक्तसाधने ब्रह्मात्मके परम्परया वर्तत इत्याशयेन कृपालुत्वम् । भगवत्कृपया भाष्यं कृतमिति । 'इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृत'मिति न्यायेन । 'दत्त्वाज्ञां च कृपावलोकनै'रिति प्रथमसुबोधिन्याम् । पुष्टिमार्गीयत्वेन स्वेषामाहुः **स्वीयरक्षकत्वेनेति** । **गिरिं दधारेति** पदतात्पर्यार्थः । पदद्वयार्थानुसन्धाने बीजमग्रे वाच्यम् । **पुरन्दरेत्यादीति** । **स्मितामृतेति** स्मितं श्रीरामचन्द्रः हास्यरूपत्वाद्, अमृतमानन्दः तयोः **सुवृष्टिभिः** दानेन । **तान्** पुष्टभक्तान् । गिरिं दधारेति । ननु गोपाल-

श्रीकृष्णकृपयैवायं सिद्धान्तो हृदि भासते ।
तेनाधिकं वरीवर्ति न वक्तव्यं हरेर्नृणाम् ॥ ४ ॥
भाष्यपुष्पाञ्जलिः श्रीमदाचार्यचरणाम्बुजे ।
निवेदितस्तेन तुष्टा भवन्तु मयि ते सदा ॥ ५ ॥

इति श्रीमद्वेदव्यासमतवर्तिश्रीवल्लभाचार्यविरचिते श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ॥ ४ ॥

समाप्तश्चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

भाष्यविभावनयार्थस्फुरणेपि भगवत्कृपाया एव कारणत्वम्, न पाण्डित्यादेरित्याशयेनाहुः **श्रीकृष्णेत्यादि** ॥ ४ ॥

गुणोपसंहारपादमारभ्य सार्धाध्यायस्य स्वयं करणात्सदाचार्येषु निवेदयन्तः समाप्तौ मङ्गलं कर्तव्यमिति शिष्टाचारं च शिक्षयन्त आचार्याणां प्रसादमाशासते भाष्येत्यादि । अर्थस्तु श्लोकानां स्फुट इति शुभम् ॥ ५ ॥

क्रीडन् श्रीबालकृष्णः परमकरुणया मन्मनः प्रेरयित्वा
भाष्यार्थं योऽतिगूढं प्रकटितमकरोत् सम्प्रदाये निवृत्ते ।
तं नित्याकुण्ठशक्तिं वृतनिखिलनिजाज्ञानसंसारहारं
स्मृत्वा स्मृत्वोपकारं प्रमुदितमुदितः स्वप्रभुं सन्नमामि ॥ १ ॥

रश्मिः ।

तापिनीये 'गोपिकानयनाम्भोजमालिने नृत्यशालिने' इति नमनं फलात्मकस्योक्त्वा यद्यपि गिरिधराय चेति साधनरूपमुक्तम् । तथापि 'नमः प्रणतपालाये'त्यस्यानुक्तौ बीजं स्वरूपमर्यादां परित्यज्य भक्तमनोरथपूरकत्वेनोपकारस्मरणम् । पादसेवनवत् । **श्रुतिशिरःस्विति** वेदान्तेषु । 'ऋचां मूर्धानं यजुषामुत्तमाङ्गं साम्नां शिरोथर्वणां मुण्डमुण्ड'मिति वाक्यात् । **संराजत** इत्यपि श्रद्धाविशेषात् । प्रथमं पादसेवनं पश्चादन्याङ्गसेवनमिति ॥३॥ **श्रीकृष्णेत्यादीति** । **तेन सिद्धान्तेनाधिकं वरीवर्ति** तथापि **हरेर्नृणां** नृभिर्न **वक्तव्यम्** । यत एतावतैव परमार्थसिद्धेऽधिकवचने गौरवादिति भावः ॥४॥ **निवेदयन्त** इति यत्करोषीति स्मृतेः । **कर्तव्यमिति** ग्रन्थादौ ग्रन्थमध्ये ग्रन्थान्ते कृतमङ्गलानि शास्त्राणि प्रथन्त इति सदाचारात्कर्तव्यम् । **प्रसादमिति** तोषम् तेन 'अलौकिको हि वेदार्थो न युक्त्या प्रतिपद्यते । तपसा वेदयुक्त्या च प्रसादात्परमात्मन' इति श्रुत्युक्तसाधनसम्पत्तिम् । **स्फुट** इति । **श्रीमदाचार्येति** श्रीमन्त आचार्याः श्रीमदाचार्याः व्यासचरणाः । आचार्यभाष्यपक्षे । श्रीमद्गोस्वामिभाष्यपक्षे श्रीमदाचार्याः श्रीवल्लभाचार्या इति सर्वं **शुभम्** ॥ ५ ॥

स्वयं मङ्गलश्लोकान्निबध्नन्ति स्म **क्रीडन्नित्यादिना** । प्रकृतिजातिः । 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धराकीर्तितेयम्' । बालश्चासौ कृष्णः सदानन्दः 'नैश्चिन्त्यं वाचि पूर्वव'दिति सुबोधिन्या 'समान एवं चाभेदा'दिति सूत्रेणावतारिवदवतारेपि मङ्गलघटकत्वेपि स्वसेव्यस्वरूपनमनात्मकमपि मङ्गलमिदम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

मायावादादिवादैर्व्यवहितमिव तं ब्रह्मवादं प्रकाश्य
श्रीमत्कृष्णाज्ञया तद्रतिपथ उदितो दैवजीवावनार्थम् ।
यैस्तान् श्रीकृष्णरूपान् प्रथितगुणगणान् श्रीमदाचार्यवर्यान्
ध्यायं ध्यायं नमामि स्वहितमवहितस्तत्कृपादृष्टिवृष्ट्या ॥ २ ॥
श्रीविट्ठलेशाङ्घ्रिसरोजयुग्मं नमामि यैर्दासजनावनाय ।
पुष्टिप्रकारः श्रुतिगूढ आविष्कृतो निरस्तोन्मदमायिवादः ॥ ३ ॥

रश्मिः ।

भाष्योक्तबालत्वात् तस्य तुरीयत्वात् सोबिभेदिति श्रुतिलिङ्गात् । तदुक्तम् 'व्रजे स बालको भूत्वा क्रीडते पुरुषोत्तम' इति श्रुतेः । किञ्च एकादशस्कन्धविंशाध्याये 'यमादिभिर्योगपथैरान्वीक्षिक्या च विद्यया । मदर्चोपासनाभिर्वा नान्यैर्योग्यं स्मरेन्मन' इति वाक्य ईश्वरवाक्ये मदर्चोपासनाया योग्यस्मारकत्वपर्यवसानात् । यथा 'शङ्खचक्रं मृदा यस्तु कुर्यात्तप्तायसेन वा । स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मण' इत्यत्र तप्तायसे निषेधपर्यवसानं तद्वत् । न च तप्तायसेन शङ्खचक्रादिकृतौ निषेधपर्यवसानमिति वाच्यम् । निषेधोस्तु तत्पर्यवसानं तु दुर्घटमिति । एवं स्वसेव्यस्वरूपेन्यत्रापि बोध्यम् । **अतिगूढमिति** 'गूढं ब्रह्मणि वाङ्मय' इति तृतीयस्कन्धात् सोश्नुते सर्वान्कामानित्यतिगूढम् । **निवृत्त** इति ननु 'तदुक्तमपि दुर्बोधं सुबोधं स्याद्यथा तथा । तन्नामाष्टोत्तरशतं प्रवक्ष्याम्यखिलाघहृ'दिति तच्छरणानां कथं सम्प्रदायनिवृत्तिरिति चेन्न, श्रवणादिसरणिरूपसाधनसत्त्वेपि निःसन्देहसाधननिवृत्तेः निःसन्देहसाधनसहिते सम्प्रदाये निवृत्त इत्यर्थः । विशेषणनिवृत्तिरत्र शिखी ध्वस्त इत्यत्र शिखामात्रध्वंसे शिखिनि ध्वस्त इति प्रयोगवत् । समन्वयापदेशेन नित्याकुण्ठशक्तित्वं सिध्यति । अविरोधोपदेशेन वृतानां निखिलानां निजानामज्ञानेन, अत्र सेवासंसाराऽज्ञानमपि निविष्टम् । यः संसारोऽहन्ताममतात्मकः सेवासम्बन्धशून्यः तस्य हरमेव **हारम्** । साधनोपदेशेन **उपकारं स्मृत्वा** । फलोपदेशेन **प्रमुदितमुदितः स्वप्रभुमा**त्मसहितं श्रीमदाचार्यं सप्तस्वरूपिणम् ॥१॥ इत्येकेन श्लोकेन मङ्गलासिद्धौ प्रचुरतरविघ्ननिवारणाय श्लोकान्तराण्याहुः । **मायावादादीति** । आदिना सप्तवादा अन्ये । शङ्करभास्करमाध्वविज्ञानेन्द्रभिक्षुरामानुजशैवनिम्बार्काचार्यप्रणीताः । **इवेति** । इव वर्तमानम् । **प्रकाश्येति** भगवदाज्ञया सृष्ट्यर्थं भगवत्सङ्गोपने शङ्कराचार्यादिभिः कृत भगवदाज्ञया यदा रामानुजमाध्वाभ्यां भगवत्सङ्गोपनेऽवृत्ते स्वयं मुखारविन्दरूप आविर्भूय 'नृप स्वात्मैव वल्लभ' इति वल्लभाचार्यः, भगवत्सङ्गोपननिवारकं ब्रह्मवादं प्रकाश्येत्यर्थः । **रतिपथमिति** भक्तिमार्गे 'श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यती'ति वाक्ये भक्तिरुक्ता सा त्वानन्दधर्मो न मार्गः । मार्गत्वार्थमन्यसम्मेलने प्राप्ते भूमौ श्रद्धा तस्यां प्रेमलक्षणभक्तिसम्बन्धे आध्यात्मिकरतिपथं यथा भवति तथोदितः स्वहितं अभिरूपम् । 'नास्ति मद्धितसमं मित्रं' इति वाक्यात् । **तत्कृपादृष्टिर्ज्ञानेन्द्रियं तद्वृष्ट्या** तत्सम्पादितज्ञानैः । प्रकृतिजातिः । स्रग्धराछन्दः ॥२॥ 'आत्मा वै पुत्रनामासी'ति प्रसुनमनेनैव श्रीगोपीनाथजिन्नमनसिद्धौ श्रीगोस्वामिनो नमन्ति **श्रीविट्ठलेशेति** । उपजातिः । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः । **पुष्टिप्रकार** इति । यद्यपि विद्वन्मण्डने मर्यादायामेव स्थेयमित्युक्तम् । भक्तिहंसे च भक्तिमार्गः श्रवणादिसरणिरूप इत्युक्तम् । तथापि गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्यय इति ज्ञापितम् । **श्रुतिगूढ** इति । 'तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः । अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशꣳस मा न आयुः प्रमो-

---

१ रश्मावेकत्र रतिपथमिति क्रियाविशेषणमन्यत्र रतिपथ उदित इति पाठद्वयमादृतम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

श्रीविट्ठलेशपादाब्जप्रसादवरलाभतः ।
प्रकाशमणुभाष्यस्य वितन्वन् पुरुषोत्तमः ॥ ४ ॥
तदीयचरणद्वन्द्वे निवेद्य कुसुमाञ्जलिम् ।
तदीयदास्यलाभाय प्रसादमभिवाञ्छति ॥ ५ ॥
यदत्र सदसद्वापि जीवबुद्ध्या मयोदितम् ।
तत् क्षमन्त्वपराधं मे कृपया दीनवत्सलाः ॥ ६ ॥
प्रलयजलदवृष्टेर्गोव्रजस्यावनाय
स्वमृदुकरनखाग्रन्यस्तगोवर्धनाद्रिः ।
वदनविधुमयूखैर्नेत्रतापं निजाना-
मपनयतु हृदीशः स्थापयन् पादपद्मम् ॥ ७ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणनखचन्द्रनिरस्तहृदयध्वान्तस्य श्रीपीताम्बरा-त्मजस्य पुरुषोत्तमस्य कृतौ भाष्यप्रकाशे चतुर्था-ध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥ ४ ॥

समाप्तोऽयमध्यायः सम्पूर्णश्चायं भाष्यप्रकाशः ।

रश्मिः ।

धी'रित्यत्र गूढः । श्रुत्यर्थस्तु तत् तस्मात् त्वा त्वां यामि पद्भ्यां सेवे ब्रह्मणा हिरण्यगर्भेण वन्द्यमानः अमः सुः, वन्द्यमानम् । मानसीसेवापूर्त्यै । मानसीसेवां ब्रह्मा प्रत्यहं करोतीति यजमानो दैशिक-स्तत् तच्छब्दार्थमाशास्ते हविर्भिः मदर्चोपासनासम्बन्धिभिः अहेडमानोऽनादरकर्ता न छान्दसः अनात्मनिवेदीति । न अनादरकारयिता । आत्मनिवेदनं गुरुणानादरेण कार्यत इति । हे वरुण इह भूमौ बोधी ज्ञानी उरु बहु शंसमानः कथकः आयुरन्नं प्रमोषीः चोरय । मा छेदय । वर्णलोपः । यद्वा शंस त्वं कथय नोऽस्माकं आयुर्मा प्रमोषीरिति । 'नायमात्मा प्रवचनेने'ति श्रुतौ गूढः । येन **आविष्कृतः** । **निरस्तेति** निरस्त **उन्मदमायिवादः** येन स निरस्तोन्मदमायिवादो भवतीत्येव ॥ ३ ॥ **श्रीविट्ठलेशेति** । अनुष्टुप्जातिश्छन्दस्तु वितानं वितानमाभ्यां यदन्यरपदाभ्यां समानिकाप्रमाणिकाभ्यां अन्यत् तद्वृत्तं वितानं नाम, स्तुतो विद्युन्मालादिभ्योखिलेभ्यो यदतिरिक्त-मनुष्टुप् वृत्तं तदेव वितानं वृत्तं बोध्यम् । पितृदेवो भवेति श्रुतेर्गोस्वामिमात्रो विषयः । यद्वा श्रीविट्ठलेशाश्च पादा आचार्यपादाश्च अब्जश्चन्द्रः तुरीयश्च श्रीविट्ठलेशपादाब्जाः तयोस्तेषां वा प्रसादवरः ग्रन्थकरणप्रतिभा तस्य लाभतः ॥ ४ ॥ **तदीयेति** । **तदीयदास्येति** । कीर्तनभक्तेः श्रेष्ठत्वेपि रतिपथ उदित इति कथनात्पथि स्थित्यर्थमुक्तम् । 'भवाम दास' इति पञ्चाध्यायीवाक्यात् । **प्रसादमिति** । प्रसादं दास्यफलम् । 'भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाये'ति वाक्यात् । 'भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यत' इति । तेषु प्रसादे स्ववाञ्छोक्ता । वाञ्छि इच्छायां भ्वा. प. से. अनुष्टुप्जातिः छन्दस्तु वितानम् । उक्तलक्षणम् ॥ ५ ॥ **यदत्रेति** । **अत्रेति** भाष्यप्रकाशे । **जीवबुद्ध्येति** जीवन्मुक्तजीवबुद्ध्या । **क्षमन्त्विति** । आचार्यादयः बालास्तद्वंशीया वा । ग्रहणधारणापटुर्बालः न तु स्तनन्धयः ॥ ६ ॥ **प्रलयजलदेति** । अतिशक्वरीजातिः । छन्दस्तु मालिनी । 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' । **स्वमृदुकरेति** । विद्वन्मण्डनानुसारेण । यत्तु 'इत्युक्त्वैकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम् । दधार लीलया कृष्णश्छत्राकमिव बालक' इति वाक्ये **स्वमृदुकराग्रन्यस्तगोवर्धना-**

रश्मिः ।

द्रिरुक्तस्तत्र नखगुणो विहितः । **वदनं विधुश्चन्द्रः** तस्य **मयूखैः** किरणैः । **नेत्रतापं** नेत्राभ्यां दध्यानामन्यथाकरणेन शब्दबलविचारकाणामस्माकं यो नेत्राभ्यां तापः **तमीशः हृदि पादपद्मं स्थापयन्नपनय**त्वित्यर्थः । उपकारस्मरणेन पादसेवा[illegible]त् ॥ ७ ॥ इति

श्रीविट्ठलेशपादाब्जप्रसादवरलाभतः ।
रश्मिं प्रकाशे व्यतनोत्सचमत्कृतिमीश्वरः ॥ १ ॥
पौनःपुन्यं च रभसो भ्रमादिः क्रीडया कृतः ।
सोढव्यः कृपया सद्भिर्गूढत्वात्सेश्वरादपि ॥ २ ॥
ब्रह्मज्ञः कृतकृत्यश्च हृदीश्वरज्ञ एव च ।
कृतार्थश्च प्रमाणज्ञस्तत्कृतिं ज्ञातुमर्हति[1] ॥ ३ ॥
एतेनास्मत्कुलपतिः श्रीगोपीजनवल्लभः ।
श्रीमदाचार्यवर्यश्च नित्यलीलास्थतज्जनः ॥ ४ ॥
प्रीतो भवतु ज्ञात्वा मामाचार्यकुलसम्भवम् ।
श्रीदामोदरजित्पुत्रौ द्वौ श्रीविट्ठलरायजित् ॥ ५ ॥
श्रीगिरिधारिजिच्चैव तत्पुत्रो (श्री)रघुनाथजित् ।
श्रीगोविन्दरायजित् तत्पुत्रो (श्री)विट्ठलरायजित् ॥ ६ ॥
श्रीगोकुलोत्सवो भ्राता श्रीगोपेश्वरजिदहम् ।
तत्पुत्रस्तु प्रकाशेस्मिन्नरश्मिं तु वितनोमि ह ॥ ७ ॥

इति श्रीविट्ठलेश्वरैश्वर्यनिरस्तसमस्तान्तरायेण श्रीदामोदरजिद्भ्रात्रीयेण श्रीगोविन्दरायजित्पौत्रेण सम्पूर्णवेत्रा विट्ठलरायजिद्भ्रात्रीय-गोकुलोत्सवात्मजगोपेश्वरजिता कृते भाष्यप्रकाशस्य रश्मौ चतुर्थाध्याये चतुर्थः पादः सम्पूर्णतामगमत् ॥ ४ ॥ ४ ॥

समाप्तोयमध्यायः । समाप्तश्च रश्मिः । सेवानवसरे दैवीजीववाचनार्थमयं ग्रन्थः स्वयं गोपेश्वरेण लिखितः श्रीगोवर्धननाथद्वारे । श्रीरस्तु । मिति चैत्रशुक्लत्रयोदशी । संवत् १८९७ । मङ्गलवारे । लेख-कपाठकयोर्दीर्घायुः । मङ्गलमस्तु । एतावतो ग्रन्थस्य श्लोकसङ्ख्या ८४२४ अष्टसहस्रचतुःशतचतुर्विंश' । अध्यायचतुष्टयस्य श्लोकसङ्ख्या ४२६६६ द्विचत्वारिंशत्सहस्रषट्शतषट्षष्टिः ।

श्रीकृष्णार्पणमस्तु.

---

१. प्रभुरश्यत इति पूर्वमासीत्, पश्चादेवं संस्कृतं हस्ताक्षरेषु ।

परिशिष्टम् ।

श्रीगोपेश्वरजिद्भिरष्टसप्ततिपत्राणि भावनात्रयादिकं संकलय्य रश्मौ शोधपत्रेषु निवेशितानि, अनुपलब्धपत्रसप्तादृते तान्यत्र मुद्र्यन्ते।

प्रतिमादिष्वावाहनेन सन्निहिते विभूतिरूपे तद्भावनं पूजामार्गे । भक्तिमार्गे तु भक्त्या तत्र प्रकटे तथा । (भाष्यम् । अ० ४ पा० ३ अ० ४ सू० १६)।

यथा पूर्वकाण्डतात्पर्यं ब्रह्मणीत्यज्ञात्वा कर्मण्येव तात्पर्यमवधार्य तात्पर्यभ्रमेण यजतां स्वर्गाद्यनन्तरं पुनरावृत्तिः, तथात्रापि प्रतीकालम्बनानां तात्पर्यभ्रमेण तथोपासनात् तत्तल्लोकभोगोत्तरमावृत्तिः । * अवतारयन्ति एवं ज्ञानेत्यादि । * आवाहनेन सन्निधानं च 'अप्स्वग्नौ हृदये सूर्य' इत्याद्युक्तस्य नित्यसन्निधानस्याप्युपलक्षकम् । तथा च प्रतिमादिष्वपि शास्त्रप्रामाण्यात् कथञ्चन तत्तद्रूपसन्निधानमेव तत्तत्फलदानादिप्रयोजकं, न तु बुद्धिमात्रम् । (प्रकाशः) ।

अप्रतीकालम्बनान् तथा चेत्यादि । षडङ्गवेदस्य ज्ञेयत्वेन छन्दोवत्सूत्राणि भवन्तीत्यभियुक्तोक्तेः सूत्रेष्वपि षडङ्गेनाभिधेयनिर्णयादप्रतिकूलस्मरणालम्बनानित्यर्थो भवति, पुराणमते तु वक्ष्यमाणगारुडवाक्याद् देवतादीनित्यर्थो भवति । तथा च श्रौते मते प्रतिकूलत्वं भ्रमविषयत्वमतस्मिन् तत्त्वं तेनोप समीपे स्थित्वा यथायोग्यान्तर्गतस्मरणस्य करणमित्यर्थः । **पूर्वकाण्डेत्यादि** । भक्तेस्तात्पर्यविषयत्वस्य पुरस्तादुक्तत्वेन तद्विषयस्यापि तात्पर्यविषयत्वम्, 'धर्मो यस्यां मदात्मकः' इत्येकादशस्कन्धात् । अभिधा तु हीदमित्थतया धर्मेषु सृष्ट्यादिकर्तृत्वेषु 'ज्ञानशक्तिक्रियाशक्ती सन्निधत्ते परस्थिते' इति भाष्यात्, न मदात्मके धर्म इति, तथा च 'वेदार्थो रामकृष्णयो'रिति श्रुतेः रामकृष्णसम्बन्धी सृष्ट्यादिकर्तृत्वादिर्वेदार्थ इत्यर्थः । सुबोधिन्युक्तषड्भगेष्वपि शक्तिः । **अवतारयन्तीति** । न्यूनतारूपनिग्रहस्थानरूपदोषाभावाय तथेत्यर्थः । **अप्स्वग्नावित्यादि** । इदं वाक्यं स्मृत्यर्थसारे विष्णोः, 'अप्स्वग्नौ हृदये सूर्ये स्थण्डिले प्रतिमासु च । शालिग्रामे च चक्राङ्के परे मुद्रासु देवताः । नित्यं सन्ति हिरण्ये च ब्राह्मणेषु च गोषु च' इति ।

तत्तद्रूपेत्यादि । अत्र समासः श्रीप्रभूणां श्रीमद्गोपीनाथजितां व्रजराजजितां वा श्लोकानां ग्रन्थे प्रभुध्यानपद्यावतारसेवकदेवीभाग्याभिनन्दनपद्यभजनानन्दानुभवप्रतिबन्धकत्वभातकर्मपरित्यागवस्नानसन्ध्याजपहोमब्रह्मयज्ञतर्पणाभ्यवहारपानजीवनप्रकारः, ततः श्रीकृष्णसेवार्थस्नानालौकिकभवनजपनामप्रशंसाप्रातःकृष्णनमनसन्ध्याहोमब्रह्मयज्ञगौणकालिकलौकिकवैदिककर्माभ्यवहारपानतत्फलस्वोच्छिष्टदानविधितद्ग्रहणप्रतिमाभावनास्वरूपवर्णनशृङ्गारस्वरूपवर्णनोत्सवभावनासेवाविधिसेवाश्लोकपञ्चामृतश्लोकसम्बुद्धिपूर्वकनिमन्त्रणयमुनाजिच्छरणमार्गत्रयोदशश्लोकनिरूपके भक्तिमार्गीयरूपसन्निधानस्य फलदानार्थेऽत्र । तथा हि । तदर्थं पूर्वं व्यसनरूपभक्तेः **भक्तिमार्गे तु भक्त्या तत्र प्रकट** इति वक्ष्यमाणभाष्यात्सन्निधानकारणीभूताया जन्या विविधा भावा निरूप्यन्ते गोस्वामिभिः **सौन्दर्यमित्यादिना** ।

सौन्दर्यं निजहृद्गतं प्रकटितं स्त्रीगूढभावात्मकं पुंरूपश्च पुनस्तदन्तरगतं प्रावीविशत्स्वप्रिये ॥
संश्लिष्टावुभयोर्बभौ रसमयः कृष्णो हि तत्साक्षिकं रूपं तत्त्रितयात्मकं परममभिध्येयं सदा वल्लभम् ॥१॥

यद्यद्वल्लभाष्टकादौ रूपं निरूपितं तदेव बुद्धिप्रवेशसौकर्यायात्रोपनिबद्ध्य निरूपितं, 'मद्भक्तपूजाभ्यधिका', 'आचार्यं मां विजानीयात्', 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इत्यादिवाक्येभ्यः । आदौ

१ 'अष्टसप्ततिपत्राणि शोभितानि । ब्रह्मनिरूपणमदूषणीयं केनापि' इति ग्रन्थप्रणेतुराज्ञा श्रीहस्ताक्षरेण लिखितास्ति

वस्तुनिर्देशात्मकमङ्गलार्थमत्र पुष्टिरूपं स्वयं ज्योतीरूपं ध्यानविषयत्वेनोक्तं भविष्यति । **परं** विशेष्यम् । एतट्टीकायामपि ज्ञेयम् । **परमभिध्येयमि**ति परं विशेष्यम् । कथंभूतं परं **तत्त्रितयात्मक**मुभयं साक्षिकं रूपं चेति त्रितयात्मकम् । कथंभूतं साक्षिकं रूपं **वल्लभं** अत्यन्तानुग्रहभाजनरूपम् । वल्लेनाज्ञानसंवरणेन भातीति तं वलभम् । सदा वल्लभं नाम यस्येति वा । 'वाचारम्भणं विकारो नामधेय'मित्यन्यत्रेति ज्ञापनाय । कथंभूतं तदुभयं **रसमयो बभौ हीति** । कस्यां सत्यामिति चेन्न; **उभयोः संसृष्टौ** सत्याम् । कथं रसमयत्वमित्यत आहुः **कृष्ण इति** । कृष्णो हि **प्राविविशत्** । किम् । 'तदेव कदाचित्परमसौन्दर्यं स्वगतं (प्रकटं) करिष्यामीति साकारं प्रादुर्भूतं सच्छ्रीकृष्ण' इत्यादिनिबन्धाद्युक्तदिशा साक्षात्पुष्टिरसामृतप्रेप्सुव्रजवररत्नकदम्बेषु स्वलावण्यामृतदित्सयानिर्वचनीयानन्दरसमयः श्रीकृष्णः प्रादुर्बभूवेति **सौन्दर्यम्** । कथंभूतं सौन्दर्यम्, **निजस्य** स्वस्य **हृद्गतं** मनोगतं, पुनः कथंभूतं, **स्त्रीगूढभावात्मकम्** । अस्ति भावद्वयं भगवति, पुम्भावः स्त्रीभावश्चेति । एवमेव श्रीमुख्यस्वामिन्यामपि भावद्वयम् । तदुक्तं 'यथा हि सर्वभावात्मा कृष्णः सापि च तादृशी' इति श्रीहरिरायैः । ब्रह्मत्वे सर्वभावात्मत्वं 'सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्दं ब्रह्म' 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति' श्रुतिभ्याम् । यद्यपि द्वितीया श्रीयमुनाजित्तत्त्वपरा तथापि तत्पौराणं मतं, श्रौते मते ब्रह्मानन्दत्वं यत्र तत्र श्रुतिप्रवृत्तिः । पुनः कथंभूतं **प्रकटितं**, रसाभासप्रसक्तिः पुंद्वये स्त्रीद्वये चात उभाभ्यां पृथक् स्थितं रूपद्वयं प्रकटितं **स्वेच्छया** । तद्भावद्वयं श्रीमदाचार्यवर्यस्वरूपम् । **तृतीयं** साक्षिकं रूपं अनुभवितृ । तथा च 'द्वौ सुपर्णौ भवत' इति गोपालतापनीय उक्तौ तावेतौ भवतः । कथंभूतं पुंरूपम् । **च**ः समुच्चये । **पुनस्तदन्तरगतं** स्वामिन्यन्तरगतं भगवद्रूपं स्त्रियाः पूर्वमुक्तत्वात् । क्वेति चेन्न, **स्वप्रिये** । कदेति चेन्न, **सदा** । तादृशं रूपं **ध्येयम्** । 'अग्निश्चकार तत्त्वार्थदीपं भागवते मह'दित्यग्निरूपभावा भक्तिजन्या भक्तिः स्मरणादिरूपा अत्र । अत्र विरहाग्निः स्वयंज्योतीरूपः **स्वप्रिये** यदत्सत्यज्ञानात्मकं तत्रानन्तमानन्दं ब्रह्म पूर्णानन्दरूपं स्वगतभक्तविरहदशामकं स्वगतसंयोगश्रीमदाचार्यगतविप्रयोगात्मकं[1] येच्छ्रीकृष्णः प्राविविशत्तत्र विरहोग्निः ज्योतिरग्निः हृद्दर्शनोग्निः[2] पूर्णानन्दोप्यानन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरूपः सर्वेन्द्रियगुणाभासः सर्वेन्द्रियविवर्जितश्चातो दर्शनाग्निरूपः श्रीमदाचार्यसूक्ष्मदेहः[3] । गर्भोपनिषदि 'दर्शनाग्नी रूपाणां दर्शनं करोती'ति श्रुतिः । त्रिविधात्मस्वात्मोपनिषदुक्तं द्वयमुक्तम् । तृतीयो हि परमात्मान्तरात्मबाह्यात्मसु बाह्यात्मा । गर्भोपनिषदुक्तेषु द्वयमुक्तम् । तृतीये ज्ञानाग्निदर्शनाग्निकोष्ठाग्निषु कोष्ठाग्निस्तद्रूप इतरत्तु विरहाग्निकारणं, तेन कारणविशिष्टो विरहाग्निर्बीजं वृक्षविशिष्टमिव । तथा च भाष्यम् 'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशाद्' इत्यधिकरणस्य ध्यानादिसमाध्यन्तरूपनिदिध्यासनरूपं मनसि सर्वतो निवृत्तव्यापारे स्वयमुपलब्धनिजसुखानुभवरूपं ब्रह्म, इदमेव ब्रह्मज्ञानमिति, स्वयं प्रकाशत्वाद्ब्रह्मैव ब्रह्मज्ञानम् । मनसा तज्जननेपि तथा मनसः सत्यज्ञानात्मकत्वेनाक्षरब्रह्मत्वात् । अत एवाधिकरणसप्तम्यन्तं मनःपदमुक्तम् । 'स मानसीन आत्मे'तिश्रुतावप्येवम् । एवं सति 'यतो वाच' इत्यस्यां पुष्टिश्रुतौ 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इत्यनेनाप्युक्तम् । पुष्टिजीवस्य तु ब्रह्मोपनिषदि 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । आनन्दमेतज्जीवस्य यज्ज्ञात्वा मुच्यते बुध' इति । 'सूक्ष्मं प्रमाणतश्चे'ति सूत्रभाष्ये उदाहृता पुष्टिश्रुतिः । एतत्त्रयं ध्यानविषयत्वेनोक्तमितरत्तु ऋतेऽर्थं प्रतीयमानत्वान्माया शरीरादि । यत्तु 'आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं

१ विप्रयोगप्रधानेच्छयाविर्भूतम् । अन्तर्विप्रयोगे बहिःसंयोगे आविर्भावाङ्गीकारात् सुबोधिन्यादौ । २ कर्मेदम् । ३ सूक्ष्मात्मा । ४ परमात्मा ज्ञानाग्निरूपः तत्र परमात्मा आत्मोपनिषद्युक्तो ज्ञानाग्निः गर्भोपनिषदि । ५ पश्यत्यनेनेतिदर्शनं सूक्ष्मात्मा गर्भोपनिषद्युक्तः । ६ अन्तर्यामी । ७ आत्मोपनिषदि आत्मत्रैविध्याद् गर्भोपनिषद्यग्नित्रैविध्यादेतत्त्रयम् । अङ्गतीत्यग्निः ।

व्यनक्ती'त्यत्र वपुस्तदिदं, यद'प्याचार्यं मां विजानीया'त्तदपि वपुरात्मा चेदम् । अत्र श्रुतिसूत्रगीताः प्रभूत्सवे वक्तव्याः ।

एवं श्रीमदाचार्यध्यानमुक्त्वा मूलस्वरूपादेरग्रे निरूपणीयतया समानसूत्रोक्तावताररूपगोविन्दभजनकर्त्रीध्यानमाहुः **अहो** इति ।

अहो भाग्यवती देवी यशोदा नन्दगेहिनी ।
गोविन्दमङ्कमारोप्य मुग्धं चुम्बति सादरम् ॥ २ ॥

'स्त्रीद्वारा पुरुषे भवे'दिति सुबोधिन्यां भगवदाश्रयत्वेन स्त्रिया निरूपणम्, मुक्तिपरमानन्दाभ्यां भजनयोग्यता, 'शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्याविशारदा' इति सुबोधिनीकारिकातः । **भाग्यवती** मुक्तित्वात्, **देवी** मातृत्वेङ्गीकारात्, तद्देवनादिकर्त्री **यशोदा** । सुबोधिन्यां द्रष्टव्यमेतत् प्रयोजनम् । **नन्दः** परमानन्दः पुष्टौ निरुद्धत्वात् अतस्तद्गेहं निर्गुणम् । **गोविन्दमिति** एकादशसुबोधिन्यां 'मन्येऽकुतश्चि'दित्यादिकविवाक्ये गोविन्दभजनम् । **मुग्ध**मित्यादि भक्तिरसपात्री । व्यभिचारिभावोयम् । ज्ञानकर्ममार्गसाधारण्यात् । लोकोत्तरानुभवैकवेद्यापरिमितानन्दवतीत्य**हो** आश्चर्यम् । आनुमानिकाधिकरणेऽत्र श्रुतिः, 'मुक्तोपसृप्यव्यपदेशा'दिति सूत्रं, गीता 'जन्म कर्म च मे दिव्यमि'ति ।

'भक्त्या जानाति चाव्यय'मिति श्रुतेर्जातब्रह्मज्ञानाः पञ्चभिः श्लोकैः सप्तविधस्नानेषु पञ्चानां नियतत्वेन मन्त्रवारुणस्नानयोः मन्त्रस्नानकाले मन्त्रस्नानमिच्छन्तो व्यसनावस्थायां स्नानाद्यभावमिच्छन्ति स्म श्रीराध इत्यादिना ।

श्रीराधे प्रियतमदृक्सङ्गमसञ्जातहासरुक्तरलैः ।
भवदीयैः स्नानं मे भूयात्सततं न पाथोभिः ॥ १ ॥

आशीर्लिङ्घटितवाक्याभ्यामिच्छा प्रतीयते 'एकोहं बहु भूयास'मित्यत्र यथा । इयमेव मुख्याशीरिति । ब्राह्मणकरेरितैरम्भोभिस्तद्धासरुक्तरलाह्वानकैः स्नानं पञ्चरात्रोक्तप्रकारेण । अत्रेदं **ज्ञेयम्** । सर्वोत्तममार्गे यथा ब्रह्मभावं गतस्यान्यथाकर्तव्या (आश्रमधर्माः) इति दृष्टान्तो भजनानन्दानुभवे त्रयोदशगुणविषये वर्णाश्रमाचारधर्मत्यागे । तत्रेदं वक्तव्यं तृतीयाध्याये चतुर्थचरणे 'अन्तरा चापि तु तद्दृष्टे'रिति सूत्रे पुरुषोत्तमदृष्टेः पुंसोन्तरा फलसिद्धौ व्यवधानरूपा आश्रमधर्माः । 'एतद्ध स्म वै ब्राह्मणा अनूचाना विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते, किं प्रजया करिष्यामो येषां नोयमात्मायं लोक' इति श्रुतेः । तत्र दृष्टान्तानुरोधेनान्यथा निरूपणं प्राप्नोति ब्रह्मभावात्पूर्वं भजनानन्दात्पश्चात् । अत्रापि ब्रह्मभूतो भक्तिं लभेदिति स्वरूपवर्णने वक्ष्यमाणत्वाद्ब्रह्मभावं गतस्याप्यन्यथा निरूप्यन्ते पुष्टौ, अत्र श्रुत्यादि । 'रहस्यं श्रीराधेत्यखिलनिगमानामिव धन'मिति । आथर्वणानां पुरुषबोधिन्यां 'सुषुप्तौ नीलगीः सिद्धा स्वप्ने सिद्धा च रुक्मिणी । लीलायां राधिका सिद्धा नातः साधनपद्धति'रिति, 'यमैरयं चन्द्रमसि स्वधाभिस्तां धारासो अनुदृशा दजन्ते' 'राधोर्गूर्ता अमृतस्य पत्नी'रिति, 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे'ति, 'क्रिया सा राधिका देवी'ति च स्तोत्रादौ । फलाध्याये नित्यलीलासूत्रे यत्र 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे'ति श्रुतिः, गीतायां च 'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसम्भवम्' इति । अत्रैकमेवाद्वितीयं ब्रह्मेत्येकत्र ब्रह्मणि 'स्वामिन्यो गुरव' इति वाक्याद्बहुरूपसत्त्या वक्ष्यमाणमिति **श्रीराध** इति आत्मन्निति विहायोक्तं, तथोक्तं तृतीयाध्यायसूत्रीयार्थसूचितदृष्टान्तानुरोधे, श्रुतौ तावच्छान्दोग्ये पञ्चमे प्रपाठके तृतीये वा मधुविद्यायां 'तद्यत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन न वै देवा अश्नन्ति

१ समान एवब्राभेदादिति निश्चयम् । २ उपलक्षणं भजनानन्दप्रतिबन्धावस्थायाः । ३ न पाथोभिर्भूयादिति द्वितीयं वाक्यम् । ४ तृतीयस्कन्धे वाक्यमस्ति । ५ राधा उ गूर्ता गुरैच् गतिहिंसयोर्द्विवादिरात्मनेपदी सेट् ऐदितत्वात्कत्वादिनेट् ।

न पिबन्त्येतदेव देवा अमृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ती'तिवत् कृष्णे व्यसनिन इच्छन्ति । तथा हि प्रथममभृतं रोहितरूपवदमृतं, प्रकृते ह्यमुक् । तत्राभिर्मुखमत्राश्रय आचार्याः स्वामिन्यो वा गुरुत्वात् । उपजीवनव्याकरणं 'न वै देवा' इत्यादिना समानमुभयत्र । 'आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्ते'रित्यत्रायमर्थः स्पष्टः। **प्रियतमदृक्सङ्गमसञ्जातहासरुक्तरलैर्भवदीयैर्मे स्नानं भूयात्** दृग्गोचरैः स्नानाभावजातृप्तिविरहो भूयादिति भावः । तत्राभिमुखा वसवोत्राचार्यमुखाः स्वामिन्युपाया वा कृष्णे व्यसनिनः । न चेदमप्रयोजकम् । वेदविरुद्धकरणिनां पाषण्डित्वेनात्रापि पाषण्डित्वापत्त्या तत्परिहारकस्यास्य प्रयोजकत्वात् । भक्तिहंसेपि स्वयमुक्तं 'आधुनिकानामुपदेष्टॄणामपि स्नेहाभावेपि तन्मूलभूतानां प्राचामाचार्याणां तद्वत्त्वेन भगवदनुगृहीतत्वेन सर्वोपपत्ते'रिति । यद्वा । 'एवं सति भक्तिमार्गीयभजनप्रकारेषु स्नेह एव नियामकः स्नेहवतां कर्मणि विधिवत्, तद्रहितानां तु तद्वत्कृत उपदेश एव, स च वेदाविरुद्ध एव इति' ज्ञेयमिति । × ×

+ संज्ञाः स्युरिति भूवादयो धातव इति सूत्रस्य । गोविन्दनामस्तोत्रे स्वयं श्रीविट्ठलेश्वराः 'प्रश्वस्प्रियासितापाङ्गध्यानावस्थितचेतसे । प्राप्तनिजरूपाय गोविन्दाय नमो नमः,' इति ।

भावेत्यादि ।

> **भावात्मकत्वात्तद्रूपं गुणातीतं सदैव हि ।**
> **ध्येयं तद्रूपभावेन शुद्धैर्जीवैर्न चान्यथा ॥ १५ ॥**

'सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्दं ब्रह्मे'ति सर्वोपनिषच्छ्रुतेश्चतुर्ष्वंशेषु त्रयोंशा 'अग्राह्य'मित्यादिश्रुतौ ग्राह्यभिन्नग्राह्यसदृशादिभावाश्चाक्षरात्मका अपि तुर्यांशस्तु देव आनन्दात्मा रा त्रेधाभावस्तदित्थम् । भावो हि श्रीकृष्णगोपिकारससंयोगभावः, स च सत्ता । भक्तिभावः शृङ्गारभावश्च । भू सत्तायां भावे घञन्तमतः सत्तार्थः । भक्तिरहस्यभजनमित्यादिश्रुतेर्भावो भक्तिः । विभावादिभिरभिव्यक्तः स्थायिभावश्च रत्यात्मा । तद्रूपस्य सत्तामावात्मकत्वं तद्रूपतां प्राप्तमिति पूर्वोक्तं कादाचित्कम् । भक्तिभावात्मकत्वं च साधनाध्यायस्य तृतीये पाद उपपन्नसूत्रे स भगवानेव लक्षणमसाधारणो धर्मो यस्य स तल्लक्षण उद्भटभक्तिभावः, स एव पुरुषार्थः, स्वतन्त्रपुरुषार्थरूप इति भाष्यम् । अत्र भगवान् लक्षणेन उद्भटभक्तिभाव इति चेत् 'सर्वाभेदादन्यत्रेम' इति सूत्रे 'रसो वै स' इति श्रुत्या 'सर्वरस' इति श्रुत्या च सर्वरसात्मकत्वं ब्रह्मणो निर्णीतमिति भाष्यमस्तु । भक्तिरसो गुरुदेवादिषु रतिः । 'स्फुटं चमत्कारतया वत्सलं च रसं विदु'रिति रससर्वस्वकारः । अयं भावः । आत्मा सार्वदिकं रूपं यस्य स तथोक्तः । भगवान् गोपिकादिभक्ताश्च आलम्बनविभावाः, स्नेहानुकूलसङ्कीर्तनाद्युद्दीपनविभावाः । अनुभावाःमन्दिरोद्यानादयः(स्नेहीया विविधाश्चेष्टाः)। सञ्चारिणो वैराग्यपरितोषादयः । पूर्वोक्ता रतिः स्थायिभावः।'कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशला'इति फलप्रकरणे राजसीनां वाक्यात्। यद्वा तत्रैव सात्त्विकीनां वाक्यं 'यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्ति'रित्यादि । ततश्चानुवृत्तिः सेवा स्थायी भावः । 'चेतस्तत्प्रवणं सेवे'ति सिद्धान्तमुक्तावल्याः चेतस्तत्प्रवणं सेवा, सा च भक्तिः, भक्तिश्चोपपन्नसूत्रे 'भक्तिरहस्यभजनं तदिहामुत्रफलभोगनैराश्येनामुष्मिन् मनःकल्पन'मितिगोपालतापिन्युक्तलक्षणा । मनःकल्पनं च मनःसङ्क्रमनं 'मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये, मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोम्बुधौ, लक्षणं भक्तियोगस्ये'ति श्रीकपिलवाक्यात् । मनसो गतिरावेगः स स्थायिभावः त्रयस्त्रिंशत्सञ्चारिभावेष्वस्य गणना । काव्यप्रकाशे सञ्चारिणः स्थायित्वमपि । तत्र निर्वेदस्य शान्तरसे स्थायित्वमिव । उदाहरणं तु 'ता नाविद'न्नित्यादिमानसीसेवायाम् । सैवानन्दधर्मरूपता तु भक्त्युत्कर्षवादे । एवमानन्दरूपस्य तनुवित्तजसेवानन्तरं

१ इतः परं सप्तपत्राणि नोपलब्धानि, + अष्टमस्यादिमे संज्ञाः स्युरित्यादिनात्रोपक्रम्यते ।

भवनात् । अक्षरात्मके हृदये मानसीनस्यात्मनः । तत्र च भक्तेर्भवनात् । कामादिति सूत्रे माहात्म्यज्ञानयुतेश्वरत्वेन प्रभौ निरुपधिस्नेहात्मिका विहितेति भक्तिविशेषणादुदाहरणोक्ता सा । माहात्म्यज्ञानं तनुवित्तजा सेवा च सञ्चारिभावास्तत्त्वमस्यादिमहावाक्यार्थाभेदज्ञानं 'अन्तरा'सूत्रे भक्तानामदेयम् । अत्र सेवालक्षणस्य विस्तारिकायां टीकायां रतिलक्षणत्वेपि मनःप्रवणता रतिरित्युक्त्या मनःप्रवणता रतिः, चेतःप्रवणता सेवा, तथा च विभावाद्यभिव्यक्तमनश्चेतःप्रवणता सेवा । अत्र व्यभिचारिणो महावाक्यार्थाभेदज्ञानस्य सुषुप्तिप्रतिमस्य चेतसा ग्रहात् सुषुप्तिश्चित्तग्राह्या । चित्तं त्वात्मानमेव सुषुप्तौ पश्यत्यन्यदा तु लीनमिति प्रस्थानरत्नाकरात् । 'सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेने'त्यत्र प्रथमस्य तृतीयपादे सुषुप्तिस्त्वकामरूपो भगवान् इति भाष्यम् । एवं चाकामरूपः कामरूपश्च भगवान् भक्तिशृङ्गाररसयोरालम्बनविभाव इति स्पष्टो भेदः । अस्यार्थस्य व्यभिचारिभावत्वं व्यतिहारसूत्र उपपादितम् । यद्वा 'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति चे'ति सूत्रे भक्तिमार्गे इत्यादिभाष्यादात्मेत्युपगमनं कटकाद्युपचाराः साक्षात्कृता भवन्तीति सेवाप्रकरणाद्युक्तदिशा ग्राहणं चेति चेतोमात्रप्रवणता विवक्षितात्मातिरिक्तविषयाभावात् ।

तथा च श्रुतयः 'सत्पुण्डरीकनयन'मित्याद्याः अत्र 'सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम् । द्विभुज'मित्यन्तमालम्बनविभावः । 'गानमुद्राढ्य'मितिपाठे उद्दीपनविभावः । ककाराद्यनुकूलो यस्तत्सम्बन्धिनी मुद्रा वेणुवादनसामयिकी मुद्रा तयाढ्यम् । 'वनमालिनमीश्वरं गोपगोपाङ्गनावीत'मित्यत्रापि स्नेहानुकूलाश्चेष्टा बोध्याः । 'गोपगोपाङ्गनावीतमि'त्यत्र गोपाङ्गनावीतमुद्दीपनविभावः । किञ्च 'सुरद्रुमतलाश्रय'मित्यत्र सुरद्रुम उद्दीपनम् । सुरद्रुमो वेदार्थः स्वधर्मत्वेन स्फुट इति निर्धर्मकत्वव्यावृत्तिः । 'निर्धर्मको वा भिन्नो वा निरोधं कुरुते यदि, तदा निरोधो व्यर्थः स्यादि'ति कारिकायाः । 'दिव्यालङ्करणोपेतं रत्नपङ्कजमध्यग'मित्युक्त्यालम्बनविभावाः । 'कालिन्दीजलकल्लोलसङ्गिमारुतसेवित'मित्यत्र कालिन्दीयुक्तमारुतौ सञ्चारिणौ 'चिन्तयँश्चेतसा कृष्ण'मित्यत्र चिन्तनं सञ्चारिभावः । 'मुक्तो भवति संसृते'रितीत्यत्राधिकारिणो वैराग्यं सञ्चारिभावो ध्वन्यते । द्वितीयपक्षे उक्तावेगस्य सेवारूपस्य विस्तारिकायां राजगजवर्षादिभिरुत्पत्तेः सरस्वतीतीर्थटीकायामभिरामादिभिरुत्पत्तेरुक्तेः महाराजोपचारकरणं राजा प्रतिमादिर्गजः वर्षं बाल्यं वय आदि एतदादिविभावादिः अभिरामादिर्वा । स च प्रथमपक्षवद्द्वितीयेप्युन्नेयः । भक्तिरसस्य द्वौ भेदौ संयोगो विप्रयोगश्च तत्र संयोगश्चक्षुर्योगः परस्परसंलापाद्यनेकभेदत्वादपरिच्छेद्य इत्येकविध एव गण्यते अभिलाषविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति पञ्चविधो विप्रयोगः ।

ननु मनःप्रवणता रतिः कामः, सोपि ब्रह्मात्मनिष्ठतया भक्तेच्छाविषय इति हि आत्मातिरिक्तविषयाभावात् सुषुप्तिवत् स्नेहोस्तु चेतःप्रवणतात्मकत्वात् । चेतसो मनोभेदत्वात् । अन्यथा सुषुप्तिवद्ग्रहणदशायां 'मनसैवानुद्रष्टव्य' इतिश्रुते'र्भक्तिरहस्यभजनं तदिहामुत्र फलभोगनैराश्येनामुष्मिन् मनःकल्पन'मिति श्रुतेश्च या मनःप्रणवता तस्या अपलापप्रसङ्गः, सुषुप्तितुल्यत्वेन तस्यात्मनश्चेतःप्रवणविषयत्वादिति चेद्वाढम् । भवता विस्तारिकोक्तमनःप्रवणतात्मकलौकिकरत्या सह भक्तिरत्याः साम्यमुच्यते, तत्तु सर्षपेण स्वर्णाचलस्येव । यतः शृङ्गारे रतिः स्थायी भाव आवेगस्तु व्यभिचारीति कथमनयोः साम्यमिति, ननु कथमावेगः स्थायी भवति भक्तिरसचरमकवृत्तिरूपत्वाद् इति चेत्, सत्यं, विभावाद्युत्तरकालीनस्नेहात्मकस्थायिभावसामयिकलक्षणश्रुत्युक्तमनःकल्पनात्मकस्यावेगस्यापि सम्भवात्तमादाय स्थायित्वोपपत्तेः । संयोगेनैकेषां चक्षुःसंयोगपरस्परसंलापलक्षणवाक्योक्तमनःकल्पनानामपरिच्छेद्यत्वेनैकविधत्वात् संयोगस्यैकविधत्वम् । न च प्रथममुक्तप्रायस्य 'ता नाविदन् मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदम् । यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे' इत्यत्र दृष्टान्तप्रतिमस्य दार्ष्टान्तिकस्य स्थायिस्नेहान्तर्भावेऽनुपपत्तिरिति वाच्यम् । तर्हि पूर्णत्वापूर्णत्वाभ्यां धर्माभ्यां रसत्वस्थायित्वप्रयोजकाभ्यां

दृष्टान्तोक्तधर्मस्य पूर्णत्वस्योपपत्तेः स्नेहस्य चरमवृत्तित्वेपि रसत्वमिति । इत्थञ्च स्थायिनः स्नेहस्य विभावान्तर्गतालम्बनविभावः कारणमुद्दीपनविभावश्च तदन्वयव्यतिरेकानुविधानादिति विस्तारिकाया-मनुभावाः कार्यमसति स्नेहे तदभावात् । सञ्चारिणो निर्वेदादयः सहकारिकारणानि न तत्कार्याणि । तेन विनापि सम्भवेन व्यभिचारात् । न चाकारणानि तदुत्तरत्वान् नैयत्यात् । किन्तु स्वसामग्र्या प्रादुर्भवन्ति सन्ति स्नेहस्योपवासकानि भवन्ति । सामग्रीसम्पातेन स्नेहेन स्थायिना सहचरणात् सह-चारीणि । सहकारीणि तु स्नेहस्यैव रूपस्य । तच्च तद्विचित्रस्मितरुदितकार्याजननायोगेन सामग्री-वैचित्र्यापादकानि । स्नेहो लक्षणश्रुत्युक्तः स्थायिभावः । ननु 'तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजे'ति सिद्धान्तमुक्तावल्यां तत्सिद्ध्या इतिपदात् तनुजवित्तजे सेवे, 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः । स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथे'ति पञ्चरात्रान्माहात्म्यज्ञानं च कारणानि । सञ्चारिभावस्तु सहकारिकारण-मिति सञ्चारिभावे कुत एतेषां निवेश इति चेत्सत्यम् । भक्तिहंसे नवधाभक्तीनां कर्मज्ञान-भक्तिमार्गेषु प्रवेशकथनात्सञ्चारिभावत्वमविवादं; महावाक्यार्थस्य भक्तिमार्गेऽसञ्चारः पूर्वमुक्तः, यद्यपि यस्मात्कर्मादिभ्यो ज्ञानमेव पुरुषार्थसाधनमतस्तज्ज्ञानाय विचारोधिक्रियत इति जिज्ञासाधिकरणभाष्ये महावाक्यार्थमपि ज्ञानपदेन सङ्गृहीतम्, तथापि शाब्दार्थज्ञानं महावाक्यार्थज्ञानं विचारफलमित्ये-तावदेव, न तु रतिपर्यन्तानुधावनं भागवतमतत्वात् । 'भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया । तदध्यवस्यत्कूटस्थो रतिरात्मन्यतो भवेत्' इति भागवतम् । तथा च 'प्रदानवत्'सूत्रोक्तं 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति श्रुत्युक्तवरणं कारणं, स्नेहचरमवृत्त्यात्मकसर्वात्मभाव इति भक्तिहेतूपपादित-भक्तिकारणमनुग्रहस्तावदुद्दीपनविभावो भक्तनिष्ठो येन केनापि सम्बन्धेन भवतु । भगवदनुगृहीतोयं यतो भक्तो भक्तिमनुभवतीति प्रत्ययात् । 'मानसी सा परा मते'त्युक्तसेवायामपि ह्युद्दीपनविभावरूपानुग्रहस्य मुख्यकारणत्वमिति, तथा च भाष्यं 'विधैव तु निर्धारणादि'ति सूत्रस्य किन्तु 'भगवदनुग्रहेण भक्तसङ्गेन च भक्तौ सत्यामिती'ति साधनाध्याये । अनुग्रहः स्वभाव इति तृतीयस्कन्धसुबोधिन्याम् । अनुग्रहो धर्मान्तरमिति भक्तिहेतौ । उभयेषां मतं पन्थाश्च तल्लक्षणं च विस्तारिकायाम् । चेतस्तत्प्रवणं मनःकल्पनं भक्तिप्रेमस्नेहप्रियत्वं च पर्यायाः । कृष्णगोपिकयोः परस्परस्नेहो भगवन्निष्ठालम्बनविभावे । तत्र निरुपधिप्रियत्वस्य समन्वयाध्याये ब्रह्मधर्मतां निर्णिनाय भगवान् व्यासः । ननु तथापि मनःकल्पनं मनःप्रवणं तच्च रतिरेव पुराणं च सङ्गृहीतं भविष्यतीति चेन्न, अभिलाषप्रतियोगिभेदात्प्रापकभेदादधिकरण-भेदाच्च । तदुक्तं भक्त्युत्कर्षवादे 'मुक्तैरप्यभिलषितामत्यन्तानुग्रहात्प्राप्याम् । आनन्दधर्मभूतां रसरूपां नौमि हरिभक्ति'मिति । तत्र तु कामाभिलाषिणः प्रतियोगिनः, कर्मप्रापकं मनोधिकरणमिति ।

एवं स्नेहरूपा रतिर्व्याकृता । कामरूपा द्वितीया रतिः लक्ष्मीकलानिध्योः । नमामि हृदये शेषे लीलाक्षीराब्धिशायिनम्, लक्ष्मीसहस्रलीलाभिः सेव्यमानं कलानिधिम्' इति ह्याचार्योक्तेः । ननु सत्तायां योगो भावशब्दस्य तात्पर्यं रतौ । 'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः भावः प्रोक्त इति । द्वितीयायां रतौ केतिचेन्न आधिभौतिके योग आध्यात्मिकाधिदैविकयोरेकत्वात्तात्पर्यवृत्तिरिति । अञ्जित इत्यस्य न व्यञ्जित इत्यर्थः किन्तु तात्पर्यविषयीकृत इत्यर्थः । वृत्तेस्त्रैविध्यादित्युपपादितमारम्भे रश्मेः । एकदेशविकृतन्यायेनाधिदैविकस्याध्यात्मिकानन्यात्वात् तत्प्रपञ्चस्य भावशब्दतात्पर्यवृत्तिविषयत्वे बाधकाभावात् । ब्रह्मस्वरूपे लौकिकयुक्तभावस्य भूषणत्वाच्च । प्रकृतमनुसर्यते । तथा च विभावाद्यै-रभिव्यक्ता रतिः पूर्णा शृङ्गाररसः । रसत्वं च । ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्नलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसस्तत्त्वम् ।

१ प्रकर्षेण वनं भक्तिः प्रवणं, वन संभक्तौ धातुः ।

प्रकृतमनुसर्यतेऽधुना, **तद्रूपम्**, सत्पुण्डरीकनयनमित्याद्युक्तं गोपालतापिनीये किन्तद्रूपमिति प्रश्न एतदुत्तराद् व्याकृताश्चैताः श्रुतयः प्राक् ह्यनुक्रमशः । **गुणातीतं** गीतायाम् 'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति । गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोधिगच्छती'ति । यद्वा 'निर्गुणं गुणभोक्तृ चे'ति निर्गुणं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'त्युक्तं गुणभोक्तृ, 'आनन्दमात्रमिति ... ...ीह पुराविदः' इति वाक्योक्तमेतद्रूपद्वयम् । हि निश्चयेन सदैवेत्याहुः **सदैव हीति** । अयमर्थः । नात्र ज्ञानविषयं ब्रह्मोच्यते, ज्ञानं च फलात्मकं 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' 'ब्रह्मविदाप्नोति परं' 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेती'त्यादि-श्रुतिस्मृत्युक्तम् । ततश्च तृतीयाध्यायस्थ'अम्बुवदग्रहणात्त्व'धिकरणोक्तं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषितं न भवति । किन्तु प्रवेशानन्तरमत्यन्तानुग्रहे पुष्टिभक्तौ सत्यां भक्तेच्छयोद्गतं रूपं तत्त्वैच्छिकं न तु सदैव हीति । अत्रोच्यन्ते श्रुतिगीतासूत्राणि । **तद्रूप**मित्यत्र 'तानि परे तथा ह्याह' । 'ता वां वास्तूनि' । 'श्रीमदूर्जितमेव वा तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम्' । अत्रास्फुटं गीताविस्तरे श्रीभागवते 'ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः । ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यह' मित्युपक्रम्य 'धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन' इति श्रीप्रभुवचनमेतत्फलाध्याये 'स्मर्यते चे'ति सूत्र उक्तम् । समाधिभाषाद्वितीयस्कन्ध-वैकुण्ठदर्शनवाक्यानि । **गुणातीत**मित्यत्र 'तानि पर' इति सूत्र एव प्रकृतिकालाद्यतीत इति वैकुण्ठ-विशेषणम् । तानीत्येव सूत्रम् । गीतोक्ता । तथापि भक्तैच्छिकं रूपमिति स दोषस्तदवस्थ एवेति चे'दविभागो वचना'दिति सूत्रे एतेनापि लीलानित्यत्वं सिद्ध्यति एतद्यथा तथा विद्वन्मण्डने प्रपञ्चितमिति भाष्या-शेषो निर्गच्छतु । विद्वन्मण्डने नित्यलीलावादे प्रपञ्चितमित्यर्थः । किञ्चिदुच्यते स्वबुद्ध्या ब्रह्मसम्मत इति पाठः । अत्र नपुंसकत्वं पुंस्त्वं चोक्तं श्रुतौ व्याहरत्प्रासमिति च व्याख्यातश्लोक उभयमुक्तम् । अन्यत्र श्रुत्योररसं सर्वरस इत्यत्र नपुंसकत्वं पुंस्त्वं च रसविलक्षणत्वं रसत्वं चोक्तम् । 'निर्गुणश्च यः सर्वज्ञः सर्वशक्ति'रित्यत्र निर्गुणत्वसगुणत्वे चोक्ते । अत्रोच्यते तृतीयद्वितीयपादे 'वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्त-र्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्' 'दर्शनाच्चे'ति सूत्रद्वये । अत्र पूर्वसूत्रे एवं परमार्थतो विरोधः परिहृतः यथाकाशस्य वृद्धिह्रासभाक्त्वं करकादिष्वन्तर्भावात्तथैवोभयसामञ्जस्याद्विभुत्वाल्पत्वयोरैकाधिकरण्येन प्रामाणिकादरणीयत्वात् । ब्रह्मणोप्येवं शरीरादिप्रवेशाद्वृद्धिह्रासभाक्त्वमिति तथा च प्रकृतेपि 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे'ति श्रुत्योक्तायां स्वाभाविक्यां शक्तौ निवेशे नपुंसकत्वम् । 'को ह्येवान्या'दित्युक्त आनन्दे प्रवेशे तु पुंस्त्वम् । एवमुभयोरैकाधिकरण्येन प्रामाणिकादरणीयत्वम्, द्वितीयस्मिन् सूत्रे च भगवति सर्वे विरुद्धधर्मा दृश्यन्ते 'नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम व्याघातात्' तादृशमेव तद्वस्त्वित्यध्यव-साय इत्युक्तम् । स्पष्टौ प्रकृते पुंस्त्वं नपुंसकत्वं च विरुद्धौ धर्मौ रसारसत्वे च । निर्गुणत्वसर्वज्ञत्वसर्व-शक्तिमत्त्वानि विरुद्धधर्माः । प्रकृतोपपादकं भाष्यम् । इति हीति निश्चयेनैतद्रूपं सदैवेति । नूनं सत्यज्ञानादिरूपं गुणातीतं व्रजभक्तवृन्दप्राप्तं च गुणातीतं तद्व्यूहचतुष्टयरूपं छान्दोग्योक्तपरदेव-तादिरूपं च गुणातीतं तथा वाराहपुराणोक्तं श्रीभूमिस्थितं च प्राकृतप्रलये तन्नाशाभावकथनात् । रस शब्दे इति पक्षेपि तादृशमेवेति । सर्वरसमिति श्रुतेः । ध्येयमित्यादि शुद्धैः पापरहितैः मर्यादाभक्त्य-धिकारिभिः 'गतेरर्थवत्त्व'मिति सूत्रेऽस्मिन् मार्गे श्रवणादिभिः पापक्षये प्रेमोत्पत्तिस्ततो मुक्तिरिति भाष्याज्ञीवैः भगवद्रूपसेवार्थं सृष्टैः पुष्टैः पुष्टिप्रवाहमर्यादायामुक्तैस्तद्रूपभावेन तद्रूपत्वेन ध्येयतावच्छेदक-रूपेण त्वतलौ विहाय भावपदोपसन्दानात्तद्रूपश्चासौ भावश्चेति विगृह्य भावप्रधानं निर्देशं चास्थाय तद्रूपभावत्वेन ध्येयं भावनौत्कट्यदशायां व्यभिचारिभावात्मकसततस्मृतिरूपं ध्यानं तद्विषयं कार्यम् । 'तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः । आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत्' इति सिद्धान्तमुक्तावली 'ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधन'मित्येवं स्वयमुक्तस्यावान्तरब्रह्मबोधनलक्षण-

फलवतः प्रत्याज्ञां करोति तच्च चिन्तनमुक्तविधम् । अत्रात्मानन्दो व्रजरत्नात्मक इति श्रीविठ्ठलनाथदीक्षितगोस्वामिटीकायामतोत्रात्मानन्दः स पूर्वोक्तः तथा च भावो भक्तिर्भूमा 'आनन्दमात्रमिति यद्वदन्तीह पुराविद' इत्युक्त आत्मनि सत्यज्ञानानन्तानन्दे स्वरूपलक्षणाक्रान्ते यस्य 'यतो वाचो निवर्तन्त' इति श्रुत्युक्तस्य तद्भावात्मकं तस्य भावस्तदात्मकत्वं तस्माद् इति भावात्मकत्वादित्यस्यार्थः । भावात्मकस्य भक्तान् प्रत्येव ज्ञापनात् । अत्र व्याख्यायमानग्रन्थेऽग्रे 'सर्वत्र पश्यद्भिः पुरुषोत्तम'मित्यत्र सर्वत्रपदम् । एकादश एकोनत्रिंशाध्याये 'लघुस्वमार्गवक्ता चे'ति पुरुषोत्तमसहस्रनाम्नि स्तोत्रे लघुस्वमार्गवक्तृत्वेनोक्तस्य श्रीकृष्णस्य वाक्यभूते 'सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययात्ममनीषया । परिपश्यन्नुपरमे'दिति सर्वपदम् । तदपि सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या इत्यत्र निमन्त्रितब्राह्मणवाचकसर्वपदवद् एतेन ब्रजरत्नपदरहितेन सामान्येन ग्रन्थेन भक्तिमार्गस्य निर्गुणत्वं समर्थितम् । स्वाधिकारे तु श्रीगोस्वाम्युक्तो विशेषोपीति । चकार ऐश्वर्यवीर्ययशःश्रीज्ञानवैराग्यशृङ्गारादिवाचकपदानुकर्षकः 'स्वोरमो लुक्' तथा च ऐश्वर्यवीर्ययशःश्रीज्ञानवैराग्यशृङ्गारचकारार्थध्येयमित्यनेनान्वेति । एवञ्च तद्रूपमैश्वर्यवीर्ययशःश्रीज्ञानवैराग्यशृङ्गारमपि ध्येयमिति सिद्धम् । अन्यथा नेति अन्यथापदात्तृतीयाया लुक् अन्येन प्रकारेण तद्रूपभावान्येनैश्वर्यत्वाद्यन्येन च प्रकारेण न ध्येयम् । अयं भावः 'योन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणे'ति श्रुतेस्तद्रूपभावाद्यतिरिक्तेन न प्रतिपदनम् । अनेन प्रकारेण तु प्रतिपदनं गोपालतापिनीये श्रूयते ब्राह्मणस्य तथाहि 'मुनयो ह वै ब्राह्मणमूचुः कः परमो देव' इत्यादि तस्योत्तरं 'तदुवाच ब्राह्मणः श्रीकृष्णो वै परमं दैवत'मित्याद्यभिधाय 'गोपवेषमभ्राभं तरुणं कल्पद्रुमाश्रितम्' तदिह श्लोका भवन्ति 'सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम् । द्विभुजं मानमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम् । गोपगोपाङ्गनावीत'मित्यादि । तद्रूपप्रश्नोत्तरम् 'ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः' इति ब्राह्मणपदव्युत्पत्तिः । एवमैश्वर्यभावादि बोध्यं श्रुतिषु हीति 'तदोषधिविद्यायां वैराग्यमित्येवं सप्तदूकेषु बोध्यं' नवाध्यायमुक्तं च । एवं ध्येयमित्यनेन स्मृतिविषयं वस्तूक्तमत्र स्मृतिस्तु सिद्धान्तमुक्तावल्यां संसारदुःखनिवृत्तिर्ब्रह्मबोधनलक्षणा तनुवित्तजसेवावान्तरफलत्वेन निर्दिष्टा ततः सेवाफलाख्यग्रन्थे सेवायाः फलत्रयमुक्तं तेषु तदीयत्वं भगवत्सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिष्वित्येवमुक्तं मुख्यमिति । तत्साधनमाहुः लीलेत्यादि ।

लीलारूपैश्च तत्सेव्यं तदीयत्वाय सर्वदा ।
एतत्संसेवनाद् ब्रह्मभूतो भक्तिं लभेत्पुनः ॥ १६ ॥

लीलास्वैश्वर्यवीर्ययशःश्रीज्ञानवैराग्यशृङ्गाररूपाणि, रूपाणि द्वारकानाथजित्सुतुगोविन्दजित्कृतभावनोक्तशकटभञ्जनौत्थानिकलीलादिषु वात्सल्यादिरूपाणि रूपाणि च येषां तैः रूपैः श्रीनवनीतप्रियजिच्छ्रीमथुरानाथजिच्छ्रीविठ्ठलनाथजिच्छ्रीद्वारकानाथजिच्छ्रीगोकुलनाथजिच्छ्रीगोकुलचन्द्रमोजिच्छ्रीमदनमोहनजिच्छ्रीबालकृष्णजिदादिरूपैः । चकारेण धर्मिरूपेण श्रीगोवर्द्धननाथजिद्रूपेण तद्ब्रह्म सेव्यम् । तनुवित्तजसेवाविषयं कार्यं तदर्हत्वात् । सेवाविषये ब्रह्मणस्तावद्रूपत्वे साधनाध्यायतृतीयचरणे 'आनन्दादयः प्रधानस्ये'ति सूत्रं स्पष्टत्वाय । पूर्णानन्दैश्वर्यादयः प्रधानस्य धर्मिणः श्रीगोवर्द्धननाथस्य ब्रह्मणो धर्मा इति भाष्यकम् । श्रुतयस्तु सर्ववेदान्तप्रत्ययसूत्रेऽथर्वणोपनिषत्स्था 'गोपवेषमभ्राभं तरुणं कल्पद्रुमाश्रितम्' तदिहश्लोका भवन्ति 'सत्पुण्डरीकनयन'मित्याद्याः ध्वनिताश्चेमास्तत्रैव भाष्ये 'क्वचिद्गोकुलवृन्दाकाननसञ्चरद्गोपरूप'मित्यादौ क्वचित्पदस्य शक्तिः गोपालतापिनीये ध्वनिरुक्तासु

१ तात्पर्यम् ।

श्रुतिषु । गीता तावत् त्रयोदशेऽध्याये ज्ञेयं प्रस्तुत्य 'सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोक्षिशिरोमुख' मित्यादि 'सर्वेन्द्रियगुणाभास'मित्यादि च । अत्रैश्वर्यादयो भगवत्पदसमानाधिकरणज्ञेयगोपवेशपदाभ्यामुन्नेयाः । तल्लक्षणानि गुणप्रकरणस्य सुबोधिन्यामग्रे च प्रपञ्चनीयानि । सेवायां तावद् । 'गतेरर्थवत्त्वमुभयथान्यथा हि विरोध' इति सूत्रे । अत्र सूत्रेऽस्मिन् मार्गे श्रवणादिभिः पापक्षये प्रेमोत्पत्तिस्ततो मुक्तिरिति भाष्यात् । सहकार्यन्तरविधिपक्षेण तृतीयं 'तद्वतो विध्यादिव'दिति वा सूत्रम् । 'सर्वथापि त एवोभयलिङ्गा'-दिति साधनाध्यायस्थं वा सूत्रम् । ननु सेवात्र दास्यकं तत्कथमत्र श्रवणादिषु प्राथम्यं 'तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजे'त्यत्रार्हतीति चेन्मैवं 'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति चे'ति सूत्रस्य भक्तिमार्गेऽङ्गीकृतास्तु साक्षात्प्रकटे पुरुषोत्तमे तद्भजनार्थं उप समीपं गच्छन्तीत्यर्थः एवं श्लेषोक्तिरियमिति ज्ञायते । 'सम्प्रदायानुवृत्तिरपि भगवदिङ्गितेत्येतादृशाः स्वयं येन मार्गेण फलं प्राप्तास्तं मार्गमन्यानपि ग्राहयन्त्युपदेशै'रिति भाष्यात् । अत्र श्रुतिः'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च' इति श्रवणादिभिर्दर्शनमाह तच्च प्रेमद्वारेति ग्राहयति । आचार्यास्तु 'चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजे'ति दास्यकं ग्राहयन्ति । अयमप्युपदेशः उपदेशैरिति बहुवचनात्तदुक्तं फलप्रकरणे श्रुतिरूपाभिः 'भवाम दास्य' इति । ननु कथमेवमुपदेशो यावता गोपालतापिनीये एव पञ्चपदमष्टादशार्णमन्त्रस्वरूपमुक्त्वा पठ्यते 'भक्तिरहस्यभजनम्' इत्यादि ततश्च पञ्चपदजपस्य तत्सिद्ध्यै ह्युपदेशोस्त्वथवाग्रे 'ते होचुरुपासनमेतस्य परमात्मनो गोविन्दस्याखिलाधारिणो ब्रूही'ति प्रश्नोत्तरीभूतोपासनवाचकवाक्येभ्य उपासनोपदेशोस्त्विति चेन्न 'उपपन्न' इत्यादिसूत्रेऽष्टादशार्णमन्त्रोपासकस्य मुमुक्षोः सकाशाद्रहस्यभजनकर्तैवोपपन्न उपपत्तियुक्त इति भाष्येणोपासनामार्गीयस्य पञ्चपदजपस्योपासनस्य चान्यमार्गीयत्वात् । नन्वन्यमार्गीयस्यापि भक्तिमार्गान्तःपातित्वेन भक्तिमार्गीयत्वं भविष्यतीति चेन्न भक्तिमार्गीयसाक्षाद्भगवल्लक्षणफलातिरिक्तमुक्तिफलत्वेन तदन्तःपातित्वस्यासम्भवात् । तदुक्तं 'तल्लक्षणार्थोपलब्धे'रित्यंशेन । श्रुतिस्त्वावत् 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' इति 'अनियम' इति सूत्रभाष्योक्तदिशात्रापि नवधाभक्तीनामुपलक्षणम् । गीता तावद् भक्तियोगाध्याये द्वादशे 'ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः । अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते । तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् । भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय । निवसिष्यसि मय्येवात ऊर्ध्वं न संशय' इति । 'सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्चे'त्यादयस्तु तृतीयसूत्रपक्षे एवमवान्तरफले ध्यानं साधनं तत्त्वेन सेवामुपपाद्य तस्या इतरं भक्तितो मुख्यं फलमाहुः तदीयत्वायेति मानसीसेवाया इत्यर्थः । तदुक्तमुपपन्न इति सूत्रभाष्यप्रकाशेऽमुष्यात्मनः कल्पनमिति सपाठं भक्तिरहस्यभजनमित्यङ्गीकृत्यामुष्यात्मनो वस्तुत एतदीयस्य जीवस्य कल्पनं तदीयत्वसमर्थनमन्तर्बहिःसेवया तद्दृढीकरणम् । कृपू सामर्थ्ये इति धातुपाठात् । पूर्वलिखितपाठे त्वन्येमुष्मिन् कृष्णाख्ये ब्रह्मणि मनसः सङ्कल्पनं प्रेरणा तन्मयत्वमिति चार्थं वदन्तीति । मानसीसेवायां गीता 'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय । निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः' इति । सूत्रं तु 'यत्रैकाग्रता तत्राविशेषा'-दिति । अत्रैकाग्रता ग्राहकचित्तधारा । यद्वा । साधनाध्यायतुरीयपादस्थं 'अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्चे'ति सूत्रं तदीयत्वमेव ज्याय इत्यर्थ इति भाष्यम् । श्रुतिस्तु 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' । स्मृतयो ह्युक्ताः । अन्या अपि 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च । निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः । मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः' इति । अत्र सिद्धान्तमुक्तावलीस्थ 'ततः संसारदुःखस्य निवृत्ति'रिति सेवावान्तरफलघटनात् । अहन्ताममतात्मको हि संसारः ।

१. संस्कारोद्बोधकत्वे ।

तज्जन्यदुःखस्य 'निर्ममो निरहङ्कार' इत्यनेन निवृत्तिकथनात् । 'भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्था' इति गीताविस्तारश्रीभागवतम् । **सर्वदे**ति सेव्यमित्यनेनान्वेति । 'कृष्णसेवा सदा कार्येति' सिद्धान्तमुक्तावलीवाक्यात् । सर्वदा सेव्यमित्युक्तं तत्र सेव्ये स्वरूपे प्रथमाध्यायद्वितीयपादस्थादृश्यत्वाधिकरणोक्ताक्षराभेदपक्षेऽक्षरसंसेवनमादाय तत्फलमुक्तफलातिरिक्तब्रह्मभावो भवति तेनाक्षरसंसेवनात्मकज्ञानेनाविद्यानिवृत्तिद्वारा जीवीयानन्दस्य प्राकट्यात् । तदुक्तं साधनाध्यायतृतीयचरणेऽ'क्षरधियामि'ति सूत्रे । एतादृशस्य ब्रह्मभूतस्याविर्भूतानन्दांशरूपस्य भक्तिलाभमनुवदन्ति स्म **एतदि**त्यादिना । **ब्रह्मभूत** आविर्भूतानन्दांशः **एतत्संसेवनात्** समीपतरवर्तिदास्यकरूपाद्भक्तिं तदीयत्वलक्षणां मानसीसेवारूपां प्रेमलक्षणां लभेदित्यनुवादः पूर्वोक्तस्यार्थस्य लभेतेत्यर्थः । अनुदात्तेतआत्मनेपदानित्यत्वात्परस्मैपदं लभेदिति । ब्रह्मभावानन्तरं मर्यादाभक्तावक्षरधियामित्यादि सूत्रं 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मितिश्रुतिः । 'ब्रह्मभूतः प्रशान्तात्मा न शोचति न काङ्क्षति, समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते परा'मिति गीता । पूर्वोक्तमर्यादाभक्तिफलं पुरुषोत्तमप्रवेश इत्यक्षरधियामित्यादिसूत्रे स्थितं तत्रोक्तं पुष्टिपद्धतित्वेनास्याः परिपाट्याः, तथा सति मर्यादापद्धतिरवान्तरभूता स्यात्तन्निवृत्त्यै तादृशस्याप्राप्तमर्यादाफलस्यात्यन्तानुग्रहे सति पुनर्लीलाप्रवेशसाधनीभूतपुष्टिभक्तिलाभमाहुः **पुनरि**ति अत्यन्तानुग्रहे सतीति शेषः । तस्मिन् सति पुनर्भक्तिं पुष्टिभक्तिं लब्ध्वेत्युत्तरश्लोकेन्वयः । पुष्टिभक्तिरत्यन्तानुग्रहैकसाध्या 'गतेरर्थवत्त्व'सूत्रे निर्दिष्टा, तद्रहितानामपि 'स्वस्वरूपबलेन स्वप्रापणं पुष्टि'रित्युच्यत इति । पुष्टिमार्गेऽङ्गीकृतेस्त्वत्यन्तानुग्रहसाध्यत्वादिति । पुष्टिभक्तेः फलमाहुः ।

भक्तिं लब्ध्वा च विद्याते कृष्णलीलास्वसंशयम् ।
नातः परतरं किञ्चित्प्राप्यमस्तीह कर्हिचित् ॥ १७ ॥

गीताविचारे तु लीलास्वरूपैश्च तत्सेव्यम् । अष्टादशे 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' इति वाक्यात् । तदीयत्वाय । 'असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः । नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति' इति वाक्यात् । नैष्कर्म्यसिद्धिः गोपालतापिनीये 'भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्र फलभोगनैराश्येनामुष्मिन् मनःकल्पनमेतदेव च नैष्कर्म्य'मिति । सर्वदा 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्' 'स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्' 'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्, सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' इति वाक्याभ्याम् । **एतत्संसेवना**दिति एतत्समीपतरवर्ति एतस्य वा संसेवनं विवेकधैर्याश्रयैरन्तःकरणप्रबोधेन च सेवनम् । तस्मात् 'सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे । समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा । बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य चे'त्यत्र विशुद्धा बुद्धिः 'विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यती'त्युक्तान्तःकरणप्रबोधग्रन्थोक्ता च । धृतिः 'त्रिदुःखसहनं धैर्यमामृतेः सर्वतः सदे' ति वाक्योक्ता । 'धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः । योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी'ति वाक्यात् । **आत्मानं** बुद्धिम् । अग्रे 'शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च । विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः । ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः' इत्यत्र प्रपञ्चविस्मरणपूर्वकभगवदासक्तिमुक्त्वाऽऽश्रयरक्षणार्थमाहुः 'अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् । विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पत' इति । 'अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः' इति शान्तः । एतत्संसेवनाद् ब्रह्मभूतः । 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षती'ति 'समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्' इति वाक्यादाहुः **भक्तिं लभेत्पुनरि**ति । अत्र सूत्रं 'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ सम्पद्यत' इति । श्रुतिस्तावत् 'सोऽश्नुते सर्वान्

कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति । गीता तावत् 'सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेय'मिति ज्ञेयनिरूपणे त्रयोदशेऽध्याये । 'सूक्ष्मं तु प्रमाणतश्च तथोपलब्धे'रिति सूत्रे पुष्टिमार्गीयं तत्त्वं सूक्ष्मं दुर्ज्ञेयमित्यर्थ इति भाष्यम् । नापि सर्वथा दुर्ज्ञेयम् । 'तानि परे तथा ह्याहे'ति सूत्रे श्रीगोकुले तानि वस्तूनि सन्तीत्युक्तेः । सर्वसामर्थ्यसहितस्य सर्वत्रैवाखिलार्थकृत ईश्वरस्यात्यन्तानुग्रहेण प्राप्तया भक्त्या कृष्णलीलासु प्रवेशोत उक्तम**संशय**मिति । स्वभावतो दुष्टस्य जीवस्य जगत्कारणकारणे तत्रापि लीलानिविष्टे प्रवेशो भविष्यति न वेति संशयो भवत्येव तदभावोऽसंशयः क्रियाविशेषणत्वान्नपुंसकत्वम् । सगुणं ब्रह्म सर्वमित्याशङ्क्य परिहरन्ति स्म । **नात** इत्यादि, अतो न सगुणं पूर्वमुपपादितत्वात् । अत्र सूत्रं तृतीयाध्यायद्वितीयपादे 'परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्य' इति सूत्रेणातो देशकालवस्तुस्वरूपपरिच्छेदाच्चतुर्विधपरिच्छेदरहितमन्यत्किञ्चिदस्तीति प्रतिपत्तव्यमित्येवं प्राप्ते 'सामान्यात्त्वि'ति । श्रुतिस्तावत् 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' इति । गीता 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यत' इति ।

साकारव्यापकं रूपमुपसंहरन्ति स्म एतद्रूपमित्यादि ।

एतद्रूपं समास्थाय श्रीवल्लभसुनिश्चितम् ।
सात्त्विकैर्भगवद्भक्तैः स्थैर्यं कृत्वा दृढं मनः ॥ १८ ॥

समीपतरवर्तिब्रह्मरूप उक्तप्रकारेण सम्यङ्नियमपूर्वकं आसमन्तादर्थे शब्दे शङ्काराहित्येन स्थापयित्वा स्वमनसीति शेषः । **श्रीवल्लभे**त्यादि । भाष्यसमाप्तौ

'जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्सङ्गलालितम् । तदन्यदिति ये प्राहुरासुरांस्तानहो बुधाः' ॥
'नानामतध्वान्तविनाशनक्षमो वेदान्तसिद्धान्तविकाशने पटुः ।
आविष्कृतोयं भुवि भाष्यभास्करो मुधा बुधा धावत नान्यवर्त्मसु' इति ॥
निबन्धे शास्त्रार्थसमाप्तौ
'अर्थोयमेव निखिलैरपि वेदवाक्यै रामायणैः सहितभारतपञ्चरात्रैः ।
अन्यैश्च शास्त्रवचनैः सह तत्त्वसूत्रैः निर्णीयते सहृदयं हरिणा सदैव' ॥
श्रीभागवतार्थसमाप्तौ च
'श्रीमद्भागवतं समस्तनिगमन्यायैकतत्त्वात्मकम्
नानाभ्रान्तितमःकपाटपिहितं सत्तुष्टये सर्वथा ।
नाभूदित्यवगत्य निश्चितपदैरुद्दीप्तदीपाकृतिं
श्रीमद्भागवतप्रदीपमधुना चक्रे मुदा वल्लभः ॥'
दशमपूर्वार्धसमाप्तौ
'इत्येवं भगवल्लीला कृष्णविश्वासदायिनी । निरूपितातियत्नेन कृष्णपादाम्बुजाश्रया' इति ।

अत उक्तं श्रीवल्लभैः **सुनिश्चित**मिति सूत्रश्रुतिगीताभिर्भाष्यशास्त्रार्थनिबन्धश्रीभागवतप्रदीपदशमपूर्वार्धादिष्विति शेषः । **सात्त्विकै**रिति । इदं विशेषणं 'सात्त्विका भगवद्भक्ता ये मुक्तावधिकारिणः । भवान्तसम्भवा दैवात्तेषामर्थे निरूप्यत' इति निबन्धात् । **दृढं मनः कृत्वा स्थैर्य**मिति मनसश्चञ्चलत्वेन 'लोके तदादरो मुख्यः फलं वैमुख्यतस्तमः' इत्यत्रानादरेऽन्यत्र कामेऽन्यच्च 'जीवाः स्वभावतो दुष्टा' इति तेषामन्यत्र सङ्कल्पे किञ्च बहुष्वाचार्येषु सत्सु किमेतत्सुभणितमुतान्यैराचार्यैः सुभणितमित्येवमत्र विचिकित्सायां च सत्यामदृढं मनो भवति तद्व्यावृत्त्यर्थं दृढमिति विशेषणम् । दृढत्वं च मनसो मनसि मीमांसानिर्णयरूपं 'असन्दिग्धोपि वेदार्थः स्थूणाखननवन्मतः । मीमांसानिर्णयः प्राज्ञे दुर्बुद्धेस्तु ततो द्वय' मिति भाष्यात् । मीमांसानिर्णयश्च मनसि । 'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सेत्यारभ्य धीर्भीरित्येतत्सर्वं

मन एव' इति श्रुतेः । मीमांसानिर्णयवतो निबन्धस्थ 'लोक' इत्यादिवाक्यस्यापि प्रसङ्गादर्शनेन तत्र फलवैमुख्यस्मारणान्मायावादादितः कामनिवृत्तिस्तस्य । 'जीवाः स्वभावतो दुष्टाः' तेषां दोषाणां 'श्रवणादि ततः प्रेम्णा सर्वं कार्यं हि सिद्ध्यती'ति वाक्यान्मीमांसानिर्णयवतः श्रवणाद्यावश्यकमिति निवृत्त्यान्यत्र सङ्कल्पनिवृत्तिः । 'विप्रतिषेधे पर'मिति सूत्रेण श्रीमदाचार्यभणितं सुभणितमिति निश्चयः । सर्वेभ्य आचार्येभ्यः एषां परत्वात् । तथा च तस्यैव सूत्रस्य वृत्तिः 'तुल्यबलविरोधे परं कार्यं स्या'दिति । अत एव कस्याश्चित् काञ्चित्प्रति वचनं पूर्वं गृहे जारः समायातः पश्चात्पतिस्तावुभौ दृष्ट्वा क्रमे सन्दिहाना 'स्मर सखि पाणिनिसूत्रं विप्रतिषेधे परं कार्य' मिति । एवं विद्वद्युक्तिमुपगच्छतो मीमांसानिर्णयवतो विचिकित्सानिवृत्तिः । अतः पर'मेतत्सर्वं प्रयत्नेन गृहस्थस्य प्रकीर्तित'मिति निबन्धसेवाप्रकरणीयवाक्यादत्र गृहिणोपसंहाराधिकरणाद् गृहस्थस्य भक्तिवर्द्धिनीनवरत्नश्रीमद्भागवतरीत्या प्रथमदलानुभवः कर्तव्यः ।

एतावतापि रूपमर्धंयुगलमिति भक्ते रसस्य विरहरूपं द्वितीयं दलमनुभवितव्यमित्याहुः । **श्रीकृष्णेत्यादि** ।

श्रीकृष्णविरहानन्दानुभवाय विशेषतः ।
श्रुत्युक्तरीत्या सर्वत्र पश्यद्भिः पुरुषोत्तमम् ॥ १९ ॥

अत्र सन्न्यासनिर्णयः 'विरहानुभवार्थं तु सर्वत्यागः प्रशस्यते' इति निरोधलक्षणग्रन्थोक्तरीत्या स्थेयम् । अत्रो'द्र्ध्वरेतःसु च शब्दे ही'ति सूत्रे यत्किञ्चिदतिरिक्तसङ्गस्य भगवद्विस्मारकत्वेनावश्यत्याज्यत्वेन श्रुत्या कथनादिति भाष्येण यस्याधिकारिणः सन्न्यासस्य भगवत्सङ्गिसङ्गार्थत्वमवदत् । ततो विशिष्टाधिकारिणः स्फूर्तिमाहुः **विशेषत** इति विशेषात् पूर्वस्माद्विशेषात् । 'बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्चे'ति सूत्रोक्तादित्यर्थः । अतो हेतोः **श्रुत्युक्तरीत्या सर्वत्र पुरुषोत्तमं पश्यद्भिः** स्थेयं न तु सत्सङ्गमात्रार्थं सन्न्यासं कृत्वा स्थेयमुपासनामार्गीयत्वात् 'सत्सङ्गलब्धया भक्त्या मयि मां य उपासिता'इत्येकादशस्कन्धवाक्यात् । अत्र सूत्रं साधनाध्यायीयं 'लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपी'ति 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' 'स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेद५सर्वमित्यथातोऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादात्मा (पुरस्तादहं) दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेद५सर्वमित्यथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेद५सर्वमिति' श्रुती । गीता तावत्तुरीयाश्रमीणस्य विरहाधिकारात्सन्न्यासयोगाध्यायीया ग्रहीष्यते 'कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् । अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मना'मिति । अभितो ब्रह्मनिर्वाणकस्य भक्तस्य सर्वात्मभावोऽनुमीयतेऽतो विदितात्मनामित्यस्य सर्वैरिन्द्रियैरनुवृत्त्या यतचेतसां विदितात्मनामित्यर्थः । आत्मपदार्थश्च न गौणः किन्तु मुख्य एव । सर्वात्मभावस्य स्वरूपं पूर्वोक्तभूमश्रुत्योक्तम् । द्वितीयश्रुत्या तु तद्गतां स्फूर्तय इति गीतायामपि तथा । अथ पदकृत्यम् । श्रीकृष्णयोर्विरह इति श्रीकृष्णयोः परस्परं विरहस्तयोर्भक्तानां विरहः । भक्तानामपि गुरुभक्तिरावश्यकीति भक्तिरसेपि श्रीरालम्बनम् । अत्र पञ्चाङ्गविप्रलम्भे द्वितीयाङ्गस्य विरहस्य ग्रहणं देशैक्येपि गुर्वादिपारतन्त्र्यं विरहलक्षणम् । 'तादृशस्य विशिष्टरहो विरह' इति सुबोधिन्युक्तलक्षणलक्षितत्वेनानन्दरूपत्वं 'प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरादि'ति फलाध्यायसूत्रे दुःखतानिवारणात् प्रवासशापेर्ष्याभिलाषाणां दुःखरूपत्वेनाविवक्षितत्वमाहुरानन्देति विरहेणानन्दस्तस्य स्वस्वरूपस्यानुभवस्तस्मा इत्यर्थः । वस्तुतस्तु विप्रलम्भ इति वक्तव्ये विरहपदोपादानं भागवतमतस्य

१. विदलमित्यर्थः ।

परम्पराप्राप्तत्वेन तत्र च 'विरहातुरात्मे'त्युद्धववचनात्तदनुरोधेन । 'नोद्धवोण्वपि मन्न्यून'इति वाक्यादङ्गमपि विरहो विप्रलम्भपर्यायः । उक्तश्रीकृष्णविरहेत्यादिप्रयोजनाय कुत इत्यत आहुः **विशेषत** इति 'बहिस्तूभयथे'ति सूत्रोक्ताद्विरहानुभवरूपाद्विशेषात् । तादृशानुभवाय स्थेयमित्यन्वयः । स्थितौ प्रकाराकाङ्क्षायां कर्तृविशेषणम् । श्रुत्युक्तरीत्या **सर्वत्र पुरुषोत्तमं पश्यद्भि**रिति । उक्तश्रुत्या उक्तासर्वात्मभावास्तत्स्फूर्तिश्चेत्येवमुक्ता या रीतिस्तया सर्वत्राधस्तादादिदेशे आत्मादेशे निर्दिष्टे उत्तमं पुरुषमक्षरादुत्तमम् । **पश्यद्भि**रथात आत्मादेश इत्यादिश्रुत्युक्तसर्वात्मभावजस्फूर्तिविषयं कुर्वद्भिः । नेदं साधनसाध्यं किन्तु भगवत्प्रदानेन सिद्ध्यति । तदुक्तं 'प्रदानवदेवे'ति सूत्रे । सर्वात्मभावस्वरूपं निरोधलक्षणग्रन्थोक्तं यत्र नान्यत्पश्यतीत्यादिनोक्तं लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणे निपुणतममुदीरितम् । 'विधैव तु निर्द्धारणा'दितिसूत्रे सर्वात्मभावो विधा । 'नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः । नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्पर'मिति निरोधलक्षणग्रन्थान्ते ।

सिद्धमाहुः । **अनयेत्यादि**

अनया पुष्टिपद्धत्या ससूत्रश्रुतिगीतया ।
ज्ञात्वानन्दमयस्त्वं हि भजनीयो व्रजाधिपः ॥ २० ॥

अनया प्रत्यक्षगया पुष्टिपर्यन्ता पद्धतिः पुष्टिपद्धतिः मध्यमपदलोपी समासो न तु मर्यादानन्तरं तत्फले प्रवर्त्योपरता पद्धतिः तया पद्धत्या । सूत्राणि च श्रुतयश्च गीता च सूत्रश्रुतिगीताः सूत्रश्रुतिगीताभिः सहेति ससूत्रश्रुतिगीता तया, सहस्य सादेशः ताश्चोदाहृताः ताश्च निबन्धे 'वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि । समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टय'मिति चकारो जैमिनिसूत्राणि सङ्गृह्णाति । **पुष्टिपद्धत्या भजनीयः** । किं कृत्वानन्दमयाधिकरणादानन्दमयस्त्वं **ज्ञात्वा** । **हि** निश्चितोऽयमर्थः 'एवं विचारचातुर्यवद्भिः सद्भिर्व्रजाधिप । आनन्दमयतानन्दसन्दोहायात्रभाषिते' इति श्लोकात् । अत्र सूत्रं 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' श्रुतिस्तावत् 'को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यादेष ह्येवानन्दयाती'ति । गीतात्रयोदशेऽध्याये 'यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते । सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते' इति । अत्राकाशरूपानन्ददृष्टान्तः । सौक्ष्म्या पुष्टिमार्गीया तत्त्वता सापि दृष्टान्ते दृष्टान्तोक्तौ धर्मौ दार्ष्टान्तिकेपि । यद्वा 'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रवि'रिति तत्रैव । 'आनन्दमानन्दमयोवसान' इति श्रीभागवते आनन्दमयत्वस्याच्युतत्वपक्षजनीयतावच्छेदकत्वम् । तदर्थमत्रानन्दमयत्वज्ञानस्योक्तिः । **व्रजाधिप** इति । अत्र सूत्रं 'अत एव चानन्याधिपतिरि'ति फलाध्यायतुरीयपादे । श्रुतिः 'सर्वस्याधिपति'रिति । गीताविस्तारः 'मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपी'ति भागवतम् ।

स्वरूपवर्णनमुपसञ्जहुः **इतीत्यादिना** ।

इति स्वरूपसर्वस्वं धारयेद्यः समाहितः ।
स बुद्ध्वानन्दरूपं तु मुच्यते सर्वसंशयात् ॥ २१ ॥

इति उक्तप्रकारेण ब्रह्मरूपस्य **सर्वं** आत्मात्मीयज्ञातिधनरूपं ब्रह्म वृतभक्तसर्वात्मभावनन्दादिगोधनादिसमाहितैकत्रमनाः सम्यगासमन्तादात्मनो हितो हितकारी **यो धारयेत्** मननेन ततः पतनप्रतिबन्धकव्यापारात्मकधृतिं कुर्यात्स **आनन्दरूपं बुद्ध्वा सर्वसंशयात्तु मुच्यते** 'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद स'इति श्रुत्युक्तो गन्तुः संशयस्तु वर्तत एव । मतं ब्रह्मामतं ब्रह्म वेति । पूर्वोक्ता श्रुतिः सुबोधिन्यां 'यतो वाचो निवर्तन्त' इति श्रुतिः समानार्थेति प्रोक्तप्रायं **'आसामहो'** इत्यत्र ।

सर्वे संशयास्तु उक्तप्रकारं ब्रह्मान्यप्रकारं वा सर्वात्मभावः साधनं ज्ञानादि वा शब्दप्रत्यक्षानुमानोपमानानि प्रमाणं 'वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि, समाधिभाषा व्यासस्य' प्रमाणं वा फलं वा भगवान् वाऽविद्यानिवृत्तिर्वा । आचार्या इमेऽन्ये वात्मानः । **इति स्वरूपवर्णनम् ।**

स्वरूपस्वरूपं प्रस्तोतुं मङ्गलं स्मरन्ति । **जयती**त्यादिना ।

'जयत्याचार्यपादाब्जरेणुर्यल्लाभतः स्वयम् ।
तुरीयं पुरुषार्थं हि प्रीतः कृष्णः प्रयच्छति ॥ १ ॥

यद्रेणुलाभतः यो यस्य चरणरेणुं वाञ्छति स तद्भवति तद्योग्यो वा भवतीति वा । तथा च यथाऽऽचार्येभ्यः पुष्टिमर्यादाभक्तिमार्गीयमोक्षं प्रयच्छति मोक्षदातृत्वेपि प्रीतस्तत्रापि कृष्णः सदानन्दो न तु विभूतिरूपस्तत्रापि **स्वयं** न तु धर्मरूपेण तथास्मभ्यमपि मोक्षं दास्यति **प्रीतः कृष्णः** स्वयम् । किञ्च ते यथाऽदेयदानदक्षास्तथा वयमपि भविष्याम इति भावः । स्पष्टं चेदम् 'आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्या'मित्यत्र सुबोधिन्याम् । 'अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभि'रित्येकादशचतुर्दशे पापाभावे चरणरेणुः कारणमुक्तमेवं च चरणरेणुलाभतः पापाभावः ततः **प्रीत** इति मर्यादोक्ता । पापाभावस्य भक्तिकारणत्वात् ।

संस्कृतदेहे तुरीयपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं साधनमाहुः **शब्दे**त्यादि ।

शब्दार्थयोर्नित्यता तद्भक्तिरात्यन्तिकी हरौ ।
उदेति श्रीवल्लभेतिनामोच्चारणमात्रतः ॥ २ ॥

श्रीवल्लभेतिनाम प्रतिपादकं श्रीश्च श्रीश्च श्रीश्च श्रीश्च श्रीश्च श्रीश्च श्रियः षट् । षट्श्रीयुक्ताः वल्लभाः श्रीवल्लभास्तेषां नाम **श्रीवल्लभेतिनाम** प्रतिपादकं प्रतिपाद्यंच प्रियत्वरूपश्रीवल्लभत्वविशिष्टम् । एतयोः शब्दार्थयोर्नित्यता तदुच्चारणमात्रतो'अनियमः सर्वासा'मिति सूत्रप्रमाणेनात्यन्तिकी **भक्तिरुदेति** । केति चेन्न **हरौ** । हरिर्मनो ब्रह्म 'मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्त' इति प्रथमचरणं प्रतिमारूपमपीति तत्रेत्यर्थः । यद्वा जिज्ञासाधिकरणोक्तनिर्गुणब्रह्मणः सकाशाज्जगदिति प्रथमचरणं प्रतिमारूपमपीति तत्रेत्यर्थः । मानसीसेवारूपात्यन्तिकी भक्तिः । तथा च पञ्चाग्निविद्यासंस्कृतदेहेभ्य इव चरणरेणुसंस्कृतदेहेभ्यः आत्यन्तिक्या भक्त्या तुरीयं पुरुषार्थं स्वयं प्रयच्छतीत्युक्तम् ।

तुरीयं पुरुषार्थं स्वयमुक्तं प्रपञ्चयामासुः **आनन्दे**त्यादिना ।

'आनन्दमयतानन्दसन्दोहो यत्प्रवेशतः ।
आनन्दरूपे भवति स वै श्रीवल्लभः प्रभुः ॥ ३ ॥

यद् येभ्यः उक्तगुरूपसत्त्यादिमुखद्वारा**नन्दमयता** जीवानां भवति 'आनन्दरूपे प्रवेशतः आनन्दस्य सन्दोहः समूहो भवति जीवीयसच्चिदानन्देष्वा**नन्दरूपे भवति** स श्रीवल्लभः प्रभुः समर्थ इत्यर्थः ।

त्रिषु साकारव्यापकं निरूप्य तद्रूपं निरूपयाम्बभूवुः **सिद्धिदे**त्यादिना ।

सिद्धिदा यादृशी प्रोक्ता जीवानां सेवना कृता ।
तादृशीं स्वीयशिक्षार्थं दर्शयामास वाक्पतिः ॥ ४ ॥

सिद्धिदा एकादशपञ्चदशाध्याये प्रोक्ता । न चैकोनत्रिंशाध्यायोक्तेति कुतो नोक्तमिति शङ्क्यम् । भाष्ये गोपालतापिनीयश्रुतिप्रोल्लेखा'द्भक्तिरस्य भजनमि'ति श्रुत्युक्तां मुख्यां ग्रहीतुं सिद्धिदे-

१. उत्पद्यते । २. आचार्येभ्यः ।

त्याद्युक्तेः । सा पश्चान्मानसिकसाधनत्वाद्वक्तव्येदानीं संसारदुःखनिवृत्तिब्रह्मबोधनमानसीसेवारूपसिद्धिदा सिद्धान्तमुक्तावल्यां यादृशी प्रोक्ता तस्याः साधनभूतायाः कायिकीत्वात् तावत्तद्विषयीभूतं प्रतिमाद्याहुः **षड्गुणै**रित्यादि ।

षड्गुणैः सहितो धर्मी कृष्णः सेव्यः परः प्रभुः ।
गुणाश्च भगवद्रूपाः रूपलीलाविभेदतः ॥ ५ ॥

षड्गुणैः सहितो धर्मीति । अत्र 'आनन्दादयः प्रधानस्ये'ति सूत्रम् । 'गोपवेशमभ्राभं तरुणं कल्पद्रुमाश्रितं तदिह श्लोका भवन्ति सत्पुण्डरीकनयन'मित्यादिश्रुतिः । इयमस्मिन् सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणेस्ति, राजविद्याराजगुह्ययोगाध्याये 'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते । एकत्वेन पृथक्त्वेने'ति तथा 'बहुधा विश्वतोमुखमि'ति गीता । **कृष्णः** सदानन्दः **परः** पुरुषोक्षरात्परः **प्रभुः** सर्वसामर्थ्यसहितः । 'सर्वसामर्थ्यसहित' इतिकृष्णाश्रयात् । **गुणाश्च** पूर्णानन्दैश्वर्यवीर्यादयः । **भगवद्रूपा** इति । सेव्या इत्यन्वयः । 'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वा'दिति सूत्रम् । 'गोपवेश'मित्यादिश्रुतिः । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्दं ब्रह्म' 'अरसं सर्वरसो निर्गुणः सर्वशक्ति'रिति श्रुतयः । शक्तयो हि पूर्णानन्दैश्वर्यवीर्ययशःश्रीज्ञानवैराग्याण्यपि । 'निर्गुणं गुणभोक्तृ चे'ति 'ज्योतिषामपि तज्ज्योति'रिति 'सर्वतः पाणिपादं तत्', इति 'सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेय'मिति, 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जित'मिति, 'निर्गुणं गुणभोक्तृ चे'ति यथायोग्यं श्रुतिपदानुकूला गीता । **रूपलीलाविभेदत** इति तज्ज्ञात्वेत्यनेनान्वयः । **रूपाणि** श्रीपञ्चकयुक्तगोवर्धनाधीशैश्वर्यरूपादिरूपाणि । **लीलाः** 'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके' इत्यादिश्रुत्युक्ता निष्प्रतियोगिन्यः ।

सप्रतियोगिन्यो बाललीलाद्याः । **तज्ज्ञात्वे**त्यादि ।

तज्ज्ञात्वा सेवनाकार्येत्येवंरूपविभेदतः ।
सेवयामास वागीशो बहुरूपाणि वै हरेः ॥ ६ ॥

तद्ब्रह्म सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशाधिकरणोक्तरीत्या प्रथमपादमपीति **ज्ञात्वा** । किञ्च 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीते'तिश्रुत्या च ज्ञात्वा । 'त्वया ततं विश्वमनन्तरूपे'ति विश्वप्रदर्शनाध्याये गीतया च ज्ञात्वा । **सेवना कार्ये**ति हेतोरेवं वक्ष्यमाणप्रकारेणेत्यर्थः । तद्रूपं निरूप्यते । प्रतिमाया जगन्नित्यत्वेन नित्यस्वात् कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्षणं प्राप्नोति । तथा च घटः कपालद्वयं संयोगसहितमस्ति कार्यं कारणं च । अत्राभिन्ननिमित्तोपादानो घटः । एवं जगत्कार्यमभिन्ननिमित्तोपादानं **ब्रह्माभिन्नं पटवच्च** । 'कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्षणं पटतन्तुवत्' इति वाक्यात् । तत्रापि साकारब्रह्मणः 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्ता'दिति तैत्तिरीयोक्तं भावेन रूपम् । 'नवाम्बुदानीकमनोहराय प्रसन्नराजीवविलोचनाय । वेणुस्वनामोदितगोकुलाय नमोस्तु गोपीजनवल्लभाय' इत्युक्तं तरुणं प्रादेशमात्रं वा जगदन्तर्गतप्रतिकृतिरिति तद्रूपम् । 'कटकाद्युपचाराः साक्षात्कृता भवन्ती'ति निबन्धटीकायाः । न तु 'सदंशेन जडा अपि' इति निबन्धादयोगोलके वह्निरिव ह्युक्तं रूपं व्याप्तम् । भक्तभावेन पूर्वं सदंशत्वेपि कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्षणानन्तरं तिरोहितज्ञानानन्दाविर्भावाङ्गीकारेण सदंशमात्रत्वाभावात् । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति छान्दोग्ये नृसिंहतापिनीये च 'सच्चिदानन्दात्मकमिदं सर्वमि'ति च । तथा च भाष्यम् 'भक्तिमार्गे तु भक्त्या तत्र प्रकट' इति भक्तभावेन पूर्वोक्तदिशा न्यूनेन अन्यथा ततो न्यूनेन ततोन्यथेति बोध्यम् । अग्रे स्पष्टम् ।

शिक्षायां हरिःॐ 'ॐशन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा । शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः' । 'नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासी'ति सप्तमित्रादीनुक्त्वा नमो ब्रह्मण इत्येकत्वपूर्वकं वन्दनभक्तिरुक्ता । ञिमिदा स्नेहने, मेद्यतीति मित्रः 'अमिचिमिदिशसिभ्यः क्त्रः' इति क्त्रन् । म्रियते वृणोति वा, वृञ् वरणे, 'कृवृदारिभ्य उनन्' । इयर्ति अर्यमा, 'श्वन्नुक्षन्पूषन्' इति निपातितः अर्यमा सूर्यः साम वा । इन्दति 'ऋज्रेन्द्रे'त्यादिना रन् । बृहतां पतिः 'तद्बृहतो'रिति सुट्तलोपौ । विष्लृ व्याप्तौ वेवेष्टि 'विषेःकिच्चे'ति नुः । उरु क्रमो यस्य ।

एष्वेकस्य रूपलीलाविभेदतो ज्ञानमाहुः ।

गोवर्धनाधीशरूपं मूलरूपानुकारतः ।
शरणीयं च सेव्यं च भक्तिमार्गानुसारतः ॥ ७ ॥

मूलरूपं ब्रह्मरूपं देवरूपं तुरीयं तत्त्वं तदनुकरणतः अनुकृत्यधिकरणे 'सर्वोपि पदार्थस्तमेवानुकरोति सूर्य रश्मय इव छाया पुरुषमिवैवं तुरीयं देवं गोवर्धनाधीशरूपमनुकरोती'ति तदनुकारः । कर्मण्युपपदे घञ् । ततस्तसिल् । अत्र मूलरूपे सूत्रं 'पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि,' 'अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्ते'रिति । श्रुतिस्तावत् । 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीरा' इति । 'क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते । उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृत' इति 'यस्मात्क्षरमतीतोहमक्षरादपि चोत्तमः । अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः' इति गीता । **शरणीयमिति** । शरणमार्गो निबन्धे 'जगन्नाथे विट्ठलेशे श्रीरङ्गे वेङ्कटेऽथवा, यत्र पूजाप्रवाहः स्यात्तत्र तिष्ठेत तत्परः' इत्यत्र स्वाशयप्रकाशनद्वारा स्थितिरूपः । तद्विषयीकार्यम् । **सेव्यमिति** व्याकृतमिदं पदम् । भक्तिमार्गो द्वुस्सवादिनिरूपणे वक्ष्यते **तदनुसारस्तदनुसरणं तस्मात्** ।

शब्दात्मको भगवान् निबन्धे भावनान्तरे चास्ति । प्रथमद्वितीयस्कन्धौ चरणौ, तृतीयचतुर्थौ जङ्घे, ऊरू, श्रीहस्तः, स्तनभागौ, हृदयम्, शिरः वामश्रीहस्तः क्रमेण ।

अथ पीठकभावना । भगवतो भागवतस्य रूपं 'उत्क्षिप्तहस्तः पुरुषो भक्तमाकारयत्युते'ति निबन्धाद्भक्ताकारणाश्रयो भगवान् रसमर्यादया भावनीयः । 'तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थ' इति वाक्यात् । 'सर्वरस' इति श्रुतेश्च । तत्र रसो भक्तिः स च 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति'रिति सूत्रादालम्बनोक्तावप्युद्दीपने किंचिद्वक्तव्यमपि चानुभावसंचारिभावा वक्तव्याः । तत्र **विहगो** मुनिः 'प्रायो बताम्ब विहगा मुनय' इति, सोनुभावः भक्तिमनुभावयतीति । **द्वितीयविहगोपि** । **मेघः** कालो लीलानुकूलः उद्दीपनश्चेष्टारूपत्वात् । **शेषः** सङ्कर्षणः शय्यादिरूपः । आलम्बनविभावः व्यूहत्वात् । आकार्यभक्तो हि 'सर्वं सर्वमयमि'ति श्रुतेः शेषो द्वितीयः शेषपत्नी । श्रीगोवर्धनस्थाश्रयो भक्ता धर्मार्थकामाश्रयो विभावा आलम्बनविभावाः । गावो गोकुललोकबोधिका उद्दीपनविभावाः । श्रीनृसिंहोऽक्षरः 'प्रभुत्वेन हरेः स्फूर्तौ लोकत्वेन तदुद्भव' इति निबन्धाल्लोकबीजम् । भगवानक्षरस्थ उत्तमः पुरुषः । अधो यमुनाजित् । अन्यच्छ्रीगोवर्धनजिद्धरिदासवर्यः तदुक्तं नित्यलीलावादे विद्वन्मण्डने यावती रसमर्यादा तावन्तोर्था भगवद्रूपा मन्तव्याः अयमेको भक्तिरसः । शब्दात्मको भगवान् इतिपक्षे 'उत्क्षिप्तहस्तः पुरुषो भक्तमाकारयत्युत । दक्षिणेन करेणासौ मुष्टीकृत्य मनांसि नः । वामं करं समुद्धृत्य निह्नुते पश्य चातुरीमि'ति ॥ १३ ॥ सार्ध-

पद्योक्ताकारणार्थमेव निकुञ्जमन्दिरद्वारे स्थितोस्तीति **पीठिकाभावना** । अथ शब्दार्थयोरौत्पत्तिकसम्बन्धाद्वक्ष्यमाणरीत्या षड्धर्मादिभावनास्तया रीत्या समष्टिभावनायामपि कृतायां 'जयति जननिवासो देवकीजन्मवाद' इति पद्यसङ्गृहीतनित्यलीलावादोक्तलीलाभावनायामपि विद्वन्मण्डनोक्तदिशा सिद्धायां धर्मिनिरूपणात्प्रमेयरूपधर्मिस्फूर्तेर्मूले उक्तत्वाच्छब्दार्थरसरूपघृषो रूपे वेणुगीतम् । अत्र प्रमेयप्रकरणं षड्गुणयुक्तस्वरूपवर्णनेन धर्मिनिरूपणमिति ह्युभयरूपरसभावनायां परिकल्प्यते । वेणुगीतारम्भे 'सगोगोपालकोच्युत' इति । 'अच्युतं पादपत्रैकरूप'मित्यत्राच्युतत्वं भजनीयतावच्छेदकं रूपमुक्तं, सोच्युतः सगोगोपालकः गोगोपालाः पीठकस्थाः । किञ्च 'इत्थं शरत्स्वच्छजल'मिति वृन्दावनविशेषणात्पीठकस्था **श्रीयमुनाजित्** । निकुञ्जरूपवृन्दावनद्वारे स्थितो भक्ताकारणार्थमिति शब्दात्मको भगवान् इति पक्षे **पीठिकाभावना** । उत्पलाब्जानां माला स्वरूपे वर्तते चूतप्रवालश्लोकोक्ता । तस्याः स्वरूपं **योगमाया** । गोपालतापिनीये श्रुतिः 'कण्ठं तु निर्गुणं प्रोक्तं माल्यन्ते आद्ययाजया । माला निगद्यते ब्रह्मंस्तव पुत्रैस्तु मानसै'रिति । आद्या मायाजा तया माल्यन्ते माल्यते । कीर्तिमयी सा । कीर्तिमयीं वनमालामिति'बर्हापीड'श्लोकसुबोधिन्याः । 'वृन्दावनं सखि भुव' इत्यत्र 'अद्रेसान्वपरतान्यसमस्तसत्त्व'मिति वृन्दावनविशेषणान्निकुञ्जमन्दिरद्वारे तेन गोवर्धनाधीशपदसमानता । अर्थपक्षे रसरूपा विभावाः । 'धन्याः स्म मूढमतय'इत्यादिश्लोके धर्माणामैश्वर्यादीनां निरूपणम् । तदग्रे स्फुटिष्यति । 'कृष्णं निरीक्ष्ये'त्यत्राप्सरसां स्वरूपं तासां भावने सत्युपयुज्यते । 'गावश्च कृष्णमुखनिर्गते'त्यनेन पीठिकास्थगवां स्वरूपम् । 'प्रायो बताम्ब विहगा' इत्यनेन शुकमयूरस्वरूपम् । 'नद्यस्तदे'त्यत्र श्रीयमुनाजित्स्वरूपम् । 'दृष्ट्वातप' इत्यनेन कन्दराया मेघत्वेन भावने तत्स्वरूपमुक्तम् । 'पूर्णाः पुलिन्द्य' इत्यनेन भक्तत्रयस्य पुलिन्दीत्वेन भावने तत्स्वरूपमुक्तम् । 'हन्तायमद्रि'रित्यनेन सम्पूर्णपीठिकायाः स्वरूपम् । 'गागोपकै'रित्यनेन श्रीगोवर्धने पुलिन्दीषु च कृपोपपत्तिः । इत्यमर्थपक्षे विभावाः । ननु शब्देनैव निर्वाहेऽर्थस्य द्वितीयतया 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मे'ति श्रुतिविरोध इति चेन्न । शब्दसृष्टेरर्थस्यापि शब्दात्मकत्वात् । किञ्च ब्रह्मणो विरुद्धधर्माधारत्वेन शब्दः पुंस्त्वविशिष्टः ब्रह्मार्थरूपं नपुंसकत्वविशिष्टम् । तथा च श्रुतिः 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जन'मिति । पद्मपुराणे तु'निष्कलो निष्क्रियः शान्तो निरवद्यो निरञ्जन'इति । एतेन छान्दसं नपुंसकत्वं श्रुताविति ज्ञायते । तेन पुंस्त्वनपुंसकत्वविशिष्टं विरुद्धधर्माधारो ब्रह्मरूपमिति । **इति पीठिकाभावना समाप्ता** ।

अथ गुणप्रकरणे यत्तन् 'निर्धर्मको वा भिन्नो वा निरोधं कुरुते यदि । तदा व्यर्थं समस्तं स्या'दिति षड्गुणवर्णनमाहुः कृष्ण इत्यादि ।

कृष्णः स्वैश्वर्यरूपेण प्रकटो बाललीलया ।
नवनीतादिचौर्येण स सेव्यस्तत्प्रभावतः ॥ ८ ॥

समष्टिरूपेण सेवितोपि व्यष्ट्या धर्मरूपेण । एवं धर्मिरूपस्य सेवायां श्रीनवनीतप्रियजित् दुग्धस्य सर्वप्रतिष्ठाभूतस्य तत्त्वं नवनीतम् । 'पयसि सर्वं प्रतिष्ठित'मिति संहिताश्रुतेः । तदपि शुद्धम् । नवनीते तेजोरूपघृतस्य सत्त्वात् । 'तेजो वै घृत'मिति श्रुतेः स आश्रयः । 'सर्वमत्तुमभ्रियते'ति बृहदारण्यकात् । भक्तिविशेषाधिकारिणां भक्तानामिच्छातः 'अचलत्वं चापेक्ष्ये'ति सूत्रोक्तायाः । **कृष्णः** सदानन्दः **स्वैश्वर्यरूपेण प्रकटो** भवति । तदा **बाललीलया** युतो भवति । **नवनीतादिचौर्येण** रूपेण प्रतिमारूपं च भवति । आदिना रोट्यादि । इदमुक्तं भवति ।

नवनीतचौर्यं शक्यतावच्छेदकं नवनीतचौर्यविशिष्टनवनीतचोरे शक्तिः । यद्यप्यष्टमी तिथिः रोहिणीनक्षत्रं वृषराशिरिति न नवनीतचोरपदप्रवृत्तिनिमित्तं नवनीतचौर्यं, तथापि ह्यनुकृतेर्नवनीतचौर्यं शक्यतावच्छेदकं बोध्यम् । सर्वकर्मकर्तृत्वमष्टमीतिथिजातस्य भवतीति चौरकर्मकर्तृत्वमपीति वा, अत एवैकादशसुबोधिन्यां'मूर्त्याभिमतया स्वये'त्यस्य प्रकारसहस्रमध्ये नवनीतचौर्यादिरूपेषु स्वभावो नियामक इति । प्रसिद्धं तु नवनीतप्रियजित्त्वं शक्यतावच्छेदकम् । एवं चोत्सवाध्याये ऐश्वर्यनिरूपके या बाललीला तया नवमेध्याये ज्ञाननिरूपके नवनीतादिचौर्यं तेन च प्रमाणप्रकरणीयाः सर्वा लीलाः प्रसिद्धाः श्रीनवनीतप्रियजितीत्युक्तम्, 'जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्सङ्गलालित'मिति भाष्यात् । ननु मूलरूपानुकारत एव सेव्यो मुख्यत्वादित्याकाङ्क्षायामाहुः प्रतिविधानम् । स सेव्य इत्यादि । भवेदेतदेवं यदि धर्मित्वेनैव भक्तिविषयः स्यात्किन्तु ऐश्वर्यादिरूपा धर्मा अपि नवनीतचौर्यादिरूपैस्तस्य मूलरूपस्य प्रभावः प्रकृष्टो भावो धर्मस्तस्माद्धेतोः स नवनीतचोररूप ऐश्वर्यधर्मोपि सेव्यः । अन्यथा'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वा'दित्यत्र निरूपितो भगवतो धर्माभेदो माहात्म्यं जीवात्म्यैक्यं च ज्ञापयन् स्नेहमात्रपर्यवसायी स्यात्, एवं तु स्नेहेन धर्मानुवृत्त्यात्म्यसेवापर्यवसायीति सिद्धान्तमुक्तावलीस्थ'कृष्णसेवा सदा कार्ये'ति वाक्यानुगुण्यमेव गुणः । कृष्णो भगवान् । भगवानिव भगा अपि सेव्या इति । अन्यथा युगलगीते'कृष्णे वनं याते'इत्युक्ते सति तल्लीलाः प्रगायन्त्य इति वक्तव्ये'कृष्णलीलाः प्रगायन्त्य' इत्युक्तौ कृष्णपदं व्यर्थं सत् किंचिज्ज्ञापयति कृष्ण इव कृष्णलीला इति ख्यातिप्रयोजनको ग्रन्थः स्यात् । भगा लीलावत् । धर्मी स्वरसः, सर्वरसोयं त्वैश्वर्यधर्मोऽद्भुतरसः ।

ऐश्वर्यलक्षणम् । ईश्वरस्य भाव ऐश्वर्यमित्यत्र प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारस्य महात्मन ईश्वरेण सह भेदसम्बन्धस्याव्युत्पन्नत्वेनालौकिकविषय एव वृत्त्यगोचरेऽभेदसंसर्ग आस्थीयते, 'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वा'दिति सूत्रभाष्योक्तरीत्या । आस्थिते च प्रकृतिप्रत्ययार्थाभेदे ऐश्वर्यमालम्बनविभावः । तद्गुणातिशया नवनीतचौर्यादय उद्दीपनविभावाः । स्तवकीर्तनाश्रुपातादयोनुभावाः । तनुजवित्तजसेवामाहात्म्यज्ञानवैराग्यगतिधृतिहर्षादयो व्यभिचारिभावाः । देवादिविषयो विस्मयः स्थायिभावः । अत्राधिकारिणो राजसा नराः, 'मल्लानामशनि'रित्यत्र सुबोधिन्यां स्पष्टम् । वात्सल्यरसो धर्मी इत्येवमुक्तं वात्सल्यरसो वा । अथ परिमाणम् । वैश्वानराधिकरणे गोवर्धनाधीशरूपं मूलरूपानुकारत इति तरुणमिति गोपालतापिनीयश्रुत्युक्तस्तरुणाकारः स्पष्ट एव नो प्रोच्यते । तत्रापि 'पुस्थित(?)हस्तः पुरुषो भक्तमाकारयस्तुते'ति भागवतार्थनिबन्धोक्तः श्रीमदाचार्यभावितस्वात् । स चातिरसरूपे यद्वा पुरुषोत्तमयोगाध्याये 'स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारते'ति गीता । अत्र गीतायां सर्वभावेन मां भजतीत्यनेन । पूर्वा....भगवद्धर्मधर्मितनुभावरूपमत्र नवतनुत्वनिवेशो परिवृढाष्टकटीकायाम् । ऐश्वर्यरूपं तु बाललीलापदसमभिव्याहारान्न तरुणमिति प्रादेशमात्रं प्रोच्यते । तथा च तत्रैव भाष्यम् । 'शब्दादिभ्योन्तःप्रतिष्ठाना'दित्यादिसूत्रे विरुद्धधर्माणां तत्तद्धर्मोपपत्तिरित्यैश्वर्यमेव भगवतो वर्णितमिति 'आमनन्ति चैन'मिति सूत्रे तस्मात्प्रादेशमात्रो व्यापक इति वैश्वानरो भगवानेवेति सिद्धमिति च । तस्मात्प्रादेशमात्रो व्यापक इति भाष्ये व्यापकत्वांशे 'आनन्दादयः प्रधानस्य' इति सूत्रे लीलापदार्थास्तु ब्रह्मधर्मत्वेन व्यापका उच्यन्ते । व्यापकस्य धर्मिणो अनागन्तुकधर्मस्य व्यापकत्वनियमादिति भाष्यम् । तेन ऐश्वर्यादीनां ऐश्वर्यादय एवं तेषामपीति न भावनीयं पूर्वसूत्रे प्रतिषेधात् । गुणप्रकरणनिबन्धे । ऐश्वर्यादिलक्षणानि । कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ ईश्वरः । 'येनैतावत्कृतं सर्वं स कृष्णो भगवान्परः । इति दर्शयितुं षड्भिरध्यायैः षड्गुणाञ्जगा'विति षड्गुणप्रयोजनं देवकीवसुदेवादीनामन्त-

र्बहिरानन्ददानं ज्ञानादिना पुत्रादिभ्यश्चातस्तादृशानामन्तर्बहिर्ज्ञानं पुत्रादिभ्य आनन्दान् यः प्रयच्छति । स ईश्वरः स एवैश्वर्यम् वेणुगीते च 'ईश्वरः पूज्यते लोके मूढैरपि यदा तदा । निरुपाधिकमैश्वर्यं वर्णयन्ति मनीषिणः' इति 'धन्याः स्म मूढमतय' 'इत्यस्य सुबोधिन्यां, तथा अन्यान्यपि । बाललीलायां स्पष्टं तु ह्युत्सवाध्याये आनन्ददानं स्वेन पुत्रेण बहिरानन्ददानमैश्वर्यकार्यम् । तथा ग्रामीणानां मूढानां पूजनं चोत्सवाध्यायनिरूपितबालकस्य श्रीनवनीतरायजितः स्मर्यते । तद्रूपे साकारव्यापकत्वमग्रे शृङ्गारस्वरूपे वर्णिष्यते । परं धर्मिणि अतो धर्मे ऐश्वर्यरूपे । अत्रैवं भक्त्या प्रकटे सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणोक्तरीत्या सर्वे धर्मा उपसंहर्तव्याः । तेन धर्मी न निर्धर्मकः नापि भिन्नो निरोधं कुरुत इति सिद्धम् । अत्र अन्यथाकर्तुं समर्थत्वं ज्ञेयम्, अन्यद्वा ज्ञेयम् । अत्र श्रुतिः 'व्रजे स बालको भूत्वा क्रीडते पुरुषोत्तम' इति, 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्ता'दिति, 'मूर्त्याभिमतया स्वये'ति श्रीभागवतैकादशे, गीता 'यद्यद्विभूतिमदि'ति, सूत्रं 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशा'दिति, सूत्राणां न्यायरूपत्वात् प्रतिकृतावपि प्रवृत्तिः, तथापि श्रीगोवर्धननाथजिदन्तर्गतानां धर्माणां....वादिना....तर्यादीनामित्याशङ्कायामत्र सूत्रं 'सर्वाभेदादन्यत्रेमे' इति । श्रुतिस्तु सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणविषयवाक्यं 'सत्पुण्डरीकनयन'मित्याद्या 'रसो वै स' इति श्रुतिश्च । गीता तावत् साधनाध्यायस्य श्रुतिसूत्रयोरियम् । 'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'ति क्षेत्रक्षेत्रज्ञाध्याये साधननिरूपिका ।

वीर्यरूपेणेति ।

> **वीर्यरूपेण मथुरां गत्वा भक्ताधिमर्दनम् ।**
> **कृत्वा गतः स्वप्रिययालिङ्गितो भक्ततापहृत् ॥ ९ ॥**

एवं 'अचलत्वं चापेक्ष्ये'ति सूत्रोक्ताया आधुनिकनित्यलीलाप्रविष्टभक्तेच्छातो वीर्यरूपेण प्रकटो भवति । सर्वरस इति श्रुतेर्वीरस्य गोवर्धनेशस्य भावो भवति । तदा राजसप्रकरणीयमथुरागमनादिलीलायुतो भवति । भक्ततापहृत्त्वेन टिप्पण्युक्तमधुसूदनत्वेन रूपेण प्रतिमारूपं च भवति । अत्र भक्ततापहृत्त्वं मधुसूदनत्वरूपं शक्यतावच्छेदकम् । प्रसिद्धं मथुरेशजित्त्वं शक्यतावच्छेदकम् । गुणाश्च यथासम्भवमुपसंहर्तव्या एव । अतः प्रिययालिङ्गितः । प्रिया कुब्जा । स सेव्य इत्यन्वयः । राजसप्रकरणीयपञ्चचत्वारिंशाध्याये वैराग्यनिरूपणं न वीर्यनिरूपणं अतः कुब्जारूपया प्रियया वीर्यरूपेणालिङ्गित इति सङ्गतं न भवति । तथैव मथुरां गत्वेति मथुरागमनं राजसप्रकरणीयाष्टत्रिंशाध्याये । 'अथापराह्णे भगवान्कृष्णः सङ्कर्षणान्वितः । मथुरां प्राविशद्गोपैर्दिदृक्षुः परिवारित' इति वाक्यात् । अष्टत्रिंशाध्याये च वैराग्यनिरूपणं, न वीर्यनिरूपणम् । अग्रिमाध्याये धर्मिनिरूपणं, न वीर्यनिरूपणम् । तदग्रिमाध्याये चैश्वर्यनिरूपणं, न वीर्यनिरूपणम् । एकचत्वारिंशाध्याये च भक्ताधिमर्दनं, मल्लादिवधस्य कृतत्वेन दर्शनाद्वीर्यनिरूपणम् । अक्षरात्मकत्वेन श्रीरूपजीवेषु । अग्रिमाध्याये च मातापितृबन्धविमोचनोग्रसेनराज्यदानादेर्यशोबोधकत्वेन यशोनिरूपणं, न वीर्यस्य निरूपणम् । अग्रिमाध्याये श्रीनिरूपणं, न वीर्यनिरूपणम् । अग्रिमाध्याये ज्ञाननिरूपणं, न वीर्यनिरूपणम् । पञ्चचत्वारिंशे च 'सानङ्गतप्तकुचयोरुरसस्तथाक्ष्णोर्जिघ्रन्त्यनन्तचरणेन रुजो मृजन्ती । दोर्भ्यां स्तनान्तरगतं परिरभ्य कान्तमानन्दमूर्तिमजहादतिदीर्घताप'मिति वाक्याद्भक्तायाः कुब्जायास्तापहृत् ।

---

१. भावनायां शङ्खपद्मगदाचक्राणीति क्रमः ।

अन्यत्र मथुरां गत्वा वीर्यरूपेण भक्ताधिमर्दनं कृत्वा सान्दीपिनिगुरुं गोपिकाश्च पुत्रद्वारा भ्रमरगीतोक्तज्ञानद्वारा च सान्त्वयित्वा पुनर्मथुरां गत इत्यर्थः । तत्रापि वीर्यरूपेण भक्ताधिमर्दनातिरिक्तलीलाकरणाद्वीर्यरूपेण मथुरां गत्वेत्यादि सङ्गतं न भवति यद्यपि तथापि '**ह्येकं रूपं रसात्पृथ**'गिति नैयायिकानां सामानाधिकरण्येन रूपे गुणे एकत्वसङ्ख्या तथा पृथक्त्वरूपो गुणो यथा तथा वैराग्यादिना भक्ताधिमर्दनातिरिक्तं सर्वमुपपद्यताम् । **वीर्यलक्षणम्** । 'वीर्यं मे दुश्चरं तप' इति वाक्यात्तपः । तन्निवेधम् । 'बुद्धिवीर्यं क्रियावीर्यं क्रिया च द्विविधा मते'त्यस्यां कारिकायां बुद्धिवीर्यं बुद्धिरूपतत्त्वान्तरकृतिः सा सुभद्राप्रसङ्गे लोकदोषेण सर्वदा कन्यात्वेनैव स्थितेरयुक्तत्वादुत्पन्नायाः सुभद्रायाश्चौर्यायार्जुनाय दानकृतिः । अस्याः कृतेः स्थितिलीलायामन्तर्भाव उत्पन्नानां तत्तन्मर्यादया पालनात् । वैकुण्ठस्य सुभद्रारूपस्येच्छाशक्त्या विजयाय स्थितिलीलारूपा कृतिः । तथा च युगलगीतसुबोधिनी । वीर्याणि जगत्कर्तृत्वादिरूपाणीति । क्रियावीर्यं तु जनकश्रुतदेवगृहयोरेकेनैव रूपेण गमनकृतिः । यद्यप्यन्यथा कर्तुं सामर्थ्यरूपमैश्वर्यमिदं तथापि अन्यथा कर्तुमित्यंशे क्रियावीर्यमत्र कर्तुं कृतिरिति पर्यायः । तुमुनो भावे विधानात् । सामर्थ्यं चैकीभावलक्षणं व्यपेक्षालेक्षणं वा । अन्यथा वैषम्यनैर्घृण्ये स्याताम् । एवं चैकीभावरूपसङ्ख्या ऐश्वर्यम् । कृतिः कर्म वीर्यमिति भेदः । **वेणुगीते** च 'वीर्यं देवेषु तत्रापि स्त्रीषु तत्रापि कामतः, सान्निध्ये पुरुषाणां च मूर्च्छा तेन ततो महत्' । अत्रापि तत्तन्मर्यादया पालनकर्तृत्वरूपा कृतिर्वीर्यं बोध्यम् । कृतिपदं विहाय वीर्यपदमुपात्तं तत्प्रयोजनं देवेष्वित्यादिनोक्तम् । अत्र वीर्यपदं मुख्यम् । अन्यत्र गौणं यथा पूतनामारणलक्षणवीर्ये एवमग्रेपि सर्वत्रैतादृशविषये बोध्यम् । वीररसस्य विभावादयः । सर्वसामर्थ्यसहितः आलम्बनविभावो मूर्तिः । भक्तानां वीररसभावनमनुचितमिति सर्वसामर्थ्यसहित इति विशेषणम् । वीरप्रकृतिकमक्तनिरोधार्थं वा लीला, तदा विशेषणं न देयम् । उद्दीपनं महाबलकुवलयापीडहननम्, 'लीलयेभो हतो येन सहस्रद्विपसत्त्वभृ'दिति चाणूरवाक्यात् । बालकिशोरोपेक्षणं कृष्णं प्रति स्पर्धा चानुभावौ । 'न बालो न किशोरस्त्व'मिति चाणूरवाक्यात् । गजादपि बलिष्ठत्वस्मरणं व्यभिचारिभावः । 'तस्माद्भवद्भ्यां बलिभिर्योद्धव्यं नानयोऽत्र वै' इति वाक्याद् उत्साहः स्थायी भावः । **परिमाणं** तु 'समो मशकेन समो नागेने'त्यादि श्रुत्युक्तम् । प्रादेशमात्रं वा तावतोपि प्रादेशस्य सम्भवादवतारादौ । श्रुतिः 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्ता'दिति महानारायणोपनिषत्स्था । सूत्रम् 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशा'दिति । न्यायरूपत्वात्, गीता, 'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसम्भव'मिति । तथापि श्रीगोवर्धननाथजिदन्तर्गतानां सेवादि न तत्प्रभूतानामैश्वर्यादीनामित्याशङ्कायाम् । सूत्रादिकं पूर्वोक्तं सर्वाभेदादित्यादि । गुणोपसंहारक्लेशे तु श्रुतिरन्या । गोपालतापिनीये 'शङ्खचक्रगदापद्मवनमालावृतस्तु वा' इति । अत्र दक्षिणभागमारभ्य शङ्खपद्मगदाचक्राणि बिभ्रन्मधुसूदनो भवति ।

अत्र प्रमेयप्रकरणीयलीलाप्रसिद्धेतिभावनायां द्वारकानाथजित्तनुजगोविन्दजित्कृतायामस्ति तदा कालियदमनक्रियया श्रीगोपालवशीकरणाद्वीर्यम्भवति परं मथुरां गत्वेत्यादिविरोधाद्गुणोपसंहारेण योज्यमत्र एवं सर्वत्र । मूलरूपस्येश्वरस्य धर्मैरैश्वर्यादिचरित्रं प्रमेयप्रकरणीयं योज्यमत्र ।

१—ज्ञानद्वारेत्युक्तत्वाज्ज्ञानरूपेण गतः । २—शक्तत्वं सामर्थ्यं प्रपञ्चे अशक्तत्वभानात् । ३—प्रपञ्चे कृतप्रयत्नापेक्षः । ४—एकीभावेन एको भगवांल्लीलास्थपदार्थश्चेति प्रतीत्या रूप्यते व्यवह्रियत इत्येकत्वमिति तद्रूपा सङ्ख्या ।

यशोरूपेणेति ।

यशोरूपेण भक्तार्तिं हृतवान्स्वप्रयासतः ।
सर्वशक्तियुतः प्रेम्णा स सेव्यो विट्ठलेश्वरः ॥ १० ॥

अश्नुते अश भोजने, अशेर्देवने युट् चेत्यसुन् यशः । पूर्वोक्तप्रकारेण भक्तानामिच्छातो यशोरूपेण प्रकटो भवति । यशोरूपेण प्रेम्णो ज्ञापकविरहात्मकशब्दात्मकस्य योजनेन सात्त्विकभगवद्भक्तानामार्तिः गीतोक्ताधिकाररूपा 'चतुर्विधा भजन्ते मा'मिति फलप्रकरणीयद्वितीयाध्यायोक्ता । तस्य यशोनिरूपकत्वात् तृतीयेध्यायेपि । तत्र च भक्तानामवस्थाद्वये द्वितीयावस्थानुपचिते विरहानुभवो अतो भक्तानामार्तिः । तामार्तिं स्वप्रयासतः स्वस्य प्रेम्णा ज्ञापक इत्याद्युक्तः प्रयासः प्रयत्नः प्रमेयबलं ततः सर्वासु शक्तिषु व्रजवनितासु हृदि युतो मिश्रितः । विरहे आन्तरत्वाद्विट्ठलेश्वरस्य । तादृशः सन्नार्तिं हृतवान् । 'आन्तरं तु परं फल'मिति सुबोधिन्याः परत्वावच्छिन्ने फले ये विविधा भावा उत्पद्यन्ते न ते सङ्गमे इति । एतज्ज्ञापितं नयनमुद्रणेन विरहेन्तर्भावे ज्ञानाभावात् । अतोत्र संयुक्तो रतिपतिः वियुक्तस्त्वमिरूप इति । स विट्ठलेश्वरः प्रेम्णा हर्षभावेन सेव्यः । 'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः भावः प्रोक्त', इति काव्यप्रकाशात् । अत्र विट्ठलेश्वरत्वं शक्यतावच्छेदकम् । अत्र यशोरूपविट्ठलेश्वर आलम्बनं मन्दिरोत्सवादिकमुद्दीपनम् । हर्षकारणत्वात् । अश्रुपातादयोनुभावाः हर्षकार्यत्वात् । वैराग्यतनुवित्तजसेवादिसञ्चारिभावाः । हर्षः स्थायी भावः । विस्तारिकायां हर्षस्योत्सवादिभिरुत्पत्तिकथनात् । उद्दीपनेपि उत्सवादिकमुपात्तम् । प्रेम्णः सञ्चारिणोस्य हर्षस्य स्थायिभावत्वं शान्तरसे निर्वेदवत् । अस्य दुःखात्मकस्यापि सुखरूपत्वं रसस्यापरिमितलोकोत्तरानन्दरूपत्वेन तदन्तर्गतदुःखस्यापि सुखरूपत्वम् । नखक्षतकृतदुःखस्येव अत्र प्रेमपदमावृत्तं तच्च स्वाश्रयानन्दे लाक्षणिकम् । अतोत्र प्रेमपदेन हर्षो रसः । श्रीकृष्णगोपिकाप्रौढेत्यादिना वक्ष्यते । वैश्वानराधिकरणोक्तं प्रादेशमात्रं परिमाणम् । निबन्धे लौकिकालौकिककर्तृत्वम् । वेणुगीते यशोलक्षणम् । 'समपादाम्बुजं सूक्ष्मं कटिलग्नं भुजद्वयम् । किरीटिनं लसद्वक्त्रं विट्ठलेशमहं भज' इति शङ्खचूडहननेन स वैराग्ययुतः शङ्खयुतः । मूलरूपनिष्ठं वैराग्यं अपि यशोरूपेपि प्रत्येति । एकं रूपमितिवत् । पीठं तु सर्वात्मभाववद्भक्तहृदयम् । निर्गुणे भगवद्रूपे मूढानां सात्त्विकभगवद्भक्तानां प्रत्यक्षासक्तिवारणं विधाय ज्ञानभक्त्यात्मकं स्वधर्मं तेषु योजयित्वा तज्ज्ञापकविरहात्मकं शब्दात्मकं च योजयित्वा मनसो निवेशनं यत्तत्करणत्वं यशस्त्वं अष्टाविंशतितत्त्वसम्मिते नाम्नि यशसीत्यादिगुणप्रकरणे श्रुतिगीताध्याये कारिकासु लक्षणं वेणुगीतीयलक्षणसंमेलनेन । तदुक्तं वेणुगीते । 'यशो यदि विमूढानां प्रत्यक्षासक्तिवारणात् । स्वधर्मं योजयेत्तेषु तदा भवति नान्यथे'ति । अत्र प्रयोगः । भक्त यशसा, मूढानां भक्तानां प्रत्यक्षासक्तिवारणज्ञानभक्तियोजनोभयद्वारा निर्गुणे भगवद्रूपे मनोनिवेशनं कारयतीति । 'यशः कीर्तिः समाज्ञा च स्तवः स्तोत्रं स्तुतिर्नुति'रित्यमरः । आधारोत्कर्षाधायकगुणवर्णनं स्तुतिः । एतदेवाधारोत्कर्षाधायकसर्वजनाह्लादकगुणवत्त्वम् । गुणवद्गुणवर्णनम् तत्त्वं स्तुतित्वं यशस्त्वमपि । विदा ज्ञानेन ठान् शून्यान् लात्यनुगृह्णाति यः स्वयं स विट्ठलः कथ्यते बुधैः स ईश्वरो विट्ठलेश्वरः पुष्टिरूपमिदम् । शङ्खपद्मगदाचक्रश्रिया जुष्टमिति मर्यादारूपम् ।

विरह इत्यादि ।

विरहे भावितप्रेम्णा प्रियया द्वारिकास्थितः ।
मार्गतोङ्गीकृतः सेव्यः श्रियेया द्वारिकेश्वरः ॥ ११ ॥

१—निर्गताः प्रकृतिगुणा यस्मात् । नित्यलीलास्थे । २. श्रिया वा इति पाठः ।

उत्तरार्धे एकत्रिंशाध्याये अष्टाविंशे वा स्पष्टोर्थः । तत्र निर्गुणः कृष्णः गुणत्रयाभावः कृष्णश्चेति । त्रिविधभक्तदुःखहर्ता समष्टिव्यष्टिभेदेन इति । यद्वा द्वारिकास्थितः उत्तरार्धप्रथमाध्याये । प्रिया रुक्मिणी तया तद्विरहे भावितः पञ्चाशत्तमे आगतो रुक्मिण्याङ्गीकृतः **श्रिययेति** । अत्र पञ्चाशत्तमे श्रीरूपरुक्मिणीनिरूपणेन श्रीनिरूपणादिति भावः । **श्रिया वा** इति पाठः । श्रयति हरिमिति श्रीः क्विब्वचीति क्विब्दीर्घौ । यद्वा प्रकृतिपुरुषौ रामकृष्णौ अतो योगेन बन्धूनां द्वारिकास्थापने मनसापि द्वारिकास्थितः प्रियया प्रकृत्या रामरूपया प्रेम्णा विरहाय भावितो मश्रितः मनसा आगतः अङ्गीकृतो विरहार्थं बहिर्गमनम् । **श्रियेति** पूर्ववत् । पद्मगदाचक्रशङ्खाश्चतुर्षु श्रीहस्तेषु माधवष्टिप्पण्युक्तदिशा गदाचक्रे दक्षिणयोरब्जशङ्खौ वामयोर्धारयन् भवति अत इदं रूपान्तरम् । शङ्खगदाद्युदायुधमिति वाक्ये शङ्खगदे आदी ययोस्ते शङ्खगदादिनी पद्मचक्रे उदायुधे यस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । शङ्खपद्मे दक्षिणे गदाचक्रे वामयोर्धारयन् कृष्णो भवति एवमेतानि धारयति यदा शङ्खचक्रगदापद्मक्रमेण कृष्णो भवति तदा तानि हस्तेषु धारयन् वर्तते । यदा शङ्खाब्जचक्रगदा धारयन् नारायणो भवति इतिवत् शङ्खगदयोः आदिनी चक्रपद्मे उदायुधे यस्येति विगृह्य वामपरावृत्तः क्रमः । शङ्खचक्रगदापद्मविराजितमथुराजन्मलीलो वनमालीति प्राप्तम् । श्रीलक्षणं निबन्धे 'हरिरेव श्रियं भुङ्क्ते श्रियं नान्यस्तु कश्चन' इति हरिभोग्यत्वम् । 'श्रियो हि परमा काष्ठा सेवकास्तादृशा यदी'ति वेणुगीते । आश्रयत्वाच्छ्रीधर्मः । परिमाणं प्रादेशमात्रम्, तावत्प्रदेशस्य वामनावतारादौ सम्भवात् । रसस्तु शृङ्गारः । 'रुक्मिणीरमणः कामपिते'ति पुरुषोत्तमसहस्रनाम्नः । भक्तिरसे तु कामो दिदृक्षामात्रं श्रुतिस्तु'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मिति अनन्तरूपेषु तावत् प्रादेशमात्रं रूपम् । 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशा'दिति सूत्रम् । प्रतिकृतेः सूर्यत्वाभावेपि सूत्राणां न्यायरूपत्वेन प्रतिकृतावपि प्रवृत्तेः । गीता 'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसम्भव'मिति ।

ज्ञानं क्रमप्राप्तं निरूपयितुमादौ गोकुलचन्द्रमसं निरूपयन्ति **कदाचिदित्यादि** ।

कदाचित् यमुनातीरे ज्ञानरूपेण वेणुना ।
प्रियामाकारयन्सेव्यस्त्रिभङ्गो गोकुलाधिपः ॥ १२ ॥

अत्र ज्ञानस्वरूपं निरूप्यते, अतो ज्ञाननिरूपके युगलगीते **कदाचित्** युगलैर्गीतकाले । **यमुनातीरे** 'तर्हि भग्नगतयः सरितो वै' इति वाक्यात् । **ज्ञानरूपेण** इति । अत्रापि मूलरूपगुणाः पूर्णानन्दैश्वर्यादयः सामानाधिकरण्येन उपसंहर्तव्या नान्ये तु गुणाः । गुणोपसंहारपादोक्तरीत्या भक्तेच्छया ज्ञानरूपेण प्रकटो भवति । अभेदे प्रकृत्यादिभ्यः उपसङ्ख्यानमिति वार्तिकेन तृतीया । ज्ञानाभिन्नगोकुलाधिप इत्यन्वयः । **त्रिभङ्ग**स्त्रयो भङ्गाः कटिग्रीवाचरणेषु यस्य सः । **गोकुलाधिप** इति । 'श्रीमद्गोकुलपालक' इति गोकुलाष्टकात् अन्यथा नन्दगोकुले तदीयजनैर्न गीतो भवेत् । युगलगीते 'वामबाहुकृतवामकपोलः' अत्र तु दक्षिणबाहुगतदक्षिणकपोलः । वामपरावृत्तो देवस्त्रीणाम् । स्त्रीणां पुरुषाणां च दक्षिणपरावृत्तो भावोद्बोधको वेणुनाद इति श्रीगोकुलचन्द्रमा इति प्रसिद्धः । **आकारयन्सेव्य** इति । 'हन्त चित्रमबला' इत्यत्र हन्त अबला इति सम्बोधनं गत्वा दर्शनाभावायेति सुबोधिन्याः आकारयन् न तु सर्वशक्तिसंयुक्तः । अत्र शक्यतावच्छेदकं गोकुलाधिपत्वम्, प्रसिद्धं गोकुलचन्द्रमस्त्वम् । अथ ज्ञानलक्षणम् । क्षमालिङ्गेन स्वभावपरावृत्तिलिङ्गेन च माहात्म्यज्ञानं ज्ञानोत्कर्षश्च सारम् । ज्ञानवान् क्षमावत्त्वाद् भृगूपाख्याने कृष्णवज् ज्ञानोत्कर्षवान् स्वभावपरावृत्तेः

१ मधुसूदनः ।

वेणुगीते 'नद्यस्तदा तदुपधार्ये'ति छन्द उक्तनदीवत् इति । गुणप्रकरणे कारिका 'ततः परन्तु ज्ञानस्य निर्णयो हरिमेधसः क्षमा तस्योत्तमं लिङ्गं कृष्ण एव प्रतिष्ठिते'ति 'ज्ञानोत्कर्षस्तदैव स्यात् स्वभावविजयो यदि, हरेश्चरणयोः प्रीतिः स्वसर्वस्वनिवेदनादि'ति ज्ञानलक्षणं वेणुगीते । एवं च भृगूपाख्याने यथा क्षमा तथात्रात्मारामत्वलक्षणस्वभावपरावृत्तावपि ज्ञानोत्कर्षः प्रतीयते । भावस्तु स्मृतिः । उक्तकाव्यप्रकाशात् । रसो भविष्यति शृङ्गाररससंचारिभाववैराग्यवत् । अत्र ऐश्वर्यादीनां पाठक्रमादिव क्षणेन ज्ञानरूपः स्मरणविषयः श्रीगोकुलेन्दुरालम्बनं सदृशादृष्टचिन्ताद्युद्दीपनं वेणुनादप्रभावो देहविस्मरणं नृत्यमोहादि, 'वृन्दावनं सखि भुव' इत्यत्र 'कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवचारुवेश'मित्यत्र च निरूपितोऽनुभावः । वैराग्यसेवादयः सञ्चारिणः । स्मृतिः स्थायिभावः । परिमाणं पूर्वोक्तं सेव्य इति पदात्सूत्रादिकं च पूर्वोक्तम् ।

वैराग्यमाहुः । **स्वीयेति** ।

स्वीयविद्वेषिवैराग्यलीलयाधारयन्गिरिम् ॥
तद्रूपेणार्तिहृत्सेव्यः प्रभुर्गोवर्धनेश्वरः ॥ १३ ॥

स्वीया गोकुलस्थास्तद्विद्वेषीन्द्रादिस्तत्र वैराग्यं विषयवैतृष्ण्यसंज्ञं नित्यलीलाप्रवेश इन्द्रादिविषयतृष्णा स्यात्तदभावाय वैराग्याय साधनप्रकरणे चतुर्विंशाध्याये कृतापराधेपीन्द्रे प्रसादान्मदत्याजनं लिङ्गं तेन दोषदूरीकरणरूपा लीला तया हेतुभूतया लीलया कृत्वा द्वाविंशोक्तायामेकं रूपमितिवच्छ्रियां मुख्यतया प्रतीतायां श्रीगोवर्धनगिरिमधारयदतो वैराग्यरूपाभिन्नो गोवर्धनेश्वरो **भक्तार्तिहृत्प्रभुः सेव्य** इति भावः । **गोवर्धनयुत ईश्वरः** श्रीगोवर्धनमन्यथाकर्तुं समर्थः गोवर्धनेश्वरः गोवर्धनस्य ईश्वरः इति विग्रहे षष्ठी संयोगसम्बन्धे इति युतपदेनोक्तं, न तु मध्यमपदलोपिसमासः वैराग्यरूपेण प्रकटे ईश्वरत्वं एकं रूपमितिवत्प्रत्येष्यति । त्रयोविंशे 'यः सप्तहायन' इत्यत्र वेणुं वादयन्निति सुबोधिन्या वेणुवादकः एकत्र करे शङ्खः । मेघतत्त्वापहारेण निर्वीर्या मेघाः कृताः । 'अपां तत्त्वं दरवर' इति वाक्यात् । आधिदैविकसंबन्धेनेन्द्रदत्तजलपानं कृतमिति भावनायाम् । गोवर्धनेश्वरत्वं शक्यतावच्छेदकम् । भावस्तु मतिः । रसो भविष्यति । श्रीमद्गोवर्धनेश्वर आलम्बनम् । गुरूपसत्तिशास्त्रार्थोपदेशाद्युद्दीपनम् । सेवाद्यनुभावः । शमदमेहामुत्रफलभोगनैराश्यमुमुक्षुत्वानि सञ्चारीणि । गुरूपसत्तिः शास्त्रार्थोपदेशमन्त्राद्यैरर्थनिर्धारात्मकमतिः स्थायिभावः । ननु वैराग्यं स्थायिभावः तत्प्रसङ्गादिति चेत्सत्यम् । एकं रूपमिति यत्प्रत्येष्यति वैराग्यस्य धर्मिरूपत्वात् । परिमाणं प्रादेशमात्रम् । त्रिभङ्ग इत्यनुवर्तनीयम् । पीठं त्र्यक्षरात्मकं वर्तुलम् । वैराग्यलक्षणं पूर्वोक्तम् । अत्राप्युत्कर्षो वेणुगीते 'उत्कर्षश्चापि वैराग्ये हरेरपि हरिर्यदि । भक्त्या च तादृशत्वं च सा सेवा सेवकोचिते'ति । तादृशत्वं सखित्वम् । तदुक्तं गुणप्रकरणे—'कृष्णो विरक्तः किं वाच्यस्तत्संबन्धात्स्त्रियोऽपि हि । कामैकरसपूर्णाश्च विरक्ताः सर्वथा मता'इति । अत्र भक्त्या हरेरपि हरयोत्र हि स्त्रियः सख्यश्चेति कामैकरसपूर्णासु सर्वथा वैराग्यं विषयवैतृष्ण्यलक्षणम् । सूत्रादिकं पूर्वोक्तम् ।

अन्यत्रोभयोः स्वरूपयोर्ज्ञानवैराग्यवैपरीत्यं देवपदेन शृङ्गाररसत्वेन तुरीयं तत्त्वं निरूपितम् । परं'यतो वाच' इति श्रुतेस्तदेकप्राधान्यं संदिग्धमिति धर्मत्वेन शृङ्गारमाहुः । **मदनमित्यादि** ॥

मदनं कामरूपेण स्त्रीभावाङ्गाविलो हरिः ॥
मोहयन्मूलरूपेणावतीर्णः सेव्य एव सः ॥ १४ ॥

भावितो दैन्येनोत्पादितो हरिः शौरिः श्रीभावान् शृङ्गारभावान् हेलालीलादिहावजनकान् मोहयन् तेषां वैचित्र्यं कुर्वाणो हि कामरूपेण साक्षान्मन्मथमन्मथरूपेण कामाधिदैविकरूपेण श्रीनिरूपके श्रीप्राधान्येनावतीर्ण एकोनत्रिंशाध्याये यः स एव धर्मिनिरूपके त्रिंशाध्याये 'तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान्' इति वाक्ये श्रीलक्षणाच्छ्रीरूप एव मूलरूपेणानन्दरूपेण त्रिंशाध्याये 'योगेश्वरेण कृष्णेने'ति कृष्णपदान्मदनं मोहयन्नित्येवमवतीर्णो धर्मी सेव्यो न सन्देह इत्यर्थः । 'अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्या'मिति व्याससूत्रात् । 'यतो वाच' इत्यस्या उत्तरार्धे 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' 'इति श्रुतेः' । अन्यथा शोक एवावतिष्ठेदिति भावः । मदनं मोहयन्निति त्रिंशाध्यायसन्दर्भीयमिति मदनमोहनजित्त्वं शक्यतावच्छेदकं न तु श्रीभावमोहनजित्त्वम् श्रीभावान्मोहयन्नित्यस्य वाक्यस्यैकोनत्रिंशाध्यायसन्दर्भीयत्वात् । अत्र भाव उक्तकाव्यप्रकाशाद् रसो भवत्येव । श्रीमदनमोहनजिदालम्बनं स्वामिन्यौ च । उद्दीपनं मंदिरोद्यानादि अनुभावोऽश्रुपातादिः । संचारिणो वैराग्यादयस्त्रयस्त्रिंशत् । रतिः स्थायी भावः । परिमाणमत्रापि प्रादेशमात्रम् । त्रिभङ्ग इत्यत्राप्यनुवर्तनीयम् । तासां द्वयोः स्वामिन्योर्मध्य एकं स्वरूपं त्रिंशाध्याये वर्तत एव । गोकुलाधीशजित्यप्ययं उभयस्वामिनीमध्यस्थस्वरूपो गुण उपसंहर्तव्यः । धर्मिलक्षणं तु साधनाध्यायद्वितीयचरणेऽस्त्येवोभयव्यपदेशाधिकरणेऽतस्त्वेपि विरुद्धाः सर्वे गुणा उपसंहार्याः । एकं रूपमितिवदपि ज्ञेयाः । सूत्रादिकं पूर्वोक्तम् ।

षट्स्वौत्संगिकेषु स्वरूपेषु तेषु चान्यरूपेषु गुणोपसंहारैरनेकलीला अतिदिशन्ति स्म । एवमित्यादिना ।

एवंविधानेकलीलारूपैस्तद्भावभाविताः ।
सेवयेदन्यथा तु स्यादपराधो न तत्फलम् ॥ १५ ॥

षट्सु स्वरूपेषु प्रथमं श्रीबालकृष्णजित्स्वरूपम् । एवंविधा एवमुक्तपरामर्शे ऐश्वर्यादिभ्यस्तत्कारणलिङ्गज्ञापिका लीला उक्तास्तत्परामर्शेन विधाः प्रकारा यासां ता अनेका लीला अर्थात्तत्सदृश्यो लीलाः यथा प्रमाणप्रकरणीयोत्सवाध्यायप्रतिपाद्या ऐश्वर्यज्ञापकनन्दाद्युत्सवलीला तत्सदृशी प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिजनकत्वेन महापुरुषकर्तृत्वेन भवनाशकत्वेन च वीर्यलीला पूतनामारणलक्षणा । एवं यशःश्रीज्ञानवैराग्यधर्मिणां लिङ्गभूताः कारणभूता ज्ञापिकाश्च या लीलास्तामी रूप्यन्ते क्रियन्ते लिङ्ग्यन्ते ज्ञाप्यन्ते ये वीर्यादयस्तैरूपैः कृत्वा तासां मूर्तीनां भावैरुक्ते रससंयोगभावविस्मयभाववीरहर्षस्मृतिज्ञानशृङ्गारभावैश्च भावित उद्बुद्धसंस्कारादिभिर्भावनास्मरणं तद्युक्तः यथायोग्यं पूर्वोक्ता गोवर्धनाधीशादिमूर्तीः षडौत्सङ्गिकमूर्तीश्चान्यामूर्तीश्च सेवयेदित्याज्ञा विधिराज्ञा । अन्यथान्यैः प्रकारैः सेवने तु "योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथाप्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणे"ति श्रुत्युक्त आत्मापहारलक्षणो दोषरूपोपराधः स्यान्न तु सेवाफलमित्यर्थः । तत्र उत्सङ्गे य कथ्यते स औत्सङ्गिकः श्रीबालकृष्णजित् । शैषिकः प्रत्ययः । यशोलीला प्रसिद्धा शकटभञ्जने यशोनिरूपके सप्तमाध्याये नात्र हि फलप्रकरणे । 'यशोरूपेण कृष्णोत्र प्रकटो बाललीलया । नवनीतादिचौर्येण स सेव्यस्तत्प्रभावतः' ॥ १ ॥ व्याख्यातम् ॥ गोविन्दजित्कृतभावानायामपि यशोलीला पूर्वोक्तात्रोररीकृता । शेषं यशो निरूपणवत् । १अस्वौत्सङ्गिकेषु भावनायां भावना उदिताः । तथाहि श्रीनटवरजिति यशोलीला तृणावर्तभङ्गरूपा सप्तमाध्याये यशोनिरूपके । 'यशोरूपेण कृष्णोत्र प्रकटो बाललीलया । नवनीतादिचौर्येण स सेव्यस्तत्प्रभावतः' । व्याकृतम् । श्रीनवनीतप्रियजित्पार्श्वे श्रीमदनमोहनजित् श्रीबालकृष्णजिच्च स्तस्तत्र । 'मदनं कामरूपेण श्रीभावान्भावितो हरिः । मोहयन्मूलरूपेणावतीर्णः

सेव्य एव सः' । निरूपितम् । अत्र जृम्भालीलेति भावनायां यशोनिरूपके सप्तमाध्यायेऽस्ति । 'यशोरूपेण कृष्णोऽत्र प्रकटो बाललीलया । नवनीतादिचौर्येण स सेव्यस्तत्प्रभावतः' । अत्र श्रीबालकृष्णजिति जृम्भालीला सत्त्वशुद्धिलीला च । जृम्भालीलाभावने 'यशोरूप' इत्यादिकारिका । सत्त्वशुद्धिलीलानाम धौर्त्यादिलीला अष्टमाध्यायोक्ता श्रीरूपा । 'स्वश्रीरूपेण श्रीकृष्णः प्रकटो बाललीलया । नवनीतादिचौर्येण स सेव्यस्तत्प्रभावतः' । श्रीनिरूपणे उक्तप्रायम् । गोकुलचन्द्रमोजित्पार्श्वे श्रीबालकृष्णजित्युलूखललीला प्रसिद्धा ज्ञानरूपा । 'एकदा भाण्डस्फोटेन रज्जुन्यूनतयापि हि । ब्रह्मत्वबोधनाख्यं हि ज्ञानं कुर्वन् स सेव्य उ' । ज्ञाननिरूपणे पूर्वं स्फुटम् । श्रीमदनमोहनजिति नलकूबरमणिग्रीवोद्धारलीला प्रसिद्धा । 'दामोदरेण' 'परमविक्रमितातिवेपस्कन्धप्रवालविटपा'विति पदाभ्यां वीर्यरूपा । 'वीर्यरूपेण यमलार्जुनौ गत्वाधिमर्दनम् । कृत्वा च मोचितौ चैव तद्रूपं सेव्यमेव च' । वीर्यनिरूपणे स्पष्टम् । भावनायामप्येवम् । बालस्यात्र मदनमोहनक्रीडानुकरणं न मदनमोहनत्वम् । इति तद्रूपनिरूपणम् ।

त्रिषु साकारव्यापकं तद्रूपं च निरूप्य तत्र स्थितं निरूपयितुं यद्यपि तत्र स्थिता अन्येप्यद्भुतादिरसाः पूर्वमुक्तास्तथापि शृङ्गाररसेनैवान्ये रसतां भजन्त इत्यावश्यकमन्येषु रसेषु रसताजनकं शृङ्गारमङ्गीकुर्वन्तः शृङ्गारेणाविहितभक्त्यात्मकेन यथा ब्रह्मत्वेन स्नेहः पुष्टो भवति न तथाऽविहितेन वात्सल्येन मत्या वा भवतीति गुरुभूताभिर्व्रजसीमन्तिनीभिरादृतम्, अक्षराभिन्नोऽक्षरे प्रतिष्ठित इति अदृश्यत्वाधिकरणेऽक्षरस्यापि ब्रह्मत्वं पुरुषस्यापि तयोः परापरभावः अभेदश्च, एतादृश एव हि ब्रह्मवाद इति भाष्यात्तादृशं शृङ्गारं निरूपयांबभूवुः प्रतिज्ञापूर्वकं मङ्गलाचरणपूर्वकं चाज्ञानां गीताद्यविदुषां स्वविघ्नसम्भवात् शृङ्गारस्वरूपम् । कन्दर्पेत्यादि ।

कन्दर्पकोटिलावण्यं नत्वा गोपीजनप्रियम् ।
शृङ्गाररसरूपं हि यादृक् तादृङ् निरूप्यते ॥ १ ॥

ननु पुरःस्फूर्तिकं ब्रह्मत्वं तत्र स्थितं रूपं न त्यक्तुं योग्यमतः कुतः शृङ्गाराङ्गीकार इति चेच्छृणु । ब्रह्मत्वं सत्यत्वादिरूपं शृङ्गारे पर्यवस्यति, श्रीभागवतमते सत्यं परं धीमहीति ब्रह्मणि वेदार्थविस्तारकसति साधौ सत्यपदप्रयोगात्सत्यं लक्ष्मीस्तथा एकादशे 'आसीज्ज्ञानमयो ह्यर्थ एकमेवाविकल्पित'मिति ज्ञानं ब्रह्म तत्राऽशने सङ्कर्षणः शेषस्वरूपोऽनन्त इत्यर्थं उक्त एता........वत्वं ब्रह्मवादत्वं........द्वितीय....धन....नित्यस्य लीला[illegible] ; ननु शृङ्गारः कामस्तृतीयशास्त्रप्रतिपाद्यः कथं तुरीयरूपे तुरीयशास्त्रप्रतिपाद्ये कामपुरुषार्थ इति चेन्न 'भगवानेव हि फलं' सायुज्यं मोक्ष आनन्दोऽमृतमिति पर्यायाः । सायुज्यं च युनक्तीति युक् सह युजा सयुक् सयुजो भावः सायुज्यम् । 'सायुज्यं कृष्णदेवेन शीघ्रमेव ध्रुवं फल'मिति निबन्धात् । 'भगवत्सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु अलौकिकसामर्थ्यं च' पुष्टौ फलम्, तत्र वास्तविकाणुत्वविशिष्टानामक्षरात्मकानां जीवानां ब्रह्मणि योगस्तूर्ष्णीमुतानन्दपदवाच्यत्वमपि सायुज्यपदवाच्यस्येति कोप्यानन्द इति संशये गीता प्रवर्तते 'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यह'मिति मर्यादामार्गीयमोक्षे मायादिकं गर्भाधानमवसीयत इत्येवम् । अत एव 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जित'मिति क्षेत्रक्षेत्रज्ञाध्याय एव ब्रह्मस्वरूपम् । पुष्टिमार्गीयफलयोस्तु 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इति श्रुत्या स्फुट एवानन्दो रसात्मेति द्वादशाध्याये

१. रसो वै स इति श्रुत्या च सिद्धम् ।

'तं गोरजश्छुरितकुन्तले'त्यत्र धर्मार्थकाममोक्षाणां चतुर्णां धर्मादिसहितानामेव मोक्ष इत्येकवाक्यतोतं शृङ्गाररसो निरूपित इति च सुबोधिनीटिप्पण्यां स्फुटेयं 'अतः शृङ्गारस्वरूपं निरूप्यत' इति प्रतिज्ञा । श्रुतिरूपाणां व्रजसीमन्तिनीनामत्र शृङ्गार एव मनोरथान्तप्राप्तेः 'मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययु'रिति वाक्यात् । आनन्दमात्रं पुराविदामिदं रूपमत एव वेणुगीतसुबोधिन्यां 'कृष्णं निरीक्ष्ये'त्यत्र 'तत्क्वणितवेणुविचित्रगीत'मित्यस्य व्याख्याने गीतं शृङ्गारान्तर्गतमिति विचित्रमिति विशेषणेन शृङ्गार एव सर्वरसा इति नाट्यशास्त्रसिद्धान्त इति विचित्रमद्भुतरसवत् । किञ्च अन्यस्य रसत्वमेव न मन्यन्ते यथा महान्तः सुवर्णाभरणान्येवोपकरणानि कुर्वन्तीति सुबोधिन्यां भावनोक्ताः सर्वत्र शृङ्गारभावना । तथा हि

श्रीगोवर्धनाधीशेषु भक्तमनोरथेन तामसप्रकरणीयफलप्रकरणोक्तपूर्णानन्दैश्वर्यादयः प्रधाने भावेलिमाः 'उत्क्षिप्तहस्तः पुरुषो भक्तमाकारयत्युते'ति भक्तमनोरथपूरकं रूपमालम्बनविभावः शृङ्गारे शान्तरसे च । ननु कुतः शृङ्गार इति बृहदारण्यके ज्योतिर्ब्राह्मणे तद्वाच्यस्यै'तदात्मकाममाप्तकाममका-मꣳरूपं तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमेवमेवायꣳशारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तर'मिति अत्र प्रियस्त्रीदृष्टान्तशारीरात्मप्राज्ञरूपजीव-दार्ष्टान्तिकयोर्दर्शनात् । इदं प्रथमाध्यायतृतीयपादान्ते 'सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेने'त्यधिकरण उक्तम् । आचार्यमार्गे तु अन्यरसर्वं भक्तमनोरथहेतुकं भक्तिरसरूपम् । तत्रालम्बनमुक्तम् । उद्दीपनविभावस्त-च्चेष्टा, अनुभावः भगवता समं संलापादिः, स च भगवच्छय्यादिरूपशेषः पीठस्थः यद्यपि चतुर्भिर्व्यूहै-रेकोत्रालम्बनविभावस्तथापि रामः........पि कृष्णावतारे स दृष्टः अनिष्टशङ्कायाः रसान्तःपातिनो व्यभिचारिभावाः हरिदासनिष्ठाः नृसिंहोऽक्षरावतारः योऽदृश्यत्वाद्यधिकरणे पुरुषोत्तमाधिकरणं तत्रोक्ताभिन्नाक्षरश्चरणारविन्ददौ मुक्तभक्तौ मयूरो मुक्तजीवः, शुकश्च भक्तः त्रयोपि व्रजभक्तानां पुंभावगताः । मेषश्चेष्टारूपः कालः महिषी........क्षे उपवेदादि ऋग्रूपगोभ्यः............पश्वा'दजा गावो महिष्यश्चे'त्यत्र कीर्तनाद् द्वितीयः शेषश्च, भावनीया गावः ऋचः शङ्खश्चेयमुनाजित्तयान्तःकरणीया इति ।

श्रीनवनीतप्रियजित्सु गुप्तरसप्रकारो बालभाव एव । निरावृतस्वरूपं रसाधायकमिति कटिवस्त्राणि नो धारणीयानि । वासुदेवव्यूहकार्यस्य मनोरथान्तदान आवश्यकत्वात् । 'जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्सङ्गलालितम् । तदन्यदिति ये प्राहुरासुरांस्तानहो बुधा' इत्यादि ।

श्रीमथुरेशजित्सु भुजाचतुष्टयं स्वानन्ददानं वासुदेवव्यूहस्य सायुज्यदातुः सत्वात्तत्क्रीडा पूर्वोक्तश्च व्यूहस्तत्सहिता गोपीजनानां भक्तत्वं..............................गोचारणं कृत्वा व्रजे यदागच्छति तदा भक्तानां स्वमुखामृतपानं कारयति यत्तत् । द्वितीया स्वानन्ददाने प्रति-बन्धनिवारणं विरहजतापस्योपशमनम् । तृतीया स्वसेवाकारणं मार्गे सन्ध्याभोगस्य स्वीकरणम् । चतुर्थी आधिदैविकभावस्य परम्परोद्बोधनं वने चतुर्दशरसानां या लीला कृता सा, प्रत्येकरसानां स्थायिभावान् प्रकटीकृत्य व्रजभक्तासूद्बोधितेति ।

श्रीमद्विट्ठलनाथजित्सु तामसप्रकरणीयफलप्रकरणद्वितीयाध्यायोक्तलीला प्रसिद्धा तत्र वीर्योक्ते मोक्षप्रसङ्गाद्वासुदेवप्रसङ्गात् वासुदेवचरित्रं बोध्यम् ।

श्रीद्वारकानाथजित्सु

> 'भ्रूवल्लीसंज्ञयादौ सहचरि निकरे वर्जयित्वा स्वकीयाम्
> पश्चादागत्य तूष्णीमथ नयनयुगं स्वप्रियाया निमील्य ।
> कोऽसीत्येतद्वचनमसकृद्वेणुना भाषमाणः
> पातु क्रीडारसपरिचयस्त्वां चतुर्बाहुरुच्चै'रिति ।

श्रीगोकुलाधीशजित्सु साधनप्रकरणीयऋषिपत्नीप्रसङ्गः ।

श्रीगोकुलचन्द्रमोजित्सु फलप्रकरणीयचतुर्थाध्यायोक्तलीला ।

श्रीमदनमोहनजित्सु फलप्रकरणीयप्रथमाध्यायोक्तलीला भावनीया एवं षट्सु चौरस-ब्धिकेषु गुणोपसंहारेण शृङ्गारलीला भावयितव्या । अष्टस्वरूपाणि धर्मिरूपाणीति भावनायां आनन्द-मनःशरीरजीवशरीरक्रियाप्राणानङ्गाः क्रमश इति केचित् ।

प्रकृतमुच्यते । **कन्दर्पकोटेर्लावण्यं** सम्भोगशृङ्गारो यस्य तं लवणा त्विट् लवणैव लावण्यम् । स्वार्थे ष्यञ् । 'लवणा त्विषी'ति विश्वः । शृङ्गारनिरूपणे विघ्नस्य ध्वंसाय यः कश्चिच्छृङ्गारस्तद्विशिष्ट-रूपस्य मङ्गले कर्तव्यं उपादानमुचितमिति विशेषणम् । परकीयास्वेव रस इति विशेष्यमीदृक् ॥ १ ॥

स्वच्छ इत्यादि ।

> **स्वच्छो मरकतश्यामः स्त्रीपुम्भावात्मकः पटुः ।**
> **अनन्यपरतन्त्रश्च रसः शृङ्गार उच्यते ॥ २ ॥**

स्वच्छः श्यामरूपेऽयोग्यश्यामरहितो न शुचिर्नाप्युज्ज्वलः । तेन शृङ्गारपदोपादानेपि न पुनरुक्तिः । 'शृङ्गारः शुचिरुज्ज्वलः' इत्यमरः । **मरकतमणिवच्छ्यामः** । अत्र सुबोधिनी तृतीये षड्विंशेऽध्याये यद्विदुरित्यत्र 'श्यामश्च गुणः शृङ्गारात्मको भवती'ति । भावत्रयाभिव्यक्तः स्थायी श्याम इति भ्रमं वारयामासुः । **स्त्रीति** स्त्रीपुंरूपो भाव आलम्बनविभाव आत्मा स्वरूपं यस्य आलम्बन-विभावो **मरकतश्याम** इत्यर्थः । **पटुश्च**तुरः । न **परतन्त्र** इति वक्तव्येऽन्यपदसंवलितपदेन स्वेतरपरो व्युदस्यते नित्यलीलायां स्वात्मकपरेषां तत्र इति हृदयम् । **रस** इति । रस आस्वादने । **शृङ्गारः** शृङ्गं प्राधान्यं इयर्ति स शृङ्गारः । कर्मण्यण् । शृङ्गो भावाङ्कुरः । **अनन्यं परं तन्त्रः** शृङ्गारो **रस** इत्यर्थः ॥ २ ॥

गाढेत्यादि ।

> **गाढत्वाद्व्यापकत्वाच्च ब्रह्मत्वाच्छ्याम उच्यते ।**

शृङ्गारः श्यामो **गाढत्वा**ज्जलवद् **व्यापकत्वा**न्नीरूपनीलाकाशवन् नीरूपो 'नील आकाश' इति प्रस्थानरत्नाकरे प्रमेयप्रकरणे उपपादितम् । **ब्रह्मत्वा**दानन्दवदित्यनुमानत्रयम् । न च गाढत्वं शुभ्रपाषाणादौ, व्यापकत्वं मनआदौ, ब्रह्मत्वं स्वयंप्रकाशादाविति साध्याभाववद्वृत्तित्वात्साधारणा हेतव इति वाच्यम् । हेतूनां श्यामसमानाधिकरणश्यामत्वसमानाधिकरणान्यतरेण विशेषणीयत्वात् । न चैवमपि पक्षे हेत्वसिद्धिः विशिष्टज्ञाने विशेषणज्ञानस्य कारणत्वेन विशेषणीभूतश्यामाज्ञानप्रयुक्तश्यामसमाना-धिकरणगाढत्वाद्यज्ञानादिति वाच्यम् । श्यामसमानाधिकरणश्यामत्वसमानाधिकरणेत्याभ्यां श्यामे-तरासमानाधिकरणश्यामत्वेतरासमानाधिकरणयोर्विवक्षितत्वात् । भवति च पक्षे श्यामेतराशैत्यास-मानाधिकरणगाढत्वं जलरूपदृष्टान्ते यथा तथा श्यामेतरदुःखासमानाधिकरणगाढत्वं यथा श्यामे-तराश्यामत्वासमानाधिकरणव्यापकत्वमाकाशरूपदृष्टान्ते तथा पक्षेऽपि ।

यथा च श्यामेतरानाह्लादकत्वासमानाधिकरणब्रह्मत्वमानन्दरूपदृष्टान्ते तथा पक्षेपीति परगमन प्रणाडीं रसस्याहुः सार्धेन **स्त्री**ति ।

---

१. महत्तत्त्वसूताहङ्कारसूतमनसोनिरुद्धत्वनिरूपके श्यामत्वं देवहूत्यर्थमेव ।

स्त्रीपुंप्रेमविहारात्मगाथानन्दविभावतः ॥ ३ ॥

प्रादुर्भवति कृष्णात्मा हृदि भावाङ्कुरात्मकः ।

अनिर्वाच्यानन्दरूपानन्दानुभवसाक्षिकः ॥ ४ ॥

स्वगतो रसो भवति यदा रामसीतादयः परस्परानुरागे परस्परं कारणानि तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात् । कटाक्षादयः कारणानि । असति रत्यादौ तदभावात् । लज्जाहास्यादीनि सहकारीणि न तत्कार्याणि । तेन विनापि सम्भवेन व्यभिचारात् । न वा कारणानि तदुत्तरत्वान्नैयत्यात् । किन्तु स्वसामग्र्या प्रादुर्भवन्ति सन्ति रत्यादेरुपवासकानि भवन्ति । सामग्रीसंपातेन रत्यादेरेव रूपस्य तत्र तद्विचित्रस्मितरुदितकार्यजननायोगेन सामग्रीवैचित्र्यापादकानि । अत्र विभावादिभिरभिव्यक्तः स्थायिभावो रसः । अयं शृङ्गमियर्तीति शृङ्गारः । शृङ्गो भावाङ्कुरः । अनन्यं परं तत्त्वः शृङ्गमियर्तीति शृङ्गारो रस इति । तथाहि सामाजिकानां सामाजिकरत्यादिवासनाया उद्बोधो हि रसः तस्याश्च रामादयो न कारणानि असन्निहितत्वात् । कटाक्षादीन्यपि न कार्याणि व्यधिकरणत्वात् । तेषामालम्बननिष्ठत्वात् । एवं सहकारिणामपि सामाजिकेष्वभावात् । किं तु तैर्भावनायाः प्रवर्तके सामाजिके बाह्यविषयेभ्यो व्यावृत्ते मनसि ज्ञानसुखात्मको रत्यादिः स्वयं प्रकाशते ज्ञानोपनीता विभावादयोपि तद्विषया इति समूहालम्बनरूपता । विभावनमनुभावनं सहकरणं च तस्य तस्य व्यापारास्तैश्च रत्यादेरीषत्स्फुटतरः स्फुटतमश्च प्रकाशः विभावनमनादिसामाजिकवासनान्तर्लीनरत्यादेर्वासनाया बहिःकरणम् । अनुभावनं तथाभूतस्य रत्यादेरास्वादाङ्कुरयोग्यतानयनम् । सहकरणं तथाभूतस्य तस्यास्वादाङ्कुरप्रादुर्भावनम् । इत्थं व्यापारवैलक्षण्यादित एव कारणादयो विभावादिव्यपदेशात्स्थायिभावो रसः ।

प्रकृतमुच्यते । प्रकृते तु रामसीतावल्लक्ष्मीकलानिध्योः स्त्रीपुंसोः 'वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा' इति वाक्यात्प्रेमा । अयं शृङ्गार इति काव्यप्रकाशादौ । कथं शृङ्गारमात्रेण वशीभवेत् । शृङ्गारोऽपि भक्ताभावात्कस्येच्छया भवेत् । तेन प्रेम्णा प्रेमा शृङ्गारः । गौण्या प्रेमपदवाच्यः । 'शृङ्गारः शुचिरुज्ज्वल' इत्यमरे शृङ्गारनामानि त्रीणीति । यः प्रेमपदवाच्यः प्रेमा स प्रेमा च प्रेमा च प्रेमाणौ सरूपैकशेषः विहिताविहितभक्तिरूपौ ताभ्यां ये विहारास्तत्र प्रेम्णोवस्थाद्वयं संयोगविप्रयोगात्मकं तत्रापि विरहे सर्वोपमर्द इति न विहाराः संयोगे परं नवरत्नभागवतभक्तिवर्द्धिनीप्रोक्तं भवति सन्न्यासे च निरोधलक्षणग्रन्थोक्तं च भवति नोपदेशनं भक्तिमार्गस्य भगवत्सन्निधाने भगवदतिरिक्तस्यानुचितम् । किञ्च 'समुद्विजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधीः' इत्यत्र टिप्पण्यां ज्ञानमार्गीयसामग्र्या भक्तिमार्गसामग्री बलीयसीति निरूपणाद्भक्तिमार्गसामग्रीपूर्वकशृङ्गारविहाराः 'कपटोक्ती व्याजदम्भोपधयश्छद्म कैतवे' इत्यादि 'मह उद्धव उत्सव' इत्यन्तामरोक्ता नाट्यवर्गे त आत्मनि वाच्यत्वेन यस्यास्तादृशी **गाथा** 'तद्दोषा'वित्याद्युक्तलक्षणकाव्यवत् निरोधप्रतिपादकदशमस्कन्धीया शब्दात्मिका तज्जा ये **आनन्दाः** श्रवणरूपभजनानन्दाः विषयानन्दविलक्षणाः प्रेम्णा शुद्धानां व्यासाभिमारुतानामतिदुर्लभानां नारायणपराणामवस्थानुकृतिलक्षणनाट्यवतां मुक्तानां मुमुक्षूणां चानन्दाः स्वधर्मप्रेमरूपस्नेहसम्पृक्ताः श्रवणद्वारान्तःप्रविष्टाः तेषां विभावा आलम्बनविभावा मुक्तमुमुक्ष्वादिरूपा भक्त्या तद्रूपा जाता इति उद्दीपनविभावरूपा अप्यालम्बनविभावा जातास्तादृशाः । अत्र त्रिभावव्यञ्जनावृत्तिः । तेषामानन्दानां **विभावतः** । विशिष्टो भावः प्रेमा विभाव आलम्बनोद्दीपनरूपश्च तत्र **प्रादुर्भवति कृष्णात्मेति** कृष्णघटितकार्यस्य शृङ्गारस्य वक्ष्यमाणत्वात् प्रेम्णो **विभावत** इति

पदवाच्याद् हृद्यानन्दः **कृष्णात्मा** सदानन्दसविकल्पकज्ञानरूपः तावतीं मायां दूरीकृत्य **प्रादुर्भवति** तत्र आत्मस्वरूपं यस्य शृङ्गारस्य । प्रकृते पूर्वोक्तोऽयमेव विभावने व्यञ्जनया विभावपदवाच्यमुक्तमुमुक्षुरूपोद्दीपनविभावरूपभक्तानां मनोन्तर्लीनरत्यादेरीषत्प्रकाशः अनुभावनेनानुभावपदवाच्यकटाक्षभुजक्षेपादिभिः स्फुटतरं प्रकाशमाहुः । **भावेति** अनुभावनं तथाभूतस्य रत्यादेरास्वादाङ्कुरयोग्यतानयनमनेन व्यापारेणानुभवपदवाच्यकटाक्षभुजक्षेपादिभिः भक्तानां मनोन्तर्लीनरत्यादेः **भावा अङ्कुरा आत्मनि** यस्य शृङ्गारस्य, यद्वा स्फुटतरः प्रकाशः । इत्थं च कृष्णात्मकस्य भावैरनुभावैर्यथेष्टाङ्कुरं स्वाद्यरूपाङ्कुरं आत्मा स्वरूपं विभावात्मकं यस्य । समासान्तः कप् । भावपदं प्रेमाणमन्तरेण न किञ्चिल्लीलास्थमित्यसूसुचत् । उद्यानाद्युद्दीपनविभावानुवादवत् सञ्चारिणामननुवादः । सहकरणेन व्यापारेण तथाभूतस्य रसास्वादाङ्कुरप्रादुर्भावनरूपेण सहकारिपदवाच्यवैराग्यग्लानिशङ्कालस्यदैन्यचिन्तास्मृतिधृतिव्रीडाचपलताहर्षावेगजडतागर्वविषादौत्सुक्यमतिवितर्कादिभी रत्यादिसामग्रीवैचित्र्यापादकैः स्फुटतमः प्रकाशो भक्तानां मनोन्तर्लीनरत्यादेः कृष्णात्मकस्य । तदर्थं विशेषणमाहुः **अनि**-रिति । 'यतो वाच' इति श्रुत्युक्तोऽ**निर्वाच्यानन्द**पदेन रूप्यते यः स **आनन्दस्तस्यानुभवः साक्षी** ज्ञानज्ञेयानामाविर्भावतिरोभावज्ञानात् स्वयमेवमाविर्भावतिरोभावहीनः स्वयंज्योतिः स साक्षीत्युच्यत इति श्रुतेः स्वयं ज्योतीरूपो यस्य कृष्णात्मकस्य स तथोक्तः । समासान्तः कप् । श्रुतिः । 'समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य' इत्यधिकरणे सूत्राणि च । 'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम' इति गीता । 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्वि'ति श्रुतिः । 'ज्योतिश्चरणाभिधानादि'ति सूत्रम् । काव्यप्रकाशेपि 'लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणताटस्थ्यावबोधशालिपरिमितयोगिज्ञानवेद्यान्तरसंस्पर्शरहितस्वात्ममात्रपर्यवसितपरिमितेतरयोगिसंवेदनविलक्षणलोकोत्तरस्वसंवेदनगोचर इति प्रत्ययोप्यभिधीयतामि'ति सार्धश्लोकेनोक्तं स्वरूपमभ्यर्हितत्वाच्छ्रुतीनां 'मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययु'रिति वाक्यात् । गुर्व्यस्तास्तु दशधा स्त्रीपुरुषभेदेन विंशतिधाऽतो भक्तमनोरथा अपि विंशतिधेत्यन्येषामप्यधिकारः मनोरथान्तप्राप्तिश्च ॥ ३ ॥ ४ ॥

एवं प्रेमा निरूपितः स न शृङ्गारः । संज्ञाभेदात् । संज्ञाभेदाद्भेदो हि पूर्वतन्त्रसिद्धः । शृङ्गार इत्यन्ये । परं रसत्वेन प्रेमा विवक्षितः । रसत्वं च शृङ्गारमन्तरेणान्येषु नास्तीति शृङ्गारनिरूपणं प्रतिज्ञातम् । स चापुष्टो रसाभास इति तत्पोषकावाहुः । **भावाभासेत्यादि** ।

भावाभासरसाभासौ पोषकौ तस्य सम्मतौ ।

रसाभासभावाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः । 'तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिता' इति काव्यप्रकाशात् । न च रस एव रसाभासः सकलकारणकारणे अनौचित्यप्रवर्तितत्वादिति वाच्यम् । अनौचित्यप्रवर्तकानामनधिकारात् । साधनचतुष्टयस्य शमदमवैराग्यमुमुक्षुत्वरूपस्य ज्ञानद्वारा भक्त्युपयोगः 'शमदमाद्युपेतः स्या'दित्यादिसूत्रभाष्य उक्तत्वाच्च । तथा च वैराग्योत्कर्षः शृङ्गारप्रवर्तकानां न वैराग्यमात्रं 'उत्कर्षश्चापि वैराग्ये हरेरपि हरिर्यदी'ति वेणुगीतकारिकायाः । 'कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्य' इति सूत्रे भाष्ये कामस्याविहितभक्तित्वेन निरूपणात् । रसाभासभावाभासा यद्यपि भावं निरूप्य रसं निरूप्य क्रमप्राप्तास्तदाभासा लक्षणीया इति वदन्ति सरस्वतीतीर्थास्तथापि ह्यनुभवसाचिव्यात्पोषकाः क्रमप्राप्ता इत्युक्तं **सम्मता**विति ।

पुष्टस्य तस्य रसस्यावस्थाद्वयं पोष्यत्वायाप्याहुः । **संयोग** इत्यादि ।

संयोगो विरहश्चापि तस्यावस्थाद्वयं मतम् ॥ ५ ॥

तस्य पुष्टरसस्य ॥ ५ ॥

अवस्थेत्यादि ।

अवस्थाद्वयपूर्णो हि स्वकार्यकरणक्षमः ।

अवस्थाद्वयेन पूर्णः पोषकैर्व्यभिचारिभिश्चोपलक्षणविषया पूर्णः । स्वकार्यं रसकार्यं आनन्दः सकलबन्धनाशरूपं वा स्वात्मकार्यं 'हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीर' इति वाक्यात् । 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' इति श्रुतेः ।

एवं सम्भोगविप्रलम्भौ लक्षयित्वा तत्पोषकौ भावाभासरसाभासौ लक्षयाम्बभूवुः । भावो-द्बोधमिति ।

भावोद्बोधं विना भावसम्पत्त्यर्थं तु या कृतिः ॥ ६ ॥
हास्यस्पर्शादिरूपा हि भावाभासः स उच्यते ।
रसोद्गमक्रिया काचिद्व्याजवाक्यादिसंयुता ।
करोत्यानन्दमन्तर्हि रसाभासः स उच्यते ॥ ७ ॥

श्लोकद्वयेन त्वन्यत्र विरहे रसाभासभावाभासौ श्लोकद्वयेनोदाहृतावित्यत्राप्युदाहियेते परं संयोगे । विरहे तु ते एवोदाहर्तव्ये । रतिहासक्रोधादीनां भावानामुद्बोधो रसत्वेन बोधो **भावोद्बोधः तं विना** रसता या सञ्जातेति यावत् । **भावः** प्रेमलक्षणा भक्तिः **तत्सम्पत्त्यर्थं तु या कृतिः** । का सेत्यत आहुः । **हास्येति** । हासो हास्यरसस्य स्थायी संयोगे सञ्चारी । यद्यपि सम्भोगस्य परस्परालिङ्गनपरिचुम्बनाद्यनेकभेदत्वादपरिच्छेद्य इत्येक एव गण्यते इति हास्यमपि सम्भोगस्तथापि मुख्यवृत्त्यादरेण सम्यग्योगो गृह्यत इत्यादिपदेनापि संयुक्तपदार्थो ग्रहीष्यत इति परम्परासंयुक्तहास्यं सञ्चार्येव । स्पर्शोपि न संयोगः । परम्परासंयोगात्मकस्पर्शस्य विवक्षितत्वेन सञ्चार्येव । तस्मात् हास्यं 'रागादिवैकृताच्चेतोविकासो हासः' स्वार्थे ष्यञ् हास्यम् । **स्पर्शः** । चेतःपतनप्रतिबन्धकव्यापाररूपा धृतिः । तदुक्तं 'सन्तोषो ज्ञानशक्त्यादेर्धृतिरव्यग्रभोगकृ'दिति विस्तारिकायाम् । ननु धृतिः सञ्चारिणी पोषिका भवतु । हास्यं तु स्थायिभावः कथं पोषकमिति चेन् नैवम् । 'स्थायी भावो रसः स्मृत' इत्यस्य विस्तारिकायां रतिहासक्रोधादीनां स्थायिनामपि करुणशृङ्गारवीरादिषु सञ्चारित्वं स्वीकृतं तेष्वस्थिरत्वाद् इत्यादिकृतीनां भावोद्बोधं विना भावसम्पत्त्यर्थत्वादीश्वरे सकलकारणकारणेऽनौचित्यप्रवृत्तत्वेन भावाभासत्वम् ॥ ६३ ॥

एवं च हास्यस्पर्शादीत्यत्रादिपदेन व्रजभक्तानामिव परिचयलक्षणो भावोऽपि [1]तौ विना भावाभास एव । **रसोद्गमेत्यादि** । रसः पूर्वोक्तः तस्योद्गमाय **क्रिया** सा पूर्वोक्तानुभावान्तर्गता नियता, तामाहुः **काचिदिति** । न चात्र भावाभावः । 'भवद्वदतां श्रेष्ठो वाचः पेशैर्विमोहयन्ति'ति वाक्यात् । एवं भगवतोपि व्याजवाक्यादि तत्संयुता क्रिया काचिद्बोध्या । न तु शुद्दीपनवैचित्र्यापादिका । तस्याः स्वरूपं **व्याजवाक्यादिसंयुतेति** । आदिपदेन निगुह्यवस्त्वादि । **अन्तरानन्दं करोतीति** पूर्वानन्दभिन्नं करोतीत्यालम्बननिष्ठाकर्त्री तस्या व्याजवाक्यादिसंयुताया बह्वानन्दानां विषयस्य शृङ्गारस्य प्रवृत्तेः **स रसाभास उच्यत** इत्यर्थः । कर्तृबहुविषयशृङ्गारप्रवृत्तेराभासत्वमिति तद्विदः । भावोद्बोधं विना इति पूर्वश्लोकोक्तमनुषज्यत एव तेन तादृशभक्तेच्छया प्रवर्तितस्यानन्दसंयोगस्य रसाभासत्वमनौचित्यप्रवर्तितत्वादिति भावः । व्याजवाक्यादेः सञ्चारित्वं औत्सुक्येन्तर्भावाद् गर्वरूपत्वाद्वा अवहित्थत्वाद्वा । तथाहि । 'व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम्' । उद्भिन्नत्वम-

1. अभावसम्पत्त्यर्थभावोद्बोधो विना ।

स्फुटस्य प्रकाशः स्फुटम् । निगूढमपि वस्तुनो रूपं कथमपि प्रतिभिन्नं केनापि व्यपदेशेन यदपह्नूयते सा व्याजोक्तिः । उदाहरणम् ।

शैलेन्द्रप्रतिपद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोल्लस-
द्रोमाञ्चादिविसंष्ठुलाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुलः ।
हा शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान्सस्मितं
शैलान्तःपुरमातृमण्डलगणैर्दृष्टो हरः पातु व' इति ।

अत्र पुलकवेपथू सात्त्विकरूपतया प्रसृतौ शैत्यकारणतया प्रकाशितत्वादपलापिस्वरूपौ व्याजोक्तिं प्रयोजयत इति । एतादृशव्याजवाक्यादि 'कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्, नित्यप्रिये पतिपुत्रादिभिरार्तिदैः किं'मिति ज्ञानवतीनां दास्यमक्तीच्छूनां मनोज्ञात्मानं प्रति स्फुटदास्यस्यास्फुटं प्रकाशकानां गोपीनां 'त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकामतप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्य'मित्यनेन । यद्वा रतस्याग्रे प्रिययोगात् 'कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि' इत्यनेन व्यपदेशेनापह्नूयत इति कुर्वन्ति हीत्यादेव रसोद्गमत्वादि 'दोहं हित्वा समुत्सुका' इति वाक्यात् पूर्वं सम्भ्रमोपि चैतद्वाक्यादनुमीयते तत्संयुता एककार्यकारित्वेन च सम्बन्धेन क्रिया काचिदौत्सुक्यसम्बद्धा तस्याः कार्यत्वेन सम्बद्धमुच्छ्वासादि 'श्वसनेन शुष्यद्बिम्बाधराणी'ति वाक्यात् । तदुक्तं 'कालाक्षमत्वमौत्सुक्यं रम्येच्छारतिसम्भ्रमैः । तत्रोच्छ्वासत्वराश्वासहृत्तापस्वेदविभ्रमा' इति काव्यप्रदीपे । विस्तारिकाकृत्त्वौत्कण्ठ्यमिति पपाठ । कालाक्षमत्वमित्यौत्सुक्यलक्षणं सम्भ्रमलक्षणं विस्तारिकायां 'आवेगः सम्भ्रमो राजगजवर्षादिसम्भव' इति । तथा तादृशव्याजवाक्यादिमधुपेत्यादिनिन्दारूपव्यपदेशस्तेनापह्नुता तत्संयुता एककार्यकारित्वेन च सम्बन्धेन रसोद्गमक्रिया गर्वसम्बद्धा तस्याः कार्यत्वेन सम्बद्धमसूयादि तदुक्तं 'निन्दादितः परावज्ञा गर्वोसूयादिकृद्भवे'दिति विप्रयोगे 'निन्दादितः परावज्ञे'ति गर्वलक्षणम् । तथा तादृशव्याजवाक्यादि 'त्वत्सुन्दरे'त्यादि तत्संयुता रसोद्गमक्रियाऽवहित्थसम्बद्धा लज्जाद्यैर्हर्षाद्याकारगोपनमवहित्थम् । अत्र कामभावेन प्रेमाकारगोपनम् । आकारगोपनं च 'व्यापारान्तरसक्तिस्ववदनानमनादय' इति काव्यप्रदीपे । न च त्वत्सुन्दरस्मितेत्यादिकामभावेन प्रेम्णोरव्यभिचारित्वमात्रं क्रियते 'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'ति गीतातः । न तु प्रेमाकारगोपनमिति शक्यम् । 'अनाविष्कुर्वन्नन्वयादि'ति तार्तीयसूत्रे 'भगवद्भावस्य रसात्मकत्वेन गुप्तस्यैवाभिवृद्धिस्वभावकत्वादाश्रमधर्मैरेव लोके स्वं भगवद्भावमनाविष्कुर्वन्भजेत'इति भाष्यात् । न च कामभावोऽस्वधर्म इति शक्यं 'यत्पत्यपत्यसुहृदा'मित्यत्र स्वधर्मत्वस्योपपादनात् । **करोत्यानन्दमन्तर्हीति** भावसन्धिवारणाय भावसन्धौ हर्षस्यावेगविरुद्धत्वात् । अतो **रसाभास उच्यत** इत्यर्थः । उभयमन्यत्र काव्यप्रकाशादौ । **अविरुद्धरसाभासः** ।

'स्तुमः कं वामाक्षि क्षणमपि विना यं न रमसे
विलेभे कः प्राणान् रणमखमुखे यं मृगयसे ।
सुलभे को जातः शशिमुखि यमालिङ्गसि बलात्
तपःश्रीः कस्यैषा मदननगरि ध्यायसि तु यम्' ।

अत्रानेककामुकविषयो हि पञ्चविधविप्रलम्भान्तर्गताभिलाषो हि पतिव्रतानामनुचितः । **भावाभासः** ।

'राकासुधाकरमुखी तरलायताक्षी सा स्मेरयौवनतरङ्गितविभ्रमाङ्गा।
तत्किं करोमि विदधे कथमत्र मैत्रीं तत्स्वीकृतिव्यतिकरे क इहाभ्युपायः'।

इति रावणवाक्यं सीतासन्निकरणे। अत्र चिन्तानौचित्यप्रवर्तिता। औत्सुक्यमौत्कण्ठ्यं विस्तारिकायां 'औत्कण्ठ्यं वाञ्छतः प्राप्तौ कालक्षेपासहिष्णुते'ति लक्षणं यथा।

'आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः।
बद्धुं न सम्भावित एव तावत् करेण रुद्धोपि हि केशपाशः' इत्यत्र।

सम्भ्रमोदाहरणं यथा।

'अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिनं नृपं सोनवेक्ष्य भरताग्रजो यतः।
क्षत्रकोपदहनार्चिषं ततः सन्दधे दृशमुदग्रतारकाम्,' इति।

गर्वोदाहरणम्।

'धृतायुधो यावदहं तावदन्यैः किमायुधैः।
यद्वाणसिद्धं मन्त्रेण मम तत्केन सेत्स्यति' इत्यत्र।

अवहित्थोदाहरणम्।

'एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती' इति।

भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः शबलता च न रसरूपेऽभावादतिरिक्तरूपेणोपयुक्तेति ग्रन्थान्तरादेव ज्ञेया। यथा **भावसन्धिः**।

'उत्सिक्तस्य तपःपराक्रमनिधेरभ्यागमादेकतः
तत्सङ्गप्रियता च वीररभसोत्फालश्च मां कर्षतः।
वैदेहीपरिरम्भ एष च मुहुश्चैतन्यमामीलय-
न्नानन्दी हरिचन्दनेन्दुशिशिरस्पर्धी रुणद्ध्यन्यतः' इति।

अत्रावेगहर्षयोः सन्धिः तथाहि रामस्य वचनं उद्रिक्तस्य तपसः पराक्रमस्य च निधिभूतस्य परशुरामस्यागमनात् तत्सम्पर्कप्रियत्वं वीररसाधिक्यं चैकतो मां कर्षतः। अनेनावेगाख्यो भाव उदीरितः। एष सीतापरिरम्भश्च अन्यतो मां रुणद्धि। कीदृशः मुहुश्चैतन्यमामीलयन्नित्यादि अनेन हर्षाख्यो भावः इति प्रकृतोपयोगादुदाहृतः भावस्थितिरपि। अङ्गित्वमतिशयचमत्काराधायकत्वे सति तच्च। 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यत' इति श्रुतेरङ्गित्वासम्भवाद्भावशान्त्यादेः।

'स्वेदः स्तम्भोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः'।

इत्युक्ताः सात्त्विकभावा अनुभावेष्वन्तर्भूताः॥ ७॥

'रसो वै सः' 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इति श्रुतिभ्यां एकमेव पूर्वोक्तं सर्वं ब्रह्म चासंलक्ष्यक्रमत्वं सामान्यं चाश्रित्येति साकारव्यापकस्य रूपस्य 'लीलारूपैश्च तत्सेव्य'मित्यनेन सेवोक्ता तद्रूपस्य 'षड्गुणैः सहितो धर्मी कृष्णः सेव्य' इत्यनेन सेवोक्ता तत्र स्थितस्यान्तर्यामिणो मर्यादायां पुष्टौ तु 'प्रदीपवदावेश' इति सूत्रेऽयं प्रवेशो नान्तर्यामित्वेन तस्यैकधैव प्रवेशादित्यनेन निषेधः। किं तु बहुधा सन्निवेश इति बहुधानिविष्टस्य भर्तुर्दृढविश्वासतो भजन्नित्यनेन सेवा वक्ष्यमाणा तस्याः फलमवान्तरं प्रेमरूपा मानसी सेवा तस्याः सिद्धिं कुर्यादित्याहुः। श्रीकृष्णेत्यादि।

श्रीकृष्णगोपिकाप्रौढविलासकथयोद्गतम्।
रससंयोगभावं हि श्रीकृष्णे साधयेद् ध्रुवम्॥ ८॥

श्रिया सहितस्य सदानन्दस्य द्वात्रिंशत्कलाः वैराग्यसाङ्ख्ययोगतपोभक्तिरूपास्तासां च ये प्रौढाः प्रौढत्वं च सकलदर्शनार्थज्ञानपूर्वकनिर्गुणभक्तिमार्गगूढार्थज्ञानवत्त्वमिति शब्दरत्नात्सिद्ध्यति तादृशा येन केनापि सम्बन्धेन **विलासास्तेषां कथया** गोपालतापिन्यादिदशमस्कन्धादिनिरूपितया प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूपयोद्गतं 'भक्तिरहस्यभजनं तदिहामुत्रफलभोगनैराश्येनामुष्मिन्मनःकल्पनं' 'ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्धधिय' इति निरूपितमानसीसेवारूपं **रससंयोगभावं** रसेन विहिताविहितप्रेमशृङ्गारादिना संयोगभावं सायुज्यमिव वर्तमानं **श्रीकृष्णे** कृष्णाश्रयं **साधयेत्सिद्धं** कुर्यात्। कदाचिन्मतिसञ्चारिभावप्रधाना 'यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्गे'त्यादिवाक्यं व्याहरन्त्यो गुरवः प्रौढाः कुर्वन्तीति हीत्युक्तम्। 'तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः। आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तये'दिति सिद्धान्तमुक्तावल्यां 'तानि परे तथा ह्याहे'ति सूत्रे 'ता वां वास्तूनी'ति श्रुतौ 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जित'मिति गीतायां यद्रूपं निरूपितं तदिदं **ध्रुवं** रूपमित्याहुः ध्रुवमिति शाश्वतम्। 'ध्रुवं तु निश्चिते तर्के निश्चले शाश्वतेऽन्यवदि'ति विश्वः। तदुक्तं सर्वनिर्णयाभासे 'यन्न योगेन साङ्ख्येन दानव्रततपोध्वरैः। व्याख्यास्वाध्यायसन्न्यासैः प्राप्नुयाद्यत्नवानपि' 'तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य नोदनां प्रतिनोदनाम्। प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च। मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्। याहि सर्वात्मभावेन यास्यसे ह्यकुतो भयम्' इत्येकादशसर्वस्वं भगवान् स्वयमुक्तवानिति। श्रुत्यन्यसाधारणम्।

ततश्चेति।

ततश्चातितरं वृद्धो निमेषाद्यन्तरायकम्।
विरहं साधयित्वा च पुष्टः स्यात् स्वस्वरूपतः॥ ९॥

प्रेमशृङ्गारादिभावनानन्तरं रससंयोगभावसिद्ध्यनन्तरं चेति क्रमवाचकस्य **तत** इति पदस्यार्थः। **अतितरं वृद्ध** इति। तृतीयाध्यायोपान्त्ये 'अनाविष्कुर्वन्नन्वयादि'ति सूत्रभाष्यं 'गुप्तस्यैवाभिवृद्धिस्वभावकत्वादि'ति। तर्हि गोपनकरणप्रतिपादकस्य 'आश्रमधर्मे'रेवेति भाष्यस्य विरोध इति चेन्मर्यादायां प्रेमशृङ्गारादीनामत्रादिपदेनोक्तत्वान्न विरोधगन्धः। रसोतितरं वृद्धः **निमेषाद्यपि** भगवद्दर्शनादौ अन्तरायं यस्मात् तादृशं **विरहं साधयित्वा** [illegible] तनुवित्तजसेवादिसञ्चारिभावान्साधयित्वा **पुष्टः**, सञ्चारिणां पोषकत्वात्। स्वस्य निर्विकल्पकज्ञानस्य ब्रह्मणो यत्स्वमात्मा तस्य **रूपं** विशिष्टज्ञानमव्ययीभूतं ततः सार्वविभक्तिकस्तसिः प्रथमान्तं पदम्। स्वस्वरूपात्मा सन् स्यादित्यर्थः। आश्रमधर्मैर्वृद्धो भवति रसः, वात्सल्यादिभिरतिवृद्धः, शृङ्गारेणातितरं वृद्धः अतितमं तु केन वृद्धो भवतीतीश्वरो वेति। 'यस्यामत' मित्यादिश्रुतेः।

ननु सकलकारणकारणेऽविद्यावच्छिन्नजीवस्य सेवाद्यर्थमयोग्यता तथा च भाष्यं मुक्तोपसृप्येति सूत्रस्य तेन शरीराद्यध्यासविशिष्टं न ब्रह्मणि योजनीयमितीत्याशङ्क्याहुः एवं चेति।

एवं चेत्पुष्टतामेति भावात्मा स रसस्तदा।
श्रीकृष्णभजने योग्यं कुर्याज्जीवं निवेदितम्॥ १०॥

एवमित्युक्तपरामर्शे विरहसंयोगवांश्चेद्यदि तदोभयसञ्चारिभिर्वैराग्यादिभिः **पुष्टतामेति चेत्**

---

१. अनेनभक्तिमार्गो व्याक्षिप्यते।

यदीति भाग्यवशेन अत्र निदर्शनमुक्तं शाण्डिल्यर्षिणा 'संयोगे वियोगवृत्तिः प्रेमे'ति सूत्रेण एवं 'वियोगे संयोगवर्तनमपी'ति तद्भाष्ये । निवेदितमिति 'सख्यानन्तरमात्मनिवेदन'मिति सुबोधिन्यां पाठक्रमः 'आत्मनिवेदिनो हि भजनार्हो नेतर' इति नवरत्नटीकायामर्थक्रमः । श्रुतकृताभ्यामात्मनिवेदनविशेषितत्वाद्वा । सुबोधिन्यां कृतात्मनिवेदिनः । आद्ये स्तुतो रसप्रमेयबलेन पुष्टिभक्तौ, साधनबलेन मर्यादाभक्तौ योग्यं जीवं कुर्यात् । द्वितीये आरम्भदशायां 'धर्मेण पापमपनुदती'ति श्रुतेः पापाभावद्वारा मर्यादाभक्तौ योग्यं जीवं कुर्यात् । तदुक्तं 'प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयती'ति सूत्रभाष्ये । 'ननु पूर्णज्ञानक्रियाशक्तिमता ब्रह्मणा तुल्यभावेन तत्रापि प्रधानभावं प्राप्य कामभोगकरणमपूर्णज्ञानक्रियावतो भक्तस्यानुपपन्नमित्याशङ्कायां तत्रोपपत्तिमाहे'ति, अत्र तुल्यभावेनेति सख्यं, प्रधानभावमिति आत्मनिवेदनम्, 'भोगमात्रसाम्यलिङ्गाचे'ति सूत्रे स्पष्टमिदम् । आत्मनिवेदनानन्तरं विचिकीर्षितो जीवः । 'निवेदितात्मा विचिकीर्षितो म' इति वाक्यम् । श्रुतिस्तु 'भर्ता सन् भ्रियमाणो बिभर्ती'ति । द्वितीयपक्षे तु भजने 'तपोवैराग्ययोगे तु ज्ञानं तस्य फलिष्यती'ति निबन्धाद्यथासङ्ख्यं देहाध्यासेन्द्रियाध्यासान्तःकरणाध्यासानां आलोचनवैराग्यसाङ्ख्यैर्निवृत्तिमचीकॢपन्नाचार्याः 'योगयोगे तथा प्रेमे'त्यनेन कारिकांशेन प्रेमयोगाभ्यां प्राणाध्यासस्वरूपविस्मृत्योर्निवृत्तिम् । सिद्धान्तरहस्ये 'ब्रह्मसम्बन्धकरणात्सर्वेषां देहजीवयोः सर्वदोषनिवृत्तिर्हि' इति आत्मनिवेदनस्य योग्यकरणकारणतोक्ता ।

कृष्ण इत्यादि ।

कृष्णे निवेदनाज्जीवः कृतकृत्यो भवेदिह ।
अतः सर्वात्मना कुर्याद्विधित्वेन निवेदनम् ॥ ११ ॥

'इहैव समवनीयन्ते प्राणा' इति श्रुतेरिह । अतो जीवस्य योग्यत्वात् । सर्वात्मना सर्वपशुपुत्रेन्द्रियादियुक्तेनात्मनान्तःकरणेन सह जीवः कुर्यात् । अथवा 'यस्मिन्नकृते न कोपि पुरुषार्थः सिध्यति तत्सर्वात्मना कृतमात्मनिवेदनं' सुबोधिन्यामयमर्थः यतः कृतकृत्यताफलमुक्तमतः सर्वेषां पृथ्व्यप्तेजोवाय्वाकाशप्रकृतिपुरुषमहत्तत्त्वाहङ्काराणां मध्येऽष्टानां पृथिव्यादीनामात्मा पुरुषान्तर्गतपुरुषः परा काष्ठा तेन हेतुना विधित्वेन आत्मनिवेदनं कुर्यात् । तथा चोक्तं गीतायां 'स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारते'त्युक्त्वा 'एतद्बुध्वा बुद्धिमान्स्यात् कृतकृत्यश्च भारत' इति । विधित्वेनेति । विधिर्यथा 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'त्यादौ लिङर्थः । वाक्यं तु तेन विधिवाक्यमुच्यते, एवं विधित्वमाज्ञानिष्ठमपि आज्ञाघटितार्थरूपात्मनिवेदन उच्यते एवमेव पूर्वमीमांसकानां व्यवहारः । 'इमे विदेहा अयमहमस्मी'ति बृहदारण्यके जनकात्मनिवेदनवाक्यम् । 'इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम् । दारान्सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम्' इत्येकादशे वाक्यम् । अत्र शिक्षेदित्यनेनानुकृष्टेनान्वयात्परस्मै इष्टाद्यभिन्नं निवेदनं यत् तत्कर्मकशिक्षानुकूलकृतिविषयिण्या आज्ञायाः प्रतीतिः । अत्र पदार्थसमूहरूपवाक्यार्थैकदेशाज्ञानुकूलपर्वसु सुखसंवेदनरूपा रतिश्चेतस्तत्प्रवणाख्यमानसीसेवारूपभावरूपाङ्कुरमियर्तीति शृङ्गारलक्षणवाक्योक्तस्त्रीपुंभावात्मकत्वं जीवानां अक्षरत्वादस्त्येव भावाङ्कुरार्थः । यद्वा भावैरनुभावैरित्यादिना पूर्वमुक्तो यः स तथानिष्ठं विधित्वमात्मनिवेदने आरोप्यते । छत्रिणो यान्तीतिवत् । अथवा विधीयते यत् स विधिः 'उपसर्गे घोः कि'रात्मनिवेदनं पूर्वश्रुतिस्मृत्योरत्रात्मनिवेदनशिक्षावाचकलिङादि विधीयते इति प्रत्ययात् । अत्र सूत्रं साधनाध्याये 'अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्या'मिति । श्रुतिस्तु 'परं ब्रह्म[1] एतद् यो

1. ब्रह्म ।

धारयति रसति भजति ध्यायत' इत्यादि । गीताविस्तारस्तु 'केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः । येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा' । गीता तु त्रयोदशाध्याये 'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी' । पुरुषोत्तमयोगाध्याये 'स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत' 'इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ । एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारते'ति च ।

भक्तिमार्गविषयं निष्कर्षन्तः फलाय साधननिष्कर्षमाहुः शृङ्ग इति द्वयेन ।

शृङ्गो भावाङ्कुरः प्रोक्तः शृङ्गारस्तद्गतो रसः ।
स वै कृष्णात्मको ज्ञेयः श्रुतिवाक्यानुसारतः ॥ १२ ॥
समर्प्य तत्र सर्वं हि दृढविश्वासतो भजन् ।
ऐहिके पारलोके च चिन्तां त्यक्त्वा सुखी भव ॥ १३ ॥

भावाङ्कुरः चेतस्तत्प्रवणाख्यो भावः प्रेमा तस्याङ्कुर आस्वादयोग्यः शृङ्गः प्रभुत्वाद् भगवद्व्यापकत्वात् । ज्ञानस्याक्षरब्रह्मप्रापकत्वात् 'शृङ्गं प्रभुत्वे शिखरे चिह्ने' इति विश्वः । प्रोक्तः ब्राह्मणेन भगवता प्रोक्तः श्रीशुकैः प्रोक्तः व्रजभक्तैः प्रोक्तः । भक्तिरहस्यभजनमित्यादिगोपालतापनीये । 'तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवानि'ति द्वितीयस्कन्धे 'कुर्वन्ति हि त्वयि रति'मिति फलप्रकरणे प्रोक्तः । तद्गतः प्रेमास्वादगतः रस आनन्दमयः शृङ्गार इत्यर्थः । शृङ्गं भावाङ्कुरमियर्तीति शृङ्गार इति व्युत्पत्तेः । शृङ्गश्च शृङ्गश्च शृङ्गौ तौ इयर्तीति शृङ्गार इति व्युत्पत्तिरपि शृङ्गारपदस्य । यद्वा शृङ्गगतः शृङ्गारः शृङ्गशृङ्गारः शृङ्गः शृङ्गारः इति प्रयोगत्रयम् । न तु भावास्वादयोग्यता सः, चेतसि भावास्वादो भगवद्दत्तः स्वधर्मीभूतभावाङ्कुरमाश्रयतया स्वीकुर्वन् तद्गतः विषयितया मानसीसेवां शृङ्गारः स्वीकुर्वन् विषयत्वेन तद्गतो वा । वै निश्चयेन, तद्गतो यतः कृष्णात्मकः । ननु कथं प्रेमप्रियताहार्दस्नेहपदान्यप्रवर्त्य शृङ्गारपदप्रवृत्तिरिति चेत्सत्यम् । वेदान्ते योगमात्राश्रयणाद् भक्तिमार्गस्य सुबोधिन्यां शृङ्गत्वाच्च लक्षणाप्रसङ्गाच्च । अत्र हेतुः श्रुतीत्यादि 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्या'दिति । अत्र मरणोपस्थितिमन्तरा प्राण्यादित्यस्याप्रवृत्तेः विरहः कः प्राण्यात्मकः । किञ्च 'स मानसीन आत्मा जनानां सर्वात्मे'ति वाक्यानि, 'तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्' 'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः' 'वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या' 'कामाद्द्वेष्य' इत्यादीनि । अत्र भक्तिर्मानसीसेवा । कामो दिदृक्षा । तत्र तन्निमित्तं तत्फलकमिति यावद् गृहिणोपसंहाराधिकरणोक्तरीत्या इन्द्रियादिकं सर्वं समर्प्य सर्वात्मभावं कुर्वेति यावद् 'दृढं कृत्वा मन' इत्यत्र दृढपदार्थ उक्तः दृढश्चासौ विश्वासश्च निश्चयात्मकः 'रक्षतीत्येव विश्वास' इति पञ्चरात्रात् तथा कापट्याभावः । ततो भजन् । एतदत्रोक्तं भवति । 'सदा सर्वात्मभावेन भजनीयो व्रजाधिपः । स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचने'ति चतुःश्लोक्यामुक्तम् । सर्वदा सर्वभावेनेति पाठः । चिन्तां पश्चात्तापरूपामन्तःकरणप्रबोधोक्ताम् । किञ्च । चिन्तां सञ्चारिभावरूपाम् । यथा 'चिन्तामापुर्दुरत्ययाम्' । यद्वा । 'राकासुधाकरमुखी'त्यत्र सीतायाः परवधूत्वात्तत्सन्धिविषयिणी चिन्ताऽनौचित्यप्रवर्तिता रावणस्य । एवं जीवस्यान्यदेवभजनविषयिणी चिन्ता 'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'ति क्षेत्रक्षेत्रज्ञनिरूपणाध्यायीयगीतार्था अनौचित्यप्रवर्तिता नवरत्नोक्तरीत्या वा चिन्तां त्यक्त्वा सुखी भव भजनानन्दवान्भवेत्याज्ञा । दुःखाभावे तु किं वक्तव्यमिति भावः । सर्वात्मभावेन भजनं त्रिधा । 'विधैव तु निर्धारणादि'ति सूत्रात् । सर्वात्मभावस्य विधात्वे लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणसूत्राणि । सनत्कुमारनारदसंवादश्छान्दोग्यस्थः श्रुतिरूपः । गीता 'अमानित्वमदम्भित्वम्' इत्यादि 'अज्ञानं यदतोन्यथे'त्यन्तम् । अत्र गृहिणोपसंहारा-

धिकरणरूपसूत्राणि । विषयवाक्यं श्रुतिः । 'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिंसन्सर्वाणि भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तत' इति । गीता पुरोक्ता । **इति शृङ्गारस्वरूपम् ।**

पूर्वं गृहिणोपसंहाराधिकरणविषयवाक्ये आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्येत्युक्तमपुनरावृत्तिमोक्षार्थम् । इदमात्मनि सर्वेन्द्रियप्रतिष्ठापनं ब्रह्मवादे त्वेवम् । उक्तपरामर्शस्तु एकादशे एकोनत्रिंशाध्यायेऽस्ति । 'एतत्ते कथितः सर्वो ब्रह्मवादस्य सङ्ग्रह' इति वाक्यात्तत्रत्यानि पद्यानि प्रस्तूयन्ते ।

श्रीभगवानुवाच ।

कुर्यात्सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन् ।
मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः ॥
देशान्पुण्यानाश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितान् ।
देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च ॥
पृथक्सत्रेण वा मह्यं पर्वयात्रामहोत्सवान् ।
कारयेद्गीतनृत्याद्यैर्महाराजविभूतिभिः ॥

एतदेव 'समर्प्य तत्र सर्वं ही'त्यादिनोक्तं तत्र नित्योत्सवसेवयोरुत्सवाः प्रोच्यन्त इत्याहुः **उत्सवा** इति । उत्सवाः प्रोच्यन्त इत्यर्थः । महोत्सवमभ्यर्हितत्वादाहुः प्रथमं जन्मेत्यादि । जन्माष्टम्युच्यत इत्यर्थः पूर्वग्रन्थेन तद्रूपं तत्र च स्थितं साकारव्यापकं च ब्रह्मज्ञानमभूत् ततो भगवदाविर्भावानुकूला भक्तेच्छा या जाता तया विज्ञापनात्मकं यत्नमाहुः **येनेत्यादीति विज्ञाप्येत्यन्तम् । येनेति ।**

येन दुःखेन गोपीनां यशोदानन्दयोस्तथा ।
प्रकटोऽभून्निरोधार्थं तथा मयि कृपां कुरु ॥ १ ॥

अत्र 'चतुर्विधा भजन्ते मां जना' इति गीतायामुक्तेषु चतुर्षु आर्तोऽधिकारी यो भगवत्प्राप्तिविरहमसहमानः । ज्ञानी तु सर्वात्मभाववान् 'तस्माद्यस्त्यधिकः परः' अधिकारः, उत्तमोत्तमः सः । इति विज्ञाप्येति वक्ष्यमाणत्वात् । आर्तस्य विवेकाभावात् । 'प्रार्थिते वा ततः किं स्या'दित्यस्य विवेकधैर्याश्रयस्यस्य विवेकबोधकस्य न विरोधः । **किञ्च** । भगवदाविर्भावे भक्तानां दुःखस्य हेतुत्वेन भक्तिमार्गारम्भदशायामपि विरहानुभवकर्तृफलदशां भावयित्वा स्वस्मिन्दुःखारोपं कृत्वा निरोधस्य पदवीं यियासेत् । भक्तिवर्धिनीनवरत्नश्रीभागवतोक्तमारम्भदशायां क्रियते इति पुरुषोत्तमप्रतिष्ठानाम्नो ग्रन्थादुच्यते । फलदशायां सन्न्यासनिर्णयोक्तकरणावसरे निरोधलक्षणोक्तं क्रियत इति श्रीवल्लभाचार्यग्रन्थसङ्ख्यायां पाठानुक्रमादुच्यते । पूर्वश्लोकार्थः स्फुटः 'उभयो रोधसो'रिति वाक्याद्गोप्यादीनामपि रोधोऽधिकरणकत्वात् । **यद्वा** । बृहद्वामनपुराणे पुराविदां ब्रह्म यत्तदज्ञानजं दुःखं, यशोदानन्दयोर्भुवि विश्वेश्वरे हरौ, भक्त्यभावजं दुःखम् । तद्दशमस्कन्धाष्टमाध्याय उक्तम् । अयमर्थः । येन ब्रह्माज्ञातं तज्जेन **दुःखेन** प्रयोजकेनानुमोदनेन हेतुना तथा । 'ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृत' इति गीतातस्तेन निर्गुणत्वेन परत्वेन वाङ्मनोगोचरातीतत्वेनानन्दमात्रत्वेन प्रकारेण गोपीनां **निरोधार्थं प्रकटोऽभूत्** । येन दुर्गतितारकपरमभक्त्यभावजेन दुःखेन प्रयोजकेन ब्रह्मादेशसत्यकरणेन हेतुना तथा तेन नन्दयशोदयोर्बालकत्वेन प्रीतिकारकत्वेन प्रकारेण **निरोधार्थं प्रकटोऽभूत् । तथा** यथाधिकारं तेन पूर्वोक्तप्रकारेणैव **कृपां** प्रथमस्य चतुर्थचरणस्यानुमानिकाधिकरणोक्ताव्यक्तपदवाच्यां अव्यक्तपदस्याक्षरवाचकत्वे तु तूष्णीं कृपां विज्ञानहेतुभूतां **कुरु** इत्याशीरधीष्टं वा कृपामधीष्टः सत्कारपूर्वको व्यापार इति सिद्धान्तकौमुद्याम् । तेन कृपाविषयिणीच्छा कर्तव्या न तु पुष्टिनिरोधविषयिणी गोपीनन्दादिवत् । तेषां पुष्टिमार्गीयत्वादस्मदादीनां मर्यादामार्गीयत्वात् । कृपया विज्ञानं विज्ञानेनेच्छया निरोधः ।

नीत्यादि ।

निवेदितात्मभावेन महतां कृपया तथा ।
देहि स्वानन्दरूपं स्वदास्यं श्रीपुरुषोत्तम ॥ २ ॥

निवेदितो जीवस्तस्यात्मभावो 'विधैव तु निर्धारणादि'ति सूत्रभाष्योक्तरीत्या जीवस्य तनूकरणेन, भावपदेन भगवान् भावसंपृक्तः जीववत् 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति वाक्यात् । **महतां** कृपा पूर्वोक्तातिरिक्तापि वरणहेतुभूता तथा निवेदितजीवस्यात्मभावरूपप्रकारेणावृतया अनेनानुमानिकाधिकरणोक्तेन योग्यं शरीरं तदधिकरणोक्तमुपलक्षितम् । **देहीति** दानमधीष्टम् । षट्साधनानां देशादीनामसाधकत्वात् । सर्वात्मभावव्यतिरिक्तस्य दानायोगात् । 'प्रदानवदेवे'ति सूत्रात् । **स्वानन्दरूपं** धर्मशास्त्रे पञ्चदशसु दासेषु नराधमत्वेनोक्तस्य भक्तिशास्त्रे 'तवास्मीति च यो वदेत् । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं हरे'रित्यभयरूपमोक्षसाधनत्वेनोत्कृष्टत्वेन निरूपितस्य तवाहमित्युपगतस्यानन्देन रूपं स्वरूपं भवति तादृशानन्दव्यावृत्त्यर्थं **स्वानन्दरूपमिति** स्वीयानन्दरूपं भजनानन्दरूपमिति यावत् । **स्वदास्यं** न तु विभूत्यादेः दास्यमपि, प्रकटसत्त्वं तिरोहितचिदानन्दं जगद्वत्, तत्प्रकटानन्दं तिरोहितचित्सत्त्वं **देहि** । तदपि सर्वभावेन निर्गुणभक्तिमार्गीयेणेत्याहुः । **श्रीपुरुषोत्तमेति ।** पुरुषोत्तमयोगाध्याये 'यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् । स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारते'त्यत्र भजतीति भक्तिमार्गः । एवमिति उक्तपरामर्शे, तृतीयाया लुक् । उक्त'मूर्ध्वमूलमधःशाख'मित्यादिना वेदविदोऽश्वत्थमेनमित्यादिना असङ्गशस्त्रेण द्वैधीकृत्य 'ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः । तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी'ति श्लोकोक्ता पुनरावृत्तिस्थानमार्गणं तत्परामर्शेन सिद्धान्तमुक्तावल्युक्तेन पुरुषोत्तमं जानाति स सर्ववित् सर्वभावेन मां भवति श्रिया सहितमिति ।

हरे इति ।

हरे करुणया कृष्ण मदर्थे प्रकटो भव ।
अहं यथा निरोधस्य पदवीं यास्यसंशयम् ॥ ३ ॥

'यो यस्य तस्य दैवत'मिति वचनात् सम्बोधनं **हरे** इति । **करुणयेति** 'कृपाविष्टः साधन'मिति भाष्यम् । निरोधपदव्याः साधनमत्र श्रीभगवान् कृपाविष्टः । **भवेति** कामचारानुज्ञायां लोट् । **ननु** किमर्था कामार्था प्राकट्यविषयिणी कामचारानुज्ञा यतो निरोधलक्षणग्रन्थोक्तसाधनैर्निरोधो भविष्यतीत्यत आहुः **पदवीमिति** । यथाचार्याणां **निरोधस्य** पदवी तथा ममापीति **कामचारानुज्ञेति** भावः । मम निरोधः समजनि न वा पदव्या असञ्जननाद् इत्येवं संशयस्तस्याभावो यथा भवति तथा **यामि** प्राप्नोमि ।

इतीति ।

इति विज्ञाप्य श्रीकृष्णमूर्त्यग्रे प्राञ्जलिः स्थितः ।
यशोदानन्दगोगोपीगोपसङ्घसमन्वितम् ॥ ४ ॥
व्रजं भावनया सिद्धं कृत्वा हृदि विभावयेत् ।
स्वार्थं प्रकटितं कृष्णमानन्दाकारमुत्तमम् ॥ ५ ॥

इति विज्ञाप्य आर्तस्याशक्यविज्ञापना, विरहस्य 'अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरि' रिति वाक्यादिवेकाभावो न दोषावह इति पूर्वमुक्तम् इदं विज्ञापनं अर्धरात्रे श्लोकसाष्टपाठानन्तरम्, **स्वार्थं प्रकटित**मिति भूतप्रयोगात् । न च प्रकटितमित्यत्र पुरुषोत्तमप्रतिष्ठासामयिकं भूतं प्राकट्यं गृह्णीम इति वाच्यम् । कृत्वेति क्त्वान्तकर्तुः जन्माष्टमीदिनपुरुषोत्तमभावुकस्य प्रकटितकर्मकभावना-कर्तृत्वात् । पुरुषोत्तमप्रतिष्ठासामयिकभूतप्राकट्यस्य जन्माष्टम्यन्यदिनपुरुषोत्तमभावुककर्तृकत्वात् । तत्सामयिकप्राकट्यग्रहणायोगात् । 'अत्र कटकाद्युपचाराः साक्षात्कृता भवन्ती'ति सेवाप्रकरणटीका-याम् । तादृशस्तु संयोगभक्तिः सुप्रसिद्धैव साप्यर्धशृङ्खला कथं पुरुषोत्तमाविर्भावं साधयादतो द्वितीय-मर्धदलमाहुर्हृदि भावनाख्यम् । **यशोदे**त्यादि । ननूक्तेपि विरहे संयोगेपि सुस्थिर एवेति कथं भावनाख्यं द्वितीयदलं संयोगावस्थायामिति चेन्न । विरहावस्थायामेव हृदि प्राकट्यमिति नियमो नास्ति। 'ध्यानाच्चे'ति सूत्रे भाष्ये 'भावनोत्कर्षदशायां व्यभिचारिभावात्मकसततस्मृतिरूपध्याना-दपि हृदि प्रकटः सन्नासीनो भवतीत्यर्थः । 'तेन स्थैर्यमुक्तं भवती'ति भाष्यात् । न च 'भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते' इति सन्न्यासनिर्णयाद्भावनोत्कर्षं विरह एवेति वाच्यम् । 'आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तये'दिति सिद्धान्तमुक्तावल्यां संयोगभक्तिसञ्चारिण उपदेशात् । अतोत्र संयोगेपि संयोगसञ्चारिणः सुवचत्वम् । अत्र देवकीवसुदेवादिसमन्वितं व्रजं सिद्धं कृत्वेति नोक्तम्, पुराणाद्युक्तमपि । कृष्णोपनिषदि 'यो नन्दः परमानन्दो यशोदा मुक्तिगेहिनी' । 'देवकी ब्रह्मविद्या' 'निगमो वसुदेव' इति श्रुतिभ्यस्तत्स्वरूपाण्युक्त्वावतीर्णस्य क्रीडा 'वने वृन्दावने क्रीडन् गोपगोपीसुरैः सहे'ति यतो नन्दादिभिरेवाह श्रुतिः । ननु जन्माष्टमीतिसमाख्याप्रामाण्या-ज्जन्मनो वसुदेवगृहस्थत्वाद्विज्ञापनवाक्येषु यशोदानन्देत्यादिवाक्ये च देवकीवसुदेवाद्युल्लेखनेन सन्दर्भं विरचयन्तु गोपगोपीसुरोल्लेखनं क्रीडास्थलेऽन्यत्र भवतु न तु जन्माष्टम्यामिति चेन्न । जन्माष्टमीसमाख्यया प्राप्तावपि, पुराणान्तरेण प्राप्तावपि भागवते मते जन्मनो गोप्यत्वेन वसुदेवगृह-जन्मार्थमुल्लेखनासम्भवात् । 'जन्म गोप्यं भगवत' इति प्रथमस्कन्धात् । जन्माष्टमीसमाख्याया भागवते मते 'वासुदेवस्त्वत्रैवाविर्भूत इति सिद्धान्त' इति सुबोधिन्या नन्दगृहक्रीडास्वपि सम्भवात् । **हृदि कृष्णं भावये**दित्यन्वयः । सदानन्दम् । जन्माष्टम्यां भावनातः प्रकटितमिति विशेषणम् । तदपि 'परित्राणाय साधूना'मिति गीतातः । **स्वार्थं** स्वीयार्थम् । 'तदपि 'विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्था-पनार्थाय सम्भवामि युगे युगे' इति वाक्यात्सङ्कर्षणानिरुद्धकार्यार्थं न, किन्तु 'भक्तियोगवितानार्थ'मिति गीताविस्ताराद् भक्तियोगवितानार्थ**मानन्दाकारम्, तदप्युत्तमं** कार्याख्यानाधिकरणोक्तम्, न तु विषयानन्दाकारम् ।

तत इति ।

ततः संपूजयेद्भक्त्या यथालब्धोपचारकैः ।

संयोगसेवायां दासभक्तित्वेन दासान्तर्गतानि भक्तिवर्धिनीनवरत्नश्रीभागवतान्यवतार्यन्ते, तत्र

सिद्धान्तरहस्योक्तरीत्या निवृत्तसर्वदोषभक्तिमार्गीयो भक्तिवर्धिन्युदितरीत्या **सम्पूजयेत्** । भक्तिवर्धि-न्युक्तपूजायां सम्यक्त्वं श्रवणादिपूर्वकत्वमेव 'पूजया श्रवणादिभि'रिति भक्तिवर्धिनीवाक्यात् । भक्तिपूर्वकत्वे भक्त्येति वक्ष्यमाणं पुनरुक्तं स्यात् । बालकृष्णजितामासनम्[1] । १ । सङ्कल्पः । २ । कुङ्कुमाक्षतम् । ३ । भक्तिमार्गीयोपचारा मुख्या इति कुङ्कुमतिलकं अक्षतानि च तुलसी । ४ । पञ्चामृतस्नानम् । ५ । अर्घ्यम् । ६ । चन्दनम् । ७ । स्नानम् । ८ । अङ्गवस्त्रम् । ९ । भगवते पीताम्बरम् । १० । श्रीबालकृष्णजिते पीताम्बरम् । ११ । अत्राशङ्का आधुनिका रक्ताम्बरं कुतः समर्पयन्तीति नेयमाशङ्का कार्या 'पीताम्बरधरः स्रग्वी'ति वाक्यस्य तामसप्रकरणीयत्वेन लौकिक-मुख्यत्वम् । तदुक्तं तामसप्रकरणादौ 'लौकिकं तामसे मुख्य'मिति । तेन पीताम्बरपदेन रक्ताम्बर-मुच्यते इति ज्ञापनाय पीताम्बरपदपुरस्कारेण रक्ताम्बरग्रहणम् । प्रमाणं पीताम्बरपदं लौकिकी भाषा तत्समाधिभाषायां 'भावस्तत्राप्यस्मदीय' इत्यलौकिकभावसहकारिकारणेन अर्थान्तरे शक्तमगत्या । भगवते गुञ्जा । १२ । माला । १३ । चन्दनम् । १४ । चन्दनार्कः (चोवा) । १५ । चन्दन-चूर्णम् । १६ । श्रीबालकृष्णजिते गुञ्जा । १७ । माला । १८ । चन्दनम् । १९ । चन्दनार्कः । २० । चन्दनचूर्णम् । २१ । भगवते धूपम् । २२ । दीपः । २३ । जलपात्रे । २४ । नैवेद्यम् । २५ । अर्घ्यम् । २६ । तुलसी । २७ । शङ्खोदकम् । २८ । आच-मनम् । २९ । मुखवस्त्रम् । ३० । ताम्बूलीताम्बूलम् । ३१ । वेणुः । ३२ । नीराजनम् । ३३ । त्रयस्त्रिंशदुपचाराः साधुकृताः साधवः साधुकृताः । भक्तिमार्गानुसारेणोपचारा मुख्या इत्यधिकोपचारा न दुष्टाः । 'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् । साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः' इति वाक्यात् 'पत्रं पुष्पं फलं तोय'मिति वाक्याच्च । अत उक्तं **भक्त्ये**ति । संयोगसेवायां स्थितवतो भक्तिवर्धिनीपूजोदिता भक्तिवर्धिनीश्रवणाद्युच्यते । श्रीभागवतं च लघु-स्वमार्गे 'देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि' 'कारयेत् मह्यं पर्वयात्रामहोत्सवान्' 'कारयेदि'त्युक्तम् । तत्र महोत्सवस्मरणभक्त्यर्थं नन्दमहोत्सवश्रवणाद्युच्यते, श्रवणादीनि तदानीं भगवतो वक्ष्यमाणा-न्यपेक्षितानि, तानि समर्प्यन्ते, अथवा 'यद्यदिष्टतम'मिति वाक्यात् स्वेष्टतमानि समर्प्यन्त इति दासकरूपता । 'देहि स्वानन्दरूपं स्वदास्य'मिति विज्ञापनावाक्यात् । अतः पूर्वं प्रेङ्खपर्यङ्कसमर्पणम् ततो जलपात्रताम्बूलनैवेद्यक्रीडनकानि भक्तिमार्गानुसारेण समर्पणीयानि । भक्तिवर्धिनीपक्षे लीला-स्मरणविषयं समर्पितं सर्वम् । 'प्रेङ्खपर्यङ्कशयन'मिति वाक्यात् । यद्यपि 'लोकवत्तु लीलाकैवल्य' मिति व्याससूत्रात् पूर्वोक्तं न समर्पयेत् कोपि, तथापि सर्वसामर्थ्यसहिताय बालमुकुन्दाय[2] 'यद्यदिष्ट' मिति वाक्यात् 'पत्रं पुष्प'मिति गीतायाश्च समर्पणीयानि । 'अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माग्रदर्शन'मिति वाक्यादन्याग्रहेण समर्पणीयानि वा जलपात्रताम्बूलनैवेद्यानि । 'अवाद्यन्त विचित्राणि वादित्राणि महोत्सव' इति वाक्यान् नन्दमहोत्सवे 'मद्भक्ताचरितानी'ति वाक्यादेषु भगवद्भक्ता नन्दादयस्तेषां चरितानीति नाभिनयः प्राप्नोति तथाप्युपासनाशेषभक्तौ 'जन्म कर्म चाभिनयन्मुहु'रिति वाक्यादभितः सर्वतोभिनयः प्राप्नोत्येव एवं च 'नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने' इत्यादि श्रीभागवतोत्सवाध्यायोक्तं सर्वम-भिनेयम् यथाशक्तिभावनात्रयं उत्तमाधिकार्यधिकारिकम् । तथा हि । **स्वरूपभावना** भगवतो निःप्रतियोगिकर्मणश्च लीलारूपस्य । **क्रीडाभावना** सप्रतियोगिलीलायाः स्मरणम् । **भावभावनं** नन्दादिदुःखहर्त्रा प्रेरितस्य नन्दादिप्रीत्यनुकूलस्नेहस्य भावना 'तदेजति तन्नैजति' 'वने वृन्दावने क्रीडन्

---

1. साहितम् । 2. बालमुकुन्दजिताम् ।

गोपगोपीसुरैः सह' इति 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते' इति यथाक्रमं श्रुतयः । **अथ नन्दादीनां भावना** नन्दमहोत्सवे स्वरूपभावना 'सद्दशादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः' इति भाषापरिच्छेदकारिकाया आनन्दसदृशं संपाद्य भावना । क्रीडाम्बिकावनगत्यादि, **मल्लणा सह क्रीडाभावना वा । भावः** सर्वात्मभावः सेवारूपस्तस्य भावना यथा श्रिया युक्तोऽहं तथा भक्तो मम प्रियः 'मद्भक्ताचरितानि च' इति श्रुतिस्मृतिभ्यां मध्याधिकारे 'भगवद्धर्मनिष्ठातः स्वस्मिन् तद्धर्मशालिता' । एवंविधवाक्यात्प्रेम्णः परमकाष्ठायामुत्तमाधिकारे स्मरणं नन्दादीनां वा कीर्तनानि 'आजु नन्दरायके आनन्द भयो' इत्यादीनि 'नन्दस्त्वात्मज उत्पन्न' इत्यादि च स्मरणमुत्तमाधिकारकृतम् । श्रवणं च पूर्वोक्तानामेव । दास्यभावेनैव, आरात्रिका सेवासम्पूर्णत्वद्योतिका । पूजावत् । रूपकाणि वस्त्राणि चोत्तारणीयानि । अर्धरात्रजन्मनः प्राग् जन्मनो दिनमिति जन्मवर्षात्पञ्चमवर्षमारभ्योत्सवः प्रवृत्तस्तथैव क्रियते । उत्सवान् मङ्गलभोगो महान्, स्नानात्पूर्वं 'पत्रं पुष्पं फलं तोय'मिति वाक्यात् पीताम्बरादिकं समर्प्य पञ्चामृतेन स्नापयेत् । तत्स्वरूपमग्रे वक्ष्यन्ति पञ्चामृतेनेत्यादिना । ततोऽङ्गवस्त्रं ततोऽभ्यङ्गोद्वर्तनादीन् गन्धं च । रसोद्बोधकत्वाच्चारक्तान्याभरणानि श्वेतानि पीतानि हरितानि च विशिष्टानि । 'विशिष्टालङ्कारे उत्सवः सार्वजनीनो भवती'ति सुबोधिन्याः । कमलपत्राञ्जनवेणवः । तदुत्तरं तिलकाक्षतमुपायनं चूर्णनीराजनं सङ्कल्पश्च मार्कण्डेयपूजावत् । अत एव 'सतिलं गुडसम्मिश्रं पयोपि समर्पणीयम् । 'सतिलं गुडसम्मिश्रमञ्जल्यर्धं शृतं पयः, मार्कण्डेय महाबाहो पिबाम्यायुःसमृद्धये' इति वचनात् । 'लोकवत्तु लीलाकैवल्य'मिति सूत्रात् । न राजभोगोत्तरम् । 'प्रातरेव प्रकुर्वीत देवतानां च पूजन'मिति मनुस्मरणात् । अस्मदादिकैस्तु सेवानवसर एव । 'आदरादलोप' इति सूत्रात् । नन्दादीनामयं भावः । दासदासीवत्स्थितानामप्ययं कर्तव्यः ।

तथा च भाष्यम् । उपपन्नस्तल्लक्षणसूत्रस्य 'दासीत्वेन दासत्वेन लीलायां सुहृत्त्वेन प्रभुनिकटे स्थितिरुक्ता भवती'ति । अत्र गोपीग्वाला वन्दनभक्तौ शूद्रनमस्कारं निषिद्धं मन्यन्ते तदज्ञानात् । 'ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः सर्वदोषनिवृत्तिर्हि'ति ब्रह्मसम्बन्धिसमुदायपतितानां सर्वदोषनिवृत्त्या शूद्रत्वाभावात् । तदुक्तं ब्राह्मण्याविदेवतावादे दशमे, तत एवानुसन्धेयम् ॥ अतः परं उत्सवान्तरवक्ष्यमाणारात्रिकपर्यन्तम् । ततो जागरणम् । स्कान्दे मार्गशीर्षमाहात्म्ये 'यावद्दिनानि कुरुते जागरं मम सन्निधौ । युगायुतानि तावन्ति वसते मम वेश्मनि' इति साधारणवाक्यम् । अन्यदुक्तम् ।

इयं लीला जन्मनः पञ्चमवर्षात्प्रवृत्ता प्रत्यब्दं नित्यत्वाद्याविर्भवतीत्याहुः प्रत्यब्दमिति ।

प्रत्यब्दं कार्यमेवं हि लीलानित्यत्वतः सदा ॥ ६ ॥

एवमुक्तपरामर्शेन सदा सर्वस्मिन् काले आशौचकालेऽन्यद्वारा । अशक्तावपि सिद्धान्तमुक्तावलीटीकायां 'नामचिद्विवित्तये'ति श्रुतिप्रामाण्यात्स्वयं नामानि वक्तव्यान्यन्यद्वारैवं कार्यम् ।

वामनजयन्ती । अत्र पूर्वं श्रीस्वामिनीजन्माष्टमी द्रष्टव्या दानैकादश्यपि । 'अन्यान्यपि तथा कुर्यादुत्सवो यत्र वै हरे'रिति सेवाप्रकरणनिबन्धात् । 'रहस्यं श्रीराधेत्यखिलनिगमानामिव धनम्' इति स्वामिन्यष्टकम् । एतत्स्वरूपं 'श्रीराधे' इत्यस्य व्याख्याने उपारम्भे उपपादितम् । हरेरुत्सवस्तु पाद्मोत्तरखण्डे ।

१. रक्ताम्बरादिकम् । २. गौरस्य शृङ्गारोद्बोधकत्वादेतासामुत्सवाच्च काश्मीररञ्जितानि वस्त्राणि सुधाया अप्याविर्भाव इत्युक्त्वा उभयप्रीतेरप्याविर्भावाद् रसोद्बोधकत्वाच्च आरक्तानि आभरणानि ।

'वृषभानुरिति ख्यातो गोपो ज्ञातिमतां वरः । तस्य पत्नी महाभागा नाम्ना सौभाग्यसुन्दरी । तावुभौ ब्रह्मसावित्र्यौ स्वांशेन जगतीं गतौ । तयोर्गेहे महालक्ष्मीः प्रादुर्भूता सुरेश्वरी । अयोनिजा विशालाक्षी' इत्युक्त्वाग्रे 'कृष्णस्यानन्दकारिणी'ति वाक्याद् अग्रे च 'मासि भाद्रपदेऽष्टम्यां भौमे मूलर्क्षभण्डित' इति । आसनवस्त्रगन्धालङ्कारपुष्पमालानैवेद्यजलपात्रधूपदीपकुङ्कुमाक्षतनीराजनताम्बूलाचमनमुखवस्त्रताम्बूलानि । स्वामिनीस्वरूपसेवायां पञ्चामृतस्थाने सति विभवे दुग्धस्य स्नानमभ्यङ्गश्च षोडशोपचाराः, पुराणमते स्वावाहनविसर्जने अपि । 'स्थण्डिले तु भवेद् द्वय'मिति वाक्यात् ।

लोके सर्वं परित्यज्य लीलासिद्धिमचीक्लृपः ।
प्रभुपरिकृता दृष्टिस्तथा मयि कृपां कुरु ॥ २ ॥ ममेयं कृतिर्न प्राचाम् ।

दानैकादश्यां श्रीगोस्वामिरचितदानलीलाभावना ।

वामनजयन्ती । यथेति ।

यथा स्वदासवंशीयबलेरर्थार्थसिद्धये ।
अङ्गीकृतं तत्सर्वस्वं तथैव कुरु मे प्रभो ॥ १ ॥

यथा याचकत्वेन प्रकारेण, स्वदासः प्रह्लादः, अर्थः स्वर्गस्तदपेक्षयाधिकोऽर्थः सुतलं तस्य सिद्धये । 'सुतलस्थापितबलिः स्वर्गाधिकसुखप्रद' इति पुरुषोत्तमसहस्रनामस्तोत्रात् । मध्यमपदलोपिसमासगर्भितषष्ठीतत्पुरुषः । प्रभो परिवृढ, परिवृढाष्टकात् । जन्माष्टमीवत् काश्मीररञ्जितवस्त्राणि कुल्हीधौतिपदवाच्ये उत्तरीये च, अनुरागार्थबोधकानि रक्ताभरणानि । कुरु इति पूर्ववत् । 'तयोर्वा पुनरेवाहमदितेरास कश्यपात् । उपेन्द्र इति विख्यातो वामनत्वाच्च वामनः' इति वाक्यात् 'आतिथ्येन तु विप्राग्र्ये' इति वाक्यादातिथ्यं कर्तव्यम् । 'अह्नो मध्ये वामनो रामरामौ' इति वाक्याद् राजभोगपदवाच्यानन्तरमासनं सङ्कल्पः कुङ्कुमाक्षते तुलसीपत्राणि पञ्चामृतमर्घ्यं स्नानचन्दने स्नानाङ्गवस्त्रे बालमुकुन्दादेः । मूर्तौ तु परपीडादिसम्भवे पूजा त्याज्येत्याचार्याज्ञातो न कर्तव्या वस्त्रयुज्ञोपुष्पमालाचन्दनचन्दनार्कचन्दनचूर्णानि नैवेद्यजलपात्रधूपदीपतुलसीशङ्खोदकाचमनमुखवस्त्रताम्बूलनीराजनाद्युपचाराः ।

विजयदशमी । अत्रापि पूर्वं पर्वनवकं मन्तव्यम् । अत्र श्रीहरिरायजितां नवपितासैः कीर्तनामिभैर्भावनाः । भगवतश्चिकीर्षितत्वात् ।

प्रतिबन्धेत्यादि ।

प्रतिबन्धासुरं दूरीकृत्य भक्तमनोरथः ।
पूरितः स्वप्रियां नीत्वा तथा मेऽस्तु मनोरथः ॥ १ ॥

असुरो रावणः भक्तो हनुमान्, 'विष्णुभक्ता हनुमन्तमिदं ब्रुवन्' इति श्रुतिर्हनुमदुपनिषदि । विष्णुभक्ता यं पृच्छन्ति स भक्त एव । अस्त्वित्यधीष्टे लोट् ।

इति सत्कारपूर्वकं व्यापारं स्पष्टयाम्बभूवुः श्रीकृष्णेति ।

श्रीकृष्ण पूरयान्तःस्थासुरभावविनाशनात् ।
दर्शनं देहि रासस्थस्वप्रियासक्तं स्वकम् ॥ २ ॥

१. शाकपार्थिवादिराकृतिगण इत्याधुनिकाः, गणपाठे तु नास्ति । २. अडभावश्छान्दसः ।

आसुरभावः पुरुषोत्तमप्रकरणे शरणमार्गानन्तरमात्मनिवेदनमुक्तं कठिनमितीन्द्रियाणि जुहोतीति श्रुत्युक्तात्मनिवेदनप्रतिबन्धकपदार्थ आसुरभावः । श्रीरामचन्द्रगुणोपसंहारस्तावदेव भक्तमनोरथकाल एव पश्चात्तु मूलस्वरूपमेव विचिन्तयेदित्याहुः **दर्शनमिति** । इदं मूलरूपमिति विद्वन्मण्डने 'श्रुतय ऊचु'रित्यादिना प्रोक्तम् । देहि, इति पूर्ववत् ।

दीपोत्सवः । अत्रापि पूर्वं रासोत्सवधनत्रयोदशीरूपचतुर्दश्यो मन्तव्याः । रासोत्सवो गोपालतापिनीये विद्वन्मण्डने च, इतरयोर्द्वयोरेक उत्सवः क्वचिद् द्रष्टव्यः, अपरः स्मार्त उत्सवप्रताने ।

यथेति ।

यथा श्रीमन्नन्दकृतदीपावलिविधानकम् ।
लौकिकं स्वीकृतं स्वात्मप्रवेशार्थं व्रजेश्वर ॥ १ ॥

लौकिकं हेतुकम् । ननु 'वने वृन्दावने' इति श्रुतौ गोपपदेन नन्दस्यापि मङ्गहान्नन्देन क्रीडन्निति वचनव्यक्तेर्न हेतुकं किन्तु वैदिकमिति चेन्न । तौ तु बालभावेनैव भावितवन्तावित्ति सुबोधिन्याः बालक्रीडानुपयोगिनो दीपदानस्य हेतुकत्वात् । तदपि स्वीकृतं दीपदानं यतो मनसः स्वस्य न परिस्पन्दात् । स्वस्य यद्व्रज आत्मा व्रजो नित्यलीलास्थाने तत्प्रवेशार्थम् । यद्वा । स्वस्मिन्नात्मनो मनसः प्रवेशार्थं दीपदानाद्यस्य वारयितुं श्रीनन्दमनोनिरोधो यतः अतः सम्बोधनं व्रजेति । व्रजस्य **ईश्वरः** कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ ईश्वरः । श्रीनन्दनिरोधार्थं हमेलपदवाच्यालङ्कारो धारणीयौ । श्रीनन्दस्य बालभावेन भावनात् । 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यमि'ति सूत्रात् । अत एव सुवर्णाक्तसूत्रवस्त्राणि नो धारणीयानि किन्तु निर्गुणबोधकरूप्याक्तवस्त्राणि धारणीयानि श्रीनन्दस्य ग्रामीणत्वेन निर्गुणनिष्ठत्वात्तत्रानुरागबोधकानि कानिचित् सूथनेति प्रसिद्धं गोकर्णकटिवस्त्रगोक्रीडनवस्त्राण्याभरणानि चान्नकूटदिनधार्याण्यपि । गोकर्णौ शाबरभाष्ये चतुर्थस्य तृतीयाधिकरणे उक्तौ 'गोलक्षणान्यप्येयमेन कर्तरीकर्ण्यः कर्तव्या एवमादीनी'ति ।

तदीयं यथा स्वीकृतं मदीयं तथाङ्गीकुर्वित्याहुः **कृपयेति** ।

कृपया स्वीयतासिद्ध्यै पूर्वविस्मारणेन हि ।
तथा दीपादिकं सर्वमङ्गीकुरु मदर्पितम् ॥ २ ॥

पूर्वस्य स्मार्तस्य स्वशरीरादेर्निर्बन्धाभावमुद्दिश्य कृतस्य मूत्राद्युच्चारादेर्विस्मारणेन किन्तु 'कायेन वाचा मनसे'ति श्लोके विवृतस्य यथोपरुद्धेन पूजादिकरणेऽपचारः स्यादिति बुद्ध्या मूत्राद्युच्चारो न स्वशरीरादेर्निर्बन्धाभावमुद्दिश्येत्याद्युक्तस्य **स्मारणेन** । ननु श्रौतधर्ममोक्षसिद्ध्या इति वक्तव्ये कुतः **कृपया स्वीयतासिद्ध्या** इत्युक्तमिति चेन्न तृतीयाध्यायचतुर्थचरणे 'अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्चे'ति सूत्रे 'इतरत्तदीयत्वमेव ज्याय' इति भाष्यात् । मोक्षोपादानापेक्षया स्वीयतोपादानस्य युक्तत्वात् । न च तदीयत्वं भक्तिमार्गान्तर्गतभक्तिमार्गीयोत्कृष्टावस्थारूपं साधनरूपमेवेति कथं मोक्षोपादानापेक्षया स्वीयतोपादानस्य युक्तत्वमिति शक्यम् । अस्याः शङ्कायास्तत्रैव तद्भूतसूत्रे निरासात् । 'मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः । सुदुर्लभः प्रशान्तात्मे'ति वाक्यं तत्र **कृपयेति** साधनत्वाय 'कृपाविष्टः साधन'मिति । पूर्वोक्तलौकिकभिन्नालौकिकं **दीपादिकमङ्गीकुर्विति** पूर्ववत् । इदानीमपि तथा दृश्यते । आदिपदेनापणधूतरात्रिकोपायनानि, महाराजोपचाराणां मुख्यत्वात् । ननु बालभावस्योक्तत्वात्कुतस्तद्विरुद्धमहाराजोपचारा इति चेन्न । विरुद्धधर्माधारत्वाद्भगवतः । 'सर्वसामर्थ्यसहित' इति कृष्णाश्रयात् ।

---

१. स्पष्टम् ।

अन्नकूटः । विशिष्टालङ्कारविशिष्टनैवेद्यानन्तरं श्रीगोवर्द्धनपूजा तत्रेदं वक्तव्यं **स्वशक्तीति** ।

स्वशक्तिहृदयाद्रूपं स्वं यथा प्रकटीकृतम् ।
तथैव प्रकटीभूय गिरौ पूजां गृहाण मे ॥ १ ॥

गोपालतापिनीये 'गोवर्द्धनधराय चे'ति श्रुतिस्तस्याः प्रपञ्चः । स्वस्य श्रीपुरुषोत्तमस्य **शक्तिर्माया** तस्या **हृदयं** प्राप्य तस्या अपसारणं 'कृष्णायाक्लिष्टकारिण' इति श्रुतेरक्लिष्टकारितया करोति तेन मायापसारणेन येन प्रकारेण स्वं श्रीगोवर्द्धनाधिदैविकभिन्नं **रूपमतिस्थूलं प्रकटीकृतमप्रकटं** तद् अतोऽभूत्तद्भावे च्विः, तथा मायापसारणप्रकारेण । 'तस्मै नमो व्रजजनैः सह चक्र' इत्यस्य सुबोधिन्यां स्पष्टमिदं प्रमेयम् । **गिरीति** ।

गिरिच्छत्रेण हृत्पालचामरैः स्नेहधारिभिः ।
केवलस्वीयनाराज्येऽभ्यषिञ्चद्व्रजमीश्वरः ॥ २ ॥

त्रिभी राजा कदापि स्वावसरे न वियुनक्ति एवं गिर्यादित्रिभिर्व्रजोऽपि न वियुनक्ति तल्लीलामण्डलत्वात् । **ईश्वरोऽभ्यषिञ्चन्नः** पातेन्द्रो भगवन्तं सुरभिकृताभिषेकेऽभ्यषिञ्चत् भगवान् स्वस्वरूपामृतपाता **व्रजमभ्यषिञ्चत्** इन्द्रो हि शक्रं वंशीस्थाने स्वसमयं तिष्ठति अतः पातृत्वमभयः । ईश्वरः अह्वधाष्टर्तं निशि शयानं निःसाधनं व्रजं स्वस्वरूपे व्यापकः । मालाकार इव व्रजः सक्षतान्नुन्नमयन्नुन्नतान् सन्नमयन्नुत्खातानारोपयन् विगलितान्विसृज्यान् यत्समीचीनं कुर्वाणो पुष्टान् पोषयन् जगति जातान् जागर्ति । जन्माद्यस्य यत इत्यत्र यच्छब्दार्थस्य निर्गुणत्वाद् 'उत्खातान्प्रतिरोपयन् कुसुमितांश्चिन्वं-ल्लघून्वर्द्धयन् कुब्जान् कण्टकितान् बहून्निरसयन् विश्लेषयन्संहतान् । अत्युच्चान्नमयन् नतांश्च शनकैरुन्मीलयन् भूतले मालाकार इव प्रपञ्चचतुरो राजा चिरं जीवति' । प्रास्ताविकः । तदुक्तं पाषोत्तरखण्डीयवाक्ये सम्बोधनं गोवर्धनकृतच्छत्रेति ।

ततः पीताम्बरं गोक्रीडनार्थं धारयित्वा गोक्रीडनादि कारयित्वान्नकूटसमर्पणे इमे वक्तव्ये **त्वदित्यादि** ।

त्वदाज्ञप्तस्वयागात्मान्नकूटस्य समर्पणात् ।
गोवर्धनाचलाधीश प्रसीद सततं मयि ॥ १ ॥
यथेन्द्रयागभङ्गस्य सयागस्य च कारणात् ।
नन्दादीनामनन्यत्वं कृतं मयि तथा कुरु ॥ २ ॥

नन्दं प्रति त्वदाज्ञप्तेत्यादि । **अधीशो** नाधिदैविकः किन्तु स्वरूपमतिस्थूलम् । **सयागस्येन्द्रयागभङ्गस्ये**त्यत्र विरोध इति चेन्न । यागेन गोब्राह्मणादिप्रतियोगिकेन सहेति **सयागस्तस्येन्द्रयागभङ्गस्येति** । प्रतियोगिभेदात् 'तस्माद्गवां ब्राह्मणानामद्रेश्चारभ्यतां मख' इति श्रीभागवतात् । **अनन्यत्व**नान्यः पूज्यतमो येषां तेऽनन्यास्तेषां भावोऽ**नन्यत्वम्** । तथा च गोपान्प्रति श्रीनन्दवाक्यं त्रयोविंशाध्याये 'इत्यद्धा मां समादिश्य गर्गे च स्वगृहं गते । मन्ये नारायणस्यांशं कृष्णमक्लिष्टकारिण'मिति ॥ १ ॥ २ ॥

प्रबोधिनी । अत्रापि पूर्वं भ्रातृद्वितीयागोपाष्टम्यक्षयनवम्यः । भ्रातृद्वितीयायां तद्दिनकीर्तनैर्भावना 'लोकवत्तु लीलाकैवल्य'मिति सूत्रात् । गोपाष्टम्यां कृष्णोपनिषदुक्तगोभिः क्रीडा 'शुक्लाष्टमी कार्तिके तु स्मृता गोपाष्टमी बुधैः । तद्दिने वासुदेवोऽभूद्गोपः पूर्वं तु वत्सपः' इति पाद्मात् । भावना तद्दिनकीर्तनैः । अक्षयनवमीयुगादिः प्रदक्षिणाप्रधाना । तथैव शिष्टाचारात् । **क्रीडतेति** ।

क्रीडता योगनिद्राङ्गीकारेण रससागरे ।
तत्रस्थाङ्गीकृता मासैः पुमर्थप्रतिपादकैः ॥ १ ॥

तथाधुनोत्तिष्ठ कृष्ण याहि स्वात्मनिवेदितान् ।
तदङ्गीकृतिमात्रार्थं जगद्रसमयं सृज ॥ २ ॥

अत्रोत्तिष्ठेति भक्तमनोरथार्थमधीष्टे लोट् न प्रार्थने 'प्रार्थिते वा ततः किं स्या'दिति निषेधात् । एतादृशीच्छा लीलाप्राकट्यार्थमतोयमुत्थापनमन्त्रः मन्त्रि गुप्तभाषणे इति धातुपाठात् । ननूत्सवप्रताने 'इदं विष्णुर्विचक्रम' इति मन्त्र उक्तस्तेनास्य बाध इति चेन्न । इच्छायां मन्त्रार्थज्ञानं कारणमर्थदेवस्तु तिरोहितः 'अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु । तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्ममे'ति वाक्यात् । किञ्च सर्वोत्तममार्गे भक्तिरुक्ता तत्र नवधाभक्तिः 'तत्रोपयोगोखिलसाधनानामि'ति वक्ष्यते तादृशभक्तौ गीता द्वादशे भक्तियोगाध्याये मन्त्राभावो मन्त्राणां स्वस्वप्रकरणे साधनभक्तितत्साधनेषूपक्षीणशक्तीनामुक्तायां भक्तौ धावनायोगात् । अतः **क्रीडतेत्यादिभिर्भगवतः** श्रीपुरुषोत्तमस्योत्थापनम्, न मन्त्रैः प्रमाणाभावात् । ननु मा सन्तु प्रेमानन्तरं स्वव्यसनतः क्रियमाणायां भक्तौ फलात्मिकायां साधनभक्तौ तु पूजायां मन्त्राः कुतो नेति चेन्न । गीताद्वादशाध्याये भक्त्यध्याये मन्त्राभावाद् उपासनायाः प्रेमभक्तिसाधनत्वे पूजायां मन्त्राः सन्तु बाधकाभावात् । 'मन्त्रस्यापि विधानत' इति सेवाप्रकरणनिबन्धात् । प्रकृतमथोच्यते **क्रीडता योगेत्याद्युक्ते** द्वितीयस्कन्धनवमाध्यायः । किञ्च वाराहपुराणीयचातुर्मास्यमाहात्म्यचतुर्दशाध्यायसन्दर्भः । श्वेतद्वीपस्वरूपकथनानन्तरम् ।

'श्वेतद्वीपसमीपे तु क्षीराब्धौ शेषमञ्चके ।
चातुर्मास्ये तु सम्प्राप्ते स्वपामि प्रतिवत्सरम् ॥
श्वेतद्वीपस्थिताः सर्वे ये चान्येत्रापि वर्तिनः ।
मद्भक्ता देवताः सर्वास्तत्रस्थाः पूजयन्ति हि ॥
श्रीभूदुर्गात्मिका लक्ष्मीस्त्रिभी रूपैः सदैव तु ।
सेवतेऽनन्तरूपैश्च बहुरूपधरं हि माम् ॥' इति ।

स्वपामीति योगनिद्रा । अथ प्रलयात्मा नारायणोवान्तरप्रलयाधारः इति सुबोधिन्याम् । ननु **रससागर** इति विरुद्धं तस्य भेदनिबन्धनत्वादत आहुः तत्रस्थेति । **तत्रस्था योगनिद्राङ्गीकृता क्रीडायां** भेदार्थम् । तदुक्तमिदं 'मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदती'त्यत्रैकादशस्कन्धे, 'अन्तरा भूतग्रामवदि'ति सूत्रेऽभेदोन्तरातो भगवानभेदं न ददातीत्युक्तमेवं 'योगमायामुपाश्रित' इत्यत्र सुबोधिन्याम् । अतोत्र 'न यत्र माये'त्यस्य न विरोधः । अत्र निदर्शनमाहुः **मासैरिति** । चतुर्भिर्मासैः बहुत्वमपेक्षाबुद्धिजन्यं भेदनिबन्धनम् । सङ्ख्यातात्पर्यं वदन्तः शब्दार्थयोरौत्पत्तिकं सम्बन्धमाहुः पुमिति । पुमर्थाश्चत्वारस्तेषां प्रतिपादकाः शब्दात्मका अर्था मासाः रससागरे भक्तेच्छया चतुर्भिः पुमर्थैः क्रीडतीत्युक्तम् । यद्वा मासैश्चेष्टारूपैः कीदृशैः पुमर्थांल्लक्षीकृत्य गतैरित्यर्थः । प्रतिर्लक्षणे पद गतौ अर्थप्रकरणे शब्दगतप्रतिपादकत्वाभावात् तथा योगमायाङ्गीकृतत्वेन रूपेणेत्यर्थः । स्वेति स्वस्मिन्नात्मनि आत्मा निवेदितो यैस्तान् **याहि** 'प्रदीपवदावेश'सूत्रोक्तरीत्या कामभोगकरणार्थं प्रविश । यतस्त इन्द्रियाणि जुह्वति । स्फुटमात्मनिवेदनाख्ये ग्रन्थ इदम् । तदित्यादि स्वात्मनिवेदितानाम**ङ्गीकृति**रूपाधिकार**मात्रार्थं रसमयं सृजे**त्यधीष्टम् । किं जगद् गोकुलात्मकं 'रसो वै स' इति श्रुतेः । एतदेव स्वात्मनिवेदितानामधीष्टम् । यतस्त इन्द्रियाणि जुह्वति । अत्र 'अचलत्वं चापेक्ष्ये'ति सूत्रम् । 'भक्त्या जानाति चाव्ययम्' इति श्रुतेर्वक्ष्यमाणस्मृतिस्वारस्यात् । गीता तु तद्विस्ताररूपा स्मृतिः । 'स्मरन्ति चे'ति सूत्र उदाहृता तत्रैव 'अहं भक्तपराधीन' इत्यादिः ।

मार्गशिरः । भगवतः श्रुत्तमपुरुषस्य भगिनीभावनं पूजनं चाहुः **स्वेति** ।

स्वनाथप्रापिकां देवीं सन्तुष्टां कृष्णरूपिणीम् ।
भावयित्वात्मभजनीये रूपे पूजयेच्च ताम् ॥ १ ॥

नन्वन्याश्रयोन्यत्रान्यारोपे भ्रमश्चेति चेन्न । साधनाध्याये सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणे 'सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्' 'भेदान्नेति चेदेकस्यामपि' 'स्वाध्यायस्य तथात्वेन समाचारेधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः' 'दर्शयति चे'ति सूत्रचतुष्टयसिद्धमुपसंहारसूत्रभाष्य उच्यते आशङ्कामुखेन । ननु पूर्वसूत्रोक्तरीत्या गुणोपसंहारो न क्वचिदपि प्राप्तावसर इति सिद्धम् । "दृश्यते चोपसंहारः रामोपनिषत्सु 'यो वै ये मत्स्यकूर्माद्यवतारा' इत्यादिनोक्तावताररूपत्वस्य श्रीराम 'नमस्ते रघुवर्याय रावणान्तकराय चे'त्यादिषु त इति युष्मच्छब्दविषये श्रीव्रजनाथे श्रीरघुवर्यत्वादेरित्याशङ्क्य तत्प्रयोजकं रूपमाहुः **उपसंहार** इत्यादिना" । उक्तस्थलादिषु य उपसंहारः स त्वर्थस्य पदार्थस्य भगवल्लक्षणस्योभयत्राप्यभेदादित्यर्थः । इत्येकं रूपं द्वितीयम् । **विधिशेषवदिति** विधिशेषोर्थवादस्तद्वत्समानं च भवतीति । प्रकृते 'सङ्कल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनां मदर्चना'दिति ब्रह्मवाक्ये मदर्चनपदाद्भगवल्लक्षणार्थाभेदः कात्यायन्याः । 'विधिशेषवत्समानं' विधिकल्पितस्य शरीरस्य 'तस्य सेवादिकल्पने'ति श्रुतौ क्रियेतेति विधिं प्रकल्प्य तच्छेषः ॐ यो वै श्रीपन्याप्रकृतिर्भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नम इति अर्थवादस्तत्समानमिदमेव । अथवा वायव्यं श्वेतमालभेतेत्यस्य वायुर्वै क्षेपिष्ठेत्यर्थवादस्तेन समानमिदम् । एवं कृष्णरूपिण्या देव्या उपसंहारे बीजद्वयमप्युपलभामहेऽतो भेदे सिद्धे नान्याश्रयो वाप्यन्यत्रान्यारोपः । ननु पुंस्त्वमुपसंहृत्य पूर्वं भजनं कृतमिदानीं कृष्णरूपिणीत्वं स्त्रीत्वमप्युपसंहृतमिति स्वरूपस्यान्यथात्वमापतितमिति चेन्न । विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वेन न स्वरूपस्यान्यथात्वमित्यस्य 'अन्यथात्वं च शब्दादिति चेन्नाविशेषा'दिति सूत्रे सिद्धत्वात् । **स्वनाथप्रापिकां** दुरदृष्टनाशिकां कात्यायनीरूपां संहारिकां शक्तिमग्निरूपाम् । शक्तित्वेन व्यवहारेभेः स्त्रीत्वमतः साधनरूपाम् । अस्या अपि शक्तेरिच्छाशक्तिर्बलीयसीतीच्छया दुरदृष्टनाशप्रतिबन्धेऽसाधनत्वमाशङ्क्याहुः **सन्तुष्टामिति** । सन्तोषोनुद्धर्षः महाभाग्यवती 'अल्पभाग्यत्वे भगवान्नाज्ञापयेत् यशोदायां च जन्म न स्याद्भगवद्दास्यं च न प्राप्नुयात्, त्वया प्रार्थितः प्रियः स्वेच्छामप्येतदनुगुणां करिष्यति अहो महाभाग्यं तव आभिमानिकसम्बन्धेन त्वं पुनर्भगिनी भवसि अत उपकारोपि कर्तव्यः' एतादृश्या महानुद्धर्षः । परिशेषात्प्रमाणरूपां प्रामाणिकः सन्तुष्टो भवतीति । फलप्रमेययोरग्रे स्पष्टत्वात् । न च मन्तव्यं तादृशदोषो न मया परिहर्तुं शक्यत इति यतस्त्वं **देवी** ताम् । महायोगिनी गर्भसङ्कर्षणादिकार्यकारणात् प्रमेयरूपां दिवु क्रीडाव्यवहारेति धातुपाठात् । नन्वाधिदैविकं कथं परिहर्तव्यं कालादिभ्यो बलिष्ठा हि सा प्रतिबन्धकशक्तिस्तत्राहुः **कृष्णरूपिणीमिति** । कृष्णे रूपमस्या अस्तीति कृष्णरूपिणी तामधीश्वरीमित्यर्थः । ईश्वरं भगवन्तमधिकृत्य वर्तते अतोन्तरङ्गा त्वं शक्तिः स्वल्पापेक्षमन्तरङ्गम् । भगवन्मात्रापेक्षा, प्रतिबन्धकशक्तिस्तु बहिरङ्गा बह्वपेक्षत्वं बहिरङ्गत्वम् । भगवत्प्रतिबद्ध्योभयापेक्षत्वात् । अतः सर्वप्रकारेण त्वं भगवदीयेति **आत्मभजनीये रूपे भावयित्वे**त्यर्थः । न च 'मायेत्यसुराः' 'माया च तमोरूपे'ति श्रुतिभ्यां तमउपासका असुरा इति वाच्यम् । अनीश्वरप्राकृततमउपासकत्व आसुरत्वं न तु हीश्वरदास्यकर्त्र्यां आत्मगुणतमोरूपाया उपासकत्व आसुरत्वमिति ।

---

१. पनि स्तुतौ भ्वादिरात्मनेपदी सेट् ।

वसन्तः । मकरकर्कटयोर्यदा विकर्तनः सङ्क्रामति तदा पर्यात्मक उत्सवः पूर्वमत्रापि । किञ्च, पौषे श्रीगोस्वाम्युत्सवोऽपि कृष्णपक्षनवम्याम्, 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ' इति श्वेताश्वतरात् । ननु गोपीनाथजिदुत्सवः कुतो नोक्त इति चेन्न ब्रह्माण्डपुराणे सप्तसप्तत्यध्याये मथुरागोकुलाद्युक्तम् 'तत्राहं मुहुः तं रूपं सर्वलोचनगोचरं, करिष्ये विमलं सौम्य मम भक्तसुखावहम् । विट्ठलेशेति विख्यातिं गमिष्ये जगतीतले' इति वाक्येभ्यः ।

काम इति

> **कामेऽपि प्रमदाभावकरणं कामसुन्दरम् ।**
> **तदर्थं सेवयेत्कृष्णं कैशोरं वयसि स्थितम् ॥ १ ॥**
> **एवं संसेवितः कामपञ्चम्यां कामदोऽसि यत् ।**
> **गोपीनां कृपया देहि तथा मे काममद्भुतम् ॥ २ ॥**

अद्भुतपदमहिम्ना व्याख्यायते संराधनाभावेन प्रत्यक्षानुमानाभावात् । पुरुषादियोग्यकामोऽप्यस्तीश्वर इति । 'अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' इति सूत्रे संराधनस्य कारणत्वात्सर्वधर्मप्रत्यक्षे **कामेऽपि** पदेन भूर्भुवःसुवःपदवाच्यलक्ष्म्याः कामोऽध्यारोपितलक्ष्मीकः लक्ष्म्या रमणस्थानत्वाद् अत उक्तं **प्रमदा** लक्ष्मीस्तस्या **भावो** लक्ष्मीत्वं तस्य **करण**मिति **कामात्सुन्दरम्** । **तदर्थं** कामसुन्दरप्रमदाभावकरणार्थं 'कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्य' इत्यधाधिष्ठितभक्त्यात्मककामस्य भगवत्सम्बन्धान्मुक्तिसाधनत्वमुक्तमिति तत्कामना कार्या, अत्र प्रमदाभावकरणं फलं कामादिनिष्ठं सेवा साधनरूपा देहनिष्ठेति फलसाधनयोर्वैयधिकरण्यं तत्तु दूषणं 'उत्कर्षश्चापि वैराग्ये हरेरपि हरिर्यदी'ति सुबोधिनीकारिकातः स्ववैराग्योत्कर्षार्थं यदि तदा नास्ति फलस्य स्वनिष्ठत्वस्य **कृपया देहि तथा मे काममद्भुत**मिति वक्ष्यमाणत्वाच्च एवमुक्तपरामर्शेन **कामपञ्चम्यां** भक्तैः संसेवितो कामः अद्भुतत्वाद् यद् येन प्रकारेण गोपीनां कामदोऽसि त्वं तेन प्रकारेण सर्वेन्द्रियहोमकर्मार्थं तदिच्छया विकृतलीलत्वेन प्रकारेण **मे** मह्यम**द्भुतं कामं देही**ति सत्कारपूर्वको व्यापारः अधीष्टे लोट् इति । अकामो भक्तेच्छया सकाम इत्यद्भुतम् । **तथाहि** विभावानुभावसञ्चारिणस्तावद् अत्र श्रीकृष्ण आलम्बनम् । तद्गुणातिशयः सच्चिदानन्दरूपत्वाकामत्वकामलक्ष्मीप्रमदाभावकरणलोकोत्तरसौन्दर्यकरणाद्यतिशय उद्दीपनम् । स्तवादयः 'अकामो भगवान्' कामदोऽसीत्युत्कर्षाधायकगुणवर्णनादयोऽनुभावाः । सेवनार्थं गतिधृतिहर्षादयः सञ्चारिणः । इति विस्तारिकायामद्भुतरसविवरणे । एभिः कारणादिभिर्विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु 'विस्फारश्चेतसो यस्तु विस्मयः स उदाहृत' इति लक्षणवाक्यादद्भुतः कामः । शृङ्गारेणैव सर्वे रसा रसभावं प्राप्नुवन्तीति रसयोर्विशेष्यविशेषणत्वम् । अन्योऽपि विस्मयो गोपीनां कामदोऽसीत्यत्र गोप्यः आविद्याकला वैराग्यसाङ्ख्ययोगतपोभक्तिरूपास्तासां काम इति ।

दोलोत्सवः । अत्रापि पूर्वं माघी पौर्णिमा युगादिः, फाल्गुनी, सप्तमी, श्रीगोवर्धननाथागमनोत्सवः, शुक्लैकादश्यां निकुञ्जोत्सवः, उद्यानोपवनोत्सवः, फाल्गुनी पूर्णिमा मन्वादिः । अत्र भावना उल्लासादिभिः कीर्तनादिभिश्च कार्या एव ।

प्रियेति ।

> **प्रियोरुरूपभावात्मस्तम्भयुग्मसमन्विताम् ।**
> **श्रीकृष्णस्मृतिसौख्यां यद्दोलामारोपयाम्यहम् ॥ १ ॥**

> **प्रियाबाहुलताभावात्मिकायामनुरागतः ।**
> **दोलायां दोलयामि त्वां प्रसीद पुरुषोत्तम ॥ २ ॥**

स्वाधिकारानुसारेणेयं भावना न सर्वजनाधिकारानुसारिणीत्युपरमामः । पुरुषोत्तमप्रकरणे श्रीमदाचार्यैरिन्द्रियहोमः प्रतिपादितः सोऽपि ग्रन्थान्तरे कस्यचित्पुंसः कृतपुण्यपुञ्जस्य भगवता सह रिरंसा समजनीत्यादिनैतादृशरिरंसावतो दासस्य तु निरोधलक्षणग्रन्थोक्तरीत्येन्द्रियहोमस्तथापि स्ववंशे स्थापिताशेषमाहात्म्या आचार्या अतो ग्रन्थे निबन्धः । अन्येषामपि 'यद्यदाचरति श्रेष्ठ' इति न्यायेनेयं भावना 'ईश्वराणां वचस्सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्' इति न्यायानुसन्धाने तु 'आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेदि'ति दासभावेन भावनात्रयं, मध्यमाधिकारे तु स्वधर्मबुद्ध्या प्रेम्णे । हीनाधिकारे तु स्कन्दपुराणोक्तं 'त्रिरेव दोलयेद्देवं सर्वपापापनोदनम्' इत्यन्यदप्युत्सवप्रतानेऽस्ति । स्कन्दस्य तामसत्वेऽपि पुराणानां सात्त्विकादिविभागो न प्रवृत्त उत्सवप्रताने ग्रन्थान्तरं आकरं निबन्धलेखे श्रीकल्याणरायैस्तूक्तः । अत्र सूत्रं 'तानि परे तथाह्याहे'ति । श्रुतिः 'ता वां वास्तूनी'ति । गीता त्रयोदशेऽध्याये 'सर्वेन्द्रियगुणाभासमि'ति । श्रीहरिरायाणां कीर्तनं हिन्दोलायाः 'झूली झूली हो पियसङ्ग पावसरितु आनन्दभरी । चरणयुगल दोऊखम्भ भये भुजदाण्डी चारि सिरजुरे मयारएहो लटकन आभूखन बहुरङ्ग' कीर्तनादिभिर्भावनाः ।

रामनवमी । अत्रापि द्वितीयापाटपुष्पमण्डिनीसंवत्सरादि पूर्वं बोध्यम् । श्रीति ।

> **श्रीकृष्णहास्यरूपेण प्रमदाभावकारकः ।**
> **तदर्थं प्रकटाय त्वां भजामि रघुनायक ॥ १ ॥**
> **यथैवाग्निकुमाराणां भावमुत्पाद्य दत्तवान् ।**
> **वरं मे कृपया देहि तथा देव नमोऽस्तु ते ॥ २ ॥**

श्रीकृष्णस्य हास्यरूपेण रामतापिनीये 'कामरूपाय रामाय नमो मायामयाय चे'ति श्रुतौ मायामयायेत्यत्र प्राचुर्ये मयट् । रामस्य मायाऽविकारत्वात् । तच्च प्राचुर्यं श्रीकृष्णसत्तामंशतो बोधयतीत्युक्तं **श्रीकृष्णहास्ये**ति । प्रमदाभावस्य कार्यत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्तद्बीजशक्तिः श्रीति कायस्य मायामयत्वेन 'पुष्टिं कायेन निश्चय' इत्यत्र कायपदार्थत्वेऽपि प्रमदानां साधारणीनां ग्रहणे प्राप्तेऽपलापप्रसङ्गात् । वाराहे श्रीभागकथनाच् छ्रियाः कृष्णस्येति वा । इन्द्रियमयायेत्यनुक्त्वा मायामयायेत्युक्तं तत्सूचयति प्रमादाभावकार्यं भेदयुतमेव । मायापदवाच्यानीन्द्रियाणि यथा तथा पुराणे गुणा मायापदवाच्याः 'हास्यं जनोन्मादकरी च माये'ति वाक्यान् मायामयायेत्यत्र मायापदसूचितहास्यरूपेणेत्यर्थः । हास्यावतारः श्रीराम इति प्रसिद्धिः । रामतापिनीये मन्त्रसाधनमन्यमार्गपरं मतं नात्रोपयुज्यते । दण्डकारण्यवासिनामृषीणां **प्रमदाभावकारकः** प्रसिद्धम् । यत एतादृशः स्वतः प्रमदाभावकरणार्थं **प्रकटाय** तुभ्यं नम इत्यनुकर्षेणान्वयः । मर्यादापुरुषोत्तमत्वेन ग्रन्थकरणवेलायां प्रकट इति नमनं भगवदाविर्भावे माहात्म्यज्ञानपूर्वकं नमनं कर्तव्यमिति सुबोधिन्याम् । **रघुनायके**ति सम्बोधनं रघूणां नायक इति दासानां दास्ययोग्यं वरान्तरमपि ध्वनितं देयम् । मायामयायेति श्रुतौ मायापदं माङ् माने शब्दे चेति धातुपाठान्माने परिच्छिन्नपरिमाणे शब्दे चास्ति । ततः प्रत्ययः मयट् च । एवं चात्र हास्यं जनोन्मादेति वाक्योपबृंहितश्रुत्या हास्यं मायेति ।

श्रीमत्प्रभूत्सवः । श्रीकृष्णेति ।

श्रीकृष्णान्तरकृष्णास्यरवरूपविहारकृत् ।
तदर्थप्रकटः स्वीयदास्ये मामनुभावय ॥ १ ॥

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरा'विति श्वेताश्वतरश्रुतेरावश्यकः । 'आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित् । न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरु'रिति भगवद्वचनात् । अत्रापि 'प्रभौ परिवृढ' इति पाणिनिसूत्रात् परिवृढसमानाधिकरणप्रभुपदोपादानम् । परिवृढाष्टके श्रीपुरुषोत्तमे परिवृढपदप्रयोगः । अतः **प्रभूत्सव** इत्युक्तम् । आचार्यत्वं च नूतनमार्गप्रवर्तकत्वं 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इति श्रुतेः 'आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति' इति स्मृतेश्च । 'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः । सरहस्यं सदङ्गं च तमाचार्यं प्रचक्षत' इति आरणश्रुतिर्वेदमार्गाचार्यलक्षणप्रतिपादिका । 'एकं साङ्ख्यं च योगं च वेदारण्यकमेव च । परस्पराङ्गान्येतानि पञ्चरात्रं च कथ्यत' इति भारतात् । आरण्यकमित्यत्र स्वार्थे ष्यञ् कप्रत्ययश्च । आरणमित्यर्थः । सुबोधिन्यामपीयं श्रुतिर्विचारिता श्रीकृष्णस्यानन्दमात्रकरपादमुखोदरादेर्यो**ऽन्तरकृष्णो** विरहदलविविधभावात्मा तस्य मूर्त्यात्मकस्या**स्ये** ये **रवाः** 'अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्' इति श्रुतेस्तद्रूपा **विहाराः** तेषां **कृत्**

तदर्थं तादृशविहारार्थं यत्र श्रीकृष्णस्तत्र **प्रकटः स्वीय** आत्मीये **दास्ये** तन्निमित्तं **मां** लक्ष्यीकृत्य **भावय** स्मर। आचार्येषु भेदबुद्धेस्त्रयस्त्रिंशदपराधेषु गणनाज्जन्माष्टम्यां यानि श्रुत्यादीनि तान्यत्रापि । यद्वा लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणे ब्रह्मत्वेनोपासनाविषयत्वेनेति भाष्ये उपासनात्वेन भक्तित्वेन कार्यकारणभावः सूचित इति मर्यादाभक्तौ जनयितव्यायामुपासनामपेक्षते कारणत्वेन तत्रोपासनाविषये प्राणे श्रुतिः 'प्राण आचार्य' इतीयं श्रुतिः । अप्रतीकालम्बनसूत्रम् । विभूत्यध्याये गीता 'मुनीनामप्यहं व्यास' इति । 'भक्तिमार्गप्रचारैकहृदयो बादरायण' इति भाष्यादाचार्याणामपि भक्तिमार्गप्रचारैकहृदयत्वाद्भक्तिमार्गप्रचारैकहृदयत्वगुणयोगाद्व्यासपदस्य गौणी ।

चन्दनयात्रा ।

कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यमङ्गरागमतिप्रियम् ।
श्रीकृष्ण तापशान्त्यर्थमङ्गीकुरु मदर्पितम् ॥ १ ॥

स्पष्टम् । 'तानि पर' इति सूत्रम् । 'ता वां वास्तूनी'ति श्रुतिः प्रपञ्चरूपा वैकुण्ठस्थानोद्भवं मम प्रीतिकरं मद्भक्तैर्ब्रह्मादिभिर्धारितं विष्णुचन्दनं वैकुण्ठस्थानादाहृत्य द्वारकायां मया प्रतिष्ठितं चन्दनं कुङ्कुमादिसहितं विष्णुचन्दनं ममाङ्गे प्रतिदिनमालिप्तं गोपीभिः प्रक्षालनाद्गोपीचन्दनं मदङ्गलेपनं पुण्यं चक्रतीर्थान्तस्थं चक्रसमायुक्तं पीतवर्णं मुक्तिसाधनं भवतीति श्रुतिर्गोपीचन्दनोपनिषदि । पुण्यं प्रथमाधिकारे मर्यादायां प्रेमद्वारा मुक्तिसाधनं पुष्टौ मुक्तिः कर्मसम्बन्धव्यतिरेकेण गृह एवं चतुर्विधपुरुषार्थमनुभवतो भगवदीयत्वरूपा पुष्टिमार्गीयमोक्षविवृतौ श्रीपुरुषोत्तमकृतायां विवृतेयं मुक्तिः । गीता तावद् 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यह'मिति राजविद्याराजगुह्ययोगाध्याये नवमाध्याये ।

नृसिंहजयन्ती । ग्रीवेति ।

ग्रीवारूपं श्रीनृसिंहं स्वभक्त्यतिशयाद्यथा ।
प्रकटीकृतवान् कृष्ण तां भक्तिं वितर स्व मे ॥ १ ॥

---

१. सेवेत ।

ग्रीवया रूप्यते नृसिंहोऽयमिति व्यवह्रियत इति **ग्रीवारूपं सर्वो हि** शिरसाभिज्ञायते देवदत्तोयं विष्णुमित्रोयमित्यतो विशेषणम् । स्वपदेन प्रह्लादः । सप्तमस्कन्धे स्पष्टम् । **वितर स्व हे स्व** वितर । तॄ प्लवनतरणयोः भ्वादिपरस्मैपदी । नृसिंहतापिनीयेऽथैष एवाकार इत्यनेन जीवात्मैकीकृतात्मरूपाकारमनूद्यासतमार्थ आत्मन्येवेत्येवकारेण विशेषणसङ्गतैवकारेणात्ममात्रे तं बोधयित्वा नृसिंहे ब्रह्मणि वर्तत इत्यनेन श्रुत्यंशेनाकारस्यानात्मन्यव्यापकेवतार इति यावत् तमाकारं न बोधयति । अतः श्रुत्या न पुराणोदितरूपबाधः ।

ज्येष्ठाभिषेकः । अत्रापि गङ्गाजिद्दशहरा पूर्वं बोध्या । अत्रापि हरेरुत्सवः ज्येष्ठशुक्लदशम्यां प्रयागे श्रीयमुनया समागमो जात इति यमुनासखीत्वात् । पद्मपुराणे मरीचिसर्गे यमुनोवाच 'पृथग्भूत्वा गन्तव्यं हि त्वया सखी'त्यत्र सखीति सम्बोधनात् ।

प्रियेति ।

प्रियारतिविहारोत्थश्रमवारिसुगन्धिना ।
शृङ्गाररसरूपात्मयामुनब्रह्मवारिणा ॥ १ ॥
स्वरूपरसदानार्थं तापानन्तरभावनात् ।
प्रियाङ्गरसनीरेण स्वभिषिक्तो भव प्रभो ॥ २ ॥
स्नातस्तद्रसदानार्थं स्वसृष्टिं कारणात्मिकाम् ।
सृष्ट्वा वितर सत्क्रीडां तदास्ये स्वीकुरुष्व माम् ॥ ३ ॥

अत्र पद्मपुराणे मरीचिसर्गे यमुनामाहात्म्ये त्वाष्ट्री ब्रह्मणो वरं लब्ध्वा सूर्यनारायणाद्यमं यमुनां च ससर्ज । तत्र द्रवरूपांशेऽचेतने ब्रह्मामृतमिश्राम्भःपरिक्लिन्नपाणिस्पर्शैः विष्णुप्रवेश ईश्वरैश्वर्याधानं च देवत्रयकार्यं तत उभयोर्जातकर्मादि । ततो 'यमुनाम्बुवपुर्भूत्वा पुण्यतोयाब्धिगामिनी । वैष्णवीयोगमास्थाय सावतीर्यास्तपर्वतात् । अर्घादिकृतसत्कारा भित्त्वा चाम्बुनिधिं ततः । संप्राप्ता पुष्करद्वीपं पुष्करद्वीपवासिभिः । पूज्यमाना विवेशाशु क्षीराब्धिं तेन सत्कृते'ति । अत्रान्तस्तद्धर्मोपदेशाधिकरणे सूर्यान्तस्थः परमात्मा प्रतिपादितस्तस्य प्रिया त्वाष्ट्री 'अहं बीजप्रदः पिते'ति गीता । **प्रियायाः** क्रीडाविहाराश्च तैरुत्थेन **श्रमेण** यद् **वारि** तस्य **सुगन्धिना** सुगन्ध इव सुगन्धोऽस्त्यस्मिन् एतेन चन्दनादि पुष्पादि चोद्घृष्टं सुगन्धजनकं वारिण्युक्तं 'रसो यः परमाधारः सच्चिदानन्दलक्षणः । ब्रह्मेत्युपनिषद्गीतः स एव यमुना स्वयम् । पावनायास्य जगतः सरिद्भूत्वा ससार हे'ति वाक्योक्तशृङ्गाररसरूपम् । एतस्य वारिणो मधुरो रस इति चेन्न । तच्छृङ्गाररसरूपमात्मनि स्वरूपे ब्रह्मात्मके यस्य न प्रकटं भक्तेच्छातो विनाऽप्राकट्यात् । नन्वप्रकटस्य तस्य सत्त्वे कोतिग्रह इति चेच्छृणु स एव यमुनेति प्रत्यभिज्ञाशब्द एव । तच्छब्देन ब्रह्मपरामर्शात् तस्य च शृङ्गाररसत्वात् । तादृशं यामुनं **ब्रह्म** निर्विकल्पकज्ञानं **वारि** तेन **वारिणा** ॥ १ ॥

स्वरूपरसः फलप्रकरणे 'ततो रूपं प्रतिष्ठित'मित्युक्तः **तद्दानार्थम्** । ननु कथमेवं व्याख्यायते यतः सूर्यान्तस्थपरमात्मनो दुहितेति चेन्न । यमुनाम्बुवपुर्भूत्वेत्यनेन वपुरन्तरप्राप्तेः, भूत्वेति पदादंशतः सत्ताया अबाधकत्वात् । 'या माता सा पुनर्भार्या या भार्या जननी हि सा । यः पिता स पुनः पुत्रो यः पुत्रः स पुनः पिते'ति योगतत्त्वोपनिषच्छ्रुतेः ब्रह्मवारिणेत्युक्तेर्न कोऽपि दोषः । **स्वरूपरसदानार्थ**मित्यत्र यमुनाया इत्युच्यते कुत एतद् 'आपो वा' इत्यादिश्रुतेरवान्तरप्रलय-

विषयत्वेन सुबोधिन्यां व्यवस्थापनाद् अत्रापि स्वयं विष्णुः प्रविश्याजीवयद्धि तदित्युक्तम् । तदित्यचेतनं मिथुनं यमयम्यात्मकम् । **तापेति** स्वयं तापः सा **करैस्तप्तेत्युक्तस्तदनन्तरं** भगवत्तोषः । 'तुष्यतां मे स भगवानि'ति श्रीभागवते कालिन्दीवाक्यात् तस्य भावनाद् उत्पादनात् तापानन्तरं तोषे स्वरूपरसदानमित्युक्तम् । हे **प्रभो** परिवृढ **सुष्ठ्वभिषिक्तो भवेत्यधीष्टे** लोट् । यद्वा कालिन्द्यै स्वरूपरसदानार्थम् । यद्वा **यामुनब्रह्मवारिणेत्यत्र** कालिन्दी**ब्रह्मवारिणेत्यर्थः** । यामुनेत्यत्र शैषिकप्रत्ययात् । यमुनया गृह्यते रूपान्तरेण कालिन्दीत्वेन तथायामुनमेतदुभयपक्षे 'अहं देवस्य सवितु'रित्यादिसुबोधिनीसन्दर्भे स्फुटोऽयमर्थ उत्तरार्धे । **प्रियेत्यादि** 'प्रिया कालिन्दी सैवाङ्गं स्वयं विष्णुः प्रविश्ये'ति वाक्यात् तदेव **रसो** मधुरः तद्युक्तं **नीरं** तेन ॥ २ ॥

अभिषेकः स्नानं स्नातस्य भक्तेच्छया लीलाप्राकट्यमाहुः **स्नातस्येति** । **स्वसृष्टिमात्मसृष्टिम् । कारणात्मिकां ब्रह्मात्मिकाम् । सत्क्रीडाममृतक्रीडाम् । तदास्ये ब्रह्मदास्ये** विस्तृतब्रह्मक्रीडाङ्गीकृतदास्ये । **स्वीकुरुष्वेत्यात्मनेपदं** स्वीकारफलं भजनानन्दरूपं आत्मगामि प्रतिपादयति । स्वसृष्टिः सर्वातः स्वसृष्टिं विशिंषन्ति स्म **कारणात्मिकामिति** । कारणानि श्रीगोकुले भक्तेच्छया जातानि अथवा दहराधिकरणोक्तपरमात्मन्यवरुद्धानि कारणानि ब्रह्मजीववादनिराकरणसिद्धानि । न स्थानतोपीत्यधिकरणे ब्रह्मस्वरूपं सिद्धम्, 'अपि संराधन' इति सूत्रे फलायितं वा, अरूपवत्सूत्रे सिद्धं वा कारणं प्रस्थानरत्नाकरस्य प्रमेयप्रकरणे 'तच्च ब्रह्म पूर्वं निराकारमेव सचिदानन्दात्मकं सर्वभवनसमर्थ'मित्येवं सर्वभवनसामर्थ्योक्तेः, जिज्ञासाधिकरणे निर्गुणमेव ब्रह्म कारणमिति निरुक्तेः । इमानि कारणानि आत्मा स्वरूपं यस्याः । आत्मसृष्टिस्तु वाराहे 'प्रादुर्भावोऽवताराणां मम सृष्टिरितीरिते'ति लक्षणिकोक्ता सापि व्याख्येया । सत्क्रीडायां मृत्युरूपाशननिवृत्तिस्तु न, तद्भिन्नतत्सदृशाशनाया अमृतत्वेनामृतरूपापेक्षितभोगस्य सम्भोगप्राप्तिसूत्रे प्रसाधनात् ॥ ३ ॥

रथोत्सवः । मन इति ।

मनोरथात्मकरथे रथास्मात्मन् हरे मम ।
श्रीकृष्णस्योपवेशार्थमधिवासं कुरु प्रभो ॥ १ ॥

मनोरथो भक्तानां ब्रह्मणि प्रचरति तेनात्मा स्वरूपं यस्य तादृशे **मम रथे, हे हरे** प्रपन्ने वर्तमानानां सर्वदुःखहर्तः । यद्वा रथो देहस्तस्मिन्नात्मा जीवात्मा तस्यात्मा स्वरूपं रथशब्दस्य देहे शक्तिः 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव त्वि'ति श्रुतौ जीवस्याक्षरात्मककरणसामर्थ्यं द्योतितम् । 'य एवास्मि स सन् यज' इति श्रुतेः । तदपि भावात्मकं तु यद्धाम तद्रूपत्वेन व्यावर्तयामासुः **प्रभो** इति परिवृढ इत्यर्थः पुरुष इति यावत् । तथा च भाष्यम् । अक्षरस्यापि ब्रह्मत्वं पुरुषस्यापि तयोः परापरभावोऽभेदश्चेति अदृश्यत्वाधिकरणे । क्रियासहितसदानन्दरूप**श्रीकृष्णस्योपवेशार्थं अधि** अधिकं प्रभुत्वेन **वासम्** । यद्वा मनोरथात्मकरथविशेषणम् । **अधिवासमिति** वास इत्यर्थः वास इत्यधिवासमव्ययीभावः । **उपवेशार्थमु**पवेशस्यार्थं प्रयोजनं फलमानन्दं **कुरु** यद्वा योग्यतां कुरु । अधीष्टे लोट् ।

मनोरथेति ।

मनोरथात्मकः कृष्ण कल्पितोयं रथस्तव ।
पूरयात्रोपसंविश्य गोपीवन्मन्मनोरथम् ॥ २ ॥

'उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पने'ति रामपूर्वतापिनीयश्रुतेः **कल्पित इत्युक्तम् ।** 'मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययु'रिति फलप्रकरणे वाक्यान्मनोरथत्वावच्छेदेन **मन्मनोरथं पूरयेति** सत्कारपूर्वको व्यापारः ।

श्रीकृष्णेति ।

श्रीकृष्ण रथमारुह्य सरामेण सुभद्रया ।
पाहि मां भक्तिदानेन दुःखसंसारसागरात् ॥ ३ ॥

हे **श्रीकृष्ण** स पूर्वं मनोरथपूरकत्वेन भावितो **रामेण सुभद्रया** च सह त्वं **रथमारुह्य दुःखसंसारसागरान्मां पाहि** । नन्वियदवधि सेवयैवं दुःखसंसारसागरात् पा रक्षणे रक्षणं कृतमेव 'ततः संसारदुःखस्य निवृत्ति'रिति सिद्धान्तमुक्तावल्याः पुनः कुतः स्मारयसीत्यत आहुः **भक्तिदानेनेति** । सर्वात्मभावोत्र भक्तिः दानपदसमभिव्याहारात् 'प्रदानवदेव तदुक्तमि'ति तार्तीयसूत्रात् । सर्वात्मभावाभावजदुःखं तिष्ठत्येवेत्यंशतोऽपि दुःखसंसारसागरात्पाहीत्यर्थः । हीनाधिकारे तामसस्कन्दोपन्यासेन । सर्वत्र प्रसिद्धरथोत्सव उत्सवप्रताने प्रतिपादित एव, भावनायां भावनापि ।

पवित्रोत्सवः । अत्रापि पूर्वं षष्ठी पूर्णिमा हिन्दोला श्रावणशुक्लतृतीया वाटिका बोध्याः । तत्र षष्ठीपूर्णिमयोर्भावने विधेये के अपि । हिन्दोलायां दोलोत्सववद् भावना । 'झली झली हो पियसङ्ग' इति भाषाकीर्तनाद् अन्यैः कीर्तनैश्च । अत्र तृतीयायामपि कीर्तनाद्भावना । उद्यानेऽपि उल्लासादिभिर्भावना । द्वितीयस्कन्धनवमाध्याये 'प्रेङ्खं श्रिता या····गायती'त्यत्र सुबोधिन्यां हिन्दोलोक्ता ।

अक्षरे लीनतासिद्ध्यै भृशं लक्ष्मीर्यथाकरोत् ।
दोलिकारोहणं स्वप्रियकर्म गायती तथा ॥ १ ॥

प्रतिमुखे सुखान्दोलैरक्षरावन्मयं कुरु । मम कृतिरियं न मूलग्रन्थकृताम् ।

या कृतेति ।

या कृता वार्षिकी सेवा सा मूलफलदा मता ।
प्रत्यहं सूत्ररूपेण सैकीभूतानुभावनात् ॥ १ ॥

मूलं धर्मी प्रत्यहं क्रियमाणा तु तत्तद्दत्वन्तर्गततत्तद्दिनसेवाजतोषमुत्पादयन्ती प्रत्यवायाभावे पर्यवस्यति न तु मूले, प्रत्यहं सेवया प्रेमासक्तिव्यसनानां भवनात् । प्रेमत्वेन सेवात्वेन कार्यकारणभावात् । तदुक्तं 'कृष्णसेवा सदा कार्ये'ति सिद्धान्तमुक्तावल्यां तट्टीकायां तदकरणे प्रत्यवायी भवतीति । 'मानसी सा परा मते'त्यस्य टीका परा फलरूपेति 'मद्भक्तेः कारणं पर'मित्येकादश एकोनविंशे परमिति फलाव्यभिचारिकारणमतः परा फलाव्यभिचारिकारणमतो वार्षिकी सेवा प्रत्यहं क्रियमाणा सूत्ररूपा मूलफलदवार्षिकीसेवासूचनात् । 'सूचनात्सूत्रमित्याहु'रिति ब्रह्मोपनिषच्छ्रुतेः । न च यज्ञोपवीतसूत्र एवेयं प्रवर्तेत इति शङ्क्यम् । सूत्रपदादत्रापि समाख्यासत्त्वात् । एवं च प्रत्यहं **सूत्ररूपेण** 'प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यान'मिति वार्तिकेन तृतीयाऽभेदार्थिका सूत्ररूपेणेत्यत्र तथा च सूत्ररूपा भिन्ना या सेवेत्युक्तम् । ननु सूत्रं कार्पासं सेवानुवृत्तिः क्रियेति यावत् तयोर्द्रव्यकर्मणोः कथमभेद इति चेन्न । 'क्रियाङ्गं तद्धि वै स्मृत'मिति ब्रह्मोपनिषदः क्रियाङ्गस्य क्रियाकत्वात् तदन्तःपातिनां सूत्राणां तद्रूपत्वात् । ननु सूत्रपदस्य कार्पाससूत्रं शक्यार्थः न क्रियातोत्र कथं सूत्ररूपा, सूत्रपदेन रूप्यत इति सूत्ररूपेति चेन्न । सूत्रपदस्याभिधेयार्थतिरस्कारेण व्यङ्ग्यार्थे तात्पर्यार्थे वा क्रियारूपे प्रवृत्तेः सूचनात्सूत्रमुच्यत इति श्रुतेः ।

सङ्ख्यातात्पर्ये वा यथा पुत्रेष्टौ । ननु षष्ट्युत्तरशतत्रयपरैः सङ्ख्यातात्पर्यं कुतो नेति चेन्न । अवाचनिकत्वाद् या सेवा व्यष्टीभूता सानुभावनाद् अनु पश्चाद् भावनमनुभावनं चानुभावनं चानुभावनं चैतेषां समाहारोनुभावनं एकवद्भावः । तस्मात्समष्टीभूतानुक्रमेणैकदा भावनाविषयीकृतैकीभूतेत्युच्यते । क्रियात्रिक्षणावस्थायिनीत्वपक्षे आहार्यज्ञानविषयत्वं बाधकालीनेच्छाजन्यं ज्ञानमाहार्यम् । अत्र वार्षिकीसेवा नाकृता मूलफलदापि तु कृतेति कृतेत्युक्तम् । नन्वेकं तत्पदं व्यर्थं या प्रत्यहं सूत्ररूपेण व्यष्टीभूतानुभवनादेकीभूता कृता वार्षिकी सेवा सा मूलफलदा मतेत्यन्वयादिति चेन्न । दूरान्वयस्य पूर्वतन्त्रे निषिद्धत्वाद् एवं च या प्रत्यहं सूत्ररूपेणेत्यत्र यच्छब्दानुवृत्तिर्यत्तदोर्नित्यसम्बन्धाज् 'जनुषा पिपर्तने'ति ऋग्वेदश्रुत्या सा मूलफलदा मम ग्रन्थकर्तुर्मता । श्रीमदाचार्याणां तु एकापि सेवा सम्यक् कृता पुरुषार्थपर्यवसायिनी तथापि देहनिष्कृत्यै सम्पूर्णजन्मना पूर्तियुक्तं कुरुतेत्यृग्वेदश्रुतिराहेति मतम् ।

एवमेकीभूतसूत्रा वार्षिकी सेवा नैकार्थवाचिका तत्र सूत्रपदं प्रत्यहं सेवानां वार्षिकसेवासूचनरूप ज्ञापकमित्याहुः पवित्रमिति ।

पवित्रं तज्ज्ञापकं हि प्रेषितं हरिणा ततः ।
अतस्तदारोपणं तु श्रीकृष्णे सम्मतं सदा ॥ २ ॥

पवित्रं षष्ट्यधिकं शतत्रयतन्त्वात्मकं तस्य प्रत्यहसेवानां वार्षिकसेवासूचनरूपस्य ज्ञापकम् । तदुक्तं 'तन्त्रोत्तमं पवित्रं तु षष्ट्युत्तरशतत्रय'मिति । 'ये त्वां न बहु मन्यन्ते यथा सम्भावितो मया । जपहोमादिजं तेषां फलं त्वामेतु निश्चया'दिति कपर्दिवचनम् । मायं च राजसं 'न करोति विधानेन पवित्रारोपणं तु यः । तस्य सांवत्सरी पूजा निष्फला मुनिसत्तम' इति । तथा चैकं सूत्रं न्यूनं चेन्न पवित्रं पूर्णं यथा तथोक्तवाक्याभ्यां पवित्रोत्सवरूपसूत्रं न्यूनं चेन्न वार्षिकी सेवा पूर्णा भवतीति प्रोक्तम् । कपर्दिनो धर्मज्ञभक्तत्वेन निश्चयार्थे हीत्युक्तम् । 'द्वादशैते विजानीमो धर्मं भागवतं भटा' इति धर्मराजवाक्याद्धर्मज्ञत्वं 'ज्ञानेन भजती'त्यथर्वशिरःश्रुतेर्भक्तत्वं कपर्दिनः । हरीति हरिणा क्रोडरूपिणः भक्तानां स्वभावत इष्टं प्रेषितं कृतम् । वाराहे चातुर्माससमाहात्म्ये 'पूर्णिमायां ततः कुर्यात्पवित्राणां समर्पणम् । नानावर्णैः पट्टसूत्रैर्निर्मितानि समर्पयेदि'ति वचनात् ततः कारणात्पवित्रं तज्ज्ञापकम् । श्रीकण्ठे आरोपणस्याविवक्षितत्वाच्छ्रीकृष्ण इत्युक्तम् । श्रीकृष्णाश्रय इत्यर्थः । दशमस्याश्रयस्य विशुद्धत्वात् । सतामसृतमिच्छूनां मतम् । सदा सर्वमासेषु 'मुख्यालाभे हि सर्वत्र यावन्नोत्तिष्ठते हरि'रिति विष्णुरहस्यवचनात् ।

तदेति ।

तदारोपाद्भक्तिभावा मूले सर्वे समर्पिताः ।

श्रीकृष्णाश्रये पवित्रारोपान्मूले आदिकारणे कटकादिवद् **भक्तिभावा** दशमोक्ताः । विशेषजिज्ञासायां श्रीहरिधनकृतभावनायां विमृष्टाः ।

त्वत्प्रेति ।

त्वत्प्रेषितं पवित्रं हि मूलसेवाफलात्मकम् ॥ ३ ॥
समर्पयामि तत्प्रीतः कृपयाङ्गीकुरु प्रभो ।

त्वया प्रेषितं त्वत्प्रेषितं मूलसेवैव फलमितरफलानपेक्षणात् । तस्य आत्मा स्वरूपं पूर्णं येन पवित्रेण तत्तथोक्तम् । 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व

मदर्पणं' इति गीतायामाहुः समिति । प्रीतस्तदङ्गीकुरु इति वचनव्यक्तेः प्रीतेर्भगवगामित्वात्कुर्विति परस्मैपदं धातोरुभयपदित्वेऽपि प्रभो इति पूर्ववत् ।

समर्पणफलमाहुस्तदिति ।

तत्समर्पणतो भावसेवायाः फलरूपता ॥ ४ ॥

भावसेवा 'भावात्मकत्वात्तद्रूपं गुणातीतं सदैव ही'त्यत्र रसो भावो देवादिविषयिण्या रत्याः स्थायिभावत्वात् 'स्थायिभावो रसः स्मृत' इति अङ्गशास्त्रे, भू सत्तायाम् भावे घञ् भावः सत्तातः सदानन्दसेवेत्यर्थः । फलरूपतेतिवचनं प्रत्यहं सेवायाः फलरूपत्वेऽपि पुराणमत एनया सेवया वार्षिकसेवाव्यङ्गत्वपरिहारात् फलसमर्पकत्वेन भावसेवाया वार्षिक्याः फलरूपता नेतरद्वाहयति साधनं फलं वा ।

रक्षा । पूतनेति ।

पूतनायां संस्थितायां गोपिकाभिर्यथा कृतम् ।
तथा रक्षाबन्धनं प्रेम्णाङ्गीकुरु कृतं मया ॥ ५ ॥

ननु शरणमार्गविरुद्धं रक्षाबन्धनम् । शरणमार्गे ब्रह्मणो रक्षकत्वादत्र भक्तानां रक्षकत्वमिति रक्षाकारणधर्माणां ब्रह्मणि स्फूर्तेर्भ्रमत्वशङ्केति चेन्न । दशमस्कन्धषष्ठाध्यायटिप्पण्यां स्नेहभावे ये धर्मा भगवन्निष्ठाः स्फुरन्ति ते तत्र सन्त एव तादृगेकभक्तवेद्या एवेति प्रकथनाद्रक्षाबन्धनकारणधर्माणां भगवति स्फूर्तेर्न भ्रमत्वशङ्केति यथा रक्षा कारणधर्मप्रकारेण तथा पूर्णब्रह्मत्वरूपं फलं ब्रह्मगामीति परस्मैपदमङ्गीकुर्विति । 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' इति सूत्राद्रक्षाबन्धनम् ।

एतदनु हिन्दोलोत्तारणम् । पूर्णिमामुक्त्वा 'ततः परं हृषीकेशं यजेत्प्रतिपदादिषु' इति वराहात् । जन्माष्टमीमभिव्याप्य क्रीडनकार्पणम् । गर्भस्तुतिवत् ।

मालामणिव्यवधायकग्रन्थिवन्नित्यविध्यन्तरोत्सवाननुक्त्वा पृथगुक्तितात्पर्यमाहुः प्रतीति ।

प्रत्यब्दमेवं करणादुत्सवानां विधानतः ।
श्रीमदाचार्यमार्गोक्तसेवायाः फलरूपता ॥ ६ ॥

स्नेहानन्तरं स्वव्यसनतः क्रियमाणोत्सवानां विधिप्रयोजकताशून्यानामकरणापत्तेः । एवमुक्तपरामर्शेन **विधानतः** विधानतोपीत्यर्थः । अपेरध्याहारः । विधानतो यथा । 'ततो जन्माष्टमी कृष्णा ममातीव प्रिया हि सा । तस्यां निशीथे कर्तव्यं कृष्णमूर्तेः प्रपूजनमि'ति वाराहे । 'अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते । यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः' इति गीतायाम् । श्रीमदिति । सेवोत्सवसेवा । कदाचिद्वक्ष्यमाणसेवायाः फलरूपता । नित्यसेवोत्सवान्ग्राहयत् सार्ष्टिग्राहणादेवान्यद्ग्राह्यं निवारितम् ।

अनयत्याशु वैराग्यमिति विषयवैतृष्ण्यसंज्ञवैराग्योक्तेर्भक्तिफलत्वेनात्र सेवात्वेन सेवोक्तैव विशेषप्रकारेण धनिकसाध्यत्वात् सेवाफलं त्रिभिः प्रपञ्चयामासुः सेत्यादिभिः । सा कायेति ।

सा कायवाङ्मनोभिश्च दृढप्रेम्णा कृता सती ।
दृढमूली लतावच्च वृद्धा कृष्णं फलिष्यति ॥ ७ ॥

सा सेवा कायेन कृता सेवा भगवत्तोषं 'यद्वृत्त्या तुष्यते हरि'रिति तृतीयस्कन्धात् परं तु कायमात्रेण सेवाऽसम्भवाद् वाङ्मात्रेण सेवा सिद्धान्तमुक्तावलीटीकायामनुक्ता किन्तु तनुवित्ताभ्यामुक्ताऽतः कायग्रहणं कायवाग्भ्यां सेवायाः फलं पापाभावः 'उभयोरप्यभावे तु पापनाशस्ततो

भवे'दिति निबन्धात् । कायवाङ्मनोभिः सेवायाः फलं संसारदुःखनिवृत्तिः 'ततः संसारदुःखस्य निवृत्ति'-रिति सिद्धान्तमुक्तावल्याः । चकारादनुक्तसमुच्चयार्थकीतनुवित्तजसेवाफलं मानसीसेवा सिद्धान्त-मुक्तावलीटीकायाः । किञ्च तपोवैराग्यसेवायाः फलं ज्ञानं सायुज्यं सर्वस्वज्ञानं वा 'तपोवैराग्ययोगे तु ज्ञानं तस्य फलिष्यति' इति निबन्धात् । अपि च तनुवित्ताभ्यां 'भक्तिरहस्यभजनं तदिहामुत्रफल-भोगनैराश्येनामुष्मिन् मनःकल्पनमेतदेव च नैष्कर्म्य'मिति गोपालतापिनीयोक्तमानसीसेवोक्ता, एवं च तनुवित्तजयोर्योगयोगो जातः 'परो हि योगो मनसः समाधि'रिति वाक्यात् तस्याः फलं प्रेम 'योगयोगे तथा प्रेम' इति निबन्धात् । कायवाङ्मनःप्रेमभिः सेवायाः फलं ब्रह्मबोधनं 'ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधन'मिति सिद्धान्तमुक्तावल्याः । भक्तिः 'ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमा' इति सप्तदशे 'परं ब्रह्माधिगच्छती'ति त्वष्टादशे वाक्याभ्यां तत इत्यस्य कायवाङ्मनोभ्यः कायवाङ्मनःप्रेमभ्य इत्यर्थात् 'यथा भक्त्येश्वरे मनः' इति वाक्याच्छ्रुत्युक्तमनःकल्पनस्य प्रेमसाध्यस्य ग्रहणात् कायवाङ्मनोदृढप्रेमभिः सेवायाः फलं कृतार्थता । 'यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि' इति भक्तिवर्धिन्याः । दृढत्वमनुक्रमेण व्यसनावस्थात्वम् । दृढत्वं यर्हि प्रमाणादिचतुष्टयबाधाभावस्तदापि कृतार्थता । 'श्रवणादि ततः प्रेम्णा सर्वं कार्यं हि सिद्ध्यति' इति बालबोधात् । दृढत्वमत्र प्रमाणादिफलं ज्ञेयम् । दृढस्थूलीति दृढं मूलं श्रद्धालक्षणं यस्याः 'श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति' इति वाक्यात् । दृढं बलम् । 'दृढः स्थूलबलयो'रिति सूत्राद् बलं च प्रमाणादिचतुष्टयबाधाभावः । 'श्रद्धाभक्तिज्ञान-योगादवैही'ति श्रुतेश्च तस्याः फलं रतिद्वारा भक्तिः, 'श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यती'ति वाक्यात् । अनुवृत्त्यास्यसेवाफलं सायुज्यं 'सायुज्यं कृष्णदेवेन शीघ्रमेव ध्रुवं फल'मिति निबन्धात् । भक्तिहेतूक्त-दिशानुग्रहेण मर्यादाभक्तौ फलं भगवत्सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु । अनुग्रहेण पुष्टिभक्तौ तु अलौकिक-सामर्थ्यं फलम् । पुष्टिभक्तिर्मर्यादाभक्तिश्चानुग्रहेण जातेति मूलमनुग्रहो वा साधनसाध्यत्वाद्वनलता-वद्वृद्धा मर्यादाभक्तिरानिरोधलक्षणग्रन्थोक्तनिरोधम् । पुष्टिभक्तिस्तु आसर्वात्मभावम् । 'पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः' इति 'फलमत उपपत्ते'रिति तार्तीये न्यायसूत्रात् 'प्रदानवदेव तदुक्तम्' इति सूत्रेण तस्य मुख्यभक्तिरूपसर्वात्मभावस्य दानसाध्यत्वेन साधनासाध्यत्वादतः कृष्णं फलिष्यति । प्रेमभावेगौणफलरूपाया अत्र निवेश एवं वृद्धा भावैरङ्कुरिता सेवानुग्रहाभिव्यक्त्या सत्त्वरूपेण पुंसु स्थिता महीमृगदृशां बीजरूपा 'बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति' इति भक्तिवर्धिन्याः भक्तिः सत्तारूपं बीजं शृङ्गाररसत्तारूपं बीजं लतावद्वृद्धं यथा भावैरङ्कुरिता श्रुतिस्मृतिदृशामाकल्पमासिञ्चितैः श्रद्धा कन्दलिता[1] मनोरथमयैः शाखाशतेनावृता लौल्यैः पल्लविता मुदा कुसुमिता प्रत्याशया पुष्पिता इति वृद्धा सा फलिष्यति कृष्णं लीलाभिः । चकाराद्भाग्यैरङ्कुरिता महीमृगदृशामाकल्पमासिञ्चितैः प्रेम्णा कन्दलिता मनोरथमयैः शाखाशतैरावृता लौल्यैः पल्लविता मुदा कुसुमिता प्रत्याशया पुष्पिता लीलाभिः फलिता व्रजवनीशृङ्गारकल्पद्रुमरूपा 'कामादितरत्र' इत्यादिसूत्रोक्ता विहितभक्तेरितरत्र कामादिरूपा सेवा गृहीता भक्तिवर्धिन्युक्तदिशा वृद्धा प्रेमासक्तिव्यसनरूपा वा कृतार्थताफलम् ।

एतदेवाहुः व्यस्तैरिति ।

व्यस्तैस्तैः सुदृढैर्हीनमध्यमोत्तमभेदतः ।
कृता जीवैः स्वमार्गस्थैः फलिष्यत्युत्तरोत्तरम् ॥ ८ ॥

---

१. कन्दलं नवाङ्कुरमिता इतत् ।

हीनमध्यमोत्तमभेदतो व्यस्तैस्तैः पूर्वोक्तैः प्रकारैः सुदृढैः सुशोभनैराचार्याभिमतैः दृढैः स्व-रुचिमननशास्त्राभ्यासकृतैः । व्यासस्तु स्वरुच्या कायवाग्भ्यां कृता हीनाधिकारिणी कायवाङ्मनोभिस्तैः सप्रेमैः कृता मध्यमाधिकारिणी तैः दृढप्रेमसहितैः दृढमूल्युत्तमाधिकारिणी लतावद्वृद्धोत्तमोत्तमाधिका-रिणी, अयं भेदो नातिप्रसिद्धोऽनुग्रहसाध्य इत्युत्तमान्तर्गतमात्रो गृहीतः । 'मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्' इति वाक्यादुत्तमोत्तमाधिकारिभक्तिरनुग्रहे सति ददातीति । अत्र फलं प्राधान्येनेत्यादि-सूत्रोक्तं भगवत्सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु, अलौकिकसामर्थ्यं तु 'निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे' इति वाक्यादत्यन्तानुग्रहे सति संपादयति । आत्मनिवेदनमात्मनिवेदनपद्धतौ द्रष्टव्यं सप्रकारम् । 'अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनव' इत्याद्याः श्रुतयः । त्रिविधं निवेदनम् । आत्मा तु ईश्वरे तस्मा-त्कृतात्मनिवेदनेन विहाय पुरुषोत्तमं न कोपि भजनीयः शरीरं तु गुरुपुरुषोत्तमयोः कार्ये कल्पनीयं नान्यत्र तथा सर्वं धनादिकमपि । यदा निवेदितं शरीरं गुरुर्विक्रीणाति भुनक्ति वा कथमपि करोति तदा तस्मिन् शरीरे स्वयं स्वामित्वं न करणीयम् । 'विक्रीतस्य पशोः पुत्र न कर्तव्यो यथा व्ययः । न करोति पुनः शिष्यस्तथा जीवे निवेदिते' इति काठिन्यमस्तीत्यनधिकारिणि न देयम् । 'यस्य देवे परा भक्तिः' स इतः प्रेत्यानन्दमयमात्मानमुपसङ्क्रामति' परं विशिष्टं चिकीर्षु गुरु-भक्तत्वादिति प्रतिभाति ।

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मन' इति श्वेताश्वतरन्यायादप्रकाशितानां फलानुपयोगमाशङ्क्य प्रकाशार्थं पावित्र्यद्वारा भावजनकरजोभक्ति-स्मरणात्मिकां मार्गरूपार्थप्रकाशद्वारा फलोपयोगार्थमाहुः पित्रित्यादि ।

पितृपादरजो जातु सुस्तमैर्विस्मृतं न यैः ।
तेषामेव हि मार्गोयं फलिष्यति न चान्यथा ॥ ९ ॥

अन्यथा पितृपादरजोविस्मृतत्वप्रकारेण वर्तमानानां च पुनर्न फलिष्यति तदुक्तं 'यत्पादरजसागत्य यादृग्भावः कृतो मम । तादृशेनैव तद्भावं वर्णयाम्यवशः क्वचिदि'ति भ्रमरगीत-टिप्पण्यां स्वानुभव उक्तः । एकादशे चतुर्दशाध्याये 'पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभि'रिति रजसो महदङ्घ्रिसम्बन्धिनः पावित्र्यं प्रति कारणत्वमुक्तम् ।

एवं प्रवृत्त्यर्थं फलमुपपाद्य बाधकसत्त्वे प्रवृत्तिरपि निष्फलातः कालस्य बाधकत्वाभावमनुगुणत्वं विरोधराहित्यं संप्रार्थ्यमपि वदन्तो नमनात्मकविरहदशायां वस्तुनिर्देशात्मकं च मङ्गलं ग्रन्थमध्येऽष्ट-श्लोक्याहुः श्रीति ।

श्रीवल्लभो जयति भक्तहितैकबन्धु-
राविश्चकार तनयं किल विट्ठलं यः ।
तस्यैव पादयुगलं सततं नमामि
प्रेम्णा तदस्तु हृदये मम सर्वदैव ॥ १ ॥

वल्लभपदमारभ्य एव व्याख्यातम् । भक्तानां हितश्वासावेकबन्धुर्मुख्यबन्धुः । विशेषणप्रति-पादनार्थं ज्येष्ठभ्रातरोनुजस्य स्वनामापि गृहीतवन्तः । विदा ज्ञानेन ठान् शून्यान् लातीति पितृ-प्रवर्तितपथप्रचारसुविचारक इति नाम ।

कलिकालस्याबाधकत्वमाहुः श्रीति ।

श्रीवल्लभाचार्यमार्गे स्मरणात्सेवनाद्धरेः ।
तत्कथाश्रवणाच्चापि न कालो बाधते क्वचित् ॥ २ ॥

स्मरणं सकलशास्त्रनिष्पन्नं भगवद्विषयकमात्मविषयकं च । 'कृष्णमेव विचिन्तये'दिति सिद्धान्तमुक्तावली । सेवनकथाश्रवणे संप्रदायप्रदीपे एताभ्यां हरिं सेवेतेति । **कालो न बाधत** इति कठवल्ल्यां 'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः' इत्युपक्रम्य 'मृत्युर्धावति पञ्चम' इति श्रुतेः । 'कालात्मा दिनकृदि'ति ज्योतिषे । यो बिभेति स न बाधते क्वचिद्देशे ।

अनुवृत्त्याख्योत्सवसेवायां कालाबाधमुक्त्वा तत्र तस्यानुगुणत्वं तत्र करणं चाहुः चा इति ।

वैराग्यप्रेमयोगेन स्मरणादित्रिकात्पुनः ।
प्रसीदति हरिः शीघ्रं कालश्चानुगुणो भवेत् ॥ ३ ॥

विद्याङ्गतपआत्मकविचारेण ज्ञानं फलिष्यतीति तपो विहाय वैराग्यमात्रमुक्तम् । ततश्च **वैराग्यस्य प्रेमयोगेन** जन्यजनकभावः सम्बन्धः वैराग्यजनकेन प्रेमयोगेनेत्यर्थः । प्रेमयोग-वैराग्यात्मकं विद्यापर्वत्रयमुक्तम् । साङ्ख्यमपि चतुर्थं पर्वोक्तम् । तस्य योगत्वात् । 'साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिता' इति गीतावाक्यात् । **स्मरणादित्रिकं** प्रेमयोगात्पूर्वं कृतं पुनः स्मरणादित्रिकाद् वैराग्यप्रेमयोगेनेति प्रसादकथनात् स्मरणाद्यावृत्तिः 'आवृत्तिरसकृदुपदेशा'दिति तत्त्वसूत्रात् । **हरिः** सर्वदुःखहर्ता । **काल** इति उक्तश्रुतेः । 'कालिं समाजयन्त्यार्या' इति वाक्याच्च । अत्र कश्चित् 'तस्मादुक्तप्रकारेण दृढविश्वासतो हरिम् । भजेदन्यत्परित्यज्य ततः सिद्धिमवाप्नुयादि'ति श्लोकं लिखन्ति । तत्र हरिं मनोमयमन्यथा दैवतमिति फलश्रुतिविरोधः । सिद्धिहेतुत्वं श्रीयमुनायाः 'सकलसिद्धिहेतु'मिति यमुनाष्टकात् । भगवत्सेवान्तर्गतश्रीयमुनाजिस्सेवापि वक्ष्यते समाप्तौ ग्रन्थस्य कारिकात्मकस्य । अन्नमयः प्राणमयो मनोमय इति तृतीयत्वेपि यो यस्य स तस्य दैवतमिति श्लोका-द्वयमर्थं उपनिबद्धः । तथाप्यन्यत्परित्यज्येति विरुध्यते । पुरुषोत्तमभजनस्य सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात् । 'देवोऽसुरो मनुष्यो वे'ति वाक्यात् सिद्धयोऽणिमाद्याः सर्वात्मभावाद्या वा भगवच्चित्ताभिज्ञता तु साङ्ख्यप्रवचनस्य 'प्रत्ययस्य परचित्तज्ञान'मिति सूत्रात् पातञ्जले योगशास्त्रे साङ्ख्यप्रवचनसूत्रे तृतीयपादे-ऽस्ति । परमधिकारभेदात्फलानि व्यवस्थितानि । भक्तेः संयोगविप्रयोगाभ्यां भेदस्तत्साधारणो निरोधोऽपि करणत्वेनानुवृत्त्याख्यसेवायां निविशते आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्येति छान्दोग्यसमाप्तिश्रुतेः ।

अतः श्रीमद्भागवतभक्तिवर्धिनीनवश्लोक्तं संयोगसेवाकरणं विहाय विप्रयोगसेवाकरणनिरोध-दार्ढ्यप्रकारमाहुः व्रज इत्यादि ।

व्रजे मधुवने चापि द्वारकायां तथैव च ।
गोपीषु कुब्जादिषु च रुक्मिण्यादिषु या कृता ॥ ४ ॥
प्रकटानन्दरूपेण स्वकीया रसरूपता ।
प्रकटीकृत्य कृपया तां चेत्कारयते मयि ॥ ५ ॥
तदा निरोधः सुदृढो जायते नान्यथा क्वचित् ।

अत्र गोपालतापिनीयकृष्णोपनिषदाद्युक्ताः सर्वाः प्रकृतोपयोगिन्यः सङ्गृहीताः श्रुतयः। द्वारकाया-मिति गोपीचन्दनोपनिषत्स्थद्वारकायां मया प्रतिष्ठितं चन्दनमिति श्रुत्यंशीभूतद्वारकायामिति पदस्यानु

१. सेवाप्रकरणात्सेवायां संयोगनिरोधः सर्वत्रेत्याशयः ।

करणम् । तेन 'प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुप' इति पाणिनीयसूत्रं न प्राप्नोति । रसरूपता दशरसरूपता, चकोरे कामवति शृङ्गाररस इव भगवति शृङ्गाररसरूपता । क्रौञ्चे वीर इव भगवति वीररसरूपता । चक्राह्वे करुण इव करुणरसरूपता । भारद्वाजेद्भुत इवाद्भुतरसरूपता । भारद्वाजस्य द्विजन्मत्वात् । बर्हिणि हास्यरस इव हास्यरसरूपता । व्याघ्रसिंहयोर्भयानकवद् भयानकरसरूपता । बलभद्रे संवाहनपदे भक्तिमति बीभत्सरसः हीनाद्धीनभाव उत्तमस्य बीभत्सो भवति, स भक्तिमतां प्रतीयते । वल्गत्सु भक्तेषु रौद्र इव रौद्ररसरूपता । कृतोरसङ्गोपबर्हणेषु गोपेषु शान्तरस इव तत्र सुप्ते भगवति शान्तरसः । भगवत्पाद-संवाहकेषु भक्तेषु दास्यभक्तिरसः । तद्भगवति दास्यभक्तिरूपता यावद्रससामग्र्या ब्रह्मत्वात् 'रसो वै स' इति श्रुतेः । जीवद्वारा जीवधर्मस्य भगवद्धर्मत्वं वा । एतच्च दशमद्वादशाध्याये 'चकोरक्रौञ्चचक्राह्वे'त्यत्र सुबोधिन्यां स्पष्टम् । गोपीषु भक्तिरससंयोगविप्रयोगरसरूपता । पञ्चाध्याय्यां भ्रमरगीते विरहरसः । कुब्जायां कामरसः । आदिपदोक्तसान्दीपिनिगुरौ भक्तिरसः । रुक्मिण्यादिषु कामरसः । **तां प्रकटीकृत्य** कृपया मयि कारयते चेदित्यन्वयः । मदिच्छया प्रकटीकृत्य, भक्तेच्छायाः क्रीडाप्राकट्यं प्रति हेतुत्वाद् 'अचलत्व'मिति सूत्रभाष्यात् । **कृपया** प्रकटानन्दरूपेण **मयि** सर्वात्मभावस्य आश्रये, कृपाया आनन्दरूपप्राकट्येऽपि कारणत्वात् । कृपया विज्ञानं स्वानन्दप्राकट्ये सति भवतीति प्रथमस्य चतुर्थचरणे 'तदधीनत्वादर्थवदि'ति सूत्रे 'कृपाविष्टः साधनम्, आनन्दरूपः फल'मिति भाष्यात् । **कारयत** इति ब्रह्मणा सहाहं भक्तः कामलीलाः करोमि ब्रह्मोपाधि-भेदभिन्नं मां भक्तं कारयते कामलीला इत्यस्मच्छब्दोत्तरं द्वितीया प्राप्ता महिम्नः स्वस्याध्यात्मिकादि-त्रितयविदाश्रयत्वविवक्षया निरस्ता । विवक्षातः कारकाणि भवन्तीति युक्तवचनात् । ग्रामे गच्छतीतिवत् सप्तमी **मयीति** । कारयत इत्यात्मनेपदं तु 'णिचश्चे'ति सूत्रात् । लीलाकरणरूपं फलं प्रयोज्यप्रयोजककर्तृगामि भवत्येव । तदुक्तं स्वामिनीस्तोत्रे उदाहरणं तु 'प्रियतमकरपद्मस्पर्शभावे-क्षणोद्यद्रसभरजवरासामन्दमोदाकुलानाम् । प्रतिपदतलरुग्भिर्गोपसीमन्तिनीनामरुणतरहृदम्भोजन्मने मे नमोऽस्त्वि'ति । एतत्फलं निरोधसुदार्ढ्यं तच्च तदा भवति यदा निरोधः सुदृढो जायते नान्यथा, अन्ये-षूक्तनिरोधलीलाकारयितृत्वप्रकारातिरिक्तेषु सर्गादिलीलाकारयितृत्वादिषु सत्सु क्वचिदपि निरोधलीला-कारयितृविरहिते मनसि देशे तत्काले च दृढो निरोधो जायते न सुदृढः । शुद्धलीलाऽसाहित्यवद्भगव-द्विषयकत्वेन शोभनघटिकाभिपदार्थाभावादाचार्याभिमतत्वस्य शोभनपदार्थत्वस्याभावात् । एवं तु व्रज इत्यादिना रुक्मिण्यादिष्वित्यन्तेन ग्रन्थेन 'जयति जननिवासो देवकीजन्मवाद' इत्युत्तरार्धान्त्यक-श्लोकोक्तशुद्धलीलाः सङ्गृहीतास्तत्साहित्याच्छोभनघटकाभिपदार्थोऽस्त्येव ।

निरोधस्य सर्वात्मभावरूपकस्य कारणं 'प्रदानवदेवे'ति सूत्रोक्तं भगवत्कृतं प्रदानकं शक्तिस्तु सर्वोऽप्यात्मनो भावो भगवत्येवाधिकृत इति षष्ठीतत्पुरुषगर्भितकर्मधारयादात्मनि सर्वेन्द्रियप्रतिष्ठापने । फलमत्र मोदप्राप्तिः 'ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशमि'ति निरोधलक्षणवाक्यात् । सेवाफलं तु पृथक्सेवाफलोक्तम् । तत्र सेवायाश्चेतस्तत्प्रवणस्वरूपत्वात्, अत्र सेवाया अनुवृत्तिरूपत्वात् ।

एवं ज्ञानात्सुदृढनिरोधेच्छुं प्रति कृपावितरणप्रार्थनां स्मरणात्त्यागविधिं चाहुः **निरोधेत्यादि** ।

निरोधेच्छुभिरेतावदेव प्रार्थ्यं हरौ ततः ॥ ६ ॥
अक्रूरे श्रुतदेवे च विदुरेऽथोद्धवे च ... ।
कृता दासार्पितकृपा तां कृपां वितर प्रभो ॥ ७ ॥

१. भक्तभूषायां मिचू कल्कने तदा मिक्ष्विति पाठः ।

श्रीमदाचार्यपादाब्जरेणोर्न स्मरणं त्यजेत् ।
तत्त्यागे महती हानिर्मानुष्यं निष्फलं भवेत् ॥ ८ ॥

ततो ज्ञानानन्तरं ज्ञानाद्धेतोर्वा **हरौ, निरोधेच्छुभिः** निरोधदार्ढ्येच्छुभिः, श्रुतावात्मनीति सप्तम्या निरोधस्यात्माभिन्नाश्रये बोधनाद्धराविति सप्तमी, युक्तं चैतत्, आश्रयस्य मुख्यत्वात् । **प्रार्थ्यमि**ति 'प्रार्थिते वा ततः किं स्यात्स्वाम्यभिप्रायसंशयादि'ति वाक्यात्प्रार्थना विरुद्धा तथापि 'रतिप्रादुर्भावो भवतु सततमि'ति वाक्ये प्रार्थनायां लोट्स्वीकाराद्रतिप्रार्थना युक्ता । कृपाविस्तारस्य रतित्वात्, रतिः प्रीतिर्यद्यपि तथाप्यत्र रतिः क्रीडा रमु क्रीडायामिति धातुपाठात् प्रार्थ्यम् । **अक्रूरे दासार्पितकृपा** 'अप्यङ्घ्रिमूल' इति श्लोके पञ्चत्रिंशाध्याये 'मयि दया उत्पत्स्यत' इति सुबोधिन्यां कृपा सा दासार्पिता, 'प्रणतवत्सल' इत्यस्य 'नतिमात्रेणैव कृपा अभिव्यक्ता भवती'ति सुबोधिन्यां च कृपा सा दासार्पिता पञ्चचत्वारिंशाध्याये'अक्रूरभवनं कृष्णः सहरामोद्धवः प्रभुः । किञ्चिच्चिकीर्षया प्रागादक्रूरप्रियकाम्यये'ति वाक्ये प्रभुपदादुक्ता । 'सर्वेषां हि स्वामी सेवकगृहेऽपि सेवकसंमाननार्थं गच्छती'ति सुबोधिन्यां **श्रुतदेवे** दासार्पितकृपा । उत्तरार्धे सप्तर्षिंशाध्याये मैथिलस्य गृहवासमात्रं श्रुतदेवस्य तु सन्मार्गोपदेश इति तं विहाय श्रुतदेवोपादानम् । तत्र कृपा तु'द्यद्य नो दर्शनं प्राप्तः परं परमपूरुष' इत्यस्य सुबोधिन्यां दर्शनं चक्षुषाद्यैव शास्त्रतस्तु यः शक्तिभिः सृष्ट्वा आत्मसत्तया प्रविष्टः स कीदृश इति मनोरथ एव स्थितः, न तु कदाचिद्दृष्टः, अद्यैव परं दृष्ट इति तद्दर्शनं तु बुद्ध्वा बुद्धिमानयं पदार्थाञ्जानातीति प्रत्ययात्सा च कृपयैव भाष्यप्रामाण्याद् अतः श्रुतदेवे दर्शनानुमितबुद्ध्यनुमिता कृपा या सा दासार्पिता । 'स त्वं शाधि स्वभृत्यान्नः किं देव करवाम ते । एतदन्तो नृणां क्लेशो यद्भवानक्षिगोचर' इत्यत्र सुबोधिन्यां दासत्वात् स्वामिकार्यमेव कर्तव्यमिति । अत आज्ञापयेत्यर्थ इति कथनात् 'देवाः क्षेत्राणी'त्यादिवाक्यादर्चार्चनेऽधिकारो माभूदिति तु न सूच्यते गृहिणोपसंहाराधिकरणभाष्यविरोधाद् अतो ज्ञानिनि कृपामात्रमक्षरोत्तमदर्शनजनकबुद्धिजनकं प्रार्थनीयं प्रार्थयन्ते पुष्टिभक्ताक्रूरदृष्टान्तेन पुष्टिभक्ते कृपा पूर्वं प्रार्थिता भाष्यमर्यादार्थं कृपया विज्ञानं 'बुद्धिर्विज्ञानरूपिणी'ति भगवद्वाक्यात् तेन दर्शनमिति । **विदुरे** दासार्पितकृपा तृतीयस्कन्धे चतुर्थाध्याये 'इति सह विदुरेण विश्वमूर्तें'रित्यत्रोत्तमाधिकारिणि विदुरे यथा यथा यस्मिन्नवसरे भगवान्पुष्ट्यादिलीलया स्वस्मिन्कृपां कृतवान् एवं विदुरोपि उद्धवं प्रति भगवत्कृपाकथां कथयति स्मेति सुबोधिन्यां कृपा या सा दासार्पिता । 'विष्णोर्भृत्याः स्वभृत्यार्थकृतश्चरन्ती'ति उद्धवं प्रति विदुरवाक्यात् । परमाधिकारिणि भगवद्दर्शनजनकबुद्धिजनिका कृपा प्रार्थिता । **उद्धवे** दासार्पितकृपा पूर्वोक्तरीत्या स्पष्टा एकादशे च स्पष्टा भगवत्प्रवर्तितपथप्रचारसुविचारके भगवद्दर्शनजनकबुद्धिजनिका कृपा या सा प्रार्थिता । 'भक्त्या जानाति चाव्यय'मिति श्रुतौ भक्त्या ज्ञानकरणत्वेन हेतुत्वेन चोक्तेस्तस्याश्च 'ब्रह्मविदाप्नोति परमि'त्यत्र व्यापारत्वेन तादृक्षज्ञानजनकबुद्धौ कारणत्वात्कृपा भगवद्दर्शने परम्परया निविशते । अर्पितपदेन श्रुतदेवे 'भगवान्भक्तभक्तिमानि'ति वाक्यात्स्नेहेन कृपावितरणे सत्कारपूर्वको व्यापारः, अभीष्टे लोट् । अत एव प्रभो भोः परिवृढ इति सम्बोधनम् । सर्वमिदं 'यस्य देव' इति श्रुतौ गुरुभक्त्यधीनं निरूपितमिति तदाहुः **श्रीति । महती हानिर्हि** ब्रह्मणः सकाशाज्जीवस्य विभागः सा 'हानौ तूपायने'ति सूत्र उक्ता सा महती ।

प्रभुमुक्तांश्च यो जीवान् सङ्गृह्णाति गुरुः खग ।
नाङ्गीकरोम्यहं मुक्तान् गुरुणा पुष्टिसेवकान् ॥

गुरौ निवेद्यते भक्तिर्यस्मिन्नात्मा निवेदितः ।
तेषामहं न गृह्णामि भक्तिं वै नवलक्षणाम् ॥
गुरोः प्रियतमो यस्तु भजनं मम शासने ।
करोति पारतन्त्र्येण तत्रावेशं करोम्यहम् ॥
नावेशो मम विज्ञेयोऽसमूर्तिर्न तु मामकी ।

अः विष्णुः समूर्तिः मूर्त्या सह । अश्चासौ समूर्तिश्च असमूर्तिः कर्मधारयः । 'विनोद्धव हरेर्भक्त्या भक्तिर्मम विडम्बनम्' । 'गुरुर्भवेद्यथा तात प्रसन्नो मनसा शुभम् । तदुपायं करोत्याशु विवेकी मम वल्लभ' इत्यात्मनिवेदनकाठिन्यबोधकपुराणान्महती । निष्फलं तासां पुरां मानुषी भगवत्प्रिया तत्र तत्त्वाधिगमात् तदभावान्मानुष्यं निष्फिलम् । यतो मानुषो विष्णुर्भवति । 'नावेशो मम विज्ञेयोऽसमूर्तिर्न तु मामकी'त्युक्तवाक्यात् ।

श्रीमत्प्रभुविरचितसेवाविधिः । प्रभुपदं श्रीमदाचार्यपरं श्रीमत्प्रभूत्सव इत्याचार्योत्सवे उक्तत्वात् 'चातुर्मास्ये विशेषत' इति वाराहपुराणन्यायेनात्र विशेषत्वात्पूर्वमपुनरावृत्तिसाधकोत्सवानुक्त्वाऽशक्तान्प्रति चातुर्मास्यसेवा 'यस्य शक्तिः सदा नास्ति कर्तुं मम निवेदने' इति वाक्यात् । इदानीं सदा शक्तिमतः प्रति सेवाविधिमाहुः भगवदित्यादि श्रुतिस्तावत् छान्दोग्योपनिषदन्ते 'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिंसन्सर्वाणि भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तत' इति । श्रीकृष्णवाक्यानि तावत् पुरुषोत्तमयोगाध्याये 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखमि'त्यारभ्य

'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥'

इत्युपसंहारात् । श्रीव्याससूत्रं तावत् साधनाध्यायीयसमाप्तौ 'कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहार' इति । समाधिभाषा तावत् 'अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे । लोकस्याजानतो व्यासश्चक्रे सात्वतसंहिताम्' । सात्वतसंहिता तावत् 'श्रीभगवानुवाच । कुर्यात्सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन् । मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः । देशान्पुण्यानाश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितान् । देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च । पृथक्सत्रेण वा मह्यं पर्वयात्रामहोत्सवान् । कारयेन्नृत्यगीताद्यैर्महाराजविभूतिभि'रित्येकोनत्रिंशाध्याये ब्रह्मवादसङ्ग्रहरूपा । प्रकृतिस्तु एकादशस्कन्धैकादशाध्यायोक्ता 'लघुस्वमार्गवक्ता चे'ति पुरुषोत्तमसहस्रनाम्न्याचार्याः ब्रह्मवादसङ्ग्रहो लघुः, स्वमार्गः श्रीकृष्णमार्गः । अत्र भाष्यम् । 'भक्तिमार्गो बहुविध' इति कपिलदेववाक्यात् 'केचन भक्ताः स्वगृहेष्वेव स्नेहेन भगवदाकारे विविधोपचारैः सेवां कुर्वन्तस्तयैव निर्वृत्या

१. हरेर्मम भक्तिर्गुरुभक्त्या विना ।

मुक्तिमपि तुच्छां मन्यन्त' इति । अन्यत्सर्वं तृतीयाध्याय एवोपपादितम् । एवं च 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ती'ति श्रुत्या वेदानुवचनेन ब्राह्मणा ज्ञात्वा वेत्तुमिच्छन्तीति वेदनं तु भक्त्या । व्यापारः कृपा । ततो जानातीच्छति यतत इति लोके न्यायविदो वचनात्कृष्णानुवृत्तिरूपा सेवोक्ता इयमंशत्रयवतीत्यन्यत्र भक्तिरत्नटीकायां विस्तरः । 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा वा तदेव वीर्यवत्तरं भवती'ति छान्दोग्यश्रुत्यौपनिषदज्ञानस्य कर्मयोगाङ्गता । 'अत एव ब्रह्मविदामेव जनकादीनां कर्मणि सर्वदेवसान्निध्यमन्यथाऽऽभासत्वमेव' । एतच्च जिज्ञासाधिकरण एवोपपादितमेतच्च कर्म 'एकं साङ्ख्यं च योगं च वेदारण्यकमेव च । परस्पराङ्गान्येतानि पञ्चरात्रं च कथ्यत' इति वाक्याद् भगवत्कर्मप्रकाशकपञ्चरात्राद्युक्तमित्यवसीयते । शैवान्प्रति तु पाशुपतशास्त्रमिति वेदान्तवेदसाङ्ख्ययोगपञ्चरात्रपशुपतिमतमिति षट्शास्त्राणां विषयाः । अत्र सेवामार्गे भगवदित्यारभ्य मां हि पालयेत्यन्ता नवश्लोकी, हरितुर्येत्यारभ्य भावमुत्तममित्यन्तं श्लोकद्वयं च श्रीमत्प्रभुविरचितसेवाविधिस्त एकादशश्लोकाः सानुपूर्वीव्याख्याने व्याकरिष्यन्ते । श्रीमत्प्रभुकृतसेवाश्लोकान् सानुपूर्व्या लिखामः । 'प्रातरुत्थाय सविधानं स्नात्वा इत्यादि' इत आरभ्य श्रीगोपीनाथजितां सेवाविधिकृतिरस्ति । सविधानमिति । 'यं मां स्मृत्वा अपूतः पूतो भवती'ति गोपालतापिनीये 'एवं विधिना गोपीचन्दनं यो धारयेद्यस्त्वेतदधीते वे'त्युपक्रम्य 'सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवती'ति वासुदेवोपनिषदि च श्रुतिभ्याम् । वारुणं स्नानं वेदान्तिनां कुतः प्राप्तम् । उच्यते । 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' इति श्रुतेर्वेदनप्राप्तीच्छुं प्रत्याचार्याज्ञाप्राधान्येन वारुणस्य स्नानस्योक्तिरुक्तं तु स्नानं सकलसाधारणम् । तदुक्तं ग्रन्थविशेषे कुम्भनदासादीन्प्रति 'मस्तके जलं निक्षिप्य स्नाया'दिति । विधानं तु भक्तिरत्नटीकायां प्रोक्तमेव परम्परागतं क्रियत एवं पञ्चरात्राद्युक्तस्नानं तु ह्युपनिषदा कर्तुर्विहितम् । एकं साङ्ख्यमिति वाक्यात् । **श्रीमदाचार्यान्स्मृत्वेति** । अस्मन्मार्गे श्रीमदाचार्यस्मरणं विना तद्वैमनस्येन सेवा परगामिनी भवति । 'विनोद्धव गुरोर्भक्त्या भक्तिर्मम विडम्बनमि'ति वाक्यात् ।

वल्लभाष्टकेन स्मरणं भावनायां, नित्यकृत्ये तयोक्तेः । प्रार्थनादिकमाहुः **भगवद्धामेत्यादि** ।

भगवद्धाम भगवन्नमस्तेलङ्करोमि तत् ।
अङ्गीकुरु हरेरर्थे क्षान्त्वा पादोपस्पर्शनम् ॥ १ ॥

भगवन्मन्दिरं प्रार्थयित्वा नमस्कृत्येत्ययं ग्रन्थो **हे भगवन् हे भगवद्धाम** भगवद्धामत्वेन वाक्यार्थांशेन युक्तं भगवन्निति अदृश्यत्वाधिकरणोक्तरीत्याऽक्षरमभेदेन संबोध्य प्रभुत्वेन हरेः स्फूर्तौ धामत्वेन तदुद्भवस्थामाध्याद्धामत्वेन वाक्यार्थे बोधस्तदाश्रयत्वेन वक्तुरिच्छाविषयत्वात्प्रार्थना गम्यते धाम्नो भेदानुसन्धाने 'प्रार्थिते वे'त्यस्य न विरोधः । **ते तुभ्यं नम** इति नमस्कारः । उभाभ्यां गतार्थः । वाक्यार्थबोधाश्रयत्वेन वक्तुरिच्छाविषयत्वं सम्बोधनलक्षणं प्रार्थनागमनाय ज्ञेयं ग्रन्थकर्तुः श्रीगोपीनाथजितो भक्तिमार्गीयत्वेनाग्निपुत्रत्वेऽपि 'ऋषिरग्निकुमारस्त्वि'ति वाक्याद् भ्रातुर्ग्रन्थकर्तुः ऋषित्वेऽपि मन्त्रत्वं नास्ति । श्लोकानामाचार्यकर्तृत्वात् । मन्त्रैरेव स्मर्तव्यमिति नियमस्य दशमचतुर्थपादे रथघोषेण माहेन्द्रस्य स्तोत्रमुपाकरोतीतिं श्रुत्यां रथघोषेण उपावर्तयमिति बर्हिर्म्यां स्तोत्रमुपाकरोतीति प्राकृतौ बर्हिर्मन्त्रौ बाध्येते एवं बाधात् प्रकृते 'स्वयं परिचरेद्भक्त्ये'ति तृतीयाश्रुत्या भक्त्यबाधात् किन्तुः भक्तित्वं तथा च भगवद्धामेत्यादिकीर्तनभक्तिरूपम्, न मन्त्ररूपम्, कारिकातिरिक्तं ग्रन्थमऽप्यत्रैव बोधाय समग्रं लिखामः ।

अलङ्कारं विवृण्वन्त एव मार्जनादिकं कुर्यादिति ग्रन्थं स्पष्टयांबभूवुः **मार्जनादिति** ।

मार्जनात्कृष्णगेहस्य मनोविक्षेपकं रजः ।
नाशमेति तदर्थं च मार्जयामि तथास्तु मे ॥ २ ॥

मार्जनमलङ्कारः । ननु 'कुर्यात्सर्वाणि कर्माणि मदर्थ'मित्यादित्रिश्लोकीमन्तरा कुतः सर्वोत्तममार्गे एकादशस्कन्धीयैकादशाध्यायस्थमार्जनादिकमूरीकुरुथेति चेन्न प्रकृतित्वात् । प्राकृतान्यङ्गानि त्रिश्लोक्यां निष्पतन्ति विकृतौ । भक्तिरत्नटीकायां प्रकृति[illegible]भावः प्रपञ्चितः । चकारान्मानसी सेवा । 'मानसी सा परा मते'ति वाक्यात् । **तथास्तु म** इति मार्जनं मे मम मत्कर्तृकं 'कर्तृकर्मणोः कृती'ति सूत्रेण षष्ठी । तथा मनोरजोनाशकत्वमानसीसेवाजनकत्वाभ्यां प्रकाराभ्यामस्तु । इह कृष्णगेहमार्जनस्य कृष्णगेहस्य रजोनाशकत्वात्कुतः कृष्णगेहमार्जनत्वेन मनोरजोनाशकत्वेन कार्यकारणभावः । उच्यते । गीतायां चतुर्दशेऽध्याये 'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते । स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते' इति वाक्ये भक्तियोगसेवात्वेन गुणात्ययत्वेन कार्यकारणभावघोतनाद् यत् सामान्ययोः कार्यकारणभावस्तद्विशेषयोरपीति नैयायिकोद्घोषादुक्तकार्यकारणभाव इति ।

मार्जनादित्यत्रादिशब्दार्थमाहुः **आत्मन** इति ।

आत्मनोऽज्ञानरूपस्य दुरितस्य क्षयाय हि ।
करोमि सेकोपलेपौ त्वद्गृहे गोकुलेश्वर ॥ ३ ॥

आत्मनो जीवस्य **अज्ञानरूपं** स्वरूपाज्ञानरूपं तस्य **क्षयाय सेकलेपौ**, निबन्धे पञ्चसु विद्यापर्वसु भक्तिपर्वणा स्वरूपाज्ञाननाशोक्तेः । स्वरूपाज्ञानमविद्यायाः पञ्चमं पर्व । 'माया च तमोरूपा' इति श्रुतेः । अज्ञानं तमोगुणस्तस्य क्षयो भक्तियोगेनेत्यत्र गीता पूर्वं निर्दिष्टा ज्ञानत्वेन वा भक्तिरज्ञाननाशकत्वात् । यद्वा आत्मनो मनसः भक्तिस्तनुजा सेवा कार्यकारणभावः पूर्वमुक्तो गीतया तथा चैकादशे 'प्रकृतिवचांसि' 'उद्यानोपवनाक्रीडपुरमन्दिरकर्मणि । सम्मार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्तनैः । गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद्यदमायये'ति ।

ततः सिंहासनास्तरणं कुर्यादिति । तत इति क्रमवाचकपदम् । यद्यपि मार्जनाद्यानन्तर्यवाचकं तत इति पदं तथापि तात्पर्येण क्रमवाचकम् । क्रमस्तु पाठमनादृत्य 'लोकवत्तु लीलाकैवल्य' मिति व्याससूत्रात् पश्चादुक्तमपि मार्जनादि पूर्वं कृत्वा प्रवर्तते । प्रकृतौ पूर्वं 'परिचर्यास्तुतिप्रह्वगुणकर्मानुकीर्तन'मित्यनेनोक्ता परिचर्या पश्चात्कर्तव्या आर्थक्रमादत्र मार्जनादि परिचर्यार्थम् । 'सिंहासने समासीनं रामं' इति रामोपनिषच्छ्रुतेः सिंहासनपदम् । 'सिंहासने आस्तरणमिति सप्तमीतत्पुरुषः । अलङ्करणं सिंहासनस्य 'यथा सुन्दरतां याति वस्त्रैराभरणैरपि । अलङ्कुर्वीत सप्रेम तथा स्नानपुरःसरम्'इति सेवाप्रकरणात् ।

अधीष्टमाहुः सिंहासने कीर्तनभक्तिरूपं **सिंहेति** ।

सिंहासनं मद्धृत्पद्मरूपं सज्जीकरोम्यहम् ।
श्रीगोपीशोपवेशार्थं तथा तद्योग्यतां भज ॥ ४ ॥

'तद्रूपस्थैर्यमावहे'ति चतुर्थचरणं श्रीमत्प्रभुविरचितसेवाविधौ । **सिंहासनं** शेषरूपं 'अग्रतो भविता देव' इत्यत्र सुबोधिन्यां तथोपपादनात् । **मद्धृत्पद्मं** सर्वात्मभाववद्धृत्पद्मं तद्रूपं लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणतोदो विहायैतदुपात्तम् । 'सर्वं सर्वमयं' इति तापिनीयश्रुतेः । सिंहासनस्य

हृत्पद्मत्वेन ज्ञानं न भ्रमः । हे तद्रूप हृत्पद्मरूप **स्थैर्यं** हृत्पद्मत्वेन **रूपेणावह** प्रापय सिंहासने । पाठान्तरे हृत्पद्मत्वेन रूपेणेति तथेत्यस्यार्थः । **योग्यतां** सर्वात्मभाववद्भक्तहृदयं श्रीगोपीशोपवेशयोग्यं पाठे तु सिद्धान्तरहस्ये 'तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः । गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना । गङ्गात्वेन निरूप्या स्यात् तद्वदत्रापि चैव ही'ति ब्रह्मतया **योग्यता** । यद्वा फलप्रकरणे 'स्वानन्दानुभवार्थं हि योग्यतापि निरूपिते'त्यस्याष्टिप्पण्युक्तदिशा भूर्भुवःसुवो जगत्तद्रूपलक्ष्मीरूपतां भज । लक्ष्मीतुल्यतायां हि भगवद्रमणमिति हि मर्यादेति । ततः पात्राणि सज्जीकुर्यादिति एतावानेव ग्रन्थः स्पष्टः । श्लोकान्तरं श्रीमत्प्रभुविरचितसेवाविधेर्ग्रन्थकर्तुः ।

पानीयेति ।

पानीयपात्रं हि तथा व्रजनाथाय कल्पितम् ।
राधाधरात्मकत्वेन भूयात्तद्रूपमेव नः ॥ ५ ॥

अर्थः । प्रकृतौ परिचर्यापदं तत्र चान्यत्र वाराहे चातुर्मासमाहात्म्ये 'सुगन्धिशीतलं वारि ततो भक्त्या निवेदयेदि'ति 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यं' इति सूत्रे लोकवल्लीलायामपि । गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनादित्यत्रर्तं पिबन्ताविति श्रुत्या वारिपानस्यर्तस्य वारित्वेन सिद्ध्या 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यनया श्रीयमुनाजिदुक्त्या च स्वरूपामृतपानं प्रथमं निर्दिष्टम् । सुवर्णमयपात्रे **राधाधरात्मकत्वं** 'सर्वं सर्वमय'मिति श्रुत्या तदीयभोगोपि राधाधरात्मकत्व एव 'ऋतं पिबन्तौ' इति श्रुतेः । ऋतं परमब्रह्मानन्दम् । **तद्रूपमेव** तद्रूपादित्याशीर्भाषणस्य ग्रन्थकर्तुः । तथा च भाष्यं 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्मे'ति ।

श्रीमत्प्रभुविरचितसेवाविधिश्लोकः **स्वामिनीति** ।

स्वामिनीकररूपाणि भावस्वर्णमयानि वै ।
श्रीकृष्णभोज्यपात्राणि सन्तु ते मत्कृतानि हि ॥ ६ ॥

अनुभावुकानामपि श्लोको विब्रीयते । **श्रिया सह कृष्णः** सदानन्दः तस्य **भोज्यपात्राणि** यानि **मत्कृतानि** मया ते तुभ्यं सज्जीकृतानि धात्वादिमयानि **भावो** भावना तेन **स्वर्णमयानि** स्मरणभक्त्या सर्वमयत्वेपि स्वर्णप्रचुराणि निबन्धे 'अथवा सर्वरूपत्वात्' इत्यत्र वाक्यमात्रस्य प्रामाण्योक्तेः । अत आहुर्वा इति । तानि पुनः **स्वामिनीकररूपाणि** । **सन्त्विति** सत्कारपूर्वको व्यापारः । अधीष्टे लोट् आशीर्वा । अयमर्थष्टिप्पण्यां फलप्रकरणे लक्ष्मीतुल्यतायां हि भगवद्रमणमिति मर्यादा सा च ब्रह्मानन्दरूपेति । तथा च सिद्धान्तरहस्ये ब्रह्मतोक्त्या तद्रूपत्वमुक्तं जातमित्युक्तमर्यादापि सम्पन्ना । तत्राप्यधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्धानिरिति न्यायेनाधिकप्रवेशः । द्वादशस्वङ्गेषु कराणां पात्रत्वेन तदुक्तिः पिबत्यस्मादारमेति पात्रं तानि **पात्राणि** ष्ट्रन् प्रत्ययः । 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः' इति श्रुतेर्दर्शनात् । **हीति** निश्चयार्थकमव्ययम् ।

ततः शय्यातो विज्ञाप्योत्थापयेदिति तत इति पदं क्रमवाचकं पूर्ववत् । शय्यात इति पदेन भुक्तिसाधनीभूतवक्ष्यमाणवन्दनभक्तावपि दास्यभक्तिवच्छयनमाक्षिप्यते 'लोकवत्तु लीलाकैवल्य'मिति न्यायात् । विज्ञापना भावनोक्ता लोडर्थः । तत्र श्रुतिः । 'वने वृन्दावने क्रीडन् गोपगोपीसुरैः सहे'ति कृष्णोपनिषदि सा यशोदोत्थापनभावनायां गोप्युत्थापनभावनायां च प्रबोधोपि । गोपगोभिरित्यत्र गोपाश्च गोप्यश्च गोपाः 'पुमान् स्त्रिये'त्येकशेषः । **उत्थापयेदिति** विधिः ।

वन्दनभक्तौ कीर्तनभक्तिमाहुः **उदिति** ।

उदेति सविता नाथ प्रियया सह जागृहि ।
अङ्गीकुरुष्व मत्सेवां स्वकीयत्वेन मां वृणु ॥ ७ ॥

हे नाथात्यन्तानुग्रहे स्वैकदेशभक्तविरोधिवारक । सुबोधिन्यां स्वांशेषु कस्यानिवार्यत्वेऽप्यत्यन्तानुग्रहे वारयत्यपि । **प्रियये**ति यदा स्वामिन्युत्थापनं न यशोदाजित्कृतं तदुत्थापने तदिच्छया **कृष्णो** बालत्वेन तां प्रति प्रियाविर्भावाभावाद् यशोदाजिद्भावनायां तस्या अपि बालात्वात् । **अङ्गीकुरुष्वे**ति अधीष्टे लोट् । सेवाङ्गीकारफलं कर्तृगामीत्यात्मनेपदम् । **मत्सेवा**मिति **दास्यभक्ति**रपि वन्दनभक्त्यन्तर्गता । **वृणु** वरणफलं भगवन्मार्गे रुचिः । **स्वकीयत्वेने**ति तु मुक्तेः सकाशात् त्वदीयत्वमेव ज्यायो भजनानन्दानुगुणत्वात् । मुक्तानां मायाविनिर्मुक्तमात्मस्वरूपमेव न तु देहेन्द्रियादिकमप्यस्ति येन भजनानन्दानुभवः स्यात् । ततः सिंहासने उपवेशयेदिति स्पष्टम् ।

महाराजोपचारः उद्धवं प्रति त्रिश्लोक्यां एकत्रिंशे एकादशे 'महाराजविभूतिभि'रिति वाक्याद् उद्धवोपचारः । **क्रीडेति** ।

क्रीडात्मसाधनयुत मद्भूमाक्षरात्मकम् ।
आस्थाय गोकुलाधीश रमस्व कृपया मयि ॥ ८ ॥

यावत्पर्यन्तं स्वहृदये न कोऽपि भगवन्तं वेद तावन्न कोऽपि प्रतिमादौ पूजयेदिति **सुबोधिन्यां** प्रतिमासेवादौ पूर्वं स्वहृदयेऽधीष्टमुक्तम् । **क्रीडात्मे**ति साधनविशेषणादन्यानि साधनानि व्यावर्तितानि । **अक्षरात्मके** रमणं तृतीयाध्याये 'विधैव तु निर्धारणादि'ति सूत्रभाष्ये । **कृपये**त्यनेन साधनरूपो भगवानित्युक्तं 'कृपाविष्टः साधन'मिति । सेवायां प्रवृत्तः स्वसेवोपयोगिपदार्थाभावे दुःखी भवत्यतो बुद्धिप्रेरके सत्कारव्यापारः । सिद्धान्तमुक्तावलीटीकायां स्पष्टमिदम् ।

प्रकृतमाहुः **भावेति** ।

भावात्मकतया कृष्णस्योत्तरीयात्मकासने ।
सिंहासने गोकुलेश कृपयोपविश प्रभो ॥ ९ ॥

व्रजभक्तभावः शृङ्गारात्मा भक्तिर्वा । 'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः, भावः प्रोक्त' इति काव्यप्रकाशात् । **तदात्मकतये**त्यर्थः । भक्तिशृङ्गारयोरन्तःपातिवस्तूनां भक्तित्वं **शृङ्गारत्वं वा** । **कृपये**ति पूर्ववत् । ततो नमस्कुर्यादिति स्पष्टम् ।

यादृश इति ।

यादृशोऽसि हरे कृष्ण तादृशाय नमो नमः ।

यादृशः भाष्यादिप्रतिपादितः । 'यतो वाच' इति श्रुतिप्रतिपादितश्च 'यस्यामतं तस्य मत'मिति श्रुतेः । **नमो नम** इति । 'भगवति जीवैर्नमनातिरिक्तं कर्तुमशक्य'मिति । 'किमासनं ते गरुडासनाय किं भूषणं कौस्तुभभूषणाय । लक्ष्मीकलत्राय किमस्ति देयं वागीश किं ते वचनीयमस्ती'ति निबन्धशास्त्रार्थात् । तथा च श्रुतिर्गोपालतापिनीये 'ॐ नमो विश्वरूपाय विश्वस्थित्यन्तहेतवे । विश्वेश्वराय विश्वाय गोविन्दाय नमो नमः' इत्यादि । श्रीभागवते चादृश्यत्वाधिकरणोक्तं रूपमनमच्छुकः 'नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम् । निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि 'रंस्यते नम' इति । एतच्च श्रुतात्मनिवेदिना कर्तव्यम् ।

पूर्वं तावच्छरणं गतस्य आत्मनिवेदनं कर्तव्यं । नान्यस्येति 'मुमुक्षुर्वै शरणमनुव्रजे'दिति । गोपालतापिनीयश्रुत्याहुः **यादृश इति** ।

यादृशोऽस्मि हरे कृष्ण तादृशं मां हि पालय ॥ १० ॥

यादृशः शास्त्रादौ निरूपितस्तादृशमणुं **पालय त्वं रक्षको भवेत्यधीष्टे लोट्** । 'श्रीकृष्णः शरणं ममे'त्युक्तम् । अयं वन्दनभक्तिप्रकारः सुबोधिन्यां दशमस्याष्टमाध्याये । एवं श्रीमत्प्रभुविरचितसेवाविधिनवश्लोक्युक्तवन्दनभक्तिरित्युक्तं न शरणमार्गः, मार्गाणां त्रित्वात् । 'मार्गास्त्रयो मया प्रोक्ता' इति वाक्यात् । शरणमार्गस्तु पृथगेव 'पृथक् शरणमार्गोपदेष्टे'ति सर्वोत्तमात् । ननु कथं चतुर्थो मार्ग उक्त इति चेन्न । न्यासादेशेष्वित्यस्य विवरणे 'मदितरभजनापेक्षणं वा व्यपोढम्' धनाद्यभावे तु प्रपत्तिमार्गं वक्ष्यन्त्येवेति निबन्धटीकातः ।

'एवमनियमः सर्वासा'मिति सूत्रोक्तवन्दनादिभक्तीनां मध्ये वन्दनभक्तिर्नवश्लोक्या विवृता, अधुना दास्यभक्तिः सिद्धान्तमुक्तावल्युक्ता वितन्यते स्म । हरितुर्यप्रिय इति श्लोकद्वयं मर्यादीकृत्य ग्रन्थकर्तृभिः । तथा च द्वितीयस्कन्धचतुर्थाध्यायसुबोधिनी 'नमो नमस्त' इत्यत्र नमनमात्रेणैव स्वतः पर्यवसाने तदधीनत्वलक्षणे अधिके धर्मे सम्पन्ने स्वसेवामपि कारयतीति वन्दनानन्तरं दास्यं प्रयोजनमिति निरूपितमिति **नमो नम** इति ।

नमो नमोऽस्तु ते राधे श्रीकृष्णरमणप्रिये ।
स्वपादपद्मरजसा सनाथं कुरु मच्छिरः ॥ ११ ॥

अत्र दास्यभक्तौ वन्दनभक्तिर्नवश्लोक्युक्ता सम्बध्यते । एवं ज्ञानं नत्वा क्रियामनमत् । आरम्भे **श्रीराधे** इति श्लोके इदं प्रमेयं स्पष्टम् । तनुजा सेवेयम् ।

ततः श्रीमदाचार्यान्नमस्कुर्यादिति स्पष्टं पूर्वमुक्तप्रायम् ।

चिन्तासमिति ।

चिन्तासन्तानहन्तारो यत्पादाम्बुजरेणवः ।
स्वीयानां तान्निजाचार्यान्प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥ १२ ॥

नवरत्नग्रन्थे याः परिहार्याश्चिन्ता उक्तास्तासां **सन्तानस्य हन्तारः यत्पादाम्बुज**सम्बन्धिरेणवः पादाम्बुजापेक्षया साक्षात्सम्बद्धाः कारणानि । अन्यत्स्पष्टम् । प्रकृतौ 'परिचर्यास्तुतिप्रह्वगुणकर्मानुकीर्तन'मित्यत्र प्रह्वपदेन नमस उक्तेः । णम प्रह्वत्वे शब्दे चेति धातुपाठात् । अत्र सर्वत्र यशोदागोपीगोपोद्धवादिसम्बन्धिनी सेवा महाराजोपचाराश्च ज्ञेयाः । महाराजोपचारास्तूत्तरार्धसुबोधिन्यां 'चामरव्यजनशङ्खातपत्रकिरीटासनशय्यामहाराजचिह्नानी'ति । तत्रोत्थापनाक्षिप्तशय्याशङ्खनादश्च जागरणादिसमय उष्णकाले व्यजनमपि भक्तिमार्गानुसारेणोपचारा मुख्या इत्याहेति । 'यथा सुन्दरतां याति' इत्यस्य निबन्धस्य टीकायाः । तदुक्तं 'देशकालविभागविदि'ति चतुर्थस्कन्धे । अत्रैकश्लोकपर्यन्तमुद्धवादिवत्परिचरणं 'पूर्वं स्नानं प्रकुर्वीत धौतदन्तोऽङ्गशुद्धये' इत्युद्धवं प्रति सप्तविंशे वाक्यात् । नन्दयशोदादीनां श्रीकृष्णे बालभावेन स्नानाद्यसम्भवोऽप्युन्नीयते यतः, अग्रे श्लोकद्वयोक्तमप्युद्धवादिवत्परिचरणं प्रकृतेस्तं प्रत्युपदेशात् । क्रीडेत्याद्येकश्लोकोक्तमप्यन्यभक्तवत् । तदुत्तरश्लोकोक्तमप्युद्धवादिवत्परिचर्यान्तर्गतत्वात् । अक्रूरवदभिवन्दनं यादृश इत्याद्युक्तम् । 'अक्रूरस्त्वभिवन्दन' इति कस्यचिद्वाक्याद् अकिञ्चनादिवच्छरणमार्गः, न्यासादेशेष्विति वाक्यात् । अग्रेऽपि वन्दनमक्रूरवत् किञ्च गीतनृत्यादि कारयितव्यम् । मन्दिरे दर्शनाद् 'गीतनृत्यादि पर्वणि स्युरुतान्वह'मिति वाक्यात् । भावनायां तु शृङ्गारसमये शयनभोगसमये चोक्तम् ।

ततः पात्रे सामग्रीं संस्थाप्य विज्ञाप्य समर्पयेदिति स्पष्टम् ।

विज्ञापनायाः सम्भोगप्राप्तिसूत्रानुगुणत्वाद्विज्ञापनामाहुः **व्रजेति** ।

व्रजस्त्रीकरयुग्मात्मयन्त्रे पात्रं च तन्मयम् ।
स्थापितं ते भोजनार्थं योग्यभोज्यान्नसम्भृतम् ॥ १३॥

व्रजस्त्रीणां करयुग्मं तदात्मके **यन्त्रे**, उपासनया शुद्धे चित्ते भरिति पक्षेक्ति रामतापिनीये सर्वात्मकयन्त्रस्य विभूतिविषयत्वं भक्तिहंसोक्तदिशाऽतो गोपालतापिनीयोक्तं यन्त्रं जानीयाद् ध्यानविषयीभूतं न तु रामतापिनीयोक्तं लेख्यम् । ननु दास्यभक्तौ प्रेमलक्षणाभक्तिकारणत्वात् किमनेन यन्त्रेण पाक्षिकेण सच्चिदानन्दैकरसे भक्तियोगस्तिष्ठतीति तत्रैव श्रुतेरिति चेन्न । यन्त्रमिव यन्त्रमित्युपचारात् । एतस्योपयोगः पूर्वं 'क्रीडात्मसाधनयुतम्' इत्यत्र निरूपितः । क्रीडात्मसाधनानि यन्त्रे श्रुत्युक्तानि । तास्तु 'ते होचुरुपासनमेतस्य परमात्मनो गोविन्दस्याखिलाधारिणो ब्रूहीति । तानुवाच यत्तस्य पीठं हैरण्यमष्टपलाशमम्बुजं तदन्तरालिकानलास्त्रयुगं तमनु गायत्री यथावद्व्यासज्य भूमण्डलं भूम्वेष्टितं कृत्वा गवा वेष्टितं कृत्वाङ्गवासुदेवादिरुक्मिण्यादिस्वशक्ती इन्द्रादिवसुदेवादिपाण्ड्वादीनिध्यायितं यजेत्सन्ध्यासु प्रतिपत्तिभिरुपचारैस्तेनास्याखिलं भवत्यखिलं भवतीति' भक्तिमार्गे उपासनानिवेशे श्रुतिरत्रैव 'तस्यैवासौ दर्शयेदात्मरूप'मिति । आत्मरूपदर्शनं तु भक्त्यैवेति भक्तिलिङ्गम् । तादृशं यन्त्रं व्रजस्त्रीकरयुग्मात्मकम् । रुक्मिण्यादीत्यत्र आदिपदार्थत्वाद् गोपालतापिनीये गोपीनां चोपलेखात् । तेन चतुष्पाद्यां व्रजस्त्रीकरयुग्मात्मकयन्त्रत्वेन भावना । भ्रमस्तु परास्तः पूर्वम् । **पात्रं च तन्मयं** परं तदभिव्यक्तित्वेन भेदमास्थायाधाराधेयभावः । **योग्यस्य** श्रीपुरुषोत्तमस्य **भोज्यान्नैः सम्भृतम्** ।

भुङ्क्ष्वेति ।

भुङ्क्ष्व भावैकसंशुद्धदधिदुग्धादिमोदकान् ।
प्रियं ते नवनीतं च राधया सहितो हरे ॥ १४ ॥

यद्यपि 'सुखदुःखसाक्षात्कारो भोगः' 'नैवेद्यं तुष्टिद'मिति भोगो जात एव परं पुराणमतम्, श्रुतिस्तु 'सर्वमत्तुमभ्रियत' स्मृतिश्च 'सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्' अन्यापि 'पत्रं पुष्पमि'त्यादि तच्छ्रौतं मतम्, अतोऽधीष्टे लोट् । भाष्यः 'सर्वेषां भ्रमता ततः' 'निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थिति'रिति सिद्धान्तरहस्यकीर्तनोत्थः तेनैकेन शोधने मुख्येन समीचो ब्रह्मज्ञानोपयोगित्वेन **शुद्धान् दध्यादिकान्** । मङ्गलभोगे दध्यादिकं स्कान्दे पञ्चदशेऽध्याये मार्गशीर्षमाहात्म्ये भगवता 'अथ श्रीमदुद्यानसंवीते'त्यादिना स्वध्यानमुक्त्वोच्यते 'सितामोदहैयङ्गवीनैश्च दध्ना त्रिमिश्रेण दौग्धेन स प्रीणयेत्तम्' इति 'प्रातरेवार्चयेदच्युतं यो नरः प्रत्यहं शश्वदास्तिक्ययुक्तः समेताचिरेणैव लक्ष्मीं समग्रामिह प्रेत्य शुद्धं परं धाम भूयादि'ति । सिता शर्करा, मोदा मोदकाः, त्रिमिश्रं संधितं नूतनसत्करीरादि, दौग्धं दुग्धं प्रज्ञाघण् मलाई । दौग्धं, दुग्धेन निष्पन्नत्वात् । सामान्ये नपुंसकम् । यद्वा सिताहैयङ्गवीनदधिदुग्धानि चत्वारि चतुर्णां व्यूहानां 'नवनीतं दधि क्षीरं घनीभूतं घृतं तथा । अनिरुद्धादिमूर्तीनां चतसृणां क्रमात्प्रियम् । नारायणस्य चत्वारि सर्वेषां शर्करापि चे'ति सप्तदशे वाराहात् । चतुर्व्यूहा व्यष्टयः श्रीनारायणः समष्टिः अन्यदिष्टतमं लोके दधिदुग्धादीत्यादिपदेन मलाईसन्धितसिताः । **राधये**ति भावनाविषयीभूतया क्वचित्साक्षात् । भोजनाधीष्टं यशोदाजिद्वत्परिचरणम् । भावनायां तथोक्तेः ।

भाषणमिति ।

भाषणं मा त्यज प्राणप्रिये गोपवधूपतेः ।
त्वन्मुखामोदसुरभि भोज्यं भुङ्क्तेऽधिकं प्रियः ॥ १५ ॥

---

१. प्रपत्तिभिः प्रतिपत्तिभिः ।

गोपवधूपतेः प्राणप्रिये हे राधे यशोदाजिदुक्तिः । तत्र गोपवधूपतेरित्युक्तिः स्नेहेन मुक्तित्वाद्वा । 'यशोदा मुक्तिगेहिनी'ति कृष्णोपनिषच्छ्रुतेः धरात्वाद्वा 'यशोदा सा धराभवत्', इति भागवताद् धराया विरुद्धधर्माश्रयत्वम् । किञ्च ग्रन्थकर्ता श्लोकानुपनिबबन्ध । श्लोकास्तु विज्ञप्त्यादिष्वेतद्ग्रन्थानां तत्कर्तुस्तूचितमेव । **गोपवधूपते**रिति पदं तदीयत्वाद् 'अहं तदीय इत्येषा तद्वार्ता रूपिता परम्' इति त्रिभङ्गललितस्तोत्रन्यायात् । तत्र हेतुमाहुः **त्वदित्यादि** । तव **मुखस्यामोदः सुरभिविशेषः** तेन **सुरभी**त्यर्थः । **अधिकमिति** । भक्तमात्रनिवेदितमश्नाति यद्यपि तथापि नाहं भक्षितवानिति वाक्यादानन्दभुगपि ब्रह्मानन्दामोदेन **सुरभि त्वधिकं भुङ्क्ष्व** 'ऋतं पिबन्ता'विति श्रुतेः ।

तदेवाहुः **राधेति** ।

राधाधरसुधापातुः किमन्यन्मधुरायितम् ।
यन्निवेद्यं तदप्येतन्नामसम्बन्धतो भवेत् ॥ १६ ॥

अन्यन्मधुरवदाचरितं किम्, न किमपीति काकुः । ध्वनेर्विकारः काकुः । एतस्या **नामसम्बन्धतो मधुरायितं भवेत्** । यथा 'ब्रजस्त्रीकरयुग्मात्मयन्त्रे पात्रं च तन्मय'मिति ब्रजस्त्रीनामसम्बन्धः । अयं भावः । सर्वेषां ब्रह्मत्वेऽपि पुनः 'सर्वेषां ब्रह्मता तत' इति सिद्धान्तरहस्ये ब्रह्मताविधानमीदृगिति । 'ऋतं पिबन्ता'विति श्रुतेः ।

एवं विज्ञाप्यात्राङ्गीकारेऽभीष्टमाहुः **प्रियेति** ।

प्रियामुखाम्बुजामोदसुरभ्यन्नमतिप्रियम् ।
अङ्गीकुरुष्व गोपीश तदीयत्वान्निवेदनम् ॥ १७ ॥

ननु प्रियेत्यादिविशेषणेन पूर्वोक्तब्रह्मतानुवादस्तेनैव योग्यतया भुङ्क्ष्वेत्युपपन्नेऽङ्गीकुरुष्वेत्यङ्गीकारस्य किं प्रयोजनमिति चेन्न । एतादृशब्रह्मत्वेऽपि वरणरूपाङ्गीकारस्यावश्यकत्वात् । तदुक्तं 'विद्यैव तु निर्धारणात्' इति सूत्रभाष्ये 'नायमात्मेति श्रुतिरितरसाधननिषेधपूर्वकं वरणस्य साधनत्वमुक्तवे'त्यादि । **अङ्गीकुरुष्वे**त्यात्मनेपदेनाङ्गीकारफलं भक्तमनोरथपूर्तिरात्मगामिनी । **तदीयत्वादिति** स्वस्य योग्यता । **निवेदनमिति** अर्शआद्यच्[1] निवेदितमित्यर्थः ।

'सर्वतोक्षिशिरोमुख'मित्युक्ते कस्मिन्निज आस्य इत्याकाङ्क्षायां नवलास्ये भक्तिमार्गमर्यादयाङ्गीकृतं भोज्यमन्नं भुङ्क्ष्वेत्याहुः **निजेति** ।

निजास्यनवलास्येऽस्मिंश्चारुभोज्यं मदर्पितम् ।
भुङ्क्ष्व श्रीगोकुलाधीश स्वाधिव्याधी निवारय ॥ १८ ॥

सर्वत आस्येषु **निजे आस्ये** तत्रापि **नवं** भक्तेच्छयाधुना प्रकटं **लास्यं** यत्र तदपि प्रत्यक्षं साक्षात्कृतं तस्मिन् **भुङ्क्ष्व**, न तु धर, 'तत्तदनुप्रियते'ति बृहदारण्यके सर्वाश्रयस्योक्तेः । अयं तु भक्तिमार्गाश्रयः । भक्तस्त्वाध्यात्मिकादित्रितयविदाश्रयः । अत ऊचुः **स्वाधीति** । पूर्वोक्तभक्तेच्छया स्वस्यात्मनो निवर्तनीयत्वेन भक्तेच्छाकालिकौ **आधि**र्मनःपीडा **व्याधिः** शरीरस्य तौ **निवारय** । ननु भूम्नि तावशक्यवचनावित्यत आहुः **गविति** । **गोकुलस्य** पुष्टिभक्तौ स्वीकृतस्या**धीशः** पुष्टिरक्षकस्तस्य सम्बोधनम् । पुष्टौ क्षुत्पिपासादि ज्ञापयतीति । स्वीयानां आधिव्याधी इति वा । 'उत्कर्षश्चापि वैराग्ये हरेरपि हरिर्यदी'ति सुबोधिनीकारिकाया वैराग्योत्कर्षवतां भक्तानां आधिव्याधी भवतः । लौकिकावाधिव्याधी वा ।

---

१. अर्शआद्यादिराकृतिगण इत्याधुनिकाः ।

दास्यसेवाया मानसीसेवा फलं तस्यै समाधये ध्यानवद्भावनास्ता आहुः **यशोदेति** ।

यशोदारोहिणीभावाद्बलेन सह बालकैः ।
भुक्तं यथा बाल्यभावप्राकट्याद्भुङ्क्ष्व मे तथा ॥ १९ ॥

अत्र तृतीयाध्यायस्थ 'सर्वथापि त एवोभयलिङ्गादि'ति सूत्रे 'तमेव धीरो विज्ञाय **प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः**' इति बृहदारण्यकश्रुत्या भावनात्रयम् । तासु प्रथमं लीलाभावना **यशोदारोहिणीभावादिति** । लीलाभावना नाम लीलास्थभक्तानामात्मनिष्ठक्रीडाभावना सप्रतियोगिकक्रीडाभावनेति यावत्, लीलास्था भक्ताः परिगणिताः क्वचिद्भावनायाम्, उभये स्वामिन्यौ, तुर्यप्रिया, श्रीगोवर्धनः, ब्रजः श्रीमदाचार्याः श्रीगोस्वामिनः सप्तबालका इति । अत्र श्रीगोपीनाथजितः श्रीमल्लक्ष्मणजितः अन्येऽपि नित्यलीलाप्रविष्टा उपलक्षणविधया ग्राह्याः । **यशोदारोहिणीभावाद्बाल्यभावप्राकट्याद्** बाल्यभावेऽष्टस्वरूपाणां भावना कर्तव्या यथास्वरूपस्थितिः सा कर्तव्या कश्चिच्छ्यामः कश्चिच्छ्रीनवनीतप्रियजिवादिगौरः कश्चिद्गौरश्यामः केचिद्द्विभुजाः केचिच्चतुर्भुजाः । तत्र क्वचिद्भक्ताकारणक्रिया क्वचिन्नवनीतं रोटी च कर्कटीति द्विः खरबूजेति ख्याता । क्वचिच्छङ्खचक्रगदापद्मानि क्वचिच्छङ्खः सच्छिद्रः क्वचिच्छ्रीगोवर्धनः शङ्खश्च सोऽपि निश्छिद्रः क्वचिच्छ्रीहस्तोऽभयकरः क्वचिच्छ्रीहस्तो भयकरः 'अपि संराधनसूत्रा'दनुभवगम्याविल्यादिपदार्थानां भावना । अयं कीदृग्लीलाविशिष्टविग्रह इति स्वरूपभावना । इयं लीला निष्प्रतियोगिनी । 'तदेजति तन्नैजती'ति श्रुत्युक्ता स्वरूपान्तःपातिनी 'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वा'दिति न्यायात् । ननु बाल्यभावप्राकट्य एकरसत्वहानिः तथा च सच्चिदानन्दत्वमनुपपन्नं स्यादिति चेन्न । अस्या आशङ्काया 'व्याप्तेश्चासमञ्जसमि'ति सूत्रे परिहृतत्वात् । यशोदारोहिणीभावाकारणाद्बाल्यभावप्राकट्यं तस्माच्च **बलेन बालकैश्च** सह यथा **भुक्तं** त्वया तथा **बाल्यभावेन** प्रकारेण मम नैवेद्यं **भुङ्क्ष्वे**त्यर्थः ।

नन्दादिवन्मद्गृहेऽप्यागन्तव्यमिति भक्तिमार्गमर्यादारक्षणार्थमावश्यकमागमनमित्याहुः **सेवेति** ।

सेवार्थं दत्तगेहस्य निजदासस्य मे प्रभो ।
आगन्तव्यं भोजनार्थं श्रीकृष्ण कृपया गृहे ॥ २० ॥

दत्तगेहस्येति भगवता दत्तं गेहं पूर्वं गेहं नास्ति । ननु तथा च कुत्राश्रमेऽवस्थानं गृहिण्युपसंहाराधिकरणे 'धार्मिकान्विदधदि'ति गृहस्थाश्रम उक्तः तत्र कथं तुरीयाश्रमः । **सेवाप्रकारो** गृहस्थस्य भक्तिवर्धिन्युक्तस्तत्र 'त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानस' इति त्यागे दास्यं कथमिति चेन्न । एकादशे एकोनत्रिंशे त्रिश्लोक्यनन्तरं ज्ञानप्रकारमुक्त्वोवाच भगवानुद्धवं प्रति । 'एतत्ते कथितः सर्वो ब्रह्मवादस्य सङ्ग्रह' इति वचनात् । ननु तथापि गृहं न ग्राह्यं तद्धि वान्ताशनवद्भवतीति चेन्न । 'ग्रासं ग्रासं भजेन्मुनि'रिति 'सर्वेषां मदुपासनामि'ति वाक्याभ्यां वान्ताशनं स्मार्तानां न **ब्रह्मवादिनाम्** । एकदण्डिनामित्युक्त्या ब्रह्मोपनिषदि 'आत्मविद्यातपोमूल'मिति श्रुतेः । विद्या सर्वात्मभावः '**विद्यैव तु** निर्धारणादि'ति तत्त्वसूत्रात् । विद्यातपसी मूले कारणे प्रापिके यस्य । मूलपदं नित्यं **नपुंसकम्** । विद्यातपसोर्मूलं वा कारणं विषय इति यावत् । 'एतᳶह वा व न तपति किमहᳶसाधु नाकरवं किमहं पापमकरवमि'ति श्रुतेश्च । तथा चैतादृशं गृहं भगवता दत्तम् । 'अनन्याश्चिन्तयन्तो **मां** नित्ययुक्ता उपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्' इति वाक्योत्तरं गीतानवमाध्याये राजविद्याराजगुह्ययोगे 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् । शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः । संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसी'ति गीतातः संन्यासानन्तरं गृहादिप्राप्तिः पूर्वमुक्ता । ननु वैराग्याभावे कथं संन्यासः **सर्वेषामिति चेन्न** ।

'स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमाहात्म्य' इति सर्वोत्तमे श्रीमदाचार्यनाम्नः सर्वेषां तद्वंशजानां वैराग्यसंभवात् । **कृपयेति** श्रीभगवतः साधनत्वायैतत्पूर्वमुक्तम् । अत्र 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इति यशोदानन्दादि**भाववता** देवासुरेति वाक्यार्थमनुसन्दधता **श्रीकृष्ण** एव संबोधितः बलस्तु गोपीवल्लभभोगापसरणानन्तरमाकार्यः ।

सेवार्थं नन्दादयश्च तत्रैवाकार्यन्ते स्म **देवकीति** ।

देवकीवसुदेवश्रीबलरोहिणीसंयुतः ।
श्रीमन्नन्दयशोदाभ्यां समं मयि कृपां कुरु ॥ २१ ॥

देवकी ब्रह्मविद्या ब्रह्मविद्योपनिषदुक्ता, सर्वात्मभावः पुरुषोत्तमविद्या, **वसुदेवः** शुद्धसत्त्वात्मकः, **श्रीबलः** शेषनागः, **रोहिणी** दया, **श्रीमद्गोकुलम्**, वनम्, वैकुण्ठम्, तत्र **नन्दः** परमानन्दः । श्रीमन्नन्द इति वा स एवार्थः । 'यशोदा मुक्तिगेहिनी' मुक्तिश्च गेहिनी मुक्तिर्भक्तिमार्गीयात्र गृह्यते **मय्याश्रये** आध्यात्मिकादित्रितयविदाश्रये भक्ते वा । यथायोग्यकाले **कृपां कुरु** । देवक्यादीनां स्वरूपाणि कृष्णोपनिषदि वर्तन्ते ।

निःकिञ्चनस्य 'यद्यदिष्टतमं लोक' इति श्लोकोक्तमर्यादातिक्रमेऽपि ह्यधिकारस्याकिञ्चनाधिक्रियोक्तेत्यत्रोपपादनादाहुः **निःकिञ्चनेति** ।

निःकिञ्चनस्य दीनस्य गुणहीनमपि प्रभो ।
शुद्धान्नं तत् स्वदत्त्वाद्भुङ्क्ष्व गोकुलनायक ॥ २२ ॥

विकृतेः प्रकृतौ 'मच्छरणो मुनि'रिति मुनिविशेषणाच्छरणं भक्तिमार्गे प्रोक्तमतः 'पृथक् शरणमार्गोपदेष्टे'त्यस्य न विरोधः । किञ्च प्रकृतौ 'धर्मान्सन्त्यज्य यः सर्वान्मां भजेत् स च सत्तम' इत्यत्र 'न्यासादेशेषु धर्मत्यजनवचनतोऽकिञ्चनाधिक्रियोक्ता कार्पण्यं वाङ्मुक्त'मिति श्लोकोक्तप्रकारोऽप्यस्ति । परान्नगणान्नादिभिन्नमन्नं **शुद्धान्नम्** । वाराहे 'कान्यन्नानि निषिद्धानि तद्भक्ते शोधने च कि'मिति पृथ्वीप्रश्ने श्रीवराहः 'परान्नं नैव भुञ्जीत परपक्वं विशेषतः । तथा गणान्नं शूद्रान्नं स्वयं पक्वमपि त्यजे'दिति षोडशाध्याय उवाच । **तत्** सिद्धान्तरहस्योक्तरीत्या भक्त्यात्मकं **स्वदत्तं** यतिभ्यो दत्तं स्वेन पूर्वमुपपादितं 'पुष्पं पत्रं फलं तोय' मिति श्लोकोक्तमर्यादया **भुङ्क्ष्व** ।

भोजनफले आहुः **भुक्त्वेति** ।

भुक्त्वा दत्त्वातिप्रियेभ्यो भक्तेभ्योऽतिप्रियं सदा ।
तदात्मशोधकोच्छिष्टं कृतकृत्यं च मां कुरु ॥ २३ ॥

भुक्त्वा वैराग्योत्कर्षं मयि फलं कुरु 'उत्कर्षश्चापि वैराग्ये हरेरपि हरिर्यदी'ति वाक्यात् । मानसीसेवां प्रति तनुजापूर्तिं कुरु, **तदतिप्रियं** भुक्तमात्म**शोधकोच्छिष्टं** कुरु, पुरुषोत्तमयोगाध्यायोक्तपदार्थज्ञानात्**कृतकृत्यं च मां कुरु** । 'एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारते'ति गीतातः । **अतिप्रियमात्मशोधकं भक्तेभ्योऽतिप्रियेभ्यो दत्त्वा च कृतकृत्यं मां कुरु** । 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां प्रविमोक्ष' इति श्रुतेः ।

केत्याकाङ्क्षायां श्रीविष्णुस्वामिसंप्रदायानुरोधाद्यथा तद्गृहे आगत्य भुक्तं तथा भुक्त्वा कृतार्थं कुर्वित्याहुः **श्रीति** ।

श्रीकृष्णान्तरस्वरूप स्वकीयस्य गृहे मम ।
आगत्य भोजनं कृत्वा कृतार्थं कुरु मां प्रभो ॥ २४ ॥

हे **श्रिया** सहित **कृष्ण** सच्चिदानन्द हे **आन्तरस्वरूप** 'आनन्दमय आनन्दभुगि'ति नृसिंहतापिनीयश्रुतेः । यद्यपीयं तृतीयचरणनिरूपणेऽस्ति तथापि तुरीयचरणे 'नित्यानन्दं सदैकरस'मिति श्रुतेरानन्दभुक्त्वमस्त्येव सदैकरसं मन्यन्त इत्यस्य रसत्वेनानेकरसत्वप्राप्त्या तन्निषेधार्थमेकरसावबोधोक्तेः मनु अवबोध इति धातुपाठात् । तर्ह्यानन्दमयः प्राज्ञ इत्यायाति । 'प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखश्चतुरात्मा प्राज्ञ ईश्वरस्तृतीयः पाद' इति श्रुतेः । मैवम् । 'नित्यानन्दं सदैकरस'मिति पूर्वोक्तश्रुतेः, अत एवानन्दमयाधिकरणे 'को ह्येवान्यात् कः [illegible] यदेष आकाश आनन्दो न स्यादि'ति श्रुतिर्मीमांसिता, नतूक्ता श्रुतिर्मीमांसिता । अत एवाहुः **स्वकीयस्येति** । मदीयजीवविशिष्टे भोगान्भुङ्क्ते यतः । एतच्च विद्यैवेति सूत्रभाष्य उक्तम् । **कृतार्थं** हृदि भगवत्प्राकट्यवन्तं **मां कुरु** । एतादृशस्य हृदि भगवत्प्राकट्यं भवतीत्याहेति भाष्यात् तथा च **कृतः अर्थो** हृदि भगवत्प्राकट्यं येन स तथोक्तः । **अत्र श्रुतिः** 'ता वां वास्तूनि' 'वने वृन्दावने क्रीडन् गोपगोपीसुरैः सह' । **सूत्रं** 'तानि परे तथा ह्याह' । गीतात्रयोदशाध्याये 'सर्वेन्द्रियगुणाभासम्' समाधिभाषा 'अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षज' इति । अथवा श्रुत्यादयः 'सर्वथापि त एवे'त्यादिसूत्रस्थाः, समाधिभाषा तु सैव । मङ्गलभोगपर्यन्तं '**गोपगोपीसुरैः** सहे'त्यतो नन्दयशोदागोपीमात्रेण सह लीलादि भावनीयम् । ततो **जलमर्पयेदिति स्पष्टम्** ।

अत्राचार्याज्ञा कुम्भनदासादीन्प्रति **प्रियेति** ।

प्रियारतिश्रमपरिमलितं वारि यामुनम् ।
समर्पयामि तत्पानं कुरु श्रीकृष्ण तापहृत् ॥ २५ ॥

वारीत्युक्तं चेदितरस्य स्यादतो यामुनमिति विशेषणं **यामुनं** सिकताद्यपीति **वारीति** । **तदपि** न नापि सेवमानानां भुक्तिमुक्तिदा अपि तु **प्रिया** या कदाचित् प्रत्यक्षा, तस्या **रतिः** तत्स्वभावणा एकैकस्मिन्पदार्थे दशलीलाविशिष्टो भगवान्वर्तत इति सुबोधिन्याः । तज्जन्यश्रमेण **परिमलवत्कञ्चित्पदार्थमितं** प्राप्तं तारकादिभ्य इतच्, आधिदैविकसंपृक्तमिति यावत् । मल धारणे भ्वादिरात्मनेपदी सेट् । क्ते रूपमपि प्रियारतिश्रमं परिहातुं धारितमित्यर्थः । तापो ह्याधारे भक्तेच्छया **वार्यपनोद्यधर्मरूपः** । सर्वधर्मकत्वात् । श्रुतिस्तावत् 'ऋतं पिबन्तावि'ति । सूत्रं 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ' इति । 'पुष्पं पत्रं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति । तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन' इति गीताराजविद्याराजगुह्ययोगाध्याये । गुरुपादुकाजिरपूजनं तु पूर्वमेव कर्तव्यम् । मद्भक्तपूजाभ्यधिकेति वाक्यात् । आधिक्यं प्राथम्यम् । तथा च भाष्यम् । गुरौ तु 'शाब्दे परे चे'त्यादिगुर्वभेदेन भगवत्सेवयैव **चारितार्थ्यम्** । पादुकाजितां भक्तिमार्गीयं पूजनं वेदस्तुतौ वर्तते । घटिकानन्तरं कृत्यमाहुः ततः आचमनं **कारयेदिति** । 'दत्त्वाचमन'मिति वाक्योक्ताचमनस्य 'पाद्योपस्पर्शार्हणादीनि'त्यत्राप्यादिपदार्थत्वात् ।

कुरुष्वेति ।

कुरुष्वाचमनं कृष्ण प्रिययामुनवारिणा ।
स्नेहात्मदन्तसक्तान्यभावापाकरणात्मकम् ॥ २६ ॥

आचमनफलस्य शुद्धेः कृष्णगामित्वादात्मनेपदम् । **कुरुष्वेति** । आङ् मर्यादायां चमु अदने अदनमवधिर्यस्य भावे ल्युट् । **आचमनं** हस्तादेः प्रक्षालनम् । **कृष्ण** सदानन्द । **स्नेहात्मानो दन्तास्तेषु सक्ताः अन्यभावाः** स्नेहग्लानिकारकास्तदपाकरणरूपमाचमनम् । तदुक्तं '**स्नेहकला द्विजानी**'ति द्वितीयस्कन्धे । ननु हस्तादेरपि प्रक्षालनं वर्तते किं पुनर्बालभावे सर्वाङ्गप्रक्षालनं भवति । तत्र **सक्तान्यभावाः**

क इति चेन्न । भक्तिमार्गे स्नेहासक्तान्यभावापाकरणस्येष्टत्वेनान्येषामत्रानिष्टत्वात् । नन्वान्यत्रिकमाचमनं किमात्मकमिति चेन्न । ब्रह्मणः फलत्वेऽपि तद्दर्शनादेरवर्जनीयस्वभावस्य फलत्ववद्दन्तप्रक्षालनेऽन्येषामवर्जनीयैप्रक्षालनकत्वाद् अत एव द्वादशस्कन्धोक्तज्योत्स्नात्मकत्वं दन्तानां नोक्तम् । ननु मन्त्रात्मकत्वे विषयस्य विभूतित्वं न तु पूर्णत्वं तथा च भाष्यं स्वाध्यायस्येति सूत्रे मन्त्राद्यधिष्ठातृरूपाणि तु विभूतिरूपाणीतीति चेन्न । एतावद्भुसभाषणमात्रेण मन्त्रत्वाभावात् । 'प्रयोगकरणभूतः शब्दो मन्त्र इत्युक्तं भवती'ति *भावार्थपादभाष्ये मन्त्रलक्षणात्* । *नन्वयमपि भक्तिमार्गीयः* प्रयोग इति चेन्न । तथा सति मन्त्राधीनत्वे पूर्णत्वं भज्येत विषयस्य । तथा च सर्वश्लोकार्थावगमानन्तरं प्रयोगः पुनः श्लोकार्थावगमानन्तरं प्रयोग इति नियमाभावः श्राक्षणवत्प्रयोगात्पूर्वं प्रमितिजनकत्वमात्रम् । ननु साक्षाद्भक्तिर्नास्तीति द्वितीयस्कन्धषष्ठाध्यायसुबोधिन्यां भवतु नाम पूर्णत्वमिति वाच्यम् । तस्याः शास्त्रार्थपरत्वात् । 'शास्त्रार्थतो यदि हरिर्भवतामभीष्टस्तत्पश्यतात्र विवृति'मिति समासौ कारिकायाः ।

नन्वयं शास्त्रार्थो न वेति चेन्न । धर्मे शास्त्रार्थपर्यवसानात् । धर्मिणि तद्वच्छास्त्रार्थस्वाभावात् । धर्मास्तु सर्गादयो दशानन्दस्य लीलात्मकाः संनियोगशिष्टन्यायेनाहुः **स्नेहादिति** ।

स्नेहाद्रतिश्रमजलप्रोञ्छद्राधाकराञ्चलम् ।
स्मृत्वानन्दभरान्नाथ कुरु श्रीमुखमार्जनम् ॥ २७ ॥

गुहां प्रविष्टावित्यधिकरणपरोक्षवाद इति भाष्येणर्तं पिबन्ताविति श्रुतावातपः प्रकटानन्द आतप इति ह्यातपशब्दस्य परोक्षवादः । तद्योग्यो मुखवस्त्रे परोक्षवादः । पूर्वं यामुनं वारि मुखसम्बद्धमिदानीं **स्नेहात्** स्वमुखाद्धेतोस्तद्**रतिश्रमस्य** क्रीडाश्रमस्य **जलं** जातमिति परोक्षवादः । एवमग्रेऽपि । **तत्प्रोञ्छद्राधायाः करस्याञ्चलं स्मृत्वा** यथा निघण्टव इत्यत्र निगन्तव इति परोक्षवादः । निगमयितार इति प्रत्यक्षवादः निघण्टव इत्यतिपरोक्षवादो निरुक्तौ परेषाम् । एवं प्रकृते वैयाकरणानामक्ष्णः श्रोत्रस्य परो वादः परोक्षवादः । या प्रीतिरविवेकानां विषयेषु सा प्रीतिः प्रत्यक्षा तादृशं शब्दान्तरं स्नेहशब्दस्थाने प्रकल्प्य ब्रह्मण्यक्ष्णः परा मुखरूपाः । भक्तानां तु परोक्षस्यापि प्रत्यक्षम् । सा स्नेहपदवाच्या सैव मुखं 'तस्य प्रियमेव शिर' इति श्रुतेः । न च प्रीतिः परोक्षा मुखं प्रत्यक्षमिति शक्यम् । स्नेहपदस्य परोक्षार्थविवक्षणात् । प्रीतिस्त्वक्ष्णः परोक्षा श्रवणस्य न । रतिर्मनःप्रवणता लौकिकी, चेतस्तत्प्रवणताऽलौकिकी, सा परोक्षा क्रीडा वा । 'रमु क्रीडायाम्' इति धातुपाठात् प्रत्यक्षा, पूर्वोक्ते उभये परोक्षे । यद्यपि स्नेहो रतिरिति पर्यायोऽत्र व्याख्याने तथापि प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकब्रह्मासक्तिरूपा रतिः । तज्जन्यश्रमः श्रमस्य श्रम आधिदैविकः । यथा चक्षुषश्चक्षुराधिदैविकम् । तज्जन्यं जलं यमुनाजलं 'सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'ति श्रुतेः । अत्रापि रतिश्रमजलं परोक्षं, जलं प्रत्यक्षम् । प्रोञ्छनमपि प्रोञ्छनस्य प्रोञ्छनमाधिदैविकम् । राधापि ह्यष्टसिद्धेराधिदैविकी राध संसिद्धाविति धातुपाठात् तस्याः कराञ्चलमप्याधिदैविकम् । तं स्मृत्वा स्नेहादिषु तानारोप्य **स्मृत्वा** स्वस्वरूपानन्दस्वस्वरूपामृतपानजानन्दौ मिलित्वाऽन्येऽपि तत्कालिकानन्दा मिलिता **आनन्दभरो** भवत्यस्मात्कारणान्**नाथ** हे आतप **श्रीमुखमार्जनं कुरु** तत्सेवाफलं मद्दामि कुरु । अत्र स्वस्मिन् राधात्वारोपो भावनायां यशोदासखीत्वारोपः । तदुभयभक्तमनोरथपूरणाय सञ्जातरूपे युक्ततमम् । यथाभक्तमनोरथमाविर्भावात् । अत्र गौण्या निर्वाहः । तदुपपादितमेव चमसवदित्यधिकरणे ।

१. दर्शनश्रवणमनननिदिध्यासनादीनाम् । २. वर्जनीयानां प्रक्षालनं वर्जनीयप्रक्षालनं न तद्येषाम् तत्कत्वात् । ३. स्नेहशब्दस्यनेयः स्नेहः तदादिषु पदार्थेषु स्नेहान्मुखस्याचमनजलं प्रोञ्छदाचमनजलं मुखवस्त्रमिति स्नेहादयः ।

उद्धवभावनया सेवामाहुः ततस्ताम्बूलमर्पयेदिति । 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यमि'ति व्याससूत्रादिति भावः । इदमग्रेतनमाकृष्यते **ताम्बूलमिति** ।

ताम्बूलं स्वप्रियावक्त्रसौरभ्यरतिसंयुतम् ।
गृहाण गोकुलाधीश तत्कपोलाभपाण्डुरम् ॥ २८ ॥

स्वस्य सदानन्दस्य **प्रिया** भक्तियुता ब्रह्मानन्दात्मिका तस्या **वक्त्रे** तदिच्छयाविर्भूतेन **सौरभ्यब्रह्मणा या रतिः** क्रीडाव्याप्तिस्तया **संयुतम्** । **ताम्बूलं** पर्णव्यतिरिक्तमपि पर्णमात्रेऽपि प्रियावक्त्रसौरभ्याभावादेवं व्याख्यातम् । तत्कराद्याभपाण्डुरमित्यनुक्त्वा तत्कपोलभेत्याद्युक्तं तत्तन्मुखमात्रयोग्यार्थत्वाय हस्तद्वारेति ज्ञेयम् । **गृहाणेति** हस्तव्यापारादानात् । ग्रह उपादाने 'हस्तौ चादातव्यं चे'ति प्रश्नोपनिषच्छ्रुतेः । उपेति लुप्तषष्ठीकं समीपस्थानां पदार्थानां हस्तव्यापारो हस्ताभ्यामादानं यत्तदुपादानम् । **गृहाण, हे गोकुलाधीश** गोकुल एवैतल्लीलाप्रसिद्धेः ।

तत आरात्रिकं कृत्वा स्नानादिशृङ्गारार्थं विज्ञाप्य स्नानादिकं कारयेदिति । 'पाद्योपस्पर्शार्हणादीनुपचारान्प्रकल्पयेदि'ति वाक्यात् । 'सामनीराजनादिभिरि'ति वाक्याद्वा ।

स्नानादिशृङ्गारार्थं यद्वस्त्राद्युत्तारणं तद् विज्ञापयन्ति स्म **रमणेत्यादि** ।

रमणातिभराद्रात्रौ वस्त्राण्याभूषणानि हि ।
मृगजानि च वस्त्राणि प्रसीदोत्तारयामि ते ॥ २९ ॥

रमणमत्र बालशृङ्गारयोः । 'कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्य' इति व्याससूत्रात् । अतोऽत्र भावनाद्वयं, यशोदा गोपिकानां च भावभेदेन । ततो बालरमणशृङ्गारर**मणयोरतिभरादित्यर्थः** । **मृगजानि** मृगजा कस्तूरिका सास्त्येषु अर्शआद्यजित्यच् मृगजानि **वस्त्राणि** । अर्शआदित्वं नास्तीति चेन् मृगो याञ्चा सा च वैकुण्ठादागमने हिरण्यगर्भस्य, श्रीमदाचार्यजिह्वे भक्तानां तस्याऽविबोध्यानि अलौकिकानि । भक्तमनोरथपूरकत्वाद् मृगजैव वा वस्त्ररूपा जाता । 'यदस्ति यच्चास्ति तत्सर्वं तत्र वर्तत' इति दहराधिकरणे उक्तम् । **तवोत्तारयामि प्रसीदेत्यर्थः** । '**वस्त्रं** पाणिना मृजेदि'ति वाक्यात् ।

स्नानादिविज्ञापनामाहुः **प्रियेति** ।

प्रियाङ्गसङ्गसम्बन्धिगन्धसम्बन्धतो भवेत् ।
कदाचित्कस्यचिद् भावो यतः स्नानं समाचर ॥ ३० ॥

यतः प्रियाया अङ्गसङ्गस्य सम्बन्धी यो गन्धः तस्य सम्बन्धतः कदाचित्कस्मिंश्चित्काले कस्यचित् भगवत्साक्षिकस्य कस्यचित् यदि भावः 'पूर्णाः पुलिन्द्य' इति वेणुगीतश्लोकरीत्या श्रीगोवर्धनसत्सङ्गात् कुङ्कुमादिकृतस्मररुक्शान्त्यर्थं भगवदुपास्थितानां पुलिन्दीनां लक्ष्मीप्रवेशवद् भक्तिस्ततः **स्नानं समाचरे**त्यर्थः । ननु भक्तिर्निविशतां मुक्तो भविष्यतीति चेन्न । अयोग्ये भक्तिप्रवेशे भगवद्विषयीकरणं भक्तविद्विष्टमिति पुलिन्दीनां'गा गोपकै'रित्यत्र योग्यत्वनिरूपणाद् अयोग्यानां पुलिन्दीनामिति । 'चलसि यद्व्रजा'दित्यत्र 'शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छती'त्यनेनाऽयोग्ये शिलतृणादौ भगवत्संबन्धस्य भक्तविद्विष्टत्वम् । भक्तिमार्गमर्यादयैषा विज्ञापना । यद्वा **यत** इत्यन्तं पूर्ववत् । अग्रे ततस्तस्मै भावाय **स्नानं समाचर** । स्नानप्रक्षिप्तगन्धेन भावो भवतीति । यशोदाया मुक्तिर्वाजागरणार्थं गताया बालभावाच्च न तां प्रति तत्प्रतिकूलभावजननम् । तां प्रत्यन्यभावस्य तिरोभावात् । लीलात्मकत्वाद्भावस्य ।

१. सर्वात्मभावभक्त्योः । २. भक्तिः । ३. चेद् यद्यर्थे मनोरमायामिदमपि क्वचिद् द्रष्टव्यम् । ४. जागरितुम् ।

स्नेहेति ।

स्नेहात्मगन्धतैलेन प्रियगन्धातिचारुणा ।
अभ्यक्तो मङ्गलस्नानं कुरु गोकुलनायक ॥ ३१ ॥

स्नेहो गुणस्तदात्मा गन्धो न संभवतीति स्नेहेनात्मा स्वरूपं भगवद्योग्यतारूपं यस्य गन्धयुक्ततैलस्य तेन **तैलेन प्रियो गन्धः** प्रियागन्धः पूत्यग्रगन्धव्यतिरिक्तो वा गन्धः **प्रियगन्धस्तेन चारुणा मङ्गलदिने स्नानं कुरु ।**

स्नेहेति ।

स्नेहात्मगन्धतैलस्य स्नापनाद्गोकुलाधिप ।
वितरात्यन्तिकीं भक्तिं मयि स्नेहात्मिकां विभो ॥ ३२ ॥

भक्तिवर्धिन्यां तनुजासेवाया भक्तिवृद्धिबीजत्वेनोपादानाद् **वितरे**त्युक्तम् । ननु सेवायाः फलं मानसी सिद्धान्तमुक्तावल्युक्तम् । भक्तिवर्धनस्य फलत्वं कुत इति चेन्न । श्रद्धा भक्तिबीजं 'श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यती'ति वाक्यात् । सेवा मानसीसेवायाः कारणम् । व्यसनात्मिका तु सेवा भक्तकृतार्थताबीजमिति । **आत्यन्तिकीं भक्तिं** फलाभिसन्धानरहितां 'मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोग'मिति वाक्यान् मुकुन्दाद्भक्तिसत्कारपूर्वको व्यापारो युक्तः । **स्नेहात्मिकां भक्तिं वितरेति । विभविति ।** मुक्तिदातुरपि भक्तिदाने सामर्थ्यं द्योतितम् ।

श्रीति ।

श्रीसुगन्धोद्वर्तनेन निशाश्रमनिवारणात् ।
उद्वर्तितः कृष्ण भक्तिदानेन कुरु मे कृपाम् ॥ ३३ ॥

चतुरसेवकैः सुगन्धयुक्तमुद्वर्तनं कृतं चेच्छ्रीयुक्तं भवतीतरथा तु कृष्णं शुभ्रं वा भवेत् । उद्वर्तनं उबटनेति लोके उच्यते । तत्करणं पुस्तकेऽस्ति । तथाहि । सठी, कचूरेति लोके तद्वस्तु सेटकद्वयम् । कर्पूरा, कपूरकाचरीति प्रसिद्धा सा पादद्वयपरिमिताऽऽनकद्वयमिता च । **प्रवासं**, वरमीति लोके, तत्पादद्वयानकद्वयपरिमितम् । जटिला, भूतकेशी छडीलो इति लोके सा पादद्वयानकद्वयमिता । तालीसपत्रं तमालपत्रं वा, पत्रेति लोके तदपि पादद्वयानकद्वयम् । मुस्ता, मोथा इति लोके सापि पूर्वोक्तमाना । वेसा, वेसवनोसा इति लोके सापि सार्धसेटकैकपादा च । वालम्, वालो इति लोके तदपि सेटकद्वयम् । उक्तसर्वौषधय एकीकृत्य पक्वाः कृत्वा शुष्काः कृत्वा खण्ड्यन्ताम् । पश्चाद् रुगातुगा तवखीरेति लोके सा पादोनसेटकद्वयमिता । चन्दनं घृष्ट्वा कृताः स्थपट्यः सेटकद्वयानकद्वयाः । चन्दनचूर्णं सपादद्वयसेटकमेतानोषधीनेकीकृत्य पिष्ट्वा वस्त्रपूतान्कृत्वोद्वर्तनं कुर्यात् । 'कस्तूर्या चन्दनेनैव कुर्यादुद्वर्तनादिक'मिति स्कान्दे । **निशेति** आलस्यं स्नानेन निवर्तते **श्रमस्तु** 'मृत्युः श्रमो भूत्वे'ति श्रुतेर्मृत्युरूपः स उद्वर्तनेन निवर्तते । **भक्तीति** करणे ल्युट् प्रकृत्यादित्वादभेदे तृतीया । भक्तिदानकरणीभूता **कृपा** तां **कुरु** । कृपापदस्यानुग्रहे गौणी । तेनानुमानिकाधिकरणे विज्ञानकरणत्वेऽपि भक्तिदानकरणत्वं कृपायाः । परस्मैपदार्थ उक्त एव ।

आलस्यदूरीकरणाय स्नानमाहुः **दिवेति ।**

दिवा त्वद्वनगमनस्मरणात्तापभावतः ।
गोपिकास्पर्शनोष्णेन वारिणा स्नापयाम्यहम् ॥ ३४ ॥

ननूष्णेन वारिणा स्नापयाम्यहमित्येतावता चातितार्थ्ये 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यमि'ति

व्याससूत्रात् । तदुक्तं सिद्धान्तरहस्ये 'सर्वेषां ब्रह्मता तत' इति 'निवेदिभिः समर्प्यैव **सर्वं कुर्यादिति** स्थितिरि'ति च । स्पर्शनान्तं तु परं किमर्थमिति चेन्न । 'ऋतं पिबन्ता'विति श्रुतौ **सर्वेषां ब्रह्मतारूप**प्रकारस्य प्रस्तावनाङ्गीकारात् । तदुक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्यां 'कृष्णसेवा सदा कार्ये'ति । 'तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः । आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेदि'ति । **तथा च स्नान**वारिणि कृष्णविचिन्तनं **दिवात्मनो वने गमनस्य स्मरणाद् यस्तापो** विरहतापः सोऽपि **भावो** भक्तिदः ततो गोपिकास्पर्शनवदुष्णः स्पर्शो यस्य वारिण इति । ननु गोपिकास्पर्शनोष्णत्वचिन्तनं न कृष्णविचिन्तनमिति चेन्न । 'सर्वरस' इतिश्रुत्या कृष्णस्यैव सर्वरूपत्वेनास्य कृष्णविचिन्तनत्वात् । अत्र श्रीभागवतम् 'चन्दनोशीरकर्पूरकुङ्कुमागुरुवासितैः । सलिलैः स्नापयेन्मन्त्रैर्नित्यदा विभवे सती'ति ।

स्नानेति ।

स्नानार्द्रतानिवृत्त्यर्थं प्रोञ्छिताङ्ग विभो मम ।
दूरीकुरुष्व गोपीश कृपया लौकिकार्द्रताम् ॥ ३५ ॥

प्रोञ्छितान्यङ्गानि यस्य तस्य संबोधनं **प्रोञ्छिताङ्ग** भोः **कृपया**नुमानिकाधिकरणोक्तया लौकिकेष्वार्द्रतां स्नेहात्मिकां **दूरीकुरुष्व** विज्ञानतननाल्लौकिकार्द्रतातननं प्राप्तम् । गीतायां ज्ञाननिरूपणे 'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'ति वाक्यात् । मयीति **विश्वस्मिन् भक्तिः** प्राप्ता तामन्यत्र **दूरीकुरुष्व** । आत्मनेपदं तु लौकिकस्नेहदूरीकरणरूपफलस्य 'मदन्यत्ते न जानन्ती'ति पद्योक्तान्यज्ञानाभावे साधनद्वारोक्तस्ववाक्यसत्यकरणेन भगवद्रूपकर्तृगामित्वात् ।

विप्रयोगकालेऽपि वक्ष्यमाणकीर्तनभक्तिसंप्रयोगाय संयोगशृङ्गारावसरे विप्रयुक्तब्रह्मस्वरूपशृङ्गारं वक्तुं विरहे भजनमतिदिशन्ति स्म **गोपिके**त्यादि ।

गोपिकावद्विप्रयोगे कालक्षेपाय सर्वथा ।
कृष्णमूर्तिं प्रियां कृत्वा भजेत्तत्तत्स्वभावतः ॥ ३६ ॥

विप्रयोग इति । ननु कथं विप्रयोगो यावता निबन्धे मूर्तौ कृताः कटकाद्युपचाराः साक्षात्कृता भवन्ती'त्युक्तमिति चेन्न । कृष्णस्य मूर्तिरिति भेदनिर्देशात् । तथा च श्रुतिः 'योऽर्चयेत्प्रतिमां मां चे'ति गोपालतापिनीयस्था । तर्हि निबन्धस्य का गतिरिति चेन्न । विष्णुस्वामिमतपरत्वान्निबन्धस्य, समासौ विष्णुस्वामिमतवर्तिश्रीवल्लभविरचित इति दर्शनात् । तथा च **शास्त्रार्थे** सुबोधिनीद्वितीयस्कन्धस्य, साक्षाद्भक्तिर्नास्त्येवेति, इत्थं च विष्णुस्वामिमतेन संयोगकाले प्रेमवशाद्विप्रयोगवर्तने **कालक्षेपाय भजेत्** । तदुक्तं शाण्डिल्यर्षिणा 'संयोगे वियोगवृत्तिः प्रेमे'ति सूत्रे । वृत्तिर्वर्तनम् । तद्वद्वियोगे संयोगवर्तनमपि प्रेमेति तद्भाष्यकारः । एवं संयोगे विप्रयोगस्तस्मिन् । चतस्रो घटिकाः शृङ्गारस्य संयोगे विप्रयोगे च यदा कदाचिदधिका न्यूना वा घटिका भवन्ति तदा 'अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिरि'ति वाक्यान्न चिन्ता । अत्रापि पूर्वं मधुपर्को ज्ञेयः । 'दिव्यं पयोदधिमधुघृतखण्डसमन्वितम् । मधुपर्कस्य पात्रे वै दधान्मे श्रद्धयार्चक' इति मार्गशीर्षमाहात्म्ये स्कान्दात् । न च स्कान्दस्य तामसत्वेनाप्रामाण्यमिति शङ्क्यम् । तदप्रामाण्यस्य ग्रन्थान्तरे खण्डनात् । बहिर्मुखमुखध्वंसाख्ये ग्रन्थे निपुणतरमुपपादनात् । विविधोपचारेषु मधुपर्कस्यापि निवेशो वा । 'मुख्योपहारैर्विविधैश्च पूज्य' इति रामतापिनीयश्रुतेः । एवं वित्तजसेवाविप्रयोगेऽपि गोपिका यथा विप्रयोगकाले भजन्ति तथा भजेत् । प्रथमान्ताद्वतिः । व्रजरत्ना यां काञ्चिद्धरिमूर्तिं प्रियां कृत्वा भक्तवत्सः 'आनर्चुर्नृप सैकती'मिति वाक्यात् । श्रीमदाचार्यवत् । अत्र 'कृष्णमूर्तिः

सदा ध्येया' 'दर्शनं स्पर्शनं स्पष्ट'मिति वाक्ये । अत्र प्रयोगे यत्र मूर्तिकर्मकार्चनवाक्याय कर्तृत्वेन प्रतिपाद्यत्वं तत्र हरिमूर्तिभक्तत्वमिति व्याप्तिः । **सर्वथेति** सर्वैः प्रकारैस्ते च 'कामादीतरत्रे'ति सूत्रोक्ता ब्रह्मत्वकामुकत्वभयानकत्वद्विष्टत्वसम्बन्धित्वस्नेहविषयत्वभक्तिविषयत्वरूपाः । अत्र द्विष्टत्व-भयानकत्वरूपौ प्रकारौ भक्तिमार्गे चिन्त्यौ । **तत्तत्स्वभावत** इति तेन श्रीविष्णुना तस्य श्रीपुरुषोत्तमस्य स्वभावस्तस्मात् । 'अलङ्कारप्रियो विष्णुरि'ति श्रीपुरुषोत्तमोऽप्यलङ्कारप्रियः भूमोऽ-प्रियः क्रीडनकानि प्रियाणि श्रीपुरुषोत्तमस्य । यद्वा 'इन्द्रस्य युज्यः सखे'ति श्रुतेरिन्द्रेण समानानि शीलव्यसनानि श्रीपुरुषोत्तमस्येतीन्द्रस्वभावेन श्रीपुरुषोत्तमस्वभावमनुमाय भजेदित्यर्थः ।

ननु 'शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती । मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता' तत्र का मूर्तिः प्रिया कार्येत्याकाङ्क्षायां मनोमयीमाहुः **भावेत्यादि** ।

भावोत्थविप्रयोगेऽपि न स्थातुं शक्यते यतः ।
अतः स्वकृतैर्भावैर्भूषयेत्तं मनोमयम् ॥ ३७ ॥

मूर्तिद्वारापि प्रेमलक्षणाभक्त्युत्थविप्रयोगेपीत्यर्थः । **स्वकृतैर्**मनोगतैः **भावैः** स्मरणकैः स्मरण-स्यापि भक्तित्वात् । **मनोमयमि**ति यथा 'तोये तोयपुरस्कृतै'स्तथा मनोमयं मनोमयैर्भूषयेदित्यर्थः । 'मनो ब्रह्मेति व्यजानादि'ति श्रुतेः । न त्वानन्दमयं तस्य मूर्तित्वाभावेनाष्टमूर्तिष्वप्रवेशात् । विज्ञान-मयस्य जीवत्वाज् जीवे भजननिषेधात् ।

शृङ्गारे कीर्तनभक्तिमाहुः **व्रजेशेति** ।

व्रजेश रसरूपात्मन् शृङ्गारं रचयाम्यहम् ।
स्वीकुरुष्व तदीयात्वात्स्वप्रियायत्कृतं निशि ॥ ३८ ॥

व्रजेश तव **शृङ्गारं** महाराजोपचाररूपमीशत्वाद्र**चयामि स्वीकुरुष्व** भक्ताधीनतायाः स्वीकारफलस्य स्वगामित्वादात्मनेपदम् । अन्यथा व्रजेशः कथं स्वीकुर्यात् । अत एव **तदीयत्वा-**दित्युक्तम् । तदीयत्वं प्राप्याहमित्यर्थः । अयं भक्तः शास्त्रीयोतः 'ऋतं पिबन्तौ' इति श्रुत्यनुरो-धयतो **निशि स्वप्रियया यत्कृत**मिति शृङ्गारविशेषणम् । **प्रिया** रमा तत्कृतशृङ्गारस्यापि ब्रह्मा-नन्दत्वात् । ननु शास्त्रीयभक्तस्य निरुक्तशृङ्गारोऽनुचितः । फलाध्याये 'सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्य' इति सूत्रस्यादिपदा'द्भगवद्वशीकरणसमर्थः स्नेहः प्रभ्वनिङ्गितार्थत्यागस्तदनुरूपं भजनं चे'ति भाष्यस्य विरोधादिति चेत्तत्र संबोधनमाहु **रसरूपात्मन्निति** । रसरूपमात्मनि यस्य, रसरूपः आत्मा यस्येति वा । ननु नवनीतचोरस्य शृङ्गारे कर्तव्ये कथं निशि स्वप्रियायत्कृतमिति शृङ्गारविशेषणमिति चेन्न । स्वप्रियाङ्गीकारात् । प्रिया माता वा 'आऊ गोपाल शृङ्गार बनाऊं' अस्मात्कीर्तनात् । रसरूपात्मन्नित्यत्र भक्तिरसात्मन्नित्यर्थः ।

गन्धार्पणमाहुः **कुचेति** ।

कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यमङ्गरागमतिप्रियम् ।
श्रीकृष्ण तापशान्त्यर्थमङ्गीकुरु मदर्पितम् ॥ ३९ ॥

अङ्गरागं सुवासिततैलादि तदप्यतिप्रियं स्वस्य । इतरद्विशेषणं पूर्ववत् । तापोऽङ्गराग-निराकरणीयः पदार्थः । प्रियाविरहतापो वा प्रियास्मारणात् । **अङ्गीकुर्वि**ति परस्मैपदमङ्गीकारफलस्य प्रेम्णः परगामित्वात् । जलपात्रमपि बोध्यं ताम्बूलं च । 'वस्त्रोपवीताभरणपत्रस्रग्गन्धलेपनै'रि-त्येकादशस्कन्धीयसप्तविंशाध्यायस्थवाक्यात् ।

वस्त्रार्पणमाहुः **प्रियेति** ।

प्रियाङ्गतुल्यवर्णानि वस्त्राणि व्रजनायक ।
समर्पयामि कृपया परिधेहि दयानिधे ॥ ४० ॥

प्रियाङ्गेत्यादिपूर्ववद् ब्रह्मानन्दत्वाय । ननु लोहितशुक्लनीलरूपाणि प्रसिद्धानि न परं पीतहरितकपिश-चित्ररूपाणीति चेन्न । त्रिविधरूपभेदत्वादन्येषाम् । तथा च श्रुतिः, 'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्येति यद् धूम्रं तद्वायोरि'त्याथर्वणीश्रुतिरित्यनन्तानि रूपाणीति प्रस्थान-रत्नाकरेऽस्ति । वस्त्राणि यथाकालं 'देशकालविभागविदि'ति चतुर्थस्कन्धवाक्ये दैशिकविशेषणात् । **कृपये**त्यत्र परिधानकारणं कृपा गृह्यते न विज्ञानकारणं वाक्यं पूर्वमुक्तम् ।

अलङ्कारार्पणमाहुः **भूषणेति** ।

भूषणान्यवतारात्मकान्येतान्यर्पयामि ते ।
प्रियाङ्गतुल्यकान्तीनि प्रसीद व्रजसुन्दर ॥ ४१ ॥

अवतारात्मकानि द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यां सप्तमाध्याये यथर्षभावतारो 'लसन् महारत्न-हिरण्मयाङ्गद' इति 'नाभेरसावृषभ' इत्यत्र निरूपितः । हयग्रीवो हि स्फुरन्महारत्नकिरीटकुण्डलरूपः । नृसिंहो भगवान् कौस्तुभरूपः । यो हरिः स वनमाला । वामनो हि कटिमेखलारूपः । नूपुरकङ्कणादीनि मन्वन्तरावताररूपाणि । **प्रियाङ्गे**त्यादि विशेषणं पूर्ववत् । **व्रजसुन्दरे**ति संबोधनं तदनुरूप-शृङ्गाररूपभजनार्थमुक्तभाष्यात् ।

प्रियेति ।

प्रियानासाभूषणस्थबृहन्मुक्ताफलाकृतिम् ।
समर्पयामि राधेश गुञ्जाहारमतिप्रियम् ॥ ४२ ॥

प्रियाणां नासाभूषणानि तत्स्थानि बृहन्ति मुक्ताफलान्यादावन्ते च येषां मणीनां ते तथोक्तास्तेषामिवाकृतिर्यस्य हारस्य तम् । **राधेशे**ति संबोधनं तादृशहारसमर्पणे प्रभ्वनिङ्गितत्यागार्थम् ।

मिलितेति ।

मिलितान्योन्याङ्गकान्तिचाकचक्यसमं विभो ।
अङ्गीकुरुष्वोत्तमाङ्गे केकिपिच्छमतिप्रियम् ॥ ४३ ॥

मिलिता अन्योन्यस्याङ्गकान्तयः पीताङ्गकान्तिः श्यामाङ्गकान्तिश्चोभे मिलिते हरिता कान्तिः लोहिताङ्गकान्तिर्नीलाङ्गकान्तिश्चोभे मिलिते ताम्रवर्णकान्तिस्तयोः कान्त्योः शोभयोः **चाकचक्यं** भास्वरशुक्लं रूपं तेन **समम्** । चाकचक्यं लौकिकशब्दानुकरणं दीधितिवाचकम् । अमरकोशादान्य-त्रिको वा शब्दः । **केकिनां** मयूराणां **पिच्छं अङ्गीकुरुष्वे**त्यात्मनेपदम्, 'मयूराश्चित्रिता येने'ति स्ववक्त्रनिःसृतमयूरचित्रश्रैष्ठ्यजवाक्यसत्यत्वरूपम्, अङ्गीकारफलस्य कर्तृगामित्वात् ।

गोपेति ।

गोपस्त्रीदृक्स्थितं श्रीमच्छृङ्गारात्मकमञ्जनम् ।
शोभार्थं मातृवद्दत्तमङ्गीकुरु व्रजाधिप ॥ ४४ ॥

मातृवदित्यत्र तृतीयान्ताद्वतिः मया **दत्तम्** । ननु शृङ्गारात्मकमञ्जनं मातृवद्दत्तमित्यनु-चितमिति चेन्न । हे **व्रजाधिपे**ति संबोधनाद् व्रजस्य ग्रामीणाः स्त्रियो न चतुराः नागर्यश्चतुरा-स्तस्याधिप इत्यनौचित्याभावाद् अङ्गीकारफलस्य परगामित्वात्परस्मैपदम् ।

कस्तूरीति ।

कस्तूरीतिलकं भाले चित्रं चारु कपोलयोः ।
दृष्ट्वा प्रियाकृतं हृष्टस्तथा मुदमवाप्नुहि ॥ ४५ ॥

ननु बालगोपाले कथमिति चेन्न । प्रियापदस्य मातृवाचकत्वमपीति दोषाभावात् ।

मुखेति ।

मुखाब्जमकरन्दासिलोभेन रसभावतः ।
मधुपायितचित्तानि व्रजरत्नानि तानि ते ॥ ४६ ॥

मुखं भक्तिः साऽब्जं भक्तोष्मापहारित्वात् तस्य मकरन्द आनन्दः भजनानन्द इत्यर्थः । तस्यासेर्लोभेन । मकरन्दः पुण्यं कर्म वा दास्यमिति यावत् सौरभ्यसाम्यात् । अयमर्थः । बह्वीषु भक्तासु कस्याश्चिन्मनोरथेन मन्मथमन्मथरूपेणात्मन आविर्भावे आत्मनः कपोलरिरंसावशादूष्मणि सति कासाञ्चिद्भक्तानां वैराग्योत्कर्षवशात्स्वच्छान्तचित्तानां रसभावः रसः शृङ्गारः स च देवादिविषयो भावः । 'रतिर्देवादिविषये'ति काव्यप्रकाशात् तादृशरसभावतः पाञ्चभौतिकापगमे मधुपायितानि मधुपवदाचारयुक्तानि चित्तानि येषां व्रजरत्नानामतो 'अन्ते या मतिः सा गति'रिति वाक्याद्गण्डसायुज्यालकाभिन्नसारूप्योभयातिक्रमेण मुखाब्जमत्ताद्भुतकस्तूरीरूपता । अतः कपोलयोश्चित्रं चारु कस्तूरीरूपं ते तव तानि प्रसिद्धानि व्रजरत्नानि तान्यपि मधुपायितचित्तानि नान्यानि । अन्येषां भक्तानामन्यत्रालकादौ प्रवेशात् । वाक्यं तु 'यज्ञोपवीते'त्याद्युक्तमेव । 'तथा स्नानपुरःसर'मिति च ।

मालार्पणं सुमनसामाहुः कुेति ।

कुसुमान्यर्पितानीश प्रसीद मयि संततम् ।
कृपासंहृष्टदृग्दृष्ट्या तदङ्गीकृतिशोभितः ॥ ४७ ॥

मालाकारेणार्पितानि 'भक्तिमार्गानुसारेणोपचारा मुख्या' इति निबन्धे दर्शनात् । 'नमः कमलमालिन' इति गोपालतापिनीयश्रुतेः । तदुक्तं स्कान्दे 'जातीपुष्पसहस्रेण यच्छेन्मालां सुशोभनाम्' इति । कृपया संहृष्टानि । यद्वा । संहृष्टानां व्रजरत्नानां दृंशि ज्ञानानि वल्लवीनयनाम्भोजरूपाणि । यद्वा द्वितीयपक्षे नयनाम्भोजरूपाणि वल्लवीनां संहृष्टपदेनोक्तेः । तेषां ज्ञानानां दृष्टिर्भक्तोपरि मोचनं तया तदात्मकमालाङ्गीकृत्या शोभितः । तदुक्तं 'वल्लवीनयनाम्भोजमालिन' इति गोपालतापिनीये ।

'वेणुवादनशीलाये'ति श्रुतेर्वेणुवादनमाहुः प्रियेति ।

प्रियाकारणदौत्यैकभावेनातिप्रियं सदा ।
वेणुं धृत्वाधरे कृष्ण पूरय स्वामृतस्वनैः ॥ ४८ ॥

स्पष्टम् । प्रियाणां व्रजरत्नानामाकारणे, दूतत्वं तदेवैकं मुख्यं भावो प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारस्तेन । 'धूपदीपोपहाराणि दद्यान्मे श्रद्धयार्चकः' इति वाक्ये उपहारान्तर्गतो वेणुरिति भागवतमार्गः ।

आदर्शार्पणमाहुः प्रियेति ।

प्रियानखात्मकादर्शे विलोक्य वदनाम्बुजम् ।
व्रजाधीश प्रमुदितः कृपया मां विलोकय ॥ ४९ ॥

आदर्शविशेषणं पूर्ववत् । सेवाफलमवान्तरमभीष्टमकार्षुः । कृपया ज्ञानकारणभूतया मां

विलोकय प्रबोधनयुतं कुरु । परस्मैपदं प्रबोधनस्य परगामित्वात् । 'ज्ञानी चेद्भजते कृष्णं तस्मान्नास्त्यधिकः पर' इति वाक्यात् स्वेच्छयाऽस्मिंल्लोकेऽभीष्टं कृतं प्रबोधनम् ।

एवं शृङ्गारं कृत्वा सिंहासने उपवेश्य सामग्रीमग्रे स्थाप्य व्रजस्त्रीकरेत्यादिसार्धपद्येन विज्ञाप्य भाषगमित्यादिपद्यद्वयेन विज्ञाप्यानेन पद्येन समर्पयेद् गोपिकेति ।

गोपिकाभावतः स्नेहाद्भुक्तं तासां[1] यथा ।
मदर्पितं तथा भुङ्क्ष्व कृपया गोपिकापते ॥ ५० ॥

गुप्तरसे स्पष्टोऽस्यार्थः । 'न रोधयति मां योग' इत्यारभ्य 'यथा भक्तिर्ममोर्जिता' 'भक्त्याहमेकया ग्राह्य' इत्येकादशद्वादशाध्याये । अत्र श्रीभागवते मार्गे गोपीवल्लभभोगो न दृश्यते अतः सामान्यतः प्रमाणमुक्तमन्यच्च 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति । तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः' इति वाक्ये द्रव्यानियम उक्तः । तेन भक्तिहंसोक्तदिशा वेदाविरोधे लोके च सर्वभोगोपपत्तेः । ततो यथावदाचमनं कारयित्वा ताम्बूलमर्पयेत् ।

ततो दुग्धफेनं दुग्धं चार्पयेत् स्वर्णेति ।

स्वर्णपात्रे पयःफेनपानव्याजेन सर्वतः ।
अभ्यस्यति प्राणनाथः प्रियाप्रत्यङ्गचुम्बनम् ॥ ५१ ॥

स्वर्णपात्रं प्रियाङ्गतुल्यकान्तित्वेन प्रियाङ्गं पयोधररूपं पयआधारपात्रत्वात् 'सर्वकाम' इति श्रुतेः । कस्यचित् सुकृतराशेरात्ममनोज्ञत्वे तेन प्रियाप्रत्यङ्गचुम्बनं त्वया क्रियत इत्युक्ते स्वर्णपात्रे पयःफेनपानं क्रियते मयेति स्वर्णपात्रे पयःफेनव्याजरूपं तेन व्याजेन सर्वतः सर्वं प्रियाङ्गाङ्गचुम्बनम् । वीप्सायां प्रतिः । अभ्यस्यति पुनः पुनः कथयति । तथा च सर्वं प्रियाप्रत्यङ्गचुम्बनं प्राणनाथः स्वर्णपात्रे पयःफेनव्याजेन पुनः पुनः कथयतीत्यर्थः । बालस्तु प्राणनाथः प्रियाया मातुर्भोगरूपं पयोधररूपमङ्गं तस्य चुम्बनं न पानं पानस्य दुग्धकर्मकत्वात् । दुग्धं पिबतीति प्रत्ययात् तत्स्वर्णपात्रे पयःफेनपानव्याजेनाभ्यस्यति यथा पूर्वोक्तो महानभ्यस्यति तथानुकरोति ।

एवं गुहां प्रविष्टाविति सूत्रभाष्योक्तरीत्योक्त्वा संप्रदायप्रदीपोक्तरीत्या श्रीभागवतमार्गेणेति निबन्धोक्तरीत्या श्रीहरिरायजिद्भावनयाहुः गोपेति ।

गोपार्पितपयःफेनपानं यद्भावतः कृतम् ।
मदर्पितपयःफेनपानं तद्भावतः कुरु ॥ ५२ ॥

मालामुक्तायोक्तं समर्पणीयं यद्भावतो व्रजे धारोष्णदुग्धत्वेन । किंच तन्मध्ये सूक्ष्मं सुवर्णपात्रं पयोमहापात्रे ज्ञेयम् । ततः पुनराचमनं कारयित्वा ताम्बूलमर्पयेत् । अत्रापि मुखवस्त्रं योजितं देयम् । ततः पायसादिकमर्पयेदिति मूलम्, आदिपदेनोत्सवादौ भोगविशेषः पायसेन सहैव, जलपात्रं चादिपदार्थः धूपदीपतुलसीशङ्खोदकानि च ।

व्रजेति ।

व्रजस्त्रीकृतशृङ्गारानन्तरं तद्गृहे यथा ।
अभोजि पायसं ताभिः सह भुङ्क्ष्व तथैव मे ॥ ५३ ॥

---

१ वटबीजन्यायेनाह ।

स्पष्टम् । ततः पुनराचमनं कारयित्वा ताम्बूलमर्पयित्वा आरात्रिकं कुर्यात् । अत्रापि माला ।

अमङ्गलनिवृत्त्यर्थं मङ्गलावाप्तये तथा ।
कृतमारात्रिकं तेन प्रसीद पुरुषोत्तम ॥ ५४ ॥

तृतीयमारात्रिकमिदं क्वचिल्लुप्तं स दोषो नित्यत्वात्सेवायां नास्ति तदुक्तं पूर्वमीमांसायाम् । ननु स्कान्दे मार्गशीर्षमाहात्म्ये नृसिंहपरिचर्यायां च 'सर्वं संपूर्णतामेति कृते नीराजने सुते'ति सर्वसंपूर्णतावाप्तये 'नीराजनमिदं नाथ प्रीयतां मधुसूदने'ति प्रीत्यवाप्तये चारात्रिकस्य निरुक्तेः कथममङ्गलनिवृत्त्याद्यर्थमिति चेन्न । स्कान्दस्य तामसत्वेन 'तामसा निरयायैवे'ति वाक्यप्रसरात् । सर्वं संपूर्णतामित्यस्य मानसीपूजामन्त्रत्वात् । अतो'ऽचलत्वं चापेक्ष्ये'ति सूत्राभासोक्तभक्तेच्छयाऽमङ्गलनिवृत्त्याद्यर्थमारात्रिकं साधु, घण्टादीनां वादनं 'सामनीराजनादिभि'रित्यत्रादिपदार्थत्वात् । अश्रुतघटस्थापनापेक्षया पुराणादौ स्मृतस्य घण्टावादनादेर्ज्यायस्त्वात् 'सामनीराजनादिभि'रिति भागवतवाक्यात्सामश्रुतिः । सेवापूर्त्यर्थमिति स्कान्दे । स्पष्टमन्यत् ।

नवनीतचौर्यादीनां प्रेङ्खशायनमाहुः प्रेम्णेति ।

प्रेम्णा मत्प्रेङ्खशयनदोलने श्रीयशोदया ।
सिताद्यमर्पितं भुक्तं भुङ्क्ष्वेदं च तथैव मे ॥ ५५ ॥

बालानामतिमहतामप्यन्यप्रेङ्खशयनं न दोषाय । प्रेमवशत्वादात्मनस्तदाहुः प्रेम्णा मत्प्रेङ्खेति । वर्तमानेन त्वयेति शेषः । आद्यपदेन त्वक्सहिता मज्जा शीर्षफल, बीणि, खर्जूरिका, द्राक्षादीनि खण्डशकलानि च बदाममीजी गरी चिरौंजीति लोके प्रथाणां पूर्वेषां समाख्याः । अधुना तु नवनीतथपडीस्वल्पमोदकाद्यपि । पिष्टसिताखण्डे च जलभृङ्गारः । इदं चेत्यत्र चकारः समुच्चये । पूर्वोक्तं प्रत्यक्षगमित्यर्थः । इदं सेवायाम् । पूर्वोक्तं गृहे । अन्येषां स्वरूपाणां भावनया शय्यायां शायनं श्रीयशोदादिभावनं च ।

अग्रेतनकृत्यमाहुस्ततोऽग्रे क्षणं क्रीडार्थमक्षादीन्निवेदयेत् ।

क्रीडारूपात्मकैरक्षैः क्रीडार्थं स्थापितैः प्रभो ।
क्रीडां कुरु महाराज गोपिकाभिश्च राधया ॥ ५६ ॥

आदिपदेन क्रीडनकानि व्याघ्रबकरी, शतरञ्जिका । क्रीडारूपात्मकैरिति नव सात्त्विकादिभेदाः । सत् चिद् आनन्दाः विभावोऽनुभावः सञ्चारिभावो निर्गुण इति मिलित्वा षोडश क्रीडारूपाणि । धीरा, अधीरा, धीराधीरारूपा अक्षास्त्रयः । अक्षबिन्दवश्चतुर्दश तेषां सङ्ख्यातात्पर्यं षट् तथैकः पञ्च द्वौ च । षट् धर्माः, एको धर्मी, पञ्च महाभूतानि, जीवपरमात्मानौ द्वौ । पट्टिकाखण्डानि षण्णवतिः षोडश शृङ्गाराः पुंसः षोडश स्त्रियाः मिलित्वा द्वात्रिंशच्छृङ्गाराश्चतुःषष्टिकलाः एवं षण्णवतिः । शतरञ्जिकाशयः 'द्वात्रिंशच्छृङ्गाराः क्रीडनकरूपाः, चतुःषष्टिखण्डानि कलारूपाणि, द्वौ क्रीडाकर्तारौ, द्वौ द्रष्टारौ मिलित्वा शतं जातम् । व्याघ्राजाशयः विंशतिरजानां सात्त्विकादिनवैकादशेन्द्रियभेदेन । व्याघ्राश्चत्वारः पुष्टिमार्गीयधर्मार्थकाममोक्षरूपाः द्वौ चेद् धर्ममोक्षात्मकौ धर्ममोक्षरूपकोटेरर्थकामकोटेरुत्कृष्टत्वात् । द्वात्रिंशत्खण्डानि द्वात्रिंशच्छृङ्गाररूपाणि स्त्रीपुरुषभेदेन । एवं क्रीडारूपाण्यक्षादीनि भक्तेच्छया तत्र तत्र स्थिताभिर्गोपीभी राधया च । श्रीहरिरायजितां भावनया वेणुवेत्रे अपि श्रीहस्ते धर्तव्ये ।

मालामुत्तार्य राजभोगसमर्पणमाहुः ततो राजभोगं समर्पयेच्छ्रीमदिति ।

श्रीमद्राधाङ्गसौगन्ध्यागरुधूपार्पणाद्विभो ।
भावात्मकृतसामग्र्यां भोगेच्छां प्रकटीकुरु ॥ ५७ ॥

अगरुधूपार्पणस्य विशेषणं पूर्ववच्चन्दनधूपार्पणस्योपलक्षकम् । तेन मुक्तः कृतसामग्रीको भवति । 'मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्' इति व्याससूत्रात् । धूपार्पणेन मुक्तत्वं तु तत्त्वसागरे 'कृष्णागरुसमुत्थेन धूपेन श्रीधरालयम् । धूपयेद्वैष्णवो यस्तु स मुक्तो नरकार्णवा'दिति नृसिंहपरिचर्यायाम् । भोगेच्छाकारणत्वेन भक्तान्याज्ञातुरात्मनः । सामग्रीज्ञानार्थं विशेषणम् । भावात्मेति । भावो भक्तिर्दास्यरूपा तस्यामात्मा स्वरूपं यस्याः कृतसामग्र्याः । तथा च 'मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि' इति वाक्ये तत्पदार्थो भक्तत्वावच्छिन्नस्तत्र भक्तत्वं भक्तिरेव । तस्यामात्मा स्वरूपं यस्या इति सामग्र्या आत्मज्ञानविषयत्वम् । ततो जानातीच्छति यतत इति प्रणाड्या भोगेच्छां प्रकटीकुर्वित्युक्तम् ।

दीपः समर्पितो भोग्यरूपार्थाप्रदीपने ।
तद्दीपनेन चोद्दीप्तभावो भोजनमाचर ॥ ५८ ॥

प्रदीपने प्रकाशने । ननु सूर्यप्रभाप्रकाशितेऽन्ने प्रकाशकान्तरदीपापेक्षाभाव इति चेन्न । भूयः प्रकाशवेशान्मन्दिर आगच्छत आत्मनः प्रथममपेक्षाभावे गानाभावात् । उद्दीप्तभावस्तूद्दीप्तस्नेहः 'धूपदीपोपहाराणी'ति श्रीभागवतम् । नारदीयकल्पे तु 'सघृतं गुग्गुलं धूपं दीपं गोघृतदीपितम् । समस्तपरिवाराय हरये श्रद्धयार्पयेदि'त्युक्तम् ।

धूपदीपावुक्त्वोपहाराण्याहुः अजेति ।

अजलीकरयुग्मात्मयक्षे पात्रं च तन्मयम् ।
स्थापितं ते भोजनार्थं योग्यभोज्यान्नसम्भृतम् ॥ ५९ ॥

व्याख्यातम् ।

गुप्तरस इव प्रकारमाहुः स्वर्णेति ।

स्वर्णपात्रेषु दुग्धादि दध्याद्यं राजतेषु च ।
मृत्पात्रेषु रसालाद्यं भोज्यं सद्रोचकादिकम् ॥ ६० ॥
राजते नवनीतं च पात्रे हैमे सिता तथा ।
यथायोग्येषु पात्रेषु पायसव्यञ्जनादिकम् ॥ ६१ ॥
सूपौदनं पोलिकादि तथान्नं च चतुर्विधम् ।
भुङ्क्ष्व भावैकसंशुद्धं राधया सहितो हरे ॥ ६२ ॥

सद्रोचकं सन्धितं तदादिकमादिपदेन निम्बार्द्रकादि । यथायोग्यानि पात्राणि । श्रीपद्मपुराणे 'नैवेद्यपात्रं वक्ष्यामि केशवस्य महात्मनः । हैरण्यं राजतं कांस्यं ताम्रं मृण्मयमेव च । पालाशं पद्मपत्रं वा पात्रं विष्णोरतिप्रियम्' । इति नृसिंहपरिचर्यायाम् । सूपशब्देन 'दारि' इत्युच्यते लोके तद्भाषम् । पोलिका रोट्यः आदिपदेन बाट्यः । चतुर्विधमन्नं भोज्यं तण्डुलादि, लेह्यं शिखरिण्यादि, चोष्यमिक्षुदण्डादि, पेयं दुग्धादि । भावैकसंशुद्धं भक्त्यैकसंशुद्धं सिद्धान्तरहस्योक्तरीत्या । नवनीतप्रियजित्स्वरूपे राधाशक्तिर्बाला वा भावनीया । अत्र भावना गुप्तरसे स्फुटैव, उपहाराणीत्यत्र

श्रीभागवते उपहारान्तरमुक्तम् । 'गुडपायससर्पींषि शष्कुल्यापूपमोदकान् । संयावदधिसूपांश्च नैवेद्यं सति कल्पये'दिति 'पच्यन्तां विविधाः पाका' इति श्रीगोवर्धनप्रसङ्गे ।

उपहारपदस्य नैवेद्यवदन्यत्रापि वृत्तेराहुः कम्बुनेति ।

कम्बुनाज्ञातिप्रियश्रीशङ्खान्तर्गतवारिणा ।
दृष्ट्यादिदोषाभावाय सामग्री प्रोक्षिता विभो ॥ ६३ ॥

कम्बुर्गलकस्तन्नाम्नातिप्रियः श्रीशङ्खो गलकशङ्खः । तथा च विश्वः 'कम्बुः शम्बूकगजयोर्ग्रीवागलकशङ्खयोः' अमरः 'कम्बुर्ना वलये शङ्खे' इति । कम्ब गतौ मृगय्वादिः । काम्यते वा । एकदेशान्वयः । तदन्तर्गतवारिणा । भक्तिमार्गानुसारेणाहुः दृष्ट्यादिदोषेति । आदिपदेनाज्ञातास्पृश्यतादोषः । तदुक्तं 'नाद्यं तडागजं वापि वापीकूपादिकं च यत् । गाङ्गेयं जायते सर्वं जलं शङ्खे कृतं सुत । त्रैलोक्ये यानि तीर्थानि मम वै याज्ञया सुत । शङ्खे तानि वसन्तीह तस्माच्छङ्खो वरः स्मृत' इति स्कान्दे । याज्ञयेत्यत्र इ आज्ञयेति छेदः । श्रीभागवते च 'अपां तत्त्वं दरवर' इति । यद्वा कम्बुर्वलयस्तन्नाम्ना कम्बुना गृहीतः शङ्खोऽतिप्रियो भवति । राधाशृङ्गारत्वाद्वलयस्यान्यत्पूर्ववत् । प्रायपाठाद् यथाव्रजस्त्रीकरयुग्मात्मेति यन्त्रविशेषणम् । 'व्रजस्त्रीकरयुग्मात्मयन्त्रे पात्रं च तन्मयमि'त्यत्र तथा च वलयस्मारककम्बुपदेन शङ्खाभिधानादृतं पिबन्ताविति श्रुत्युक्तस्वरूपामृतपानात्मकः शङ्खभोग आत्मनः सिद्धः । न च शङ्खभोगो न वलयभोग इति वाच्यम् । सर्वं सर्वमयमिति श्रुतेर्वलयस्य स्मारकपदप्रयोगे वलयस्यापि भोगाङ्गीकारात् ।

प्रक्षिप्तेति ।

प्रक्षिप्ता तुलसी तेऽतिप्रियगन्धा तथैव च ।
कुरुष्व तेनातितुष्टो भोजनं व्रजनायक ॥ ६४ ॥

अतिप्रियेति । तदुक्तं ब्रह्मपुराणे 'तुलसीदलगन्धेन मालतीकुसुमेन च । कपिलाक्षीरदानेन सद्यस्तुष्यति केशवः' इति । राजसत्वेऽपि पुराणस्य समबलत्वं समोत्कर्षः समं प्रामाण्यं परेषाम् । अस्माकं बलोत्कर्षयोः साम्यासहनमिति बहिर्मुखमुखध्वंसे कल्याणरायाः । तथैव भक्तराधास्रग्गन्धत्वे नैवेद्यत्यर्थः । तेनातितुष्ट इत्यत्रातिपदम् । अतिप्रियेत्यत्रापि । वाक्यं तु गरुडपुराणे भगवतः 'तुलसीं प्राप्य यो नित्यं न करोति ममार्चनम् । तस्य तां प्रतिगृह्णामि न पूजां शतवार्षिकीम्' इति । इदं सात्त्विकं पुराणम् । 'भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय' इति श्रीभागवतम् । एवमुक्तं श्रीगरुडपुराणे 'तुलसीदलसम्मिश्रं हरेर्यच्छति यः सदा । नैवेद्य'मित्यादि 'भाषणं मा त्यजे'ति श्लोकचतुष्टयेन समर्पयेदिति मूलम् । अत्रार्घपात्रेऽर्घो ज्ञेयः । विष्णुरहस्ये 'सौवर्णे रम्यपात्रे तु मणिरत्नविभूषिते । तोयाद्यष्टाङ्गसम्पूर्णं स्वामिनेऽर्घं ददामि ते' इति वचनात् । यद्यपि नृसिंहपरिचर्यायां मानसीसेवायां पादप्रक्षालनानन्तरमनेन वाक्येनार्घ उक्तस्तथा स्कान्दे 'अर्घ्यं दद्याततो वत्स पाद्यमाचमनीयकमिति पादप्रक्षालनमर्घ्यानन्तरमुक्तं तथापि प्रयोगभेदात्पाठक्रममनादृत्य क्रमान्तरेण नैवेद्यसमये बोध्यः । तदित्थम् । 'श्रद्धयोपहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम वार्यपि' । 'गन्धो धूपः सुमनसो दीपोऽन्नाद्यं च किं पुनः ।' 'भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ।' इत्येकादशसप्तविंशाध्याये भगवदुपदेशः । तत्र भक्त्या क्रमेण नैवेद्यसमयेऽर्घः । एकत्र सिद्धः शास्त्रार्थोऽपरत्रापि तथेत्यतिदेशस्य निर्बलत्वाद्भगवदुपदेशापेक्षया । पूर्वतन्त्रे पञ्चमस्यैकादशाधिकरणे आचार्येषु ह्यात्मभेदबुद्धेर्महापराधेषु गणनं यद्यपि तथापि लौकिकदृष्टिमतो भक्तस्येच्छया पादुकाजितामुत्सवेषु नित्यदा वा राजभोगसमर्पणं पादुकाजितामाहुः ततः श्रीमदाचार्येषु समर्पयेदिति ।

कीर्तनभक्तिमपि तदर्थमाहुः स्वार्थेति ।

स्वार्थप्रकटसेवाख्यमार्गे श्रीवल्लभप्रभो ।
निवेदितस्य मे भोज्यं स्वास्ये कुरु हुताशन ॥ ६५ ॥

'मायावादतमोनिरस्य मधुभित्सेवाख्यवर्त्माद्भुतं, श्रीमद्गोकुलनाथसङ्गमसुधासंप्रापकं तत्क्षणात् । दुःप्रापं प्रकटं चकार करुणारागातिसंमोहनः स श्रीवल्लभभानुरुल्लसति यः श्रीवल्लवीशान्तर' इति स्फुरत्कृष्णप्रेमामृतात्स्वार्थप्रकटसेवाख्यमार्गः । भोज्यं चतुर्विधान्नम् । हुताशन कृष्णवर्त्मन् । पानीयपात्रमपि ज्ञेयम् । घटिकाद्वयं भोगं प्रस्थाप्यानन्तरं कृत्यमाहुः । ततो यथावदाचमनं कारयित्वा ताम्बूलमर्पयेदिति, अत्र मुखवस्त्रं द्रष्टव्यम् । 'मुखवासं सुरभिमत्ताम्बूलाद्यम्' इति श्रीभागवतवाक्यात् । आचार्येभ्योऽपीति ज्ञेयम् । किञ्च 'मद्भक्तपूजाभ्यधिके'ति वाक्यात्सस्वबालकपादुकाजितामपि ताम्बूलान्तं समर्पयेत् । 'पितृदेवो भवे'ति श्रुत्या भक्तः स्वपितृभ्योऽपि पादुकाजिद्द्वारा योग्यं कुर्यात् । 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ' इति श्रुतिः ।

ततो भोजनपात्रस्थले मार्जनं कुर्याद् गोकुलेशेति ।

गोकुलेश तवोच्छिष्टलेपात्पात्रप्रमार्जनात् ।
स्वत्सेवान्तरधर्मेषु रतिर्भवति निश्चला ॥ ६६ ॥

भोजनपात्राणां मार्जनं च कुर्याद् इति पङ्क्तिकार्थः । श्लोके उच्छिष्टलेपमालोक्य पात्राणां प्रकृष्टं मृदादिभिर्मार्जनं तस्मात् । स्वत्सेवातोऽन्यधर्माः पात्रप्रमार्जनादयस्तेषु । रतिः पूर्वं वर्तते सेवान्तरधर्मेष्वपि प्रवृत्तत्वात् । इदानीं नित्यदा करणान्निश्चला । अन्तरपदं मध्यवाचि वा ।

ततश्चरणयोस्तुलसीं समर्पयेत् प्रियेति ।

प्रियाङ्गगन्धसुरभितुलसीं ते पदप्रियाम् ।
समर्पयामि मे देहि हरे देहमलौकिकम् ॥ ६७ ॥

तुलसीविशेषणं पूर्ववत् । पदप्रियाम् 'कच्चित्तुलसि कल्याणि गोविन्दचरणप्रिये' इति वाक्यात् । देहमिति । तुलस्याः पदसमर्पिताया अलौकिकदेहदातृत्वं पद्मपुराणे 'सुकृती दुष्कृती वापि तुलस्या योऽर्चयेद्धरिम् । देहान्ते दिव्ययानेन विष्णुभक्तैः स नीयत' इति । देहमन्तरा यानेन नयनासंभवात् ।

प्रसीदेति ।

प्रसीद पूजितो मत्या तुलस्या प्रियगन्धया ।
निःकिञ्चनाधीश नान्यत्कर्तुं शक्नोमि सर्वथा ॥ ६८ ॥

तुलस्याः गोविन्दचरणप्रियत्वात् प्रसीद । अन्यत्पुष्पमालादि । सर्वथा सर्वैः प्रकारैः देहेन मूल्येनाज्ञया वा । तादृशदेहवान् मूल्यवानाज्ञावांश्च नास्मीति देहादीनां प्रकारता । ननु निःकिञ्चनस्य कथं सेवेति चेन्न । यतो निःकिञ्चनानामधीश 'धर्मान्सन्त्यज्य यः सर्वान्मां भजेत्स च सत्तम' इत्येकादशस्कन्धदशमेऽध्याये । 'न्यासादेशेषु धर्मत्यजनवचनतोऽकिञ्चनाधिक्रियोक्ते'ति । ननु गीता कुतो नोक्ता 'सर्वधर्मान्परित्यज्ये'त्यादिः । गीतायाः प्रकृतित्वाभावात् । एकादशाध्यायस्य लघुसमार्गस्यैकोनत्रिंशाध्यायोक्तस्य प्रकृतित्वात् । धनी पुष्पमालाः पुष्पमण्डपादिकं कुर्यादेव । वीटिकासमर्पणमपि । ततः पादपीठादिकमर्पयेत् । आदिपदेन जलपात्रं मुखवस्त्रं दर्पणपुष्पकालवेन्दूसात्रं मलार्थं चन्दनपात्रं च व्यजनानि च सिंहासने उभयपार्श्वयोः स्थापनीयानि । सिंहासनखण्डास्तरणं

दन्तादिक्रीडनकानि तष्टी भूमितुलिका विष्वगास्तरणं शीतकाले, उष्णकाले लम्बतूलिकास्तरणं तूलासनद्वयं पीठकशय्याग्रयोः । वक्रवेत्रद्वयं वा चतुष्टयं वा त्रयं वा कन्दुकद्वयं तच्चतुष्टयं तत्त्रयं वा । 'मुखवासं सुरभिमत्ताम्बूलाद्य'मिति वाक्यीयाद्यपदात् ।

पादपीठसमर्पणे कीर्तनमाहुः हृदिति ।

हृत्पङ्कजात्मकं स्वर्णपादपीठं समर्पितम् ।
पादौ धृत्वा गोकुलेश हृत्तापं समपाकुरु ॥ ६९ ॥

सर्वात्मभाववद्भक्तानां हृत्पङ्कजात्मकं सर्वात्मभावस्य भगवत्कृतदानसाध्यत्वेनाक्षरात्मकं हृत्पद्मं वा भक्तसाधारणम् । पादयोः पङ्कजत्वेन तापापाकरणसामर्थ्यात्तापमपाकुरु । पादौ धृतौ पादपीठे हृद्भक्तनिष्ठं तस्य तापापाकरणं 'सर्वतः पाणिपादं त'दिति वाक्यात्पादयोः सर्वत्र सत्त्वात् ।

ततः आरात्रिकं कृत्वा विज्ञापयेद् भक्तार्थेति ।

भक्तार्थाविर्भूतरूप कृष्ण ते चरणाब्जयोः ।
सर्वाशुभविनाशार्थं न्यस्तः पुष्पाञ्जलिः शुभः ॥ ७० ॥

पृथास्तुतौ 'भक्तियोगवितानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः' 'भक्ताया भुव उद्धारो भारहारान्निरूपित' इत्यादौ भक्तानामर्थे अविर्भूतरूपः कृष्णस्तस्य संबोधनम् । पुष्पाञ्जलिरिति भक्तिमार्गानुसारेण मुख्या उपचारा इति पुष्पाणां मालास्ता उक्ताः श्रद्धालुश्चेत्करोतु कश्चित् कदाचित् ।

अनेन पुष्पाञ्जलिमर्पयेद् अमङ्गलेति ।

अमङ्गलनिवृत्त्यर्थं मङ्गलावाप्तये तथा ।
कृतमारात्रिकं तेन प्रसीद पुरुषोत्तम ॥ ७१ ॥

व्याकृतम् । अनुक्तमपि नमस्कारमनेन कुर्यात् । 'प्रसीद भगवन्निति वन्देत दण्डवदि'ति वाक्यात् । अत्रापि प्रसीद पुरुषोत्तमेति दर्शनात् । तदुक्तं गरुडपुराणे 'अन्नं चतुर्विधं पुण्यं गुणाढ्यं चामृतोपमम् । निष्पन्नं स्वगृहे यद्वा श्रद्धया कल्पयेद्धरेः । नैवेद्यं परया भक्त्या घण्टाद्यैर्जयनिःस्वनैः । नीराजनैश्चाहरहः पश्चादापोशनं बुधः । अथ भुक्तवते दत्त्वा जलैः कर्पूरवासितैः । आचमनं च ताम्बूलं चन्दनैः करमार्जनम् । पुष्पाञ्जलिं ततः कुर्याद् भक्त्यादर्शं प्रदर्शयेत् । नीराजनं ततः कार्यं कार्पूरं विभवे सती'ति ।

नक्तंशयनार्थं विज्ञापनस्य वक्ष्यमाणत्वान् मध्याह्ने शयनार्थं विजिज्ञपुः पञ्चभिः प्रीत इत्यादिभिः ।

प्रीतो देहि स्वदास्यं मे पुरुषार्थात्मकं स्वतः ।
स्वदास्यसिद्धौ दासानां न किञ्चिदवशिष्यते ॥ ७२ ॥

'तं भजेदि'ति गोपालतापिनीये दास्यमुक्तं तस्य साधनसाध्यत्वेन दानमनुपपन्नमत उक्तं स्वस्यात्मनो दास्यं सर्वात्मभावरूपं निरोधलक्षणग्रन्थोक्तं तत्तु साधनासाध्यं 'मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्' 'प्रदानवदेव तदुक्त'मितिस्मृतिसूत्रवाक्याभ्याम् । 'पुरुषभूषण देहि दास्यम्' इति पञ्चाध्याय्याम् । अतः प्रीतो देहि स्वदास्यं म इत्युक्तम् । पुरुषार्थात्मकमिति । तच्च 'अतस्त्वितरज्यायो लिङ्गाच्च' 'तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्य' इति सूत्रद्वये साधनाध्यायोपान्त्य उपपादितम् । श्रीभागवते च 'तत्रैव परया निर्वृत्या ह्यपवर्गमात्यन्तिकं परमपुरुषार्थमपि स्वयमासादितमपि नो एवाद्रियन्ते भगवदीयत्वेन परिसमाप्तसर्वार्था' इति । अत एवोत्तरार्धं 'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना' इति च

वाक्यम् । 'भक्तिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मोर्थो हरिरेव हि । कामस्तस्य दिदृक्षैव मोक्षः कृष्णस्य चेद् ध्रुवम्' इत्याचार्यकारिका ।

एतावदिति ।

एतावदेव विज्ञाप्यं सर्वथा सर्वदैव मे ।
स्वमीश्वरोसीङ्गितं ते क्षुद्रोऽहं न विदामि हि ॥ ७३ ॥

इङ्गिताज्ञाने सेवा न संभवति । भगवदीयत्वस्य च पुष्टिमार्गीयमोक्षत्वादेतावदेव विज्ञाप्यमन्यत्साधनसाध्यमिति । निप्राय गां ददातीत्यत्र स्वानुमतिप्रकाशनवत् । विज्ञापनद्वारा स्वानुमतिः प्रकाशितात्र । गोवत् सर्वात्मभावदास्यं दास्यतीति सर्वथा सर्वेषु साधनसाध्यतदितरेषु प्रकारेषु । सर्वदा सर्वकालेषु आपत्संपत्स्वपि । तत्तत्सेवाकाल इङ्गितं 'इङ्गितं गतिचेष्टयोः' इति विश्वात् । चेष्टायाः कालत्वात् । क्षुद्रोऽल्पोंऽश इति यावत् । 'क्षुद्रः स्यादधमक्रूरकृपणाल्पेषु वाच्यवत्' इति विश्वात् । विदामीति विदधातुर्लाभे तुदाद्युभयपदी लभ इत्यर्थः । तादृशकाललाभफलं परगामीति परस्मैपदम् ।

तुष्टुवुः स्तवैः परमकारुणिक इति ।

परमकारुणिको न भवत्परः परमशोच्यतमो नहि मत्परः ।
इति विचिन्त्य सदा मयि किङ्करे यदुचितं व्रजनाथ तथा चर ॥ ७४ ॥

पूर्वश्लोकसङ्गतिस्तु प्रसादयुक्तो हि ददातीति प्रसादानन्तरं स्वदास्यदानविज्ञापनम् । स्वदास्ये इङ्गितलाभः कारणमितीङ्गितलाभविज्ञापनं तदनन्तरं वैराग्योत्कर्षात्स्वस्मिन्विचिकीर्षितमधीष्टीक्रियते 'निवेदितात्मा विचिकीर्षितो म' इति वाक्यात् ।

किञ्च कियानिति ।

कियान्पूर्वं जीवस्तदुचितकृतिश्चापि कियती
भवान् यत्सापेक्षो निजचरणदास्ये बत भवेत् ।
अतः स्वात्मानं स्वं निरुपममहत्त्वं व्रजपते
समीक्ष्यास्मन्नेत्रे शिशिरय निजास्याम्बुजरसैः ॥ ७५ ॥

कियान्पूर्वं जीवोऽणुरित्यर्थः । अणूचितकृतिश्चापि कियत्यण्वीत्यर्थः । यस्याः कृतेः सापेक्षो यत्सापेक्षो भवान् साधनसापेक्षो बत इति खेदे भवेत् । मर्यादायां साधनसापेक्षोऽहं भवाम्येवेत्यत आहुर्निजचरणदास्य इति लक्ष्मीवद्भवेदित्यर्थः । चरणदास्ये लक्ष्म्या अधिकारात् । पुष्टिफले दास्य इति चरणपदेन ज्ञाप्यते । व्रजभक्तभावेन भजतः फलं नित्यलीलायां प्रवेश इत्यर्थः । अतस्तादृशफलानुरूपसाधनाभावात् स्वात्मानं निःसाधनजनोद्धारकं 'अहृथापूतमि'ति वाक्यात् । स्वं महत्त्वं जीवन्मुक्तेऽप्यणुत्वसमानाधिकरणमतोऽनुग्रहमात्रात् तन्निष्ठाकृतिरपि महती पुष्टिफलोपयुक्ता तु निरुपममहती निरुपममहत्त्वं च स्वम् । निजास्यमेवाम्बुजं तस्य रसैरास्वादनैः तदनुभवैरित्यर्थः । विरहस्य 'सेवित' इत्यनेन वक्ष्यमाणत्वाद्विरहतप्ते नेत्रे शिशिरयेत्यधीष्टम्, अधीष्टे लोडिति ।

किमित्यधीष्टीक्रियते पुष्टौ प्रवृत्त्यर्थं साधनानां नियमानत्वान्मर्यादायां स्थितेरुत्कर्षाद्यथाशास्त्रं साधनानि विधीयन्तामित्याशङ्कमानं प्रत्याहुर्भगवन्तं स्वदोषानिति ।

स्वदोषान् जानामि स्वकृतिविहितैः साधनशतै-
रभेद्यांस्त्यक्तुं चापटुतरमना यद्यपि विभो ।

तथापि श्रीगोपीजनपदपरागाञ्चितशिराः
स्त्वदीयोऽस्मीति श्रीव्रजनृप न शोचामि मुदितः ॥ ७६ ॥

स्वदोषा 'गुणदोषौ शुभाशुभा'विति वाक्यादशुभाः संशोध्या अशुचित्वबाहिर्मुख्यादयस्तान् । ते च जलकूपीटयोनिश्रीभागवतानुसन्धानैः साधनैः संशोध्यन्तां इति चेत्तत्राहुः **साधनानां शतं** यत्र तादृशैः **स्वकृतिविहितैर्वस्तुभिरभेद्यान्** भेत्तुमयोग्यान् आसमन्तात् पुष्टिफलाय **पटुतरं** साधनं यथा भवति तथा तान**भेद्यांस्त्यक्तुं** च न शक्नोमि इति शेषः । ननु पुष्टावत्यन्तानुग्रहेतरसाधना-साध्यत्वात्साधनोक्तिर्विरुद्धेति चेन्न । 'संयोगे वियोगवृत्तिः प्रेमे'ति शाण्डिल्यसूत्रभाष्ये वियोगे संयोगवृत्तिरपि गृहीतेति तां वृत्तिमादाय दोषाभावात् । अपटुतरो ह्यनापथपीति वा पाठः । तर्हि शोचय दोषसत्त्वे भक्त्यभावादिति चेद् 'एतं ह वा व न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवमि'ति श्रुतेश्चैवंविदं शोको न तपतीत्याहुः **तथापीति । श्रीगोपीजना** आविद्याकलाः परि-दृश्यमानाः तासामचतुरश्रीगोपीनां **पदपरागो** धूलिस्तत्पूजित**शिराः** गोप्यो मेघवद्वर्षन्ति घनस्त-दर्शितलीलेन शिरोधृतं रजोऽतस्त्व**दीयोऽस्मी**त्यनुमाय पुष्टिर्भव्यस्तीति दोषाणां भक्त्यप्रतिबन्धकत्वं चाज्ञाय **प्रमुदितो न शोचामि** अतः संबोधनं **व्रजनृपे**ति व्रजस्य निःसाधनस्य नृप ।

एवम्, 'आन्तरं तु परं फल'मिति 'सेवित' इति श्लोके वक्ष्यमाणपरफलार्थमपि विज्ञाप्य प्रास-ङ्गिके मध्याह्नशयनगोचारणेष्वीष्टेऽकार्षुः **प्रियेति** ।

प्रियासङ्केतकुञ्जीयवृक्षमूलेषु पल्लवैः ।
कृतेषु भावतल्पेषु क्रीडन् गोचारणं कुरु ॥ ७७ ॥

'मुदा चन्द्रावल्याः कुसुमशयनीयादि रचितु'मित्यादि श्रीगोस्वामिग्रन्थे । **भावतल्पेष्विति** बहुवचनेनेदानीन्तनकृतशय्यामन्दिरतल्पसङ्ग्रहः । कृतमार्जनमन्दिरवस्त्रशय्यामन्दिरे शय्यायाः कृतसेवाया यथाकालं तदुपर्याच्छादिताया दक्षिणपार्श्वे शय्याभोगं तदधोदेशे जलपात्रं च निधाय वामपार्श्वे ताम्बूलतष्टीमालाव्यजनानि चतुष्पट्टिका सूक्ष्मसिंहासनं च स्थापयेत् । 'मुखवासं सुरभिमत्ताम्बूलाय'-मिति वाक्ये आदिपदात् । भावनात्वत्र श्रीहरिरायाणाम् । ततश्च 'इति शेषां मया दत्तां शिरस्याधत्य सादर' इति वाक्योक्तं मालाताम्बूलादि ग्राह्यम् । पुष्टिमार्गीयं विलासं हृदि स्वाधीष्टमकार्षुः ।

सेवित इति ।

सेवितोऽत्र हरे रन्तुं गृहे मञ्जुव्यात्मके ।
निमीलयामि दृग्द्वारं विलसैकान्तसद्मनि ॥ ७८ ॥

'तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदिकृत्वे'ति फलप्रकरणे वाक्यम् ।
ततो वस्त्रप्रक्षालनादिकं कुर्याद् वस्त्रेति ।

वस्त्रप्रक्षालनाद्दुष्टसंसर्गजमनोमलम् ।
महत्सेवाबाधरूपं मम कृष्ण निवारय ॥ ७९ ॥

'अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः । तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं पर'मिति वाक्याद् दुष्टसंसर्गजमनोमलनिवृत्तिकामनया **वस्त्रप्रक्षालनं** 'स्वयं परिचरेद्भक्त्या वस्त्रप्रक्षालना-दिभि' रिति सेवाप्रकरणे निबन्धस्य । आदिपदेन पुस्तकावलोकनमहाप्रसादग्रहणशयनव्यवहारादि ।

सायंसेवामाहुः । ततश्चतुर्थप्रहरे प्रसुप्तं प्रबोध्य फलादिकमर्पयेदिति । षड्घटिकात्मके दिने उर्वरिते प्रसुप्तं भगवन्तं प्रबोध्य गावो गोपाश्च व्रजे जिगमिषवोऽतः शीघ्रं जागृहीत्यादिभावनोक्त-प्रकारेण व्रजभक्तशब्दानुकरणेन प्रबोध्य फलमूलकन्दादिकमर्पयेदित्यर्थः ।

समर्पणे कीर्तनभक्तिमाहुर्यथेति ।

यथा गोवर्धने भुक्तं फलमूलादिकं हरे ।
रामेण सखिभिः सार्धं पुलिन्दीभिः समर्पितम् ॥ ८० ॥
तथा फलादिकं सर्वं भुङ्क्ष्व भावार्पितं मया ।
पुलिन्दीवद्भावदानात् सार्थकं जन्म मे कुरु ॥ ८१ ॥

गोवर्धने श्रीगोवर्धनसमीपे 'वटे गावः सुशेरते' इतिवत्सामीप्ये सप्तमी । **पुलिन्दीभिरिति** । 'पूर्णाः पुलिन्द्य' इत्यत्र व्याख्याने ता अप्युपभुक्ता इत्युक्त्या सान्निध्यात् । 'हन्तायमद्रि'रित्यत्र कन्द-फलमूलादिकं पुलिन्दीभिराहृतं श्रीगोवर्धने स्थितं तदादिभिः समर्पितं प्रकरणाच्च 'उभयाकाङ्क्षा हि प्रकरणम्' प्रमाणमिति पूर्वतन्त्रकाराः । पुलिन्दीनां पूर्णत्वेन फलाद्याहार्याकाङ्क्षा फलादीनामाहारकाकाङ्क्षा एवं च साहचर्यादुभयोरङ्गाङ्गिभावः । **भावार्पित**मित्यत्र भावः क इत्यपेक्षायामाहुः **पुलिन्दी-वदिति** । पुलिन्दीनां यथा भावो दत्तः 'पूर्णाः पुलिन्द्य' इत्यत्रोक्तः स्मररूपः स तुभ्यं श्रीराधा-श्रीसखीभ्यां मन्थरगत्या निकुञ्जे नीताय व्रजभक्तैर्दृष्टाय व्रजतरुणीकण्ठे हस्तायोत्थापनभोगं समर्प्य यतो मम जात इति । एतावत्पर्यन्तं जन्म निष्फलं गृहे त्वां सेवमानस्य वने गमनाभावादपूर्णलक्षणमिदानीं तु वनभावनाया अत्र मन्दिर एव कृतत्वात् कुङ्कुमादि मुखादौ तिलकादिरूपेण लेपयित्वोपस्थितस्य स्मरण-रूपच्छमनरूपं तादृशकुङ्कुमाद्यर्थेन सह वर्तमानं **सार्थकम्** । ननु कुङ्कुमिदानीतनानां कुङ्कुमतिलकरूपं वैष्णवलिङ्गं न तु तच्छमनाय लक्ष्मीप्रवेशद्वारमिति चेन्न । भावशमनार्थं धारणं भाववतामविरुद्धमिति । एतादृशं **सार्थकं मे** मम **जन्म कुरु** । अत्र किं मानमिति चेन्न । 'एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वाऽपि पूजयेत्' इति निबन्धः श्रीभागवतं च 'अथार्हयेदि'ति । वाराहेपि षोडशे च 'ततः सायं प्रकुर्वीत मम पूजां तु भक्तितः । नानाविधानि खाद्यानि फलानि विविधानि च । नवनीतं दधि क्षीरं घनमाज्यं सुगन्धितम् । विकारानैक्षवांश्चापि शर्करादीन् स्वशक्तितः । निवेद्य मां सताम्बूलं दक्षिणां च स्वशक्तितः । ततो नीराजयित्वा तु प्रणम्यापि च भक्तित' इति । अत्र व्यवस्था श्रीमदाचार्याणामाज्ञया विधीयते । 'सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छये'ति नवरत्नात् । विष्णुरहस्ये च 'अविज्ञाय विधानोक्तां हरिपूजाविधिक्रियाम् । कुर्वन्भक्त्या समाप्नोति शतभागं विधानत' इति । शतांशं फलं शतभागम् । तत्र भगवतांश्चाचार्याणां कुम्भनदासादीन् पृच्छतः प्रत्याज्ञा । नानाविधानि खाद्यानि शयनभोगे, उत्थापन-समये तेषां दुःकरत्वाच्च । अतः फलानि विविधानि कन्दमूलफलानि समर्पणीयानि । विकारानैक्षवां-श्चापि शर्करादीनपि, सन्ध्याभोगे शीतलपानकरसादिकं नार्पयेदित्याज्ञया उत्थापने समर्पणीयम् । जल-पात्रं पुनर्भर्तव्यं तदाज्ञात एव । भावनाप्यत्रास्ति महानुभावानाम् । ननु पुराणपाठक्रमो बलीयानाचार्यो-पदेशत इति पाठक्रमोऽस्तु हीति चेन्न । पुराणस्याप्राप्तविधिनापि चारितार्थ्ये श्र्याचार्योपदेशस्यानुष्ठान-स्मारणायैवाभिव्यक्तस्य बाधनायासामर्थ्यात् । तदिदं पूर्वतन्त्रे पञ्चमस्य नवमाधिकरणे चिन्तितम् ।

ततो घटिकानन्तरं भोगं विसृज्याचमनमुखवस्त्रताम्बूलमालोत्थितवेणुवेत्रचतुष्पाद्यः समर्प्याः । तदनन्तरं कृत्यमाहुः । ततो व्रज आगच्छन्तं विज्ञापयेद् बलभद्रादय इति ।

बलभद्रादयो गोपा गावश्चाग्रे च पृष्ठतः ।
गोपिकावेष्टितो मध्ये रणद्वेणुर्व्रजागमात् ॥ ८२ ॥
दिवा विरहजं तापं व्रजस्थानां यथाहृतम् ।
तथा मल्लोत्थने नाथ शिशिरीकुरु संततम् ॥ ८३ ॥

प्रागेव श्रीगोवर्धननगे वेणुं कणन्नारूढस्तदाज्ञया **बलभद्रादयो** बलभद्रसंघट्टिनो **गोपाः गावश्चाग्रे** तत्रापि गावः **पृष्ठतः । च** पुनरात्मनो गोपाः गवां पृष्ठतः सर्वासां स्वयमात्मा कमलहस्त एकाकी वनं दृष्ट्वा स्वगोपेष्वागत्य वने दिदृक्षुभक्तदर्शनार्थं सार्थं त्यक्त्वाऽग्रेऽग्रे गत्वा भक्तान् रहस्यस्थलं प्रदर्श्य **ताभिर्गोपिकाभिर्वेष्टितो मध्ये रणद्वेणुर्बलभद्रादिसर्वसहितो व्रजस्यागमात् दिवा विरहजं तापं व्रजस्थानां** गोगोपिकानां गृहस्थितानां गोधूलिं दृष्ट्वानेकफलहस्ताना-मनेकखाद्यहस्तानां जलपात्रचतुष्पादीमुखवस्त्रताम्बूलाभरणाचमनपात्रवस्त्रहस्तानां परस्परं दत्तकरताल-कानां सन्ध्याभोगस्वीकारेण हृतवान् । **तापपदस्य** नपुंसकत्वे तथैव । तथा नामैवंप्रकारेण **मल्लोचने शिशिरीकुरु सन्ततं** निरन्तरम् । ततो यत्किञ्चिन्मोदकादि समर्पयेत् । ततो विज्ञापनानन्तरं मोदकादीत्यत्रादिपदेन पूर्वोक्तं व्रजभक्तहस्तगतं सर्वम् ।

कीर्तनमाहुः **श्रीति** ।

श्रीमन्नन्दयशोदादिप्रेम्णा भुक्तं व्रजे यथा ।
भोजनं कुरु गोपीश तथा प्रेमार्पितं हरे ॥ ८४ ॥

अत्र भावनानुरोधेनार्थो **श्रीमन्नन्दयशोदे आदौ** यासां व्रजभक्तानामित्यतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । अत एव **गोपीशे**ति संबोधनम् । तत आरात्रिकं कृत्वा शृङ्गारोत्तारणार्थं विज्ञाप्योत्तार्य पयःफेनं पयो वा समर्पयेत् । ततो व्रजभक्तानीतत्वेन स्मृताचमनमुखवस्त्रताम्बूलसमर्पणानन्तरं सखी-बोधितपुत्रागमनलक्तपुत्रविरहया स्वकृतमालार्पितया स्वगृहे नीतपुत्रया पुत्रसंकादितोत्तरीयया कृता-रात्रिकं स्मृत्वारात्रिकं कृत्वा उत्तार्येति ।

अत्र कीर्तनमाहुः **राधिकेति** ।

राधिकाश्लेषान्तरायभूषणोत्तारणात् प्रभो ।
निशि तत्कृतशृङ्गाराङ्गीकारार्थं प्रसीद मे ॥ ८५ ॥

शृङ्गारोत्तारणं तु पूर्वं मुकुटोत्तारणम्, पश्चात् काछनीपदवाच्यकटिवस्त्रोत्तारणम्, एवं क्रमेण यशोदया कृतमेव । **तत्कृतशृङ्गार** उष्णीषादितिलकतन्मुक्ताफलावलियुगलोरिचतमुक्तामालानासा-भूषणचिबुकाभरणकर्णफूलकण्ठमालाकराभरणनूपुरमुद्रिकानखभूषणनीवीरचितः । पयःफेनमित्यादि ।

अत्र कीर्तनमाहुः **व्रजेति** ।

व्रजे स्वानन्दतो दोहं बलेन सह गोपकैः ।
कृत्वा पीतं पयःफेनं तथा पिब व्रजाधिप ॥ ८६ ॥

व्रजे गोस्थाने **स्वानन्दतः** 'आनन्दभु'गिति श्रुतेः, पीतमित्यनेनान्वयि, स्वयं **दोहं कृत्वा गोपकैः** शृङ्गारं रात्र्युचितं कृत्वा वनसंबन्धिनीं वार्तां पृच्छन्त्या यशोदाया अभिमुखे स्थितात्मभगवन्तं धारोष्णदुग्धपानार्थं विज्ञापकैर्गोपकैस्तथानन्दद्वारकत्वेन प्रकारेण **पिब** । ननु नाहं पिबामि, आनन्दः पास्यतीति, तत्राहुः **व्रजाधिपेति** । व्रजस्य स्वीकृतरयाधिप, अहमपि स्वीकृतः, अतः **पिब** । आचमनमुखवस्त्रताम्बूलानि ततः समर्पणीयानि । अग्रिमां व्यवस्थामाहुः । तमोदीपं निवेद्य निशि दुग्धान्नादि समर्प्य शयनार्थं विज्ञाप्य शयनं कारयेदिति ।

तमोदीपनिवेदने कीर्तनमाहुः **वासरीयेति** ।

वासरीयवियोगार्तराधिकास्यावलोकने ।
दीपार्पणाद्गोपिकेश प्रसीद करुणानिधे ॥ ८७ ॥

वासरीयवियोगार्तस्य भगवतो **राधिके**त्यादि । 'अस्यैव चोपपत्तेरूष्मे'ति व्यासस्त्रात् । **राधिकाया** वियोगस्य व्रजागमात् परिहृतत्वाच्च । तमोदीपस्य यत्किञ्चिद्दिवससत्त्वेऽर्पणस्य श्रीमदा-चार्याज्ञाविषयत्वेन निशीत्युत्तरान्वयि फक्किकायाम् ।

निशि दुग्धान्नादिसमर्पणे कीर्तनमाहुर्दुग्धेति ।

दुग्धान्नादि यथा भुक्तं रोहिण्युपहृतं निशि ।
व्रजनायक भोक्तव्यं तथैव हि मदर्पितम् ॥ ८८ ॥

वाराहीयवाक्येपि विविधानि खाद्यानि भक्तसूपशाकसन्धितलवणपर्पटरूपाणि **शयनभोगे** वारा-हीयवाक्ये 'दधि क्षीरं घनमाज्यं सुगन्धितमि'त्यस्मिन् दधि तक्रलक्षकं क्वथितचणकचूर्णादिमिश्रित तक्रलक्षकं च 'कढी'ति लोके 'क्षीरं घनमाज्यं च सुगन्धितम् । एलाकर्पूरयुतं च पेयं तदि'ति गुरुरसात् । क्षीरं च सुगन्धितम् । तत्र दुग्धान्नं यशोदया प्रथमं भोजितमिति **दुग्धान्नादी**त्युक्तम् । **रोहिण्युपहृत**मिति । गोष्ठे गते भगवति यशोदा भक्तसूपादिकं शयनभोगार्थमपचत्, ततो **रोहिणी** पाकरक्षार्थं निरूप्य गोपगोपबालगोपीः पृष्ट्वा गोष्ठं गत्वा भगवन्तमुक्तवती, भोज्यं सम्पाद्य मयागतम्, स्त्रियो गृहे गायन्ति, रोहिणी भोजनकालं प्रतीक्षमाणास्ते इति, ततो भगवन्तमुत्सङ्गे कृत्वा, रामं चैकहस्तेन गृहीत्वा गृहे नीतवती, तदनन्तरं बलं दक्षिणभागे उपवेश्य स्वयं वामभागे उपविवेश, सखी जलपात्रं वामभागेऽधरत्, रोहिणीजित्तु ज्ञात्वा महास्थालीमानीय भगवदग्रे धृतवती, बलं दृष्ट्वा हृष्टवती, तद् **रोहिण्युपहृतं** तथैव पूर्वोक्तरीत्या रोहिण्युपहृतभोक्तृत्वेन । **यशोदाजिद्** दुग्धौदनं प्रथममत्याग्रहेण मुखेऽकरोत् । धूपदीपा[illegible] यथादृष्टं कर्तव्यम् । ततो **घटिकानन्तरं** कृत्यमाहुः' ततस्ताम्बूलाचमनादिकं विधाय, आरात्रिकं कृत्वा, शयनार्थं विज्ञाप्य, **शयनं कारये-**दिति । आदिपदेन मुखवस्त्रमालाचन्दनस्थलपद्मजलानि, गुलाबजलमिति लोके । **'शयनं कारये'**दिति वाक्यात् । 'उपगायन्ति'ति स्मरणाद् गानं स्वस्य अन्यस्य वा शयनार्थमित्यादिपूर्वोक्तानुवादः ।

शयनार्थं विज्ञापने कीर्तनमाहुः 'गृणन्ति'ति स्मरणाद् **भावेति** ।

भावात्मकात्मसद्रूपपल्यङ्के शेषरूपके ।
रमस्व राधया कृष्ण शयानो रसभावतः ॥ ८९ ॥

रसभावान् प्राप्येति **रसभावत** इत्यस्यार्थः । तदुक्तम् 'नमामि हृदये **शेषे** लीलाक्षीराब्धि-शायिनम् । लक्ष्मीसहस्रलीलाभिः सेव्यमानं कलानिधि'मिति दशमसुबोधिन्यारम्भे ।

इदं च कीर्तनीयम्, तदाहुः **अयीति** ।

अयि व्रजसखि व्रज व्रजवधूकदम्बाम्बिका-
समर्हणफलीभवच्चरणपङ्कजस्यान्तिकम् ।
नितम्बमिलदम्बरक्कणितहेमदामाङ्गना-
धृतस्य नलिनावलीप्रतिभटप्रभस्य द्रुतम् ॥ ९० ॥

ननु श्रुतिरूपाणां वृत्तान्तं परित्यज्य ऋषिरूपाणां वृत्तान्तपरिग्रहे किं **बीजमिति चेन्न** । अत्र भक्तिवर्धिनीनवरत्नश्रीभागवतोक्तरीत्या सेवोपक्रान्ता, भक्तिवर्धिन्यां तु **'गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।** अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभि'रित्युक्तम्, पूजायामपि **'भक्तिमार्गानुसारेण उपचारा मुख्या'** इति भक्तिमार्गानुसार उक्तः । 'पत्रं पुष्प' मित्यत्र 'कुर्यात् सर्वाणि कर्माणि' त्यादिपद्यत्रिके च भक्तिमार्गानुसारिणां प्रपञ्च उक्तः । अत्र च ऋषिरूपाणां वृत्तान्तप्रसक्तिः, न श्रुतिरूपाणाम् । ता

अन्यपूर्वास्तासां त्यागोऽङ्गम् एतासां तु ह्यत्यागः । 'अत्यागस्त्यागादुत्तम' इति निरूपयितुं साधनप्रकरणे व्रतचर्योक्त्यादि 'हेमन्ते प्रथमे मासी' त्यादिपद्येषु । तट्टिप्पण्यादौ च स्फुटम् । अत ऋषिरूपाणां परिग्रहः । तत्र अयीत्यनुनयः । 'अयि प्रश्नानुनययो'रिति विश्वात् । अत्राधिकारः कृतपुण्यपुञ्जानामृषिरूपासजातीयभाववताम् । तथा चोक्तं महाकौर्मे 'अग्निपुत्रा महात्मानस्तपसा स्त्रीत्वमापिरे । भर्तारं च जगद्योनिं वासुदेवमजं विभु'मिति । पद्मपुराणेऽपि 'दण्डकारण्यवासिनामृषीणां श्रीकोसलेन्द्रे रिरंसाभर उक्तः । व्रजसखीति सम्बोधनं व्रजवधूनां कदम्बः सिद्धार्थस्तद्रूपमम्बिकायाः समर्हणं तत्फलीभवच्चरणपङ्कजं तस्यान्तिकं समीपं व्रज । नितम्बो हि कटितटः स्कन्धो वा, तत्र मिलदम्बरं तत्र क्वणितं शब्दयुक्तं हेमदाम हेमरज्जुः कण्ठाभरणरूपं कराभरणरूपं वा । तत्र ते आलिङ्गनविशेषे । तादृशहेमदामयुक्ताङ्गना-नितम्बमिलदम्बरक्वणितहेमदामाङ्गना तथा तामिर्वा वृतस्य । किञ्च नलिनानां कमला-नामावल्यस्तत्सदृशी प्रभा कान्तिर्यस्य पङ्क्तिसादृश्यमङ्गुलिद्वारा । क्रीडायामनेकत्वमप्येकस्या-विरुद्धं योगिवत् ।

एवमष्टविधकामान्तर्गतोऽमर्यादभोगस्तमाहुः निर्भरमिति ।

> निर्भरं क्रीडतोरालि कुञ्जे विगतवाससोः ।
> अन्योन्यप्रभयैवासीदन्योन्यस्योचितांशुकम् ॥ ९१ ॥

कौ जायत इति कुञ्जः पृषोदरादिः । अन्योन्यप्रभया 'कोटिसूर्यसमप्रभ' इति पुरुषोत्तम-सहस्रनाम्नि नाम्नश्चिक्रीडिषायाः प्रभानियामकत्वेन प्रभाया उचितांशुकत्वम् । नयनतेजोनुपहारकत्वं तत्तदवयवयोग्यत्वमुचितत्वम् । ततोन्योन्यप्रभयेत्यत्र 'प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानमि'ति वार्तिकेनाभेदे तृतीया अन्योन्यप्रभाभिन्नमन्योन्यस्योचितांशुकमित्यर्थः ।

श्रमशयनमाहु रतीति ।

> रतिश्रमशयानयोरलसलोचनाम्भोजयोः
> कलं किमपि कूजतोरभिमुखं मिथः सस्मितम् ।
> रताङ्गभरिताङ्गयोर्मिलितजानुसंवाहने
> पदाम्बुजतलानि मद्धृदि लुठन्तु राधेशयोः ॥ ९२ ॥

किमप्यनिर्वचनीयम् । रता च रतश्च रतौ तौ चाङ्गभरिताङ्गौ च तयोः । अङ्गो भूषणम् । एतादृशराधेशयोः पदाम्बुजतलानि । मिलितानि जानूनि तेषां संवाहनार्थं निमित्ते सप्तमी चर्मणि द्वीपिनं हन्तीतिवत् । मद्धृदि लुठन्तु लुट लुठ उपघाते भ्वादिः परस्मैपदी सेट् प्रार्थने लोट् । 'प्रार्थिते वा ततः किं स्यादि'त्यस्य रत्यतिरिक्तविषयत्वाद् 'रतिप्रादुर्भावो भवतु सततं श्रीपरिवृढ' इत्यत्र तथा निश्चयात् । दाक्षिण्येन गच्छतु । 'उपसामर्थ्यदाक्षिण्ये'ति विश्वाद्, हन हिंसागत्योरदादिः परस्मैपद्यनिट् ।

अतिदुर्लभत्वात्सन्दिहानाः फलाप्तौ संशयमाहुः केलीति ।

> केलीश्रान्तशयानश्रीराधाश्रीशपदसरोजानि ।
> कृपया कृतानि मदुरसि कदानु संलालयिष्येऽहम् ॥ ९३ ॥

नु संशये (नु संशये चेति) अनु पश्चाद्वा 'पश्चात् सादृश्ययोरनु'रिति विश्वकोशे । भक्तर्तृकं संलालनं भविष्यत्कालिकं नु संदिग्धमित्यर्थः ।

विज्ञापनामाहुः प्रातरिति ।

> प्रातः कुञ्जगृहाद्बहिर्यदि समागत्य स्थिता त्वं भवस्य-
> म्भोजाक्षि ददासि चर्वितमिदं चाकार्यं हस्तेन तु ।
> ताम्बूलस्य यदा पुनस्तदिह सच्छिद्रस्य मुक्त्यापि च
> कार्यं किं सततं प्रसीदसि यदि त्वं स्वामिनीत्थं तदा ॥ ९४ ॥

हस्तेनाकार्यं सच्छिद्रस्य मम । सत् छिद्रं जीवरूपं यस्य देहादिसङ्घस्य । पुष्टिफलस्यात्य-न्तानुग्रहसाध्यस्य मुक्तजीवापेक्षाभावेपि मार्गरीत्या ज्ञानिनो मर्यादाभक्तस्य वा मुष्टिमत्त्युक्तेर्न दोषः । मुक्त्यापि कार्यं च किम्, न किमपीत्यर्थः । 'तदापीतेः संसारव्यपदेशा'दिति व्याससूत्राद् अपीतेर्मोक्षस्य । त्वमित्थमहोरात्रं सततं निरन्तरं प्रसीदसि । ननु सायं सेवां विधाय न किञ्चित् कृत्यम्, प्रातः पुनस्ताम्बूलचर्वितग्रहणमिति कथमहोरात्रं सततं प्रसीदसीत्युक्तमिति चेन्न रात्रौ ताम्बूलचर्वितग्रहणानन्दिना स्थितं निद्रा तु सेवायामालस्याभावायेति सततमेवेति । ननु संसारवन्मुक्तेरपि हेयत्वं यत्र तादृशं चेत् पुष्टिमार्गीयं तत्त्वम्, तदा मुक्तेः पुरुषार्थत्वबोधिकायाः श्रुतेः प्रतारकत्वमापततीति तद्बोधकप्रमाणानां तत्स्तुतिमात्रपरत्वमिति चेन्न 'सूक्ष्मं प्रमाणत' इत्यादिसूत्रेऽस्याः शङ्काया निरासात् ।

> एतावती श्रीगोपीनाथजितां पद्धनिरूपा कृतिः ।

ननु सगुणं भक्तेदम्, न तु निर्गुणमिति चेत् तत्राहुः श्रीति ।

> श्रीवल्लभाचार्यमते फलं तत्प्राकट्यमत्राव्यभिचारिहेतुः ।
> प्रेमैव तस्मिन् नवधोक्तभक्तिस्तत्रोपयोगोऽखिलसाधनानाम् ॥ ९५ ॥

निर्गुणं ब्रह्माखिलसाधनान्तर्गतशमाद्युपेतस्याध्यात्मिकचित्तशुद्धिमतो ज्ञानफलमक्षरम्, सगुणं च धारणाश्रयो विराडात्मा, स च 'ततो विराडजायते'ति श्रुतेः पुरुषावतारः । 'अतो ज्यायांश्च पूरुष' इति श्रुतेः । पुरुषस्तु ततो ज्यायान् उभयव्यपदेशाधिकरणोक्तो भक्त्यैकलभ्यः 'यमेवैष वृणुत' इति श्रुतेः । अतो निर्गताः प्राकृता गुणा यस्मात् तत् निर्गुणमितीदं निर्गुणमेव रूपम् । तदुक्तं 'मन्निष्ठो निर्गुणः स्मृतः' इति भगवन्निष्ठस्य निर्गुणत्वे भगवतो निर्गुणत्वे किमु वक्तव्यम् । यत्तु विश्वकोशे प्रकृतिपदं परमात्मनि प्रयुक्तम्, तदपि 'प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्व' इत्यत्र प्रकृतिपदस्य स्वरूपपरत्ववत् स्वरूपे प्रयुक्तम् । यद्वा । एतादृशफलप्राप्तिः कुतः साधनादित्याकाङ्क्षायामाहुः श्रीति । फलं तत्प्राकट्यम् । 'एतेन स्वरूपस्यैव फलत्वमुक्तं भवतीति मुख्यः सिद्धान्तः सूचितो भवती'त्यादि 'आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्ते'रिति सूत्रभाष्यात् । प्रेमैवेति । साधनाध्यायोपान्त्ये 'श्रुतेश्चे'ति सूत्रे 'भक्तिरहस्यभजनं तदि-हामुत्र फलभोगनैराश्येनैवामुष्मिन् मनःकल्पनमेतदेव च नैष्कर्म्य'मिति श्रुतिरुदाहृता । मनःकल्पनं प्रेमापरपर्यायमित्युक्तं प्राक् । नवधोक्तेति वाक्यान्वयाधिकरणे उपपादितम् । तत्रोपयोगो नवधाभक्तावुपयोगः । उपासनायाश्चित्तशुद्धिद्वारा भक्तावुपयोगो भाष्ये ज्ञान उपयोगेपि भक्तावेवो-पयोगो भक्तेर्ज्ञानव्यापारत्वात् । एवं साङ्ख्यं योगश्च [illegible] मुक्तिसाधकौ भिन्नौ । अखिलसाध-नानां धर्मादीनामित्यर्थः । एतच्च 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववद्'दिति सूत्रभाष्ये निरूपितम् ।

'ननूक्तं मर्यादाभक्तिफलं पुष्टिभक्तिफलं केन इत्यपेक्षायां तद्विशेषसर्वात्मभावेनेत्याहुः तत इति ।

> ततो यदिन्दीवरसुन्दराक्षीवृतस्य वृन्दावननन्दितांह्रे[1]'ः ।
> सर्वात्मभावेन सदास्यलास्यमस्यानिशं सानु फलानुभूतिः ॥ ९६ ॥

१. अङ्घ्रेरितिपाठः ।

ततः प्राकट्यानन्तरं **इन्दीवरसुन्दराक्षीवृतस्य वृन्दावननन्दितांहेरस्य सर्वात्मभावेन अनिशं सदास्यं लास्यं यत् सानु फलानुभूतिः**। इन्दीवरं कमलं तद्वत् सुन्दरे अक्षिणी यासां ताभिः संवेष्टितस्य तापापहारिभक्तिमार्गीयज्ञानवतीसंवेष्टितस्य 'स्वामिन्यो गुरव' इति वाक्याद्गुरुसंवेष्टितस्य तस्य तापापहारिभक्तिमार्गीयज्ञानवत्त्वात्। एतादृशस्यांह्रेः भक्तिमार्गे भक्तिरूपांह्रेः सेव्यत्वात्। तदुक्तं 'विधिर्वा धारणव'दिति सूत्रभाष्ये। याभ्यां पद्भ्यां 'हृत्पद्मकर्णिकाधिष्ण्यमाक्रम्यात्मन्यवस्थितम्' समर्चेताम्। तयोर्द्वयोरेकस्य वांह्रेः समर्चनद्वारेश्वरार्चनं मर्यादायाम्, पुष्टौ तु 'वृन्दा भक्ति'रिति कृष्णोपनिषत् तयोपलक्षितं वनं **वृन्दावनं** तत्र **नन्दितस्य** समृद्धितस्यांह्रेः। अयमर्थः। वृन्दावने सच्चिदानन्दो भगवान् सेव्यः, तदुक्तं गोपालतापिनीये वृन्दया वृन्दावनमिति द्वादशमं वनमुक्त्वा 'द्वादशी तु भूम्यां तिष्ठति, ता हि ये यजन्ति, ते मृत्युं तरन्ति, मुक्तिं लभन्त' इति श्रुतौ कृष्णमूर्त्युक्तेः। ननु कथं कृष्णमूर्तिलाभ इति चेन्न। तत्र हि रामस्य राममूर्तिः, प्रद्युम्नस्य प्रद्युम्नमूर्तिः, अनिरुद्धस्यानिरुद्धमूर्तिः, कृष्णस्य कृष्णमूर्तिरित्युक्त्वा 'वनेष्वेवं मथुरास्वेवं द्वादशमूर्तयो भवन्ती'त्यत्र तृतीयावृत्तौ द्वादशी कृष्णमूर्तिर्द्वादशमे वृन्दावने सिध्यतीति। एवं च वृन्दावनसमृद्धितोंह्रिद्वारा 'स्वे महिम्नि प्रतितिष्ठती'त्यंह्रिद्वारा वृन्दावनसमृद्धितो भगवान् सेव्यः। विशेषस्तु स्त्रीभिः समृद्धिस्तद्रूपो वेणुगीते। **अस्य** प्रत्यक्षीकृतस्य 'शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः। त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुज'मिति वाक्यात्। भगवद्दत्तेन सर्वात्मभावेन पुष्टौ लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणोक्तेन**ानिशं** सदा **सदास्यं** दास्येन सह वर्तमानं **लास्यं** तौर्यकम् 'लास्यं तौर्यत्रिक' इति विश्वात्। तुर्यमेव तौर्यं तौर्यमिव यथावदज्ञातं वा तौर्यं तौर्यकं देवं 'देवस्तुर्यो विभुः स्मृत' इति मण्डूकोपनिषदः। एतादृशं दास्यं यत् **सा अनु** मर्यादाभक्तिमनु पश्चात् **फलं** भजनानन्दस्तस्या**नुभूतिः**। **सर्वात्मभावेने**त्यभेदे तृतीया। सर्वात्मभावस्वरूपं स्वस्मिन् विगाढभावात्मकमिति लिङ्गभूयस्त्वसूत्रभाष्यप्रकाशेऽस्ति। एवं च विगाढभावाभिन्नं यद्दास्यं तेन सह वर्तमानं लास्यं चेत्, लास्यविगाढभावात्मको भजनानन्दो भवत्येव। लास्यमनुभूतिर्भजनानन्दस्येति। 'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तमे'ति गीतायाः। ननु 'ततो यदिन्दीवरे' त्यादिकं मर्यादायामस्तु, कुतः पुष्टिर्व्याक्रियते इति चेन्न। **सर्वात्मभावेने**तिपदात्। नहि सर्वात्मभावः पुष्टिं विहाय भवति। मर्यादायां सर्वात्मभावो निरोधलक्षणग्रन्थोक्त इति चेत्, लास्येनेति पदादित्यस्तु। न हि सर्वात्मभावाभिन्नं लास्यं मर्यादायामस्ति। 'कामस्तस्य दिदृक्षैवे'ति वाक्यात् साधनासाध्यत्वे सति प्रदानसाध्यत्वात् सर्वात्मभावस्य। 'प्रदानवदेव तदुक्त'मिति सूत्रभाष्य एतदुक्तम्। 'यत्र नान्यत् पश्यति, नान्यच्छृणोति, नान्यद्विजानाति, स भूमे'ति। एतेन सर्वात्मभावस्वरूपमेवोक्तं भवती'तिभाष्यम्। कृतात्मनिवेदनो हि पुष्टावधिकारी न तु श्रुतात्मनिवेदनः। अत्रानुफलानुभूतिर्भवत्विति विज्ञापना।

पुरुषोत्तमप्रकरणे 'अज्ञात्वा पुरुषं पुष्टिमकृतात्मनिवेदनः। धर्मलोपकरो यस्तु स नरो नरकं व्रजेदि'ति वाक्यं तत्राचार्यमुखादज्ञात्वेत्यर्थादाचार्यपादाब्जभजनं कर्तव्यत्वेनाहुः श्रीति।

श्रीमदाचार्यपादाब्जं भवेद्येषां हृदि स्थिरम्।
सदा श्रीराधिकाकान्तस्तत्र तिष्ठति सुस्थिरः॥ ९७॥
अतः पितृपदाम्भोजभजनं सर्वथा मतम्।
उत्तमानामितो नान्या कृतिः काचन विद्यते॥ ९८॥

नान्या कृतिः पौष्टिकानाम्, मार्यादिकीनां त्वन्या कृतिरुपदिष्टात् साधनादन्या कृतिः। **उत्तमाना**मिति विशेषणात्। तथास्त्विति विज्ञापना ज्ञेया।

किञ्च, विज्ञापनान्तरमाहुः **मानुष्ये**ति।

मानुष्यप्राप्तिसाफल्यं यत्संसारविरागिता।
सात्त्विकत्वस्य साफल्यं श्रीकृष्णस्यानुरागिता॥ ९९॥

अत्र पूर्वार्धे 'नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्। मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महे'ति वाक्यम्। उत्तरार्धे 'सात्त्विका भगवद्भक्ता ये मुक्तावधिकारिणः। भवान्तसम्भवा दैवात् तेषामर्थे निरूप्यत' इति निबन्धवाक्यम्। तथा च मनुष्याणां पूर्वार्धोक्तं सात्त्विकानां तु पूर्वग्रन्थोक्तं भवत्विति विज्ञापनात्र। सात्त्विकानामर्थे ग्रन्थकरणात्।

मध्ये विज्ञापनायाः षट्श्लोकाः स्नानायोग्यैः स्नानविज्ञापनार्थाश्चिन्त्याः। पञ्चामृतस्नानोपयोगित्वाद् व्याक्रियन्ते। **पञ्चे**ति।

पञ्चामृतेन भावात्मरूपेणातिप्रियेण ते।
स्नापयामि ततः स्नात्वा हृदि मे सुस्थिरो भव॥ १००॥

'अकामः सर्वकामो वे' ति वाक्याद् हृदि सुस्थिरत्वार्थं कारितं स्नानं सुस्थिरत्वफलकम्। कथं लेह्यखाद्यपेयैः स्नानमिति चेत्तत्राहुः **भावात्मे**ति। भावा वक्ष्यमाणास्तदात्मरूपेण। अत एव **अतिप्रियेण** 'ऋतं पिबन्ता' विति श्रुतेः।

वक्ष्यमाणभावानाहुः **प्रिये**ति।

प्रियाहास्यप्रभातुल्यरूपेण पयसा गवाम्।
स्नानं समाचर विभो कम्बुस्थेन व्रजेश्वर॥ १०१॥

प्रभा श्वेतरूपा। कम्बुः शङ्खः। यद्वा। विज्ञापना आहुः षड्भिः **पञ्चे**ति। शयनसमये स्नानं भक्तिमार्गविरुद्धं प्रत्यहं, ग्रहणेऽविरुद्धं तत्राहुः **प्रिये**ति। प्रियेति पूर्ववत्। **गवामिन्द्रियाणां पयसा** रसेनास्वादरूपेण **कम्बु**र्गजस्तत्**स्थेन** स्वात्तेन 'आत्तगजेन्द्रलील' इति वाक्यात्। **स्नानं** ब्वा शुद्धौ अदादिरनिट्। इन्द्रियशुद्धिं **समाचर**। श्रीदराणाजिच्छ्रीभीमसिंहजिद्रूपया वाण्या प्रेरितोऽहं द्वितीयार्थकर्ता। यद्वा। जलस्थलभेदेन क्रीडा द्विधा तत्र स्थलक्रीडामुक्त्वा जलक्रीडां स्नानात्मिकामाहुः **पञ्चे**ति। अत्र पक्षे ततः प्रियाभिः सह त्वां स्नापयामि, त्वं प्रियाभिः सह स्नात्वेति पूर्वश्लोके, द्वितीये च प्रियाभिः सह त्वं नीराणां नीरेण शङ्खस्थेन गाङ्गेनेति **गवां पयसा कम्बुस्थेने**ति पदत्रयार्थो विश्वकोशात् **स्नान**मितरत् समानम्।

राधिकेति।

राधिकास्यामृतकरचन्द्रिकाविशदेन वै।
सरसेन घनेनेह दध्ना स्नानं समाचर॥ १०२॥

राधिकाया आस्यं मुखं तदेवा**मृतं** चन्द्रस्तस्य **करः** प्रत्ययः किरणा वा तत्सम्बन्धिनी **चन्द्रिका** तद्वत् **विशदः** पाण्डुरस्तेन। पूर्वोक्तप्रयोजनायोक्तम्। **सरसेन** सजलेन। अम्लरससहितेन वा कम्बुस्थेनेत्यनुवर्तनीयम्। यद्वा। पूर्वार्धं पूर्ववत्। **दध्ना** श्रीनिवासेन वासेन वा शृङ्गारादिरससहितेन **घनेन** दृढेन **स्नानं** भयजनितचित्तोद्वेगस्य शुद्धिं मार्जनं **समाचर**। नात्र कम्बुस्थेनेत्यनुवर्तनीयम्। जलक्रीडापक्षे बहिःस्नाने शीतं प्रतिबन्धकं भक्तिमार्गे, अतो दध्ना वासेन हेतुना प्रियाभिः सह त्वं स्नानं समाचर। इतरत् समानम्। नात्र कम्बुस्थेनेत्यनुवर्तनीयम्।

प्रियेति ।

प्रियाधरामृतस्पन्दमधुरेण महाप्रभो ।
शङ्खस्थितेन मधुना स्नात्वा मुदमवाप्नुहि ॥ १०३ ॥

प्रियायाः अधरामृतमधरजलं तस्य स्पन्दः प्रस्रवस्तद्वन्**मधुरेण** मधुररसवता । उत्तरार्धं स्पष्टम् । यद्वा । पूर्वार्धं पूर्ववत् । **शङ्खस्थितेन** सुगन्धद्रव्यस्थितेन **मधुना** जलेन । चन्दनपात्रस्थितेन जलेन **स्नात्वा** कामानुद्दीपनशुद्धिं विधाय **मुदमवाप्नुहि** । जलक्रीडापक्षे शङ्खस्थितेन जलेनेत्यर्थः । स्नानयोग्यं जलमिति चेन्न 'समः प्लुषिणे'ति श्रुतेर्विस्फुलिङ्गसाम्येनोपपत्तेः । भक्तेन शङ्खस्थापितेन जलेनेति वा । स्नात्वा अङ्गशुद्धिं विधाय मुदमवाप्नुहि ।

प्रियेति ।

प्रियास्नेहैकरूपेण घृतेन व्रजनायक ।
स्नानं स्नेहात्मकं कृत्वा स्निग्धतां प्रकटीकुरु ॥ १०४ ॥

विशेषणं पूर्ववत् । **स्निग्धतां** भक्तिमत्तां भक्ततां वा । सुरतान्ते स्नेहो गच्छति स्नानानन्तरं प्रकटीभवत्यत उक्तं **प्रकटीकुर्विति** । यद्वा विशेषणं पूर्ववत् । घृतेन प्रदीप्तेन निर्नाशितेन पूर्वोक्त-सुगन्धद्रव्यप्रदीप्तेन कामेन **स्नेहात्मकं** स्नेह आत्मनि मनसि यस्मात् स्नानात्तादृशं **स्नानं** सुरतान्त-वैराग्यमार्जनं विधाय **स्निग्धतां प्रकटीकुरु** । जलक्रीडापक्षे घृतेन जलेनान्यत्पूर्ववत् । तथा च विश्वः 'घृतमाज्ये प्रदीप्ते च सलिले च घृतं स्मृत'मिति ।

प्रियेति ।

प्रियाप्रत्यङ्गसौन्दर्यमाधुर्यसमतां गतम् ।
तया शर्करया स्नात्वा प्रत्यङ्गोच्छूनतां व्रज ॥ १०५ ॥

प्रियायाः प्रत्यङ्गमङ्गमङ्गं सौन्दर्यं स्वार्थे ष्यञ् । सुन्दरं तदेव **माधुर्यं** प्रियं **तत्समतां गतं** यथा भवति तथा त्वं **प्रत्यङ्गमुच्छूनतामुत्तुङ्गतां व्रज** । कया **तया** प्रसिद्धया **शर्करया स्नात्वे**त्यर्थः । यद्वा उं शंभुं प्रति पलति गच्छति तादृशोपलारूपशर्करया स्नात्वा तच्छक्तियुक्तत्वेन केवलमन्मथमन्मथत्व-मार्जनं विधाय भक्तमाधुर्यं प्रियताख्यं तत्समतां गतं यथा भवति तथा प्रत्यङ्गमुत्तुङ्गतां व्रज । भक्तभक्तियोग्यं रूपं मन्मथमन्मथत्वं तिरोभाव्य प्रकटीकुरु भक्तभक्तिमात्रयोग्यं रूपम् । 'उपला शर्करापि चे'त्यमरः । जलक्रीडापक्षे **शर्करया** कर्पररूपया कर्परः कटाहोण्डकटाहः 'कर्परः स्यात्कपाले च शस्त्रभेदकटाहयो'रिति विश्वः । 'शर्करा कर्परांशेऽपी'त्यमरः । अण्डकटाहांशो गङ्गा स्वर्गङ्गया प्रियाभिः सह स्नात्वा । अन्यत्स्पष्टम् । एवं शयनार्थं विज्ञाप्य शयनं कारयेदिति ।

एवं स्त्यानानां रसरूपस्य विज्ञापनपूर्वकशायनमुक्त्वा दैन्येन हरितोषणसाधनेन नवनीतमुखं विज्ञापयन्तः संयोगे वियोगवर्तनं कुर्वन्त आत्मनः शयनस्य कारितत्वाद् आत्मनश्च गोपिकादिभ्यो निजानन्ददानार्थं तद्गृहे गोपिकाप्रार्थितस्य शयनानन्तरं गतत्वाद् विरहे विज्ञापनमाहुः हेति ।

हा नाथ हा रमण हा करुणैकसिन्धो हा कृष्ण हा पतितपावन दीनबन्धो ।
संसारसागरमहोर्मिषु मज्जमानं मामुद्धर प्रणतपालक बालकृष्ण ॥ १ ॥

हा नाथ उपतापक संयोगेपि वियोगवर्तनलक्षणप्रेम्णा, **हा** विषादं करोमि । 'हा विषाद' इति विश्वात् । **नाथ** नवनीतयाचक । एवमग्रेपि । **रमण** रमु क्रीडायाम् । **करुणैकसिन्धो** । पुष्टिप्राकट्यात् पुष्ट्यानेकविहाररूपरत्नप्राकट्यान् नवनीतमुद्, करुणैकसिन्धुः, स्वरूपानन्ददानात् । **कृष्ण** सच्चिदानन्द । **पतितानामपि पावन**, किमुतास्माकम् । **दीनबन्धुश्च** । **संसारो**ऽहन्ता-

१. स्निग्धतापर ।

ममतात्मकसंसारः **सागरो**ऽनेकभगवत्सेवोपयोगितदनुपयोगिमात्सर्यदुःखेर्ष्यादिनिधिः । **गरेण** नरक-साधकेन विषयेण विषेण सह वर्तमानो वा सगरः सगरस्यायं सागरः । तस्येदमित्यणिति सुधायाम् । **महो-र्मयो** गुर्वाद्युपरि क्रोधात्मिका ऊर्मयो मात्सर्यदुःखेर्ष्यादिजा गुर्वाद्यतिरिक्ते क्रोधविषयनिन्दादयः तेषु **मज्जमानं** मुह्यमानं **मामुद्धर** सेवोपयोगिसंसारं स्थापय, अन्यं शोषय । किं साधनमिति चेत् तत्राहुः **प्रणते**ति । प्रणामः साधनम् । मर्यादाभक्तौ प्रेमसाधनत्वेपि वन्दनभक्तावुक्तसाधनत्वं **कुरु** । 'अकामः सर्वकामो वे'ति वाक्यात् । बालः कृष्णो **बालकृष्णः** । 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचक' इति श्रुतेः । ब्रह्माण्डपुराणे च ।

'बालाय नीलवपुषे नवकिङ्किणीकजालाभिरामजघनाय दिगम्बराय ।
शार्दूलदिव्यनखभूषणभूषिताय नन्दात्मजाय नवनीतमुषे नमस्ते' ।

इति नवनीतचोरविज्ञापना ।

रूपसेवामुक्त्वा अविशेषेण नामसेवां 'आवृत्तिरसकृदुपदेशा' दिति **सूत्रेणावृत्त्यास्यां विज्ञापया-मासुः श्रीति** ।

श्रीबालकृष्णेतिनाम सकलाभीष्टदं कलौ ।
जिह्वाग्रे वर्ततां तेन सदा मे कृतकृत्यता ॥ २ ॥

श्रीभिः शोभाभिर्बालोचिताभिर्युक्तो **बालः** पुरुषविधब्राह्मणोक्तोभयलिङ्गवांश्च स **कृष्णः** सच्चिदानन्द इत्यभिधायकं नाम । ननूभयलिङ्गवत्त्वं न बालस्य, किन्तु 'कारणगुणाः कार्ये समायान्ती'ति प्रवादमूलकः कार्ये एकाकिनि पुरुषे भयं ज्ञापितः पुरुषविधे भयं कारणात्मकमिति चेन्न । कार्ये भयस्य द्वितीयाभिनिवेशकृतत्वेन मायिकत्वे सत्युपपत्तेः 'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्य' इत्यादीनां 'भीरपि यद्बिभेती'त्यस्य च विरोधाच्च । न च भयस्य ब्रह्मलिङ्गत्वमसम्भवीति शङ्क्यम् । 'अनुकृते-स्तस्य च' इति सूत्रेऽनुकृतेर्भयसत्त्वात् । न चैकरसत्वविरुद्धं बाल्यपौगण्डादिकं मुक्तसच्चिदानन्द-त्वानुपपत्तिसाधकं चेति वाच्यम् । 'व्याप्तेश्च समञ्जस'मिति सूत्रे 'सर्वतः पाणिपादान्तमि'त्यादिश्रुतेः साकारमेव व्यापकमिति भाष्यात् । एवमग्रे **सकले**ति पदम् । **कलाविति** । 'कलिं सभाजयन्त्यार्या' इत्यादिवाक्यात् । **कृतकृत्यते**ति । पुरुषोत्तमयोगाध्याये 'यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तम-मि'त्यत्र पदजन्यपदार्थोपस्थितेरावश्यकत्वात्पदस्यापि कृतकृत्यतासाधने निवेशेनोक्तं **कृतकृत्यतेति** 'एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारते'ति गीतायाः ।

एवं विज्ञाप्य धृतानां शय्यानिकटे भोग्यानां शय्या श्रीगोवर्द्धननाथजिन्नवनीतरायविदादि भोग्यानां ताम्बूलमालाझारीजलपात्रव्यजनादीनां च भोगं विज्ञापयामासुरप्रियमित्यादिपद्यैर्भिः ।

अप्रियं सप्रियं वापि धनहीनस्य मे प्रभो ।
मद्गृहे भोजनार्थाय ह्यागन्तव्यं महाप्रभो ॥ ३ ॥

अप्रियं सप्रियं वा आगमनं कर्तव्यम्, प्रश्विज्ञिताज्ञानादित्यर्थः । **मे** मम मत्सम्बन्धि-**भोजनार्थाय** । ननु व्यापकोहमानन्दभुक् भुनज्म्येव गोपिकादिगृहस्थितोपीति चेत्, तत्राहुः **मद्गृह** इति । एतावत्पर्यन्तं प्रभुत्वं स्थितं मद्गृहागमनानन्तरं तु **महाप्रभुर्जा**तः परिवृढोपि **महान्जातः** । आचार्योक्तपरिवृढाष्टकात् । तत्रत्य 'परा काष्ठा प्रेम्णः पशुपतरुणीना'मिति वाक्यात् । **महत्त्वं च** गृहस्थस्य मे उद्धरणसमर्थत्वम् । हे गृहस्थोद्धारक परिवृढ, हे **महाप्रभो** बालस्तु व्रजपादावपि स्थैर्य इति मद्गृहागमनविज्ञापना । 'चलसि यद्व्रजाच्चारयन् पशून् नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम् । शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छती'ति न्यायेन भक्तमनःकलिलतानन्तात् ।

आगत्य तूष्णीं न स्थेयम्, किन्तु भक्तिमार्गत्वात् प्रीतिः क्रियतामित्याहुः येति ।

या प्रीतिर्विदुरार्पिते मुररिपो कुन्त्यर्पिते यादृशी
या गोवर्द्धनमूर्ध्नि या च पृथुके स्तन्ये यशोदार्पिते ।
भारद्वाजसमर्पिते शबरिकादत्तेऽधरे योषितां
या प्रीतिर्मुनिपत्निभक्तरचिते ह्यत्रापि तां तां कुरु ॥ ४ ॥

विदुरार्पिते सेवने विशेषानुल्लेखः श्रीभागवते तृतीयस्कन्धे कथाश्रवणातिरिक्तसेवनाप्रसिद्धेः। तर्हि कथाश्रवणे **विदुरार्पित** इत्यस्तु कथाश्रवणार्पणास्मरणात्। तर्हि विदुरश्रुते इति मूलमस्तु 'इति सह विदुरेण विश्वमूर्तेर्गुणकथया सुधये'ति वाक्ये कीर्तनस्याप्युक्तेः। न च विदुरश्रवणादाविति वक्तव्यमिति शङ्क्यम्। अनर्पितस्यासाधनत्वात् । ननु विदुरमुक्त्या विदुरश्रवणादीनामर्पितत्वमनुमास्यत इति चेन्न । मूलाविरोधादोम् । न च विदुरार्पिते श्रवणादाविति वक्तव्यमिति वाच्यम् । अनुमितार्पणनिवेशे पदक्लिष्टतापत्तेः । न चानुमितार्पणविषयश्रवणादाविति वाच्यम् । शरीरगौरवात् । अतोर्पितत्वेन श्रवणादीनां ग्रहणं युक्तमेव। **कुन्त्यर्पिते**ऽखिलोदये । 'पृथयेत्थं कलपदैः परिणूताखिलोदय'इति वाक्यात् । **या प्रीतिः** 'मन्दं जहास वैकुण्ठो मोहयन्निव मायये'ति वाक्यात् । महिमज्ञानेनैक्यबुद्ध्या लये प्राप्ते ऐक्यप्रतिबन्धकमायामोहेन कुलसम्बन्धजा यद्यपि तथापि भगवान् प्रक्रान्तस्वविचारितमेव मोहं दत्तवान्। अद्भुतकर्मनिरूपणे **तां तां कु**र्वित्यत्र शाकपत्रे **या** तां पुनस्तां स्वकुलसम्बन्धजाम्। ब्रह्मबोधप्रतिबन्धानन्तरमपि सिद्धान्तमुक्तावल्युक्तो ब्रह्मबोधः। अद्भुतकर्मत्वाद्भगवतो नात्र मोहदानं विवक्ष्यते। **गोवर्द्धनमूर्ध्नि या प्रीतिः** यया हरिदासप्रीत्या गोवर्धनस्य मूर्ध्नि शिखरे व्रजस्यार्तिं मोचयन् गवां दिनतापात्मिकां चकाम। उत्थापनभोगं भुक्त्वा । **तां प्रीतिं** दासप्रीतिं कुरु। सुदाम्नः **पृथुके** चिपिटे खाद्यभेदे तन्दुले 'पृथुकः पुंसि चिपिट' इत्यमरः । 'चिपिटः खाद्यभेद' इति विश्वः । **तत्र या प्रीतिः** सख्यन्नभोजनप्रीतिः। **यशोदया अर्पिते स्तन्ये** दुग्धे जग्धप्राये सति या प्रीतिर्विश्वदर्शनेन सुविस्मयजनिका । 'विस्मयोद्धुतगर्वयोरि'ति विश्वः । 'एकदार्भकमादाये'त्यादिसन्दर्भे सप्तमेध्याये स्पष्टमेतत्। उदासीनत्वश्रुत्या स्नेहो विरुध्यते इति कथमुदासीनस्यात्मनः स्नेह इत्याकाङ्क्षायामुदासीनस्य स्नेहो विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वेन निरूपितः। **स्तन्ये या प्रीति**रिति वा 'भगवान्भक्तभक्तिमा'निति वाक्यात् । **भारद्वाजो** व्याघ्राटाख्यो विहङ्गमस्तदर्पिते रावेऽद्भुतरसे तद्वद्वाग्व्यापारो भगवत इति तदर्पितो रावस्तत्र या प्रीतिरद्भुतरसजन्या । अद्भुतरसस्तावत् 'चित्रं महानेष बतावतारः क यत्र एषोभिनवैव भङ्गिः । लोकोत्तरं यत्नमहो प्रभावः काप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः'। बतेति हर्षे, भङ्गिः प्रकारः, एष सर्गः भारद्वाजशब्दसर्गः । अत्र लोकोत्तरदर्शनादिर्विभावः, नेत्रविकासाद्यनुभावः, हर्षादिर्व्यभिचारी, विस्मयः स्थायिभावोद्भुतरसः । **तां प्रीतिम्** । 'चित्रं महानेष बतावतारः क कान्तिरेषाऽकृतसाधनत्वम्। लोकोत्तरं कार्यमनुग्रहश्च कः प्रेम को नूतन एष सर्गः' । पुष्टिमार्गस्थस्य प्रभोर्वचः। कार्यं फलम्, अनुग्रहोनुभावः। **शबरिकाः** पुलिन्द्यः शबरिका पार्वती वा तद्दत्ते कामे। पुलिन्द्यो वेणुगीते। पार्वती पुराणान्तरे । **योषितां** व्रजभक्तानामधरे। 'अधरस्तु पुमानोष्ठ' इति कोशः। स्पष्टोर्थः। तां प्रीतिं कामात्मिकाम् । **मुनिपत्निभक्तरचिते बहुगुणेन्ने** । पत्नीत्यत्र ह्रस्वो व्याकरणान्तराद् यथा परिणूताखिलोदय इत्यत्र णू स्तुतौ व्याकरणान्तरान्न तु छन्दोनुरोधेन णू स्तुताविल्यस्य दीर्घः । यद्वा 'ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुल'मिति सूत्रे बहुलग्रहणात् संज्ञाभावेपि पत्नीशब्दस्य ह्रस्वः। **अत्र मद्गृहे** ।

यशोदा यथा शयने भगवन्तं नेष्यन्ती गोपीद्वारा शय्याभोगं धारयति रात्रिर्महती बालगोपालः क्षुधितो भविष्यतीति शय्यानिकटे भोगं स्थापयेति गोपीमाज्ञापयन्ती तद्द्वारा भोगं धारयति तद्भावेन धृतभोगे प्रीतिं कुर्वित्याहुः **यशोदाया** इति ।

यशोदायाः स्तन्ये तदनु नवनीते व्रजगवां
विहारे दध्यन्ने द्विजयुवतिदत्ते बहुगुणे ।
तथा मित्रात्प्राप्ते पृथुकवरमुष्टौ मुरहरे
यथा प्रीतिस्तां मे प्रकटय सुनैवेद्यनिचये ॥ ५ ॥

पूर्वश्लोकव्याख्यानेन व्याख्यातप्रायमेतत्। **मित्रात्**सुदाम्नः **पृथुकवरमुष्टौ** पृथुकः खाद्यभेदस्तत्सम्बन्धिनी **वरा मुष्टि**स्तस्याम् । **यथे**ति यशोदादत्तत्वेन प्रकारेण उभयत्र स्ववृत्तित्वेन प्रकारेण 'वयं गोवृत्तय' इति वाक्याद् **द्विजपत्निदत्त**त्वेन प्रकारेण मित्रदत्तत्वेन प्रकारेण। **सुनैवेद्यं** तथा दत्तम्, तस्य **निचयः** शरदुत्सवादौ ।

प्रीतिकरणं विज्ञाप्य भोजने कृपाकरणे विज्ञापयांबभूवुः **विदुरस्ये**ति ।

विदुरस्य गृहे प्रीत्या यथा भुक्तं निजेच्छया ।
तथैव भुङ्क्ष्व नैवेद्यं मयि नाथ कृपां कुरु ॥ ६ ॥

व्याख्यातप्रायम् । **यथा** भक्तदत्तत्वेन प्रकारेण **निजस्य** भक्तस्येच्छया । **नैवेद्यमिति** मातृचरणैर्नैवेद्यसमर्पणस्य कारितत्वात्प्राधान्येन नैवेद्यस्य ग्रहणम्।

ताम्बूलतष्टीमालाजलभाजनव्यजनादिभोगं प्रार्थयन्तो 'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति **ब्रह्मसनातनम्**' इति गीतायाः भुक्तशिष्टान्नदानं स्वकीयोभ्योधीष्टं कुर्वं... स्म ।

यथा त्वं गोपिकादिभ्यो निजानन्दं प्रयच्छसि ।
तथैव भुक्तशिष्टान्नं भक्तेभ्यो यच्छ पुष्कलम् ॥ ७ ॥

यशोदया शायितः श्रीगोप्या प्रार्थितो ह्यात्मा सखीशतेन भृङ्गैरावृतो भक्तगेहादुत्थाय गच्छति। तदाभासोक्तताम्बूलादीनां भोगो भवति तद्द्वारा **निजानन्दं** रसस्वरूपानन्दं प्रयच्छति । **आदिपदेन** कर्मणि यज्ञशेषामृतभोजनाद् ब्रह्म संसिद्धिमास्थितो गृह्यते । तथैव यज्ञशेषामृतत्वेन यज्ञशेषामृतभोगदातृत्वेन वा प्रकारेण 'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वा'दिति **सूत्रेण** धर्मात्मकयज्ञस्यापि धर्म्यात्मकत्वं मत्वोक्तम्। तथा च भाष्यम् 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा वे'ति । एवं च पूजया श्रवणादिकमुक्त्वा आदिपदेनोपनिषदा श्रवणादिभिः पूजेत्युक्तम् । अधुना किञ्चिदुच्यते । ननु 'नह्यन्तोऽनन्तपारस्य कर्मकाण्डस्य चोद्धव । सङ्क्षिप्तं वर्णयिष्यामी'ति प्रतिज्ञाय 'दत्त्वाचमन' मित्यादीनां वाक्यानां श्रीभागवते उक्तत्वात् तैर्दास्यप्रामाणिकीकरणमसङ्गतम्, दास्यार्चनयोर्भेदादिति चेन्न उपासनायामपि भक्तिमार्गानुसारेणोपचारा मुख्या इति 'दत्त्वाचमन'मित्यादिवाक्यानां पाठादिक्रमानुरोधेनेदृशमर्चनं विधाय, तत्रेदृशदास्यभक्तिमार्गानुसरणम् । दास्यभक्तिमार्गानुसरणे सिद्धे दास्यभक्त्यनुसृतैर्'दत्त्वाचमन'मित्यादिवाक्यैर्दास्यप्रामाणिकीकरणं सङ्गतमेव । उभयोरेकमार्गीयत्वेनान्यापेक्षयैतद्ग्रहणस्य ज्यायस्त्वात् । ननु 'लोकवत्तु लीलाकैवल्य' मिति व्याससूत्रेण प्रामाणिकीकरणं सङ्गतमिति चेन्न । 'श्रीभागवतमार्गेण स कथञ्चित् तरिष्यती'ति निबन्धालोकः श्रीभागवतं गृह्यत इत्यदोषात् । न च पञ्चमस्कन्धतृतीयाध्याये 'परिजनानुरागविरचितशबलसंशब्दसलिलसितकिशलयतुलसिदूर्वाङ्कुरैरपि संभृतया सपर्यया किल परम परितुष्यसी'ति लोकः कुतो न गृह्यत इति वाच्यम् । स्थानलीलात्वेन शुद्धलीलात्वाभावात् । अपिपदं सङ्गृहीतपदार्थानां चानियतत्वात् । पूर्वोक्तरीत्याऽनियतत्वे तु ह्यपिपदसङ्गृहीतपदार्थानां सुकरत्वात् । किञ्च,

'आशिष आशासानानामेतदभिसंराधनमात्र'मिति । न च सप्तमेऽध्याये भगवत्परिचर्यानिरूपके 'विविधकुसुमकिशलयतुलसिकाम्बुभिः कन्दमूलफलोपहारैश्च सगीहमानो भगवत आराधन'मिति वाक्यं लोकस्तदुक्तप्रकारोऽस्त्विति वाच्यम् । तत्राप्युक्तयैवैकभक्तिमार्गे पदार्थनियमसंभवात् । भक्तिमार्गस्य बहुविधत्वात् स्थानलीलात्वाच्च । वसन्तोत्सवादावस्या अप्यभिनिवेशाच्च । एवं च दास्यपूजापरिचर्याः सहैवानुष्ठिताः । 'सर्वासामविरोध' इति व्याससूत्रात् । दास्यपरिचर्ययोः पर्यायत्वेपि भक्तिमार्गस्य बहुविधत्वात् कश्चिदुपाधिराश्रीयते इति न दोषः । पादसेवनमप्यत्र, पादयोः सेवनं पूर्वं कृत्वा भगवत्सेवने कृते सति भवति । तदुक्तं चतुर्थस्कन्धे 'पद्भ्यां नखमणिश्रेण्या विलसद्भ्यां समर्चताम् । हृत्पद्मकर्णिकाधिष्ण्यमाक्रम्यात्मन्यवस्थित'मिति ध्रुवचरिते 'कारणं पादसेवन'मित्युपक्रम्य श्रवणकीर्तनस्मरणवन्दनभक्तयोऽत्र निविशन्त एव । सख्यं फलम् । आत्मनिवेदनं त्वतिकठिनं कृतं सत्, श्रुतं तु वर्तत एवात्मनिवेदनम् तथा चाविहितभक्तिपक्षे श्रवणादित्रिकेण जनितप्रेम्णा स्वतः क्रियमाणदास्यादिनवकमुक्तमिति सूत्रोक्तसामान्यपक्षोऽत्रोक्त इति भावः । नन्वपेक्षितसमर्पणं दास्यम्, 'पुराणं हृदयं स्मृतम्' इति हृदयेनोरसाऽप्रमाणेन प्रामाणिकीकरणमयुक्तमिति चेन्न । तत्र 'हृदयं मानसोरसो'रिति विश्वादर्थद्वयम्, तत् प्रकृते विरुद्धम्, अतो हृन्मनः 'अयः शुभावहो विधि'रिति कोशाद् द्वयोर्हृदययोरर्थाववधृत्य मनःशुभावहो विधिर्हृदयं पुराणं भगवन्मनः शुभावहविधिरूपेण पुराणेन प्रामाणिकीकृतं दास्यमपेक्षितसमर्पणात्मकं जातमेवेति । अथ सेवाप्रकरणे 'यद्यदिष्टतम'मिति वाक्यात् स्वापेक्षितसमर्पणं विवक्ष्यते तदपि साम्प्रतम्, वाक्यादेव । नन्वपेक्षितसमर्पणं दास्यम्, तदेकेनापीन्द्रियेण भवतीति दास्यरूपा सेवा न सर्वात्मभावरूपेति चेन्न । सर्वैरिन्द्रियैरपेक्षितसमर्पणे बाधकाभावात् सर्वात्मभावरूपा सेवा तथा च सर्वोप्यात्मनोऽन्तःकरणस्य भाव एकादशविधो मनसो वृत्तिरूपः षष्ठीगर्भितकर्मधारयेण सर्वात्मभावपदार्थोऽत्र । तथा च नवमस्कन्धे अम्बरीषप्रसङ्गे 'एवं सदा कर्मकलापमात्मनः परेऽधियज्ञे भगवत्यधोक्षजे । सर्वात्मभावं विदधन्महीमिमां तन्निष्ठविप्राभिहितः शशास ह' इति । एवं पूर्वोक्तपरामर्शेन पूर्वं तु 'स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो'रित्यादिवाक्यानि । न च सर्वत्रात्मेति भावो भावना यस्मिन् क्रियाकलाप इति बहुव्रीहिरस्तु, किं षष्ठीगर्भितकर्मधारयेणेति शङ्क्यम् । 'याहि सर्वात्मभावेने'ति वाक्ये बहुव्रीहेरसंभवात् । न चैतद्वाक्यानुरोधेन क्रियाकलापमभ्याहृत्य योजनीयम्, सर्वात्मभावेन क्रियाकलापेन याहीति चेन्न । सर्वोप्यात्मनो भावो भगवत्येवाधिकृत इति 'सर्वात्मभावोऽधिकृतो भवतीनामधोक्षज' इत्यस्य सुबोधिन्यां क्रियाकलापानभ्याहारात् । न च सर्वोपि सर्वत्र भगवत्स्फूर्तिलक्षणांशेनाप्यन्यून आत्मनो भाव इति सुबोधिन्या अर्थ इति शङ्क्यम् । सर्वपदस्य सर्वात्मभावघटकत्वेन भगवत्स्फूर्तिपर्यन्तं तस्यार्थाभावात् । 'स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो' रित्यादिवाक्योक्तैकादशमनोवृत्तीनां सर्वपदार्थत्वात् । तथा च 'लिङ्गभूयस्त्वा'दिति सूत्रभाष्यम् । 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमे'ति । 'एतेन सर्वात्मभावस्वरूपमेवोक्तं भवती'ति । न च 'सर्वभूतेषु मन्मति'रित्येकादश एकोनविंशाध्याये वाक्याच्च सर्वस्मिन्नात्मभावः सर्वात्मभाव इत्यर्थोस्त्विति वाच्यं, प्रकृतेऽसम्भवात् । तादृश्या मतेः 'एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्ति'रिति वाक्ये प्रेमभक्तिकारणत्वेनोल्लेखात् पृथगेव कारणत्वम् । एवमनेकार्थेषु षष्ठीगर्भितकर्मधारयो गृह्यते । न च प्रकृते क्रियाकलापविशेषणत्वेन बहुव्रीहिर्गृह्यतामिति वाच्यम् ॥ स्वमते षष्ठीगर्भितकर्मधारयकस्य सर्वात्मभावस्यैव प्राधान्यात्सर्वात्मभावस्य क्रियाकलापमित्येव विशेषणमस्तु । क्रियाणां कलापः संहतं समूहो यत्रेति । 'सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिप' इति कारिका चतुःश्लोकीस्था तत्र

सर्वभावेन भजनं न सर्वात्मभावेनेति सेवा सर्वभावेन न सर्वात्मभावेनेति सर्वात्मभावरूपा सेवेति व्याहतमिति विचारयति न च तस्मादिति । न च 'तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः । आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तये'दिति सिद्धान्तमुक्तावल्यामेतद्विचिन्तनमिति वाच्यम् । तत्र लघुस्वमार्गस्यैकादशैकोनत्रिंशाध्यायोक्तस्य ग्रहणात् । ननु 'मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम् । ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशय' इति वाक्येन बहुव्रीहिरेवास्त्विति चेत्सत्यम् । 'सर्वदा सर्वभावेन भजनीय' इत्याचार्यकारिकायामपि तथात्वेपि श्रीमदाचार्यमतत्वात् । श्रीगोस्वामिनां मते तु 'सदा सर्वात्मभावेन भजनीय' इति कारिकायास्ते तु व्रजरत्नात्मका इति मन्मतिरिति ह्या'त्मानन्दसमुद्रस्थ'मित्यस्य टीकायाश्च सर्वात्मभावे गोस्वामिमताङ्गीकारात् । भाष्येपि सार्धाध्याये तत्प्रणीते प्रदानवत्सूत्रे लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणे चैतद्विचारात् । तन्मते षष्ठीगर्भितकर्मधारयेण निर्वाहः, न तु बहुव्रीहिणा । न चाचार्यमतमस्तु गोस्वामिमतात्प्रबलत्वादिति वाच्यम् । सर्वात्मभावविषये ह्याचार्यभाष्याभावात् । भाष्यं तु 'यत्र नान्यत्पश्यती' त्याद्युक्तं षष्ठीगर्भितकर्मधारयं द्योतयति, न तु बहुव्रीहिमिति तेन भाष्येण सर्वं सुस्थम् । एतेन षष्ठीगर्भितकर्मधारयस्याचार्याङ्गीकृतस्य पुष्टिसर्वात्मभावविषयत्वम्, मर्यादायां तु बहुव्रीहिरिति कुचोद्यं निरस्तम् । नापि दास्यरूपा सेवा सर्वभावरूपेति वक्तुं शक्यते । लघुस्वमार्गात् पृथक् सर्वभाववचनाद् एकादशे 'मामेव सर्वभूतेष्वि'त्यादिवचनेभ्यः । तस्मात् सुष्ठु सर्वात्मभावरूपा सेवेति । न च 'आत्मानन्दसमुद्रस्थ' मित्यस्य सर्वभावानन्दसमुद्रस्थमित्यर्थोस्तु । अस्याक्षेपस्य ते त्विति टीकासम्बन्धित्वात् । तत्र ते तु व्रजरत्नात्मका इति मन्मतिरिति स्वमतित्वाच्च । उक्तार्थस्य ज्ञाने सन्निवेशाच्च । 'सर्वदा सर्वभावेने' त्यत्र करणे तृतीया नाभेदे 'प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानमि'ति वार्तिकेनाभेदासम्भवात् । न च सिद्धान्तमुक्तावल्या आचार्यकृतत्वेन सर्वभावानुरोधेन तनुजा सेवा व्याकर्तव्येति चेन्न । सर्वात्मभावरूपसेवायाः सर्वभावाविरुद्धत्वात् । आत्मनां बाह्याभ्यन्तरपरमात्मनां आत्मोपनिषदुक्तानां निवेदनमात्मनिवेदनम्, सर्वात्मभावस्तु आन्तरमात्रात्मनिवेदनमिति भेदः ।

अथ शरणमार्गः पृथगस्ति 'पृथक्शरणमार्गोपदेष्टे'ति सर्वोत्तमात् । स च विवेकधैर्याश्रय इत्याहुः स च निबन्धे सेवाप्रकरणे 'जगन्नाथे विठ्ठले च श्रीरङ्गे वेङ्कटेथवा । यत्र पूजाप्रवाहः स्यात् तत्र तिष्ठेत तत्पर' इत्यनया कारिकयोक्तः । तत्र जगन्नाथः पुरुषोत्तमः, विठ्ठलो महाविष्णुः श्रीरङ्गोपि, वेङ्कटस्तु वैकुण्ठनाथः, तन्माहात्म्येषु प्रसिद्धाः । पुष्टिमार्गीयक्रीडाविशिष्टा- सन्निहिता श्रीयमुनाजित् उद्दिधीर्षी 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'ति श्रुतिप्रतिपादिता पद्मपुराणात् तत्र'ऐहिके पारलोके चे'ति वक्ष्यमाणोपसंहाराच्छरणमार्गं वक्तुं 'सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्दं ब्रह्मे'ति सर्वोपनिषदुक्तब्रह्मणो भक्तिमुक्त्वा 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'ति श्रुत्युक्तब्रह्मणो भक्तिं 'तत्र तिष्ठेत तत्पर' इति निबन्धोक्ततत्परपदवाच्यामुपचक्रमिरे हरितुर्येति । तदर्थं 'प्रवृत्तं च निवृत्तं चे'त्युक्तं लघुस्वमार्गस्वरूपमुक्तम्, अधुना तु ।

'यन्न योगेन साङ्ख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः ।
व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि ।
तस्मात् त्वमुद्धवोत्सृज्य नोदनां प्रतिनोदनाम् ।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च ।
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
याहि सर्वात्मभावेन यास्यसे ह्यकुतोभयम् ।

१.-मनः । २. मया स्या अकुतोभयम् ।

इत्येकादशसर्वस्वं भगवान् स्वयमुक्तवान् ।
आत्मानं हि स्वयं वेद तस्मादन्यवचो मृषा'

इति सर्वनिर्णयोपान्त्ये प्रवृत्तनिवृत्तोत्सर्गेण भगवत्सङ्गजसर्वात्मभावेन 'मां याही'त्युक्ते सर्वात्मभावस्य प्रदानसाध्यत्वात् प्रवृत्तनिवृत्तोत्सर्गेण ।

'मत्सङ्गान्मामुपागता'इति श्लोकोक्तमत्सङ्गं निन्द्यत्वाभावार्थं गुरूणामाहुः **वृन्दे**ति ।

वृन्दारण्यगतं रासरसोन्मत्तमतं गजम् ।
बबन्ध गोपबालैका बहु शृङ्खलया निशि ॥ १ ॥

रासरसोन्मत्तमतं रासे रससमूहे भक्तिरसेनोन्मत्तमपि मतं पूजितं संमतम्, वा गोपालतापिनीये 'बल्लवीनयनाम्भोजमालिने नृत्यशालिने नम' इति ब्राह्मणस्य 'श्रीकृष्ण रूक्मिणीकान्त गोपीजनमनोहर । संसारसागरे मग्नं मामुद्धर जगद्गुरो'इति च ब्राह्मणस्य । **गजं** गजमिवात्तगजेन्द्रलीलम् । **एका** मुख्या । आत्मवशीकरणसमर्थभक्तिमत्या **शृङ्खलया** प्रेम्णा 'पराकाष्ठा प्रेम्णः पशुपतरुणीना'मिति परिवृढाष्टकात् । **बहु** यथा भवति तथा पुष्टिमार्गीयसर्वात्मभावेन बहुरूपम् । मध्ये विरहाङ्गीकारात् । यद्वा । बह्वी च शृङ्खला बहुशृङ्खला तया एकत्वमविवक्षितम् । बहुविलासेन प्रेम्णा ।

हरितुर्यप्रियाभक्तिमाहुः ।

हरितुर्यप्रिये कृष्णे प्रेम्णा भोज्यं मदर्पितम् ।
अङ्गीकुरुष्व कृपया सफलं जन्म मे कुरु ॥ २ ॥

एतस्या नाम कृष्णा, तस्याः सम्बोधने **कृष्णे** इति । **भोज्यं** खाद्यलेह्यचोष्यपेयरूपं वस्त्राभरणमालाधूपदीपजलपात्राचमनमुखवस्त्रताम्बूलयमुनाष्टकपाठानामुपलक्षकम् । भक्तिदानेन वैराग्यरूपफलेन सह वर्तमानं **जन्म** मम 'जनयत्याशु वैराग्य' मिति वाक्यात् ।

वन्दनं पूजायां न निविशत इत्यत्र भक्तावपि पृथगेवाहुः **नम** इति ।

नमस्ते सच्चिदानन्दरसरूपिणि सूरजे ।
कुमारीष्विव मे देहि श्रीकृष्णे भावमुत्तमम् ॥ ३ ॥

पूर्वार्धोक्तं रूपं पद्मपुराणयमुनामाहात्म्ये 'त्रयी रसमयी सौरी ब्रह्मविद्या सुधावहा । नारायणीश्वरी ब्राह्मी धर्ममूर्तिः कृपावती'ति वाक्यात् । **सूरो** मिहिरस्तज्जे, **मे** मह्यम्, **यद्यप्युत्तमं भावं** व्यसनात्मको भावः साधनप्रकरणे 'उत्तमः फलपर्यन्त' इत्यत्र कारिकायां विवृतः, तथापि स न सूर्यजायै दत्तोऽपि तु भवाय दत्तः, अतः सूर्यजादत्तो भावः उत्तमः कुमारीषु फलसहितो भाव उत्तमस्तद्वत् फलसाहित्यं भावे देहीति । यमुनायाः कालिन्दीत्वे तु कलिं द्यतीति व्युत्पत्त्यान्योन्यकलहखण्डनं भगवता सह कलहावखण्डनं कलिकालदोषावखण्डनं च भावं देहीति । तिष्ठेतेत्यात्मनेपदेन 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्चे'ति सूत्रेण लकारार्थप्रक्रियास्थेन जातेन 'गोपी कृष्णं तिष्ठत' इत्युदाहरणवत् ।

स्वाशयं प्रकाशयांबभूवुः **त्वदीये**ति ।

त्वदीयमधुसूक्तिभिर्व्रजजनेशसङ्गाशया
मनोजशरपीडिताः कथमपि स्थिता मेऽसवः ।
अतः परमये यदि प्रियतमाङ्गसङ्गो भवेत्
तदैव मम जीवितं विरहितादशाह्नीकरम् ॥ १ ॥

---

१. सत्सङ्गान्मामित्येकादशीयपाठः ।

'अग्निपुत्रा महात्मानस्तपसा स्त्रीत्वमापिरे । भर्तारं च जगद्योनिं वासुदेवमजं विभु'मिति वाक्यादेवं भावः । वस्तुतस्तु साधनप्रकरणे 'प्रसादरूपा शक्तिः श्री भवती'ति सुबोधिन्याः **स्त्रीत्वं** प्रसादमापिरे । भर्तारं धारकं पोषकं वा । कामाद्धारणमप्रच्युतं भवतीति । **काम** इच्छा प्रेमेच्छेति स्थितमिति सुधीभिराकलनीयम् । **कथमपि** हृदि प्रकटेनाकाशरूपानन्देन । आकाशवद्धृदिति प्रत्ययादाकाशरूपानन्दस्य प्रकारता । अग्ये विषादे विरहात् । कथमपि स्थितानामसूनां स्थितिविचारस्त्वया कर्तव्य इति ।

श्रीयमुनाजिदुक्तावाहुः **श्री**ति ।

श्रीगोकुलनाथोऽस्माकमैहिकं पारलौकिकं च ।
स्वयमेव जातोस्तीति किमस्माकं विचारणीयमस्ति ॥ २ ॥

अत्र द्वितीयतुरीयपादयोर्व्यत्ययः, आर्यान्तरत्वात् । 'यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयकेपि । अष्टादश द्वितीये पञ्चदश चतुर्थके सार्ये'ति । अत्रा'स्माकमैहिकं पारलौकिकं च श्रीगोकुलनाथः स्वयमेव जातोऽस्ती'त्यन्वयात् सखण्डब्रह्मज्ञानं सर्वस्मिन्नात्मभावो यत्र स सर्वात्मभाव इति व्युत्पत्तिकसर्वात्मभावरूपम् ।

एवं च व्रजभक्तानां भ्रमरगीते उद्धवद्वारा ज्ञानोपदेशवदत्रापि स्वयमेव ज्ञानोपदेशं कारयिष्यतीति नास्माकं विचारणीयं किमप्यस्ति । तदुक्तं स्वप्नदर्शनाख्यग्रन्थे 'एवमुरुधास्रस्तं विलपन्ती मूर्च्छिताहमासं ततश्चिरेण श्रुतिपथागतप्रियवंशीनिनादैर्मन्त्रैरिव विगतमूर्च्छाहमभवमि'ति ।

तर्ह्यस्माभिः कथमपि स्थितानामसूनां स्थितिचिन्ता कार्येत्यत्र नेत्याहुः **चिन्ते**ति ।

'चिन्ता कापि न कार्या, गोवर्धननाथोऽस्मत्कुल-
परिरक्षितमेव करिष्यति ॥ ३ ॥

'चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापि । भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गति' मिति नवरत्नात् ।

आशयान्तरं प्रकाशयन्ति स्म ।

किं ब्रुवाणि सखि प्रेष्ठविरहानलदाहिता ।
जीवामीत्येतदेवालं निरपत्रपतास्पदम् ॥ ४ ॥

हे **सखि निरपत्रपतास्पदं** यथा भवति तथा जीवामीति यत् तत् तस्मै जीवनायालं 'नमःस्वस्ती'ति सूत्रेण चतुर्थी तस्याः 'अव्ययादाप्सुप' इति सूत्रेण लुक् ।

वेदान्तिनां ज्ञाननिष्ठत्वेन क्रियाकृपाप्रश्नं चक्रुः **सखी**ति ।

सख्येतल्लेखनीयं त्वयातियत्नेन राधिका (कान्तः) ।
किं कृपयिष्यत्यथवा मनोरथेनैव जन्मनिर्वाहः ॥ ५ ॥

हे **सखि** यमुनाजित् । **एतद्** वक्ष्यमाणं पत्रे लेखनीयं प्रश्नविषयम् । राधिका क्रिया 'क्रिया सा राधिका देवी'ति वचनात् **मनोरथेन इच्छया जन्म** आत्मतया शरीरस्वीकारो **निर्वाहः** निर्गतो वाहाद् वाञ्छाया एतादृशः । 'वाहस्तु मतभेदे वृषेहयो'रिति विश्वः । 'ईहा तूद्यमवाञ्छयो' रिति च विश्वः । किमिति प्रश्ने **मनोरथेनैव जन्मनिर्वाहः** किमिति प्रश्नः । **कृपयिष्यती**त्यत्र कृपा कृपाभावाभावरूपापि सम्भवति अभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानं कारणमिति ।

प्रतियोगिनं कृपाभावं व्यक्तीकुर्वन्ति स्म **म**दिति ।

मदन्तःस्नेहवशतो मच्छरीरव्यवस्थितिम् ।
जानन्तोपि न जानन्ति तत्तूचिततरं हि वः ॥ ६ ॥

ममान्तःस्नेहो मनोजशरपीडाजन्यविविधभावोपशामकत्वेन आत्मविषयः । **मच्छरीरव्यवस्थितिः** पूर्वोक्ता विरहसामयिकी ताम् । **जानन्तः** 'शरीरेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनां' स्त्रीत्वं भगवत्सेवाननुकूलत्वलक्षणं न सम्भवतीति भगवत्सेवानुकूलत्वलक्षणपुंस्त्वविशिष्टास्ता इति पुंस्त्वेन निर्देशः । यूथाभिप्रायेण बहुवचनम् । **न जानन्ति** अग्निकुमारत्वेन भर्तृभावात् ताः प्रत्यज्ञानम् । भक्तेच्छयैतादृशलीलाप्राकट्यादु**चिततरं वो** युष्माकं भगवता लीलाविशेषेऽङ्गीकृतानाम् ।

अन्यथा कुतो न लीलायां प्रविष्टो येन कृपाभावो न भवेदिति चेत्, तत्राहुः **यथे**ति ।

यथा नर्तयति स्वामी वस्तुतस्त्वपराधिनम् ।
मां तथाहं तु नृत्यामि भृशं क्लिष्टोऽस्मि तेन हि ॥ ७ ॥

वेदान्तिनामस्माकं नन्दराजकुमारे नवजलदे वर्षति पूर्वोक्त **इदं** **ब्रह्मे**ति सर्वात्मभावभवनादन्तर्यामिणश्च प्रत्यक्षाद् **यथा नर्तयति** गात्रविक्षेपं कारयति, **स्वामी**, 'अत एव चानन्याधिपति'रितिसूत्रोक्तः श्रीपुरुषोत्तमः । **वस्तुतस्तु** श्रीमदाचार्याज्ञया निरुद्धोऽहं सर्वात्मभावुकः सर्वेन्द्रियादीनां ब्रह्मात्मकानामन्यत्रापकर्षेपि तदाज्ञेङ्गिताकरणा**दपराधिनं माम्** । **तेन** नृत्येन **भृशं क्लिष्टोऽस्मि** तेन 'तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेम'इति सप्तान्नब्राह्मणश्रुतेस्तानि वागादीनि, मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे, राधिकाकृपायां त्वेवं न स्यात् । 'अनभ्यासाच्च वेदानामाचारस्य च लङ्घनान्मृत्युर्विप्रान् जिघांसती'ति । क्रियावेदयोर्गतप्रविवेकाभावात् पदार्थेऽपि । भगवांस्त्वक्लिष्टकर्मा, अयं तु क्लिष्टकर्मा मृत्युः ।

तर्हि मृत्युकृतश्रमभयान् नात्रागन्तव्यमित्युक्तावाहुः **त्रपे**ति ।

त्रपावैराग्यराहित्याद् भवदार्तिजिहीर्षया ।
पुनस्तत्रागताविच्छां करोमि स्नेहयन्त्रितः ॥ ८ ॥

'सापत्रपाऽन्यतः' सा लज्जान्यतो भवतीभ्य इति, त्रपा विरहे जीवतो मे, तादृशी लज्जा **तद्राहित्यात्, वैराग्यं** विषयवैतृष्ण्यं तदभावात् 'कर्मेन्द्रियाणी'ति तृतीयाध्याये मिथ्याचारत्वं गीतोक्तं परास्तम्, भक्तिमार्गाधिकारश्च सूचितः । 'निर्विण्णानां ज्ञानयोगः कर्मयोगस्तु कामिनाम् । न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोस्य सिद्धिद' इति वाक्यात् । **पुनस्तत्रागति**फलक**मिच्छा**करणं तत्कर्ताहम् । एतेन रतिमार्गे यत्र पूजाप्रवाहो यमुनादौ तत्राविच्छिन्नस्थितिनियमो निराकृतः । नन्वन्यादृशी लीलास्मत्सम्बन्धिनी तत्र विरुद्धाभिरस्माभिः संकुलितं स्थानं तस्मिन् आगतीच्छा कथं तत्राहुः **भव**दिति । भवता**मार्ति**र्विरहदुःखं तस्य हरणेच्छा तया प्रकारीभूतया । ननूक्तं विरुद्धा वयं कथमस्माकमार्तिहरणेच्छावान् भवान् इत्यत आहुः **स्नेहयन्त्रित** इति । विरुद्धा भगवदिच्छया क्रीडार्थं यूयं तत्र स्नेहयन्त्रणे किं ब्रुवे यतोहं प्रकृत्या विरुद्धेष्वपि स्नेहयन्त्रितः । गीतायां पञ्चमे 'इहैव तैर्जितः स्वर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः । निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः । न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् । स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः' इति ।

आशयविषयं वृत्तान्तं प्रकाशयति **पर**मिति ।

परं तु तदनुरूपं शरीरं नैव वर्तते ।
तथापि यदि पञ्चम्यां स्वास्थ्यं किञ्चिद्भविष्यति ॥ ९ ॥

तदा समागमिष्यामि दुःखं मा कुरुत प्रियाः ।

दुःखं विरहदुःखम् ।

वस्तुतस्तु विरहो नास्तीत्याहुः **सर्वे**ति ।

सर्वेशो गोकुलाधीशो शरणा एव सर्वतः ॥ १० ॥

शरणा इत्यत्र 'शरणं गृहरक्षित्रो'रिति कोशः । 'भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित् । आत्मत्वाद् भक्तवश्यत्वात् सत्यवाक्त्वात् स्वभावत' इति वाक्यात् । 'रक्षतीत्येव विश्वासः षड्विधा शरणागति'रिति पञ्चरत्ने ।

अत इति ।

अतश्चिन्ता न कर्तव्या भवद्भिः कृष्णसात्कृतैः ॥ ११ ॥

उक्ताद् दृश्यमानात् सन्दर्भाच्च **चिन्ता** केच्छा, ईश्वरः क, यथैश्वरं प्रादुर्भावित इति 'उत्कर्षश्चापि वैराग्ये' ममेश्वरोऽङ्गीकृतवान् किमुदासीनः क्लिष्टः किं व्यापको वा क्लिष्टः क्वाहम् केश्वर इत्यादि **चिन्ता न कर्तव्या कृष्णसात्कृतैः** कृत्स्ना यूयं कृष्णाः संपद्यन्ते तथा कृताः कृष्णसात्कृताः यतः । अस्मिन्मार्गे 'सच्चिदानन्दता स्वत' इति निरोधलक्षणे । किञ्च ।

श्रीगोकुलजीवनः सर्वं भद्रमेव करिष्यति ।

श्रीगोकुलस्य निःसाधनस्य **जीवनो** जीवयिता, यूयं तु कृततपस्काः कुतः सन्देहो जीवनेपि । किञ्च ।

अहं यथा शीघ्रं दर्शनं प्राप्नोमि तथा विधेयं प्रत्यहम् ॥ १२ ॥

भवन्ती भगवांश्च विसदृशीः लीलाः परित्यज्य चित्तादोषजनकलीलाः कुर्वित्यधीष्टं चित्तदोषेषु भक्त्यभावाद् दर्शनं न प्राप्स्यामि । 'अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यती'ति वाक्यात् । ततः स्वेषु चित्तदोषाजनकलीलारूपं विशेषणं विधेयमिति भावः, तदपि प्रत्यहम् ।

उपसंहरति शरणमार्ग**मैहिके**ति ।

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।
संपत्स्वापत्स्वपि सदा शरणं हरिरेव हि ॥ १३ ॥

स्पष्टम् ।

एवं **तत्तद्रूपसन्निधानमेव** तत्तत्फलदानादिप्रयोजकमित्यर्थः समासेन न तु व्यासेन ।
